

'प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक संत की बानी।
सम्पूर्ण विश्व में घर-घर है पहुँचानी॥'

प्रथम संस्करण— १९९२ ई०

डबलडिमाई – १/१६

पृष्ठसंख्या— ६४+१२००=१२६४

मूल्य— २५०.०० रुपया

मुद्रक:—

वाणी प्रेस

मौसमबाग़ (सीतापुर रोड), लखनऊ–२२६ ०२०

❀❀❀ समर्पण ❀❀❀

सन्त-भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं



जो श्री नन्दकुमार हैं

वही तो श्री गोविन्द हैं

अतः

"त्वदीयम् वस्तु गोविन्द !

तुभ्यमेव समर्पयेत्"

का पावनोच्चार करते हुए

यह वेद चतुष्ट्य-भाष्य

स्वर्गचारी पद्मश्री पं० नन्दकुमार अवस्थी को,

जिनके स्वप्नों का ही

यह साकार रूप है,

उनकी आत्मतृप्त्यर्थ

एवं आशीर्वाद-रूप में

लोक - मंगल - वृष्टि

कराने हेतु

सादर समर्पित है।

❀:—:❀

विभाग - अनुक्रम

—(::)—

यजुर्वेद-संहिताऽध्यायानां-सूची

यजुर्वेदीय-अध्यायों की सूची (यजुर्वेद, खण्ड–१, अध्याय १–२०)

—:)❀(:—

विश्वनागरी लिपि

॥ ग्रामे-ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे-ग्रामे कथा शुभा ॥

सब भारतीय लिपियां सम-वैज्ञानिक है ।

All the Indian Scripts are equally scientific

भारतीय लिपियों की विशेषता ।

'संसार की लिपियों में नागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक है', यह कथन बिलकुल ठीक है। परन्तु यह कहते समय हमें याद रखना चाहिए कि वह सर्वाधिक वैज्ञानिकता, केवल हिन्दी, मराठी, नेपाली लिखी जानेवाली लिपि में नहीं, वरन् समस्त भारीतय लिपियों में मौजूद है। क, च, त, प आदि के रूपों में कोई वैज्ञानिकता नहीं है। वैज्ञानिकता है, लिपि का ध्वन्यात्मक होना। स्वरों-व्यंजनों का पृथक् होना। अधिक से अधिक व्यंजनों का होना। सबको एक 'अ' के आधार पर उच्चरित करना। ['अ' अक्षर-स्वर, सकल अक्षरों का इस भाँति मूल आधार। सकलविश्व का जिस प्रकार 'भगवान्' आदि है जगदाधार।] एक अक्षर से केवल एक ध्वनि। एक ध्वनि के लिए केवल एक अक्षर। स्माल्, कैपिटल्, इटैलिक्स् के समान अनेकरूपा नहीं; बस एक ही रूप में लिखना, बोलना, छापना और प्रत्येक अक्षर का समान वज़न पर एकाक्षरी नाम। उच्चारण-संस्थान के अनुसार अक्षरों का

संस्कृत (देवनागरी) वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ
ऋ	ॠ	ऌ	ॡ		
ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	
च	छ	ज	झ	ञ	
ट	ठ	ड	ढ	ण	
त	थ	द	ध	न	
प	फ	ब	भ	म	
य	र	ल़	व	श	
ष	स	ह	ळ		
क्ष	त्र	ज्ञ			

कवर्ग, चवर्ग आदि में वर्गीकरण। फिर प्रत्येक वर्ग के अक्षरों का क्रम से एक ही संस्थान में थोड़ा-थोड़ा ऊपर उठते हुए अनुनासिक तक पहुँचना, आदि-आदि ऐसे अनेक गुण हैं, जो अभारतीय लिपियों में एकत्र, एकसाथ नहीं मिलते। किन्तु ये गुण समान रूप से सभी भारतीय लिपियों में मौजूद हैं, अतः वे सव नागरी के समान ही विश्व की अन्य लिपियों की अपेक्षा 'सर्वाधिक वैज्ञानिक' हैं। सव ब्राह्मी लिपि से उद्भूत हैं। ताड़पत्र और भोजपत्र की लिखाई तथा देश-काल-पात्र के अन्य प्रभावों के कारण विभिन्न भारतीय लिपियों के अक्षरों के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तन, हिन्दी वाली 'नागरी लिपि' को कोई श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता। भारत की मौलिक सब लिपियाँ 'नागरी लिपि' के समान ही श्रेष्ठ हैं।

नागरी लिपि को 'भी' अपनाना श्रेयस्कर क्यों ?

"नागरी लिपि" की केवल एक विशेषता है कि वह कमोवेश सारे देश में प्रविष्ट है, जबकि अन्य भारतीय लिपियाँ निजी क्षेत्रों तक सीमित हैं। वहीं यह भी सत्य है कि नागरी लिपि में प्रस्तुत हिन्दी (खड़ी बोली) का साहित्य, अन्य लिपियों में प्रस्तुत ज्ञानराशि की अपेक्षा कम और नवीनतर है। अतः समस्त भाषाओं की ज्ञानराशि को, सर्वाधिक फैली लिपि "नागरी" में अधिक से अधिक लिप्यन्तरित करके, क्षेत्रीय स्तर से उठाकर सबको सारे राष्ट्र में, यहाँ तक की विश्व में ले आना परम धर्म है। विश्व की सब भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान (सत्साहित्य) तो है आत्मा, और 'नागरी लिपि' होना चाहिए उसका पर्यटक शरीर।

अन्य लिपियों को बनाये रखना भी कर्तव्य है।

वस्तुतः यह परम धर्म है कि समस्त सदाचार साहित्य को नागरी में तत्परता से प्राचुर्य में लिप्यन्तरित करना। किन्तु साथ ही यह भी परम धर्म है कि देशी-विदेशी अन्य सभी लिपियों को उत्तरोत्तर उन्नति के साथ बरक़रार रखना। यह इसलिए कि सबका सब कभी लिप्यन्तरित नही हो सकता। अतः अन्य लिपियों के नष्ट होने और नागरी लिपि मात्र के ही रह जाने से विश्व की समस्त अ-लिप्यन्तरित ज्ञानराशि उसी प्रकार लुप्त-सुप्त होकर रह जायगी, जैसे पाली, प्राकृत और अपभ्रंश, सुरयानी आदि का वाङ्मय रह गया। जगत् तो दूर राष्ट्र का ही प्राचीन आप्तज्ञान विलुप्त हो जायगा।

नागरी लिपि वालों पर उत्तरदायित्व विशेष !

इन दोनों परम धर्मों की पूर्ति का सर्वाधिक भार नागरी लिपि वालों पर है, इसलिए कि उनको 'सम्पर्क लिपि' का श्रेष्ठ आसन प्रदत्त है। मैं कह सकता हूँ कि उन्होंने अपने कर्तव्य का, जैसा चाहिए था, वैसा निर्वाह नहीं किया। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया में अन्य लिपि वालों को भी "अपराध के जवाव में अपराध" नहीं करना चाहिए। 'कोयला' विहार का है अथवा वंगाल का है, इसलिए हम उसको नही लेंगे, तो वह हमारे ही लिए घातक होगा। कोयले की क्षति नहीं होगी। अपनी लिपियों को समुन्नत रखिए, किन्तु नागरी लिपि को 'भी' अवश्य अपनाइए।

उपर्युक्त परिवेश में नागरी लिपि का पठन और समग्र श्रेष्ठ साहित्य का नागरी में लिप्यन्तरण तो आवश्यक है ही, किन्तु अन्य लिपियाँ भी अपनी लिपि में दूसरी भाषाओं के सत्साहित्य को लिप्यन्तरित तथा अनूदित कर सकती है। 'अधिकस्य अधिक फलम्।' ज्ञान की सीमा निर्धारित नही है। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने भी अवधी के रामचरितमानस को ओड़िआ भाषा में गद्य एवं पद्य अनुवाद-सहित, ओड़िआ लिपि में लिप्यन्तरित किया है। परन्तु सम्पर्क और एकीकरण की दृष्टि से 'नागरी लिपि' अनिवार्य है।

नागरी लिपि की वैज्ञानिकता मानव-मात्र की सम्पत्ति है।

अव एक क़दम आगे बढ़िए। भारतीय लिपियों की सर्वाधिक वैज्ञानिकता, युगों की मानव-शृखला के मस्तिष्क की उपज है। क्या मालूम अनादि से चल रहे इस जगत् में कब, क्या, किसने उत्पन्न किया? भारत संयोग से इस समय इस विज्ञान का कस्टोडियन् है, स्रष्टा नहीं। भारत भी न जाने कब, कहाँ तक और कितना था? अतः हम भारतीयों को नागरी लिपि के स्वामित्व का गर्व नहीं होना चाहिए। वह आज के मानव के पूर्वजों की देन है, सबकी सम्पत्ति है, सकल विश्व उसका समान गौरव से उपयोग कर सकता है। हमारा 'अहम्' उस लिपि की उपयोगिता को रुद्ध कर देगा, जिसके हम सँजोये रखनेवाले मात्र हैं। किन्तु विदेशों में बसनेवाले बन्धुओं को भी नागरी लिपि के गुणों को अपने ही पूर्वजों की उपज मानकर परखना चाहिए। ये गुण इस निवन्ध के प्रथम अनुवन्ध में अधिकांशतः वर्णित हैं। न परखने पर, उनकी क्षति है, विश्व की क्षति है। अ़रब का पेट्रोल हम नहीं लेगे, तो क्षति किसकी होगी? पेट्रोल की नहीं, अपनी ही।

फिर याद दिला देना जरूरी है कि क, प आदि रूपों में वैज्ञानिकता नहीं है। बे, काफ़, पे और के, पी जैसे ही रूप रख सकते है, किन्तु लिपि में 'अनुबन्ध प्रथम' में ऊपर दिये हुए गुणों और क्रम को अवश्य ग्रहण करें। और यदि एक वनी-बनाई चीज को ग्रहण करके सार्वभौम सम्पर्क में समानता और सरलता के समर्थक हों, तो 'नागरी लिपि' के क्रम को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानकर, ग़ैर न समझकर, मौजूदा रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। वह भारत की वपौती नही है। आज के मानव के पूर्वजों की वह सृष्टि है। इससे विश्व के मानव को परस्पर समझने का मार्ग प्रशस्त होगा।

नागरी लिपि में अनुपलब्ध विशिष्ट स्वर-व्यञ्जनों का समावेश।

हर शुभ काम में कजो निकालनेवाले एक दूर की कौड़ी यह भी लाते है कि "नागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक होते हुए भी अपूर्ण है और अनेक स्वर-व्यंजनों को अपने में नहीं रखती। उनको लिपि में कहाँ तक और कैसे समाविष्ट किया जाय?" यह मात्न तिल का ताड़ है। मौजूदा कर्तव्य को टालना है।

अल्बत्ता अन्य भाषाओं में कुछ व्यंजन ऐसे है जो नागरी में नहीं है— किन्तु अधिक नहीं। भारतीय भाषा उर्दू की क़ ख़ ग़ ज़, फ़ ·ये पाँच ध्वनियाँ तो बहुत समय से नागरी लिपि में प्रयुक्त हो रही है। दुःख

है कि आज़ादी के वाद से राष्ट्रभाषा के पक्षधर ही उनको ग़ायव करने पर लगे है। इसी प्रकार मराठी ळ है। इनके अतिरिक्त अ़रवी, इरानी आदि के कुछ व्यञ्जन हैं, किन्तु उनको नागरी की दैनिक लिपि में, अनिवार्यतः रखना आवश्यक नहीं। विशिष्ट भाषाई कार्यो में, ज़रूरी मानकर, उन विशिष्ट भाषाई स्वर-व्यंजनों को चिह्न देकर दरसाया जा सकता है।

अंग्रेज़ी—व्यामोह भी ! आदर्श भी !

अंग्रेजी की लिपि-जैसी पंगु लिपि शायद ही संसार में कोई हो। 'डब्लू'— तीन अक्षर, चार मात्राएँ, किन्तु वास्तविक ध्वनि (व) का लोप ! शब्दावली इतनी निरीह कि उसमें ८०% से अधिक शब्द विदेशी भाषाओं के हैं। अपनी छोटी-सी धरती पर यह ग़रीव भाषा, फ़्रेंच शाहंशाही के आ धमकने पर, अपने फ्रेंच-भक्त अंग्रेज वन्धुओं ही द्वारा लताड़ी गई, जैसे हमारे अंग्रेज़ी-भक्त भारतीय उसी शान में राष्ट्रभापा का तिरस्कार करते हैं। वे अंग्रेज़ी से नसीहत लें कि दुर्दशाग्रस्त, पंगु लिपि पर आधारित, शब्द-निर्धन होकर भी कैसे हौसला क़ायम रखकर उसने विश्व-साम्राज्य स्थापित किया। उस हौसले को आदर्श मानकर अपनी समृद्ध राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभापा को और अधिक समृद्ध करके विश्वसम्मान दिलाये।

तदर्थ अ़रवी लिपि का आदर्श सम्मुख।

और यह कोई नयी वात नही। नितान्त अपरिवर्तनशील कहे जाने वालों की लिपि 'अ़रवी' में केवल २७-२८ अक्षर होते है। भापा के मामले में वे भी अति उदार रहे। "अ़िल्म चीन (अर्थात् दूर से दूर) से भी लाओ"— यह पैगम्वर (स०) का कथन है। जव ईरान में, फ़ारसी की नई ध्वनियों-च, प, ग आदि से सामना पड़ा तो उन्होंने उनको अ़रवी-पोशाक— चे, पे, गाफ़ पहना दी। जव हिन्दोस्तान आये तो ट, ड, ड़ आदि से सामना पड़ने पर अ़रवी ही जामे में टे, डाल, ड़े आदि तैयार कर लिये। यहाँ तक कि सिन्धी में नागरी के सव महाप्राण और अनुनासिक तथा सिन्धी के विशिष्ट अन्तःस्फुट चार अक्षरों को भी अ़रवी का लिवास पहना दिया गया। फिर 'नागरी' वाले तो औदार्य का दावा करते है, उनको परेशानी क्या है ? फिर नागरी में भी तो परिवर्तन होते रहे हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त ळ को छोड़ चुके हैं, और ड़, ढ़ आदि को अवर्गीय दशा में जोड़ चुके हैं। नागरी लिपि में कुछ ही व्यंजनों का अभाव है। उनमें से कुछ को स्थायी तौर पर और कुछ को अस्थायी प्रयोग के लिए गढ़ सकते है। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने यह सेवा निष्ठा, सफलता और सुन्दरता से की है।

स्वर और प्रयत्न (लहजा) का अन्तर।

अव रहे स्वर। जान लीजिए कि प्रमुख स्वर तीन ही है— अ, इ, उ— उनसे दीर्घ, संयुक्त (डिप्थांग) आदि वनते हैं। अतिदीर्घ, प्लुत, लघु, अतिलघु संवृत, विवृत आदि विश्व में अनेक रूपों में बोले जाते है। भारतीय वैदिक एवं संस्कृत व्याकरण में अनेक हैं। वे स्वतंत्र स्वर नहीं हैं, प्रयत्न हैं,

लहजा हैं। वे सब न लिखे जा सकते हैं, न सब सर्वत्र बोले जा सकते हैं। डायाक्रिटिकल मार्क्स कोशों में छाप-छापकर चमत्कार भले ही दिखा दिया जाय, प्रयोग में तो, "एक ही रूप में", अपने निजी शब्द निजी देशों में भी नहीं बोले जाते। स्वर क्या, व्यंजन तक। एक शब्द "पहले" को लीजिए। सब जगह घूम आइए, देखिए उसका उच्चारण किन-किन प्रकार से होता है। एक बिहार प्रदेश को छोड़कर कही भी "पहले" का शुद्ध उच्चारण सुनने को नही मिलेगा। पंजाब, बंगाल, मद्रास के अंग्रेजी के उद्‌भट विद्वान् अंग्रेजी में भाषण देते हैं—उनके लहजे (प्रयत्न) विलकुल भिन्न होते हैं। फिर भी न उनका उपहास होता है, न अंग्रेज़ी भाषा का ह्रास।

शास्त्र पर व्यवहार को वरीयता (तर्जीह)।

शास्त्र और विज्ञान से हमको विरोध नही। लिपि की रचना, शोध, परिमार्जन, देश-काल-पात्र के अनुसार करते रहिए, परन्तु व्यवहारिकता को अवरुद्ध मत कीजिए। खाद्य पदार्थ के तत्त्वों का गुण-दोष, परिमाण, संतुलन, न्यूनाधिक्य, और खानेवाले की शक्ति के साथ उनका समन्वय, यह सब स्तुत्य है, कीजिए। किन्तु ऐसा नहीं कि उस शोध-समीक्षा के पूर्ण होने तक कोई भूखा रहकर मर ही जाय। थाली रखी है, उसे भोजन करने दीजिए। परस्पर एक-दूसरे की ज्ञानराशि को समझने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र में एक सम्पर्क लिपि का प्रयोग ही आज की सर्वोपरि आवश्यकता है।

'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने स्थायी और मुक़ामी तौर पर अनेक स्वर-व्यंजनों की सृष्टि की है। दक्षिणी वर्णमालाओं में प्रयुक्त एकार तथा ओकार की ह्रस्व, दीर्घ —दोनों मात्राएँ हिन्दी में वोलते है, किन्तु पृथक् लिखते नही। यथावश्यकता उन्हें पृथक् दर्शाइये। समस्त भाषाओं के ज्ञान-भण्डार को निजी क्षेत्रों से उठाकर धरातल पर नागरी लिपि के माध्यम से पहुँचाइए। भारतीय लिपि मानव के पूर्वजों की सृष्टि है, मानव मात्र की है। यहाँ से यूरोप तक उसकी पहुँच है। यूरोपियों की लिपि-शैली नागरी थी। अक्षरों के रूप कुछ भी रहे हों। किन्हीं कारणों से सामीकुलों में भटककर अलफ़ा-वीटा के क्रम को थोड़े अन्तर के साथ अपना लिया। फिर पुराने संस्कारो से याद आया, तो स्वर-व्यंजन पृथक् कर दिये। किन्तु उनके क्रम-स्थान जैसे के तैसे मिले-जुले रहे। सामीकुल की भाषाओं ने भी प्रमुख स्वर तीन ही माने हैं, ज़बर-ज़ेर-पेश (अ इ उ)। (ै) और (ौ) का उच्चारण—अरबी, संस्कृत, ग्रीक, अपभ्रंश आदि का एक-जैसा है— (अइ, अउ), किन्तु खड़ी बोली हिन्दी-उर्दू के अै, और अौ—ऐनक, औरत में स्वरों की भिन्नता नही है, वरन् लहजा (प्रयत्न) की भिन्नता है।

पूर्ण वैज्ञानिक कोई वस्तु मनुष्य के पल्ले नहीं पड़ सकती। "पूर्ण विज्ञान" भगवान् का नाम है। सा-रे-ग-म-प-ध-नि, ये सात स्वर; उनमें मध्य, मन्द, तार; कुछ में तीव्र, कोमल—बस, इतने में भारतीय संगीत बँधा है। उनमें भी कुछ तो अदा नही हो सकते, अनुभूति मात्र हैं। किन्तु क्या इतने ही स्वर है ? संगीत के स्वरों का उनके ही बीच में अनंत विभाजन

हो सकता है। जैसे अणु से परमाणु का, और उसमें भी आगे। किन्तु शास्त्र एक वस्तु है, व्यवहार दूसरी। व्यवहार में उपर्युक्त षडज से निषाद तक को पकड़ में लाकर संगीत क़ायम है, क्या उसको रोककर इनके मध्य के स्वरों को पहले तलाश कर लिया जाय? तब तक संगीत को रोका जाय, क्योंकि वह पूर्ण नहीं है? क्या कभी वह पूर्ण होगा? पूर्ण तो 'ब्रह्म' ही है। "वेस्ट् इज् द ग्रेटेस्ट् ऍनिमी ऑफ़् गुड्।" शगल-शोव्द की आड़ न लें। भारतीय लिपियों की प्रतिनिधि नागरी लिपि पर्याप्त सक्षम है।

विश्व-व्यापकता के संदर्भ में नागरी लिपि के स्वरों का रूप।

लिखने के भेद— यदि नागरी को हिन्दी क्षेत्र की ही लिपि बनाये रखना है तो इ, उ, ए, ऐ लिखने के अपने पुरानेपन के मोह में मुग्ध रहिए। और यदि उसे राष्ट्र-लिपि अथवा विश्व तक में, यहाँ तक कि मामीकुल में भी आसानी से ग्राह्य बनाना चाहते हैं तो गुजराती लिपि की भाँति अि, अु, अे, अै लिखिए। किन्तु कोई मजबूर नहीं करता। विनोवा जी ने भी इसका आग्रह नहीं रखा। आकार और रूप का मोह व्यर्थ है। पुराने ब्राह्मी-शिलालेखों को देखिए। आपके मौजूदा रूप वहाँ जैसे के तैसे कहाँ है?

संस्कृत के तिरस्कार से भाषा-विघटन।

मेरा स्पष्ट मत है कि "संस्कृत" राष्ट्रभाषा होने पर, भाषा-विवाद ही न उठता। सबको ही (हिन्दी-भाषी को भी) समान श्रम से संस्कृत सीखने पर, स्पर्धा-कटुता का जन्म न होता, संस्कृत का अपार ज्ञान-भण्डार सबको प्रत्यक्ष होता, और हिन्दी की पैठ में भी प्रगति ही होती। उर्दू-हिन्दी की अपेक्षा, अन्य सभी भारतीय भाषाएँ, संस्कृत के अधिक समीप है। संस्कृत देश-काल-पात्र के प्रभाव से मुक्त, अव्यय (कभी न बदलनेवाली), सदाबहार भाषा है। अन्य सब भाषाएँ देश-काल-पात्र के प्रभाव से नही बचती।

आज क्या करना है?

किन्तु संस्कृत राष्ट्रभाषा न होने पर अब "हिन्दी" ही सबको मान्य होना चाहिए। यह इसलिए कि अन्य भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही एक भारतीय भाषा है, जो देश के हर स्थल में कमोवेश प्रविष्ट है।

सार यह कि हुज्जत कम, काम होना चाहिए। शास्त्र पर व्यवहार प्रबल है। समय बड़ा बलवान है, वह आवश्यकतानुसार ढलाई कर देता है। हिन्दी-क्षेत्र में ही घूम-घूमकर प्रतिमा-अनावरण, हिन्दी का महिमा-गान, अनुवादों की धूम, अमुक भाषा की हिन्दी को यह देन, अमुक भाषा में हिन्दी की यह छाप— यह सब दिशाविहीनता, क़िलेबन्दी और अभियान त्यागकर, नागरी लिपि में विश्व का साहित्य लाइए। टूटी-फूटी ही सही, हिन्दी बोलना भी— ("ही" नही बल्कि "भी") बोलने का अभ्यास कीजिए। लिपि और भाषा की सार्थकता होगी। मानवमात्र का कल्याण होगा हमारी एकराष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व चरितार्थ होगा।

(स्व०) नन्दकुमार अवस्थी (पद्मश्री)
(भू० पू०) मुख्यन्यासी सभापति, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ-२०।

प्रकाशकीय

वेद भारतीय मनीषियों द्वारा उपार्जित अध्यात्म, धर्म, दर्शन, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के अनन्त और शाश्वत निधान हैं। महात्मा ऋषियों के चिन्तन और अनुभव का समग्र तत्त्व वेदों में समाविष्ट है। वेद अपौरुषेय हैं। वेद-वाणी ईश्वरीय वाणी है, जो ऋषियों के माध्यम से मुखरित होकर संसार में अवतरित हुई और इनका तत्त्व-ज्ञान अधिकारी विद्वानों की संगति से ही प्राप्त होता है। सामान्य जनों की बुद्धि वेदों के परिशीलन में बहुधा भ्रमित हो सकती है। उदाहरणार्थ, एकेश्वरवाद को लीजिये। वेदों में अनेक देवताओं के नाम आते हैं। जो दिव्य गुणों से युक्त है, वे ही देवता कहलाते हैं। पृथ्वी दिव्यगुणधारिणी है, पर उसे ईश्वर या उपास्या नहीं माना गया है। ईश्वर तो वह है, जिसमें सभी देवता स्थित हैं। वह देवों का देव होने के कारण महादेव है। जगत् के उद्‌भव, स्थिति और संहार का वही कर्त्ता और अधिष्ठाता है। देवों की कोटि में आते हैं पृथ्वी, जल, वायु, पावक, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र (ये ८ वसु), प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा (ये एकादश रुद्र, जो शरीरत्याग के समय रुलानेवाले होने के कारण रुद्र कहलाते है) तथा संवत्सर के बारह मास (जो सबकी आयु को लेते रहने के कारण 'आदित्य' कहलाते है)। (सत्यार्थ-प्रकाश, समुल्लास ७) परमैश्वर्य-रूपिणी विद्युत् को 'इन्द्र' नाम दिया गया है। यज्ञ से वायु, वृष्टिजल और ओषधि की शुद्धि सम्पन्न होती है, जिससे प्रजाएँ पालित-पोषित और समृद्ध होती है। अतः यज्ञ को प्रजापति कहा गया है। इन सबका स्वामी परमात्मा ही सर्वोपरि है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजु० अ० १३/४

यजुर्वेद के इस मन्त्र में कहा गया है, "हे मनुष्यो! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्तिस्थान एवं आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, हुआ है और होगा, उसका स्वामी था, है और होगा, वह पृथ्वी से लेकर सूर्यलोक पर्यन्त सृष्टि को रचकर धारण कर रहा है। उस सुखरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो"।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
—ऋ० ॥ मं० १०/ सू० १६०/ मं. ३ ॥

परमेश्वर (धाता) ने जैसे पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथ्वी, आकाश आदि की रचना की थी, वैसे ही अब भी की है और वह आगे भी करता रहेगा।

परमेश्वर ने वेद-विद्या का उपदेश देने के लिए निराकार रूप को असमर्थ नहीं पाया, उसी रूप में संस्थित रहते हुए वेदोपदेश दिया। इस प्रसंग में शंका यह होती है कि उपदेश मुख द्वारा वर्णोच्चारण किये विना कैसे सम्भव हुआ, क्योंकि वर्णोच्चारण में तालु आदि स्थान एवं जिह्वा का प्रयत्न प्रयोजनीय होता है। समाधान यह है कि परमेश्वर के सर्वव्यापी और सर्व-शक्तिमान् होने के कारण जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्योपदेश करने में मुख आदि अनिवार्यतया अपेक्षित नही हुए, क्योंकि मुख-जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न जीव के वोध के लिए किया जाता है, न कि अपने से अभिन्न जीव के लिए।

वेदों में अद्वैतवाद का प्राधान्य है। वस्तुतः दृष्टिगोचर समस्त जगत् ब्रह्मसत्ता में अपने आप में स्थित है। जब जाग्रत अवस्था का अभाव होता है और सुपुप्ति आती है तव उसमें न शुभ की कल्पना रहती है, न अशुभ की। उदय-अस्त की कल्पना से रहित केवल अद्वैतसत्ता ही रहती है। जब फिर उसमें चैतन्य स्फुरित होता है, तव फिर स्वप्न की सृष्टि भासित होती है। कहीं स्थावर-जंगम सृष्टि दिखती है। जिसमें संवेदन फुरता भासित होता है वह जंगम कहलाता है और जिसमें संवेदन का फुरना नहीं भासित होता है वह स्थावर कहलाता है। एक ही अद्वैतसत्ता स्थावर-जंगम होकर भासित होती है। वैसे ही आत्मा का अनुभव यह जगत् भासित होता है। सृष्टि के आदि में परम सुपुप्ति सत्ता थी। उसमें संवेदन फुरने से जगत् प्रकट हुआ। यह वही संवेदनरूप जगत् है और जिस आत्मसत्ता में यह प्रकट हुआ है वही रूप है, भिन्न कुछ नहीं। जैसे हाथ, पैर, नख, केश आदि सभी अंग शरीर-रूप हैं, वैसे ही यह स्थावर-जंगम सृष्टि परमात्मा के ही अंगों के रूप में है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव-रूप और संकल्पना की रची संकल्प-रूप होती है, वैसे ही यह सृष्टि अनुभव-रूप है और किसी कारण से नही उद्भूत हुई, इसलिए यह ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म ही सृष्टि है और सृष्टि ही ब्रह्म है। ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं, परन्तु अज्ञानवश भेद भासित होता है।

भगवान् वेदव्यास ने लोकहितकामना से वेदों का विभाजन किया।

उन त्रिकालदर्शी महात्मा ने देखा कि अनुदिन मानवों में अज्ञान-वृद्धि सम्भाव्य है और उनकी धारणाशक्ति में ह्रास होता जा रहा है, श्रद्धा भी लुप्त होती जा रही है। तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समग्र वेद को धारण करना और समझना मनुष्यों के बस की बात नहीं है, अतः उन्होंने क्षीणबुद्धि अल्पायु मनुष्यों की सुविधा के लिए वेदों के चार विभाग कर दिये, ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इस प्रकार वेद-चतुष्टयी का रूपायन हुआ। इनके वर्ण्य-विषय की दिशाएँ कुछ-कुछ पृथक् भी है। ऋग्वेद में देवगुण-गान की प्रधानता है। यजुर्वेद में विविध यज्ञों के विधि-विधान निर्धारित किये गये है। सामवेद में मन्त्र-गायन-विधि-निर्देश करते हुए भगवान् और देवताओं को सन्तुष्ट करने के साधन वर्णित हुए है। अथर्ववेद में ब्रह्मज्ञान एवं विविध लौकिक ज्ञान समाविष्ट है।

वेद-चतुष्टयी के अतिरिक्त वेदत्रयी नाम भी जन-जन की जिह्वा पर प्रतिष्ठित हुआ है। वेद की संहिताएं चार है, परन्तु चारों के मन्त्रों को त्रिविध समूहों में रखा गया है, १ पद्य, २ गद्य ३ गान। ये तीनों मिलकर वेदत्रयी की संज्ञा प्राप्त करते हैं। कुछ विदेशी विद्वानों ने ऋक्, साम और यजुः को ही मूल वेद माना है और अथर्ववेद को परवर्ती घोषित किया है। पर यह धारणा भ्रामक है। जैसा कि वेदविज्ञ सातवलेकरजी ने कहा है, यज्ञों में ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है और ब्रह्मा अनिवार्यतया यज्ञों में प्रयोज्य होता है, अतः अथर्ववेद को परवर्ती नहीं कहा जा सकता है।

वेदों में केवल कर्मकाण्ड है, यह कहना भ्रान्तिमूलक है। वेदों का प्रतिपाद्य तत्त्व परब्रह्म परमात्मा ही प्रमुख है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

—गीता (अ० १५, श्लोक १५)

मैं दाना हूँ रोशन हैं सब मुझसे वेद।
हैं वेदान्त मुझसे मैं वेदों का भेद॥

(ख्वाजः दिल मुहम्मद)

वेदों के मूलार्थ के उद्धारार्थ ऋषियों ने वेदतत्त्व-व्याख्यात्मक उपनिषद् रचे। उपनिषत्कारों ने वेदतत्त्व का ही साक्षात्कार और प्रतिपादन किया है। प्राचीन ऋषियों की परम्परा में अद्यावधि स्वामी दयानन्द, महर्षि अरविन्द और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वेद की महत्ता समझी, उसका

मूल्यांकन किया और वेद-प्रचार को सर्वोपयोगी घोषित किया— वेदों का डंका आलम में बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने।

इस महामेधावी महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में विवेचन करके स्पष्ट किया है कि संसार में वेदविद्या ही सर्वोपरि विद्या है। श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि वेद में ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जो परवर्ती संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुई हैं। वेदप्रयुक्त अनेक शब्द परवर्ती लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त हैं, पर अपने मूलार्थ से पृथक् होकर। अतः वेद का तात्पर्य समझने का कार्य समर्थ विद्वानों द्वारा ही साध्य है और भुवन वाणी ट्रस्ट का सौभाग्य है कि उसे ऐसे विद्वानों का सान्निध्य सुलभ हुआ।

सामवेद का संगीततत्त्व-प्राधान्य उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। संगीत में चंचल मन को विमुग्ध करने की अमोघ शक्ति है। इसी मोहिनी शक्ति के कारण भक्तों ने चित्तवृत्ति के संयमन के लिए अन्य साधनों के साथ संगीत को भी मुक्त हृदय से अपनाया है। मानव ही नहीं, पशु-जगत् भी संगीत की मधुर स्वर-लहरी के वशीभूत हो जाता है। संगीत से काव्य में रमणीयता और रसात्मकता में चार चाँद लग जाते हैं। संगीतशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिकतम अनुसंधानों से स्पष्ट हो गया है कि भारतीय संगीत का मूल स्रोत सामवेद ही है। इसी हेतु भगवान् कृष्ण पहले ही कह चुके हैं—

वेदानां सामवेदोऽस्मि।

—गीता (अ० १०, श्लोक २२)

आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में भी वेदों की महती आवश्यकता एवं उपयोगिता है, क्योंकि वेद हमें ज्ञान, ध्यान, संयम और सदाचार सिखाने के साथ-साथ मानवजाति मात्र से अखण्ड प्रेम करने का भी सन्देश देते हैं। वैदिक सन्देश एकदेशीय नहीं, सार्वभौमिक है और उसकी उपादेयता सार्वकालिक है। यह सन्देश साधारण जन-जन तक सुबोध रूप में पहुँचे, इसी लक्ष्य को हमने सामने रखा है। यह निश्चित है कि हमारे राष्ट्र का और समग्र विश्व का कल्याण वेदों में निहित है। वेद प्राणिमात्र की समृद्धि हेतु लोक और परलोक दोनों के सबल साधक है। अध्यात्म, ज्ञान, विज्ञान आदि की विविध दिशाओं में भारतीय ही नहीं, अभारतीय जन भी वेदों से सदा लाभान्वित होते आये हैं और होते रहेंगे, यह निर्विवाद तथ्य है।

वेद 'भगवान्' की मानव जाति के समग्र कल्याण हेतु उपादेयता को समझकर, अनुदिन विस्मृत हो रही देवभाषा संस्कृत के साथ ही, प्रतिक्षण पनपते विघटनवाद की काली छाया में नष्ट हो रही हमारी सांस्कृतिक विरासत से चिन्तातुर, भुवन वाणी ट्रस्ट के प्रतिष्ठाता पद्मश्री पं० नन्दकुमार

अवस्थी के मन में सन् १९८४ में यह विचार आया कि देववाणी संस्कृत से एक ओर तो समस्त विश्व लाभान्वित हो रहा है जबकि अपने मूल स्थान— 'भारत' में ही वह लुप्तप्राय होती जा रही है। साथ ही यह अब दिवा-स्वप्न-सा है कि 'संस्कृत' भारत की सम्पर्क भाषा अथवा आम बोलचाल की भाषा हो सकेगी। इसका समय तो निकल गया। अतः यदि संस्कृत के प्राचीन वाङ्मय (वेद-पुराण, उपनिषद— जिनसे प्राप्त प्रकाश के बल पर ही आज समस्त विश्व विज्ञान के क्षेत्र में चरमोत्कर्ष पर पहुँच सका है) को अब सुरक्षित रखना है, तो उसे जन-जन तक उसकी भाषा में पहुँचाना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा हम कर्तव्यविमुख ही कहलायेंगे।

अब विकल्प केवल एक है— और वह है बहुत सरल हिन्दी भाषा में, गद्य अथवा पद्य अथवा दोनों रूपों में संस्कृत के अधिकाधिक वाङ्मय का प्रस्तुतीकरण। "आल्हा अथवा राधेश्यामी रामायण" का साहित्यिक दृष्टि से भले ही स्थान ऊँचा न हो, लोकप्रियता की कसौटी पर ये वाल्मीकि-रामायण, उपनिषद् अथवा योगवासिष्ठ जैसे उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ ग्रंथों से अधिक खरे उतरे हैं, —सिर्फ़ इसलिए कि वे सुदूर गाँवों तक, आम जनता की भाषा में घर-घर प्रविष्ट हुए। इसके अलावा, आम तौर पर संस्कृत के ग्रंथ और विशेषकर वेदों के जो संस्करण प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं भी, वे भारी-भरकम तथा बहुत महँगे होने के साथ ही साधारण पाठक के लिए दुर्बोध भी है।

अतः वेदों को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से स्व० पं. नन्दकुमारजी अवस्थी ने वेदों का "जनता संस्करण" प्रकाशित करने की ऐसी महत्त्वाकांक्षी योजना बनायी, जिसमें मूलमंत्र का सस्वर पाठ देते हुए उसका सान्वय शब्दार्थ एवं सरल भाषा में टिप्पणी के साथ ही प्रत्येक मंत्र का सरल काव्यानुवाद भी दिया जाय इससे उनमें प्रतिपादित तथ्य की स्मरणीयता तथा गेयता में यथेष्ट वृद्धि होगी। बस, फिर क्या था, उसी क्षण से योजना के क्रियान्वयन हेतु आरम्भ हुई विद्वानों की खोज। वेद-पण्डित तो एक-से-एक दृष्टिगत हुए, योजना ने आकर्षित भी बहुतों को किया। वेद का कण्ठाग्र होना, मंच पर बैठकर वेद की महत्ता का वर्णन करना अथवा प्रवचन द्वारा विद्वत्ता का प्रदर्शन भले ही हो जाय, परन्तु एकाग्रचित्त हो आसन ग्रहण कर पाण्डुलिपि तैयार करना अपेक्षाकृत अधिक दुरूह और त्यागयुक्त होता है। इस प्रयास में न जाने कितनी बाधाएँ आयीं, कितने धक्के लगे, कितनी आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ी। कभी-कभी तो तुलसीपत्र-अर्पण के बावजूद पाण्डु-लिपि के दर्शन का सौभाग्य ही न सुलभ हुआ अथवा अपूर्ण ही ! फलस्वरूप बार-बार विद्वानों को बदलकर नये विद्वानों की खोज करने जैसे न जाने कितने सागर एवं पहाड़ पार करने पड़े। तथापि हमें अनेक उदारचेता कर्मनिष्ठ

विद्वानों का निश्छल निःस्वार्थप्राय सहयोग भी प्राप्त हुआ। इनमें सर्वोपरि, कानपुर-निवासी स्व० आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' जी का हमको सर्वप्रथम उदार सहयोग सुलभ हुआ। उन्होंने ९२ वर्षीय शरीर में अदम्य साहस भरकर इस कार्य का श्रीगणेश किया। उन्होंने ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का काव्यानुवाद करके मानव-समूह को उपकृत किया। ऋग्वेद पर सान्वय-शब्दार्थ एवं टिप्पणी करना भी आचार्य 'सोम' जी को अभिलषित था, किन्तु जीवन-सीमा की विवशता से उनका यह मनोरथ अपूर्ण ही रह गया। ऐसे निःस्पृह विद्वान् धरती पर यदाकदा ही जन्म लेते हैं।

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनाम्।
घर्मव्यथां वहति शीतभवां रुजं च॥
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोः।
तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु॥

भामिनीविलास १-८६

[जो प्रचुर पत्र-पुष्प-फल-भार धारण करता है, शीतातपजनित कष्ट को सहन करता रहता है और अपने शरीर को दूसरों के सुख के लिए (इन्धन के रूप में) अर्पित कर देता है, उस महामहिम वृक्ष को नमस्कार है।]

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैषः परोपकारिणाम्॥

—कालिदास (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ५-१२)
एवं भर्तृहरि (नीतिशतक ७१)

[फल आने से वृक्ष झुक जाते हैं, नये बरसाती जल से भरे हुए बादल खूब फैलकर झुक जाते हैं; समृद्धियों के आने से सत्पुरुष नम्र हो जाते हैं। परोपकारियों का यह स्वभाव ही है।]

यह अकिंचन का सौभाग्य है कि सरस्वतीपुत्र आचार्य डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' का वरद सहयोग हमें आशीर्वादस्वरूप प्राप्त हुआ। हम उनके शतशः कृतज्ञ हैं। उनके विद्वान् सुपुत्र डॉ० ओंकारस्वरूप शर्मा, (जो जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर हैं) के भी हम अनुगृहीत हैं, जिन्होंने अपने पिता की श्रम-फलित प्रेस-कापी तैयार कर हमारी सहायता की।

इनके अतिरिक्त हिन्दी एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान् भारत-भारती पुरस्कार-विजेता डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंहजी की गरिमामयी विद्वत्ता का

लाभ भी भुवन वाणी ट्रस्ट को प्राप्त हुआ। इन मनीषी विद्वान् के अथक श्रम के फलस्वरूप हम पाठकों के समक्ष यजुर्वेद तथा सामवेद का सम्यक् कार्य— सान्वय शब्दार्थ, काव्यानुवाद और टिप्पणी, सस्वर मूलमंत्र-सहित प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके है। मात्र इतने से ही इन विद्वत्प्रवर को सन्तोष कहाँ ? ८० वर्ष की आयु और वृद्धावस्थाजनित अस्वास्थ्य के बावजूद 'वेद भगवान्' के कार्य हेतु आपने अपने को पूर्णतया अर्पित कर दिया और जुट गये अथर्ववेद के सान्वय शब्दार्थ एवं टिप्पणी कार्य को पूर्णता प्रदान करने हेतु। अब तक लगभग आधा कार्य सम्पन्न हो चुका है, जो दो खण्डों में प्रकाशित होना सम्भाव्य है।

पुनः ऋग्वेद कार्य में संलग्न उदारचेता-कर्मनिष्ठ विद्वद्-द्वय, काशी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध डॉ० जनार्दन गंगाधर रटाटे एवं डॉ० सुधाकर मालवीय के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना आवश्यक है, जिन्होंने आचार्य 'सोम' जी के दिवंगत होने के बाद उत्पन्न रिक्तता को पूर्ण कर अपने अदम्य साहस से हमको चिन्तामुक्त किया। इतनी अल्प आयु में ही संस्कृत भाषा एवं वैदिक साहित्य पर इतना अधिकार बिरले ही जन प्राप्त कर सकते हैं। अपने दैनिक कर्मकाण्ड एवं विश्वविद्यालयीन सेवाओं जैसी व्यस्त जीवनचर्या के बावजूद वेद-चतुष्टय में अग्रणी एवं सबसे विशाल 'ऋग्वेद' पर टिप्पणी एवं सान्वय शब्दार्थ लिखने का गुरुतर दायित्व वहन करने की इन्होंने सहर्ष स्वीकृति दी। इस हेतु सम्पूर्ण जगत् इनका सदैव ऋणी रहेगा। भुवन वाणी ट्रस्ट तो इनका अनुगृहीत है ही।

सम्पूर्ण योजना के अन्तर्गत वेद-चतुष्टय का समग्र कार्य—ऋग्वेद–७ खण्ड, अथर्ववेद–४ खण्ड, यजुर्वेद–२ खण्ड तथा सामवेद–२ खण्ड, इस प्रकार, कुल १५ खण्डों में प्रकाशित होगा। सम्प्रति प्रथम प्रस्तुतिस्वरूप 'वेद-चतुष्टय' के एक-एक खण्ड का सेट प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष अनुभव हो रहा है। इसके पश्चात् एक-एक वेद को पूर्णतः प्रकाशित किया जायेगा। इतने महत्तम एवं दुरूह कार्य को पूर्ण करने में श्रम के साथ अधिक समय भी अपेक्षित है, फिर भी हम चेष्टा करेंगे कि शेष खण्ड भी अधिकारी प्रकाण्ड विद्वानों के उदार सहयोग से यथाशीघ्र पूर्ण करके जनता-जनार्दन की प्रयोजनीय सेवा करने में भुवन वाणी ट्रस्ट सक्षम हो सके। इसी में अकिंचन हस्ताक्षरकर्ता अपने जीवन की परम सार्थकता का अनुभव कर अनुगृहीत होगा।

आभारप्रदर्शन

सदा से देखा गया है कि किसी भी आयोजन अथवा यज्ञ-अनुष्ठान को दो प्रकार की शक्तियाँ पूर्णता प्रदान करती हैं। एक तो वे जो हमको प्रत्यक्ष

दिखलायी पड़ती हैं। और हम उनसे ही अपने को प्रभावित मान लेते हैं इस श्रेणी में आते हैं हमारे विद्वत्-परिषद के विद्वान् सदस्य, जिनके परिश्र से वेद-चतुष्टय की अनुवाद सम्बन्धी पाण्डुलिपि तैयार होने में भुवन वा ट्रस्ट को सहायता प्राप्त हुई। उन विद्वान् अनुवादकों, भाष्यकर्ताओं का ट्रस्ट कृतज्ञ है ही। हम अपने कुछ उन संरक्षकों का भी अभिनन्दन करने अपने को रोक नहीं पा रहे हैं, जिनकी उदारता के फलस्वरूप ही इस दुःसाध प्राय कार्य को अमली जामा पहनाने में भुवन वाणी ट्रस्ट सक्षम हो सका सदाशय व्यक्ति सदा ही निष्काम प्रवृत्ति से सत्कार्य को निज कार्य समझक सहायक होते आये हैं और प्रत्यक्ष से परोक्ष रहकर श्रेष्ठ यज्ञ को पूर्णता प्रद करने में ही जिनका विश्वास रहा, ऐसे संरक्षकों के प्रति हम श्रद्धावनत हैं उनके प्रति हम शतशः आभार प्रकट करते हैं।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्बु।
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः॥
न चन्दनं जिघ्रति सौरभं स्वम्।
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

(पृष्ठ ३६८, सूक्ति-साग

[नदियाँ अपना जल स्वयं नही पीतीं, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खा चन्दन अपनी सुगन्ध को स्वयं नहीं सूंघता। सत्पुरुषों का वैभव परोपक में ही लगता है।]

जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा।

(ब्रह्मपुराण

[उसी का जीवन सफल है जो परोपकार में सदा लगा हुआ है।]

ऐसे ही हैं ब्रह्मवादी सन्त पुरुष, साथ ही प्रशासनिक कार्यों में दिन-रा व्यस्त, श्री जगदीशचन्द्र पन्त आई० ए० एस०। उनके अपार स्नेह को का नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। इतने विशाल आयोजन में उन सहज सुलभ अपार शक्ति, के बल पर ही आज भुवन वाणी ट्रस्ट इतने व भाषाई आन्दोलन का कार्यान्वयन करने में अग्रसर हो सका है। ड जे० पी० सिंह, आई० ए० एस० एवं श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी, आई० ए० एस० ट्रस्ट के प्रति असीम अनुकम्पा को भुलाया नहीं जा सकता, जिनका सहयो भुवन वाणी ट्रस्ट को अनवरत सुलभ है। इन तीनों महानुभावों के संरक्ष में हम सकल राष्ट्र को अपने भाषाई आन्दोलन द्वारा एक निश्चित दिशा दे में सक्षम हो सके, इस हेतु अकिंचन हस्ताक्षरकर्ता स्वयं और समस्त भुव वाणी ट्रस्ट परिवार इनका शत-शत अभिनन्दन करता है।

इसके अलावा भी, ट्रस्ट के न्यासीमण्डल के वरिष्ठ सदस्य भाषासेतु-क्रवर्तिन् प्रो० डॉ० गजानन नरसिंह साठे (पूना) के इस महत् कार्य में प्राप्त म-योगदान के प्रति भी हम आभारी है, जिन्होंने ट्रस्ट के प्रति अपने को र्वांग समर्पित किया है।

संस्कृत-साहित्य सम्बन्धी ट्रस्ट के विविध कार्यों में हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ वि एवं खड़ी बोली के वृहत्तम महाकाव्य 'चैतन्य-चन्द्रिका' के समादृत चयिता श्री राजेशदयालु 'राजेश' का ऋजुहृदय-प्रेरित सहयोग हमें पग-पग र प्राप्त होता रहा। उन्होंने ट्रस्ट के कार्यों का पुनरीक्षण, संशोधन और रिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, यदर्थ हम उनके विशेष ाभारी हैं। ट्रस्ट के चिर-सहयोगी एवं ट्रस्ट-परिवार से सम्बद्ध कुशल शिल्पी ी लक्ष्मीनारायण, श्री श्रीनिवास द्विवेदी, तथा इस भाषाई अजायबघर हमारे अन्य सहकर्मी भी साधुवाद के पात्र हैं। उन सभी की कर्मनिष्ठा वं सेवापरायणता की हम भूरि-भूरि सराहना करते हैं।

प्रसिद्ध समाजसेवी श्री नन्दलाल टाँटिया (कलकत्ता) के प्रति भी भुवन ाणी ट्रस्ट श्रद्धावनत है, जिनकी प्रेरणा से श्री नवलकिशोर केजड़ीवालजी वीणा चैरिटी फ़ाउण्डेशन, कलकत्ता से इस कार्य हेतु आरम्भिक प्रोत्साहन पलब्ध करवाया।

विनयावनत

विनयकुमार अवस्थी

मुख्यन्यासी सभापति, भुवन वाणी ट्रस्ट,

लखनऊ—२२६ ०२०

सन्त पंचमी,

फ़रवरी, १९९२

डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का जन्म शरत् पूर्णिमा १८ अक्टूबर १९१० ई० को सीतापुर जिले के पैंसिया नामक गाँव में हुआ था। कसमंडा राजवंश से सम्बद्धित होने के कारण कुँवर कहलाये। स्वर्ण पदक के साथ लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए०, नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० और नागपुर विश्वविद्यालय से ही डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त की। अध्यापक जीवन के प्रारम्भ में १९४३ से १९५८ ई० तक युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय लखीमपुर में हिन्दी विभागाध्यक्ष और उपप्राचाय रहे। फिर १९५८ से १९७४ ई० तक बड़ोदा, जोधपुर, मगध विश्वविद्यालयों में वरिष्ठ प्रोफ़ेसर, विभागाध्यक्ष और अधिष्ठाता कला संकाय रहे। फिर १९७८ ई० तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की शोध-योजना में कार्य किया। १९८० ई० में अमरीका जाने पर अनेक विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन और साहित्य पर बहुप्रशंसित व्याख्यान दिये तथा १८ अक्टूबर १९८० को वाशिंगटन में 'अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति' की स्थापना की। यह संस्था अमरीका के ४२ राज्यों में अपना कार्य-विस्तार कर चुकी है।

आपके समालोचना ग्रन्थों में हैं– १. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा (दो खण्ड) २. मध्यकालीन नाट्य परम्परा और भारतेन्दु ३. गोविन्द हुलास (लगभग २७५ वर्ष पुराना हिन्दी नाटक का शोधपूर्ण सम्पादन) ४. अक्षयरस ५. काव्य प्रभाकर किंवा रुक्मिणीहरण आदि। सम्पादित ग्रंथों में हैं– १. पं० कृष्णविहारी मिश्र ग्रंथावली २. शास्त्री-अभिनन्दन ग्रंथ ३. डॉ० सम्पूर्णानन्दस्मृतिग्रंथ (शीघ्र प्रकाश्य)। स्वरचित नाटक हैं– १. कविकुल गुरु २. जनकवि जगनिक ३. कविवर नरोत्तमदास ४. पाँच एकांकी ५. आचार्य चाणक्य आदि। काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं– १. शंपा (राष्ट्रीय एवं साँस्कृतिक काव्यसंग्रह) २. बा और बापू ३. प्रतिपदा ४. अपराजिता ५. विजया आदि। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता है और अनेक साहित्यिक एवं साँस्कृतिक संस्थाओं के साथ सम्बद्ध रहे है तथा अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित हो चुके हैं। हिन्दी अध्यापकों की संस्था भारतीय हिन्दी परिषद के आप तीन वर्षों तक अध्यक्ष रहे।

प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनके काव्य के विषय में लिखा है, "कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी के काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी परिष्कृत और प्रांजल पदावली है जो भाषा पर उनके अधिकार की ही नहीं उसकी गहरी पहचान की भी परिचायक है।

आपके शोध के विषय में महापण्डित वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था "गोविन्द हुलास नाटक को ऐसे सुसंपादित ढंग से प्रकाशित देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। हिन्दी के लिए ढाई सौ वर्ष पुराने इस उत्तम नाटक की उपलब्धि बहुत हर्षप्रद घटना है"।

भूमिका

वेद भारत के आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन के दिव्य स्रोत हैं। वेद भारतीय संस्कृति और सभ्यता के उद्‌गम हैं। वे ही वह प्रत्यक्ष आधार हैं जिस पर भारतीय जीवन का बौद्धिक और नैतिक महिमाशाली प्रासाद निर्मित हुआ है। भारत का ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं दार्शनिक चिन्तन का समग्र विस्तार वेदमूलक है। ऋषिमनीषा ने चिन्तन और अनुभव की जिन गहराइयों में उतरकर ऋत और सत्य का साक्षात्कार किया है, वेद उसका यथारूप अभिलेख हैं। ऋषि चिन्तन ने परम चरम सत्य के जिन रहस्यों का उद्‌घाटन किया है, वेद उसी की अभिव्यक्ति हैं। ऋषियों की इसी अखण्ड और अव्याहत साधना की उपलब्धि को लक्ष्य कर कहा गया है—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः।
पूर्वेभ्यः पथिकृद्‌भ्यः ॥

(हमारे पूर्वज—पूर्ववर्ती ऋषियों के लिए नमस्कार, जिन्होंने हमारे शोभनमार्ग का निर्माण किया है।)

इसलिए भगवान् का यह संदेश ऋषियों के मानस में अवतरित हुआ था कि हे स्तोता ऋषि ! जो वाणी तुम्हें प्राप्त हुई है उसको कभी भूलो मत, आनेवाले सभी युगों में उसका उद्‌घोष समग्र विश्व में सुनायी देगा—

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा।
आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि ॥

यह वेदवाणी नित्य है, चिरनवीन है, चिरकिशोर है, जराहीन तथा अमर है। यह जरा और मृत्यु से आतंकित मानव जीवन को अभय और अमरता का संदेश देती है। मानव जाति का इससे बड़ा मित्र कोई और नहीं है। भारतीय परंपरा में यह मान्य रहा है कि अपने मूल स्वरूप में वेद एक ही था। भगवान् वेदव्यास ने लोककल्याण की दृष्टि से उस एक वेद का चार वेदों के रूप में विभाजन कर दिया। 'श्रीमद्‌भागवत' में कहा गया है कि भगवान वेदव्यास अपनी पूरी शक्ति से सदा सर्वत्र प्राणियों के कल्याण में लगे रहते हैं। महर्षि वेदव्यास का आविर्भाव वर्तमान-चतुर्युगी के तीसरे युग द्वापर में हुआ था। 'श्रीमद्‌भागवत' के प्रथम स्कन्ध में बतलाया गया है कि एक दिन वे सूर्योदय के समय सरस्वती के पवित्र जल में स्नानादि से निवृत्त

होकर एकांत पवित्र स्थान में बैठे हुए थे। महर्षि व्यास त्रिकालज्ञ थे, भूत वर्तमान और भविष्य तथा विश्व के समस्त व्यापार उनके लिए हथेली पर रखे हुए बेर के समान थे। उन्होंने देखा कि जिसको लोग जान नहीं पाते, ऐसे समय के फेर से प्रत्येक युग में धर्मसंकरता बढ़ती है और उसके प्रभाव से भौतिक वस्तुओं की शक्ति का ह्रास होता रहता है। संसार के लोग श्रद्धाहीन और शक्तिरहित हो जाते हैं। उनकी बुद्धि कर्तव्य का ठीक-ठीक निर्धारण नही कर पाती और आयु भी कम हो जाती है। लोगों की इस भाग्यहीनता को देखकर उन मुनीश्वर ने अपनी दिव्य दृष्टि से समस्त वर्णों और आश्रमों का हित कैसे हो, इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उन्होंने सोचा कि वेदों में बतलाया गया चातुर्होत्र कर्म लोगों का हृदय शुद्ध करनेवाला है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चार के द्वारा संपादित होनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञों को चातुर्होत्र कहते है। इन यज्ञों के विस्तार का उपाय उनकी दृष्टि में वेद का सम्यक् ज्ञान ही था। किन्तु उन्होंने यह सोचा कि लोगों की स्मरण-शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। उनकी आयु का भी ह्रास हो गया है। इसलिए वे समग्र वेद को धारण करने अथवा समझने में असमर्थ हैं। ऐसे अल्पायु और अल्पमेधाजनों पर कृपा करके भगवान् वेदव्यास ने एक ही वेद के चार विभाग कर दिये। वे चार विभाग है, ऋक्, यजु, साम, और अथर्व—

स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले॥
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान्निःसत्वान्दुर्मेधान् ह्वसितायुषः॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥
× × ×
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥

(श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, अध्याय–४ श्लोक १५, १६, १७, १८, १९, २४)

इस चतुर्विध विभाजन के कारण चारों वेदों को वेदचतुष्टयी भी कहा गया है। वेदचतुष्टयी चारों वेदों में वर्णित विषयों का निर्देशक है।

ऋग्वेद में देवताओं की गुणावली का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद में आपातत: नाना प्रकार के यज्ञो का विधान निर्धारित किया गया है। सामवेद में मन्त्रों के गायन की विधि बतलाकर भगवान और देवताओं को प्रसन्न करने की विधि बताई गई है। अथर्ववेद में ब्रह्मज्ञान के साथ-साथ अनेकानेक लौकिक विषयों के ज्ञान का समावेश किया गया है। चतुष्टयी के अतिरिक्त वेदों की गणना का एक अन्य रूप भी मिलता है जिसको वेदत्रयी कहते है। वेद की चार संहितायें अवश्य है, किन्तु उन चारों संहिताओं के मन्त्रों का तीन शैलियों या विधाओं में समूहन किया गया है। ये विधायें है—१ पद्य, २ गद्य और ३ गान। पद्य, गद्य और गान को ही वेदत्रयी कहते है। वेदत्रयी में अभिव्यक्ति या भाषा की रचना की मुख्यता है और वेदचतुष्टयी में प्रतिपाद्य विषय की मुख्यता है। स्पष्टता के लिए इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

वेदत्रयी—पद्यमन्त्र, गद्यमन्त्र और गान के मन्त्र।

वेदचतुष्टयी—गुण वर्णन के मन्त्र, यज्ञकर्म के मन्त्र, गान के मन्त्र और ब्रह्मज्ञान के मन्त्र।

वेदत्रयी अभिधान के कारण कुछ विदेशी विद्वान् और उनके अनुयायी ऋक्, यजु और साम को ही मूल वेद मानते है और अथर्ववेद को परवर्त्ती घोषित करते है। इस संबंध में वेदमूर्त्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का कथन विचारणीय है, "वेदत्रयी कहने के कारण अथर्ववेद पीछे बना, यह नही समझना चाहिए। क्योंकि यज्ञों में "ब्रह्मा" अथर्ववेदी ही होता है और "ब्रह्मा" की यज्ञ में आवश्यकता होती ही है, तब अथर्ववेद पीछे से बना यह कैसे कहा जा सकता है? वेदत्रयी और वेदचतुष्टयी के मन्त्रों की संख्या में कोई फरक नहीं है।" तात्पर्य यह कि वेदत्रयी की दृष्टि से मन्त्रसंख्या की गणनाओं में कोई भेद नहीं होता है। वेदमूर्त्ति सातवलेकर जी का यह कथन भी विचारणीय है, "यजुर्वेद में जो पादबद्धमन्त्र ऋग्वेद या अथर्ववेद से लिए गए है, वे पद्य के समान नहीं बोले जाते हैं अर्थात् वे ही मन्त्र ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में पद्य के अनुसार छन्दों में बोले जाते हैं और वे ही मन्त्र यजुर्वेद में बोलने के समय गद्य के समान बोले जाते हैं।" मन्त्रों के पाठ की यह परिपाटी पुरानी है।

'श्रीमद्भागवत्' में वेदों के तात्त्विक स्वरूप और उनके अर्थग्रहण की परिपाटी पर स्वयं भगवान कृष्ण ने प्रकाश डाला है। 'श्रीमद्भागवत' के एकादश स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय में उन्होंने उद्धव को ज्ञानोपदेश करते हुए कहा है कि वेदों में तीन काण्ड है— कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डों में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह है ब्रह्म और आत्मा

की एकता। सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषय को खोलकर नहीं, गुप्त भाव से बतलाते हैं और मुझे भी इस भाव को गुप्त रूप से कहना ही अभीष्ट है। कारण, सब लोग इसके अधिकारी नहीं हैं। अन्तःकरण शुद्ध होने पर ही वेदतत्त्व उसमें प्रकाशित होता है—

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥

(श्रीमद्भागवत, स्कंध–११, अध्याय–२१, श्लोक–३५)

इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा है, वेदों का नाम है शब्दब्रह्म। वे मेरे ही विग्रह हैं, इसलिए उनका रहस्य समझना बहुत कठिन है। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमावाणी के रूप में प्राणमय मन और इन्द्रियमय है। वह समुद्र के समान असीम और अत्यन्त गहरा है, उसकी थाह लगाना बहुत कठिन है। जैमिनि जैसे बड़े-बड़े विद्वान भी उसके तात्पर्य का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाये हैं—

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत॥

(श्रीमद्भागवत, एकादश स्कंध, अध्याय–२१, श्लोक–३६)

भगवान् ने इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा, मैं अनन्त शक्तिसंपन्न एवं स्वय अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणी का उपबृंहण किया है। जैसे कमल नाल में पतला सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहत नाद के रूप में प्रकट होती है—

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥

(श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध, अ० २१, श्लोक ३७)

इसी प्रसंग मे वेद के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं अमृतमय और वेद के विग्रह हैं। प्राण उनकी उपाधि है और स्वयं अनाहत शब्द द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुख द्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णो का संकल्प करनेवाले मन रूप निमित्तकारण के द्वारा हृदयाकाश से अनन्त अपार अनेकों मार्गो वाली वैखरी रूप वेदवाणी को स्वयं ही प्रकट करते है और फिर उसे अपने में लीन कर लेते है। श्रुतियों की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ये श्रुतियाँ मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती है। माया मात्र कहकर उसका अनुवाद करती है और अंत मे सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती है। अन्ततः अधिष्ठानरूप से केवल मैं ही शेष रह जाता हूँ।

इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि वेद समाधिसंभूत परमचरम ज्ञानराशि है। इसको दीर्घकालीन तपस्या द्वारा परिपूत बने हुए विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषियों ने दिव्य 'दृष्टि' और दिव्य 'श्रुति' के द्वारा प्राप्त किया था। 'दृष्टि' और 'श्रुति' ऐसे दो शब्द हैं जो महान् मनीषियों की दृष्टि में वेदतत्त्व के निर्धारक और निरूपक हैं। 'दृष्टि' शब्द का अर्थ है, वेदमन्त्रों की रचना इस प्रकार नहीं हुई है जिस प्रकार कोई कवि अपनी काव्यकृति की रचना करता है। ऋषियों के अन्तःकरण में, उनकी समाधि अवस्था में वेदमन्त्र यथारूप प्रकाशित हो उठते हैं। इन मन्त्रों में जो सत्य प्रकट होता है, वह अतिमानस और अपौरुषेय है। वेद की भाषा को 'श्रुति' कहा गया है। वेदों की भाषा को श्रुति इसलिए कहा गया है कि वे निःसीम आकाश में व्याप्त ऐसे दिव्य शब्द है जो ऋषियों के आन्तरिक कर्ण तक पहुँचते हैं। ऋषियों के आन्तरिक कर्ण को उनके श्रवण करने की शक्ति तपस्या द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए यह सिद्ध है कि वेद के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए तपस्या से पवित्र बने हुए मन और बुद्धि का होना अनिवार्य है। वेदार्थ प्राप्त करने की योग्यता संपादित करने के लिए अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाली तपस्या अनिवार्य है।

कतिपय प्राचीन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर अनधिकारियों द्वारा वेदार्थ को विकृत करने के प्रयत्न होते रहे। 'वाल्मीकि रामायण' के सुन्दरकाण्ड में कहा गया है कि जब हनुमान जी ने अशोक वाटिका में सीता जी को देखा, तो वे अर्थान्तर को प्राप्त हुई वेदवाणी के समान दीनहीन प्रतीत हो रही थीं और पहचानी नहीं जाती थीं। हनुमान जी ने बड़े कष्ट से उनको पहचाना—

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥

(वाल्मीकि रामायण, सु०का०, सर्ग १५, श्लोक ३६)

वेद के तात्त्विक अर्थ को समझे बिना उसको मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना और उसके आधार पर कर्मकाण्डीय अर्थवाद पर बल देने को भगवान् ने गीता में वेदवाद कहा है। वेदवाद का अर्थ है, वेद के उपक्रम, उपसंहार आदि के तात्पर्य को समझे बिना केवल कर्मकाण्ड को ही वेद का चरम प्रतिपाद्य मानना। जो यह कहते हैं कि वेद में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह वेदवादी हैं। उन्हें ही गीता में वेदवादी कहा गया है। भगवान् ऐसे वेदवादियो को मूर्ख घोषित करते हैं क्योंकि वेदार्थ ग्रहण करने की पात्रता उनमें नहीं होती है। ऐसे लोग वेदार्थ ग्रहण करने की

पात्रता अर्जित किये विना अपनी जड़ताग्रस्त बुद्धि का निरर्थक व्यायाम करते रहते है। तात्पर्य यह कि वेद को कर्मकाण्डीय परंपरा में अर्थान्तरित और सीमित करना गीता को भी स्वीकार नहीं है। वेद को कर्मकाण्डपरक वनाने की प्रक्रिया को भगवान् कृष्ण ने गीता में अनन्त महासमुद्र को थोड़े जलवाला सरोवर समझना कहा है। गीता में पन्द्रहवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में कहा गया है— 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम्।' यहाँ यह कहा गया है कि सव वेदों के प्रतिपाद्य केवल भगवान् है। अनेक प्रतीकों और निदानों द्वारा वेद का प्रत्येक मन्त्र भगवतत्त्व को प्रकाशित करता है।

बुद्धि तीन प्रकार की वताई गई है, श्रुत बुद्धि, अनुमान बुद्धि और ऋतंभरा बुद्धि। शास्त्र और गुरु के वचनों द्वारा आत्मतत्त्व का निर्धारण श्रुत बुद्धि कहा जाता है। अनुमान और प्रमाण के द्वारा आत्मतत्त्व का निश्चय करना अनुमान वुद्धि कहलाता है। श्रुत बुद्धि किंवा अनुमान बुद्धि से परमात्मतत्त्व का सामान्य ज्ञान ही प्राप्त होता है। इनके द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नही होती। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए ऋतंभरा प्रज्ञा की सिद्धि अनिवार्य है। इस ऋतंभरा प्रज्ञा को प्राप्त करने की विधि पातंजल योगदर्शन में वतलायी गई है। पातंजल योगदर्शन के सूत्र संख्या तीन और चार में यह कहा गया है, किमी ध्येय पदार्थ में धारणा, ध्यान तथा समाधि का एक होना संयम है। इस संयम पर विजय प्राप्त करने से योगी की वुद्धि में अलौकिक ज्ञानशक्ति उत्पन्न हो जाती है— 'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'। इस अलौकिक ज्ञान शक्ति को अध्यात्मप्रसाद अथवा चित्तशुद्धि भी कहते हैं। वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि संयम पर विजय प्राप्त करनेवाले ऐसे ही योगी थे जिनको ऋतंभरा प्रज्ञा सहज सिद्ध थी। इन योगसंसिद्ध ऋषियों को ही वेदमन्त्र प्रकाशित होते थे। इसलिए यह भी सिद्ध है कि वेदार्थ अधिगत करने के लिए ऋतंभरा प्रज्ञा की सिद्धि अति आवश्यक है। जव अपने ही देश में वेद का वास्तविक अर्थ ग्रहण करने में भूलें होती रही, तो जड़वादी यूरोप के विद्वानों द्वारा उसके वास्तविक अर्थतत्त्व को प्राप्त करना कैसे संभव था। यूरोपीय विद्वानों ने वेद की व्याख्या करने के लिए दो सिद्धान्तों का निर्धारण किया जिनको जड़ात्मवाद (Animism) और जड़चेतनावाद (Animatism) कहते हैं। जड़वस्तु में किसी पृथक् चेतनाशक्ति या आत्मा का निवास मानकर उसकी उपासना करना जड़ात्मवाद कहा जाता है। उस धार्मिक भावना को जड़चेतनावाद कहते हैं जिसके अनुसार स्थावर जगत की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु चेतन प्राणी की भाँति सोचने-समझने और अनुभव करने की शक्ति से सम्पन्न मानी जाती है। श्रादर, फ्रेजर, मैक्डानल, विन्टरनित्स, कीथ आदि विद्वानों की विचारधारा थोड़े-वहुत अन्तर के साथ इन्हीं दो सिद्धान्तों के

आधार पर वैदिक देवतत्त्व को समझने का प्रयत्न करती हुई दिखायी पड़ती है। इन सब विद्वानों की वेदविषयक अवधारणाओं का सारांश यह है कि आर्यों के प्राचीन देवता प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के मानवीकरण मात्र थे और वेदमन्त्रों में प्रायः उन्हीं का अभिनंदन-वंदन किया गया है।

जड़वादी यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वानों ने यदि केवल अज्ञानवश वेदार्थ को विकृत किया होता, तो यह कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं होती। किन्तु अधिकांश यूरोपीय विद्वानों ने ईसाईयों के प्रचारकीय दृष्किोण से तथा साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी लक्ष्यों के आधारभूत स्थूल उद्देश्यों की दृष्टि से भी वेद जैसे विश्व के सबसे प्राचीन और महान् वाङ्मय पर तथा भारत के संपूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर बर्बरता की कोटि के आक्रमण किये। इन आक्रमणों से क्षुब्ध होकर योगिराज श्री अरविंद ने लिखा है कि एक ओर तो भारतीय संस्कृति पर यूरोपीय आधुनिकतावाद के आक्रमण हो रहे हैं तथा भौतिक क्षेत्र में यह अभिभूत हो रही है और दूसरी ओर भारत की संतति भी इस विषय में उदासीन होकर इसके साथ सहयोग करती हुई विश्वासघात कर रही है। ऐसी दशा में यह आशंका है कि शायद यह सदा के लिए मटियामेट हो जाय और इसके साथ ही इसे संजोकर रखनेवाली राष्ट्र की आत्मा भी सदा के लिए नष्ट हो जाय। भारत की संतति भी इस विषय में उदासीन है, यह कहकर श्री अरविंद विशेष रूप से उन भारतीय विद्वानों की ओर इंगित कर रहे हैं, जो वेद जैसे विषय पर यूरोप के विद्वानों का अनुसरण कर रहे है और उनकी बुद्धि के आयात पर गौरव का अनुभव करते हैं। श्री अरविंद ने लिखा है, पिछले हजारों वर्षों के इतिहास में वैदिक ऋचाओं के अर्थ का निर्धारण करने के लिए तीन उल्लेखनीय प्रयत्न किये गये हैं। ये तीनों प्रविधि और परिणामों की दृष्टि से एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इनमें से पहला प्राक् ऐतिहासिक काल में किया गया था और आज इसके निष्कर्ष ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में केवल खण्डशः प्राप्त हैं। इसके पश्चात् दूसरा प्रयत्न महान् भारतीय मनीषी सायण के द्वारा किया गया जो अपने समग्र रूप में आज हमें सुलभ है। तीसरा प्रयत्न आधुनिक यूरोपीय विद्वानों के द्वारा किया गया, जिन्होंने सादृश्य और अनुमान तथा बौद्धिक अटकल के विपुल श्रम के द्वारा वेदार्थ की उद्भावना करने का प्रयत्न किया है।

श्री अरविंद ने लिखा है कि सायण और आधुनिक यूरोपीय विद्वानों के वेदार्थ निर्धारण करनेवाले भाष्यों में एक विशेष लक्षण उभयनिष्ठ है। दोनों ने प्राचीन ऋचाओं पर जो अर्थ आरोपित किये हैं, उनमें असाधारण असंगति और वैचारिक दरिद्रता के दर्शन होते हैं। इन विद्वानों ने मन्त्रों की व्याख्या के स्थान पर मनःकल्पित अर्थों को आरोपित करने का विराट प्रयत्न किया

है। सायण वेदार्थ को प्रधान रूप से वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्डीय विधान के साथ जोड़ देते हैं। वे इसी विचार के वशीभूत होकर वेदार्थ निर्धारण के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। वे वेद की भाषा को ऐसे साँचे में ढालते हैं कि उसमें वैदिक यज्ञों का कर्मकाण्डमय अनुष्ठान श्रुति का प्रमुख प्रतिपाद्य वन जाता है। सायण के भाष्य में कहीं-कहीं श्रुति की प्राचीन आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं का अवशेष भी मिल जाता है। किन्तु ऐसी आध्यात्मिक व्याख्या सायण को अभीष्ट नहीं प्रतीत होती। उनके भाष्य में धन, अन्न, वल, शक्ति, स्वामित्व, संतान, सेवक, सोना, घोड़े, गौवें, युद्ध में विजय, शत्रुओं का वध तथा लूट जैसे भौतिक पदार्थों की प्राप्ति ही यज्ञों का परम लक्ष्य निर्धारित किया गया है। उनका भाष्य वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्डपूर्ण अनुष्ठान को ही प्रधान वना देता है और वेद के मूल गौरवशाली आध्यात्मिक अर्थ को उपेक्षित कर देता है। इसीलिए गीता में वह विचार-सरणि, जो आगे चलकर सायण के द्वारा गृहीत हुई, वेदवाद कहकर तिरस्कृत की गई है। गीता में वेद के आध्यामिक और दार्शनिक प्रतिपाद्य तत्व के पुनरुद्धार पर वल दिया गया है और कहा गया है कि सव वेदों का प्रतिपाद्य और ज्ञाता केवल मैं हूँ— "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।" सायण के भाष्य की 'स्वार्थसाधक' और 'भौतिकतम' भोगप्रतिपादक व्याख्या की समीक्षा करते हुए श्री अरविंद ने लिखा है, "वेद के सव संभव अर्थों में से इस निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रामाणिकतया वाँध देना— यह सायण के भाष्य का सवसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। कर्मकाण्डपरक व्याख्या की प्रधानता ने पहले ही भारतवर्ष को अपने श्रेष्ठ धर्मशास्त्र (वेद) के सजीव उपयोग से और उपनिषदों के समस्त आशय को वतानेवाले सच्चे मूल सूत्र से वंचित कर रखा था। सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी, जो कई शताब्दियों तक नहीं तोड़ी जा सकी और इसके दिये हुए निर्देश, उस समय जवकि एक दूसरी सभ्यता ने वेद को ढूँढ़कर निकाला और इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, यूरोपीयन विद्वानों के मन में नयी-नयी गलतियों के कारण वने।" (वेद-रहस्य, प्रथम भाग, पृ०५८) श्री अरविंद ने इसी प्रसंग में आगे लिखा है कि सायण के भाष्य ने वेद के मूल आन्तरिक अर्थ पर दोहरा ताला लगा दिया है। फिर भी यह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है, "प्रत्येक पग पर हम इसके साथ मतभेद रखने के लिये वाध्य है, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने के लिये भी वाध्य है। यह एक आवश्यक कूदने का तख्ता है, या फिर यह एक सीढ़ी है जिसका हमें प्रवेश के लिए उपयोग करना पड़ता है, यद्यपि इसे हमें अवश्य ही पीछे छोड़ देना

चाहिए, यदि हम आगे बढ़कर आन्तरिक अर्थ की गहराई में गोता लगाना चाहते हैं, मन्दिर के भीतरी भाग में पहुँचना चाहते है।"

सायण के द्वारा की गई वेद की कर्मकाण्डीय व्याख्या के स्रोत को पकड़कर यूरोप के वैदिक विद्वानों ने प्रकृतिवादी व्याख्या की मृगमरीचिका की सृष्टि की। परिणाम यह हुआ कि श्रुति के वाह्य भौतिक अर्थ की कल्पना और अनुमान वहुल व्याख्या को चरम अतिशयोक्ति की सीमा तक पहुँचा दिया गया है जिससे उसका असली और आन्तरिक रहस्य पूर्णरूप से विलुप्त हो गया। यूरोप के वैदिक पांडित्य ने प्राय: कल्पना की रेत पर वेद के विषय में अर्थ और व्याख्या का विशाल भवन खड़ा किया और घोषित किया कि वेद आदिम, जंगली और अत्यन्त वर्बर समाज की स्तोत्र-संहिता है। वैदिकजनों का वह समाज नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से असंस्कृत था। सामाजिक दृष्टि से वे लोग असभ्य थे और अपने चतुर्दिक फैले संसार के विषय में उनका दृष्टिकोण अबोध बच्चों का-सा था। इन यूरोपीय विद्वानों ने यह स्थापना की कि वेद प्रकृति का एक अर्ध अधविश्वासयुक्त तथा अर्ध कविता युक्त रूपक हैं। सम्पूर्ण वेद केवल जंगलीपन और अंधविश्वास से भरा हुआ है। इन विद्वानों ने वैदिक देवताओं को प्राकृतिक शक्तियों का प्रतिरूप घोषित किया है। यूरोपीय विद्वानों की वेदसबधी इन स्थापनाओं ने भारतीय मनीषा के आत्मसम्मान और आत्मविश्वास पर गहरा आघात किया। यूरोप के इन वैदिक पडितों ने प्राक् वैदिककाल में भारत पर आर्यो के आक्रमण की कल्पना भी गढ़ डाली। इनके अनुसार आर्य उत्तर के हिमाच्छादित प्रदेशों में रहनेवाली बर्बर जाति थी जिसने भारत में आकर द्रविड़ भारत की प्राचीन तथा समृद्ध सभ्य जातियो को उन्मूलित कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। दुर्भाग्य की बात है कि यूरोपीय पंडितों की ये स्थापनाये भारतीय विद्वानों के द्वारा ध्रुव सत्य मानी जाने लगी। यूरोपीयन विद्वानों के अनुयायी होने पर गर्व करने वाले भारतीय विद्वानों ने कुछ अपवादों को छोड़कर उक्त मान्यताओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। यूरोपीय विद्वान यह सिद्ध करना चाहते थे कि जिस प्रकार पठान, मुगल या अंग्रेज बाहर से आकर इस देश में बसे हैं उसी प्रकार हिन्दुओं के पूर्वज भी इस देश में बाहर से आये थे। उनका अभिप्राय यह था कि हिन्दुओं को भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि कहने का वैध या नैतिक अधिकार नही है।

पहले संकेत किया जा चुका है कि वेद के मूल वास्तविक अर्थ के उद्धार का प्रयत्न उपनिषद् के ऋषियों ने किया। महान् निरुक्तकार यास्क ने लिखा है, "ऋषियों ने सत्य को, वस्तुओं के सत्य धर्म को आंतरदृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष

देखा था।'' उन्होंने यह भी लिखा है, ''वेद का सच्चा अर्थ ध्यान योग और तपस्या के द्वारा ही प्रत्यक्षतः जाना जा सकता है।'' इसी ध्यानयोग और तपस्या के द्वारा समाधि की स्थिति में उपनिषद् के ऋषियों ने वेद के मूल अर्थ का साक्षात्कार किया था। वेद के गुप्त ज्ञान में प्रवेश पाने का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। यास्क ने अपने समय में प्रचलित वेदों के ऐतिहासिक, प्रकृतिवादी, नैरुक्त, तथा वैयासिक चार मतों का निर्देश किया है। यास्क ने यह भी कहा है कि ज्ञान तीन प्रकार का होता है, इसलिए वेदमंत्रों के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं— १ अधियज्ञीय या कर्मकाण्डीय अर्थ, २ अधिदैवत अर्थात् देवविषयक अर्थ और ३ परम चरम आध्यात्मिक ज्ञान परक अर्थ। यास्क ने संकेत किया है कि वेद का मूल वास्तविक अभीष्ट अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिपादन ही है। 'जब यह प्राप्त हो जाता है, तो शेष अर्थ झड़ जाते या कट जाते हैं। यह आध्यात्मिक अर्थ ही त्राण करनेवाला है। शेष सब बाह्य और गौण हैं।' इसको स्पष्ट करते हुए श्री अरविंद ने लिखा है, ''यह परंपरा कि प्राचीन वेद की ऋचाओं में एक गुह्य अर्थ और एक रहस्यमय ज्ञान निहित है, इतनी पुरानी है जितने कि स्वयं वेद। वैदिक ऋषियों का यह विश्वास था कि उनके मन्त्र चेतना के उच्चतर गुप्त स्तरों से अन्तःप्रेरित हुए आये हैं और वे इस गुह्य ज्ञान को सुरक्षित रखते हैं। वेद के वचन उनके सच्चे अर्थों में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं, जो स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हों, अन्यों के प्रति मन्त्र अपने गुह्य ज्ञान को नहीं खोलते।'' ऋषि दीर्घतमा ने कहा है कि ऋचायें उस परम आकाश में निवास करती हैं, जो अविनश्वर और अपरिवर्तनीय है, उसी में सब देवों का निवास है— **'ऋचोअक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।'** जो उस आकाश को नहीं जानता है, वह ऋचा को क्या समझेगा— **'य तन्न वेद किमृचा करिष्यति'**।

वेद में ऋषियों ने वाणी के चार स्तरों का निर्देश किया है। इनमें से एक से मनुष्य की वाणी उच्चरित होती है शेष तीन गुहा में छिपे हुए हैं। वेद के शब्द और अर्थ उन तीन स्तरों से अभिव्यक्त होते है। इसी मत का प्रतिपादन आगे चलकर 'श्रीमद्भागवत' में किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' का मत आरंभ में उद्धृत किया जा चुका है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि वेद में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिपादन परोक्ष शैली में किया गया है। ऋषियों ने वेद में प्रतीकात्मक शब्दों की परोक्षवादी शैली द्वारा परम गुह्य आध्यात्मिक रहस्यों को अनधिकारियों के लिए दुर्बोध बनाकर प्रस्तुत किया है। रहस्यवादी अथवा परोक्षवादियों का यह प्रमुख सिद्धान्त था कि परमात्मज्ञान को तथा देवविषयक सत्य ज्ञान को गुप्त रखा जाना चाहिए।

यूरोप के वैदिक विद्वानों के हाथों में पड़कर वेदार्थ जिस प्रकार तोड़-मरोड़कर इतर दिशाओं में मोडा गया, उससे भारतीय मनीषा का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। अतएव कतिपय महान् भारतीय विद्वानों ने उनकी भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए वेदार्थ को आध्यात्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। अन्य विद्वानों में स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविंद, एम० पी० पंडित, डॉ० रेले, लोकमान्य तिलक, परमशिव अय्यर, वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सम्पूर्णानन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें लोकमान्य तिलक ने वैदिक मन्त्रों के नक्षत्रविद्या संबंधी तत्त्वों की नवीन परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि आर्य जाति प्रारम्भ में, हिमयुग में, उत्तरी ध्रुव के प्रदेशों में निवास करती थी और वहाँ से उतरकर भारत में आयी थी।[1] श्री परमशिव अय्यर ने अपने 'रिक्स' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद में उस समय की घटनाओं का वर्णन है जब पृथ्वी का जन्म ही हुआ था। पृथ्वी के जन्म के उस आरंभिक काल में भूतल पर जो अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए और हो रहे थे उनको ऋषियों ने ऋग्वेद के मन्त्रों में उपनिबद्ध किया। उनके मत में ऋग्वेद में आलंकारिक रूप से भूगर्भ सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन है। बी० जी० रेले ने अपनी पुस्तक 'वैदिक गाड्स-ऐज दि फिगर्स ऑफ् बॉयलाजी' में प्रतिपादित किया है कि "सभी वैदिक देवता मनुष्य के स्नायु संस्थान के विभिन्न चेतना-केन्द्रों तथा क्रियाओं के प्रतीक हैं।"

वेदार्थ के प्रतिपादन में सबसे पहला, सबसे महान् और सबसे क्रान्तिकारी कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। उन्होंने यास्क के निरुक्त में प्राप्त भारतीय भाषाविज्ञान की पद्धति का मौलिक प्रयोग अपने वेद भाष्य में किया है। उन्होंने वैदिक ऋषियों की अर्थसरणि को समझने का एक प्रामाणिक मार्ग उद्घाटित किया। उन्होंने वेदार्थ प्रतिपादन की जो प्रणाली प्रवर्तित की, वह सायण के भाष्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतों के निरसन का प्रथम प्रबल और प्रामाणिक प्रयत्न था। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि "वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक पूर्ण ईश्वरप्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एक देवतावाद की है और वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न-भिन्न वर्णनात्मक नाम है, साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियों के सूचक भी है, और वेदों के आशय को सच्चे रूप में समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सच्चाइयों पर पहुँच सकते है जिनका आधुनिक अन्वेषण द्वारा अविष्कार हुआ है।" (श्री अरविंद)

वेद विषयक महान् चिंतकों में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कृतित्व

---

१ 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' तथा 'ओरियन'।

विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'वेद विद्या' एवं 'उरु ज्योति' नामक ग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया है कि "सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विधाओं के रूप में उपलब्ध होती है।" उन्होंने वैदिक देवतत्त्व के विषय में गंभीर और मौलिक चिंतन किया है। डॉ० अग्रवाल का कहना है कि वैदिक सृष्टि के अनुसार वेद के दो मूल तत्त्व हैं, देव और भूत। देवतत्त्व ही सत्यतत्त्व है और भूत दृश्य है। देवताओं के अनेक नाम अवश्य हैं। इस प्रसंग में डॉ० सम्पूर्णानन्द का भी नाम कभी भुलाया नहीं जा सकता। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अथर्ववेद के 'व्रात्यकाण्डम्' की ब्रह्मपरक व्याख्या की और इस प्रकार वेदविषयक चिन्तन का एक गौरवशाली नवीन आयाम उद्घाटित किया है। उन्होंने वेदविषयक अनेक प्रकार की भौगोलिक तथा खगोलशास्त्रीय सामग्री का अध्ययन कर यह सिद्ध किया कि आर्य लोग भारत में कहीं बाहर से नही आये, यही देश उनका आदि-निवास है।

वेद के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य योगिराज श्री अरविंद ने किया है। उन्होने एक ओर वेद के एक-एक शब्द का गहराई से अध्ययन किया है और दूसरी ओर समाधि की अवस्था में मन्त्रों में प्रकाशित दिव्य सत्य का द्रष्टा और श्रोता के रूप में साक्षात्कार किया और यह सिद्ध किया कि वेद साक्षात्कृत अन्तःकृत धर्मपुस्तक है। श्री अरविंद ने वेद की भाषा का अनुशीलन करते हुए यह सिद्ध किया कि "शब्द पौधों की तरह, पशुओं की तरह, किसी भी अर्थ में कृत्रिम उत्पत्ति नहीं है, किंतु उपचय हैं, वृद्धि हैं—ध्वनि की सजीव वृद्धि हैं और कुछ एक बीजभूत ध्वनियाँ उनका आधार हैं। इन बीजभूत ध्वनियों से कुछ प्रारम्भिक मूल शब्द अपनी संततियोंसहित विकसित होते हैं जिनकी परंपरागत पीढ़ियाँ चलती हैं और जो जातियों में, वर्गों में, परिवारों में, चुने हुए गणों में, अपने-आपको व्यवस्थित कर लेते हैं, जिनमें से प्रत्येक का एक साधारण शब्द-भण्डार तथा साधारण मनोवैज्ञानिक इतिहास होता है।"

श्री अरविंद ने यह बतलाया है कि वेद में ऐसी अनेक क्रियाये मिलती हैं जिनका प्रयोग बाद के संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता है। वेद में ऐसे भी अनेक शब्द हैं, जो परवर्त्ती लौकिक संस्कृत में मिलते तो हैं, पर वे अपना मूल अर्थ छोड़ चुके है। परवर्त्ती भाष्यकारों और वैयाकरणों ने ऐसे शब्दों के मूल अर्थ के निर्धारण का प्रयत्न नहीं किया है। इसलिए उनके भाष्य वेद के मूल अर्थ के प्रतिपादक नहीं माने जा सकते। श्री अरविंद ने वेद में प्रयुक्त 'दृष्टि' और 'श्रुति' दो शब्दों को वेद के रहस्य की कुंजी माना है। वैदिक ऋषि सूक्त या मन्त्र के प्रणेता नहीं हैं, वे ऋत, सत्य और बृहत् ज्ञान के द्रष्टा और साक्षात्कर्त्ता हैं। इस दिव्य अतीन्द्रिय परामानस ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन करने

वाले ही ऋषि कहलाते थे। वेद की भाषा 'श्रुति' कही गयी है, क्योंकि वेद के शब्द 'ऋत', 'सत्य' और बृहत्‌रूप निःसीम आकाश से आते हैं और ऋषि के आन्तरिक कर्ण उनका श्रवण करते है। वेद संस्कृत भाषा के विकास के बहुत अधिक प्राचीन स्तर को सूचित करते हैं। यह रूपों और विभक्तियों की विविधता से परिपूर्ण हैं। फिर भी अपने कारकों तथा कालों के प्रयोग में वह अत्यधिक सूक्ष्म है। उनका कहना है, 'वैदिक ऋषियों के लिए शब्द अब भी एक सजीव तथा एक शक्तिमय वस्तु है, जो सर्जनशील और निर्माणकारी है। अब भी यह विचार के लिए एक रूढ़ संकेत नहीं है, बल्कि स्वयं विचारों का जनक और निर्माता है। वह अपने अन्दर अपनी मूल धातुओं की स्मृति को रखे हुए है। अब भी यह अपने इतिहास से अनभिज्ञ है।'

भारतीय अथवा अभारतीय विद्वानों की वेदविषयक कोई व्याख्या तब तक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, जब तक वह वेद की प्राचीन श्रुति भाषा के मूल अर्थ को समझकर न लिखी गई हो। श्री अरविंद के अनुसार वेदार्थ रहस्यमय वैदिक शिक्षा की कुंजीरूप द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग पर आश्रित है। यह प्रयोग-परंपरा वेद में अद्‌भुत रूप से प्रसरित है। वेद में संस्कृत धातुओं के 'अनुएकार्थता' के नियम को सुचिंतित रूप से इस प्रकार व्यवहार में लाया गया है जिससे एक ही शब्द में उसके सब संभव अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं। श्री अरविंद ने ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों का चयन कर उनके मूल अर्थ को उद्‌घाटित कर वेदार्थ को आध्यात्मिक प्रत्यक्षानुभूति के रूप में प्रस्तुत और प्रमाणित किया है। उन्होंने राये, रयि, राधसि, रत्न, राजस्, अश्व, गो, धी, मनीषा, सुमति, मनस्, रति, ऋतं, कवि, विप्र, विपश्चित, क्रतु, घृत, शवः, सुरा, सोम जैसे अनेकानेक शब्दों के विषय में बतलाया है कि वे भौतिक विभूतियों तथा परम आध्यात्मिक तत्त्वों के उद्‌बोधक है। इसलिए वेद मन्त्रों के स्वाभाविक स्थायी अर्थ को समझने के लिए इन शब्दों का मूल अर्थ जानना आवश्यक है। इस तथ्य को उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जब ऋषि किसी मन्त्र में अश्वरूप वाले और गौवें जिसके आगे हैं (गोअग्राम् अश्वपेशसंरातिम् [२. २. १३]) ऐसे दान किसी मन्त्र में माँगता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तुतः वह सौ-पचास घोड़ों का समूह माँगता है, जिसके आगे गायों का समुदाय चल रहा हो। वस्तुतः वेद में 'अश्व' का अर्थ है, आध्यात्मिक सामर्थ्य, तपस्या का बल और प्राण की महीयसी शक्ति। इसी प्रकार 'गो' का अर्थ है, सत्य प्रकाश और ज्ञान के सूर्य की किरणें। इसी प्रकार 'घृत' शब्द का अर्थ है घी, जो निर्मल किया हुआ मक्खन है। घृत यज्ञ क्रिया का एक प्रमुख साधन है। यदि वेद में घृत शब्द का मूल अर्थ समझ लिया जाय, तो यज्ञ का वास्तविक स्वरूप भी प्रकट हो जाता है। घृत

का रहस्यमय तथा आन्तरिक अर्थ है, प्रकाश की वर्षा करनेवाला निर्मल मन। ऐसा ही मन अन्तर में ज्ञान-अग्नि को प्रज्वलित करता है। इसी प्रकार श्री अरविंद ने देवों के स्वरूप को भी निरूपित किया है। इन्द्र प्रकाश के प्रदाता हैं, अग्नि प्रकाशपूर्ण संकल्प और यज्ञों के विधायक हैं, वृहस्पति आत्मा की शक्ति हैं और सोम सत्ता के कण-कण में परिव्याप्त अमरता और आनंद के अधिपति हैं।

इस पृष्ठभूमि में यजुर्वेद का सटिप्पण काव्यानुवाद प्रस्तुत करते हुए मैं उसके संवंध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। यजुर्वेद को मोटे रूप में वाह्य स्थूल दृष्टि से यज्ञीय कर्मकाण्ड की संहिता माना जाता है। नाना प्रकार के यज्ञों को किस प्रकार करना चाहिए, यह यजुर्वेद में वताया गया है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा गया है, 'देवोवः सविता प्रार्पयत श्रेष्ठतमायकर्मण आप्यायध्वम्।' इसका अर्थ है कि हे लोगो ! आप सवको परमात्मा अत्यन्त उच्च और परमश्रेष्ठ कर्मों के करने की प्रेरणा प्रदान करें। आप सव लोग सर्वोच्च कर्मों को करते हुए उन्नत होइये। वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी का कथन है कि 'यजुर्वेद में श्रेष्ठकर्म का ही अधिकार चलता है। यजुर्वेद का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म का शास्त्र (Science of holy action) ऐसा है।' वे वल देकर कहते है कि सम्पूर्ण यजुर्वेद में 'यज्ञ' अथवा 'कर्म' का अर्थ 'श्रेष्ठतम कर्म' ही है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के उक्त वाक्य से यह उपदेश मिलता है कि जीवन भर श्रेष्ठतम कर्म की प्रेरणा करो। प्रत्येक मनुष्य में श्रेष्ठतम और उच्चतम कर्म करने की महत्त्वाकांक्षा सदैव जाग्रत रहनी चाहिए और उसे दूसरे को भी निरंतर श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा देनी चाहिए। सातवलेकर जी ने कहा है, 'वैदिक धर्म' 'उत्साह का धर्म' है इसलिए यजुर्वेद में प्रारम्भ से अन्त तक उत्साहपूर्वक श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा दी गई है।

यजुर्वेद के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वेद भाग्य में विश्वास रखने का अनुमोदन नहीं करता। वह साद्यन्त प्रचण्ड पुरुषार्थ का महागीत है। आरंभ से ही यजुर्वेद में मनुष्य की महिमा का जैसा वर्णन किया गया है, मनुष्य के पुरुषार्थ, शक्ति और पवित्रता का वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। महाभारत में कहा गया है— 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि कश्चित्।' अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है। वस्तुतः महाभारत का यह उपदेश वेद की ही अनुगूंज है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के तीसरे ही मन्त्र में कहा गया है कि हे मनुष्य ! तेरे पास परमात्मज्ञानरूप ऐसा साधन है जिससे गंगा की तरह सैकड़ों तथा सहस्रो पवित्रकारिणी धारायें निःसृत होती रहती हैं, जिनके द्वारा सव वसु पवित्र किये जा सकते हैं। इसी

अध्याय का चौथा मन्त्र विश्व वाङ्मय में अमोघ पुरुषार्थ का अपूर्व और अद्वितीय उद्घोष है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि मनुष्य को तीन कामधेनुयें जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में प्राप्त हैं। ये तीन कामधेनुयें है— विश्वायुः विश्वकर्मा और विश्वधाया। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इन तीन कामधेनुओं के दुग्ध का सेवन कर अपने जीवन को परिपूर्ण और महान् बनाये। पहली कामधेनु जो मनुष्य को सहज सुलभ है वह है विश्वायुः अर्थात् एक सौ पच्चीस वर्ष की पूर्ण आयु। मनुष्य का यह धर्म है कि वह सदाचारपरायण रहकर तपस्या, ब्रह्मचर्य एवं स्वाध्याय और योग आदि के द्वारा एक सौ पच्चीस वर्ष की पूर्णायु प्राप्त करे। मनुष्य में अन्तर्निहित कामधेनुरूपा दूसरी महाशक्ति है विश्वकर्मा। इसका अर्थ है कि मनुष्य के लिए संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। वह जीवन में सब कुछ कर सकता है, अपने सब संकल्प सिद्ध कर सकता है। उसकी तीसरी शक्ति है विश्वधाया। मनुष्य चाहे तो अपने साधन और शक्तियों का संवर्धन करते हुए बहुसंख्यक मानव जाति का धारण और भरण-पोषण कर सकता है। इन तीनों शक्तियों की सिद्धि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इन तीनों शक्तियों से संपन्न मनुष्य कल्याणकारी कर्म करता हुआ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करे। मनुष्य के इस प्रकार के शताधिकवर्षव्यापी जीवन को वेद में शतसांवत्सरिक यज्ञ कहते है।

गीता में छः प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अ०-४, श्लोक २८)

यज्ञों का यह वर्गीकरण है— १-द्रव्य यज्ञ, २-तपोयज्ञ, ३-योग यज्ञ, ४-स्वाध्याय यज्ञ, ५-ज्ञान यज्ञ और ६-संशितव्रत यज्ञ अर्थात् अत्यन्त दृढ़ व्रत यज्ञ। इन सब प्रकार के यज्ञों का उद्भव वेद से ही हुआ है। न्यायपूर्वक अर्जित द्रव्य से देवार्चन, यज्ञ होम करना, धर्मशाला, देवमंदिर का निर्माण कराना, सदाव्रत चलाना एवं तीर्थों में सत्पात्रों को धनादि पदार्थों का दान करना द्रव्य यज्ञ है। सतोगुण की वृद्धि और प्राप्ति के लिए जो शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तप किये जाते हैं, वे तपोयज्ञ कहे जाते हैं। यह भी कहा गया है कि केवल शरीर को तपाना तप नहीं है, मन, वचन कर्म से पाप न करना ही सच्चा यज्ञकर्म है। तीसरा स्वाध्याय यज्ञ है। इसके अन्तर्गत भगवान के स्वरूप, गुण, लीला, विभूति आदि के प्रतिपादक वेद, उपनिषद गीता जैसे शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है। योग यज्ञ में यम नियम आदि अष्टांग योग की साधना द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है।

संशित व्रत यज्ञ के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन किया जाता है। ये जाति, देश, काल, समय से अनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत रूपी यज्ञ हैं। छठाँ ज्ञान यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ का विकसित रूप वेद में प्राप्त होता है। यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय के दूसरे मन्त्र में यज्ञ के वास्तविक स्वरूप का निर्देश प्राप्त होता है। उसमें मनुष्यों को संवोधित करते हुए कहा गया है, अग्नि के लिए उपासक हुए तुझको मैं पवित्र करता हूँ। तू ही वेदी है, तू ही यज्ञ है और तू ही स्रुचा है। तू सर्वव्यापक देव विष्णु की विशेष रचना है। तू अखंडता के लिए प्रतिबद्ध और समर्पित है। देवों के वैठने के लिए तुझे उत्तम आसन के रूप में फैलाया गया है। सब प्राणियों के पालन करने के लिए, भुवनों का पालन करने के लिए, भूमि का पालन करने के लिए तू अपने सर्वस्व का समर्पण कर—

'भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा'।

'स्वाहा' शब्द का अर्थ समझ लेने के वाद यज्ञ का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह 'स्वाहा' शब्द 'स्व+आ+हा' इन तीन की सन्धि से वना है। 'स्व' का अर्थ है, जो कुछ अपने पास है, उसका (आ) अर्थात् पूर्णता से सम्यक्रूपेण (हा) परित्याग करना, दान करना 'स्वाहा' है। स्वाहा आत्मसमर्पण की चरमावस्था का सूचक है, यज्ञ इसी चरमसमर्पण की अवस्था की सिद्धि का साधन है। इसी मन्त्र में यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञ के लिए मनुष्य को अपने से वाहर की किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य को संवोधित करते हुए ऋषि कहता है कि तुम्हीं वेदी हो, तुम्हीं वर्हि हो, तुम्हीं कुशा हो और तुम्हीं स्रुचा हो। जिस अग्नि में हवि अर्पित की जाती है, वेद के अनुसार वह प्रकाशपूर्ण संकल्प है। इसमें जिस हवि की आहुति अर्पित की जाती है, उसके संवंध में श्री अरविंद का मत पहले उद्धृत किया जा चुका है कि घृत प्रकाश की वर्षा करनेवाला निर्मल स्नेह संसिक्त मन है। वस्तुतः यज्ञ साधनावान मनुष्य के 'स्व' के अतिक्रमण के लिए प्रेम तथा भक्ति के योग के आध्यात्मिक एवं ईश्वरीयोन्मुख प्रयोग द्वारा पूर्णता प्राप्त करने का साधन था। मूलतः यज्ञ अपने आपको अतिक्रान्त करने का ज्ञान और योग का मार्ग था, जो उच्चतम आत्म अभिव्यक्ति की ओर ले जाता था। समस्त सत्ता के साथ एक होने की अनुभूति प्राप्त करना और परमेश्वर के साथ युक्त होना ही यज्ञ का अंतिम लक्ष्य है। यज्ञ के लक्ष्य थे मृत्यु पर विजय, अमृतत्व के रहस्य का पूर्ण वोध और अपरिवर्तनीय दिव्यता की चेतना, ये आन्तर चेतना के परमोत्कर्ष के फल थे। इसी को आगे चलकर गीता में ज्ञान यज्ञ कहा गया है, इसको आत्मयज्ञ या भावयज्ञ भी कह

सकते हैं। वेदों में यज्ञ का यही मूल स्वरूप है। स्वयं भगवान ने गीता में इस यज्ञ के स्वरूप का अनुमोदन किया है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अ०-९, श्लोक १६)

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वतोभावेन भागवत चेतना से भावित हो जाना ही सबसे बड़ा यज्ञ है। यज्ञ की इस मूल भावना के विस्मृत हो जाने से ही परवर्त्ती काल में क्रियावहुल, कर्मकाण्डजटिल अनेक प्रकार के यज्ञों का प्रचार हुआ, जिनमें से बहुतों का रूप हिंसा प्रधान हो गया।

ध्यान देने की बात यह है कि वैदिक यज्ञ में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। वेद में यज्ञ को अध्वर कहते हैं, अध्वर का अर्थ ही होता है अहिंसक यज्ञ। यह कहा जा चुका है कि वेदों की शैली द्व्यर्थक और प्रतीकवादी है। अवश्य ही कुछ मन्त्रों में पशुओं के भी नाम गिनाये गये हैं जिनसे बहिर्दृष्टि पाठक, श्रोता या समीक्षक को इन पशुओं के हवनीय होने की धारणा बन सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि यदाकदा मन्त्रों में जिन पशुओं का नामोल्लेख मिलता है, वे सब काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, कृतघ्नता, परपीड़न जैसी पाशविक वृत्तियों के प्रतीक है। हवनीय रूप में उनके उल्लेख का अभिप्राय यह है कि मनुष्य आत्मज्ञान की अग्नि में इन पाशविक वृत्तियों का होम करे और अपने बहिरन्तर जीवन को निरंतर पवित्र करता हुआ उसे शतसांवत्सरिक जीवन यज्ञ में परिणत करे। वेद मनुष्य को बार-बार पवित्रतम जीवन बिताने का आदेश देते हैं। यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय के पंचम मन्त्र में मनुष्य को संबोधित करते हुए कहा गया है कि तू समिधा है। समिधा अपने आपको अग्नि में जलाकर लोक को प्रकाश प्रदान करती है। जिस तरह समिधा स्वयं जलकर दूसरों को सन्मार्गवर्त्ती होने के लिए प्रकाश प्रदान करती है, उसी तरह परहित के लिए मनुष्य को अपना सब कुछ अर्पित करना चाहिए। समिधा की तरह आत्मसमर्पण कर मनुष्य निरंतर उन्नति करता है, उसके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास होता है, वह परिपूर्ण मानवता का पर्याय बन जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए इसी अध्याय के चौदहवें मन्त्र में कहा गया है कि तू समिधा बनकर अग्नि के तेज से परिपूरित हो जायेगा, स्वयं उन्नति करता हुआ दूसरों की उन्नति का साधन बनेगा, यह आत्मसमर्पण ही यज्ञ का स्वरूप है। इसीसे विश्वमंगलकारी यज्ञ-परंपरा का प्रादुर्भाव होता है।

मनुष्य की महिमा, उसकी अमोघ अन्तर्निहित शक्ति एवं अप्रतिहत

पुरुषार्थ का उद्घोष करनेवाला यजुर्वेद जैसा दूसरा ग्रन्थ संसार में नहीं है। अनेकानेक सूत्र वाक्यों में मनुष्य के व्यक्तित्व और कृतित्व के गौरव का गान इसकी कण्डिकाओं और मन्त्रों में किया गया है। इस वेद में मनुष्य के सर्वोच्च आदर्शों का निरूपण किया गया है। यह वेद एक ही साथ अध्यात्म-ज्ञान और कर्मयोग की अनुपम निधि है। मनुष्य को पूर्णता प्राप्त करने के लिए जिस आत्मज्ञान को धारण करना चाहिए, उसको सार रूप में निम्नलिखित छः मन्त्रों अथवा सूत्रों में बतलाया गया है—

१—अमृतं असि।	२—शर्म असि।
३—शुक्रं असि।	४—तेजः असि।
५—धाम नाम असि।	६—तेजः वेष्पः असि।

(१) तू अमर है, (२) तू सुखमय है, (३) तू शक्ति संपन्न या पवित्र है, (४) तू तेजः स्वरूप है, (५) तू धाम तथा यश है। इतना ही नही अपितु, (६) सर्वव्यापक परमात्मा का तू मन्दिर ही है।

मनुष्य को अपनी अमरत्व दशा का ज्ञान धर्मानुष्ठान एवं श्रेष्ठ कर्मों के विधान द्वारा ही हो सकता है। ऐसा करने के लिए शुद्ध जीवन बिताना आवश्यक होता है। जो शुद्ध आचरणवान नहीं है, उनका धर्मानुष्ठान केवल पाखंड हुआ करता है। मनुष्य को अपने आत्मतत्त्व में अन्तर्निहित अखंड अनंत तेज की धारणा करते हुए अन्य जनों को भी वह तेज जाग्रत करने की प्रेरणा देनी चाहिए। मनुष्य को यह अविचल विश्वास होना चाहिए कि मुझमें सभी शक्तियो का भण्डार है और मुझमें ही यश का आदि स्रोत है। सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु मेरे इस शरीररूपी मन्दिर में निवास करते हैं। ऐसी श्रद्धा को निरंतर जाग्रत रखकर उसे सत्य में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। यजुर्वेद केवल सिद्धान्त का निरूपण नहीं करता। वह सिद्धान्त को जीवन में उतारने का मार्ग दिखलाता है। ज्ञान जड़ीभूत होकर केवल बुद्धि का ही ज्ञान न रह जाय, इसलिए मनुष्य को संबोधित करते हुए कहा गया है कि हे मन्द बुद्धि तू स्रुचा बन। स्रुचा अथवा स्रुआ जिस प्रकार घृतपात्र से घृत लेकर स्वाहाकार के साथ यज्ञाग्नि में अर्पित करता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपना सब संचित कोषादि लोक कल्याण में अर्पित कर देना चाहिए। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, परम ज्ञान प्राप्त कर चैतन्य शक्ति से युक्त होना और जीवन में सर्वांगीण विकास करना। मनुष्य के लिए वेद का सबसे बडा आदेश है— मा भैः। मा संविक्थाः। तुम पर शासन करनेवाला चोर या पापी न हो— 'स्तेनः नः मा ईशत।' अघशंसः वः मा ईशत।

यजुर्वेद के दूसरे अध्याय में वैदिक काल में प्रचलित छः ऋतुओं के नाम

दिये गये है। वे हैं— 'रस, शोष, जीव, स्वधा, घोर और मन्यु।' ये क्रमशः 'वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर' के पर्याय हैं। यह बतलाया गया है कि पितरगण इन ऋतुओं के द्वारा प्रजा का पालन करते है, पितर-गण निरंतर अपनी प्रजा की रक्षा और कल्याण करते रहते हैं। इसलिए मनुष्यों को उनके प्रति अपने कर्तव्य का जागरूकता से पालन करना चाहिए। वेद में पितरों के लिए स्वधा अर्पित करने का विधान किया गया है।

वेद में मनुष्य के शरीर को भगवान् का मंदिर बतलाया गया है। इसलिए इस शरीर में सब देवशक्तियों का निवास है। मनुष्य को इन देव शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर उनको जाग्रत् और सिद्ध करना चाहिए। मनुष्य सदाचारी बनकर देवताओं की कृपा प्राप्त कर सकता है और अपने राष्ट्र के संवर्धन में योग दे सकता है। यजुर्वेद का आदेश है— 'शतवल्शः विरोह'— सौ वर्ष तक बृद्धि करते रहो और हजारों वर्ष तक अपने राष्ट्र का संवर्धन करो। यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं, जो राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण हैं। मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी आयु को यज्ञरूप बनावें। यज्ञ रूप आयु का अर्थ है, वह आयु जिसका प्रतिक्षण परोपकार के लिए अर्पित हो। यज्ञरूप आयु वह होती है जो यम नियम के पालन के लिए निरंतर प्रतिबद्ध होती है। ऐसे समर्पित यम नियमपालक सदाचारी व्यक्तियों के संगठन से ही राष्ट्र को महान् बनाया जा सकता है।

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करते हुए यह बतलाया गया है कि वह, 'उपयामगृहीतः असि'। अर्थात् वह नियमों से बँधा है। नियमों का पालन करनेवाला है। ये ऋत के नियम हैं। जब मनुष्य अपनी इस दिव्य प्रकृति की अवहेलना करता है, तो वह अनृत के जाल में फँस जाता है। इसलिए मनुष्य को अपने स्वरूप को पहचान कर ऋत, सत्य और बृहत् की उपासना करनी चाहिए। यजुर्वेद के ग्यारहवें अध्याय के बारहवें मन्त्र में बतलाया गया है—

प्रतूर्तं वाजिन्ना द्रव वरिष्ठामनु संवतम।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥

मनुष्य का मस्तिष्क द्युलोक, नाभी स्थान अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर आधार स्थान रहता है। मनुष्य का शरीर विश्वशरीर का अंश होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर का यह महत्त्व जाने।

वेदों के मन्त्रो का प्राकट्य ऋषियों के माध्यम से हुआ है। ऋषि को 'साक्षात्कृतधर्मा' कहा गया है— 'ऋषिः साक्षात्कृतधर्मा।' 'वेद उन शब्दों से भरा पड़ा है जो स्वयं ऋषियों के कथनानुसार रहस्यपूर्ण शब्द है, और

जो केवल द्रष्टा के प्रति ही अपना आन्तरिक अर्थ प्रकट करते हैं, 'कवये निवचनानि निण्यानि वचांसि।' (श्री अरविंद, 'भारतीय संस्कृति के आधार' पृष्ठ १७४)। ऋषियों ने विश्ववर्त्ती देवताओं के आन्तरात्मिक अर्थ का उद्घाटन किया है। उन्होंने इस ब्रह्माण्ड में लोकों की एक क्रम-परंपरा एवं सत्ता के स्तरों की एक आरोहणशील सोपान-शृंखला का साक्षात्कार किया है। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से यह भी देखा कि ऋत और सत्य का एक विधान समस्त सृष्टि को धारण करता है और देवगण इसका संचालन करते है। प्रत्येक देवता अपने कार्य विशेष को पृथक् रखते हुए विश्वव्यापी भगवत्ता को धारण किये हैं और प्रत्येक देवता सर्वदेवमय है। सर्वोपरि एक परम देव हैं, जो अपने देवत्व के अनेक रूप, नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रदर्शित करते है। ध्यान देने की वात यह है कि वेद में अग्नि इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवताओं के सूत्रों की संख्या अधिक है। इनकी अपेक्षा विष्णु तथा रुद्र के सूक्तों की संख्या बहुत कम है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसी को आधार बनाकर कई ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो स्वीकार्य नहीं हैं। उनका कहना हैं, विष्णु तथा शिव की महत्ता का विकास वाद में हुआ है, वेद में वे केवल क्षुद्र स्थान रखते है। पाश्चात्य विद्वानों की इस शंका का समाधान करते हुए श्री अरविद ने लिखा है, "वैदिक देवों की महत्ता इस वात से नहीं मापी जानी चाहिए कि उन देवों के लिये सूक्तों की संख्या कितनी है या ऋषियों के विचारों में उनका आवाहन किस-किस हद तक किया गया है, वरन् इससे मापी जानी चाहिए कि वे क्या व्यापार करते है। अग्नि और इन्द्र जिनके प्रति अधिकांश वैदिक सूक्त संवोधित किये गये है, विष्णु तथा रुद्र की अपेक्षा वड़े नही है किन्तु उनकी प्रधानता का कारण केवल यह है कि आन्तरिक तथा वाह्य जगत में वे जो व्यापार करते है, वे सवसे अधिक क्रिया-कर एवं प्रधान है तथा प्राचीन रहस्यवादियों के आध्यात्मिक अनुशासन के लिए प्रत्यक्ष तौर से फलोत्पादक है।" (वेद-रहस्य, पृष्ठ ४३४)।

यजुर्वेद के सोलहवे अध्याय के छाछठ मन्त्रों में भगवान् रुद्र की महिमा का वड़ा उदात्त वर्णन किया गया है। इसके तीसरे मंत्र में भगवान् रुद्र को संवोधित करते हुए कहा गया है, हे गिरीश ! हम कल्याणकारी वचनों से तुमसे भली प्रकार निवेदन करते है। रुद्र संवंधी ये छाछठ मन्त्र वड़े ही उदात्त ओजस्वी और कल्याणकारी है।

यजुर्वेद मानवता के लिए कल्याणकारी अनन्त ज्ञान का महार्णव है। इसके बहुत थोड़े अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की ओर इस भूमिका में विचार किया जा सका है। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंग विचारणीय होते हुए भी इस भूमिका में छोड़ देने पड़े हैं। इनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग वर्णाश्रम व्यवस्था

का है। यजुर्वेद का इस संबंध में अभिमत बहुत स्पष्ट है कि वर्ण कर्म से निर्धारित किया जाना चाहिए, जन्म से नहीं। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि शूद्र को वर्ण व्यवस्था में गौरवशाली स्थान प्राप्त है। यजुर्वेद में आधुनिक विज्ञान के कई सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है, यह धरती ऋतुओं के वस्त्र धारण कर सूर्य के चतुर्दिक परिक्रमा करती है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है, यह जो गतिमान चन्द्रमण्डल आकाश में शोभित हो रहा है, वह सूर्य के ही तेज से प्रकाशमान है। जब दिनांत में सूर्य अस्त हुआ प्रतीत होता है, तो वह अपने तेज से रात्रि में चन्द्रमा को उद्भासित करता है। इस तथ्य को केवल महामनीषीजन जानते हैं। एक तीसरे मन्त्र में परमेश्वर के द्वारा अनुष्ठित विराट् विश्वव्यापी यज्ञ का अभिनंदन-वंदन करते हुए कहा गया है कि यह धरती शून्य में लटकी हुई है, चक्राकार आवर्त्तित हो रही है। इस मन्त्र का अनुवाद मैंने इस प्रकार किया है—

परमेश्वर ने किया यज्ञ का है आश्चर्य-विधान।
विश्वसृष्टि उनकी महिमा का है अद्‌भुत आख्यान॥
यह धरती जिस पर जीवन का है अनंत विस्तार।
लटकी हुई शून्य में आवर्त्तित है चक्राकार॥
इसी यज्ञ का संपादन कर इन्द्र हुए बलवान्।
किया यज्ञ ने ही है उनको परमैश्वर्य प्रदान॥

भूमिका का कलेवर अधिक न बढ़े, इस कारण मैं अन्य महत्त्वपूर्ण संदर्भों की चर्चा का लोभ संवरण कर रहा हूँ। केवल यजुर्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र की ओर ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ—

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि
मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः।
शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहाऽवस्यूरसि
दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा॥

(अध्याय–१८, मन्त्र १५)

इस मन्त्र में आया हुआ 'वाहि' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। 'मा अभि वाहि' का अर्थ है, हे देव! तुम हमें चारों ओर से प्राप्त होओ। गुरुनानक देव के साधना-सम्प्रदाय में यह 'वाहि' शब्द गुरु का विशेषण बन गया है। 'वाहि' गुरुनानक देव की आध्यात्मिक साधना प्रणाली में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सिख-साधना में गुरु परब्रह्म का अभिन्न अंग माना गया है। खुशवन्त सिंह ने 'दि हिस्ट्री ऑफ दि सिक्खस्' नामक ग्रन्थ

में लिखा है, 'गुरुनानक द्वारा प्रतिपादित प्रेम-भक्ति का सिद्धान्त कोई नया नही था। अपितु उसका विशद् विवरण वेदों, शास्त्रों एवं स्मृतियों में आता है।' यह असंभव नहीं है कि परम गुरुनानक देव ने 'वाहि' शब्द को गुरु के विशेषण के रूप में यजुर्वेद से प्राप्त किया है।

अंत में मैं पुण्यश्लोक स्वर्गीय पंडित नन्दकुमार अवस्थी को आदरपूर्वक स्मरण करता हूँ, जिन्होंने मुझे यजुर्वेद का काव्यानुवाद करने की प्रेरणा दी। उन्होंने मुझसे यह अनुरोध किया था कि मैं भूमिका में विदेशी विद्वानों द्वारा प्रचारित वेद संबंधी भ्रान्तियों का निराकरण करूँ। मैंने इस दिशा में प्रयत्न किया है। आशा है, इससे दिवंगत आत्मा को संतोष होगा। वेद स्वयं-भगवान की वाणी है, वे अपौरुषेय हैं, भगवान की अहैतुकी कृपा के बिना मनुष्य की बुद्धि उनके अर्थ की सीमा में संचरण नहीं कर सकती। वेद का काव्यानुवाद भी बोलचाल की भाषा में संभव नहीं है। श्री अरविंद ने 'वेद-रहस्य' की भूमिका में लिखा है, "वेद के सूक्तों जैसी महान् कविता का, जो अपने रूपकों और अलङ्कारों में शोभाशालिनी है, अपनी लय में उदात्त और सुन्दर है, अपनी भाषा शैली में पूर्ण है, कोई भी अनुवाद— यदि उसे केवल एक मृत पाण्डित्य-कृति ही न रहना हो—उसकी काव्यशक्ति की कम-से-कम एक मन्द-सी प्रतिध्वनि को करनेवाला तो होना ही चाहिए।" मैं अपने अनुवाद में यह विशेषता किसी अंश में ला सका हूँ, इसका निर्णय विद्वज्जन ही कर सकते है। मेरे लिए वेद स्वयं भगवान की वाणी ही नहीं, उनके चिन्मय वाङ्मय स्वरूप है। मेरे अनुवाद में यदि कुछ अच्छाई है, तो यह उन्हीं वेद भगवान का कृपाप्रसाद है। जो कमियां है, उनके लिए मै उन्हीं के चरणों में क्षमाप्रार्थी हूँ। अन्त में मैं गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में वेद भगवान की वन्दना करते हुए यह भूमिका समाप्त करता हूँ—

बंदौं चारिउ वेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

—डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

सावित्री निलयम्
२/२२ त्रिवेणी नगर,
सीतापुर रोड, लखनऊ– २०
विजयादशमी,
१८ अक्टूबर, १९९१

वाजसनेयि-शुक्ल-यजुर्वेद-संहितायाः कण्डिकानां

वर्णानुक्रम-सूची

——):❀:(——





वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल

यजुर्वेद-संहिता

[सान्वय शब्दार्थ, काव्यानुवाद—टिप्पणी-सहित]

अथ प्रथमोऽध्यायः

॥ओ३म्॥ इषे त्वो[1]—र्जे त्वा[2] वायव स्थ[3] देवो वः सविता
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं
प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा
अस्मिन् गोपतौ स्यात[4] बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि[5] ॥१॥

त्वा	(हे मनुष्य ! सूर्य देवता) तुम्हें
इषे	अन्न के लिए (और)
त्वा	तुम्हें
ऊर्जे	शक्ति के लिए (प्रेरित करे)।
वायवः स्थ	(तुम) आत्मा हो।
सविता देवः वः	सूर्य देवता तुम्हें
श्रेष्ठतमाय कर्मणे	श्रेष्ठतम कर्म के लिए
प्रार्पयतु	प्रेरित करे।
आप्यायध्वम्	(आगे) बढ़ते जाओ।
अघ्न्याः	(तुम) न मारने योग्य (हो)।
इन्द्राय	इन्द्र को *
भागं	(उसका) भाग (दो)।
प्रजावतीः	(तुम) संतानयुक्त,

☞ वैदिक मूलपाठ मे शब्दों के ऊपर जो छोटे-छोटे अंक (१-२-३ आदि) दिये गये है, वे मन्त्रो की संख्या हैं।

* 'इन् शत्रून् दृणाति इति इन्द्रः' अर्थात् जो शत्रुओं का नाश करता है, वह इन्द्र है।

अनमीवा:	रोगहीन,	गोपतौ	पृथ्वीपालक की छत्रछाया में
अयक्ष्मा:	क्षय रोग-रहित (होओ)।	ध्रुवा	स्थिर
स्तेन:	चोर	स्यात	हो (कर रहो)।
व:	तुम्हारा	बह्वी: (स्यात)	अधिक संख्या में बढ़ते रहो।
मा ईशत	स्वामी न बन पाए;	यजमानस्य	यजमान के
अघशंस: मा	पापी भी नहीं (बने)।	पशून्	पशुओं की
अस्मिन्	इस	पाहि	रक्षा करो ॥ १ ॥

प्रथम अध्याय

अन्न-प्राप्ति के हेतु करें प्रभु सविता प्रेरित।
मानव करते रहें यज्ञमय श्रेष्ठ कर्म नित ॥
ऊर्जा - अर्जन - हेतु करें प्रेरित जन - जन को।
ऋत[1] के पथ पर बढ़ें सतत वे तज श्रम-क्लम[2] को ॥
देह नहीं हो, प्राणरूप हो, हे मानव! तुम।
प्राण, बुद्धि, आत्मा के धारक अमृत-पुत्र तुम ॥
जागो, जागो, कर्म श्रेष्ठतम तुमको करना।
छोड़ो कर्म[3], अकर्म[4], विकर्मादिक[5] की छलना ॥
क्षीण न हों शक्तियाँ तुम्हारी किंचित् मानव!।
रहो अवध्य, अजेय, प्रगति-पथ पर चल नव-नव ॥
चोर, भ्रष्ट, पापी न कभी शासक बन पावें।
रोग-मुक्त, क्षय-व्याधि-रहित प्रभु तुम्हें बनावें ॥
रहो सुराज्य, स्वराज्य उभय के तुम संवर्धक।
करो सुप्रजा-वृद्धि, ऋद्धि के बन आराधक ॥ १ ॥

टिप्पणी—यजुर्वेद कर्मवेद कहा गया है। इसके प्रथम मंत्र में ही श्रेष्ठतम कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता अन्न है। अन्न-प्राप्ति के लिए कर्म आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य परिश्रम करके अपनी जीविका उपार्जित करे। मनुष्य बलवान बने, नीरोग रहे। मंत्र का यह उपदेश है। मनुष्य यह देह मात्र नहीं है, प्राण और आत्मा है। सबसे बड़ी बात इस मंत्र में यह कही गई है कि संसार में चोरों और पापियों का शासन न होने पाए। मनुष्य को सावधान

---

१ दिव्य नियम या सत्य; २ क्लान्ति, अवसाद, थकावट, ३ शास्त्रविहित सामान्य कर्म; ४ शास्त्रविहित कर्म का त्याग; ५ शास्त्रविहित कर्म के विरुद्ध आचरण।

रहना चाहिए। शासन तंत्र पर चोरों, भ्रष्टाचारियों और पापियों का अधिकार न हो। यह लोकतंत्र का आधारभूत तत्त्व है। १

वसो॑: प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॒सि॒
मा॒त॒रिश्व॑नो घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वधा॑ असि।
प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत् ॥२॥

वसोः	(हे मनुष्य ! तू) वसुओं को [वायु, अग्नि, पृथ्वी, चंद्रमा, नक्षत्र, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, ये आठ वसु कहलाते हैं।]	मातरिश्वनः	(तू) प्राणों की
		घर्मः	ऊष्मा
		असि	है,
		विश्वधा	विश्व को धारण करनेवाला
		असि	है।
पवित्रं	पवित्र करनेवाला	परमेण धाम्ना	परमधाम (के सहयोग) से
असि	है।		
द्यौः	(तू) द्युलोक	दृंहस्व	आगे बढ़।
असि	है,	मा	मत
पृथिवी	पृथ्वी	ह्वाः	कुटिल (बन)।
असि	है। (देखो इसी वेद का अध्याय ३१, मंत्र १३)	ते	तेरा
		यज्ञपतिः	यज्ञपति (भी)
		मा ह्वार्षीत्	कुटिल न बने ॥२॥

तू ही वसुओं की पवित्रता का है कारक।
तू द्युलोक, तू ही पृथ्वी, तू सबका धारक॥
आहा! मातरिश्वन्[1]! तू ही उष्णता धर्म-बल।
परम धाम की ओर मनुज बढ़ तज कैतव-छल॥
पिंड में है जैसे विराट् ब्रह्माण्ड सदा स्थित।
मानव! तेरा पिंड सतत वैसा विधि-स्फूर्जित॥
तुझमें हैं शक्तियाँ सृष्टि की निहित असंख्यक।
धारण कर त्रैलोक्य-विजय का तू ज्योतिःस्रक्[2]! ॥ २ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में मनुष्य की महत्ता का उद्घोष किया गया है। मंत्र का निर्देश है, मनुष्य अपने को क्षुद्र और नगण्य न समझे। मनुष्य वसुओं की पवित्रता का

१ आकाश में संचार करनेवाला वायु; २ ज्योति का हार या माला।

साधन है। द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष सब मनुष्य ही तो है। मनुष्य से बड़ा और श्रेष्ठ कुछ नहीं—न हि मानवात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। मनुष्य अपनी महिमा का स्मरण रखे, उसे कभी कुटिल और हिंसापूर्ण कर्म नहीं करना चाहिए। २

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्[1]।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा[2]
कामधुक्षः[3] ॥३॥

वसोः	(तू) वसुओं को	शतधारेण	सैकड़ों धाराओं से
शतधारं	सैकड़ों धाराओं से	वसोः	वसुओं को
पवित्रं	पवित्र करनेवाला	पवित्रेण	पवित्र करनेवाले
असि	है।	त्वा	तुझे
वसोः	वसुओं को	पुनातु	पवित्र करें।
सहस्रधारम्	हजारों धाराओं से	कां	(तूने) किस
पवित्रं	पवित्र करनेवाला		(गाय) का
असि	है।	अधुक्षः	दोहन किया
सुप्वा	भली प्रकार		है ? ॥ ३ ॥
सविता देवः	सूर्यदेव		

अमृत-पुत्र तू मनुज! पिता तेरा परमेश्वर।
अयुत धार बन करता जो जग पूत निरंतर॥
उसी शक्ति से तू करता वसुओं[1] को पावन।
संचित तुझमें वह शुचिता का निखिल परम धन॥
कामधेनु वह कौन पिया जिसका तूने पय ?।
आहा! तू बन गया निखिल शुचिता का आलय॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को अपने भीतर संस्थित परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला बताया गया है। तभी वह अपनी पवित्रकारिणी अनन्त शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है। तभी वह समझ सकेगा कि उसके भीतर विद्यमान अमृत-तत्त्व वसुओं को भी पवित्र करने की शक्ति रखता है। उसकी वह शक्ति समस्त विश्व को पवित्र बना सकती है। इसीलिए इस मंत्र मे मानव से पूछा गया है, 'तूने किस कामधेनु का दूध पिया है ?' ३

---

१ एक देवसमूह का नाम वसु है। वे संख्या में आठ है। उनके नाम है—अग्नि, वायु, पृथिवी, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥४॥

सा	वह (कामधेनु)	इन्द्रस्य	इन्द्र के
विश्वायुः	पूर्ण आयुष्य-रूपा है,	भागं	भाग को (मैं)
सा	वह	सोमेन	सोम (रस) के द्वारा
विश्वकर्मा	सर्वकर्मशक्ति-रूपा है;	आतनच्मि	पल्लवित और विस्तृत करता हूँ।
सा	वह	विष्णो	हे विष्णु !
विश्वधायाः	सर्वधारक शक्ति-रूपा है।	हव्यं	(इस) हव्य (हवन-सामग्री) को
त्वा	तुझ	रक्ष	रक्षा करो ॥ ४ ॥

कामधेनुएँ तीन सदा रहतीं सेवारत।
तू उनको पहचान, अरे मानव शंसितव्रत ! ॥
विश्वायुः है प्रथम, विश्वकर्मा है अपरा।
और विश्वधाया तृतीय है परा शुभकरा ॥
जन-जन को है सहज-सुलभ तीनों का शुचि पय।
पीकर उसे यथेच्छ प्राप्त कर जीवन में जय ॥
विश्वायुः से तुझे मिलेगी आयु पूर्णतम।
और विश्वकर्मा से बन तू परम कार्यक्षम ॥
मनुज ! प्राप्त कर कृपा विश्वधाया की संतत।
लगा रहेगा विश्व-भरण-पोषण में अविरत ॥
पूर्ण आयु, निःशेष कर्म की शक्ति महत्तर।
धारण-शक्ति अनंत वरण कर तू हे नरवर ! ॥
अविच्छिन्न है अंश इन्द्र का तू हे मानव !।
सोमशक्ति से प्रगति करेगा उनकी नित नव ॥
सर्वव्यापक देव विष्णु के प्रति प्रपन्न बन।
कर अपना सर्वस्व निःस्व बन उनको अर्पण ॥ ४ ॥

टि०—तीसरे मंत्र के उठाए गए प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में दिया गया है। तूने किस कामधेनु का दूध पिया है, इसका उत्तर इस मंत्र में बतलाया गया है कि पूर्ण आयु, पूर्ण कर्मशक्ति तथा पूर्ण धारकशक्ति के रूप में विश्वायु, विश्वकर्मा और विश्वधाया नाम की तीन कामधेनुएं मनुष्य की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत हैं। मनुष्य को इनका दूध पीकर पूर्ण आयु प्राप्त करनी चाहिए। असंभव से असंभव समझे जानेवाले कठिनतम

कर्म को सहज ही संपादित करने की क्षमता जागृत करनी चाहिए। साथ ही मनुष्य को विश्व भर के पालन-पोषण और धारण में समर्थ होना चाहिए। श्रेष्ठ कर्म करते हुए, धर्माचरण द्वारा इन शक्तियों को जागृत किया जाना चाहिए। इस मंत्र में भगवान के विष्णु नाम का प्रयोग है। जो चर-अचर सृष्टि में व्याप्त है वही विष्णु है। विष्णु सर्वव्यापी परमेश्वर है। ४

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥५॥

व्रतपते	(हे) व्रत का पालन करनेवाले
अग्ने	अग्नि !
व्रतं	व्रत का (मैं)
चरिष्यामि	आचरण करूँगा।
तत्	वह (व्रत)
शकेयं	मुझसे शक्य (हो)।
मे	मेरा
तत्	वह (व्रत)
राध्यताम्	सिद्ध हो।
इदम्	यह
अहम्	मैं
अनृतात्	झूठ छोड़कर
सत्यम्	सत्य के
उपैमि	पास जा रहा हूँ ॥ ५ ॥

हे व्रतपति ! हे अग्नि ! रहूँगा सदा तुम्हारा।
मैंने यह व्रत लिया, तुम्हीं मेरे ध्रुवतारा ॥
तज असत्य सब, वरण सत्य का करता हूँ मैं।
उसके पालन-हेतु कठिन प्रण करता हूँ मैं ॥
जीवन में आचरित रहे प्रतिक्षण सत्यव्रत।
करूँ सत्य - दर्शन समग्र रह अन्वेषण - रत ॥
करूँ आत्म - बलिदान सत्य के लिए निरंतर।
मुझे सत्य से अधिक न हो जग में कुछ प्रियतर ॥
स्वर्ण - पात्र से ढका सत्य का रहता आनन।
अपनाऊँ मैं सत्य, त्यागकर स्वर्ण - प्रलोभन ॥
तुम प्रकाशमय परमेश्वर ! मेरे पथ - दर्शक।
बन जाओ अब, मेरे इस व्रत के संरक्षक ॥ ५ ॥

टि०—इस मंत्र में सत्य-पालन-रूप व्रत को निरंतर अनुष्ठित करते रहने का संकल्प किया गया है। सत्य ही लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का साधन है। ५

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥६॥

कः	कौन	त्वा	तुम्हें
त्वा	तुम्हें	युनक्ति	प्रवृत्त करता है।
युनक्ति	प्रवृत्त करता है ?	कर्मणे	कर्म के लिए (पुरुषार्थ के लिए)
सः	वह (आत्मा)		
त्वा	तुम्हें	वां	तुम दोनों (ज्ञानी और अज्ञानी) को,
युनक्ति	प्रवृत्त करता है।		
कस्मै	किस (काम)के लिए	वेषाय	घर में प्रवेश के लिए (परमात्मा की प्राप्ति के लिए वह)
त्वा	तुम्हें		
युनक्ति	प्रवृत्त करता है ?		
तस्मै	उस (कार्य) के लिए (कर्तव्य के लिए)	वां	तुम दोनों को (प्रवृत्त करता है) ॥ ६ ॥

कौन तुझे दे रहा कर्म-प्रेरणा निरंतर ?।
क्या है इसका हेतु, सतत क्यों मनुज कर्मपर ?॥
है वह प्रेरक कौन कर्म में योजित करता ?।
कर्म-मार्ग की भ्रान्ति-क्लान्ति जो रहता हरता॥
धर्मविरुद्ध निषिद्ध कर्म छोड़ो ओ मानव !।
दिव्य धाम की ओर बढ़ो अपने, भरकर जव[1]॥
श्रेष्ठ कर्म की पुण्य प्रेरणा देते ईश्वर।
पाओ सहज प्रवेश दिव्य लोकों में भास्वर[2] !॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र मे यह प्रश्न उठाया गया है कि मनुष्य को कर्म मे कौन प्रवृत्त करता है ? मनुष्य कर्म मे प्रवृत्त होता है, तो उसका हेतु क्या है ? कर्म का अर्थ वेद मे सदैव प्रशस्त कर्म या श्रेष्ठ कर्म है। इन प्रश्नों का उत्तर है, मनुष्य को स्वधाम प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। 'स्वधाम' का अर्थ है भगवान् का दिव्य धाम। यही मनुष्य का परम प्राप्तव्य है। 'धाम' के लिए इस मंत्र मे 'वेष' शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुष्य के भीतर रहनेवाले दुर्गुण भी श्रेष्ठ कर्म करके ही दूर किये जा सकते है। श्रेष्ठ कर्म के द्वारा ही दुष्टो को भी बलहीन और श्रीहीन किया जा सकता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत बनाया जा सकता है। ६

---

१ वेग, द्रुतता; २ प्रकाशमान।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता
अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥७॥

रक्षः	राक्षस (दुष्ट)
प्रत्युष्टं	झुलस गये (पराभूत हो गये)।
अरातयः	अनुदार (आततायी लोग)
प्रत्युष्टाः	झुलस गये (निष्प्रभ हो गये)।
रक्षः	राक्षस
निष्टप्तं	भस्म हो गये।
अरातयः	अनुदार (लोग)
निष्टप्ताः	भस्म हो गये।
उरु	विस्तृत
अन्तरिक्षं	अंतरिक्ष में (मैं)
अन्वेमि	प्रवेश करता हूँ ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ कर्म से निष्पादित[1] पुरुषार्थ - अनल में।
दग्ध हुए क्षीणताविधायक राक्षस पल में॥
हतबल सकल अराति व्याधि से मुक्त हुए तन।
यम-नियमादिक के साधन से शुद्ध हुए मन॥
वैयक्तिक, सामाजिक जीवन बना सुखावह।
दुरित हुए वे दूर, रहे जो सदा भयावह॥
टूटे सब कार्पण्य-बंध, ऊर्जित[2] आत्मिक-बल।
भाव-दशा वह प्राप्त मुक्ति जिसका सद्यः फल[3]॥ ७ ॥

टि०—इस मंत्र मे 'रक्ष' शब्द आया है। 'राक्षस' वह है जिसके कारण समाज और देश में क्षीणता और दुर्बलता आती है—'क्षरतीति राक्षसः।' 'अराति' शब्द भी अर्थगर्भित है। इसका सामान्य अर्थ है शत्रु। जो समाज और मानव-प्रगति के शत्रु हैं, वे 'अराति' हैं। 'अराति' शब्द का दूसरा अर्थ है,'अराति' अर्थात् अदानदाता, कृपण अथवा मक्खीचूस। 'अराति', राक्षस आदि श्रेष्ठतम कर्म करके ही निष्टप्त किये जा सकते हैं, झुलसाये और जलाये जा सकते हैं। प्रशस्त कर्म का संपादन करके मनुष्य अनंत अंतरिक्ष की शक्तियों का अन्वेषण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। ७

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।
देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥

---

१ उत्पन्न; २ शक्तिशाली, सामर्थ्ययुक्त; ३ तुरन्त मिलनेवाला फल।

धूः	(हे मानव ! तू) विनाशक (भस्म कर देनेवाला)
असि	है।
धूर्वन्तं	विनाश करनेवाले का (दुष्ट का तू)
धूर्व	विनाश कर।
तं	उसका
धूर्व	विनाश कर,
यः	जो
अस्मान्	हमारा
धूर्वति	विनाश करता है।
यं	जिसको
वयं	हम सब
धूर्वामः	नष्ट करना चाहते हैं,
तं	उसको
धूर्व	विनष्ट कर।
देवानाम्	देवताओं का (तू)
वह्नितमं	श्रेष्ठ वाहन है।
सस्नितमं	शुद्ध करनेवाला,
पप्रितमं	पूर्णता प्रदान करनेवाला,
जुष्टतमं	अति प्यारा है।
देवहूतमं	देवताओं का (तू) आह्वान करनेवाला
असि	है ॥ ८ ॥

तुझे प्राप्त है शक्ति ध्वंसकारी जो मानव।
उचित कार्य में कर प्रयुक्त उसका दाहक दव[1] ॥
जो विनाश में लगें सदा उनका विनाश कर।
शान्तिप्रिय शुभ कर्मलीन उनकी रक्षा कर ॥
जो समाज-कंटक जिनसे हैं जग-जन पीड़ित।
वे दुरात्मा रहें सदा ही तुझसे दंडित ॥
करते देव निवास पिंड में हैं सब तेरे।
पथ दिखलाता सूर्य, चन्द्रमा मन को प्रेरे ॥
सेवनीय देवों का उनका पावनकर्ता।
पूर्ण बनाता उन्हे वहनकर्ता है उनका ॥
तू ही देता देवों को उत्तम आमन्त्रण।
अशुभ, अशिव के ध्वंस हेतु कर तू दारुण रण ॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य की विनाशकारिणी शक्ति का महत्त्व बतलाया गया है। भगवान में जो शक्तियाँ है, वे सब बीज-रूप में मनुष्य को प्राप्त है। भगवान मे जो विनाशकारिणी शक्ति है, वे रुद्र-रूप में समय आने पर उसका उपयोग करते है। 'धूः' का अर्थ विनाशक है। मनुष्य में विनाशकारिणी शक्ति है। उनका उपयोग दुष्टों और दुरात्माओं को नष्ट करने में किया जाना चाहिए। इस मंत्र में मनुष्य की महिमा का अद्‌भुत उद्‌घोष है। मनुष्य को देवताओं का आवाहन करनेवाला, वहन करनेवाला और पूर्ण बनानेवाला कहा गया है। ८

१ जलानेवाली आग ।

अह्रु॑तमसि हवि॒र्धानं॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णु॑स्त्वा क्रमतामु॒रु वा॒ताया॒पह॑त॒ꣳ रक्षो॒
यच्छ॑न्तां॒ पञ्च॑ ॥९॥

अह्रुतं	(हे मनुष्य ! तू) अकुटिल
हविर्धानं	हविर्भाग (का धारणकर्ता)
असि	है।
दृंहस्व	(तू) सुदृढ़ बन,
मा ह्वाः	कुटिल न बन।
ते यज्ञपतिः	तेरा यज्ञपति भी
मा ह्वार्षीत्	कुटिल न बने।
विष्णुः त्वा क्रमताम्	विष्णु तुझपर आरूढ़ होवे।
वाताय	वायु के लिए
उरु	विस्तृत स्थान में घूम।
अपहतं रक्षः	राक्षस दूर हुए।
पञ्च यच्छन्ताम्	तू पाँचों को पकड़ लेवे ॥ ९ ॥

हविर्भागधारक अकुटिल तू यज्ञ-पात्र बन।
मानव, तू अत्रुटित[1], सरल, उत्कृष्ट पात्र बन ॥
हविर्भाग-सा पावन बन तू कर आत्मार्पण।
ब्रह्मरूप तू ब्रह्म-यज्ञ में हुत कर जीवन ॥
प्रस्थापित कर अंतर में नारायण को नर।
रहें पंचविध शक्ति-स्रोत स्वायत्त निरंतर ॥
करण, बुद्धि, मन से परमेश्वर रहें सुसेवित।
नारायण को कर अंतर में नर! सुस्थापित ॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है कि हे मानव ! सर्वव्यापी परमेश्वर विष्णु तुझपर अपना अधिकार स्थापित करें। तू त्रिविक्रम विष्णु का पौरुष और पराक्रम प्राप्त कर। जब विष्णु का तुझपर अधिकार हो जाय, तो इन्हें तू कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा के पाँच साधनों द्वारा दृढ़ता से पकड़। वे बाहर न जाने पावें। ९

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
अ॒ग्नये॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्य॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ जुष्टं॑ गृह्णामि ॥ १० ॥

---

१ जिसमे कोई त्रुटि न हो।

सवितुः देवस्य	सबको उत्पन्न करनेवाले देव का
प्रसवे	प्रसूतिरूपी सृष्टि में
अश्विनोः बाहुभ्यां	अश्विनों के बाहुओं से,
पूष्णोः हस्ताभ्यां	(तथा) पूषा के हाथों से (मै)
त्वा	तुझे (धारण करता हूँ)।
अग्नये जुष्टम्	अग्नि को जो प्रिय लगे, (उसे)
गृह्णामि	लेता हूँ।
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं	अग्नि और सोम को जो प्रिय लगे,
गृह्णामि	(मैं) उसे ग्रहण करता हूँ ॥१०॥

प्रभु के जन बनते न कभी भी दुख के भाजन।
करते रहते कृपा-दृष्टि परमेश्वर प्रति क्षण ॥
सदय हृदय, बाहुएँ अश्विनो[1] की फैलाकर।
रोग-मुक्त करते हैं निज जन को वे ईश्वर ॥
फिर पूषा[2] देव का स्नेह-प्रसरित भुजबंधन।
प्रभु-प्रेरित कर देता पुष्टितुष्टिमय जीवन ॥
अग्नि-सोम को जो प्रिय वह ही प्रिय है प्रभु को।
नहीं अखाद्य, अभक्ष्य, ग्राह्य होता है विभु को ॥
इसीलिए अपना सब कुछ कर प्रभु को अर्पित।
सर्व दुःखहर्ता पा तू प्रसाद मनवांछित ॥ १० ॥

टि०—इस मंत्र मे विश्व के प्रसविता को सविता देवता कहा गया है। प्रार्थना की गई है कि सविता हमे अश्विनीकुमारो की बाँहों और पूषा के हाथों से पकड़े। अश्विनीकुमार देवों के वैद्यराज हैं। उनके हाथों में रोग-मुक्त करने की शक्ति है। पूषा पोषण के देवता हैं। जिसको भगवान अश्विनीकुमार की बाँहों और पूषा के हाथों से ग्रहण करे वह स्वस्थ और पुष्ट-तुष्ट तो रहेगा ही। १०

भूताय॑ त्वा नारा॑तये[१] स्व॒र॑भि॒वि॒ख्ये॑ष॒ं[२] दृꣳह॑न्तां॒ दुर्याः॑ पृ॒थि॒व्या॑[३] मु॒र्व॑न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि[४] पृ॒थि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ साद॒या॒म्यदि॑त्या उ॒पस्थेऽग्ने॑ ह॒व्यꣳ र॑क्ष ॥ ११ ॥

१ दोनों अश्विनीकुमार जो आरोग्य प्रदान करनेवाले देवता है; २ पोषण करनेवाले देवता हैं। यह सूर्य का भी एक नाम है।

भूताय	उन्नति के लिए
त्वा	तुझे (उत्पन्न किया है),
न अरातये	अनुदारता के लिए नहीं।
स्वः अभिविख्येषम्	मुझे आत्मप्रकाश दीख पड़े।
पृथिव्यां दुर्याः दृंहन्ताम्	भूमि पर जो द्वार हैं, वे दृढ़ रहें।
उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि	विस्तृत अंतरिक्ष में मैं अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूँ,
पृथिव्याः नाभौ	पृथ्वी के मध्य में
अदित्याः उपस्थे	स्वतंत्रता के निकट
त्वा सादयामि	तुझे बैठाता हूँ।
अग्ने	हे अग्नि !
हव्यं रक्ष	हवि की रक्षा कर ॥ ११ ॥

प्रगति हेतु अवतरित हुआ मानव धरती पर।
अगति, अराति न लक्ष्य कथंचित् उसके क्षयकर ॥
बाँध लक्ष्य में आत्मा के प्रकाश को अविचल।
बढ़ मानव कहता, "प्रभु ! मुझको दो अनंत बल ॥
देख सकूँ मैं ज्योति तुम्हारी अजर अनश्वर।
परिपूरित हो उस प्रकाश से प्रति नर, प्रति घर ॥
वृद्धि करें धरती पर सज्जन, साधु उपासक।
सदाचारियों का जीवन हो दिव्य विजय-स्रक्[1] ॥
करो विश्व का निखिल यज्ञमय हे प्रभु ! जीवन।
भूमंडल के मध्य अदितिसहवर्ती[2] प्रतिक्षण" ॥
अंतरिक्ष निःसीम, विचर तू बंधहीन नर !।
शोभा पा तू मुक्त अदिति[3] के पुण्य अंक पर ॥
हव्य रूप हो गया देव ! अब मैं बहिरंतर।
हे अग्ने ! हे ईश ! सदा तू संरक्षण कर ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य से कहा गया है, तू उन्नति करने के लिए उत्पन्न किया गया है। अनुदारता तेरे जीवन का लक्ष्य नहीं। तू अपने भीतर विद्यमान परमात्मा के अनंत, अजर, अमर प्रकाश का साक्षात्कार कर। मानव का जीवन परमात्मा का हविर्भाग है। इसे सुरक्षित रखने की अग्नि से प्रार्थना की गई है। मनुष्य का जीवन ही हव्य बन जाय, यह आशय है। ११

---

१ विजय की माला, जयमाला; २ स्वतंत्रता वा अदीनता के निकट; ३ देवमाता।

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑[१] सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व
उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑[२]।
दे॒वीरा॑पो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र॑ इ॒मम॒द्य य॒ज्ञं
न॑यता॒ग्रे य॒ज्ञप॑तिꣳ सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म्[३] ॥१२॥

वैष्णव्यौ पवित्रे स्थः	(तुम दोनों) विष्णु की पवित्रताकारक शक्ति के साधन हो।
सवितुः प्रसवे	सृजनकर्ता देव की सृष्टि में
अच्छिद्रेण पवित्रेण	छिद्ररहित शुद्धता करनेवाले साधन के द्वारा,
सूर्यस्य रश्मिभिः	सूर्य की किरणों के द्वारा (मैं)
वः उत्पुनामि	तुमको अच्छी तरह पवित्र करता हूँ।
देवीः आपः	हे दिव्य जलसमूहो!
अग्रेगुवः अग्रेपुवः	(तुम) अग्रगन्ता और प्रथम पवित्र करनेवाले हो,
अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत	आज इस यज्ञ को आगे ले चलो।
यज्ञपतिं	यज्ञ के पालनकर्ता,
सुधातुं	श्रेष्ठ धातु से युक्त
देवयुवं यज्ञपतिं	देव की भक्ति करनेवाले यजमान को
अग्रे नयत	आगे ले चलो ॥१२॥

प्राण और मन प्रकट हुए विष्णु की शक्ति से।
साधन हैं अन्वर्थ पवित्रीकरण-कृत्य के॥
दोनों अद्भुत दिव्य शक्तियों से हैं मंडित।
छिद्र-रहित शुद्धता इन्हीं से सिद्ध अखंडित॥
रवि किरणें भी हैं पवित्रताकारक साधन।
और वृष्टि से भी पवित्र करते हैं जग घन॥
हे दैवी जल! सदा यज्ञ के पालक, भर्त्ता।
मानव-तन की निखिल धातुओं[१] के शुचिकर्ता॥
ईश-भक्त यजमान की करो प्रगति निरंतर।
दो उसकी प्रति इन्द्रिय में दैवी ऊर्जा भर॥ १२॥

टि०—इस मंत्र में कर्मयोग के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु की शक्ति से युक्त है। उसमें पवित्र करने की शक्ति है। उसको छिद्ररहित पवित्रता का संपादन करना चाहिए। संसार में पवित्र करनेवाले दो प्रमुख साधन है—एक सूर्य की किरणें और दूसरा मेघों से बरसा हुआ जल। वेदों में

१ तत्त्वो। यहाँ धातुओ का अर्थ है शरीर के पाँच तत्त्व।

आत्मा को यज्ञपुरुष कहा गया है। मनुष्य को देव-तुल्य बनने का उपदेश इस मंत्र में दिया गया है। इसका अर्थ है, देवों से साक्षात् सम्पर्क रखनेवाला। १२

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये
प्रोक्षिता स्थ। अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां
त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै
यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

इन्द्रः वृत्रतूर्ये	इंद्र ने वृत्रहत्या के समय
युष्मा अवृणीत	तुम्हें स्वीकृत किया था।
यूयं	तुमने
वृत्रतूर्ये	वृत्र-वध के समय
इन्द्रं अवृणीत	इन्द्र का वरण किया।
प्रोक्षिताः स्थ	तुम पवित्र हुए हो।
अग्नये जुष्टं	अग्नि को प्रिय
त्वा प्रोक्षामि	तुमको मैं पवित्र करता हूँ।
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं	अग्नि तथा सोम के लिए प्रिय
त्वा प्रोक्षामि	तुमको पवित्र करता हूँ।
दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्	दिव्यकर्म के लिए शुद्ध बनो,
देवयज्यायै	देवों की पूजा के लिए (शुद्ध बनो)।
यत् वः अशुद्धाः	तुममें से कुछ अशुद्धता के कारण
पराजघ्नुः	पराभूत हुए।
तत् वः शुन्धामि	अतः मैं तुम्हें शुद्ध करता हूँ ॥ १३ ॥

दिव्य कर्म - संपादन के हित शुद्ध बनो तुम।
दिव्य कर्म के हेतु पूत निर्दोष बनो तुम ॥
देव-यजन के हेतु निरंतर शुद्ध रहो तुम।
शुद्धाचार विचार - साधना - निरत रहो तुम ॥
हो न पराभव कभी, करो पावन निज जीवन।
शुद्धि-दान कर रहे तुम्हें परमेश्वर क्षण-क्षण ॥
शुद्धाचार विचारवान हो है जय पाते।
वे वैयक्तिक और राष्ट्र - जीवन विकसाते ॥
ज्ञान, वीर्य, धन, कर्म शक्तियाँ शुद्ध रहें सब।
चातुर्वर्ण्य - विधान सतत संबुद्ध रहें सब ॥
इन्द्रिय-बल है सकल इन्द्र का दान तुम्हारा।
स्मरण करो वह कथा, वृत्र की तोड़ो कारा ॥

आत्मा में हैं इंद्र-रूप परमेश्वर संस्थित।
वृत्र-निधन के हेतु रहो तुम उनके आश्रित ॥ १३ ॥

टि०—इस मंत्र में बतलाया गया है कि मनुष्य को निरंतर शुद्ध और पवित्र रहना चाहिए—तन, मन, धन और कर्म से। सब प्रकार से शुद्ध होकर ही मनुष्य यज्ञकर्म अथवा दिव्य कर्म करने का अधिकारी होता है। अशुद्ध और अपवित्र मनुष्य का ही पराभव होता है। शुद्ध होकर ही देवता की पूजा की जा सकती है। १३

शर्मा॑स्य॒व॑धूत॒ꣳ रक्षो॒ऽव॑धूता॒ अरा॑तयो॒

ऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वेत्तु।

अद्रि॑रसि वानस्प॒त्यो ग्रावा॑ऽसि पृ॒थुबु॑ध्नः

प्रति॒ त्वाऽदि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु ॥ १४ ॥

शर्म असि (तू) सुख है।
रक्षः अवधूतं राक्षस दूर हुए।
अरातयः अवधूताः अनुदार भी दूर हटाये गये।
अदित्याः त्वक् असि स्वाधीनता की त्वचा तू है।
अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु स्वाधीनता तुझे जान लेवे।

वानस्पत्यः अद्रिः असि तू वनस्पति से निर्मित पर्वत है,
पृथुबुध्नः ग्रावा असि सुदृढ़ नींव-वाला पत्थर है।
अदित्याः त्वक् त्वा प्रति वेत्तु अदीनता (तथा स्वतंत्रता का) का आवरण तुझे मिल जाए ॥१४॥

मानव! तू आनंद-रूप है, सहज शुद्ध तू।
राक्षस और अराति उभय से चिर अयुध्य[1] तू ॥
चिर स्वतंत्र तू, प्रथित[2] अदिति का तू आच्छादन।
चिर अदीन तू, सतत मुक्त सच्चिदानंदघन ॥
व्याप्त वनस्पतियों से दृढ़तम अचल, अटल तू।
कर विरोध की वात्यायें[3] विदलित पदतल तू ॥
देव-कार्य के लिए समर्पित कर तन, मन, धन।
अये हविष्कृत! देवकल्प हो तेरा जीवन ॥ १४ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, यज्ञ के द्वारा संसार में परम सुख-शान्ति का विधान

१ जिसपर आक्रमण न किया जा सके, जिसका मुकाबला कोई न कर सके; २ प्रसिद्ध; ३ आँधियाँ।

किया जा सकता है। इस मंत्र में मनुष्य को अदिति की त्वचा कहा गया है। 'अदिति' का अर्थ है जिसका खंडन नहीं हो सकता, जो स्वतंत्र,अविभाज्य है और अदीन है। विभाजित होकर ही मनुष्य दीन बनता है। मनुष्य को इस मंत्र में अदीनता और स्वतंत्रता का रक्षा-कवच कहा गया है। १४

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि[1] बृ॒हद्ग्रा॑वाऽसि वानस्प॒त्यः[2] स इ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॑ शमीष्व[3]। हवि॑ष्कृ॒देहि॒ हवि॑ष्कृ॒देहि॑[4] ॥ १५ ॥

अग्नेः तनूः असि	(तू) अग्नि का शरीर है।
वाचः विसर्जनं	वाणी का विशेष रूप से सर्जन तू है।
देववीतये	देवताओं के तेज के लिए (मैं)
त्वा	तुझे
गृह्णामि	स्वीकार करता हूँ।
वानस्पत्यः	वनस्पतियों द्वारा निर्मित
बृहद्ग्रावा	बड़ा पत्थर
असि	(तू) है।
स देवेभ्यः	वह तू सब देवों के लिए
इदं हविः	यह हवि
शमीष्व	सुख देनेवाला कर,
सुशमि शमीष्व	भली भाँति सुखप्रद ढंग से सिद्ध कर।
हविष्कृत्	हवि-रूपी अन्न तैयार करनेवाले!
एहि	इधर आ।
हविष्कृत्	हवि-रूपी अन्न तैयार करनेवाले!
एहि	इधर आ ॥ १५ ॥

विदित अग्नि का देह-आवरण[1] है तू मानव!।
तेरा आत्मा स्वयं अग्नि ही है हे मानव!॥
तू विशेष विधि से करता वाणी का सर्जन।
करता रहता व्यक्त स्वयं को उसमें प्रतिक्षण॥
शुद्ध विचारों का प्रवाह कर तू संचालित।
रहे धर्म-पथ[2] पर वाणी तव नित्य प्रवाहित[3]॥
देव-तेज हो प्राप्त तुझे नित नव अविनश्वर।
होता हूँ मैं पूर्णकाम तुझको अर्चन कर॥
रचित वनस्पतियों से है तू ग्रावा[4] दृढ़तम।
अधिष्ठान[5] तू अटल-अचल शक्ति का बृहत्तम[6]॥

१ शरीर-रूपी आच्छादन; २ धर्म के मार्ग; ३ प्रवहमान; ४ पत्थर (पर्वत के समान); ५ आधार; ६ सबसे बड़ा।

डिगा न सकते तुझे प्रलय के वात्या-वर्षण।
प्रतिहत कर प्रतिकूल परिस्थितियों को दृढ़ मन॥
तन, मन, धन कर देवकार्य के लिए समर्पित।
है देवों के हेतु यही हवि सुखदायक नित॥

उत्तम सुखप्रद विधि से संपादित जीवन-हवि[1]।
अर्पित कर, कर प्राप्त दिव्य अमलिन[2] अनंत छवि॥
अये हविष्कृत्! आ मैं करता तेरा स्वागत।
रह देवों के परम तेज से मंडित अविरत॥ १५॥

टि०—इस मंत्र में स्वयं परमात्मा की वाणी में मनुष्य की महिमा का उद्बोधनपूर्ण आख्यान है। कहा गया है, 'हे मनुष्य, अग्निरूप परमात्मा तेरा आत्मा है। तेरा यह शरीर उसका आवरण है। वाणी का विशेष रूप से सृजन करना तेरा धर्म है, तेरा महत्त्वपूर्ण गुण है। अन्य प्राणी भी वाणी द्वारा कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। पर वह उच्चारण स्पष्ट नहीं होता और न उसके पीछे कोई वैचारिक चेतना होती है। मनुष्य को ही यह विशेष गुण प्राप्त है कि वह वाणी का स्पष्ट उच्चारण करता हुआ शब्दों का सृजन करता है। सार्थक विचार-युक्त वाणी के प्रयोग में मनुष्य की महिमा अंतर्निहित है। इसलिए मानव को वाणी का उपयोग बड़ी सावधानी और सतर्कता से करना चाहिए। उसका कर्तव्य है, वह वाणी के द्वारा शुद्ध विचारों के प्रवाह को संचालित करता रहे। भगवान कहते हैं, मैंने तुझे इसलिए स्वीकार किया है कि तू देवताओं के तेज और प्रकाश से परिपूरित हो। तू वृक्षों और वनस्पतियों से परिपूर्ण पथरीले पर्वत के समान है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ तेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। तू देवताओं को शांतिपूर्वक हवि प्रदान कर। सबसे उत्तम हवि है, भगवान के कार्य के लिए अर्पित आचरण-शुद्ध पूतशील जीवन। हे हवि तैयार करनेवाले! तू यही हवि अर्पित कर। १५

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयꣳ संघातꣳ संघातं जेष्म[1] वर्षवृद्धमसि[2] प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु[3] परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयो[4]ऽपहतꣳ रक्षो[5] वायुर्वो विविनक्तु[6] देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना[7]॥ १६॥

मधुजिह्वः कुक्कुटः	तू मिठास-भरी बोली बोलनेवाला कुक्कुट अर्थात् वक्ता	इषं ऊर्जं	अन्न तथा बल के
		आवद	बारे में कह (कि)
		त्वया	तेरी सहायता से
असि	है।	वयं	हम

१ जीवन-रूपी हवि; २ अम्लान।

संघातं संघातं	शत्रुओं के दल के दल
जेष्म	जीतें।
वर्षवृद्धं	ज्ञान हर वर्ष बढ़नेवाला
असि	(होता) है।
वर्षवृद्धं	हर वर्ष बढ़नेवाला ज्ञान
त्वा	तुझे
प्रतिवेत्तु	प्राप्त हो।
रक्षः परापूतं	राक्षस दूर हट गये।
अरातयः	अनुदार (शत्रु-) दल
परापूताः	हट गया।
रक्षः अपहतम्	राक्षस विनष्ट हो गये।
वायुः वः विविनक्तु	तुझे वायु शुद्ध करे।
हिरण्यपाणिः	हाथ में सुवर्ण का आभूषण धारण करनेवाले
सविता देवः	सविता देव
वः अच्छिद्रेण	तुझको अपने छिद्रशून्य
पाणिना	हाथ से
प्रतिगृभ्णातु	पकड़े ॥ १६ ॥

मधुजिह्वा कुक्कुट[1] बन मानव ! मधुमय कर जग।
परुष वचन तज बना मधुरतम जीवन का मग॥
अन्न और बल की महिमा का संपादन कर।
शत्रुदलों पर विजय-प्राप्ति का पा प्रभु से वर॥
मधुजिह्वा से हुए पराजित सब राक्षस-दल।
शत्रु हो गये ध्वस्त अराति क्षरित[2] सब पल-पल॥
पवन शुद्ध कर रहा तुम्हें मधुजिह्वा मानव।
स्वर्णपाणि सविता का पा तू परिरंभण[3] नव॥ १६॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को मीठी वाणी बोलनेवाला कुक्कुट कहा गया है। तुझको कभी कटु वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कुकं शब्दं कुटते इति कुक्कुटः—अर्थात् जो बहुत सोच-विचारकर सावधानी से शब्दों का प्रयोग करता है, वह कुक्कुट है। इस मंत्र में प्रयुक्त 'इष' शब्द के अनेक अर्थ हैं—अन्न, समर्पण, बल, शक्ति, उत्साह, सत्त्व, सुख, इच्छा-शक्ति, धन, बुद्धि आदि। वाणी के सुप्रयोग से बड़े-बड़े शत्रुओं के संघों को जीता जा सकता है। १६

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि
निष्क्रव्यादꣳ सेधा देवयजं वह।
ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा
क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥

---

१ बड़ी सतर्कता से विचारपूर्वक भाषण करनेवाला; २ नष्ट; ३ आलिंगन।

धृष्टिः	(तू) धैर्ययुक्त	ध्रुवं असि	(तू) स्थिर है।
असि	है।	पृथिवीं दृंह	पृथ्वी को दृढ़ कर
हे अग्ने	हे अग्नि !	ब्रह्मवनि क्षत्रवनि	
आमादं अग्नि	कच्चा मांस खाने वाले अग्नि को	सजातवनि त्वा	ब्राह्मण, क्षत्रिय और सजाति के हि[त] करनेवाले तुझको
अप जहि	(तू) दूर हटा।		
क्रव्यादं निः षेध	मांसाहारी का निषेध कर।	भ्रातृव्यस्य वधाय	दुष्ट के वध के लि[ए]
देवयजं	देवपूजक को	उपदधामि	मैं समीप करता हूँ ॥ १७ ॥
आ वह	समीप रख।		

धैर्य, आत्मविश्वास, प्रगति, श्रम को भज अविरत।
आमिषभोजी रहें सतत परित्यक्त, बहिष्कृत ॥
निज मधु वाणी से कर तू उनको संस्कारित।
कर, यदि कर सकता हो तो उनको शुचि संस्कृत ॥
आवाहन कर देवयजों का अमृतवाक् तू।
सहज त्रिकालाबाधित ध्रुव है ज्योतिराट् तू ॥
बाँध राष्ट्र को सुदृढ़ संगठन के बंधन में।
बढ़े राष्ट्र का ज्ञान, शौर्य वर्धित तन-मन में ॥
सर्वदा अजेय अयुध्य रहे राष्ट्र यह तेरा।
रहे सबल संगठन-शक्ति की ऊर्जित धारा ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में मांस खानेवालों और अग्नि में कच्चे मांस की आहुति देनेवा[लों] को निंदित घोषित किया गया है। परमात्मा मनुष्य को संबोधित करते हुए कहते हैं, देवयज्ञ करनेवालों के निकट रहा कर। तू राष्ट्र को दृढ़ संगठन की शक्ति में बाँ[ध] इस मंत्र में 'भ्रातृव्य और सापत्न' दो वर्णों का उल्लेख है। सगे भाइयों के लड़कों [को] 'भ्रातृव्य' कहते हैं। एक ही पुरुष की दो पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों को 'सापत्न' कहते [हैं।] सत्य के पक्ष का विरोध करनेवालों के मत का परिवर्तन करना चाहिए। यदि परिव[र्तन] संभव न हो तो उनको सदा के लिए विनष्ट कर देना चाहिए। १७

अग्ने॒ ब्रह्म॑ गृभ्णीष्व॒ धरु॒णम॑स्य॒न्तरि॑क्षं दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑[12]। ध॒र्त्रम॑[सि] दिवं॑ दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्[य] व॒धाय॑[13]। विश्वा॑भ्यस्त्वाशा॑भ्य उप॑दधामि॒[14] चित॑ स्थोर्ध्व॒चि[तः]

अग्ने	हे अग्नि !
ब्रह्म	ज्ञान को
गृभ्णीष्व	स्वीकार कर।
धरुणं असि	(तू) धारण करने वाला है।
अन्तरिक्षं दृंह	अन्तरिक्ष (आत्मा) को दृढ़ कर।
ब्रह्मवनि क्षत्रवनि	ब्राह्मण, क्षत्रिय (और)
सजातवनि त्वा	सजातीयों के हित करनेवाला
धर्त्रं असि	(तू) धारक है।
दिवं दृंह	द्युलोक को बलशाली कर।
ब्रह्मवनि क्षत्रवनि	ब्राह्मण, क्षत्रिय
सजातवनि त्वा	(और) सजातीयों के हित करनेवाले
त्वा	तुझे
विश्वाभ्यः आशाभ्यः	सभी दिशाओं से
उपदधामि	समीप रखता हूँ।
चित्तः स्थ	तू चेतना देनेवाला है।
ऊर्ध्वचितः	ऊर्ध्व भाग की ओर चेतना देनेवाला बन
भृगूणां अंगिरसां	और भृगुओं तथा अंगिरसों के
तपसा	तप से
तप्यध्वम्	तेजस्वी बन ॥१८॥

हे तेजस्वी पुरुष ! ज्ञान का वरण कर ले तू।
ज्वलित रहे ज्ञानाग्नि निरंतर, तिमिर हर ले तू॥
अंतरिक्ष तुझमें ही रहता है आलोकित।
दृढ़तर दृढ़तम करता उसे तू रह सदोदित॥
परमेश्वर के आवाहन का स्वन[1] है गुंजित।
मानव ! तू मेरे समीप है, है मुझमें स्थित॥
ज्ञान, शौर्य का सदा समादर कर हे मानव !।
हो स्वराष्ट्र की वृद्धि-सिद्धि तुझसे नित नव-नव॥
दसों दिशाओं में तू संतत मुझसे रक्षित।
ऊर्ध्वगामिनी रहे चेतना तेरी बृंहित[2]॥
हृदय भक्ति से भरित, मुक्ति-कामनावलित मन।
तेरा हो, तू बना दिव्यतम अपना जीवन॥
भृगु का और अंगिरस का तप-तेज ग्रहण कर।
ऊर्ध्वगामिनी दिव्य शक्तियाँ तू धारण कर॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों को संबोधित करते हुए कहा गया है, तुम ज्ञान को स्वीकार करो। भृगु और अंगिरा के तप से तेजस्वी बनो। तुम अपने भीतर ऊर्ध्व ज्ञान की चेतना धारण करो। सब दुःखों को दूर कर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।

१ आवाज, ध्वनि; २ बढ़ी हुई।

इस मंत्र में 'भृगु' और 'अंगिरस' नाम के ऋषियों के दो प्रकार के तप का निर्देश है। 'भृगु' का एक विशेष अर्थ भी है। 'भृगु' शब्द का अर्थ है पर्वत-शिखर, मानव-शरीर का पर्वत अर्थात् रीढ़ और उसकी चोटी। इसका अर्थ है मस्तिष्क का श्रेष्ठतम भाग शुक्र या वीर्य। शुक्र या वीर्य को बलवान बनाने के लिए जो तप करना पड़ता है, वह भृगु का तप कहा गया है। 'अंगिरस' का अर्थ है, शरीर के अवयवों में विद्यमान जीवन-रस। जिस तप से अंग-प्रत्यंग में व्याप्त यह रस सतेज बनता है, उसे 'अंगिरस तप' कहते हैं। सामान्यतः द्वंद्व सहन करने की शक्ति को तप कहते हैं। 'भृगु तप' और 'अंगिरस तप' से मनुष्य की सब शक्तियों का विकास होता है। १८

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु। धिषणाऽसि पर्वती प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु दिवस्कम्भनीरसि धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥१९॥

शर्म	(तू) सुख	असि	(तू) है।
असि	है।	अदित्याः	अदीनता का
रक्षः	राक्षस	त्वक्	चर्म
अवधूतं	दूर हुए।	प्रति वेत्तु	(तुझे) परिचित रहे।
अरातयः	अनुदार (शत्रु)	दिवः	द्युलोक को
अवधूताः	दूर हुए।	स्कम्भनीः	स्थिर करनेवाली (शक्ति तू)
अदित्याः	(तू) अदीनता की	असि	है।
त्वक्	त्वचा	पार्वतेयी	पर्वत की
असि	है।	धिषणा	बुद्धि
अदिति	अदीनता	असि	(तू) है।
त्वा	तुझे	पर्वती	पर्वत की बुद्धि
प्रति वेत्तु	परिचित रहे।	त्वा	तुझे
पर्वती	पर्वत में रहनेवाली	प्रति वेत्तु	परिचित रहे ॥१९॥
धिषणा	बुद्धि		

शर्मरूप, आनन्दरूप, तू है सच्चिन्मय।
राक्षस विदलित, हत अराति, निश्चय तेरी जय ॥
अदिति-वर्म तू, दिति की संतति से अपराजित।
है अदीनता, स्वतन्त्रता तुझमें निवसित नित ॥
मेरु-पृष्ठ में निहित सिद्धिदायिनी शक्ति तू।
सहस्रारगामिनी पार्वती परा भक्ति तू ॥

अटल बनाती है द्युलोक को चक्र-चक्र चल।
कुंडलिनी तू संचारित करती अनंत बल॥
छोड़ व्यसन, इंद्रिय-तर्पण[1] तज महाभाग तू!।
कर देवों को तृप्त धन्य हे मनुज! जाग तू॥
दिव तक प्रसरित है तेरी धिषणा[2] कल्याणी।
चिर अदीन रह, हों प्रसन्न तुझपर गीर्वाणी॥ १९॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को पार्वतेयी धिषणा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि वह 'पार्वतेयी धिषणा' मनुष्य को प्राप्त हो। 'पार्वतेयी धिषणा' का अर्थ है पर्वत में उपलब्ध होनेवाली विद्या अर्थात् परा बुद्धि। मेरुदंड को पर्वत भी कहते हैं, क्योंकि वह पर्ववान् अर्थात् पोरोवाला है। इस पृष्ठ-वंश में व्याप्त शक्ति को पर्वती, पार्वती अथवा पार्वतेयी नामों से भी संबोधित किया जाता है। इसी शक्ति को कुंडलिनी भी कहा गया है। इस शक्ति से मनुष्य भूलोक और अंतरिक्ष में स्थैर्य पैदा कर सकता है। इस शक्ति से परिचित और इसको जागृत करनेवाले मनुष्य को इस मंत्र में स्वतंत्रता का त्वक् अर्थात् आवरण कहा गया है। १९

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥२०॥

धान्यं असि	(तू) धान्य है।	हिरण्यपाणिः	हाथ में सुवर्ण धारण करनेवाले
देवान्	देवताओं को	सविता देवः	सविता देव
धिनुहि	संतुष्ट तथा तृप्त कर।	अच्छिद्रेण	छिद्र-रहित
प्राणाय त्वा	प्राण के लिए तुझे,	पाणिना	हाथ से
उदानाय त्वा	उदान के लिए तुझे,	वः	तुझे
व्यानाय त्वा	व्यान के लिए तुझे (धारण करता हूँ)।	प्रतिगृभ्णातु	पकड़ें।
आयुषे	आयुष्य के लिए	चक्षुषे	नेत्र इन्द्रिय के लिए
दीर्घां	विस्तृत	वः	तुझे (धारण करता हूँ)।
प्रसितिं	शक्ति को	महीनां	महान् (शक्तियों
अनु	(मैं)अनुकूलतापूर्वक	पयः	का) दूध
धां	धारण करता हूँ।	असि	(तू) है॥ २०॥

१ लौकिक भोगों से इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयत्न; २ बुद्धि, प्रज्ञा।

पोषणकर्ता धान्यरूप तू देव-यजन कर।
आत्मार्पण कर, सुप्त शक्तियाँ सब जागृत कर॥
प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान हों ऊर्जित।
इसीलिए मैं तुझको धारण करता हूँ नित॥
तुष्ट, पुष्ट, निष्कलुष रहें इंद्रियगण तेरी।
प्राण-शक्ति ऊर्ध्वगति बनाये रति-मति तेरी॥
हे मानव! तू महत् शक्तियों का पावन पथ।
स्वर्णपाणि सविता के कर से पा नित नव जय॥ २०॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को सब महान शक्तियों का दूध कहा गया है। इस मंत्र में प्रयुक्त 'प्रसिति' शब्द के कई अर्थ है—अधिकार, प्रभाव, मार्ग, शक्ति, ज्वाला, हमला आदि। मनुष्य को अपनी आयु बढाकर सब शक्तियों का पूरा उपयोग करना चाहिए। २०

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सं वपामि समाप ओषधीभिः
समोषधयो रसेन। सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं
मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

सवितुः	सबके सृजनकर्ता	पृच्यन्ताम्	मिल जाएँ।
देवस्य	देव की	ओषधयः	ओषधियाँ
प्रसवे	प्रसूतिरूप (सृष्टि में)	रसेन	रसीली
		सं	होवें।
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों के	रेवतीः	धनवान
बाहुभ्यां	बाहुओं से,	जगतीभिः	वेगशाली प्रजा से
पूष्णोः	पूषा के	सं	मिल जाएँ,
हस्ताभ्याम्	हाथों से	मधुमतीः	मधुर
त्वा सं वपामि	तुझे अच्छी तरह (मैं) विस्तीर्ण करता हूँ।	मधुमतीभिः	मधुरों से
आपः ओषधीभिः सं	जल ओषधियों के साथ	सं पृच्यन्ताम्	मिल जाएँ ॥२१॥

विकसित करने को हे मानव! सुप्त-गुप्त शक्तियाँ तुम्हारी।
गूँज रही हैं परमेश्वर की उद्बोधनमय[1] वाणी प्यारी॥

१ ज्ञान और बोध से भरी हुई।

"पुण्य-प्रसूति सृष्टि यह मेरी, मैं इसमें तेरा विस्तारक।
पूषा और अश्विनी की बाँहों से मैं ही तेरा धारक॥
मैं सब रोगों का प्रतिरोधक, जल से ओषधियों का पोषक।
और तुम्हारे जीवन की सब बाधाओं का बाधक नाशक॥
आध्यात्मिक मधुमती भूमिका का प्रतिरूप समाज बने यह।
ओषधियाँ जल से सिंचित हों, सरस प्राणदात्री हों अहरह[1]॥
बाहु अश्विनी के, पूषा के शत ज्योतिर्मय हाथ बढ़ाकर।
करता हूँ उत्कर्ष तुम्हारा अव्याहत[2] नित मैं परमेश्वर!॥
ज्ञान, शौर्य, धन से, सेवा से तुम समाज को सुखी बनाओ।
मधुर-मधुर बन मिलो परस्पर हरो विषमता, समता लाओ"॥ २१॥

टि०—इस मंत्र मे बड़ी उदात्त मंगल-कामना अभिव्यक्त की गई है। चराचर जगत् में सामंजस्य रहे। मनुष्य चेतना की क्षुद्र सीमाओ को त्यागकर महान से महान बने। ओषधियों को प्रभूत जल मिले, वे रसीली बनें। विश्व मे मधुमती भूमिका का अवतरण हो। सबका जीवन परम मधुमय बन जाए। धनवान निर्धनों के लिए त्याग करने के लिए उद्यत रहे। वैदिक साम्य-भावना का आभास इस मंत्र में मिलता है। २१

जनयत्यै त्वा संयौमी[1]दमग्ने[2]रिदमग्नीषोमयो[3]रिषे त्वा[4] घर्मोऽसि विश्वायु[5]रुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथता[6]मग्निष्टे त्वचं मा हिंसी[7]द्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके[8] ॥ २२ ॥

जनयत्यै	संतान के लिए
त्वा	तुझसे
संयौमि	समागम करता हूँ।
इदं अग्नेः	यह अग्नि का (है) (और)
इदं अग्नीषोमयोः	यह अग्नि तथा सोम का है।
इषे त्वा	अन्न के लिए तुझसे (संपर्क रखता हूँ)।
घर्मः असि	(तू) उष्णता-रूप है,
विश्वायुः	(तू) पूर्ण आयु (वाला है)।
उरुप्रथाः	(तू) बहुत विस्तृत (है),
उरु प्रथस्व	(इसलिए तू) अधिक विशाल बन।
ते यज्ञपतिः	तेरे यज्ञपति की
उरु प्रथताम्	बहुत प्रसिद्धि होवे।
अग्निः ते त्वचं	अग्नि तेरे चर्म को
मा हिंसीत्	न दुखावे।
सविता देवः	सविता देवता
त्वा वर्षिष्ठे नाके	तुझे श्रेष्ठ स्वर्ग में
अधि श्रपयतु	परिपक्व करे॥२२॥

१ दिन-प्रतिदिन; २ बाधा-रहित।

"केवल श्रेष्ठ प्रजोपलब्धि-हित करें समागम नारी औ' नर।
संयम और तपस्या से परिपूत[1] रहे गार्हस्थ्य निरंतर॥
अग्नि-सोम से पोषित है अनंत ऊर्जामय[2] यह मानव-तन।
पूर्ण आयु से युक्त और सार्थक हो क्षण-क्षण तेरा जीवन॥
तुझमें निहित अनंत शक्तियों का विकास-पथ रहे अबाधित।
तू विशाल है, बन विशालतर, रहे चेतना तेरी प्रसरित॥
यज्ञेश्वर है तेरे भीतर वास कर रहा जीवात्मा यह।
दग्ध न कर सकता है उसको शत-शत ज्वलित-शिखर हुतभुक्[3] वह॥
अपने श्रेष्ठ यज्ञकर्मों से प्राप्त तुझे है स्वर्ग अनश्वर।
श्रेष्ठ कर्म करनेवाले की नहीं अधोगति होती, हे नर!" ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को उत्तम संतान प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। वेद के निर्देश के अनुसार विवाह का लक्ष्य उच्चकोटि की संतान प्राप्त करना है। इस मंत्र में श्रेष्ठ संतानोत्पादन के लिए ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश विहित माना गया है। गृहस्थाश्रम का उद्देश्य भोग नहीं है। इस मंत्र में प्रयुक्त अग्निसोम शब्द बड़ा अर्थगर्भित है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह श्रुति की प्रसिद्ध उक्ति है। अग्नि और सोम धन तथा ऋण शक्ति के प्रतीक हैं। अग्नि और सोम की तरह श्रुति में अग्नि और इन्द्र का युग्म भी प्रसिद्ध है। इस मंत्र में मनुष्य की अनंत विकास करने की क्षमता की ओर भी संकेत किया गया है। सविता देव तुझे उच्चकोटि के स्वर्ग में स्थान प्रदान करें, यह प्रार्थना भी इस मंत्र में की गई है। यह भी कहा गया है कि कल्याणकारी कर्म करने वालों की कभी अधोगति नहीं होती। "न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" —गीता अ० ६-४० । २२

मा भे॒र्मा संवि॑क्था॒ अत॑मेरुर्य॒ज्ञोऽत॑मेरु॒र्यज॑मानस्य प्र॒जा भू॑यात् त्रि॒ताय॑ त्वा द्वि॒ताय॑ त्वैक॒ताय॑ त्वा ॥ २३ ॥

मा भेः	भयभीत न बन।	त्रिताय त्वा	तीन के लिए तुझे,
मा संविक्थाः	पीछे कदम न रख।	द्विताय त्वा	दो के लिए तुझे
यज्ञः अतमेरुः	यज्ञ सुदृढ़ है,	एकताय त्वा	या एक के लिए तुझे
यजमानस्य प्रजाः	यजमान की प्रजा		पक्व करे॥ २३ ॥
अतमेरुः भूयात्	सुदृढ़ बने।		

१ सब प्रकार पवित्र; २ शक्तियों से भरा हुआ; ३ अग्नि का नाम है, उसकी ज्वालाएँ पहाड़ की चोटियों जैसी हो जाती हैं।

"मा भैः, मा भैः"[१] भय तज बढ़ तू, तेरा पथ अबाध मंगलमय।
भयग्रस्त जन को मिलती है कभी नहीं इस जीवन में जय॥
निर्भय नर हो कर सकते हैं कर्म प्रशस्त[२] महत् संपादित।
उनके द्वारा ही बनती है सहज प्रशस्य[३] धन्य यह संसृति[४]।
श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के प्रजा और परिजन हों दृढ़तम॥
भीत जनों से कभी अनुष्ठित होते नहीं कर्म हैं उत्तम।
त्रित, द्वित और एक[५] के हित तू बनता रह परिपक्व निरंतर॥
तभी करेंगे वर्षा तुझपर प्रभु के कृपा-मेघ रस-सीकर[६]॥ २३॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को विपरीत से विपरीत परिस्थिति में निर्भय बने रहने का आदेश दिया गया है। निर्भय रहकर कर्तव्य-पालन करते रहना ही मनुष्य का परम धर्म है। गीता में भगवान ने जिन दैवी शक्तियों का निर्देश किया, उनमे अभय का स्थान सर्वप्रथम और सर्वोपरि है। निर्भय होकर ऐसे श्रेष्ठ कर्म और सत्यव्रत का अनुष्ठान दृढ़तापूर्वक करना चाहिए, तभी परमात्मा की कृपा प्राप्त की जा सकती है। इस मंत्र में यह भी कहा गया है कि परमात्मा तुम्हें त्रित-द्वित तथा एक के लिए परिपक्व बनावें। त्रित का अर्थ है प्रकृति के सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण। कुछ विद्वान 'त्रित' का अर्थ करते हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। 'द्वित' का अर्थ है प्रकृति और पुरुष। 'एक' का अर्थ है अद्वितीय परमात्मा। प्रशस्त कर्मों के द्वारा ही इन तीनों स्थितियों का सम्यक् ज्ञान होता है। २३

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑देऽध्वर॒कृतं॑ दे॒वेभ्य॒ इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि दक्षि॑णः स॒हस्र॑भृष्टिः श॒तते॑जा वा॒युर॑सि ति॒ग्मते॑जा द्वि॒ष॒तो व॒धः॥ २४॥

सवितुः देवस्य प्रसवे	सबके सृष्टिकर्ता देवता की प्रसूतिरूप सृष्टि में
अश्विनोः बाहुभ्यां	अश्विनीकुमारों के बाहुओं से,
पूष्णोः हस्ताभ्यां	पूषादेव के हाथों से
त्वा आददे	तुझे विस्तीर्ण करता हूँ।
देवेभ्यः अध्वरकृतं	देवताओं के लिए अहिंसामय कर्म करनेवाले (तुझे मैं धारण करता हूँ)।
इन्द्रस्य दक्षिणः बाहुः असि	इन्द्र का तू दाहिना बाहु है।
सहस्रभृष्टिः	(तू) हजारों शत्रुओं का विनाश करनेवाला (है)।

१ मत डर; २ प्रशंसनीय; ३ प्रशंसा के योग्य; ४ सृष्टि या संसार; ५ सत्त्व-रज-तम, प्रकृति-पुरुष, परमात्मा; ६ रस की बूंदें।

शततेजाः तिग्मतेजाः	(तू) सैकड़ों तेजों तथा तीक्ष्ण तेज से युक्त है।	द्विषतः वधः	तू द्वेष्टाओं का वध करनेवाला है ॥ २४ ॥
वायुः असि	तू प्राण है।		

मैं तुझको धारण करता हूँ सदा अश्विनी की बाँहों से।
मैं तेरा पोषण करता हूँ पूषा-किरण-कलित[1] राहों से ॥
सबके सर्जक देवदेव की है प्रसूति प्रसृत कल्याणी।
सदा अहिंसक कर्मकृतों[2] को अभय बनाती मेरी वाणी ॥
दक्षिण बाहु इंद्र का है तू और वायु तू जीवनदायक।
तू नाशक शत-शत अरियों का अमित तेज, मांगल्य-विधायक ॥
तू द्विषतों[3] का वध कर जीवन-पथ बाधा-बंधन-विहीन कर।
बनकर सहज अजातशत्रु तू जन-जन को निर्भय अदीन कर ॥ २४ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य के प्रति परमात्मा का यह कथन है कि इस सृष्टि में मैं तुझे प्रसविनी की बाँहों और पूषा के हाथों से विस्तृत करता हूँ। ध्वर का अर्थ है हिंसा और कुटिलता। अध्वर का अर्थ है हिंसा-रहित अकुटिल यज्ञ-कर्म। मनुष्य इन्द्र का दक्षिण बाहु है। जो अकुटिल और अहिंसक यज्ञ-कर्म करता है, उसको परमात्मा अपनाते हैं। यही भगवान का दाहिना हाथ होता है। इस मंत्र में मनुष्य की शत्रु-संहारिणी शक्ति पर विशेष बल दिया गया है। मनुष्य बाहरी और भीतरी सब शत्रुओं को नष्ट करके अजातशत्रु बने। वायु की तरह निरंतर प्रगतिशील रहे, यह इस मंत्र का मुख्य स्वर है। २४

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

देवयजनि पृथिवि	जिसपर देवों का यजन हो रहा है ऐसी हे पृथिवी!	द्यौः ते वर्षतु	द्युलोक तुझपर वर्षा करे।
ते ओषध्याः मूलं	तुझपर उगनेवाली ओषधियों के मूल को	सवितः देवः	हे सृजनकर्ता देव!
मा हिंसिषम्	मुझसे दुःख न पहुँचे।	परमस्या पृथिव्यां	इस असीम पृथ्वी में
व्रजं गोष्ठानं गच्छ	तू ग्वालों की गोशाला में जा।	शतेन पाशैः	सैकड़ों जालों से
		बधान	(उसे) बाँध दे,
		यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हम सबसे द्वेष करता है,

१ पूषा की किरणों से सुन्दर बनी हुई; २ हिंसा-विहीन कर्म करनेवाले; ३ शत्रुओं।

यं च वयं द्विष्मः और जिससे हम सभी द्वेष करते हैं।

अतः तं मा मौक् (और) उस स्थान से उसे मत छोड़ ॥ २५ ॥

देवयजनि[1] हे धरणि ! हो रहे यज्ञ अहिंसामय हैं तुझपर ।
तुझपर उगी वनस्पतियों का मूल कभी क्षत करें न ये कर ॥
मानव ! ग्वालों के गोष्ठों का सेवन कर सार्थक कर जीवन ।
बरसाये तुझपर द्युलोक के धर्म-मेघ रस-धारा क्षण-क्षण ॥
श्यामल दूर्वाओं से छादित बन जाये धरती सब शाद्वल[2] ।
प्रभु का न्याय-विधान बनाये धर्म-द्विषों को श्रीहत हतबल[3] ॥
हे सविता ! हे देव ! धरित्री को शत-शत पाशों में बाँधो ।
पराभूत कर पाप-ताप सब, पुण्यकृतों का मंगल साधो ॥
सौमनस्यपूरित[4] समाज हो वर्ग-भेद विद्वेष मिटे सब ।
बरसें धारासार[5] धरा पर धर्ममेघ तेरे अविरत अब ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में अहिंसा की बड़ी ही उदात्त और उच्चतम भावना की अभिव्यक्ति की गई है। मातृभूमि को संबोधित करते हुए कहा गया है, तुझपर देवों के लिए यज्ञ अनुष्ठित होते हैं। मेरे हाथों से तुझपर उगी हुई किसी वनस्पति को भी किसी प्रकार की क्षति न हो। मेरे द्वारा तुझपर उगी वनस्पतियों की जड़ तक को कोई बाधा न पहुँचे। अहिंसा के निरतर अभ्यास से ही मन की यह परम करुणापूर्ण स्थिति दृढ़ होती है। तभी करुणाविगलित मानव यह प्रार्थना करता है कि मुझे विवश होकर यह घास काटनी पड़ी, अब द्युलोक के मेघ इतनी वर्षा करें कि यह घास फिर हरी-भरी हो जाए। यह संवेदना, यह करुणा, यह अहिंसा-भावना ही लोकमंगल की स्रोतस्विनी है। २५

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं[1] व्रजं गच्छ गोष्ठानं[2] वर्षतु ते द्यौ[3]र्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् । अररो दिवं मा पप्तो[5] द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्[6] व्रजं गच्छ गोष्ठानं[7] वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

---

१ देवताओं के लिए यज्ञों का अनुष्ठान करानेवाली; २ हरी-भरी, ३ बलहीन; ४ सुख से सभी पूर्ण हों, ऐसा; ५ मूसलाधार ।

पृथिव्यै देवयजनात्	पृथ्वी पर जो देवपूजा का स्थान है,
अररुं	(वहाँ से) दुष्ट को
अप	(मैं) दूर
वध्यासम्	हटाता हूँ।
व्रजं	(तू) ग्वालों की
गोष्ठानं	गोशाला में
गच्छ	जा।
द्यौः ते वर्षतु	द्युलोक तुझपर वर्षा करे।
सवितः देव	हे सृजनकर्ता देव!
परमस्यां	इस असीम
पृथिव्यां	पृथ्वी में
शतेन पाशैः	सैकड़ों जालों से
बधान	(उसे) बाँध दे,
यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हम सबसे द्वेष करता है (और)
यं च वयं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं।
अतः तं मा मौक्	उस स्थान से उसे मत छोड़।
अररो	अरे दुरात्मन्!
दिवं मा पप्तः	(अपने) स्वर्गधाम को क्षति मत पहुँचा।
ते द्रप्सः	तेरा सत्त्वरस
द्यां मा स्कन्	द्युलोक के मार्ग को अवरुद्ध न करे।
व्रजं गोष्ठानं	(तू) ग्वालों की गोशाला में
गच्छ	जा।
द्यौः ते	द्युलोक तुझपर
वर्षतु	वर्षा करे।
सवितः देव	हे सृजनकर्ता देव!
परमस्यां पृथिव्यां	इसी असीम पृथ्वी में
शतेन पाशैः	सैकड़ों जालों से
बधान	(उसे) बाँध,
यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करता है (और)
यं च वयं	जिससे हम
द्विष्मः	द्वेष करते हैं।
अतः तं	उस स्थान से उसे
मा मौक्	मत छोड़ ॥ २६ ॥

दुष्ट-रहित हों सकल देव-पूजा के स्थल अब।
सज्जन हों संगठित हरें दुर्जन - बाधा सब ॥
देवोपासक सकल, भक्तगण सब आस्तिक जन।
संघबद्ध हो करें नास्तिकों का निष्कासन ॥
गोष्ठों में जा गोपालों को अभय करो नित।
दिव से तुमपर रहें कृपाघन प्रभु के वर्षित ॥
जो करते हैं द्वेष उन्हें पाशों से बाँधो।
हे द्युलोक! कर कृपावृष्टि नित मंगल साधो ॥
अरे दुरात्मन्! क्षत मत कर निज स्वर्गधाम तू।
प्रेय-श्रेय के हेतु न बन हे मूर्ख! वाम तू ॥
पर-पीड़न से कभी न है पाता सुख कोई।
दुष्कर्मों से तेरी स्वर्ग - महानिधि खोई ॥

तेरा द्रप्स[1] न करे स्वर्ग-पथ तेरा रोधित।
निज दुष्कर्मों से न बना अपना सुख कुंठित॥
यह द्युलोक है तेरे सकल सुखों का साधन।
निज दुष्कृति से उसे न कर तू विकृत दुरात्मन्॥
सावधान! मत बना मलिन जीवन की धारा।
निज दुष्कर्मों से न विरच तू अपनी कारा॥ २६ ॥

टि०—इस मंत्र में सज्जनों को आदेश दिया गया है कि वे संगठित हों। जो आस्तिक हैं, सज्जन हैं और भक्त हैं, वे संघबद्ध हों और अपने पूजा-स्थानों से दुर्जनों को दूर कर दें, उन्हें निष्कासित करें। दुर्जनों से कहा गया है, तुम लोग अपने अज्ञान के कारण दूसरों को पीड़ा देते हो। दूसरों के सुख की चिंता तुमको न हो, पर अपने लिए सुख की इच्छा तो करते ही हो। दूसरों को पीड़ा देकर तुम सुख नहीं पा सकते। दुष्कर्मों से, पर-पीड़न से तुम्हारा स्वर्ग तुमसे दूर होता जायेगा। दूसरों को सुखी बनाकर ही तुम सुखी हो सकते हो। स्वर्ग ही सब सुखों का घर है। तुम्हारे दुष्कर्मों से उसमें विकृति उत्पन्न होती है। दुष्कर्मों से तुम अपने ही सुख से वंचित हो जाते हो और ऐसी कारा रचते हो जिससे तुम्हारा छुटकारा कभी नहीं हो सकता। इस मंत्र में 'द्रप्स' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है जीवन-रस का प्रवाह। यह जीवन-रस का प्रवाह सबके भीतर है। सज्जन उसे ऊर्ध्वमुखी बनाकर द्युलोक प्राप्त करते हैं। दुष्कर्म करने वाले परपीड़क पापी उसे अधोमुखी बनाकर सदैव के लिए अपनी ऊर्ध्वगति को कुंठित और बाधित कर देते हैं। फलस्वरूप वे निरंतर कष्ट भोगते हैं। २६

गायत्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि[1] त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि[2] जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि[3]। सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि[4] स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॑ चास्यू॒॑र्जस्व॑ती॒ चासि॒ पय॑स्वती च॑॥ २७ ॥

हे पृथिवि	हे पृथ्वी (मातृभूमि),	त्रैष्टुभेन छन्दसा	तीन स्तवनों के छंद द्वारा
गायत्रेण छन्दसा	प्राणरक्षक गायत्री छंद द्वारा	त्वा परिगृह्णामि	मैं तुझे स्वीकार करता हूँ,
त्वा	तुझे	जागतेन छन्दसा	जगत् के छंद से
परिगृह्णामि	(मैं) ग्रहण करता हूँ।	त्वा	तुझे
		परिगृह्णामि	मैं स्वीकार करता हूँ।

१ जीवन का प्रवाह, जीवन की निगूढ़ अन्तर्चेतना का प्रवाह। यह ऊर्ध्वमुखी होकर स्वर्ग की ओर ले जाता है और अधोमुखी होकर पतन का कारण बनता है।

सुक्ष्मा च असि	(हे मातृभूमि !) तू बल देनेवाली है,
शिवा च असि	(तू) कल्याण करनेवाली है।
स्योना च असि	(तू) आनंददायक है।
सुषदा च असि	(तू) बैठने के लिए श्रेष्ठ स्थान देनेवाली है।
ऊर्जस्वती च असि	अन्न से युक्त है,
पयस्वती च	दुग्ध से अथवा पेय से युक्त
असि	है ॥ २७ ॥

हे पृथ्वी ! हे मातृभूमि ! हे राष्ट्रभूमि जय !।
गाता हूँ गायत्र छंद से यश तव अक्षय ॥
त्रिस्तवत्रैष्टुभ छंदों से मैं करता वंदन।
करता हूँ जगती छंदों से मैं आराधन ॥
प्राणों से भी अधिक मुझे प्रिय मातृभूमि तू।
प्रेय-श्रेय-दात्री धात्री है राष्ट्रभूमि तू ॥
तू ही मुझको सर्वभूत-हित-निरत बनाती।
वसुधा एक कुटुंब, भावना भव्य जगाती ॥
तेरे पूजन से होता जीवन मधु - छंदित[1]।
जीव, प्रकृति, परमेश्वर तीनों होते वंदित ॥
है प्रशस्ततम कर्म - मार्ग तेरा आराधन।
पूर्णकाम होते हैं तेरी सेवा से जन ॥
मातृभूमि ही शिवा[2] सतत आनंदप्रदात्री।
ऊर्जस्वती[3], श्यामला, सजला, पूजा-पात्री ॥ २७ ॥

टि०—हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना का आविर्भाव वैदिक काल में ही हो गया था, यह मंत्र इसका प्रमाण है। इसमें भाव-विभोर होकर राष्ट्रभूमि की और मातृभूमि की वंदना की गई है। इस मंत्र में प्रयुक्त 'छंद' शब्द अनेक अर्थों से मंडित है, जैसे इच्छा, आनन्द, इच्छापूर्वक व्यवहार या आचार, मनीषा, मुक्ति, कामना, स्वतंत्र इच्छा-शक्ति, अक्षर, छंद आदि। 'गायत्र' का अर्थ है प्राणों से प्राणों का रक्षण करना। मंत्र में मातृभूमि को संबोधित करते हुए कहा गया है कि मैं गायत्र छंद से तुमको स्वीकार करता हूँ, अर्थात् प्राण तक देकर तुम्हारी रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हूँ। 'त्रैष्टुभ' छंद वह है जिससे प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों की वंदना होती है। 'त्रैष्टुभ' छंद तीन स्तवनों का छंद है। इसके द्वारा मातृभूमि की वंदना करने का अर्थ है मैं तन, मन, धन किंवा शरीर, प्राण और आत्मा तीनों को अर्पित कर तेरी आराधना करता हूँ। जगती छंद में मातृभूमि की आराधना करने के भाव में समस्त जगत् का, सारे विश्व के

१ मधु से परिपूरित अथवा उल्लसित;   २ कल्याणी;   ३ अन्न से युक्त।

मंगल का भाव निहित है। यह राष्ट्रीयता की संकीर्ण भावना नहीं है। यह राष्ट्रीयता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पर्याय है। मातृभूमि की आराधना से बल, सुख, आनंद-स्थान, प्रेय-श्रेय आदि की प्राप्ति होती है, यह संकेत भी इस मंत्र में है। मातृभूमि अर्थात् राष्ट्रभूमि की भक्ति हम सबका सबसे बड़ा कर्तव्य है, यह आदेश इस मंत्र में दिया गया है। २७

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्।
यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते[१]।
प्रोक्षणीरासादय[२] द्विषतो वधोऽसि[३] ॥ २८ ॥

विरप्शिन् — हे विज्ञानयुक्त!
विसृपः क्रूरस्य पुरा — दोनों दलों के बीच युद्ध शुरु होने के पहले
यां जीवदानुं पृथिवीं — जिस जीवन-दात्री मातृभूमि के उद्धार के लिए
उदादाय — बुद्धिमान लोग उसके
धीरासः तां अनुदिश्य — उद्देश्य से ही
यजन्ते — आत्मयज्ञ करते हैं,
स्वधाभिः — ये उस भूमि को (मानो)
चन्द्रम ऐरयन् — अपनी धारक शक्तियों द्वारा चंद्र में प्रेरित करते हैं।
प्रोक्षणीः आसादय — शुद्ध करनेवाली को समीप रख।
द्विषतः वधः असि — द्वेष करनेवालों का वधकर्ता (तू) है ॥ २८ ॥

हे विज्ञानी पुरुष! बुद्धि को शुद्धिमयी कर।
तन, मन, वाणी और बुद्धि के दोष-दुरित हर ॥
मातृभूमि के शत्रु-व्यूह का तू संहारक!।
आत्म-यज्ञ के तपस्तेज का है तू धारक ॥
युद्धकाल के पूर्व जागरित रख जन-जीवन।
अये मनीषी! जन-जागृति का तूर्यनाद[१] बन ॥
हो जन-जन की स्वधा-शक्ति[२] का नित संवर्धन।
राष्ट्रभक्ति के श्रेय-प्रेय का बन तू साधन ॥
बना चन्द्रवत् ज्वलित ललित यह राष्ट्रभूमि तू।
कर उसके उद्धार-हेतु अर्पित जीवन तू! ॥
स्वधा-शक्ति संवर्धित होती रहे निरंतर।
ब्रह्म-यज्ञ से बने राष्ट्र यह सुदृढ़ बृहत्तर ॥ २८ ॥

---

१ तुरही की आवाज, जागरण के आह्वान की आवाज; २ निजी धारक शक्ति।

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि मातृभूमि की रक्षा और उद्धार के लिए कभी-कभी युद्ध करने ही पड़ते है। उस समय राष्ट्र की रक्षा के लिए विज्ञानी पुरुष—धीर, शूर-वीर, विद्वज्जन, आत्म-बलिदान करते हैं। किंतु शांति के समय में भी जब युद्ध नहीं हो रहा है, तब भी और युद्धों के पहले भी बुद्धिमान वीरों का आत्म-बलिदान-यज्ञ चला करता है। ये बुद्धिमान और मनीषी जनता को राष्ट्रभूमि के प्रति अपने कर्तव्य-पालन करने के लिए सचेत करते रहते है। यह मनीषियों का बौद्धिक यज्ञ है। यह युद्ध-कर्म से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। मनीषियों को ऐसे बौद्धिक और आध्यात्मिक कर्म करते रहना चाहिए, जिनसे प्रत्येक नागरिक की राष्ट्रीय चेतना जागरित रहे। नागरिक-गण ऐसी प्रेरणा प्राप्त करें कि जिनसे उनका जीवन पवित्र और शुद्ध बने। नागरिकों की पवित्र जीवन-समष्टि से ही राष्ट्रभूमि चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो सकती है। इस मंत्र में स्वधा शब्द का प्रयोग किया गया है, जो स्व+धा से बना है। 'स्वधा' वह स्वकीय धारक शक्ति है जिसके द्वारा अपने शरीर, समाज, राष्ट्र तथा निखिल विश्व को धारण किया जाता है। स्वधा धर्म का वैयक्तिक स्वरूप है। धर्म सबको धारण करता है, वह धर्म व्यक्ति में प्रकाशित होकर स्वधा कहा जा सकता है। राष्ट्र में इस स्वधा-भावना का संवर्धन करते रहना मनीषियों और बुद्धिजीवियों का कर्तव्य है। २८

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो[1]

निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः[2]।

अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि[3]।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो[4]

निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः[5]।

अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि[6]

॥ २९ ॥

रक्षः प्रत्युष्टम् राक्षस भूने जा रहे हैं।
अरातयः प्रत्युष्टाः अनुदार दग्ध हो गये हैं।
रक्षः निष्टप्तम् राक्षस ज्वाला से जल चुके हैं।
अरातयः निष्टप्ताः अनुदार लोग झुलस गये हैं।

उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि विस्तृत अंतरिक्ष में अनुकूलतापूर्वक मैं चला जाता हूँ।
अनिशितः सपत्नक्षित् असि तू शत्रु का नाश करनेवाला अतीक्ष्ण शस्त्र है,
त्वा वाजिनं (तू) बलवान है।
वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि बल के लिए तुझे मैं पवित्र करता हूँ।

रक्षः प्रत्युष्टम् राक्षस भूने जा चुके है।
अरातयः प्रत्युष्टाः अनुदार दग्ध हो गये हैं।
रक्षः निष्टप्तम् राक्षस जल चुके हैं।
अरातयः निष्टप्ताः अनुदार लोग ज्वाला में झुलस गये हैं।
उरु अन्तरिक्षं अंतरिक्ष में (मैं)
अन्वेमि अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूँ।
अनिशिता तीक्ष्णता-रहित
सपत्नक्षित् शत्रुनाशक तलवार
असि (तू) है।
त्वा वाजिनीं तुझ बल देनेवाले को
वाजेध्यायै सम्मार्जिम बल के लिए (मैं) पवित्र करता हूँ ॥ २९ ॥

राक्षसगण है दग्ध, दग्ध हैं कृपण, क्रूर सब।
जले सकल क्रव्याद[1] हुए अनुदार दग्ध सब ॥
तू अनिशित है, सौम्य प्रकृति का कारक धारक।
शान्त और मृदु, किंतु शत्रु-दल का संहारक ॥
बौद्धिक बल आत्मिक बल से है तू बलवत्तर[2]।
शत्रुंजय बन गया शत्रु-उर परिवर्तन कर ॥
शत्रु-संघ-छेदक तू अनिशित[3] असि है मानव।
शक्ति-हेतु मैं तुझे बनाता पावन नित नव ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में उस आदर्श स्थिति का निर्देश है जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-शक्ति जागृत हो जाती है, जब प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति से भरकर ज्ञान का निशित खड्ग बन जाता है। ऐसी आत्मिक पवित्रता और पूर्णता सिद्ध हो जाने पर वह स्थिति आ जाती है जिसका विवरण गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के लंकाकांड में विजय-रथ के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है—"महाअजय संसार रिपु जीति सकै सो वीर। जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ॥" उसी प्रकार इस मंत्र में बताया गया है कि आत्मशक्ति के प्रवुद्ध होते ही उसकी ज्वाला में राक्षस, अनुदार एवं समाज-विरोधी जन दग्ध हो जाते हैं। लोकमंगल का स्वयं अवतरण हो जाता है। इस मंत्र में मनुष्य को 'अनिशित असि' कहा गया है। इसका अर्थ है ऐसी तलवार जो तीक्ष्ण नहीं है। यह तलवार घाव नहीं करती, यह हृदय-परिवर्तन कर देती है। २९

अदि॑त्यै॒ रास्ना॑सि[1] विष्णो॑र्वे॒ष्पो॑ऽस्यू॒[2]र्जे त्वा॒[3]
ऽद॑ब्धेन त्वा॒ चक्षु॒षाव॑पश्यामि।
अ॒ग्नेर्जि॒ह्वासि॑ सु॒हूर्दे॒वेभ्यो॒ धाम्ने॑ धाम्ने मे भव॒ यजु॑षे यजु॑षे[4] ॥ ३० ॥

---

१ राक्षस, कच्चा मास खानेवाले; २ अधिक बलवान; ३ जो तीव्र या तीक्ष्ण नहीं है।

अदित्यै रास्ना असि	स्वतंत्रता के लिए तू मेखलावत् है।
विष्णोः वेष्पः असि	व्यापक परमात्मा का तू घर है।
ऊर्जे त्वा	अन्न और बल के लिए तुझे प्राप्त करता हूँ।
अदब्धेन चक्षुषा	न दबी हुई आँखों से
त्वा अवपश्यामि	तुझे देखता हूँ।
अग्नेः जिह्वा असि	(तू) अग्नि की जिह्वा है।
मे धाम्ने धाम्ने	मेरे घर-घर में
यजुषे यजुषे	प्रत्येक यज्ञ में
देवेभ्यः सुहूः भव:	(तू) देवों का भली भाँति आह्वानकर्ता बन ॥ ३० ॥

तुम विश्रुत स्वातंत्र्य - मेखला हो हे मानव ! ।
सर्वव्यापी विष्णु - वेष्प[1] हो तुम हे मानव ! ॥
सुकृती बनकर करो अन्न - बल ऊर्जा अर्जित ।
देखें सब अनिमेष तुम्हारी मुखश्री पुलकित ॥
तेज-ज्वलित शत ज्योतिवलित तुम पावक-रसना[2] ।
हे मानव ! तुम हो स्वतंत्रता की शुचि रशना[3] ॥
यज्ञ - यज्ञ में करो सुरों का तुम आवाहन ।
घर - घर में हों प्रकट देव पा वह आमंत्रण ॥ ३० ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को स्वतंत्रता देवी की मेखला कहा गया है। मनुष्य की महिमा का प्रतिपादन करनेवाली ऐसी वाणी वेद के अतिरिक्त और कहाँ सुलभ है ? इसके द्वारा यह कहा गया है कि प्रति मनुष्य के अन्तःकरण चतुष्टय की पवित्रता द्वारा स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा जा सकता है। यदि मनुष्य के मन, बुद्धि, कर्म, आचार-व्यवहार अपवित्र हैं, भ्रष्ट हैं, तो राष्ट्र की स्वतंत्रता का संकटग्रस्त हो जाना अवश्यंभावी है। मनुष्य यह समझकर अपने को निरंतर शुद्ध और पवित्र रखे कि वह सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु का 'वेष्प' अर्थात् घर है। मानव ! तू ऐसा बन कि लोग तुझसे अन्न प्राप्त कर सकें, बल प्राप्त करें। इतना ही नहीं, तू अग्नि की जिह्वा है, तू अपनी वाणी से सर्वत्र ज्ञान की ज्योति उद्भासित कर। इस मंत्र में जिह्वा का अर्थ है, भाषा, विद्वत्ता, भाषण करने की क्षमता आदि। तू अपनी तेजस्वितापूर्ण वाणी से यज्ञों में देवताओं का आवाहन करता रह। ३०

---

१ घर; २ अग्नि जिसकी जीभ हो, ३ करधनी।

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च ।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंहाः ॥ ८० ॥

शुक्रज्योतिः	शुद्ध तेजयुक्त	च शुक्रः	और दीप्यमान
च चित्रज्योतिः	और विचित्र विचित्र ज्योतियों से युक्त	च ऋतपाः	और ऋत की रक्षा करनेवाले
च सत्यज्योतिः	और सत्यप्रकाश से युक्त	च अत्यंहाः	और पापों से रहित मरुद्गण हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८० ॥
च ज्योतिष्मान्	और तेजस्वी		

यह यज्ञ हमारा सम्यक् यहाँ अनुष्ठित ।
सब मरुत् पधारें, हों वे यहाँ प्रतिष्ठित ॥
वे शुद्ध तेजसंपन्न देव हैं अनुपम ।
हैं दर्शनीय बहु ज्योतिवलित[1] चित्रोपम[2] ॥
है ब्रह्मलक्षणा सत्यज्योति से पूरित ।
रहते हैं अक्षय दिव्य ज्योति से मंडित ॥
ऋत, सत्य, यज्ञ की रक्षा में रत अविरत ।
रहते पापों से रहित मरुद्गण संतत ॥
वे मरुत् देवगण यज्ञस्थल में आवें ।
ऋतुकर्म हमारा सफल करें हवि पावें ॥ ८० ॥

टि०—मरुद्गण वेदों के बहुत महत्त्वपूर्ण देवता है। उनकी संख्या, ऋग्वेद में १८० तक बताई गई है। कहीं कहीं उन्हें २१ भी कहा गया है। पुराणों में उनकी संख्या ४ हो गई है। इस मन्त्र में मरुतों को सबसे पहले शुद्ध तेजयुक्त कहा गया है। वे ऋग्वेद में अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी बताये गये है। वे बड़े स्वरूपवान और दर्शनीय हैं। वे ब्रह्मलक्षणा शाश्वत सत्यज्योति से परिपूरित हैं और परम निष्पाप हैं। हनुमान जी को मारुतसुत अर्थात् मरुत्पुत्र कहा गया है। इस मन्त्र में मरुतों के लिए निर्दिष्ट सब गुणगण और लक्षण हनुमान जी पर घटित होते हैं। उनके मरुत्-पुत्र होने का अर्थ है मरुतों के सब दिव्य गुणों का अधिष्ठान, उनका विग्रह है। ८०

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च ।
मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ ८१ ॥

---

१ प्रकाश से भरे हुए; २ चित्र जैसे मनोहारी अथवा विचित्र ।

सप्त ऋषय:	तुम्हारे सात द्रष्टा ऋषि है,	सप्त योनीः	सात चितियाँ तुम्हारे जन्मस्थान हैं।
सप्त प्रियाणि	सात प्रिय	घृतेन आ पृणस्व	घृत के द्वारा उन्हें तुम पूर्ण करो।
धाम	धाम है,	स्वाहा	यह आहुति भली प्रकार ग्रहण करो ॥ ७९ ॥
सप्त होत्रा	सात होता		
सप्तधा	सात प्रकारों से		
त्वा यजन्ति	तुम्हारा यजन करते हैं,		

हे अग्ने ! हैं समिधाएँ सात तुम्हारी।
ज्वाला-रूपी जिह्वाएँ सात तुम्हारी ॥
द्रष्टा[1] मरीचि आदिक ऋषि सात तुम्हारे।
प्रिय सप्तधाम[2] गायत्री आदि तुम्हारे ॥
सत्पात्र विप्र होता[3] हैं सात तुम्हारे।
सप्तविध यजन करते जो हेतु तुम्हारे ॥
चिति सप्त तुम्हारा जन्म-स्थान है सुविदित।
घृत-आहुतियों से सदा रहो आपूरित ॥
घृत-आहुतियाँ ये ग्रहण करो तुम स्वाहा।
सम्यक् गृहीत हों हवियाँ मेरी स्वाहा ॥ ७९ ॥

टि०—जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, अग्नि वेदों में एक अत्यन्त प्रमुख देवता है। उनके पार्थिव, वायव्य, दिव्य आदि अनेक रूप है। उनके तीन भ्राता भी कहे गये है। बृहद्देवता में उनके पाँच भाई बताये गये है। इस मंत्र में उनके व्यक्तित्व और ऐश्वर्य को सात के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। अग्नि को सात प्रकार की समिधाएँ प्रिय है। समिधा का अर्थ प्राण भी है—'प्राणों वै समिधा···'। सप्त प्राण ही सात समिधाएँ है। ये ही घट-घट में अग्नि को प्रदीप्त रखते है। उनकी सात जिह्वाएँ है— काली, कराली च मनोजवा च विलोहिता चापि सा धूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा।' ये नाम मुंडक के अनुसार है। आगमोक्त नाम कुछ भिन्न है। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ सात ऋषि हैं। गायत्री आदि सात वैदिक छन्द अग्नि के सात धाम है। अग्नि के सात होता अर्थात् ऋत्विज् है जो सात प्रकार से यज्ञविधान करते है। वे सात प्रकार है— अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडश, अतिरात्र, आप्तयाम और वाजपेय। सात चितियाँ उनका उत्पत्तिस्थान है, जिनको घृत से आपूरित रहना चाहिए। ७९

---

१ मानसिक रूप से मन्त्रतत्त्व और ईश्वरतत्त्व को देखनेवाले; २ गायत्री आदि सात छन्द; ३ यजमान और ऋत्विज्।

ऋतः च सत्यः	ऋत और सत्य स्वरूप	च विधारयः	और विविध प्रकारों से धारण करनेवाले (मरुद्‌गण हमारे यज्ञ में आकर हवि ग्रहण करें) ॥ ८२ ॥
च ध्रुवः	और स्थिर		
च धरुणः	और धारण करनेवाले		
च धर्ता	और धारक		
च वि धर्ता	और विशेष धारण करनेवाले		

मरुद्‌गण आवें हमारे यज्ञ में।
ग्रहण वे आहुति करें इस यज्ञ में॥
है मरुद्‌गण का प्रथित ऋत[1]-सत्य-रूप।
धरुण[2] हैं, ध्रुव हैं, सदा ज्योतिःस्वरूप॥
धर्म के धारक सदा ही वे महान।
धारणा उनकी विशेष महार्थवान॥
विविध विधि से विश्व-धारण में समर्थ।
वे पधारे मरुत्, आहुति सजी उनके अर्थ॥ ८२॥

टि०—इस मंत्र में भी मरुतों के स्वरूप और महिमा का गान करते हुए उन्हें यज्ञ में बुलाया गया है। वे ऋत और सत्यरूप हैं। वे स्थायी रूप से अनेक प्रकार धर्म और धरा को धारण करने में समर्थ है। ८२

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च ।
अन्तिमित्रश्च दूरे अमित्रश्च गणः ॥ ८३ ॥

ऋतजित् च	ऋत को जीतनेवाले और	च दूरे अमित्रः	और शत्रु को दूर हटानेवाले
सत्यजित्	सत्य की विजय के लिए कृतसंकल्प	च गणः	और गणों के रूप में रहनेवाले मरुद्‌गणों को (आहुति अर्पित है) ॥ ८३ ॥
च सेनजित्	और रिपुओं की सेना को जीतनेवाले		
च सुषेणः	और श्रेष्ठ सेनावाले,		
च अन्तिमित्रः	समीप में मित्ररूप		

१ सत्यरूप, यज्ञ मे अपने ही अंश के पुरोड़ाश का प्राशन करनेवाले; २ धारण करनेवाले।

ईदृङ् च	इस यज्ञ को एक ओर से देखनेवाले और
अन्यादृङ्	दूसरे अन्न की आहुतियों को रखनेवाले
च सदृङ्	और एक ही रीति से देखनेवाले
च प्रतिसदृङ्	और उसकी ओर समान भाव से दृष्टिपात करनेवाले
च मितः	और आदर को प्राप्त
च सम्मितः	और एकीभाव से सम्मिलित होनेवाले
च सभराः	और समान आयुध धारण करनेवाले मरुद्गण हमारे यज्ञ में पदार्पण करें ॥ ८१ ॥

मरुद्गण आवें हमारे यज्ञ में।
करें संरक्षण हमारा यज्ञ में॥
देखते इस यज्ञ को जो एक ओर।
देखते जो अन्न-हवि का अपर[1] छोर॥
दृष्टि इसके प्रति सदा जिनकी समान।
और जिनका भाव इसके प्रति समान॥
प्राप्त हैं सम्मान को जो सर्वदैव[2]।
मिले एकीभाव से समुचित सदैव॥
किये आयुध एक-से धारण सकल।
मरुद्गण आवें, हमें दें सिद्धिफल॥ ८१ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मन्त्र की तरह इस मन्त्र में भी मरुद्गणों का आवाहन किया गया है। सब मरुद्गण समवयस्क है, इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं। इनका जन्मस्थान और आवास भी एक है। वे एक ही तरह के शस्त्रास्त्र धारण करते है। यज्ञ के प्रति इनकी दृष्टि और भाव समान है। ये लोग परस्पर सौहार्द के सूत्र में बँधे रहते है। ये लोग सभी ओर से यज्ञ को देखते हैं, अन्न की आहुतियाँ ग्रहण करते हैं, समानरूप से सम्मान के अधिकारी हैं। ऐसे मरुद्गण इस यज्ञ में आकर इसे सफल बनावें। ८१

ऋतश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च ।
ध॒र्ता च॑ वि॒ध॒र्ता च॑ विधा॒र॒यः ॥ ८२ ॥

---

१ दूसरा; २ सदा ही।

मरुतो ! इस यज्ञ में हमारे आओ।
इस यज्ञ मे हमारे आज मरुद्गण आओ ॥
एतद्दर्शन[1] और इदंदर्शन[2] हो तुम सब।
प्रतिसमानदर्शन[3] समानदर्शन[4] हो तुम सब ॥
हो प्रमाण से युक्त सम्मिलित कर्मनिरत तुम।
धारण करते हो समान आभरण[5] सदा तुम ॥
करो हमें कृतकृत्य मरुद्गण ऋतु में आकर।
हमको करो प्रदान सिद्धि यह आहुति पाकर ॥ ८४ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मन्त्रों में मरुद्गणों के जो गुण बताये गये हैं, उनका पुनर्कथन-सा करते हुए इस मन्त्र में मरुतों का यज्ञ मे आवाहन किया गया है। वे इन लक्षणों से युक्त हैं और पहले कहे हुओं के सदृश है। वे पक्षपात को छोड़कर समान दृष्टि वाले और शास्त्रों को पढ़े हुए सत्य बोलनेवाले है। वे प्रमाण से जाने जाते है और एक साथ मिलकर काम करते है। वे एक जैसे अलंकार धारण करते हैं। मरुद्गणों के पधारने से हमारा यह यज्ञ सफल होगा, वे आकर आहुति स्वीकार करें। इन मरुतों की सैनिक वेशभूषा और सैनिक एकरूपव्यवहार का इस मंत्र में निर्देश है। राष्ट्र की सेनाएँ मरुतों जैसी हों। ८४

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ८५ ॥

स्वतवान्	स्वयं बलशाली	च क्रीडी	और क्रीड़ाप्रिय
च प्रघासी	और सुख से अन्न भक्षण करनेवाले	च शाकी	और शक्तिमान
च सान्तपनः	और उत्तम रूप से तप करनेवाले	च उज्जेषी	और उत्कृष्ट जयशील (मरुद्गण) आक्रमण करें) ॥ ८५ ॥
च गृहमेधी	और गृहस्थ-धर्म कापालन करनेवाले		

जो निज के बल से हैं अनन्त बलशाली।
निज पुरोड़ाश[6] के अदन हेतु रुचिशाली ॥

१ पहले कहे जैसा व्यवहार करते दिखाई पड़नेवाले; २ समान वेश-भूषा आदि गुणों से युक्त; ३ दूसरो को समान दिखाई पड़नेवाले; ४ परस्पर समान दिखाई पड़नेवाले; ५ गहना; ६ यज्ञ के हेतु चावल पीसकर बनाई गई आहुति।

मरुद्गण पधारें आहुति यह उनको अर्पित।
वे ऋत के जेता हैं और सत्य-जेता सुविदित॥
वे उत्तम सेना वाले हैं परसैन्यजयी[1]।
हैं मित्ररूप से निकट सदा वे शत्रुजयी॥
वे हैं अमित्रगण को करते कर दलित दूर।
गणशः[2] रहते सर्वत्र अन्यतम महाशूर॥
है ऐसे मरुद्गणों को यह आहुति अर्पित।
यज्ञ में पधारें, स्वीकारें वे यह हवि नित॥ ८३॥

टि०—इस मन्त्र में महावीर मरुद्गणों का वर्णन है। इनको ऋत के जेता और सत्य के जेता कहा गया है। वे सरलता से सत्य के पक्ष में स्थित रहकर विजय प्राप्त करते हैं। सदा धर्म का पक्ष लेते हैं। उत्तम सेना उनके पास है। वे मित्ररूप से निकट रहते हैं। वे शत्रु को मारकर दूर भगा देते हैं। आदर्श वीर के सभी गुण उनमें हैं। ८३

ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः
सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य
सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्॥ ८४॥

मरुतः	हे मरुद्गणो!	च सम्मितासः	और सम्मिलित होकर कार्य करनेवाले हो,
ईदृक्षासः उ	(तुम) ऐसे हो और	सभरसः	और अलंकार को धारण करनेवाले हो।
एतादृक्षासः	इस प्रकार देखनेवाले हो,	अद्य नः	आज हमारे
सदृक्षासः	और भली प्रकार तुम समान देखनेवाले हो,	अस्मिन यज्ञे	इस यज्ञ में
च प्रतिसदृक्षासः	और प्रत्येक को समान जैसा दिखाई पड़नेवाले हो,	एतन	आगमन करो॥ ८४॥
न मितासः	एक समान रहन-सहन वाले		

१ शत्रु की सेना को जीतनेवाले;　२ समूह में।

करते रहें सदा अनुवर्तन[1] वे सब इस यजमान का।
करें सदा अनुगमन[2] प्रीति से याजक कृती महान का॥ ८६॥

टि०—इस मन्त्र में यजमान के लिए प्रार्थना की गई है। मरुद्गण देवलोक की प्रजाएँ है। वे जैसे इन्द्र का अनुशासनबद्ध अनुगमन करते हैं, उसी तरह देवलोक की प्रजा मरुद्गण तथा इस लोक की प्रजा सब मनुष्य इस यजन के अनुकूल रहें। ८६

इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व॥ ८७॥

अग्ने	हे अग्नि !	अर्वन्	हे सबके आगे गमनशील अग्ने !
सरिरस्य मध्ये	जल के मध्य में वर्तमान	मधुमन्तं	मधुर स्वाद से परिपूर्ण
इयं ऊर्जस्वन्तं	इस विशिष्ट रस से युक्त	उत्सं	उसके उद्गम-स्थान स्रुक् का
अपां प्रपीनं	घृत से परिपुष्ट एवं भरे हुए	जुषस्व	सेवन करो।
स्तनं धय	स्रुक्रूप स्तन का पान करो।	समुद्रियं	समुद्र के समान
		सदनं आ विशस्व	इस यज्ञगृह में प्रवेश करो॥ ८७॥

घृतपूरित हे अग्नि ! सलिल के मध्य विराजित।
घृतधारा झरती है स्रुक्-स्तन[3] से अविरत॥
पान करो उससे झरती यह पयोधार[4] तुम।
यह विशिष्ट मधुमंत[5] पियो घृतधार देव ! तुम॥
सबके आगे गमनशील हो विश्वविदित नित।
इस समुद्र-से यज्ञ-सदन में रहो उपस्थित॥ ८७॥

टि०—यह विशिष्टतायुक्त विविध अर्थों वाले शब्दों से युक्त मंत्र है। सबसे पहले कहा गया है, अग्नि 'सरिर' या 'सलिल' में विराजमान रहें। 'इमे वै लोकाः सरिरम्।' ये लोक सलिल हैं, यह श्रुति है। आगे 'समुद्रियं सदनं' में प्रवेश करने के लिए कहा गया है। तीन समुद्र कहे गये हैं— 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्।' यज्ञभवन में ये तीनों हैं। अग्निदेव यहाँ आकर विराजें। वे स्रुक्-रूपी स्तन से मधुमयी घृत की धारा का पान करें। ८७

---

१ पीछे चलना अर्थात् आज्ञापालन करना; २ अनुसरण; ३ स्रुचारूप स्तन; ४ स्रुचा-रूप स्तन से झरनेवाली घृतधारा ही दूध की धारा है; ५ मधुर।

परमोत्तम तप में रहते जो रत अविरत।
करते हैं अरिगण को संतापित संतत॥
गृहधर्म सदा जो विधिवत् पालन करते।
रहकर नित क्रीड़ाशील[1] दुःख-भय हरते॥
जो शक्तिमान है और श्रेष्ठ जयशाली।
आवें इस ऋतु में मरुत् सकल यशशाली॥
यज्ञ में मरुद्गण सकल यशस्वी आवें।
चरु[2] ग्रहण करें, सादर आहुतियाँ पावें॥ ८५॥

टि०—इस मंत्र में भी मरुद्गणों के गुणों का गान करते हुए अपने यज्ञ में आने के लिए उनका आह्वान किया गया है। मरुत् अपने ही बल से बलशाली हैं, यज्ञ में अपने भाग का पुरोडाश भक्षण करने में उनकी रुचि है, वे सदैव तपस्या में लगे रहते हैं। पापी शत्रुओं को संतप्त करते हैं। गृहस्थ-धर्म के शास्त्रविहित आचार का पालन करते है। विनोदी और क्रीड़ाशील उनका स्वभाव है। वे जहाँ रहते है, वहाँ दुःख और भय दूर कर देते है। वे बड़े शक्तिमान और विजयशील के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऐसे मरुद्गण हमारे यज्ञ में पधारें। ८५

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं
दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो
मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु॥ ८६॥

यथा	जिस प्रकार	च मानुषीः	और मनुष्यलोक की
दैवीः	दिव्य शक्ति से पूर्ण		
मरुतः	मरुद्गण	विशः	प्रजाएँ
विशः इन्द्रं	इन्द्र के	इमं यजमानं	इस यजमान के लिए
अनुवर्तमानः	अनुगामी हुए		
अभवन	है,	अनुवर्तमानाः	अनुकूल
एवं	उसी प्रकार	भवन्तु	हों जाएं॥ ८६॥
दैवीः च	देवलोक की		

दैवी प्रजास्वरूप महाबलवान मरुद्गण।
करते हैं जिस भाँति इन्द्र का सदा अनुगमन॥
उसी भाँति दिव के धरती के सकल प्रजाजन।
मरुत् आदि सब देव और ये सब मानवगण॥

---
१ विनोद-प्रिय; २ खीर।

तृप्त हों। हम पर अभिमत फलों की वर्षा करें, हमारे द्वारा अर्पित हवियाँ देवताओं को प्राप्त करायें। ८८

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा
देवानाममृतस्य नाभिः[3] ॥ ८९ ॥

मधुमान् ऊर्मिः	अत्यन्त मधुमयी मधुर रस की तरंग	यत् तस्य	जो उसका
समुद्रात्	घृत के समुद्र से	गुह्यं नाम	गुप्त नाम श्रुति में सांकेतिक है,
उदारत्	उठती हुई	देवानां जिह्वा	वही देवताओं की जीभ
अंशुना सं	अग्नि की ज्वालाओं से एकीकृत होकर	अमृतस्य	और अमृत को
अमृतत्वं उपानट्	अमृतत्व को प्राप्त होती है।	नाभिः अस्ति	नाभि है ॥ ८९ ॥

घृत के समुद्र से उठती है रसमय तरंग।
अमृतत्त्व प्राप्त करती है वह अग्नि के संग॥
इस विश्वप्राण[1] अग्नि के साथ हो एकप्राण।
घृत की तरंग वह बन जाती है अम्रियमाण[2]॥
उस घृत का गुप्त नाम अति जो है श्रुतिवर्णित।
वह 'अमृतनाभि[3]' 'देवों की जिह्वा' यहाँ कथित॥
कल्लोलवती[4] घृत के समुद्र की वह तरंग।
है अमृतरूप धारण करती अग्नि के संग॥ ८९॥

टि०—इस मंत्र मे यज्ञ मे अर्पित घृत की धारा की स्तुति की गई है। यह घृतधारा घृत की अक्षीयमाण समुद्र जैसी महाराशि की एक तरंग है। वह अग्नि को प्राप्त होकर अमृतमयी हो जाती है। घृत के जो श्रुति में कथित नाम हैं, वे अविद्वानों को ज्ञात नहीं हैं, वे है 'अमृतनाभि' और 'देवों की जिह्वा'। ८९

---

१ जगत्-प्राणस्वरूप; २ अमर; ३ अमरण-धर्मा, घृतसेवी दीर्घायु होता है; ४ उफनाती हुई।

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते
श्रितो घृतम्वस्य धाम ।
अनुष्वधमा वह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

घृतं	घृत को
मिमिक्षे	मैं अग्नि के मुख में डालने की इच्छा करता हूँ।
घृतं अस्य योनिः	घृत इस अग्नि का जन्मस्थान है।
घृते श्रितः	यह घृत का आश्रित है।
घृतं उ	घृत ही
अस्य धाम	इसका घर है।
अनुष्वधं	(हे अध्वर्यु !) हवि-संस्कार करने के पश्चात् अग्नि का
आ वह मादयस्व	आवाहन करो (और) उसे प्रसन्न करके कहो,
वृषभ	हे कामनापूर्ति की वर्षा करनेवाले !
स्वाहा कृतं	स्वाहाकार के साथ अर्पित
हव्यं वक्षि	हवि को देवताओं को प्राप्त कराओ ॥ ८८ ॥

इच्छा है मेरी भक्तिभाव से प्रेरित।
नित करूँ आज्य[1] मैं अग्निदेव को अर्पित ॥
हैं अग्निदेव ये घृत के रहते आश्रित।
यह घृत ही है आवास अग्नि का सुविदित ॥
अध्वर्यु[2] ! करो हवि तुम विधि से संस्कारित।
कर आवाहन अग्नि को करो संतर्पित[3] ॥
फिर कहो, वृषभ[4] हे ! सकल कामदाता हे ! ।
अभिमत फलचय के वर्षक वरदाता हे ! ॥
'स्वाहा', 'स्वाहा' कह करते हवि अर्पित हम।
देवों को प्राप्त कराओ उसे अग्नि ! तुम ॥ ८८ ॥

टि०—यजमान कहता है, मैं अग्निदेव के मुख में घृतधारा अर्पित करना चाहता हूँ, क्योंकि वह घृत उनका उत्पत्तिस्थान और निवास-स्थान है। वे घृत पर आश्रित हैं। हे पुरोहित ! हवि का संस्कार करो, मैं उन्हें श्रद्धासहित अर्पित करूँ। अग्निदेव

---

१ घी; २ पुरोहित या ऋत्विज्; ३ तृप्त; ४ कामनाओं के वरसानेवाले।

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि
धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥३१॥

[अध्यायः १; कण्डिका: ३१, मंत्र-संख्या १३७]

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

सवितुः प्रसवे त्वा	सृजनकर्ता देव की इस सृष्टि में तुझको
अच्छिद्रेण पवित्रेण	छिद्र-रहित शुद्धता करनेवाले साधन के द्वारा,
सूर्यस्य रश्मिभिः	सूर्य-किरणों द्वारा भली भाँति (मैं)
उत्पुनामि	पवित्र करता हूँ।
सवितुः प्रसवे	सृजनकर्ता की सृष्टि में
वः	तुझे
अच्छिद्रेण	छिद्र-रहित
पवित्रेण	शुद्धता के साधन से,
सूर्यस्य रश्मिभिः	सूर्य की किरणों द्वारा (मैं)
उत्पुनामि	पवित्र करता हूँ।
तेजः असि	(तू) तेज है,
शुक्रं असि	(तू) वीर्य है,
अमृतं असि	(तू) अमृत है,
धाम नाम असि	(तू) स्थान तथा यश है,
देवानां प्रियं	(तू) देवों को प्रिय है
अनाधृष्टं देवयजनं	न दब जानेवाला यजन
असि	है ॥ ३१ ॥

तू प्रशस्ततम कर्मो का कर अनुष्ठान नर ! ।
सर्जक परमात्मा की रचना है यह शुचितर ॥
"छिद्र-रहित पावित्र्य - साधनों का संयोजन ।
करता, तेरे लिए लुटाता सूर्य - किरण - धन ॥
तुझको बहिरंतर पवित्र रवि - किरण बनाती ।
तेरे भीतर देव - यज्ञ चेतना जगाती ॥

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्
यज्ञे धारयामा नमोभिः ।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं
चतुःशृङ्गोऽवमीद्गौर एतत् ॥ ९० ॥

वयं	हम	शस्यमानस्य	स्तोत्रों द्वारा प्रशंसित घृत के नाम को
अस्मिन् यज्ञे	इस यज्ञ में		
घृतस्य नाम	घृत के नाम का		
प्रब्रवाम	उच्चारण करते है, और	उपशृण्वत्	सुनो ।
नमोभिः	(यज्ञोंको) अन्नों के द्वारा	चतुःशृङ्गः	चार सींग अर्थात् चार होतादियुक्त
		गौरः	गौरवर्ण
धारयामः	धारण करते हैं ।	एतत्	यह घृत
ब्रह्मा	हे ब्रह्मा नाम वाले ऋत्विज् !	अवमीत्	यज्ञफल को आहुति से प्रकट करता है ॥ ९० ॥

इस ऋतु में हम करते हैं घृत-नामोच्चारण ।
अन्नों के द्वारा करते हैं इसका धारण ॥
हे ब्रह्मा ! सुनो नाम घृत के तुम स्तूयमान[1] ।
यह चतुःशृंग[2] है गौरवर्ण अतिशय महान ॥
इसके द्वारा होते है प्राप्त यज्ञ के फल ।
आहुति के द्वारा होते जो व्यंजित[3] अविकल ॥ ९० ॥

टि०—इस मन्त्र में भी घृत की स्तुति की गई है । यज्ञ में घृत के नामों का उच्चारण कर उसकी स्तुति की जाती है । वह गौरवर्ण है । उसका नाम चतुःशृंग भी है, क्योंकि यज्ञ में चार ऋत्विज होते है । यह आहुतियों के रूप में यज्ञ के फल को प्रकट करता है । ९०

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो
देवो मर्त्याँ२ आ विवेश ॥ ९१ ॥

१ स्तवन किये जाते हुए; २ चार सीगों वाला, —ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु; ३ प्रकट ।

अस्य	इस यज्ञ के	त्रिधा बद्धः	प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन इन तीन प्रकारों सेवह वँधा है,
चत्वारि शृङ्गाण	(ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु,) ये चार शृंग हैं	वृषभः रोरवीति	यह वलवान महान शव्द करता है।
त्रयः पादाः	(ऋक्, यजुः और साम) ये तीन चरण हैं,	महादेवः	यह अतिशय पूजनीय देव है।
द्वे शीर्षे	(हविर्धान और प्रवर्ग्य) दो शिर हैं।	मर्त्यान् आ विवेश	मर्त्यलोक में वह स्थित है ॥ ९१ ॥
अस्य	इसके		
सप्त हस्तासः	सात हाथ हैं।		

यह यज्ञ हमारा चतुःशृंग है वृषभ महत्।
होता, उद्गाता, ब्रह्मा, ऋत्विज् शृंग कथित ॥
ऋक्, यजुः, साम हैं इसके तीन चरण वंदित।
है हविर्धान प्रवर्ग्य इसके दो शीश प्रथित ॥
हैं सप्त छन्द ही हाथ सात इसके मनहर।
प्रातः, माध्यन्दिन, सायं सवन-बद्ध भयहर ॥
बलवान महा यह वृषभ[1] शब्द करता महान।
इस धरती पर पूजार्ह देव यह महीयान ॥ ९१ ॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ का स्तवन किया गया है। उसे मनुष्यलोक में सर्वाधिक पूजनीय देवता कहा गया है। इसके स्वरूप का निरूपण वृषभ के रूपक द्वारा किया गया है। इस यज्ञरूप वृषभ के चार सींग हैं— ब्रह्मा, उद्गाता, होता, ऋत्विज्। ऋक्, यजुः, साम ये तीन चरण हैं। हविर्धान और प्रवर्ग्य-ये दो शिर हैं। सात छंद सात हाथ हैं। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के सवनों की रस्सी से यह बंधा है। स्वाहा का शक्तिशाली उच्चारण इसका गर्जन है। ९१

त्रिधा हि॒तं प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नं
गवि॑ दे॒वासो॑ घृ॒तमन्व॑विन्दन्।
इन्द्र॒ एकँ॒ सूर्य॒ एकं॑ जजान
वे॒नादेकँ॑ स्व॒धया॒ निष्ट॑तक्षुः[1] ॥ ९२ ॥

---

१ बैल।

त्रिधा हितं	तीन प्रकारों से लोकों में हितकारी रूप में स्थित,	एकं	(उसके) एक भाग को
पणिभिः गुह्यमानं	असुरों से छिपाये हुए	इन्द्रः जजान	इन्द्र ने प्रकट किया,
घृतं	(यज्ञ के आधारभूत) घृत को	एकं सूर्यः	एक भाग को सूर्य ने प्रकट किया,(और)
देवासः	देवों ने	एकं वेनात्	एक भाग यज्ञ-साधनभूत अग्नि से
गवि	गौ से	स्वधया	आहुति-रूप से
अनु अविन्दन्	प्राप्त किया।	निष्टतक्षुः	प्राप्त किया गया ॥ ९२ ॥

गो-घृत ही है सब यज्ञों का आधार परम।
असुरों के हित सर्वदा रहा यह गुह्य चरम ॥
था किया इन्द्र ने एक भाग इसका प्रकटित।
फिर किया सूर्य ने भाग दूसरा उद्घाटित ॥
फिर अग्नि यज्ञ की साधनभूता महाभाग।
उससे प्रकटाया द्विजगण ने तीसरा भाग ॥
जो परम चरम है ज्ञान वही घृत है महान।
इन्द्रिय-मंथन परिशोधन से वह प्राप्तवान ॥
इन्द्रियगण के स्वामी हृषीकपति इन्द्रदेव।
उनके अधीन विज्ञान-ज्ञान सब हैं सदैव ॥
वे ही प्रकटाते ज्ञान, सूर्य करते प्रकाश।
यज्ञों में देते अग्नि द्विजों को सहोल्लास[1] ॥ ९२ ॥

टि०—यह बड़ा रहस्यमय मंत्र है। इस मंत्र में अर्थ का विनियोजन कुछ कूटशैली में किया गया है। स्थूल रूप में इसका आशय है, गाय का घी सब यज्ञों का आधार है। यह असुरों को प्राप्य नहीं है। देवता इस घृत को गाय से पाते हैं। इसका एक भाग इन्द्र प्रकट करते हैं, दूसरा सूर्य और तीसरा अग्नि से द्विजगण प्राप्त करते हैं। यहाँ घृत का अर्थ परम चरम ब्रह्मज्ञान है, जिसको पाकर सब कुछ मिल जाता है। नचिकेता आदि ने सब कुछ त्यागकर इसको पाना चाहा। गो का अर्थ इन्द्रियाँ है। इन्द्रियों की ओट में जो उनके स्वामी इन्द्र अर्थात् हृषीकों के स्वामी हृषीकेश छिपे हुए हैं, वही इन्द्र पहले इस ज्ञान को प्रकट करते है। प्रकट तब करते है जब इन्द्रियों का मंथन और परिशोधन हो जाता है। फिर सूर्य जैसे अधिकारी गुरुजन इसे प्रकाशित करते हैं, और यज्ञों के अवसर पर आयोजित ज्ञानसत्रों में इस ज्ञान को अधिकारी द्विजगणों द्वारा सत्पात्रों को वितरित किया जाता है। यहाँ द्विज शब्द का अर्थ जातिवाची नहीं है।

---

१ प्रसन्नता के साथ।

यह अपने अहं को मिटाकर साधना द्वारा ममता का मूल जलाकर नवीन चिन्मय जीवन प्राप्त करनेवालों का निर्देशक है। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञानदीपक रूपक में इस ज्ञान-घृत का स्वरूप निरूपण किया है— "सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरिकृपा हृदयँ बस आई।" उसके दूध को जमाकर दही बनाया जाए, उससे विमल विराग-रूप मक्खन निकाला जाए और उससे घी बनाया जाए। कैसे? यह गोस्वामी जी बताते हैं— "जोग अगिनि करि प्रकट तब कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावै ज्ञानघृत ममता मल जरि जाइ॥ तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥" वस्तुतः गोस्वामी जी ने वेद में वर्णित घृत-तत्त्व को ही मानस में ज्ञानदीपक रूपक द्वारा प्रकाशित किया है। ९२

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो
वेतसो मध्य आसाम्॥ ९३॥

एताः	ये	आसां मध्ये	इनके बीच में
शतव्रजाः	सैकड़ों गति वाली	हिरण्ययो	तेजस्वी
घृतस्य धाराः	घी की धाराएँ,	वेतसः	अतिसुन्दर अग्नि-देव को
हृद्यात् समुद्रात्	हृदय-रूपी समुद्र से	अभि चाकशीमि	मैं सब ओर से देखता हूँ॥ ९३॥
अर्षन्ति	निकलती है,		
रिपुणा	शत्रु से		
न अवचक्षे	खंडित नहीं होती है।		

श्रद्धा के पय से परिपूरित हृदय-सिंधु निःसीम हमारा।
उत्थित[1] है कल्लोलमयी गतिमयी असंख्यक चिति[2] की धारा॥
शत-शत शिवसंकल्पमय ऊर्मियाँ ज्ञान-घृत की है ऊर्जित।
निखिल शास्त्रसम्मत वाणी की अभिव्यक्ति बनतीं ये ही नित॥
नास्तिक यज्ञविरोधी इनका कर पाते प्रतिवाद[3] न किंचित्।
कर अज्ञान-तिमिर का निरसन[4] रहती हैं ये सदा अखंडित॥
इनके ज्योति-सौध[5] में शोभित हैं हिरण्यमय अग्नि महाप्रभु[6]।
वाणी की शुचि घृतधाराओं से अभिषेकित[7] हैं अविच्छिन्न[8] विभु॥
इन्हीं वाणियों के प्रकाश में मिलता है उन प्रभु का दर्शन।
हृदयाकाश बीच होता रहता है उनका सम्यक् दर्शन॥ ९३॥

---

१ उठती हुई; २ ज्ञान; ३ अपलाप; ४ खंडन, ५ प्रकाश का महामन्दिर; ६ परमेश्वर; ७ नहाये हुए; ८ अखण्ड।

टि०—यह बड़ा ही दिव्य मन्त्र है। कहा गया है, साधनावान प्रभुकृपाप्राप्त जनो का हृदय श्रद्धा के पय से परिपूर्ण होता है। उसमें ज्ञान-रूपी घृत की तरगें उठती रहती हैं, जो ज्ञान-विज्ञान एवं निगमागमसम्भूत शिवसंकल्पमयी वाणियो के रूप में व्यक्त होती हैं। नास्तिक और यज्ञविरोधी उनका प्रतिवाद या खंडन नहीं कर पाते। ये वाणियाँ अज्ञान के अन्धकार को दूर करती है। इनके चिन्मय प्रकाश के महामन्दिर में अग्नि शब्द से अभिहित परमेश्वर विराजमान रहते है। ये ज्ञानरूप घृत से परिपूर्ण वाणियाँ उनका निरन्तर अभिषेक करती रहती है। इस रूप में हमे उनका सम्यक् दर्शन होता है। ९३

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ९४ ॥

अन्तः हृदा	शरीर के अन्दर	घृतस्य ऊर्मय.	घी की तरंगें
मनसा पूयमाना	मन के द्वारा पवित्र हुई	अर्षन्ति	यज्ञ में चलती हुई जाती है,
धेनाः	वाणियाँ	इव क्षिपणोः	जैसे व्याध से
सरितः न	नदियों की तरह	ईषमाणाः	डरे हुए
सम्यक् स्रवन्ति	अविच्छिन्न प्रवाह से बहती रहती है।	मृगाः	मृगों के झुण्ड भागते है ॥ ९४ ॥
एते	ये		

प्रवहमान हैं सरिताओं-सी अविच्छिन्न यह वाणी।
उर के अन्तस्तल में पोषित मनःपूत कल्याणी ॥
स्रुक् से परिक्षिप्त[1] घृत की धाराओं-सी यह ऊर्जित।
स्वाहा सहित अग्नि को करती रहती हैं संतर्पित ॥
भीत व्याध से जैसे मृगगण होते हैं प्रपलायित[2]।
आज्य-ऊर्मियाँ उसी भाँति हो रहीं अग्नि प्रति अर्पित ॥ ९४ ॥

टि०—अन्तःकरण से प्रसूत सब दोषो से विवर्जित वाणी नदियों की तरह अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान होती हुई घृत की धाराओं के साथ यज्ञों में परमेश्वर अग्नि को परितृप्त करती है। जैसे व्याध से डरे हुए मृग भागते हैं, उसी प्रकार ये कल्लोलमयी घृत की आहुतियाँ अग्नि की ओर धावमान होती है। जैसे नदी समुद्र की ओर जाती है, वैसे ही वाणी अनेक रूपों में विचरती है। ९४

---

१ स्रुवा से डाली गई; २ भागे हुए।

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो
वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी
काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥ ९५ ॥

घृतस्य	घृत की	न अरुषः	जैसे क्रोधरहित
यह्वाः धाराः	बड़ी धाराएँ	वाजी	वेगवान् श्रेष्ठ घोड़ा
पतन्ति	यज्ञाग्नि में (वैसे ही) गिरती है,	काष्ठाः भिन्दन्	संग्रामभूमियों का भिन्दन करता हुआ
शूघनासः वात	वेग से बहनेवाली वायु के द्वारा	ऊर्मिभिः	श्रमजन्य पसीने की धाराओं से
इव सिन्धोः	जैसे महानदी की	पिन्वमानः	पृथ्वी को सींचता हुआ गमन करता है ॥ ९५ ॥
प्रमियः	विक्षुब्ध लहरें		
प्राध्वने	विषम प्रदेश में गिरती हैं,		

यज्ञ-अग्नि में गिरती हैं घृत की विशाल धाराएँ अविरत ।
वातक्षुब्ध[1] ज्यों महानदी की लहरें विषमस्थल में निपतित[2] ॥
घृत की पीन विपुल धाराएँ गिरतीं यज्ञ-अग्नि में ऐसे ।
क्रोध-रहित उत्कृष्ट अश्व चलता अरिदल विदलित कर जैसे ॥
अश्वदेह[3] के स्वेदबिन्दु[4] से युद्धभूमि होती अभिषेकित ।
वैसे ही होती रहती है यज्ञवेदिका घृत से सिंचित ॥ ९५ ॥

टि०—यह मन्त्र यज्ञाग्नि में घृत की धाराएं अर्पित करने की प्रक्रिया का बड़ा कवित्वपूर्ण वर्णन करता है। जैसे घी की मोटी-मोटी अनेकानेक धाराएं यज्ञाग्नि में इस तरह गिरती हैं, जैसे किसी बड़ी नदी की पवनान्दोलित क्षिप्रगामी तरंगें विषम स्थान में गिरती हैं। ऋषि दूसरी उपमा देते हुए कहते हैं, जैसे कोई कुलीन उत्कृष्ट घोड़ा जब शत्रुदल को छिन्न-भिन्न करता हुआ दौड़ लगाता है, तो उसके शरीर के पसीने से धरती सिंचित हो जाती है, उसी प्रकार घृत की आहुति-धाराओं से यज्ञवेदी संसिक्त हो रही है। ९५

१ हवा से उठाई गई; २ गिरती है; ३ घोड़े का शरीर; ४ पसीने की बूँदें।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः
कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त
ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ९६ ॥

इव समानाः	जैसे समान मन वाली,	अभि प्रवन्तः	चारों ओर से गमन करती हैं।
कल्याण्यः	सौभाग्यवती, नवयौवना,	ताः	वे धाराएँ
स्मयमानाः	मंद मुसकानयुक्त	समिधः नसन्तः	समिधाओं द्वारा प्रदीप्त अग्नि को व्याप्त करती है।
योषाः	स्त्रियाँ (पति के पास गमन करती हैं),	जातवेदाः	सर्वज्ञ अग्नि (तब)
घृतस्य धाराः	उसी प्रकार घृत की धाराएँ	जुषाणः	प्रीतिमान होकर
अग्नि	अग्नि को पाने के लिए	हर्यति	प्रसन्न होता है ॥ ९६ ॥

रूपवती यौवनसम्पन्ना स्मेरमुखी[1] समान मनवाली।
पति के निकट गमन करती हैं बालाएँ मराल गतिशाली[2] ॥
उसी भाँति घृत की धाराएँ अग्निदेव रूपी पति के हित।
गमन चतुर्दिक् से करती हैं अविरत यज्ञवेदिका के प्रति ॥
कर देती हैं घृत-धाराएँ समिधाओं को व्याप्त प्रज्वलित।
जातवेद ये अग्निदेव हैं उनको पाकर होते हर्षित ॥ ९६ ॥

टि०—इस मन्त्र में भी बड़ी कलात्मक और कवित्वपूर्ण उपमा का प्रयोग किया गया है। कहा गया है, जैसे रूपवती नवयौवना स्मितमुखी सौमनस्यपूर्ण हंसगामिनी बालाएँ मंद मंथर गति से पति के निकट जाती है, वैसे ही ये घृत की धाराएँ अग्निदेव को पाने के लिए चारों ओर से गमन करती हैं। ये घृतधाराएँ समिधाओं को घृत से परिपूरित कर देती हैं, जिससे अग्निकुंड धधक उठता है और जातमात्र का सम्यक् ज्ञान रखनेवाले अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। ९६

१ मुसकराती हुई; २ हंस की-सी चाल वाली।

कन्या इव वहतुमेतवा उ
अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो
घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥ ९७ ॥

यत्र	जहाँ	अञ्जि	चाहने योग्य रूप को
सोमः सूयते	सोमरस निकाला जाता है,	अञ्जानाः	प्रकट करती हुई
यत्र यज्ञः	जहाँ यज्ञ होता है,	कन्या	कन्याएँ
तत् उ	वहाँ ही	वहतुम्	प्राप्त होनेवाले
घृतस्य धाराः	घृत की वहती जाती हुई धाराओं को	एतवै	पति के पास
अभि चाकशीमि	मैं देखता हूँ,	पवन्ते	पवित्रता के साथ जाती है ॥ ९७ ॥
इव	जैसे		

विधिवत् सोमलता के रस का होता अभिषव[1] जहाँ नित्य नव ।
जहाँ यज्ञ के अनुष्ठान में पाते हैं सुर हवियाँ अभिनव ॥
उसी ओर मैं देख रहा हूँ घृत की धाराओं को धावित ।
नवपरिणीताएँ जातीं ज्यों पति समीप कर निज को भूषित ॥ ९७ ॥

टि०—इस मन्त्र में भी अग्निकुंड में गिरती हुई घृत की धाराओं के सौंदर्य का कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है। जहाँ सोमरस निकाला जाता है, यज्ञों के अनुष्ठान जहाँ होते हैं, उसी ओर घृत की धाराएँ भी दौड़ती हुई जाती हैं। ये घृत की धाराएँ उसी प्रकार यज्ञवेदी में प्रज्वलित अग्नि की ओर जाती हैं, जैसे नवनिवाहिताएँ अपने रूप को अनावृत कर पति के समीप जाती हैं। ९७

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ९८ ॥

सुष्टुतिं	हे देवताओ ! तुम श्रेष्ठ स्तुति से युक्त	अभ्यर्षत	सब ओर से प्राप्त होओ।
गव्यं आजिं	घृतयुक्त यज्ञ को	घृतस्य धाराः	जिसमें घी की धाराएँ

१ निचोड़ना।

मधुमत् पवन्ते	मधुर होकर गिरती हैं,	अस्मासु	हमारे लिए
नः इमं यज्ञं	हमारे इस यज्ञ को	भद्रा	अति कल्याणकारी
देवताः नयत	देवलोक को प्राप्त कराओ;	द्रविणानि धत्त	धनों को प्राप्त कराओ ॥ ९८

शोभन-स्तुति-संयुक्त[1] यज्ञ यह घृत से मंडित[2]।
यहाँ पधारो सभी ओर से देवो! हवि हित ॥
यहाँ मधुमती होती अर्पित घृत की धारा।
प्राप्त कराओ देवलोक को यज्ञ हमारा ॥
हमको करो प्रदान परम आनन्द देवगण।
और हमें दो सदा भद्रकर्ता[3] अनन्त धन ॥ ९८ ॥

टि०—इस मंत्र में देवताओं से प्रार्थना की गई है, इस यज्ञ मे देवगण सब ओर से पधारें। इस यज्ञ में शोभन स्तुतियों का वाचन हो रहा है, घृत की धाराएँ अग्नि को अर्पित की जा रही हैं। ये घृत की धाराएँ परम सुस्वादु है। देवगण इन्हें देवलोक में पहुँचायें। हमें परम आनन्द और कल्याणकारी अनन्त धन प्रदान करें। ९८

धामँ ते विश्वं भुवनमधि
श्रितमन्तः संमुद्रे हृद्युन्तरायुंषि ।
अपामनींके समिथे य आर्भृतस्तमंश्याम
मधुंमन्तं त ऊर्मिम् ॥ ९९ ॥

[अध्याय १७, कण्डिका: ९९, मन्त्र-संख्या ०१९]

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

ते	(हे अग्नि!) तुम्हारे	विश्वं भुवनं	ये समस्त विश्व
धामम्	धारण करने की सामर्थ्य के	अधि श्रितं	आश्रित है।
		समुद्रे अन्तः	सागर के बीच में,

१ मनोहारी स्तुतियो वाला; २ घी की आहुतियों से शोभित; ३ कल्याणकारी।

हृदि	हृदय में,	आहृतः	बोधरूप प्राप्त है,
आयुषि अन्तः	जीवन में,	मधुमन्तम्	उस परम ज्ञानमय
अपां अनीके	जलों के संघात में	ऊर्मिम्	आह्लादकारी
समिथे	और यज्ञ में अथवा		रस-तरंग को
	संग्राम में	अपश्याम	हम देखें (और
यः ऊर्मिः	जो तेरा उत्कृष्ट		प्राप्त करें)॥ ९९ ॥

ब्रह्मा से लघु स्तम्ब[1] तक भूतमात्र यह सब जगत्।
यज्ञाहुति का सुफल है अग्नि ! तुम्हारा ही वितत[2] ॥
सकल भुवन सब भूत ये तुम पर आश्रित नित्य।
हे अग्ने ! इस विश्व के अधिष्ठान तुम सत्य ॥
सागर में, उर में, निखिल जीवन में हे देव !।
जलसमूह में, यज्ञ में तुम सर्वत्र सदैव ॥
इन सबमें उत्कृष्ट जो रूप तुम्हारा व्याप्त।
परम मधुर आनन्दमय चिन्मय रसमय आप्त[3] ।
प्राप्त कराओ वह हमें हे अग्ने ! परमेश।
रसतरंग से निज हमें सिक्त करो निःशेष ॥ ९९ ॥

टि०—इस मंत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि अग्नि के रूप में परब्रह्म परमेश्वर का ही स्तवन किया जा रहा है। सब लोकों, सब भुवनों, सब भूतों के धारणकर्ता एकमात्र वे ही हैं। सबके सत्यरूप आधार वे ही हैं। सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर का जो उत्कृष्टतम रसरूप है, वह परम मधुर है, परम आनन्दमय और ज्ञानमय है। वह हमें निरन्तर आप्लावित रखे। ९९

॥ सप्तदश अध्याय समाप्त ॥

---

१ तिनका;　　२ फैला हुआ,　　३ प्रामाणिक रसस्वरूप अर्थात् चिन्मय रसरूप।

तेज - रूप तू, शुभ्र रूप तू, अमृत - पुत्र तू।
अनाधृष्ट[1] आसुरी शक्ति से चिर पवित्र तू॥
यज्ञ स्वयं है सतत अनुष्ठित तुझमें मानव!।
तू रवि-किरणों से अभिषेकित चिर पावन भव[2]॥ ३१॥

टि०—इस अंतिम मंत्र में बड़े उदात्त भावों की व्यञ्जना है। परमात्मा मनुष्य को संबोधित करते हुए कह रहे हैं, मैं इस सृष्टि में छिद्र-रहित शुद्धता करनेवाले साधनों से तुझे पवित्र करता हूँ। इन साधनों में सूर्य की किरणें सबसे श्रेष्ठ हैं। मैं उन्हें मनुष्य! तुझपर निछावर करता रहता हूँ। तेरी पवित्रता अछिद्र हो, उसमें कोई कमी न रहे, यह मेरी इच्छा है। तू स्वयं यज्ञरूप है, तेरा जीवन ही यज्ञ है। तू अमृतपुत्र है। आसुरी शक्तियों के द्वारा तू कभी पराजित नहीं हो सकता। तू अपने मन और प्राण की पूर्णतम पवित्रता की साधना करता रह, हे मानव! ३१

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

---

१ जिसको जीता नहीं गया; २ हो।

हो कर्मशक्ति का नित्य नवल संवर्धन।
स्वरशक्ति हमारी प्राप्त करे चिर जीवन॥
बढ़ती ही जाए श्रवण-शक्ति मेरी यह।
बलवत्तर हों कर्ण की शक्तियाँ अहरह॥
यश बढ़े हमारा वन्दनीय हो नित नव।
वर्चस्व-तेज का हो नित नव-नव उद्भव॥
आत्मा की उत्तम शक्ति स्वत्व ज्योतिर्मय।
वह हममें वर्द्धित रहे एकरस अव्यय[1]॥ १॥

टिप्पणी—अठारहवें अध्याय के मंत्रों को वसोर्धारामंत्र भी कहा गया है। इस मंत्र में मानव-जीवन की बहुमुखी पूर्णता के लिए प्रार्थना की गई है। हमें प्रभूत अन्न मिले, जिसे दूसरों को खिलाकर हम खाते रहें। इष्टापूर्त दान आदि श्रेष्ठ कर्मों के लिए हमें प्रभूत धन-धान्य प्राप्त हो। हमारी बुद्धिशक्ति और कर्मशक्ति कभी क्षीण न हो, निरंतर बढ़ती रहे। वाणी, श्रवण आदि की शक्तियाँ निरंतर ऊर्जस्वती रहें और हम भगवत्-साक्षात्कार कर सकें। यह प्रार्थना यज्ञ के व्याज से परमेश्वर से की गई है। इसका प्रमाण है, वेदों में परमात्मा को 'सर्वहुत यज्ञ' कहा गया है। आगे चलकर शास्त्रों में भी विष्णु को यज्ञ कहा गया है। १

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥

मे प्राणः च	और मेरे लिए प्राण अर्थात् ऊर्ध्व वायु,	च मे चित्तं	और मेरे लिए विचार-शक्ति,
च मे अपानः	और मेरे लिए अपान अर्थात् अधोवायु,	च मे अधीतं	और मेरे लिए अध्ययन से प्राप्त ज्ञान,
च मे व्यानः	और मेरे लिए व्यान अर्थात् सर्व-संचारी शरीरवायु,	च मे वाक्	और मेरे लिए वाणी,
		च मे मनः	और मेरे लिए मन,
च मे असुः	और मेरे लिए मुख्य प्राणवायु,	च मे चक्षुः	और मेरे लिए नेत्र की शक्ति,

---

१ जिसमें कमी न हो।

अथाष्टादशोऽध्यायः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे
क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे
स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

यज्ञेन मे वाजः	इस यज्ञ से मेरे लिए अन्न,
च मे प्रसवः	और मेरे लिए ऐश्वर्य,
च मे प्रयतिः	और मेरे लिए उत्कृष्ट प्रयत्न करने की क्षमता,
च मे प्रसितिः	और मेरे लिए बाँधने-आक्रमण करने वा प्रभावित करने
च मे धीतिः	और मेरे लिए बुद्धियुक्त चिंतन करने की शक्ति,
च मे क्रतुः	और मेरे लिए कर्मशक्ति,
च मे स्वरः	और मेरे लिए स्वर,
च मे श्लोकः	और मेरे लिए श्लोक,
च मे श्रवः	और मेरे लिए श्रवणशक्ति अथवा यश,
च मे श्रुतिः	और मेरे लिए वेदवाणी का श्रवण करने की शक्ति,
च मे ज्योतिः	और मेरे लिए तेजस्विता,
च मे स्वः	और मुझे आत्मा की शक्ति अथवा मेरे सब विहित स्वत्व,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	लोककल्याणकारी आचार-व्यवहार से प्राप्त हों ॥ १ ॥

अष्टादश अध्याय

हों प्राप्त यज्ञ से हमें सकल अभिमत फल।
ऊर्जित हों सब शक्तियाँ हमारी प्रतिपल ॥
अनवरत प्राप्त हो अन्न प्रभूत हमें चित्।
पुष्कल[1] धन से हम रहें नित्य परिपूरित ॥
उद्योग-शक्ति नित वर्धित रहे हमारी।
उत्कर्ष मनीषा का हो मंगलकारी ॥

---

१ बहुत।

च मे वर्म	और मेरा कवच,
च मे अङ्गानि	और मेरे अङ्गों की दृढ़ता,
च मे अस्थीनि	और मेरी अस्थियाँ,
च मे परूंषि	और मेरे सब पोरों की दृढ़ता,
च मे शरीराणि	और मेरे शरीर की नीरोगता, (स्वास्थ्य युक्त स्थति)
च मे आयुः	और मेरी आयु,
च मे जरा	और मेरे लिए वृद्धावस्था (इस)
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से बढ़े ॥ ३ ॥

यज्ञ से प्राप्त हों हमको सब अभिमत फल।
बढ़ता ही जाए मेरा वाह्यान्तर बल॥
हो ओजवृद्धि, बल रहे देह का वर्द्धित।
हो आत्मतत्त्व का ज्ञान नित्य नव ऊर्जित॥
मेरा शरीर नित रहे स्वस्थतम शोभन।
सौभाग्य और सुख का हो चिर संवर्धन॥
यह मेरा रक्षा-कवच रहे नित दृढ़तर।
सब अंग और प्रत्यंग बनें बलवत्तर॥
अस्थियाँ देह की वज्रकल्प हों मेरी।
सर्जन-समर्थ नित रहें अँगुलियाँ मेरी॥
आरोग्य देह का बढ़ता जाय निरंतर।
पूर्णायु हमें हो प्राप्त सिद्धिप्रद सुखकर॥
हो बहुविध साधनपूर्ण जरा का जीवन।
हो ज्ञान, विराग, विवेकयुक्त वह प्रतिक्षण॥ ३ ॥

टि०—इस अध्याय के मंत्रों में जीवन की पूर्णता की ऐसी परिकल्पना की गई है, जो वैदिक ऋषि की मानव-जीवन के विकास की समस्त संभावनाओं और उसके सभी दिशाओं के पूर्णतम परिज्ञान का प्रमाण है। इससे अधिक पूर्णता की परिकल्पना और क्या हो सकती है? इस अध्याय के अगले मंत्र भी इसी भाव-सरणि को आगे बढ़ानेवाले हैं। इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि मेरे शरीर का बल बढ़े, आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि हो, शरीर स्वस्थ रहे एवं सौभाग्य और सुख की वृद्धि होती रहे। मेरी अस्थियाँ वज्र जैसी दृढ़ बनें। अँगुलियों में कला-कौशल आदि की रचना की शक्ति बढ़े। हम पूर्णायु प्राप्त करें। बुढ़ापे में भी हमें किसी प्रकार की कमी न हो। हम वृद्धावस्था में ज्ञान, वैराग्य और विवेक से पूर्ण जीवन बितावें। ३

च मे श्रोत्रम्	और मेरे लिए कान की शक्ति,	च मे बलं	और मेरा बल
च मे दक्षः	और मेरे लिए दक्षता,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	(इस) यज्ञ से प्राप्त हों ॥२॥

हम यज्ञ करें नित नव अभिमत फल पावें।
अपने जीवन को सार्थक पूर्ण बनावें॥
यह प्राणवायु जो प्रथित ऊर्ध्वसंचारी।
इसकी गति ऊर्ध्वमुखी हो मंगलकारी॥
ये व्यान, अपान वायु सब रहें निरामय।
इनकी गति से नित रहे देह गत-आमय[1]॥
मेरे प्राणों की ऊर्जा हो नित ऊर्जित।
मेरे चिन्तन की शक्ति रहे संवर्द्धित॥
मैंने है जो अध्ययन किया जीवन-भर।
संवर्द्धित होता रहे, बने बलवत्तर॥
मेरी वाणी की शक्ति बढ़े अप्रतिहत[2]।
नेत्रों की भी सामर्थ्य बढ़े अव्याहत[3]॥
ये श्रोत्र आदि मेरी समस्त इन्द्रियगण।
बलवत्तर होती रहें निरन्तर प्रति क्षण॥
मेरी पटुता, दक्षता बढ़े हो नित नव।
हो महत् शक्तियों का मुझमें नव उद्भव॥ २ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र की तरह इस मंत्र मे भी मानव-व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी पूर्ण विकास के लिए प्रार्थना की गई है। २

ओर्जश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥

मे ओजः च	और मेरा ओज,	च मे आत्मा	और मेरा आत्मबल,
च मे सहः	और मेरी सहन-शक्ति,	च मे तनूः	और मेरा शरीर,
		च मे शर्म	और मेरा सुख,

१ रोगहीन; २ बाधाहीन; ३ बिना रुकावट के।

संतति-परंपरा रहे सदा अच्छिन्न[1] हमारी।
वार्द्धक्य हमारा हो नित मंगलकारी॥
हम ज्ञानवृद्ध गुणगण-समृद्ध हों संतत।
हों सब जीवन-फल नित हमको करतलगत॥ ४॥

टि०—इस मंत्र में वैयक्तिक जीवन में श्रेष्ठता-प्राप्ति की कामना के साथ-साथ सामाजिक जीवन मे व्यक्तित्व के उत्कर्ष के विस्तार की परिकल्पना की गई है। यह निर्देश दिया गया है कि हम अपनी श्रेष्ठता और आधिपत्य को बढ़ाने का प्रयत्न भी निरंतर करें। हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़े और हम समाजविरोधी दुर्जनों का सक्रिय विरोध भी करें। इसके लिए 'मन्यु' और 'भाम' दो शक्तियों को बढ़ाने का आदेश इस मंत्र में दिया गया है। 'मन्यु' का अर्थ है— मानस क्रोध और 'भाम' का अर्थ है— वाह्य क्रोध। पहले मन में दुष्टों का विनाश करने का संकल्प करें, फिर कर्मक्षेत्र में शत्रु पर अपना वज्र-सा क्रोध गिरावें। इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह यह कामना की गई है कि वृद्धावस्था में हम विशेष रूप से जीवन की पूर्णता प्राप्त करें। ये सब वैदिक मंत्र वृद्धावस्था को जीवन की पूर्णता मानते है और उसको सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। ४

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ ५॥

च मे सत्यं	और मेरा सत्य,	च मे मोदः	और मेरी प्रसन्नता,
च मे श्रद्धा	और मेरी श्रद्धा,	च मे जातं	और मेरी संतति,
च मे जगत्	और मेरा जंगम पदार्थ,	च मे जनिष्यमाणं	और मेरा उत्पन्न होनेवाला पुत्र,
च मे धनं	और मेरा धन,	च मे सूक्तं	और मेरा सुन्दर कथन,
च मे विश्वं	और मेरा विश्व का भाग,	च मे सुकृतं	और मेरे पुण्याचरण
च मे महः	और मेरा महत्त्व,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ द्वारा बढ़ें॥ ५॥
च मे क्रीडा	और मेरी खेलने की शक्ति,		

हम सत्याचरण-यज्ञ नित करें अनुष्ठित।
फैले समाज में यज्ञ-भावना यह नित॥

---

१ न टूटनेवाली।

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥४॥

मे ज्यैष्ठ्यम् च	और मेरे लिए ज्येष्ठता,
च मे आधिपत्यं	और मेरा स्वामित्व,
च मे मन्युः	और मेरा उत्साह,
च मे भामः	और दुष्टों के प्रति मेरा क्रोध,
च मे अमः	और मेरी गंभीरता,
च मे अम्भः	और मेरी जीवन-शक्ति,
च मे जेमा	और मेरी विजय-शीलता,
च मे महिमा	और मेरा महत्त्व,
च मे वरिमा	और मेरी अधिक श्रेष्ठता,
च मे प्रथिमा	और मेरा विस्तार,
च मे वर्षिमा	और मेरा दीर्घजीवन,
च मे द्राघिमा	और मेरा बड़प्पन,
च मे वृद्धं	और मेरी वृद्धावस्था,
च मे वृद्धिः	और मेरी उन्नति
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती रहें ॥ ४ ॥

अभिमत फलप्रद हो जीवन-यज्ञ हमारा।
उत्कर्ष-भरा हो जीवन सदा हमारा॥
श्रेष्ठता हमारी अविरत हो प्रशस्ततर[1]।
स्वामित्व बढ़े, हो मनोत्साह बलवत्तर॥
दुष्टों पर मेरा कोप सदा हो वर्द्धित।
हम सह न सकें उनकी दुर्मति या दुष्कृति[2]॥
हों अर्णव-सा गम्भीर हमारा अन्तर।
जीवन-शक्ति हो जल-सी शीतल शुचितर॥
विजयाभियान हों मेरे सदा अबाधित।
महिमा[3] गरिमा[4] हों सदा हमारी ऊर्जित॥
गृह, क्षेत्र, धनादिक विस्तृत होते जावें।
दीर्घायु प्राप्त कर नित नव कीर्ति कमावें॥

---

१ अधिकाधिक प्रशंसनीय; २ दुर्बुद्धि या दुष्कर्म, ३ संपत्ति, विद्या आदि के अर्जन से प्राप्त महत्त्व; ४ हृदय की विशालता।

च मे अभयम्	और मेरा अभय,	च मे सुदिनम्	और मेरा सुन्दर दिन (-ये सब)
च मे सुखम्	और मेरा सुख,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ६ ॥
च मे शयनम्	और मेरा शयन,		
च मे सूषाः	और मेरा सुन्दर सुप्रभात,		

हो ज्ञानयज्ञ मेरा अभिमत फलप्रद नित।
हो ज्ञानयज्ञ जीवन में सदा अनुष्ठित ॥
मेरी ऋतनिष्ठा बढ़ती रहे निरंतर।
हो ज्ञानकर्मसाधना हमारी दृढ़तर ॥
कर आत्मज्ञान की सिद्धि अमृत हम पावें।
अन्तर में आत्मज्ञान-प्रदीप जलावें ॥
हों कर्म हमारे सकल सरल, शुचि, सुन्दर।
आनन्द-अमृत से रहे पूर्ण बहिरन्तर ॥
हो रोगहीन तन स्वास्थ्य रहे संवर्धित।
हों व्याधिहरण ओषधियाँ नित 'नवसंचित ॥
दीर्घायु-वृद्धि हो, शत्रु नहीं हो कोई।
निर्भयता बढ़ती रहे, न हो भय कोई ॥
सुख-भोग वृद्धि को प्राप्त करे नित मेरे।
हों शयन निरापद[1] चिन्तावर्जित[2] मेरे ॥
मेरी ऊषाएँ हों नित नव मंगलमय।
हों सब प्रभात सब दिन नित नव-नव सुखमय ॥ ६ ॥

टि०—यज्ञ कई प्रकार के होते हैं— द्रव्ययज्ञ, कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि। इस मंत्र में ज्ञानयज्ञ वाले पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। इसीलिए इस मंत्र में ऋत और अमृत के निरंतर संवर्धन को प्रमुखता दी गई है। ऋत का एक पक्ष है, परम-चरम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति और फिर जीवन के सरल, पवित्र, लोकहितकारी, शील, सदाचार और कर्मयोग में परिणति। अमृत की प्राप्ति का अर्थ है, अमृतत्व प्रदान करनेवाले आत्मज्ञान की प्राप्ति। इसके पोषक है दीर्घायु, उत्तम स्वास्थ्य, जीवनवर्द्धक और रोगविनाशक ओषधियाँ आदि। इनकी निरंतर वृद्धि की कामना इस मंत्र में की गई है। मंत्र का आदेश है, हम अपने प्रत्येक उषःकाल को, प्रत्येक प्रभात को और प्रत्येक दिन को अधिकाधिक सुखमय बनाते चलें। अपने अहोरात्र को सुखमय बनाने का साधन है, दूसरों को सुखी बनाना। यही वेद का आदेश है। ६

---

१ विपत्तिहीन;　२ चिन्ताहीन (नींद)।

सत्य की वृद्धि हो, श्रद्धा बढ़े निरंतर।
संपत्ति उभयविध बढ़े जंगम[1]-स्थावर[2]॥
विस्तार विश्व का हो मेरे नित नव नव।
वसुधा कुटुम्ब है मेरा हो यह अनुभव॥
क्रीड़ा- विनोद की क्षमता भी हो वर्द्धित।
अन्यों को लख कर मोदमान[3] हों मोदित॥
हो भावी संतति का नित मंगल-वर्द्धन।
ऋक्-पाठजन्य हो शुभ अदृष्ट का सर्जन॥ ५॥

टि०—यह मंत्र सत्याचरण-रूपी यज्ञ पर बल देता है, सदाचार-रूपी यज्ञ का अनुष्ठान नित्य होता है और बिना बाह्य बहुमूल्य साधनों के हो सकता है, यह भावना समाज में फैलनी चाहिए। इससे सत्य और श्रद्धा की वृद्धि होती है। गीता का कथन है— 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है। सदाचार के पालन से स्थावर और जंगम दोनों प्रकार की संपत्ति बढ़ती है। सबसे बड़ी बात जो इस मंत्र में कही गई है, वह है सदाचार-यज्ञ द्वारा विश्वभावना की सिद्धि। सदाचार के पालन से अंतःकरण पवित्र होता है और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना पुष्ट होती है। क्रीड़ा-विनोद की क्षमता की वृद्धि की कामना भी इस मंत्र में की गई है। सात्त्विक क्रीड़ा-विनोद में लगे हुए लोगों को देखकर जो प्रसन्नता होती है, वही मोद है। इसी को अध्यात्म-शास्त्र में मुदिता कहा गया है। 'मुदिता मथै विचार मथानी।' 'मुदिता' का अर्थ है— दूसरे को प्रसन्न देखकर प्रसन्न होना। अंत में इस मंत्र में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि ऋग्वेद के सूक्तों के पाठ से अशुभ प्रारब्ध का नाश होकर शुभ भाग्य का उदय होता है। ५

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ ६॥

मे ऋतं च	और मेरा सरल कर्म,	च मे जीवातुः	और मेरी व्याधि-विनाशक ओषधि,
च मे अमृतम्	और मेरा अमरत्व,	च मे दीर्घायुत्वम्	और मेरा दीर्घ जीवन,
च मे अयक्ष्मम्	और मेरी रोगहीनता,	च मे अनमित्रम्	और मेरे लिए शत्रुओं का अभाव,
च मे अनामयम्	और मेरा आरोग्य,		

१ चल सम्पत्ति; २ अचल सम्पत्ति; ३ प्रसन्न।

मेरे पथ के प्रतिबंधक[1] हों निःशेष सकल।
मेरा यह जीवन बने पुण्यमय यज्ञ सफल॥ ७॥

टि०—इस मंत्र में भी यज्ञ द्वारा जीवन में सब क्षेत्रों में पूर्णता प्राप्त करने की कामना की गई है। मनुष्य के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, उसकी प्रशासकीय क्षमता। इस मंत्र में उसके संवर्द्धन पर विशेष बल दिया गया है। भगवान से प्रार्थना की गई है, मेरी नियंत्रण करने और दूसरों को अनुशासन में रखने की शक्ति बढ़े। भगवान हमारे योगक्षेम का वहन करें। हम विपत्ति में धैर्यवान और स्थिर-चित्त रहें। बड़े से बड़ा ज्ञान और विज्ञान मुझे सिद्ध हो। जीवन के कृषि आदि उद्यमों में हमें किसी वस्तु का अभाव न हो। ७

शं च॑ मे॒ मय॑श्च मे प्रि॒यं च॑ मेऽनुका॒मश्च॑ मे॒ काम॑श्च मे सौमनु॒सश्च॑ मे॒ भग॑श्च मे॒ द्रवि॑णं च मे भ॒द्रं च॑ मे॒ श्रेय॑श्च मे॒ वसी॑यश्च मे॒ यश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॑ ॥ ८॥

मे शम् च	और मेरा सुख तथा शान्ति,	च मे सौमनसः	और मेरे मन के स्वास्थ्यकारी बन्धु-वर्ग,
च मे मयः	और मेरा आनन्द,	च मे भगः	और मेरा ऐश्वर्य,
च मे प्रियम्	और मेरी नीति-उत्पादक वस्तु,	च मे द्रविणम्	और मेरा धन,
च मे अनुकामः	और मेरे अनुकूल काम्य पदार्थ,	च मे भद्रम्	और मेरा कल्याण,
च मे कामः	और मेरे अनुकूल भोग्य पदार्थ,	च मे श्रेयः	और मेरा श्रेय
		च मे वसीयः	और मेरा निवास-योग्य धन
		च मे यशः	और मेरा यश (-सब)
		यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से बढ़े॥ ८॥

यज्ञ से बढ़ें नित नव सुख-भोग हमारे।
वृद्धिगत[2] हों बहुविध पुरुषार्थ हमारे॥
मेरे सुख, सुख के हेतु रहें सब वर्द्धित।
आनन्द हमारा बढ़ता ही जाए नित॥
मेरी प्रियता के साधन हों सब विस्तृत।
धर्मानुकूल सब काम रहें उपबृंहित[3]॥

१ रुकावट; २ बढ़ते हुए, ३ बढ़े हुए।

यन्ता च॑ मे धर्ता च॑ मे क्षेम॑श्च मे धृति॑श्च मे विश्वं॑ च मे मह॑श्च मे संविच्च॑ मे ज्ञात्रं॑ च मे सूश्च॑ मे प्रसूश्च॑ मे सीरं॑ च मे लय॑श्च मे यज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

च मे यन्ता	और मेरा नियन्तृत्व,	च मे ज्ञात्रम्	और मेरी विज्ञान-सामर्थ्य,
च मे धर्ता	और मेरी धारण-पोषण करने की शक्ति,	च मे सूः	और मेरा आज्ञा देने का बल,
च मे क्षेमः	और मेरी संपत्ति की सुरक्षा,	च मे प्रसूः	और मेरी संतान उत्पन्न करने की शक्ति,
च मे धृतिः	और मेरा धैर्य,	च मे सीरम्	और मेरी कृषि आदि के उपयोगी पदार्थ,
च मे विश्वम्	और मेरे सब अनुकूल पदार्थ,	च मे लयः	और मेरी विरोध की निवृत्ति
च मे महः	और मेरी महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो ॥ ७ ॥
च मे संवित्	और मेरा चेतना-ज्ञान,		

हो प्राप्त यज्ञ से जीवन की पूर्णता सकल।
हों सिद्ध सभी पुरुषार्थ[1], मिलें सब अभिमत फल ॥
मैं रहूँ नियंता सदा, बढ़े मेरी प्रभुता।
धारण-पोषण की वृद्धिगत हो नित क्षमता ॥
जो प्राप्त सम्पदा मुझे, रहे वह रक्षित नित।
धृति बढ़े हमारी, रहे हमारा सुस्थिर चित ॥
सर्वानुकूलता प्राप्त रहे मुझको सदैव।
पूजार्ह[2] रहूँ सर्वत्र सदा मैं यज्ञदेव ! ॥
सब ज्ञान और विज्ञान रहें मेरे वर्द्धित।
अनुशासन मैं कर सकूँ यथासुख संस्थापित ॥
पुत्रोत्पादन की शक्ति रहे नित वर्द्धमान।
कृषि-उपयोगी वस्तुएँ सुलभ हों लघु-महान ॥

१ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; २ पूजा योग्य।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[1] वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि[2] बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[3] ॥ १ ॥

आ-ख-रे-ष्ठः	यज्ञ ही शुभ कर्म है। सुखोत्पादक, शुभ या प्रशस्त कर्म करने वाला और अपनी मर्यादा में रहनेवाला
कृष्णः असि	तू सबको अपनी ओर आकर्षित करता है।
अग्नये	अग्नि के लिए
त्वा जुष्टं	तुझ उपासना-लीन को
प्रोक्षामि	(मैं) पवित्र करता हूँ।
वेदिः असि	तू ज्ञानी है (अथवा तू यज्ञस्थल है)।
बर्हिषे जुष्टां(ष्टं)	यज्ञ के लिए तैयार हुए
त्वा प्रोक्षामि	तुझे (मैं) पवित्र करता हूँ।
बर्हिः असि	तू यज्ञ है।
स्रुग्भ्यः जुष्टं	स्रुचाओं के प्रति प्रीति करनेवाले
त्वा प्रोक्षामि	तुझे (मैं) पवित्र करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

स्वर्ग-प्रदायक[1] कर्मों में रह सतत प्रतिष्ठित[2]।
अपने प्रति करता है तू सबको आकर्षित ॥
अग्नि - उपासन हेतु हुआ तू सम्यक्[3] दीक्षित।
मैं तुझको पवित्र करता हूँ हे मानव! नित ॥
ज्ञानवान तू और यज्ञ का स्थान पूततम[4]।
याजक है तू और यज्ञवेदिका महत्तम[5] ॥
यज्ञ हेतु तू सिद्ध तुझे मैं करता पावन।
सतत समर्पणशील लोक-हित यज्ञ-स्रुचा[6] बन ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस कण्डिका में तीन बार यह कहा गया है, "हे मनुष्य! मैं तुझे यज्ञ करने के लिए पवित्र बनाता हूं।" तीन बार पवित्र बनने का आदेश देने का अर्थ यह है कि अपनी

---

१ स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले; २ कार्यरत, ३ अच्छी तरह शास्त्र की विधि से; ४ सबसे पवित्र, ५ सबसे बड़ी; ६ यज्ञ मे घृत डालने की कलछी। वह केवल दान करती है, अपने लिए कुछ नही रखती, अतः वह समर्पण का प्रतीक मानी जा सकती है।

ऐहिक सुखभोगों की हो वृद्धि-सिद्धि नव।
हो वन्धुवर्ग में सौमनस्य का सुप्रभव॥
ऐश्वर्य बढ़े, सम्पत्ति वृद्धि नित पावे।
सब प्रेयश्रेयमय[1] जीवन यह बन जावे॥
विस्तारयुक्त हो वास सकल सुविधामय।
यश बढ़े कीर्ति के साधन हों सब अक्षय॥ ८॥

टि०—वेदों की जीवन-दृष्टि एकांगी नहीं है। वे निवृत्ति और प्रवृत्ति, त्याग और भोग, अभ्युदय और निःश्रेयस्, लोक और परलोक के समन्वय और सामंजस्य पर बल देते है। एकान्तिक त्याग और एकान्तिक भोग, दोनों ही वेदों की दृष्टि में श्लाघ्य नहीं। जीवन में धर्मानुकूल भोगों से प्राप्त होनेवाले सुख का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व आत्मिक आनंद का है। इस मंत्र में इन दोनों पक्षों को समान महत्त्व दिया गया है। इस मंत्र में सुखी पारिवारिक जीवन के लिए भी प्रार्थना की गयी है। हमारा निवासस्थान इतना विस्तृत हो कि उसमें पूरा परिवार सुख से रह सके। परिवार के सभी लोगों में सौमनस्य की पारस्परिक अनुकूलता और प्रेम की वृद्धि होती जाय। वेद का आदेश है, मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन को परिवार और समाज में रहते हुए पूर्ण बनावे। वह राष्ट्र का आदर्श नागरिक वने तथा मानव-समाज के लौकिक और आध्यात्मिक सर्वविध अभ्युदय के लिए प्रकाश-स्तंभ बनकर रहे। ८

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

मे ऊर्क् च	और मेरा अन्न,
च मे सूनृता	और मेरी उत्तम ज्ञान वाली वाणी,
च मे पयः	और मेरा दूध,
च मे रसः	और मेरा रस,
च मे घृतम्	और मेरा घृत,
च मे मधु	और मेरा शहद,
च मे सग्धिः	और मेरा सह-भोजन,
च मे सपीतिः	और मेरा सहपान,
च मे कृषिः	और मेरी कृषि,
च मे वृष्टिः	और (धान्य उत्पन्न करनेवाली) वर्षा,
च मे जैत्रम्	और मेरी विजयशीलता,
च मे औद्भिद्यम्	और मेरे वृक्षों का आरोपणादि (सब)
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से बढ़ें ॥ ९ ॥

[1] लौकिक सुख और आध्यात्मिक उत्कर्ष से पूर्ण।

सर्वहुत यज्ञ हों नित अनुकूल हमारे।
वर्द्धित हों नित नव सुख-सौभाग्य हमारे॥
अन्न की वृद्धि हो, हों समृद्ध अपने घर।
हो सत्यज्ञानयुत वाणी अपनी प्रियतर॥
हो दूध-दही षड्रस की वृद्धि निरंतर।
घृत, मधु, गोरस से सबके घर जाएँ भर॥
मिल बन्धु-बान्धवों से सहभोज करें हम।
कृषिफल हों हमको प्राप्त निरंतर उत्तम॥
अनुकूल वृष्टि से शस्य-श्याम[1] हो धरती।
विजिगीषा[2] अपनी रहे वृद्धि नित करती॥
उद्‌भिज के हित हो नित नव वृद्धिप्रदाता।
हों यज्ञ हमारे हित नित मंगलदाता॥ ९ ॥

टि०—यह पहले मंत्र की टिप्पणी में बताया जा चुका है कि भगवान का नाम ही सर्वहुत यज्ञ है। उनसे इस मंत्र में प्रार्थना की गई है कि हमारे घरों में अन्न की वृद्धि होती रहे, हमारी वाणी में सत्य और ज्ञान का वास हो। हमारे घर गोरस, शहद आदि से भरपूर रहें। हम बंधु-बांधवों के साथ मिलकर भोजन करें। अनुकूल वृष्टि से हमारी खेती बढ़ती रहे। हमारी विजयेषणा कभी मंद न होने पावे। हमारा वनस्पति-जगत्, पेड़-पौधे सब सदा हरे-भरे रहें। उनको कोई हानि न पहुँचावे। ९

र॒यिश्च॑ मे॒ राय॑श्च मे पु॒ष्टं च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे वि॒भु च॑ मे प्र॒भु च॑ मे पू॒र्णं च॑ मे पू॒र्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च॒ मेऽक्षि॑तं च॒ मेऽन्नं॒ च॒ मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

च मे रयिः	और मेरी संपत्ति,	च मे विभु	और मेरी व्यापक सामर्थ्य,
च मे रायः	और मेरा उत्तम ऐश्वर्य,	च मे प्रभु	और मेरी प्रभुता करने की सामर्थ्य,
च मे पुष्टम्	और मेरे शरीर का हृष्ट-पुष्ट होना,	च मे पूर्णम्	और मेरी पूर्णता,
च मे पुष्टिः	और मेरी हर प्रकार की सृष्टि,	च मे पूर्णतरम्	और मेरी (धन आदि की) अधिक पूर्णता,

१ अन्न के पौधों की भरपूर वृद्धि से खेती हरी-भरी बन जाय; २ विजय करने की इच्छा।

च मे कुयवम्	और मेरे कुत्सित यवादि धान्य,	च मे अन्नम्	और मेरा अन्न,
च मे अक्षितम्	और मेरा चावल आदि क्षयरहित अन्न,	च मे क्षुत्	और मेरी क्षुधा
		यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से वृद्धि प्राप्त करें ॥ १० ॥

सर्वहुत यज्ञ से पूर्णकाम[1] हो जीवन।
जीवन-साधन बढ़ते ही जायें प्रति क्षण॥
सम्पत्ति बढ़े मेरी, ऐश्वर्य बढ़े नित्त।
तन हृष्ट-पुष्ट हो, पुष्टि रहे संवर्धित॥
मेरी व्यापक सामर्थ्य बने व्यापकतर।
प्रभुता का मेरा क्षेत्र बने विस्तृततर॥
मैं पूर्ण पूर्णतर होकर बनूँ पूर्णतम।
विकसित होकर व्यक्तित्व बने बहुविध क्षम[2]॥
हों श्रेष्ठ अन्न अथवा कदन्न सब वर्द्धमान।
ओदन आदिक भक्ष्यान्न सदा हों पच्यमान[3]॥
नित क्षुधावृद्धि, भोजन-साधन सब रहें सिद्ध।
हम रहें अभावविमुक्त और सब विधि समृद्ध॥ १०॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हमारे जीवन में किसी प्रकार का अभाव न रहे। सब प्रकार के अन्नों और भोज्य-सामग्री से हमारे घर भरे रहें। हमारी शक्ति और प्रभुता के क्षेत्र का विस्तार हो। हम उत्तरोत्तर पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करें। पूर्ण से पूर्णतर और पूर्णतम बनें। १०

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ११ ॥

मे वित्तम् च	और मेरा धन,	च मे भविष्यत्	और मेरा भविष्य में प्राप्त होनेवाला धन,
च मे वेद्यम्	और मेरा प्राप्तव्य धन,		
च मे भूतम्	और मेरा पूर्व प्राप्त धन,	च मे सुगम्	और मेरा सुन्दर मार्ग,

१ जिसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो चुकी है; २ क्षमतावान, बहुत प्रकार से सामर्थ्यपूर्ण; ३ पचनेवाला।

च मे सुपथ्यम्	और मेरा शोभन हित,
च मे ऋद्धम्	और मेरा समृद्ध कर्म,
च मे ऋद्धिः	और मेरी संपत्ति की समृद्धि,
च मे क्लृप्तम्	और मेरा कार्यसाधक पर्याप्त द्रव्य,
च मे क्लृप्तिः	और मेरी स्वकार्य-साधन-सामर्थ्य,
च मे मतिः	और मेरी मति यह विचार,
च मे सुमतिः	और मेरी उत्तम शोभन मति (सब)
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से वृद्धि प्राप्त करें ॥ ११ ॥

सर्वहुत यज्ञ ! मेरी धनवृद्धि करो तुम ।
प्राप्तव्य द्रव्य के पात्र बने हम उत्तम ॥
बढ़ता ही जाए मेरा पूर्व-प्राप्त[1] धन ।
भावी धन-प्राप्त हेतु दो नव-नव साधन ॥
सुखमय प्रदेश मेरे हित सुगम बनाओ ।
जीवन के शोभन - हेतु[2] सकल सरसाओ ॥
होते ही रहें समृद्ध कर्ममय जीवन ।
सम्पत्ति हमारी बढ़ती जाए अनुदिन ॥
है न्यून[3] कार्यसाधक धन[4] जो मेरा यह ।
उसकी दिन दूनी वृद्धि करो तुम अहरह ॥
नित बढ़े हमारी कार्यसाधिका क्षमता ।
मति[5] और सुमति[6] में आवे नित व्यापकता ॥
सर्वहुत यज्ञ ! हो तुम कल्पद्रुम मेरे ।
अभिमत सब होंगे सिद्ध कर्म से मेरे ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान से उन सब वस्तुओं को प्रदान करने की प्रार्थना की गई है, जिनसे लौकिक जीवन सफल, सुखी और संपन्न बनता है । ११

---

१ पहले से कमाया हुआ; २ जीवन को श्रेष्ठ बनानेवाले उत्तम साधन; ३ कम; ४ जीवन-व्यवहार को चलानेवाला वित्त, ५ पदार्थों का निश्चय करानेवाली बुद्धि, ६ कठिन से कठिन कार्यों को सुगम बना देनेवाली बुद्धि ।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

मे व्रीहयः च	और मेरे लिए व्रीहि (चावल),
च मे यवाः	और मेरे लिए जौ,
च मे माषाः	और मेरे लिए उरद,
च मे तिलाः	और मेरे लिए तिल,
च मे मुद्गाः	और मेरे लिए मूँग,
च मे खल्वाः	और मेरे लिए चना,
च मे प्रियङ्गवः	और मेरे लिए छोटा धान्य, प्रियंगु
च मे अणवः	और मेरे चीनक तन्दुल,
च मे श्यामाकाः	और मेरे लिए साँवाँ
च मे नीवाराः	और मेरे लिए नीवार धान्य,
च मे गोधूमाः	और मेरे लिए गेहूँ,
च मे मसूराः	और मेरे लिए मसूर, (सब)
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के द्वारा समृद्धि प्राप्त करें ॥ १२ ॥

सर्वहुत यज्ञ ! हो अन्न-वृद्धि, खाद्यान्नों की बहुविध समृद्धि।
व्रीहि[1], यव[2], माष[3], तिल, मूँग, चना, कँगुनी, साँवाँ, निवार, चेना[4] ॥
गेहूँ, मसूर सब करें वृद्धि, हो सब खाद्यान्नों की समृद्धि।
यज्ञ से वृद्धि हो यथाकाल, खाद्यान्न-वृद्धि से हो सुकाल ॥ १२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि यज्ञों के अनुष्ठान से यथासमय वृष्टि होती रहे जिससे सब प्रकार के प्रभूत अन्न का उत्पादन हो। किसी को किसी प्रकार का अभाव न हो। १२

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १३ ॥

---

१ साठी चावल, २ जौ; ३ उरद; ४ गर्मियों मे उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का मोटा (सांवें की जाति का) अन्न।

मे अश्मा च	और मेरे पाषाण,
च मे मृत्तिका	और मेरी मिट्टी,
च मे गिरयः	और मेरे छोटे पर्वत,
च मे पर्वताः	और मेरे बड़े पहाड़,
च मे सिकताः	और मेरी रेत,
च मे वनस्पतयः	और मेरी सब वनस्पतियाँ,
च मे हिरण्यम्	और मेरा सोना,
च मे अयः	और मेरा लोहा,
च मे श्यामम्	और मेरा काला लोहा,
च मे लोहं	मेरा लाल लोहा,
च मे सीसम्	और मेरा सीसा,
च मे त्रपु	और मेरा टीन,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से वृद्धि को प्राप्त करें ॥ १३ ॥

सर्वहुत यज्ञ ! हो दयावान, हो देश हमारा प्रगतिमान।
इसके पत्थर भी मुझको प्रिय, ये सब हैं मुझको हीरकचय[1]।
मृत्तिका देश की चन्दन है, यह बारहबानी[2] कुन्दन है।
इन सबकी संतत वृद्धि करो, इनको नित नवल समृद्ध करो।
ये लघु-लघु गिरि, विशाल पर्वत, हो अरावली या हो हिमवत्।
सब मुझको प्राणों से प्यारे, हम हैं समृद्धि का व्रत धारे।
रेत भी देश की प्रिय मुझको, सकल वनस्पतियाँ प्रिय मुझको।
इन सबकी संतति वृद्धि करो, इन सबको सतत समृद्ध करो।
खानों से उपजा सोना यह, है बहुप्रकार का लोहा यह।
काला या लाल, रजतवर्णी, अन्यान्य रंग लोहितवर्णी।
ये सीसा, जस्ता, टीन सकल, भू-गर्भ-प्राप्त उत्तम श्रमफल।
इन सबकी अविरत वृद्धि करो, प्रभु ! मातृभूमि की वृद्धि करो ॥ १३ ॥

टि०—यह मंत्र स्वदेश-प्रेम की बड़ी निशित और निबिड़ व्यंजना करता है। यह मंत्र देशप्रेम की सर्वांगीण परिपूर्ण चेतना प्रदान करता है। देशप्रेम का अर्थ है, इसकी मिट्टी और इसके कंकड-पत्थर तक से प्रेम करना। इस मंत्र में काले, लाल अर्थात् तपाये हुए और सफेद लोहे (शोधित फ़ौलाद) की वृद्धि की कामना की गई है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वैदिककाल में अनेक प्रकार का लोहा तैयार किया जाता था। १३

अ॒ग्निश्च॑ म॒ आप॑श्च मे वी॒रुध॑श्च म॒ ओष॑धयश्च मे कृष्टप॒च्याश्च॑ मेऽकृष्टप॒च्याश्च॑ मे ग्रा॒म्याश्च॑ मे प॒शव॑ आर॒ण्याश्च॑ मे वि॒त्तं च॑ मे॒ वित्ति॑श्च मे भू॒तं च॑ मे॒ भूति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

१ हीरों के समूह; २ द्वादशवर्णी सोना अर्थात् अत्यन्त खरा सोना।

मे अग्निः च	और मेरा अग्नि,
च मे आपः	और मेरा जल,
च मे वीरुधः	और मेरी तृण-गुल्म आदि वनस्पतियाँ,
च मे ओषधयः	और मेरी ओषधियाँ,
च मे कृष्टपच्याः	और मेरी जोतने से प्राप्त होनेवाली ओषधियाँ,
च मे अकृष्टपच्याः	और मेरी विना खेत जोते उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ,
च मे ग्राम्याः	और मेरे ग्राम्य पशु,
च मे आरण्याः	और मेरे वन के पशु,
च मे वित्तम्	और मेरा पहले से प्राप्त धन,
च मे वित्तिः	और मेरा भावी धन,
च मे भूतम्	और मेरे निमित्त विद्यमान पुत्र-पौत्रादि,
च मे भूतिः	और मेरा स्वयं उपार्जित वैभव,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से (देवतागण) बढ़ाते रहें ॥ १४ ॥

सर्वहुत यज्ञ ! हो दयावान, राष्ट्र को करो नित प्रगतिमान।
अग्नियाँ हमारी हों ऊर्जित, हो तेज राष्ट्र का संवर्धित।
जलस्रोत हमारे हों अक्षय, नित वृद्धि करें सब वीरुधचय[1]।
बहुविध ओषधियाँ करें वृद्धि, हो उत्पादन की सत्य सिद्धि।
जोती या अनजोती धरती, उत्पादन रहे सदा करती।
गो आदि गाँव के पालित पशु, सब सिंह आदि आरण्यक-पशु[2]।
सब दिन-दिन दूनी करें वृद्धि, बढ़ती जाए इनकी समृद्धि।
सब पूर्व-उपार्जित[3] मेरा धन, जो अर्जनीय है भावी धन।
सबकी नित होती रहे वृद्धि, राष्ट्र की बढ़े दिन-दिन समृद्धि।
हम सबकी संतति हो महान, ऐश्वर्य रहे नित वर्द्धमान।
सर्वहुत यज्ञ ! हो शक्तिमान, फिर राष्ट्र हमारा हो महान ॥ १४ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्रीय जीवन के सर्वांगीण सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिए प्रार्थना की गई है। १४

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥

---

१ वृक्षसमूह; २ वन के जीव-जन्तु; ३ पहले कमाया गया।

मे वसु च	और निवास के योग्य मेरा धन,	च मे एमः	और मेरा साधन,
च मे वसतिः	और मेरा निवास-स्थान (गृह),	च मे इत्या	और मेरा इष्ट-प्राप्ति का उपाय,
च मे कर्म	और मेरा कर्म,	च मे गतिः	और मेरा गमन-सामर्थ्य
च मे शक्तिः	और मेरी कर्म करने की शक्ति,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के फलस्वरूप (देवता) बढ़ाते रहे ॥१५॥
च मे अर्थः	और मेरा अर्थ,		

हे यज्ञ ! करो वह धन प्रदान, आवास रहें नित वर्धमान।
मेरे गृह की हो वृद्धि सदा, कर्महित बनो चिर-सिद्धिप्रदा[1]।
हो कर्मशक्ति मेरी अक्षय, हो अर्थशक्ति मेरी अव्यय।
मेरे साधन हों वृद्धिगत, हो इष्टप्राप्ति मुझको अविरत।
गति[2] मेरी रहे अबाधित[3] नित, हे यज्ञ ! तुम्हें यह स्तुति अर्पित ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र में सभी को सब प्रकार की सुविधाओं से परिपूर्ण आवास-गृह प्राप्त हों। हमारी कर्मशक्ति और अर्थशक्ति की निरंतर वृद्धि होती रहे। हमारे अभ्युदय के साधनों की निरंतर वृद्धि हो और हमारी संचार-व्यवस्था विकसित होती रहे। १५

अ॒ग्निश्च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ सोम॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे सवि॒ता च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ सर॑स्वती च म॒ इन्द्र॑श्च मे पू॒षा च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ बृह॒स्पति॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १६ ॥

मे अग्निः च	और मेरे अग्नि	च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र,
च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र,	च मे पूषा	मेरे पूषा,
च मे सोमः	मेरे सोम	च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र,
च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र	च मे बृहस्पतिः	मेरे बृहस्पति
च मे सविता	मेरे सविता	च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र,
च मे इन्द्रः	और मेरे इन्द्र,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से अनुकूलता बढ़ाते रहें ॥ १६ ॥
च मे सरस्वती	मेरी सरस्वती		

सर्वहुत यज्ञ हे ! अग्नि-इन्द्र अनुकूल रहें।
अनुकूल सोम नित रहें, इन्द्र अनुकूल रहें॥

---

१ कर्मों को सिद्धि प्रदान करनेवाली; २ संचार; ३ बाधाहीन।

सविता की अनुकूलता रहे वर्द्धित संतत।
अनुकूल हमारे रहें इन्द्र देवता सतत॥
अनुकूल रहें वागधीश्वरी[1] वाणी सदेव।
अनुकूल हमारे रहें सदा ही इन्द्रदेव॥
पूषा की पोषणकरी निरंतर बढ़े पुष्टि।
सर्वत्र सर्वदा रहे इन्द्र की कृपादृष्टि॥
अनुकूल बृहस्पति रहें, इन्द्र अनुकूल रहें।
यज्ञ की कृपा से सुरगण सब अनुकूल रहें॥ १६॥

टि०—यज्ञ करने से सब देवताओं का कृपा-प्रसाद प्राप्त होता है, यह इस मंत्र में बताया गया है। इस मंत्र के अर्ध भाग में अन्य देवताओं से प्रार्थना की गई है और आधे में अकेले इन्द्र से। यास्क ने निरुक्त में इन्द्र शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। १६

मित्रश्चं म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता चं म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १७॥

मे मित्रः च	मेरे लिए मित्र देवता
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे वरुणः	मेरे लिए वरुण
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे धाता	मेरे लिए धाता
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे त्वष्टा	मेरे लिए त्वष्टा
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे मरुतः	मेरे लिए मरुत
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे विश्वेदेवा	मेरे लिए विश्वेदेवा देवता
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से सहायक सिद्ध हों॥ १७॥

मित्रदेवता इन्द्रदेव हों मेरे सदा सहायक।
रहें सर्वहुत यज्ञदेव नित मुझको सिद्धिप्रदायक॥
वरुणदेव हों इन्द्रदेव हों मुझको सब सुखदाता।
दें सौभाग्य अनन्त सौख्य नित इन्द्रदेवता, धाता[2]॥
त्वष्टा मुझको करे चिरन्तन वैभव का अधिकारी।
इन्द्रदेव आजीवन मुझको सिद्धि-वृद्धि दें न्यारी॥

---

१ सरस्वती; २ एक देवता का नाम।

मरुत्-इन्द्र दोनों सुर मुझको हों चिर मंगलकारी।
विश्वेदेवा और इन्द्र की कृपा रहे सुखकारी॥ १७॥

टि०—इस मंत्र में भी इन्द्र के विशिष्ट महत्त्व का निर्देश है। यज्ञों में प्रत्येक देवता के साथ-साथ वे हवि के अधिकारी होते हैं। ऋषि दयानंद ने यास्क की अर्थ-सरणि को ग्रहण करके इन्द्र के कई अर्थ करते हुए इस मंत्र का अर्थ किया है। इन्द्र विद्युत्-रूपी अग्नि हैं, वे सूर्य हैं। वे ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्राण और विद्युत् की विद्या जानकर उनका जीवन को महान बनाने के लिए वह उपयोग करे। १७

पृ॒थि॒वी च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ऽन्तरि॑क्षं च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ समा॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ नक्ष॑त्राणि च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ दिश॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १८ ॥

मे पृथिवी च	मेरे लिए भूमि
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे अन्तरिक्षम्	मेरे लिए अन्तरिक्ष लोक
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे द्यौः	मेरे लिए द्युलोक
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे समाः	मेरे लिए वर्षा के देवता
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे नक्षत्राणि	मेरे लिए अश्विनी आदि नक्षत्र
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
च मे दिशः	मेरे लिए दिशाएँ
च मे इन्द्रः	और मेरे लिए इन्द्र,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से सहायक सिद्ध हों ॥ १८ ॥

नित नव नव मंगलकारी हो यह धरती।
इन्द्र की कृपा हो हम पर नित्य बरसती॥
हो अन्तरिक्ष यह नित नव मंगलकारी।
हों इन्द्र देवता नित्य नवल सुखकारी॥
हो मेरे हेतु द्युलोक वृद्धिप्रद नित नव।
हों इन्द्रदेव की कृपा प्राप्त नित अभिनव॥
देवता वृष्टि के मेरे रहें सहायक।
हों इन्द्रदेव नित मुझको सिद्धिप्रदायक॥
अश्विनी[1] आदि नक्षत्र रहें शुभदाता।
हों इन्द्र नित्य ही मुझको सब सुखदाता॥

---

१ सत्ताईस नक्षत्रों में अश्विनी प्रथम है।

उन्नति चाहनेवाले मनुष्य को तीन बार पवित्र होकर यज्ञ करना चाहिए। तीन बार की पवित्रता का अर्थ है स्थान की शुद्धि, वस्त्र की शुद्धि और शरीर की शुद्धि। शरीर, मन और धन इन तीनों की शुद्धि अनिवार्य है, ये संकेत भी इस मन्त्र में है। इस मन्त्र में स्रुचा को आत्मसमर्पण का प्रतीक माना गया है। स्रुचा अर्थात् चमस् या स्रुवा को हाथ में पकड़कर यज्ञ में आहुति डाली जाती है। मनुष्य को भी स्रुवा की तरह अपने को लोक-हित में समर्पित करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को स्वयं यज्ञरूप बन जाना चाहिए। १

अदित्यै व्युन्दनमसि[1] विष्णो स्तुपोऽस्यू[2]र्णम्म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो[3] भुवपतये स्वाहा[4] भुवनपतये स्वाहा[5] भूतानां पतये स्वाहा[6] ॥ २ ॥

अदित्यै	(हे मानव! तू) अदीनता और अखंडितता की सिद्धि के लिए	त्वा स्तृणामि	मैं तुझे फैलाता हूँ।
व्युन्दनं असि	जल सींचनेवाला है।	भुवपतये	पृथ्वी के पालनकर्ता राजा के लिए
विष्णोः	सर्वव्यापक परमेश्वर विष्णु की	स्वाहा	सर्वस्व समर्पण हो।
स्तुपः असि	तू विशेष रचना है।	भुवनपतये	भुवनों के पालनकर्ता के लिए
देवेभ्यः स्वासस्थां	देवों के बैठने के लिए मृदु आसन बनाने के हेतु	स्वाहा	सर्वस्व समर्पण हो।
ऊर्णम्म्रदसं	ऊन जैसे कोमल आसन के रूप में	भूतानां पतये	सब प्राणियों के पालनकर्ता के लिए
		स्वाहा	सर्वस्व समर्पण हो ॥ २ ॥

सतत अखण्ड अदीन ज्ञान की ज्वलित शिखा तू।
सर्वव्यापक विष्णु - सृष्टि की दीप - शिखा तू ॥
अदिति[1] शक्ति का अखण्डता का है तू व्युंदन[2]।
तू ही करता अदिति-भाव का सेचन[3], वर्धन ॥
देव - शक्तियाँ रहें निरंतर तुझमें ऊर्जित।
इसीलिए करता रहता मैं तुझको विस्तृत ॥
सब देवों का धाम बने तू शुचितम मानव!।
इसीलिए विस्तृत करता मैं तुझको नित नव ॥

---

१ अखंडनीय; २ जल सीचने की क्रिया; ३ सींचना।

हों मैत्रावरुण और आश्विन चिर सुखकारी।
प्रस्थान, शुक्र, मंथी हों नित मांगलकारी॥
ग्रह रहें सहायक ये मेरे सर्वत्र सदा।
इनकी गति-सृति[1] हो हम सबको मांगल्यप्रदा॥ १९॥

टि०—उव्वट ने अंशु, रश्मि, अदाभ्य, अधिपति, उपांशु आदि को ग्रह माना है। वेदमूर्त्ति सातवलेकर जी भी यही मानते हैं। स्वामी दयानंद इनका नितान्त भिन्न अर्थ करते हैं। कम-से-कम इन नामों वाले ग्रहों की चर्चा आगे के पौराणिक काल में नहीं मिलती। इस मंत्र में उक्त ग्रहों के नामों के साथ इंद्र, वायु, मैत्रावरुण, शुक्र आदि देवताओं के नाम भी आये है। १९

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २०॥

मे आग्रयणः च	और मेरे लिए आग्रयण,
च मे वैश्वदेवः	और मेरे निमित्त वैश्वदेव,
च मे ध्रुवः	और मेरे लिए ध्रुवग्रह,
च मे वैश्वानरः	और मेरे लिए वैश्वानर ग्रह,
च मे ऐन्द्राग्नः	और मेरे निमित ऐन्द्राग्न ग्रह,
च मे महावैश्वदेवः	और मेरे निमित्त महावैश्वदेव,
च मे मरुत्वतीयाः	और मेरे निमित मरुत्वतीय,
च मे निष्केवल्यः	और मेरे लिए निष्केवल्य,
च मे सावित्रः	और मेरे निमित्त सावित्र,
च मे सारस्वतः	और मेरे लिए सारस्वत,
च मे पात्नीवतः	और मेरे निमित, पात्नीवत,
च मे हारियोजनः	और मेरे निमित्त हारियोजन
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ द्वारा सहायक सिद्ध हों॥ २०॥

आग्रयण सहायक हों मेरे इस यज्ञ में।
दें वैश्वदेव साहाय्य-सिद्धि इस यज्ञ में॥
ध्रुव ग्रह वैश्वानर ग्रह दोनों अनुकूल रहें।
ऐंद्राग्न रहें अनुकूल सिद्धि हम सदा लहें॥

हों दसों दिशाएँ हम सबको मंगलकर।
हो कृपा-प्रसाद इन्द्र का प्राप्त निरंतर ॥ १८ ॥

टि०—इस मंत्र में समस्त भौतिक पर्यावरण और अदृष्ट दैवी परिवेश के नित्य मंगलकारी होने के लिए प्रार्थना की गई है। इन्द्र सब दैवी शक्तियों के नियंत्रक हैं, व्यवस्थापक हैं, सुरेश्वर हैं, इसलिए उनको सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक तीनों की अनुकूलता का साधक यह मंत्र है। १८

अ॒ꣳशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॒ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑पतिश्च म उपा॒ꣳशुश्च॑ मेऽन्तर्या॒मश्च॑ म ऐन्द्रवाय॒वश्च॑ मे मैत्रावरु॒णश्च॑ म आश्वि॒नश्च॑ मे प्रतिप्र॒स्थान॑श्च मे शु॒क्रश्च॑ मे म॒न्थी च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ।१९।

मे अंशुः च	और मेरे लिए अंश,
च मे रश्मिः	और मेरे लिए किरण,
मे अदाभ्यः च	और मेरे निमित्त अदाभ्य ग्रह,
च मे अधिपतिः	और मेरे निमित्त अधिपति,
च मे उपांशुः	और मेरे लिए उपांशु ग्रह,
च मे अन्तर्यामः	और मेरे लिए अन्तर्याम,
च मे ऐन्द्रवायवः	और मेरे लिए इन्द्र और वायु,
च मे मैत्रावरुणः	और मेरे लिए मैत्रावरुण,
च मे आश्विनः	और मेरे लिए दोनों अश्विनीकुमार,
च मे प्रतिप्रस्थानः	और मेरे लिए प्रतिप्रस्थान,
च मे शुक्रः	और मेरे लिए शुक्र,
च मे मन्थी	और मेरे निमित्त मन्थी ग्रह
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ द्वारा सहायक सिद्ध हों ॥ १९ ॥

सर्वहुत यज्ञ! अनुकूल रहें सब ग्रह मेरे।
संवर्द्धित नित नव प्रेय श्रेय सब हों मेरे ॥
हों अंशु और रवि-रश्मि सर्वदा सुखदायक।
हो ग्रह अदाभ्य[2] अधिपति निःशेष श्रेयदायक ॥
दोनों ग्रह अन्तर्याम उपांशु रहें सुखप्रद।
हों इन्द्र, वायु दोनों हम सबको मंगलप्रद ॥

१ चाल के विभिन्न रूप; २ सोम अदाभ्य भी कहा जाता है।

ग्रावा के द्वारा हो अपना मंगल सदैव।
अधिषवण[1] करे मेरा शुभ संतत यज्ञदेव॥
पूतभृत[2] पात्र यह करे सर्वदा हित-साधन।
हो आधवनीय सदा मेरा शुभकर प्रतिक्षण॥
वेदिका-कुशा मेरा हित करते रहें सदा।
हों स्वगाकार[3] अवभृथस्नान[4]-कृति मोदप्रदा॥ २१॥

टि०—यज्ञ में प्रयुक्त उपकरणों में मंत्र द्वारा दिव्यता हेतु उनके मंगलकारी होने की प्रार्थना की गई है। स्रुवा, चमस आदि यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों के नाम हैं। २१

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २२॥

च मे अग्निः और मेरे लिए अग्नि,
च मे घर्मः और मेरे लिए प्रवर्ग्य इष्टि,
च मे अर्कः और मेरे लिए पुरोड़ाश सम्बन्धी याग,
च मे सूर्यः और मेरे निमित्त सूर्य,
च मे प्राणः और मेरे लिए प्राण,
च मे अश्वमेधः और मेरे निमित्त अश्वमेध यज्ञ,
च मे पृथिवी और मेरे लिए भूमि,
च मे दितिः और मेरे निमित्त दिति देवी,
च मे अदितिः और मेरे लिए अदिति देवमाता,
च मे द्यौः और मेरे निमित्त द्युलोक,
च मे अङ्गुलयः और मेरे लिए विराट् पुरुष के अवयव,
च मे शक्वरयः और मेरे निमित्त शक्तियाँ,
च मे दिशः और मेरे निमित्त दिशाएँ,
यज्ञेन कल्पन्ताम् यज्ञ से सहायक सिद्ध हों॥ २२॥

यह यज्ञ हमारे हेतु बने मंगलदाता।
हो अग्नि हमारे हेतु सहायक सुखदाता॥
हो सदा सहायक मंगलप्रदा अवर्ग्य इष्टि।
नित पुरोड़ाशयुत याग करे सौभाग्य-वृष्टि॥

१ काष्ठफलक; २ सोम रखने का पात्र; ३ पात्र-विशेष; ४ यज्ञान्त स्नान।

हो महावैश्वदेवों की कृपा प्राप्त हमको।
दें मरुत्वतीय नित नवल अभीप्सित फल हमको॥
ग्रह निष्कैवल्य रहें मेरे अनुकूल सदा।
सावित्र और सारस्वत-गति हो मोदप्रदा[1]॥
पात्नीवत रहें सहायक संतत वरदायक।
नित रहें हारियोजन यज्ञों के फलदायक॥ २०॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र में कुछ विशिष्ट ग्रहों से यज्ञ में सिद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई थी। इस मंत्र में अन्य ग्रहों से यज्ञ में सहायक होने के लिए याचना की गई है। ग्रहों के ये नाम अब परिचित नहीं रहे है। वैदिक साहित्य में वर्णित ग्रहों में आज किसका क्या रूप ग्रहण किया, इस शोध की आवश्यकता है। २०

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२१॥

मे स्रुचः च	और मेरे लिए स्रुवा,
च मे चमसाः	और मेरे लिए चमस,
च मे वायव्यानि	और मेरे लिए वायव्यपात्र,
च मे द्रोणकलशः	और मेरे निमित्त द्रोणकलश,
च मे ग्रावाणः	और मेरे निमित्त ग्रावा,
च मे अधिषवणे	और मेरे निमित्त काष्ठफलक,
च मे पूतभृत्	और मेरे निमित्त पूतभृत् सोमपात्र विशेष,
च मे आधवनीयः	और मेरे निमित्त आधवनीय पात्र,
च मे वेदिः	और मेरे लिए वेदि,
च मे बर्हिः	और मेरे लिए कुश,
च मे अवभृथः	और मेरे निमित्त अवभृथ स्नान,
च मे स्वगाकारः	और मेरे निमित्त स्वगाकार नामक पात्र,
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से सहायक सिद्ध हों॥ २१॥

यज्ञ में सिद्धि के साधक हों उपकरण सकल।
सब यज्ञपात्र दें हमें निरंतर अभिमत फल॥
हों स्रुचा-चमस यज्ञ के सकल शुभफल-साधक।
हों द्रोणकलश वायव्य पात्र मंगल साधक॥

---

१ आनन्द देनेवाली।

यही उसकी सार्थकता है। यही वास्तविक यज्ञ है। यह पहले ही कहा जा चुका है, भगवान का एक नाम सर्वहुत यज्ञ है, क्यों कि वे कोई कामना, स्वार्थ या फलस्पृहा न होते हुए भी वे जीव मात्र के कल्याण के लिए कर्मरत रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए लिखा है— 'ध्वज कुलिस अंकुश कंज जुत वन फिरत कंटक किन लहे।' राम सर्वेश्वर सर्वसमर्थ कर्तुमकर्तुमन्यथा–कर्तु-समर्थ होते हुए भी वन में घूमते हैं और उनके पैर काँटों से विंध जाते है। भगवान के अवतार के सर्वहुत यज्ञमय होने का यही रहस्य है। २३

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

मे एका च	और मेरे निमित्त एक संख्या स्तोम,
च मे तिस्रः	और मेरे निमित्त तीन संख्या,
च मे तिस्रः	और मेरे निमित्त तीन संख्या
च मे पञ्च	और मेरे निमित्त पाँच संख्यक,
च मे पञ्च	और मेरे निमित्त पाँच
च मे सप्त	और मेरे निमित्त सात संख्यक,
च मे सप्त	और मेरे निमित्त सात
च मे नव	और मेरे निमित्त नौ,
च मे नव	और मेरे निमित्त नौ
च मे एकादश	और मेरे निमित्त ग्यारह,
च मे एकादश	और मेरे निमित्त ग्यारह
च मे त्रयोदश	और मेरे निमित्त तेरह,
च मे त्रयोदश	और मेरे निमित्त तेरह
च मे पंचदश	और मेरे निमित्त पन्द्रह,
च मे पंचदश	और मेरे निमित्त पन्द्रह,

नित सूर्य हमारे हेतु करें सौभाग्य-दान।
अनवरत प्राण ये करें हमें ऊर्जा-प्रदान॥
हो अश्वमेध हम सबके हित नित मंगलप्रद।
यह भूमि हमारे हेतु रहे सर्वदा सुखद॥
दिति-अदिति हमारे हेतु सहायक रहें उभय।
दिव रहे हमारे हेतु नित्य अनुकूल सदय॥
हो चिर मंगलकारी विराट् का प्रति अवयव।
शक्तियाँ बाह्य आभ्यन्तर हों संतत शिवमय॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में भी यज्ञ से संबंधित सब देवताओं और सामग्री आदि के मंगलमय सहायक और सफलताविधायक होने के लिए प्रार्थना की गई है। इस मंत्र में अश्वमेध का अर्थ राज्य, देश और राजनीति है कम-से-कम इन की ओर संकेत करता है। २२

व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।२३।

मे व्रतम् च	और मेरे लिए नियम,	च मे ऊर्वष्ठीवे	और मेरे निमित्त उरु और जानुनी (घुटने) नामक अङ्ग,
च मे ऋतवः	और निमित्त ऋतुएँ,	च मे बृहद्रथन्तरे	और मेरे निमित्त बृहद्रथन्तरसाम
च मे तपः	और मेरे लिए तप,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ से सहायक सिद्ध हों ॥ २३ ॥
च मे संवत्सरः	और मेरे लिए संवत्सर,		
च मे अहोरात्रे	और मेरे लिए दिन-रात,		

हे यज्ञ! सहायक बनो, सफल हों मेरे व्रत।
ऋतुओं का क्रम अनुकूल रहे मेरे संतत॥
मेरे सब तप-साधन हों जग के मंगलकारी।
संवत्सर[1] मेरे हेतु रहें सब शुभकारी॥
प्रति अहोरात्र[2] मैं रहूँ प्राणिसेवा में रत।
उरु, जानु आदि सब अंग रहें कल्याणनिरत॥
सर्वहुत यज्ञ! तुम करो यज्ञमय यह जीवन।
सबके सुख के हित अर्पित हो मेरा जीवन॥ २३॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा व्रत-नियम, ऋतु-क्रम, संवत्सर, दिन-रात आदि मंगलमय बनते हैं, यह निर्देश किया गया है। साथ ही शरीर के सब अंग भी स्वस्थ रहते हैं। सबका अंतिम उद्देश्य है, मनुष्य का जीवन लोकहित में अर्पित रहे।

---

१ वर्ष; २ दिन-रात।

टि०—इस मंत्र में होम और स्तवन का ऐसा विधान बताया गया है, जो परमसिद्धि-प्रद कहा गया है। यह विधान अयुग्मस्तोम होम कहा जा सकता है। इसका अर्थ है, एक को ग्रहण कर दूसरे को छोड़कर तीसरे स्तोम के साथ होम करना। युग्म का यह त्याग तेंतीसवे स्तोम तक चलना चाहिए। क्रम इस प्रकार का हो— १+३, ३+५, ५+७, ७+९, ९+११, ११+१३, १३+१५, १५+१७, १७+१९, १९+२१, २१+२३, २३+२५, २५+२७, २७+२९, २९+३१ और ३१+३३। तेंतीस तक का यह क्रम निर्धारित है। २४

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२५॥

च मे चतस्र	और मेरे निमित्त चार संख्यक स्तोम	च मे चतुर्विशतिः	और मेरे निमित्त चौबीस,
च मे अष्टौ	और मेरे निमित्त आठ,	च मे चतुर्विशतिः	और मेरे निमित्त चौबीस
च मे अष्टौ	और मेरे निमित्त आठ	च मे अष्टाविंशतिः	और मेरे निमित्त अट्ठाईस,
च मे द्वादश	और मेरे निमित्त बारह,	च मे अष्टाविंशतिः	और मेरे निमित्त अट्ठाईस
च मे द्वादश	और मेरे निमित्त बारह	च मे द्वात्रिशत्	और मेरे निमित्त बत्तीस,
च मे षोडश	और मेरे निमित्त सोलह,	च मे द्वात्रिशत्	और मेरे निमित्त बत्तीस
च मे षोडश	और मेरे निमित्त सोलह	च मे षड्त्रिशत्	और मेरे लिए छत्तीस,
च मे विंशतिः	और मेरे निमित्त बीस,	च मे षड्त्रिशत्	और मेरे लिए छत्तीस
च मे विंशतिः	और मेरे निमित्त बीस	च मे चत्वारिंशत्	और मेरे लिए चालीस,

च मे सप्तदश	और मेरे निमित्त सत्रह,
च मे सप्तदश	और मेरे निमित्त सत्रह
च मे नवदश	और मेरे निमित्त उन्नीस,
च मे नवदश	और मेरे लिए उन्नीस
च मे एकविंशतिः	और मेरे निमित्त इक्कीस,
च मे एकविंशतिः	और मेरे निमित्त इक्कीस
च मे त्रयोविंशतिः	और मेरे निमित्त तेईस,
च मे त्रयोविंशतिः	और मेरे निमित्त तेईस
च मे	और मेरे निमित्त
पञ्चविंशतिः	पचीस,
च मे	और मेरे निमित्त
पञ्चविंशतिः	पचीस
च मे सप्तविंशतिः	और मेरे निमित्त सत्ताईस,
च मे सप्तविंशतिः	और मेरे निमित्त सत्ताईस
च मे नवविंशतिः	और मेरे निमित्त उन्तीस,
च मे नवविंशतिः	और मेरे निमित्त उन्तीस
च मे एकत्रिंशत्	और मेरे निमित्त एकतीस,
च मे एकत्रिंशत्	और मेरे निमित्त इक्कीस
च मे त्रयस्त्रिंशत्	और मेरे निमित्त तैंतीस,
च मे त्रयस्त्रिंशत्	और मेरे निमित्त तैंतीस स्तोम
यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के द्वारा सहायक सिद्ध हों ॥२४॥

ये अयुग्म स्तोम हैं होम मंत्र, यज्ञ की सिद्धि के परम तंत्र।
तज युग्म अयुग्म[1] युक्त संस्तव, देते हैं मंगल नित नव-नव।
शुचि स्तुति यह एक-तीन संख्यक, फिर तीन-पाँच संख्यक सम्यक्।
फिर पंच-सप्त स्तोम से होम, फिर सोम सप्त-नव सहित होम।
फिर नव-एकादशयुत आहुति, फिर ग्यारह-तेरह की आवृत्ति।
तेरह-पन्द्रह, पन्द्रह-सत्रह, ये योग सिद्धिप्रद हैं अहरह।
यह क्रम है अनुसरणीय सतत, सत्रह-उन्नीस योग शुभकृत।
उन्नीस और इक्कीसयुक्त, इक्कीस-त्रयोविंशति सुयुक्त।
तेईस-पचीस योग सुन्दर, होता है स्तोमों का सुखकर।
फिर पंचविंश-सह सप्तविंश, सह सप्तविंश के ऊनत्रिंश।
उनतीस-इकतीस-योग शुभप्रद, इकतीस और तैंतीस शुभद।
यह योग अयुग्म सदा शुभकर, याजक के हित चिर मंगलकर।
है गुह्य स्तोम का यह विधान, साधक को देता सिद्धिदान ॥ २४ ॥

१ जोड़े या जुट को छोड़ने की प्रक्रिया।

च मे पञ्चाविः	और मेरे निमित्त ढाई वर्ष का वृष	च मे तुर्यवाट्	और मेरे लिए साढ़े तीन वर्ष का वृष
च मे पञ्चावी	और मेरे निमित्त ढाई वर्ष की गाय,	च मे तुर्यौही	और मेरे लिए साढ़े तीन वर्ष की गाय
च मे त्रिवत्सः	और मेरे निमित्त तीन वर्ष का वृष	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के फल से (सब प्रकार के पशुओं से संयुक्त हों और) उन्नति प्राप्त कराएँ ॥ २६ ॥
च मे त्रिवत्सा	और मेरे निमित्त तीन वर्ष की गाय,		

पशु सब प्रकार के रहें यज्ञ से रक्षित।
बहुविध वय के पशु करें निरंतर उन्नति ॥
यह डेढ़ वर्ष का वत्स और यह वत्सा।
वृष दो वर्षों का, वैसी सुरभि-प्रशस्या[1] ॥
ढाई वर्षों का वृषभ, गाय उस वय की।
हो तीन वर्ष की वय गो-वृषभ उभय की ॥
वृष-गो दोनों हों साढ़े तीन वर्ष के।
सब बनें यज्ञ से संतत पात्र हर्ष के ॥ २६ ॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ द्वारा विशेष रूप से गायों और बैलों की रक्षा पर बल दिया गया है। डेढ़, दो, ढाई, तीन और साढ़े तीन वर्षों तक उनका विशेष लालन-पालन, भरण-पोषण होना चाहिए। ये सब पशु सुखी रहें, यज्ञ का यह एक प्रमुख लक्ष्य है। गो-वृष के उपलक्षण से और पशुओं का भी ग्रहण होता है। सब पशु सुखी रहें, पीड़ित न हों, यज्ञ की यह कसौटी है। २६

पुष्ठवाट् चं मे पष्ठौही चं म उक्षा चं मे वुशा चं म ऋषभश्चं मे वेहच्चं मेऽनुड्वाँश्चं मे धेनुश्चं मे युज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥

मे पष्ठवाट् च	मेरे लिए चार साल का वृष	च मे वशा	और मेरे निमित्त वन्ध्या गौ,
च मे पष्ठौही	और मेरे निमित्त चार वर्ष की गाय,	च मे ऋषभः	और मेरे निमित्त अतियुवा वृष
च मे उक्षा	और मेरे निमित्त सेचन-समर्थ वृष	च मे वेहत्	और मेरे निमित्त गर्भघातिनी गौ,

१ प्रशंसनीय।

च मे चत्वारिंशत्	और मेरे लिए चालीस	च मे	और मेरे लिए
च मे	और मेरे लिए	अष्टचत्वारिंशत्	अड़तालीस,
चतुश्चत्वारिंशत्	चौवालीस,	यज्ञेन कल्पन्ताम्	और मेरे लिए ये यज्ञ द्वारा सहायक हो जायें ॥ २५ ॥
च मे	और मेरे लिए		
चतुश्चत्वारिंशत्	चौवालीस		

यह युग्म स्तोम का योग शुभद, करता यज्ञों को मंगलप्रद।
चार का आठ का योग सदा, करता है क्रतु-कृति को सुखदा।
वैसे ही आठ और द्वादश, द्वादश के साथ युक्त षोडश।
षोडश-विंशति दोनों मिलकर, मुझको हों संतत मंगलकर।
मिल बीस और चौबीस स्तोम, सिद्धिप्रद बनाते सदा होम।
चौबीस और अष्टाविंशति, मिलकर करते अमोघ क्रतु-कृति।
अष्टाविंशति-बत्तीस मिले, तो कल्पलता में सुमन खिलें।
बत्तीस और छत्तीस योग, देता है अभिमत सभी भोग।
षड्‌त्रिंशत्[1]-चत्वारिंश उभय, चत्वारिंशत[2]-चौवालिस द्वय।
ये योग सदा ही मंगलकर, चौवालिस-अड़तालिस शुभकर।
ये युग्म-योग कामप्रद नित, यज्ञ में सहायक हैं सुविदित ॥ २५ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र में अयुग्म योगों के महत्त्व का वर्णन है। इस मंत्र में युग्म स्तोमों के प्रयोग की प्रक्रिया बतलाई गई है। इन स्तोमों का युग्म-संयोग इस प्रकार है— ४-८, ८-१२, १२-१६, १६-२०, २०-२४; २४-२८, २८-३२, ३२-३६, ३६-४०, ४०-४४ और ४४-४८। २५

त्र्यविंश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

मे त्र्यविः च	और मेरे निमित्त डेढ़ वर्ष का बछड़ा	च मे दित्यवाट्	और मेरे लिए दो वर्ष का वृष अर्थात् दो वर्ष का बैल
च मे त्र्यवी	और मेरे निमित्त डेढ वर्ष की बछिया,	च मे दित्यौही	और मेरे लिए दो वर्ष की गाय,

१ छत्तीस; २ चालीस।

भू-पालक[१] के हेतु समर्पण कर तू संतत।
राज्य-व्यवस्था रहे प्रजाओं के हित में रत॥
भुवनस्पति[२] के हेतु समर्पण हो नित तेरा।
सर्वभूतहित रहे समर्पण होता तेरा॥
भुवपति के हित अर्पित करता हूँ हवि, स्वाहा।
भुवनों के पालनकर्ता के हित नित स्वाहा॥
भूतों के पति पालनकर्ता के हित स्वाहा॥ २॥

टि०—इस कण्डिकाः में अदिति शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। अदिति का अर्थ है अदीनता, अखण्डता, मिलकर रहने की आकांक्षा। इस मंत्र में कहा गया है कि हे मानव ! तू अदीनता और अखण्डता को जल से सींचकर निरंतर बढ़ाता रहता है। व्युंदन का अर्थ है 'जल से सींचना'। जिस प्रकार जल से सींचने से मिट्टी गीली हो जाती है और उसके कण एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं, उसी प्रकार अदिति-भाव मानव को संगठित करता है और एक सूत्र में बांधता है। तभी मनुष्य बड़े से बड़े काम कर सकता है। २

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः॥ ३॥

विश्वस्य अरिष्ट्यै	विश्व का विनाश न हो इसलिए (यज्ञ करना) आवश्यक है।	गन्धर्वः	गति का प्रेरक परमेश्वर
ईडे अग्निः ईडितः	सब लोगों के हित के लिए एवं वाणी की पवित्रता के लिए अग्नि प्रशंसित हुआ है।	त्वा	तुझको
यजमानस्य	यज्ञ करनेवाले की	परिदधातु	चारों ओर से धारण करे।
परिधिः असि	सुरक्षा (आवश्यक) है।	विश्वस्य	विश्व को
विश्वावसुः	सब विश्व को व्यापनेवाला	अ-रिष्ट्यै	सुरक्षित रखने के लिए
		ईडे अग्निः	यज्ञ में अग्नि की
		ईडितः	स्तुति की गई है।
		यजमानस्य	(तू) यजमान का

१ पृथ्वी के पालक; २ पृथ्वी के स्वामी।

च मे अनड्वान	और मेरे निमित्त शकट वहन करने में समर्थ बैल	यज्ञेन कल्पन्ताम्	यज्ञ के फलस्वरूप सहायक सिद्ध हों (सब प्रकार के पशुओं से हम युक्त हों) ॥ २७ ॥
च मे धेनुः	और मेरे लिए नवप्रसूता गौ		

यज्ञ से हमारे गोधन का हो मंगल।
गोधन से होते प्राप्त सहज सब कृषिफल ॥
ये चार वर्ष के बैल-गाय सब मेरे।
सेचन-समर्थ[1] वृष वंध्या गोकुल मेरे ॥
अति युवा वृषभ सब गर्भधारिणी गायें।
वृष अनड्वान[2] ये सद्य-प्रसूता गायें ॥
ये सभी यज्ञ से वृद्धि करें दिन दूनी।
गोशालाएँ हों कभी न अपनी सूनी ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में विभिन्न वय और अवस्थाओं के बैलों और गायों की वृद्धि करनेवाले यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए कहा गया है। गोधन की वृद्धि और कृषि की समृद्धि को भी यज्ञ ही माना गया है। २७

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। इयं ते राण्मित्राय यन्ताऽसि यमन ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्रजानां त्वाऽऽधिपत्याय ॥ २८ ॥

वाजाय स्वाहा	अधिक अन्न उत्पादक चैत्र मास के लिए यह आहुति दी जाती है।	प्रसवाय स्वाहा	जल-क्रीडादि की अनुज्ञारूप वैशाख मास के निमित्त यह आहुति दी जाती है।

१ संतान उत्पन्न करने योग्य; २ गाड़ी खींचने में समर्थ बैल।

अपिजाय स्वाहा	जल-क्रीड़ा में रतिकारक ज्येष्ठ मास के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
क्रतवे स्वाहा	यागरूप आषाढ़ के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
वसवे स्वाहा	वसुरूप श्रावण के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
अहर्पतये स्वाहा	दिन के पालक भाद्र मास के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
मुग्धायाह्ले स्वाहा	तुषार से मोहकारक आश्विन मास के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
मुग्धाय	मोह पैदा करनेवाले
वैनंशिनाय स्वाहा	कार्तिक के निमित्त यह आहुति दी जाती है।
विनंशिने	विनाश-रहित
आन्त्यायनाय	अंत में स्थित मार्गशीर्ष के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
आन्त्याय	स्वरूप में मोहनेवाले
भौवनाय	भुवनों के पोषक जठराग्नि के दीप्त करनेवाले पौष मास के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
भुवनस्य पतये	भुवन के समस्त प्राणियों के रक्षक माघ मास के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
अधिपतये	वर्षान्त होने से अधिक पालक फाल्गुन मास के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
प्रजापतये	द्वादश महीने के अधिष्ठाता प्रजापति के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
इयं ते	यह तुम्हारा
राट्	राज्य है।
मित्राय	तुम सखा-रूप के लिए
यन्ता	नियामक
असि	हो।
यमनः	(तुम) यज्ञादि कर्मों में सबका नियन्ता हो।
ऊर्जे त्वा	परम अन्नादि पोषक पदार्थों की रक्षा के लिए,
वृष्ट्यै त्वा	प्रजा पर सुखों की वर्षा करने के लिए
प्रजानाम्	प्रजाओं पर
अधिपत्याय	राज्य करने के लिए
त्वा	मैं तुम्हें आधार-रूप मानता हूँ ॥ २८ ॥

यह चैत्रमास है अधिक अन्न उपजाता।
इसके हित अर्पित है यह शुचि हवि स्वाहा॥
वैशाख मास जलप्रीति अनुज्ञादाता।
है इसके हेतु समर्पित यह हवि स्वाहा॥
यह ज्येष्ठ मास जलक्रीड़ा में रतिकारी।
है इसके हित अर्पित हवि सम्यक् स्वाहा॥
आषाढ़ मास है यज्ञरूप ऋतुवर्द्धन[1]।
हो इसके हेतु समर्पित यह हवि स्वाहा॥
यात्रा निषिद्ध कर सबका वास-प्रदाता।
है श्रावण के हित अर्पित आहुति स्वाहा॥
अर्हपति भाद्र यह सूर्यताप-संवर्द्धक।
उसके हित अर्पित है यह आहुति स्वाहा॥
करता तुषार से मोहाच्छन्न दिशा जो।
उस आश्विन के हित अर्पित आहुति स्वाहा॥
बहुविध अमोहप्रद कार्तिक नियम-परायण।
इसके हित अर्पित है यह आहुति स्वाहा॥
सर्वान्तःस्थित यह मार्गशीर्ष अविनाशी।
इस विष्णुरूप के हित आहुति यह स्वाहा॥
यह लोकस्वरूप-पुष्टिकर[2] सबका पोषक।
जठराग्निप्रदीपक सतत स्वास्थ्यसंवर्धक।
इस पौष मास के हित यह आहुति स्वाहा॥
है सकल भुवन के प्राणिमात्र का रक्षक।
यह माघ मास, इसके हित आहुति स्वाहा॥
अधिपति है सबका फाल्गुन मंगलदायक।
इसके हित अर्पित है यह आहुति स्वाहा॥
हे प्रजापते! द्वादश मासों के स्वामी!।
मास-क्रम तुम्हारी इच्छा का अनुगामी।
हे देव! तुम्हें अर्पित यह आहुति स्वाहा॥
हे प्रजापते! यह राज्य तुम्हारा विस्तृत।
हो सखारूप में [illegible]! नियामक तुम नित॥

१ यज्ञों के अनुष्ठान [illegible] ा; २ लोक के स्वरूप का पोषण द्वा नवनिर्माण करनेवाला।

सब ऋतुकर्मों के तुम्हीं नियन्ता सुविदित।
अन्नादि पदार्थों की रक्षा करते नित ॥
तुम प्रजाजनों पर सुख की वर्षा करते।
आधार प्रजा के शासन का हो बनते ॥
प्रति मास प्रजापति हित आहुति यह स्वाहा।
सब मास सुखद हों, आहुति अर्पित स्वाहा ॥ २८ ॥

टि०—यह मंत्र अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें काल के नियामक भगवान प्रजापति को आहुति अर्पित करने का विधान वर्णित है। काल के नियामक प्रजापति ने बारह मासों की सृष्टि की है। प्रत्येक मास को उसकी प्रमुख विशेषता का निर्देश करते हुए आहुति देने का विधान किया गया है। मासों की जो ऋतु-सम्बन्धी या आकाशीय विशेषताएँ इस मंत्र में बताई गई हैं, वे आज के मासों की स्थिति से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए आश्विन मास को तुषार अर्थात् कुहरे या पाले के कारण मोह-कारक कहा गया है, यह स्थिति क्वार के महीने में प्रायः देखने में नहीं ही आती। इसमें पौष मास को स्वरूप में मोदक और जठराग्नि का वर्धक कहा गया है। जठराग्नि का वर्धक तो वह होता है, पर उसके स्वरूप की उसकी मोदकता अपने क्षेत्र में आज के पौष का स्वरूप देखते हुए संदिग्ध है। तात्पर्य यह कि यजुर्वेद में आये हुए मासों के इस विवरण का भौगोलिक दृष्टि से अनुसंधान अपेक्षित है। इस मंत्र की रचना किस भौगोलिक क्षेत्र में हुई ? अथवा जिस क्षेत्र में इस मंत्र की अथवा अन्य मंत्रों की रचना हुई, क्या उनकी भौगोलिक और मौसमी स्थिति में अब परिवर्तन हो गया है ? इस मंत्र में मार्गशीर्ष मास को विनाश-रहित और अंत में स्थित कहा गया है। लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने मार्गशीर्ष के संबंध में कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'। वेद और गीता के मार्गशीर्ष-संबंधी कथन में क्या कोई तारतम्य है ? माघ मास को इस मंत्र में 'भुवनस्य पतये स्वाहा' कहकर और फाल्गुन को 'अधिपतये स्वाहा' कहकर आहुति दी गई है। ये प्रसंग भी विचारणीय हैं। भगवान् ने गीता में काल की महिमा का स्वयं वर्णन किया है— 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'। २८

आयु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ
श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ वाग्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पताम॒ात्मा
य॒ज्ञेन॑ कल्पतां ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ
स्व॒र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पतां य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पताम् ।
स्तोम॑श्च॒ यजु॑श्च॒ ऋक् च॒ साम॑ च बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॑ ।
स्व॑र्देवा अगन्मा॒मृता॑ अभूम प्र॒जाप॑तेः प्र॒जा अ॑भूम॒ वेट् स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

यज्ञेन आयुः	यज्ञ के प्रसाद से आयु की	यज्ञेन प्राणः	यज्ञ से प्राण रोग-रहित एवं
कल्पताम्	वृद्धि हो।	कल्पताम्	बलिष्ठ हों।

यज्ञेन चक्षुः	यज्ञ से नेत्र उत्कृष्टता को
कल्पताम्	प्राप्त हो।
यज्ञेन श्रोत्रं	यज्ञ से श्रोत्र (कर्ण) उत्कर्ष को
कल्पताम्	प्राप्त हो।
यज्ञेन वाक्	यज्ञ से वागिन्द्रिय उत्कर्ष को
कल्पताम्	प्राप्त हो।
यज्ञेन मनः	यज्ञसे मन स्वस्थता
कल्पताम्	को प्राप्त हो।
यज्ञेन	यज्ञ से
आत्मा कल्पताम्	आत्मा प्रसन्नता को प्राप्त हो।
यज्ञेन ब्रह्मा	यज्ञ से चारों वेदों के विद्वान ब्रह्मा
कल्पताम्	सन्तुष्ट रहें।
यज्ञेन ज्योतिः	यज्ञ से स्वयंप्रकाश
कल्पताम्	परमात्मा प्राप्त हो।
यज्ञेन स्वः	यज्ञ से स्वर्ग
कल्पताम्	प्राप्त हो।
यज्ञेन पृष्ठं	यज्ञ से स्वर्ग-स्थानीय परमसुख
कल्पताम्	प्राप्त हो।
यज्ञेन यज्ञः	यज्ञ से यज्ञ उत्कर्ष
कल्पताम्	को प्राप्त हो।
स्तोमः यजुः	स्तुति के मन्त्र अथर्ववेद, यजुर्वेद,
ऋक् च	ऋग्वेद और
साम च	सामवेद तथा
बृहत् च रथन्तरम्	बृहत् एवं रथन्तर भी यज्ञ से प्राप्त हों,
च देवाः स्वः	और समस्त देवगण
स्वः अगन्म	सुख को प्राप्त हों,
अमृताः अभूम	वे अमृत-सुखों को उपलब्ध करें।
प्रजापतेः प्रजाः	(हम सब) प्रजा के पालक परमेश्वर की प्रजा बनकर
अभूम	रहें।
वेट् स्वाहा	उत्तम सत्कर्मानुष्ठान द्वारा हम श्रेष्ठ यश और मान प्राप्त करें (इस कारण यह आहुति भली प्रकार अर्पित है) ॥ २९ ॥

सर्वहुत यज्ञ हों सबको मंगलकारी।
आयुष्य-वृद्धि[1] नित होती रहे हमारी॥
यज्ञ से प्राण हों रोग-रहित बलवत्तर।
यज्ञ से हमारे चक्षु बने उत्तमतर॥
यज्ञ हो श्रवण के हित उत्कर्षविधायक।
यज्ञ से बने वागिन्द्रिय सिद्धिप्रदायक॥
यज्ञ से करे मन सदा स्वास्थ्य-संपादन[2]।
इससे आत्मा का होता रहे प्रसादन॥

---

१ आयु का बढ़ना; २ स्वास्थ्य की प्राप्ति।

चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा सुविदित।
यज्ञ से रहें वे सब सन्तुष्ट-पुष्ट नित॥
यज्ञ से प्राप्त हों स्वयंज्योति परमेश्वर।
यज्ञ से प्राप्त हो स्वर्ग सदा जो सुखकर॥
यज्ञ से प्राप्त हो शाश्वत दिव्य परमसुख।
यज्ञ से यज्ञ हो उन्नति के प्रति अभिमुख॥
यज्ञ से सिद्ध हो ऋक्-यजुर्-साम-स्तोम उत्तम।
हो प्राप्त रथन्तर बृहत् आदि संस्तव शुचितम॥
यज्ञ से देवगण सब सुख पावें नव नित।
अविनश्वर अक्षर परानन्द में संस्थित॥
हम रहें प्रजापति की चिर प्रजा भक्तिरत।
सत्कर्मों को हम करें अनुष्ठित अविरत॥
हम करें श्रेष्ठ अति यज्ञों का संपादन।
यश-मान-पूर्ण हो प्रतिक्षण अपना जीवन॥
हम देते हैं उत्तम आहुति यह स्वाहा।
सम्यक् गृहीत हो यह हवि, स्वाहा स्वाहा॥ २९॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञानुष्ठान से प्राप्त होनेवाले अनेकानेक अभीष्ट मंगलप्रद फलों का निर्देश किया गया है और अंत में इस मंत्र को पढ़कर आहुति देने का आदेश भी है। यज्ञ से आयु बढ़ती है, आँख, कान, वाक् आदि सब ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। स्वर्ग का शाश्वत सुख मिलता है और परमात्मा का साक्षात्कार होता है। सब वेदों का अर्थ और रहस्य स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। यज्ञ से ही अभीष्ट सम्मान और यश प्राप्त होता है। २९

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो
देवः सविता धर्म साविषत्॥ ३०॥

वाजस्य प्रसवे	अन्न की अनुकूलता में रहनेवाले	**नाम**	भूमि को
नु मातरम्	हम जिस माता, (स्वरूप)	**वचसा करामहे**	वेदवाक्य द्वारा अनुकूल करते हैं,
अदितिं महीं	अदीन पूजनीय प्रसिद्ध	**यस्यां इदं विश्वं**	जिसमें
		इदं	यह
		विश्वं भुवनं	सम्पूर्ण संसार

आविवेश	रह रहा है,	धर्म साविषत्	आस्था अर्थात् धर्म-भावना दृढ़ करें ॥ ३० ॥
देवः सविता	प्रकाशात्मक सबके प्रेरक परमात्मा		
तस्यां नः	उसमें हमारी		

जग की निर्मात्री महनीया[1] सतत अखण्ड अदीन मही यह।
करते हैं अनुकूल इसे हम श्रुति-वाक्यों के द्वारा अहरह ॥
भूतजात[2] करते निवास सब इसी भूमि पर सुख से संतत।
सबके प्रेरक सर्वप्रसविता परमेश्वर दें इसमें रति नित ॥
मातृभूमि है यह धरती निज इसमें निष्ठा बढ़े हमारी।
करें निवास सुखेन यहाँ हम मातृभूमि के प्रति बलिहारी ॥ ३० ॥

टि०—भूमि हमारे सारे संसार की निर्मात्री है। समस्त संसार को, इसी भूमि को सभ्यता और संस्कृति का दान मिला है। सब प्राणी इस धरती पर सुख से निवास करते हैं, किसी को किसी प्रकार का हिंसाजनित भय नहीं। यह हमारी मातृभूमि महान है, अदीन है और अविभाज्य है। हम अपने को मातृभूमि के प्रति निछावर करते रहें। परमेश्वर हमें सद्बुद्धि प्रदान करें कि मातृभूमि के प्रति हमारी भक्तिनिष्ठा बराबर बढ़ती रहे। वेदवाणी के द्वारा यह मातृभूमि सदा हमारे अनुकूल रहती है। ३०

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒साऽऽग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒
द्रवि॑णं॒ वाजो॑ अ॒स्मे ॥ ३१ ॥

अद्य	आज	विश्वे अग्नयः	सब अग्नि
विश्वे मरुतः	सब मरुद्गण	समिद्धाः भवन्तु	प्रदीप्त होवें (एवं)
आगमन्तु	हमारे समीप आवें।	विश्वं द्रविणं	सब धन और ऐश्वर्य,
विश्वे ऊती	सम्पूर्ण संरक्षण प्रदान करनेवाले	वाजः	अन्न
विश्वे देवाः	सब देवगण	अस्मे अस्तु	हमको प्राप्त होवे ॥ ३१ ॥
नः अवसा	अपनी रक्षा-सामग्री के साथ पधारे।		

सम्पूर्ण मरुद्गण आज यज्ञ में आवें।
सब निकट हमारे आवें, शोभा पावें ॥

---

१ सबसे महान; २ सब प्राणी।

सब प्रमुख देवगण[1] ले निज रक्षा-साधन।
आवें, स्वीकारें हम सबका हवि-अर्पण॥
हो सभी अग्नियों से प्रदीप्त वेदी यह।
धन, अन्न प्राप्त हो हमें अपरिमित अहरह॥ ३१॥

टि०—यज्ञानुष्ठान के अवसर पर यह प्रार्थना की गई है कि आज मरुद्गण हमारे यज्ञ में आवें, हमारे समीप आसन ग्रहण करें। सब प्रमुख देवता हमारे इस यज्ञ में अपने रक्षा-साधनों के साथ पधारें और हमारे द्वारा अर्पित आहुति स्वीकार करें। सब अग्नि यज्ञवेदी में प्रदीप्त हों और हमको अपरिमित ऐश्वर्य और अन्न प्रदान करें। ३१

वाजो॑ नः स॒प्त प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो वा परा॒वतः॑।
वाजो॑ नो॒ विश्वै॑र्दे॒वैर्धन॑साताव॒िहाव॑तु॥ ३२॥

नः वाजः	हमारा अन्न (ज्ञान, ऐश्वर्य, पराक्रम, शील)	इह	(और) यहाँ
सप्त प्रदिशः	सातों दिशाओं में	धनसातौ	धन का विभाग करने के समय
वा	और	नः	हमारे
परावतः	दूर-दूर तक फैली हुई	वाजः	अन्न, ज्ञान आदि की
चतस्रः	चारों दिशाओं में फैलता रहे	विश्वैः देवैः	सब देवतागण
		अवतु	रक्षा करे॥ ३२॥

हो अन्न, ज्ञान, ऐश्वर्य हमारा वर्द्धित।
नित रहें भुवन सातों[2] इनसे परिपूरित॥
हों दूर निकट तक पूरित सकल दिशायें।
सब देव हमारी रक्षा के हित आयें॥
धन, अन्न आदि का जब हम करें विभाजन।
ऐश्वर्य-ज्ञान का करें देवगण रक्षण॥
प्रति दिशि से होता रहे अन्न का आगम[3]।
प्रसरित[4] हो दिशि-दिशि अपना प्रबल पराक्रम॥
हम सभी दिशाओं में हों सतत सुरक्षित।
ऐश्वर्य, अन्न, धन वर्धित हो नव-नव नित॥ ३२॥

---

१ वसु, रुद्र, आदित्य आदि; २ भूः, भुवः, स्वः आदि, ३ आगमन; ४ फैला हुआ, विस्तृत।

टि०—इस मंत्र में अन्न, मन, पराक्रम की निरन्तर वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद ऐश्वर्य से परिपूर्ण तेजस्वी जीवन बिताने का आदेश देते हैं। हीनता और दीनता अभीष्ट नहीं। ३२

वाजो नो अद्य प्र सुवाति दानं वाजो
देवाँ२ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा
आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ ३३ ॥

वाजः नः	अन्न हमको	मा सर्ववीरं	मुझको वीर पुत्र-पौत्रादि से
अद्य	आज	जजान	युक्त करे।
दानं प्र सुवाति	दान के लिए प्रेरणा करता है।	वाजपतिः	मैं अन्न का पालक बनकर
वाजः	अन्न	विश्वा आशाः	समस्त दिशाओं में
देवान्	देवताओं को	जयेयम्	विजय प्राप्त करूँ ॥ ३३ ॥
ऋतुभिः	ऋतुओं के अनुसार		
कल्पयाति	मिलता रहे।		
वाजः हि	अन्न ही		

अन्न-दान के हेतु आज करता है प्रेरित।
हो प्रति ऋतु वह यथास्थान देवों को अर्पित ॥
अन्न हमें दे पुत्र-पौत्र बहु शौर्य-विमंडित[1]।
बनूँ अन्नपति, अन्नदान से बनूँ विश्वजित् ॥
विपुल अन्न का उत्पादन हम करें निरंतर।
विपुल अन्न ही दान-प्रेरणा देता भास्वर[2] ॥
ऋतुओं के अनुकूल बनाता वही कर्मपर[3]।
होती उससे प्राप्त वीर संतति यश-आकर[4] ॥
अन्नदान से कीर्ति चतुर्दिक् होती प्रसरित।
दानवीर ही कर पाता है विश्व वशीकृत[5] ॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्र में अन्न-उत्पादन और अन्न-दान की महिमा का वर्णन किया गया है। यदि विपुल अन्न का उत्पादन किया गया तो उससे दान की प्रवृत्ति पैदा होती है।

---

१ वीरता से युक्त; २ प्रकाशमान; ३ कर्म-परायण; ४ यश की खान; ५ वशीभूत।

अन्न हो तो ऋतुओं के अनुकूल देवताओं का सम्यक् पूजन हो पाता है। प्रचुर अन्न उपलब्ध हो तो पुत्र-पौत्रादि के साथ सुखपूर्वक रहा जा सकता है। अन्नदान से चारों ओर यश फैलता है, अन्न का दान करनेवाला लोगों के हृदयों पर दया और धर्म की शक्ति से अधिकार कर लेता है। वह इस प्रकार सभी दिशाओं को अपने यश से धवल बनाता हुआ प्रेम से विश्वजयी कहलाने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। ३३

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो
वाजो देवान् हविषा वर्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा
आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

वाजः नः	अन्न हमारे	मा	मुझको
पुरस्तात्	आगे	सर्ववीरं चकार	वीर पुत्र-पौत्रादि से युक्त करता है।
उत मध्यतः	और घर के मध्य में हो।	वाजपतिः	अन्न का स्वामी बनकर (मैं)
वाजः हविषा	अन्न हवि के रूप में	सर्वा आशाः	सभी दिशाओं में
देवान् वर्धयाति	देवताओं की वृद्धि करता है।	भवेयम्	विजय प्राप्त करने में समर्थ होऊँ ॥३४॥
वाजः हि	अन्न ही		

सदा हमारा अग्रभाग हो विपुल अन्नमय[1]।
घर के सब भण्डार निरंतर रहें अन्नमय[2]॥
अन्नाहुति पा रहें देवगण पुष्ट-तुष्ट नित।
महावीर सन्तान वही करता संवर्धित॥
रहूँ अन्न से मैं समृद्ध अन्नपति निरंतर।
अन्नदान की कीर्ति दिशाओं में जायें भर॥ ३४ ॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह अन्नोत्पादन, अन्न-संरक्षण और अन्नदान के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इन मंत्रों से यह प्रतीत होता है कि अन्न को वैदिक समाज में सर्वोपरि राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त था। अन्न का उत्पादन, संरक्षण और दान ये अन्न-नीति के प्रमुख मुद्दे थे। अन्न-दान करनेवाले की कीर्ति सभी दिशाओं में फैल जाती है। ३४

---

१ हमारे घरों के सामने अन्न के ढेर लगे रहें; २ घरों के भीतर के भंडार अन्न से भरे रहें।

परिधिः असि	संरक्षक है।	परिधिः असि	(तू) संरक्षक है।
इन्द्रस्य	(तू) इन्द्र की	मित्रावरुणौ	मित्र और वरुण देवता
दक्षिणः	दाहिनी	ध्रुवेण धर्मणा	अपने ध्रुव धर्म के द्वारा
बाहुः असि	भुजा है।	त्वा उत्तरतः	तेरी श्रेष्ठतर
विश्वस्य	विश्व की	परिधत्तां	साधन से रक्षा करें ॥ ३ ॥
अरिष्ट्यै	सुरक्षा के लिए		
ईडे अग्निः	यज्ञ में अग्नि की		
ईडितः	स्तुति की गई है।		
यजमानस्य	यजमान का		

हो न विश्व का नाश, रहे वह सदा सुरक्षित।
इसीलिए यह यज्ञ कार्य नित रहे अनुष्ठित[1]।
विश्वशान्ति के हेतु यज्ञ ये रहें अनुष्ठित।
सबके हित के हेतु यज्ञ नित रहें प्रवर्तित[1]।
वाणी करें पवित्र अग्नि यज्ञों में ईड़ित।
हो रक्षा की परिधि[2] यज्ञ यजमान हेतु नित।
विश्वावसु[3], गंधर्व[4], विश्वव्यापक परमेश्वर।
सब गतियों के अधिप करें रक्षा बहिरंतर।
करो यज्ञ में अग्निदेव का नित आराधन।
कर पाओगे तभी विश्व का तुम हित-साधन।
इन्द्र बाहु हैं दक्षिण, हैं याजक के रक्षक।
इसीलिए हैं इन यज्ञों में ईड़ित[5] सम्यक्।
यज्ञकर्म की परंपरा हो प्रसरित नित नव।
मित्र और ये वरुण करेंगे रक्षा मानव! ॥ ३ ॥

टि०—यह बड़ा उदात्त मन्त्रसमूह है। इसमें परमेश्वर को 'विश्वावसु, गंधर्व' कहा गया है। वे विश्व को बसानेवाले हैं, विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं। इसलिए विश्ववास या विश्वावसु हैं। वे गंधर्व हैं, क्योंकि वे सब गतियों को धारण करते हैं। विश्व की सब गतियाँ उनके अधीन हैं। 'गं' का अर्थ है 'गति' और 'धर्व' का अर्थ है 'धारण करनेवाला'। विश्व के अरिष्ट का निवारण हो, यह बात इस मन्त्र में तीन बार

---

१ दोनों का अर्थ है— यज्ञ संपन्न होते रहें। २ रक्षा की रेखा जिसे अब 'लक्ष्मण-रेखा' भी कहते हैं; ३ यह एक गंधर्व का भी नाम है, किंतु यहाँ इसका प्रयोग विश्व मे व्याप्त और विश्व के बसानेवाले ईश्वर के लिए किया गया है; ४ यह शब्द गं+धर्व से बना है 'गं' का अर्थ है गति, 'धर्व' का अर्थ है धारण करनेवाला, सब गतियों का धारक; ५ प्रार्थित, प्रशंसित।

हे अग्ने ! तुम रसवती करो यह धरती।
ओषधियों से हो रस की धारा झरती॥
कर दो द्युलोक को रस से तुम परिपूरित।
हो अन्तरिक्ष शाश्वत रस से आपूरित॥
रस को प्रस्थापित करो देव ! तुम दिशि-दिशि।
रस से नित सिंचित रहें हमारे दिन-निशि[1] ॥ ३६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है—वे पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक सबको रसमय बनाते रहें। प्रत्येक ओषधि, प्रत्येक खाद्य-पदार्थ रसमय हो जाए। सांसारिक वस्तुओं में रस का योग तभी हो पाता है, जब उनका योग परमात्म-रस के साथ होता है। हमारे लिए संसार की प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की चेतना से संपन्न हो जाए, उनका प्रसाद बन जाए, इन धरती-आकाश सभी से वह आनंद-चेतना प्रवाहित हो, यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। ३६

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑
पू॒ष्णो ह॒स्ता॑भ्याम् ।
सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रेणा॒ग्नेः
साम्रा॑ज्येना॒भिषि॑ञ्चामि॑ ॥ ३७ ॥

सवितुः देवस्य	सविता देवता के
प्रसवे	शासन में,
अश्विनोः	दोनों अश्विनी-कुमारों के
बाहुभ्यां	बाहुओं से,
पूष्णः हस्ताभ्याम्	पूषा देवता के दोनों हाथों से,
सरस्वत्यै वाचः	सरस्वती की वाणी से,
यन्तुः यन्त्रेण	नियन्ता प्रजापति के नियमन से (और)
अग्नेः साम्राज्येन	अग्नि के साम्राज्य से
त्वा	तुम्हारा
अभिसिञ्चामि	(मैं) अभिषेक करता हूँ ॥ ३७ ॥

परमेश्वर का यह ज्योतिर्मय साम्राज्य चतुर्दिक् है विस्तृत।
ये अग्नि उन्हीं के हैं प्रतिनिधि, देते तुमको बल-तेज अमित॥
इन सर्वप्रसविता सविता का शासन भी उनका है विधान।
मानव ! उनकी शुचि किरणों से अभिषिक्त हो रहे तुम महान॥
अश्विनीकुमारों की बाँहें अभिषेक तुम्हारा करतीं नित।
पूषा के दोनों हाथों से तुम होते रहते हो पोषित॥

1 दिन और रात।

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः ।
सोऽहं वाजंꣳ सनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	मा सं सृजामि	अपने को मिलाता हूँ ।
पृथिव्याः	मै पृथ्वी में उत्पन्न हुए	सः अहं	वह मैं ओषधियों और जल से
पयसा	दूध आदि रस से	वाजं सनेयम्	अन्न को प्राप्त करता हूँ ॥ ३५ ॥
मा सं सृजामि	अपने आत्मा को संयुक्त करता हूँ ।		
अद्भिः	जलो और		
ओषधीभिः	ओषधियों के साथ		

अग्नि ! धरा ने उपजाया जो दुग्ध आदि रस ।
करता उनके साथ स्वयं को मैं हूँ समरस[1] ॥
सुजल[2] और ओषधियों से पा पोषण प्रतिपल ।
अन्न प्राप्त कर सदा बढ़ाता तेज और बल ॥
अन्नोत्पादन करूँ, करूँ मैं अन्नवृद्धि नित ।
दुग्ध आदि रस करे निरंतर हमको पोषित ॥ ३५ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले दुग्ध आदि रस शरीर के साथ एकरस हों। उनसे हमारा पोषण और वृद्धि हो। जलों और धरती की उर्वरा शक्ति बढ़ानेवाली ओषधियों की सहायता से प्रभूत अन्न उत्पन्न हो। इससे सबका पोषण और वृद्धि हो। ३५

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः ।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥ ३६ ॥

पृथिव्यां	(हे अग्नि ! तुम) पृथ्वी में	अन्तरिक्षे पयः (धाः)	अन्तरिक्ष में रस को प्रस्थापित करो (तथा)
पयः धाः	रस को धारण करो ।	मह्यं	मेरे लिए
ओषधीषु पयः (धाः)	ओषधियों में रस को स्थापन करो ।	प्रदिशः	दिशाएँ-विदिशाएं
दिवि पयः (धाः)	देवलोक में रस को स्थिर करो और	पयस्वतीः सन्तु	रसयुक्त होवें ॥३६॥

१ संयुक्त; २ शुद्ध जल ।

है सत्यज्ञान के बल से ही यह अग्नि नित्य नव जयशाली[1]।
अविनाशी परम तेजमंडित धरती का धारक बलशाली ॥
ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों का वह संरक्षण करता रहे सतत।
हम उसकी प्रीति हेतु अर्पित करते हैं यह आहुति स्वाहा ! ॥
हैं प्राणिमात्र को देती जो आरोग्य और आनन्द परम।
अप्सरा अग्नि की हैं वे सब ओषधियाँ रस-पेशल[2] उत्तम ॥
उस अग्निरूप, गंधर्वराज की ये अप्सरावृंद वंदित।
आनन्दप्रदायक ओषधियों के हित अर्पित आहुति स्वाहा ॥ ३८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की महिमा का वर्णन है। वे परमात्मा के ही स्वरूप है। उनका ज्ञान असंदिग्ध प्रकाशविमर्शरूप एवं अबाध-अगाध है। वे अज्ञान के अंधकार पर निरंतर विजय प्राप्त करते हैं। वे धरती को धारण करते हैं। वे ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों की रक्षा करते हैं। जो ओषधियाँ मनुष्य को आरोग्य और आनंद प्रदान करती हैं, वे अग्निरूप गन्धर्वराज की अप्सराएँ हैं। ऐसे अग्नि को और उन ओषधि-रूप अप्सराओं को आहुति अर्पित है। ३८

सुᳬहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः
—स्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

संहितः	दिन-रात की सन्धि करनेवाला,	तस्मै स्वाहा	उसके निमित्त यह आहुति अर्पित है।
विश्वसामा	सम्पूर्ण सामों द्वारा स्तुत	वाट्	भली प्रकार यह स्वीकृत हो।
गन्धर्वः	और पृथ्वी को धारण करनेवाला	आयुवः नाम	परस्पर मिलने के स्वभाव वाली तथा आयुर्वर्धक
स सूर्यः	वह सूर्य		
नः ब्रह्म	हमारे ब्राह्मण और	मरीचयः	किरणें
क्षत्रं पातु	हमारे क्षत्रियवर्ण की रक्षा करे।	तस्य अप्सरसः	उसकी अप्सराएँ हैं।
		ताभ्यः स्वाहा	उनके लिए आहुति अर्पित है ॥ ३९ ॥

१ अन्धकार और अज्ञान पर निरन्तर जय प्राप्त करनेवाले; २ सुन्दर रसमय।

वागधीश्वरी वरदानी देवी सरस्वती का सब वैभव।
अभिषेक तुम्हारा करता है अर्पित कर ज्ञान-ज्योति नित नव॥
यह जगन्नियन्ता देव प्रजापति के नियमों का है प्रसार।
इनकी मंगलछाया[1] में तुम उपलब्ध[2] करो जय-यश अपार॥
श्रेष्ठत्व सृष्टि का जन्मसिद्ध अधिकार तुम्हारा है मानव!।
अभिषेक तुम्हारा करते हैं सब सुर अर्पित कर निज वैभव॥ ३७॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य की महिमा का वर्णन है। यह सृष्टि परमात्मा का साम्राज्य है, अग्नि उनके प्रत्यक्ष रूप हैं। सविता का प्रकाशमय शासन चारों ओर फैला है। उनकी किरणें मनुष्य का अभिषेक कर रही है। अश्विनीकुमार मनुष्य के आरोग्य का विधान कर रहे हैं। पूषा इसका पोषण कर रहे हैं। प्रजापति के मांगलिक ऋतसत्यमय नियमों की छाया में मनुष्य को अपना जन्मसिद्ध अमृतत्व प्राप्त करने का अधिकार है। सरस्वती देवी का समस्त वाणी-वैभव मनुष्य को प्राप्त है। ३७

ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वः—
स्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स नं इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ ३८॥

ऋताषाट्	सत्यज्ञान के बल से जो विजय प्राप्त करने वाला होता है,	तस्मै स्वाहा	उसकी प्राप्ति के निमित्त यह आहुति अर्पित है।
ऋतधामा	ऋत ही जिसके ठहरने का ठीक स्थान है,	वाट्	भली प्रकार यह आहुति स्वीकार हो।
गन्धर्वः अग्निः	वह अविनाशी तेज वाला और पृथ्वी को धारण करने में समर्थ अग्नि	मुदः नाम ओषधयः	प्राणियों को प्रसन्न करनेवाली (जो) ओषधियाँ
नः इदं ब्रह्म	हमारे इस ब्राह्मण और	तस्य अप्सरसः	अग्निरूप गन्धर्व की अप्सराओ-स्वरूप (विद्यमान) हैं, वे भी हमारी रक्षा करें।
क्षत्रं पातु	क्षत्रिय वर्णो की रक्षा करनेवाला हो,	ताभ्यः स्वाहा	उन (ओषधियो) के लिए यह आहुति दी जाती है॥३८॥

१ भगवान के ऋतसत्त्वमय नियमों का पालन मंगलप्रद है; २ प्राप्त।

सूर्य की रश्मियों से उद्भासित[1] सुन्दर मन वाले चन्द्रदेव ।
गन्धर्व-सदृश शोभा पाते हैं नभ के प्रांगण में सदैव ॥
वे चन्द्रदेव ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्णों का करें सदा पालन ।
वे प्रेम-सहित स्वीकार करें हम सबकी यह आहुति स्वाहा ॥
भेकुरि नामक नक्षत्र अप्सरा-सदृश चन्द्र के है शोभित ।
वे करें हमारी रक्षा नित, उनको अर्पित आहुति स्वाहा ॥ ४० ॥

टि०—यह मंत्र कई दृष्टियों से विचारणीय है । सबसे पहले इस मंत्र में चन्द्रमा को सूर्य द्वारा प्रकाशित कहा गया है । इसका अर्थ है, उस प्रागैतिहासिक कहे जाने वाले युग में भी वैदिक ऋषि को यह ज्ञात था कि चन्द्रमा में अपना प्रकाश नहीं है । वह सूर्य की किरणों से प्रकाश पाता है । 'सूर्यस्येव रश्मयः किरणाः यस्य' अथवा 'सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः' ऐसा कहा गया है । 'भेकुरि' नाम के नक्षत्रों को चन्द्रमा की अप्सराएँ कहा गया है । ये प्रकाश देनेवाले नक्षत्र बतलाये गये हैं । चन्द्रमा को सुंदर मन वाला कहा गया है । 'चन्द्रमा मनसो जाता' प्रसिद्ध है । ४०

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्व[1]
स्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम[2] ।
स नं इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा[2] ॥ ४१ ॥

इषिरः	शीघ्रगामी,	स्वाहा वाट्	आहुति दी जाती है।
विश्वव्यचाः	सर्वत्र व्यापक	ऊर्जः नाम	प्राणियों को जीवन और शक्ति प्रदान करनेवाले
गन्धर्वः वातः	इस धरती पर जो वायु है,	आपः तस्य	रस-रूप जल उसकी
सः नः इदं	वह हमारी इस	अप्सरसः	अप्सराएँ हैं,
ब्रह्म क्षत्रं	ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति की	ताभ्यः स्वाहा	उनके लिए यह आहुति दी जाती है ॥ ४१ ॥
पातु	रक्षा करे ।		
तस्मै	उसके लिए (यह)		

हे वायु सर्वव्यापी अतिशीघ्र गमनकारी ।
ब्राह्मण-क्षत्रिय के हित हो यह रक्षाकारी ॥
उसकी प्रसन्नता के हित अर्पित हवि स्वाहा ।
परितुष्ट रहें वह अर्पित यह आहुति स्वाहा ॥

---

१ प्रकाशित ।

दिन और रात की संधि सिद्ध हैं ये करते।
ये सूर्यदेव ही हैं धरती धारण करते॥
जो ब्राह्मण क्षत्रिय ज्ञानधर्म के हैं रक्षक।
उनकी रक्षा करते हैं सूर्यदेव सम्यक्॥
उन सूर्यदेव को अर्पित यह आहुति स्वाहा।
वे ग्रहण करें यह सविधि-समर्पित हवि स्वाहा॥
ये सहज-मिलित[1] उनकी किरणें आयुष्यप्रदा।
हैं यही अप्सराएँ रवि की आनन्दप्रदा॥
नित प्रीति-सहित ये आहुतियाँ उनको अर्पित।
इन किरण-अप्सराओं को अर्पित आहुति स्वाहा॥ ३९॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की शैली में सूर्यदेव का स्तवन किया गया है। पूर्ववर्ती मंत्र में अग्नि का स्तवन है। सूर्य भी अग्नि के ही रूप हैं। उन्हें द्युलोक के अग्नि कहा गया है। ये सूर्य दिन और रात की संधि का विधान करते हैं। ये ज्ञानसंरक्षक ब्राह्मणों एवं धर्म तथा देश के संरक्षक क्षत्रिय वर्ण के संरक्षक हैं। उनको आहुति दी जाती है। सूर्यदेव गंधर्वस्वरूप हैं। उनकी किरणें उनकी आनंदप्रदायिनी अप्सराएँ हैं। वे मनुष्यों की आयुवृद्धि करती हैं। उनको अत्यंत प्रेम के साथ आहुति दी जानी चाहिए। ऐसे मंत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय का अर्थ जन्मना स्वीकृत ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति नहीं। जो कर्म से ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, वेद उन्हीं को स्वीकृति प्रदान करते हैं। ३९

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व
—स्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम[1]।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा[2]॥ ४०॥

सुषुम्णः	उत्तम मन वाला,	पातु	पालन करे।
सूर्यरश्मिः	सूर्य की किरणों से प्रकाशित होनेवाला	तस्मै	उसके लिए
		स्वाहा वाट्	आहुति दी जाती है।
चन्द्रमाः गन्धर्वः	चन्द्रमा नाम का (जो) गन्धर्व है,	भेकुरयः नाम	भेकुर नामक
		नक्षत्राणि	नक्षत्रगण
सः नः इदं	वह हमारे इस	तस्य अप्सरसः	उसकी अप्सराएँ हैं।
ब्रह्म क्षत्रं	ब्राह्मणवर्ण, क्षत्रिय-वर्ण का	ताभ्यः स्वाहा	उनके लिए आहुति अर्पित है॥ ४०॥

१ मिलने के स्वभाव वाली; २ आयु बढ़ानेवाली।

गन्धर्व यज्ञ है और दक्षिणाएँ अनन्त।
अप्सरा-रूप में स्तवनशील हैं ज्योतिमन्त ॥
यह आहुति अर्पित है उनको स्वीकार करें।
वे रक्षा करें हमारी उनके हित स्वाहा ॥ ४२ ॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ के स्वरूप का निरूपण किया गया है। यज्ञ के स्वरूप का निरूपण करते हुए एक उत्तम रूपक का प्रयोग किया गया है। यज्ञ गंधर्व है और दक्षिणाएँ उसकी अप्सराएँ हैं। यज्ञ की तीन कसौटियाँ हैं— श्रेष्ठ जनों का सम्मान, सत्संग का आयोजन और दीनों को अन्नदान। यज्ञ की सफलता यह है कि समाज और देश में कोई भूखा न रहे। एक ओर यज्ञ हो रहा हो और दूसरी ओर लोग भूखों मर रहे हों, तो यह यज्ञ नहीं, कोरा पाखंड है, प्रवंचना है। भूखे के पेट में अन्न पहुँचाना, यह सबसे पवित्र आहुति है, सबसे महान दक्षिणा है। यह वेद का अच्युत विधान है। ४२

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४३ ॥

प्रजापतिः	प्रजा का रक्षक एवं	तस्मै स्वाहा	उसके लिए यह आहुति अर्पित है।
विश्वकर्मा	समस्त विश्व का निर्माण-कर्ता,	वाट्	वह स्वीकार हो।
मनः गन्धर्वः	विचारशील मन गन्धर्व है।	एष्टयः नाम	अभीष्ट प्रदान करने वाली एष्टि नामक
सः नः इदं	वह हमारे इस	ऋक् सामानि	ऋक् और साम की ऋचाएँ
ब्रह्म क्षत्रं	ज्ञानी और शूर वर्ग की	तस्य अप्सरसः	उसकी अप्सराएँ है।
पातु	रक्षा करे।	ताभ्यः स्वाहा	उनके लिए आहुति दी जाती है ॥४३॥

प्रजापालक विश्व का कर्ता परम मतिमान।
दिव्य वह गन्धर्व-गति का अधिष्ठान महान ॥
ज्ञान-साधन हेतु जिनके समर्पित मन-प्राण।
शौर्य से जो राष्ट्र का करते सदा परित्राण ॥
ब्राह्मबल, उस क्षात्रबल की करें रक्षा देव।
उन्हें अर्पित करें आहुति प्रीति-सहित सदैव ॥

गन्धर्व-रूप हैं वायु आप अप्सरा[1]-रूप।
रक्षा वे करते रहें हमारी विश्वरूप॥
अर्पित है उनको प्रीति-सहित आहुति स्वाहा।
सम्यक् गृहीत हो मेरी यह आहुति स्वाहा॥ ४१॥

टि०—इस मंत्र में पूर्ववर्ती मंत्रों की शैली में वायु देवता का स्तवन किया गया है। वायु जगत्प्राण है, सर्वव्यापक है और अत्यंत शीघ्रगामी है। वह गंधर्व-रूप है, जलराशि इसकी अप्सराएँ है। ये वायु और जल ज्ञानसाधकों और शक्तिसाधकों अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रियों की रक्षा करें। ४१

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्व—तस्य
दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै
स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥

भुज्युः सुपर्णः	भोजन के लिए अन्न देनेवाला (उत्तम प्रगतिशील)	तस्मै	उसके लिए
		स्वाहा वाट्	श्रेष्ठ आहुति दी जाती है।
यज्ञः गन्धर्वः	यज्ञ नामक गन्धर्व है।	स्तावा नाम	स्तुति करनेवाली स्तावा नाम की
सः नः	वह हमारी		
ब्रह्म क्षत्रं	ब्राह्मण शक्ति अर्थात् ज्ञान एवं क्षात्रशक्ति अर्थात् शौर्य की	दक्षिणाः	दक्षिणाएँ
		तस्य अप्सरसः	उसकी अप्सराएँ हैं,
		तस्मै	उसके लिए
पातु	रक्षा करे।	ताभ्यः स्वाहा	आहुति अर्पित है॥ ४२॥

है प्राणिमात्र को अन्नदान देनेवाला।
भूखे-प्यासे की क्षुधा-तृषा हरनेवाला॥
यह यज्ञरूप गन्धर्व सदा गतिमान परम।
ज्ञानीजन का शूरों का रक्षक यह उत्तम॥
इस यज्ञ हेतु है अर्पित यह आहुति स्वाहा।
स्वीकार करें वह मेरी यह आहुति स्वाहा॥
यज्ञ का रूप है दीन जनों का अन्नदान।
सज्जन से मैत्री हो, सज्जन को मिले मान॥

१ जीवन-रूप में-जल मे प्रगति करनेवाली।

टि०—स्वर्ग और पृथ्वी के सब अधिकारी सब भुवनों के उत्पादक प्रजापति के आश्रित हैं। उनकी रक्षा के लिए प्रजापति परमेश्वर द्वारा ब्राह्मबल और क्षात्रबल की धरती पर अवतारणा की गई है। ज्ञानसाधना और शौर्यसाधना के समन्वित विकास से ही लोक का कल्याण होता है। इसी के लिए यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं। ४४

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मां वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मां वाहि स्वाहाऽवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मां वाहि स्वाहा ॥ ४५ ॥

समुद्रः नभस्वान्	(हे वायु !) तुम सागर के समान अगाध जल से भरे हुए हो और आकाशमंडल में रहनेवाले हो।	भूः	(भी) हो।
आर्द्रदानुः शम्भू	(तुम) वर्षा द्वारा पृथ्वी को आर्द्र करने वाले और सुख प्राप्त करानेवाले हो,	मा	मुझको (तुम)
मयोभूः असि	परम आनन्द के जनक हो।	अभि वाहि	चारों ओर से प्राप्त होओ।
मारुतः असि	(तुम ही) अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाले पवन हो।	स्वाहा	यह आहुति तुमको दी जाती है।
मरुताम् गणः	मरुतों के गण के समान	शम्भूः	(तुम) विशेष रूप से उत्तम सुख के दाता हो।
अवस्यूः दुवस्वान्	सबके आश्रयदाता और रक्षक तथा अन्न के उत्पादक हो।	मयोभूः (असि)	परम सुख उत्पन्न करनेवाले हो
शम्भूः मयो	कल्याणकारी सुख के देनेवाले और मोक्ष के आनन्द-दाता	मा	मुझको
		अभि	सब ओर से
		वाहि	प्राप्त हो जाओ।
		स्वाहा	यह आहुति (तुम्हें) अर्पित है।
		मा अभि वाहि	मुझको सब ओर से प्राप्त हो।
		स्वाहा	(तुम्हें) यह आहुति अर्पित हो ॥ ४५ ॥

विश्वकर्मा करें आहुति प्रेम से स्वीकार।
प्रजापति को सविधि अर्पित दिव्य हवि स्वाहा॥
इष्टदायक सदा ऋक् की ऋचाएँ जो दिव्य।
साम की हैं जो ऋचाएँ मधुमयी अति भव्य॥
एष्टि[1] नामक अप्सराएँ प्रजापति की ख्यात।
करें रक्षा वे हमारी अशिव से दिन-रात॥
उन्हें अर्पित करें हम आहुति सविधि स्वाहा॥ ४३॥

टि०—इस मंत्र में विश्व के कर्ता प्रजापति को गंधर्व कहा गया है। ऋग्वेद और सामवेद की ऋचाएँ उनकी एष्टि नामक अप्सराएँ हैं। हम उनको सविधि आहुति अर्पित करें। ४३

स नो॑ भुवनस्य पते प्रजापते यस्य॑ त उपरि॑ गृहा यस्य॑ वे॒ह।
अ॒स्मै ब्रह्म॑णे॒ऽस्मै क्ष॒त्राय॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ॒ स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

भुवनस्य पते	हे विश्व का पालन करनेवाले	सः नः	वह तुम
प्रजापते	प्रजापति !	अस्मै ब्रह्मणे	हमारे उस ज्ञानी वर्ग के लिए,
यस्य ते	जिस तुम्हारे आश्रय में,	अस्मै क्षत्राय	हमारे शूरवर्ग के लिए
उपरि गृहाः	ऊपर के सब घर हैं,	महि	महान
वा	अथवा	शर्म यच्छ	सुख प्रदान करो।
यस्य इह	जिसके इस लोक में सब घर है,	स्वाहा	तुम्हें यह आहुति अर्पित है॥ ४४॥

सब भुवनों के प्रतिपालक हे देव प्रजापति !।
लो यह आहुति, तुम्हें समर्पित करते हम नुति[2]॥
हैं ऊपर जो स्वर्गलोक में सदन तुम्हारे।
अथवा इस धरती पर जो हैं वास तुम्हारे॥
तुम हो सबके अधिष्ठान सबके परमाश्रय।
ब्राह्म-क्षात्रबल का कल्याण करो तुम अक्षय॥
हम तुमको अर्पित करते यह आहुति स्वाहा।
प्रेम-सहित स्वीकार करो यह आहुति स्वाहा॥ ४४॥

---

१ इष्टसिद्धि प्रदान करनेवाली; २ स्तुति।

कही गई है। यही यज्ञ का हेतु है। इसीलिए तीन बार इसका उच्चारण कर इसपर विशेष बल दिया गया है। अग्नि परमात्मा का ही स्वरूप है। यह बात पूर्ववर्ती मन्त्रों में भी कही गई है। 'ईडे' शब्द का अर्थ है, सब लोगों के हित के लिए, सबके जीवन के लिए, सबको अन्न प्राप्त कराने के लिए, वाणी की पवित्रता के लिए, भूमि के संरक्षण-संवर्धन के लिए यज्ञ में अग्नि की स्तुति की जाती है। आहुति देकर जो यज्ञ किया जाता है, वह वास्तव में विश्व-मंगल यज्ञ का प्रतीक है। यज्ञ का वास्तविक स्वरूप सचराचर विश्व का मंगल-विधान है। सब भूतों का परमहित हो, यह यज्ञ का हेतु है। इन्द्र आत्मा का नाम है। वह सब शक्तियों का केन्द्र है। वह बाहरी-भीतरी सब शत्रुओं का संहारक है। यज्ञकर्ता इन्द्र की दाहिनी भुजा है, क्योंकि वह श्रेष्ठतम कर्म करता है। मित्रावरुण का अर्थ है 'मित्र' और 'वरुण' देवता। मित्र का अर्थ है सूर्य और वरुण का अर्थ है जल। ये दोनों देवता गर्मी-सर्दी के द्वंद्व के प्रतीक हैं, 'सूर्या-चन्द्रमसौ', 'अग्नीषोमौ' की तरह। 'उत्तरतः परिवासे' का अर्थ है, उत्तम साधनों से चारों ओर से याजक की रक्षा हो। यज्ञ की रक्षा से ही भू, भुवन और भूत तीनों की रक्षा होती है। ३

वीतिहो॑त्रं त्वा कवे द्यु॒मन्त॑ꣳ समि॑धीमहि ।
अग्ने॑ बृ॒हन्त॑मध्व॒रे॑ ॥ ४ ॥

कवे अग्ने	हे ज्ञानी अग्नि !	अध्वरे	इस हिंसारहित कर्म में
वीतिहोत्रं द्युमन्तं	समृद्धि के लिए यजन करनेवाले	समिधीमहि	प्रज्वलित करते हैं ॥ ४ ॥
बृहन्तं त्वा	तेजस्वी और महान तुझको हम		

अये अग्नि ! कालत्रयज्ञ कवि ! हे परमात्मन् ! ।
वीतिहोत्र[1] ! सर्वव्यापक ! सच्चिदानंदघन ! ॥
हिंसा-रहित यज्ञ में तुमको अग्निदेव ! हम ।
समिधाओं से सतत प्रज्वलित करते शुचितम ॥
इस प्रकार अध्वर[2] कर्मों का कर संपादन ।
शान्ति और आनन्दभरित कर दें जग-जीवन ॥
हिंसा हो निःशेष कुटिलता-रहित बनें मन ।
अग्ने ! ऋद्धि-समृद्धि हेतु कर रहे हम यजन ॥ ४ ॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि को ज्ञानी और कवि कहा गया है। कवि वह होता है, जो तीनों कालों का ज्ञान यथावत् धारण करता है और अतीन्द्रिय विषयों को सहज ही

१ अग्नि का एक नाम, ऐश्वर्य के लिए यज्ञ करानेवाला; २ हिंसा-रहित।

वायो ! अनंत गम्भीर महार्णव हो तुम।
नक्षत्र-निलय[1] इस नभस्वान[2]-से हो तुम॥
कर वृष्टिदान जग को परिप्लावित करते।
सुख प्राप्त तुम्हीं से जग के प्राणी करते॥
सब ऐहिक[3] सुख जग के जन तुमसे पाते।
आनन्द दिव्य के तुम पयोद बरसाते॥
तुम अन्तरिक्षचारी मारुत हो भगवन्।
आश्रित तुम पर प्राणों के शुक्रदीप्तिगण॥
सबके रक्षक सब अन्नों के उत्पादक।
प्रेय के श्रेय के दोनों के प्रतिपादक॥
आओ, हे वायो ! तुमको प्राप्त करें हम।
दिशि-दिशि से आकर हमको प्राप्त करो तुम॥
अर्पित यह आहुति तुमको वायो ! स्वाहा।
स्वीकार करो यह मेरी आहुति स्वाहा॥ ४५॥

टि०—इस मंत्र में वायु देवता की महिमा का वर्णन कर उनको आहुति अर्पित की गई है। वायु परम देवता हैं। वे समुद्र-से गंभीर हैं। नक्षत्रों के अधिष्ठान आकाश की तरह प्रकाशमान हैं। वे ही वृष्टि करते हैं। मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्रदान करते हैं। प्रेय और श्रेय सबके देनेवाले वायुदेव हैं। वे कृपा करें, हमको सब ओर से प्राप्त हों। ४५

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि॥ ४६॥

अग्ने	हे अग्नि !	सर्वाभिः नः	सम्पूर्ण कान्तियों से हमारी
याः ते	जो तुम्हारी	रुचे नः	शोभा को बढ़ाने के लिए,
रुचः	दीप्तियों (स्वरूप)	जनाय कृधि	हमारे पुत्र-पौत्रादिकों को तेजस्वी बनाओ॥ ४६॥
सूर्ये	सूर्यमण्डल में		
रश्मिभिः	रहनेवाली किरणें		
दिवं अतन्वन्ति	देवलोक को प्रकाशित करती हैं,		
अद्य ताभिः	आज उन		

१ तारों के निवास-स्थान; २ आकाश; ३ सांसारिक।

हे अग्नि ! सूर्यमण्डल है तुमसे दीप्तिमान।
करते द्युलोक को उद्भासित तुम विवस्वान[१] ॥
निःशेष दीप्ति वह कान्ति निखिल दो देव ! दान।
हम पुत्र-पौत्र-सह रहें सदा वर्चस्ववान[२] ॥
निज दीप्ति-प्रीति से करो हमें संयुक्त देव ! ।
हम पायें कृपा-प्रसाद तुम्हारा सर्वदैव[३] ॥ ४६ ॥

टि०—इस मंत्र में सबके प्रकाशक अग्निस्वरूप में परमेश्वर की वन्दना की गई है। वे ही सूर्यमंडल को अपनी किरणों से प्रकाशित करते है। भूमंडल उन्हीं से उद्भासित है। इस मंत्र में गायत्री मंत्र जैसी ही प्रार्थना है। वे प्रभु अपनी वरेण्य निःशेष दीप्ति और कान्ति से हमें प्रेरित, प्रकाशित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि सब उनके तेज, वर्चस्व और ज्ञान को प्राप्त कर तेजस्वी बनें। मानव-जाति सन्मार्ग पर चले, धर्म और शान्ति के संवर्धन में प्रवृत्त रहे। ४६

या वो॑ दे॒वाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑ ।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

इन्द्राग्नी	हे इन्द्र और अग्नि !	ताभिः सर्वाभिः	उन समस्त दीप्तियों से प्रकाशमान तुम
बृहस्पते	हे बृहस्पति !	नः रुचं	हमारे लिए उस प्रकाश को
देवाः	हे देवताओ !	धत्त	धारण करो ॥४७॥
वः यः	तुम्हारी जो		
रुचः सूर्ये	दीप्ति सूर्य में है,		
याः रुचः	जो कान्तियाँ		
गोषु अश्वेषु	गउओं और घोड़ों में है,		

हे इन्द्राग्नी ! हे बृहस्पते ! हे देवगणो ! ।
जो दीप्ति तुम्हारी है रवि में हम पर उसके सुवितान तनो[४] ॥
जो दीप्ति तुम्हारी गायों में, अश्वों में है नित वर्द्धमान।
उस दिव्य दीप्ति से रहें सदा आपूर्ण हमारे देह-प्राण ॥
वर्चस्व सूर्य का, गो की धृति, गतिमयता[५] हय की दो हमको।
पूर्णता प्राप्त हो जीवन को, वन्दन अर्पित है यह तुमको ॥ ४७ ॥

---

१ सूर्य; २ तेजस्वी; ३ सदा ही; ४ उस प्रकाश से हम सबको मण्डप की तरह आच्छादित कर लो; ५ प्रगतिशीलता।

टि०—इस मंत्र में इन्द्र और अग्नि को एक साथ संबोधित किया गया है। इन्द्र सब देवों के राजा हैं। कहीं-कहीं सूक्तों में इन्द्र शब्द स्पष्ट रूप से परमात्मा का वाचक हो गया है। इन्द्र की स्तुति में कहे गये ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या २७० है। अग्नि की महिमा के संबंध में पूर्ववर्ती टिप्पणियों में लिखा जा चुका है। उनको सब देवों का एकत्व रूप भी कहा गया है। अथर्ववेद में उनका ६५ बार उल्लेख है। बृहस्पति इन्द्र और अग्नि से घनिष्ट भाव से जुड़े हैं। उनको दिव्य कवि भी कहा गया है। कारण, वे वैदिक सूक्तों के नियामक है। इसीलिए उनको 'ब्रह्मणस्पति' और 'ब्रह्मणःकवि' भी कहा गया है। यजुर्वेद में तो उन्हें निश्चित रूप से सूक्तों का नियामक कहा गया है। ये सब प्रकाश और दिव्य दीप्ति के स्वामी हैं। उनसे प्रार्थना की गई है, वे हमें अपनी वह दिव्य दीप्ति प्रदान करें जो सूर्य-रूप में रहती और जो गो तथा अश्व को महिमा प्रदान करती है। ४७

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥४८॥

नः ब्राह्मणेषु	(हे अग्नि!) हमारे ज्ञानी ब्राह्मणों में	विश्येषु रुचं	वैश्यों को तेजस्वी बनाओ।
रुचं धेहि	तेज की स्थापना करो।	शूद्रेषु	श्रमिक वर्ग में
नः राजसु	हमारे शूर क्षत्रियों में	मयि रुचा	तथा मुझमें परम कान्तिमय
रुचं कृधि	तेज की स्थापना करो।	रुचं धेहि	तेजस्विता स्थापित करो॥ ४८ ॥

करो ब्राह्मणों को हे अग्ने! तेजस्विता प्रदान।
महत् तेज का करो क्षत्रियों में अपने आधान[1]॥
रहें वैश्यजन सदा हमारे तेजोमंडित देव!।
शूद्रवर्ण में करो विवर्धित[2] अपना तेज सदैव॥
प्रति मन, प्रति जन में हे अग्ने! करो तेज की वृद्धि।
जन-जीवन को प्राप्त रहे नित तेज-शौर्य की सिद्धि॥ ४८॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के जीवन तेजयुक्त हों। राष्ट्र की संपूर्ण जनता तेजस्वी बने। ४८

---

१ स्थापना; २ विशेष रूप से बढ़ा हुआ।

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा
शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस
मा न आयुः प्र मोषीः[१] ॥ ४९ ॥

वरुण	हे वरुण !	उरुशंस	हे बहुतों के द्वारा स्तवन किये जानेवाले देव !
यजमानः	यजमान	इह अहेडमानः	इस स्थान में क्रोध न करनेवाले
हविर्भिः	हवियों द्वारा	त्वा यामि	तुम्हारे पास मैं आ रहा हूँ।
तत् आशास्ते	उस सुख की आशा करता है,	नः आयुः	(तुम) हमारी आयु को
तत्	वह यजमान का (अभीष्ट) सुख।	मा प्रमोषीः	कम मत करो ॥४९॥
ब्रह्मणा वन्दमानः	वेद ब्रह्म के द्वारा स्तुति करता हुआ मैं		
त्वा यामि	तुमसे प्रार्थना करता हूँ।		

वरणीय वरुण ! तुम करो दीर्घ आयुष्य-दान।
यजमान कर रहे हैं सभक्ति हवियाँ प्रदान ॥
श्रुति की स्तुतियों से हो हमसे वंद्यमान।
सुख की आकांक्षा करते हैं हम वर्धमान[१] ॥
उरुशंस[२] ! करो हम सबके हित नित क्रोध-त्याग।
हम निकट तुम्हारे समुपस्थित हे महाभाग ॥
आयुष्य रहे अक्षीण सदा ही देवदेव ! ।
निज कृपा-वृष्टि से सिक्त करो हमको सदैव ॥ ४९ ॥

टि०—इस मंत्र में वरुण से प्रार्थना की गई है कि वे हम पर कभी क्रोध न करें। हमको अभीष्ट सुख प्रदान करें। हमारे आयुष्य की वृद्धि करें। ४९

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥ ५० ॥

---

१ निरंतर बढ़ता हुआ; २ बहुतों से स्तुति किये जानेवाले देवता।

स्वः न	स्वर्लोक के समान प्रकाशमान (तथा)
घर्मः स्वाहा	प्रतापवान आदित्य के लिए यह आहुति अर्पित है।
स्वः न	सूर्य के समान
अर्कः स्वाहा	अग्नि के लिए (यह आहुति) अर्पित है।
स्वः न	सूर्य के समान
शुक्रः स्वाहा	शुक्लवर्ण तेजस्वी देवता के लिए यह आहुति अर्पित है।
स्वः न	स्वर्ग के समान
ज्योतिः स्वाहा	ज्योति वाले के लिए यह आहुति अर्पित है।
स्वः न	स्वयंप्रकाश देवता के समान
सूर्यः स्वाहा	सूर्य भगवान के लिए यह आहुति अर्पित है ॥ ५० ॥

आदित्यदेव हैं ये प्रत्यक्ष प्रकाशमान।
मिलता है अग-जग को इनसे ही ज्योति-दान॥
स्वीकार करें सम्यक् मेरी आहुति, स्वाहा॥
सूर्य के सदृश ये अग्निदेव हैं यहाँ ज्वलित।
अर्पित है उनको प्रीति हेतु मेरी आहुति॥
स्वीकार करें सम्यक् अर्पित यह हवि स्वाहा॥
दिन के समान हैं शुक्लवर्ण अति तेजोमय।
ये देवराज हैं स्रोत भर्ग[1] के स्थिर अक्षय॥
स्वीकार करें सम्यक् मेरी आहुति, स्वाहा॥
स्वर्ग के सदृश यह ज्योति चतुर्दिक् है प्रसरित।
स्वीकार करें वे सम्यक् मेरी हवियाँ नित॥
अर्पित है उनको प्रेमसहित आहुति स्वाहा॥
ये सूर्यदेव हैं स्वयंप्रकाशित देवोत्तम।
इनको हम अर्पित करते हैं हवियाँ शुचितम॥
स्वीकार करें वे मेरी यह आहुति स्वाहा॥ ५०॥

टि०—इस मंत्र के द्वारा सूर्य, अग्नि आदि प्रकाश प्रदान करनेवाले देवताओं को आहुतियाँ अर्पित की गई हैं। प्रकाश परम ज्ञान का प्रतीक है। ५०

१ तेज।

अ॒ग्निं यु॑नज्मि॒ शव॑सा घृ॒तेन॑
दि॒व्यꣳ सु॑प॒र्णं वय॑सा बृ॒हन्त॑म् ।
तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॒ꣳ स्वो॒
रुहा॑णा॒ अधि॒ नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ५१ ॥

दिव्यं	दिव्यगुणयुक्त,	विष्टपं	आदित्य लोक को
सुपर्णं वयसा	सुन्दर गति वाले और	वयं गमेम	हम जायेगे और
बृहन्तं अग्नि	बड़ी आयु वाले अग्नि को	अधि स्वः	उनके ऊपर स्वर्ग को
शवसा	बलदायक	रुहाणाः	गमन करते हुए
घृतेन युनज्मि	घृत से मैं संयुक्त करता हूँ।	उत्तमं नाकं	दुख-रहित उत्तम लोक को प्राप्त करेंगे ॥ ५१ ॥
तेन ब्रध्नस्य	इसके द्वारा बड़े से बड़े		

ये दिव्य गुणों के अधिष्ठान[1] गतिमान परम।
आयुष्य मनीषा इनकी संवर्धित उत्तम ॥
इन अग्निदेव को अर्पित कर यह घृत बलप्रद।
आदित्यलोक को गमन करेंगे हम सुखप्रद ॥
उसके ऊपर है स्वर्ग परम दुख-रहित लोक।
हम गमन करेंगे वहाँ रहेंगे विगत-शोक ॥ ५१ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव को घृत की आहुति अर्पित करने का महत्त्व बतलाया गया है। वे अग्निदेव सब दिव्य गुणों के आश्रय-स्थान हैं। इनकी आयु और बुद्धि दोनों ही अप्रमेय हैं। इनको घृत की आहुति अर्पित करने से आदित्यलोक प्राप्त होता है। उसके ऊपर दुःख-रहित स्वर्ग है; वह अक्षय स्वर्ग भी अग्नि के उपासक को मिलता है। ५१

इ॒मौ ते॑ प॒क्षाव॒जरौ॑ पत॒त्रिणौ॒
याभ्या॒ꣳ रक्षा॑ꣳस्यप॒हꣳस्य॑ग्ने ।
ताभ्यां॑ पतेम सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒
ऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः ॥ ५२ ॥

---

१ आधार।

अग्ने	हे अग्नि !	ताभ्यां उ	उनके द्वारा ही
ते	तुम्हारे	सुकृतां	पुण्यात्माओं के उस
इमौ पक्षौ	ये दोनों पंख	लोकं पतेम	लोक को (हम) गमन करें
अजरौ पतत्रिणौ	कभी नष्ट न होनेवाले और उड़ने के स्वभाव वाले हैं।	यत्र	जहाँ
		प्रथमजाः	प्रथम उत्पन्न हुए
		पुराणाः	पुरातन
याभ्यां	जिनके द्वारा	ऋषयः जग्मुः	ऋषिगण गये हैं ॥ ५२ ॥
रक्षांसि अपहंसि	तुम राक्षसों का विनाश करते हो,		

हे अग्नि ! तुम्हारे उत्तर-दक्षिण पक्ष उभय।
उड्डीयमान[1] हो करते राक्षसगण का क्षय॥
उनके द्वारा हम प्राप्त करें वे पुण्यलोक।
जिनमें निवास करते हैं सब सुकृती विशोक॥
ये वही लोक हैं जहाँ गये हैं वे ऋषिगण।
जो हुए प्रथम उत्पन्न पुराकालीन[2] वरण[3] ॥ ५२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की वंदना करते हुए उनके दो पक्षों का उल्लेख है, जो राक्षसों का विनाश करते हैं और जो स्तुतिकर्ता को उन लोकों को ले जाते हैं जहाँ सुकृती जन और पुरातन आदिजन्मा ऋषिगण निवास करते हैं। आगे चलकर पुराणोक्त यह विशेषता भगवान के वाहन गरुड़ में पाई जाती है। ५२

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा
हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः ।
महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो
नमस्ते अस्तु मा मां हिंसीः[1] ॥ ५३ ॥

इन्दुः	(हे अग्नि ! तुम) चन्द्र के समान आनन्द देनेवाले,	श्येनः	बाज के समान सतत प्रगतिमान हो,
दक्षः	उत्साही और कुशल हो,	ऋतावा	सत्य आचरण वाले,
		हिरण्यपक्षः	सुवर्ण के पंखों वाले,
		शकुनः भुरण्युः	शक्तिशाली, भरण-पोषण करनेवाले,

१ उड़ते हुए; २ पुरातन; ३ श्रेष्ठ।

महान् ध्रुवः	महान प्रभावशाली और स्थिर,	**ते नमः अस्तु**	तुम्हें नमस्कार हो।
सधस्थे	यज्ञ में	**मा मा हिंसीः**	मुझको किसी प्रकार पीड़ा मत पहुँचाओ ॥ ५३ ॥
आ निषतः	सदा साथ रहनेवाले		

हे अग्नि ! चन्द्र-सम मोदप्रदायक तुम अनंत।
उत्साहशील हो श्येन[1]-सदृश नित प्रगतिमन्त[2] ॥
ऋतसत्य-निरत तुम हे हिरण्यमय पक्षवान।
सत्य का पक्ष ले करते उसको जय प्रदान ॥
तुम परम शक्तिशाली शकुन्त[3] का रूप धार।
करते हो पोषण-भरण सभी का हे उदार ॥
प्रभविष्णु[4] परम हो यज्ञकार्य के ध्रुव सहचर[5]।
वन्दन करते हम, बनो कभी मत पीड़ाकर ॥ ५३ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की महिमा का वर्णन करते हुए उनसे प्रार्थना की गई है कि आप हमें कभी पीड़ा न दें। ये अग्निदेव चन्द्रमा के समान आह्लाद प्रदान करनेवाले हैं। वे सुवर्ण पंखों वाले श्येन पक्षी के समान हैं जो आकाश की अनंतानन्त ऊँचाइयों की ओर उड्डीयमान रहता है। यह ऋत और सत्य का व्रत धारण करनेवाला है। सत्य का पक्ष लेकर उसे विजय प्रदान करता है। वह परम शक्तिशाली है और सबके पालन-पोषण में समर्थ है। ५३

दिवो मूर्धाऽसि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् ।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ॥ ५४ ॥

दिवः मूर्धा	(हे अग्नि !) तुम स्वर्गलोक के मस्तकस्वरूप हो,	**विश्वायुः शर्म**	सब प्राणियों के जीवन के सुख हो,
पृथिव्याः नाभिः	पृथ्वी की नाभि के समान हो,	**सप्रथाः असि**	समान रूप से सर्वत्र वर्तमान हो,
अपां ओषधीनां	जलों और ओषधियों के	**पथे नमः**	सबके मार्गस्वरूप हो, तुम्हें नमस्कार है ॥५४॥
उर्क्	सार-तत्त्व हो,		

१ बाज; २ प्रगतिशील; ३ पक्षी; ४ प्रभावशाली; ५ यज्ञ में सदा साथ रहनेवाले।

हे अग्निदेव ! तुम हो दिव की मूर्धा[1] महान।
हो तुम्हीं धरा के नाभिरूप हे महीयान्[2] ॥
सब जलों और ओषधियों के हो अमृत-सार।
सब जीवों के जीवन सबको सुखप्रद अपार ॥
सर्वत्र एकरस सर्वदैव तुम वर्तमान।
विस्तार तुम्हारा अधः-ऊर्ध्व है भासमान ॥
हो तुम्हीं सभी के मार्ग तुम्हीं गन्तव्य[3] परम।
वन्दन करते हम देव ! प्रणम्य शरण्य[4] चरम ॥ ५४ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान की बड़ी ही भक्तिपूर्ण प्रार्थना की गई है। इस मंत्र में अग्नि को द्युलोक का उत्तमांग कहा गया है। उन्हें पृथ्वी की नाभि अर्थात् उसको जीवन से युक्त करनेवाले कहा है। 'नाभि' शब्द 'नह्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ बाँधने वाला है—'नह्यतेऽनया स नाभिः'। जल और ओषधियों के वे ही अमृत सार हैं। सब प्राणियों की आयु और जीवन वे ही हैं। वे ही सबके पथ-प्रदर्शक हैं और परम लक्ष्य तक पहुँचनेवाले हैं। वे ही सबके शरण्य हैं। ५४

विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे
ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव ॥ ५५ ॥

श्रितः	(हे अग्नि !) सर्वत्र व्याप्त (तुम)	दिवः पर्जन्यात्	द्युलोक से, मेघ से,
विश्वस्य मूर्धन्	सबसे ऊँचे स्थान में	अन्तरिक्षात्	अन्तरिक्ष से,
अधितिष्ठसि	स्थित हो।	पृथिव्याः ततः	और पृथ्वी के समीप के देश से
ते	तुम्हारा	वृष्ट्या नः अव	जल की वृष्टि द्वारा हमारी रक्षा करो,
हृदयं समुद्रे	हृदय अन्तरिक्ष के के समान व्यापक परमेश्वर में है।	उदधिं भिन्त	मेघों के आवरण को भग्न करो,
आयुः अप्सु	आयु जलों में है।	अपः दत्त	जलों को प्रदान करो ॥ ५५ ॥

१ द्युलोक के शीर्षस्थान अर्थात सर्वोच्च हो; २ सबसे बड़े; ३ जीवन-यात्रा के परम लक्ष्य; ४ शरण प्रदान करने में समर्थ।

सर्वत्र व्याप्त हो अग्निदेव ! सर्वोच्च-स्थित हो तुम सदैव।
मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सकल, हैं तुम पर ही आश्रित प्रतिपल।
यह अन्तरिक्ष तव हृदय-रूप, जल सकल आयु के हैं स्वरूप।
दिव से जलवृष्टि करो अविरत, हो अन्तरिक्ष से वृष्टि सतत।
धरती के निकट-देश से तुम, बरसाओ हम पर जल उत्तम।
भेदकर उदधि बरसाओ जल, मेघ को भेदकर बरसो जल।
जलराशि अभीप्सित[1] करो दान, हे अग्नि ! करो रक्षा-प्रदान ॥ ५५ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे अभीष्ट वृष्टि करते हुए हमारी रक्षा करें। जल ही आप-रूप हैं। अग्निदेव सर्वोपरि परमतत्त्व हैं। मन, बुद्धि, सभी इन्द्रियाँ आदि उन्हीं पर आश्रित हैं। ५५

इ॒ष्टो य॒ज्ञो भृगु॑भिराशी॒र्दा वसु॑भिः।
तस्य॑ न इ॒ष्टस्य॑ प्री॒तस्य॒ द्रवि॑णे॒हा ग॑मेः ॥ ५६ ॥

द्रविण	हे ऐश्वर्यवान !	भृगुभिः	शत्रुओं को भूननेवाले वीरों द्वारा
नः इष्टस्य	हमारे इष्टरूप	वसुभिः	और सज्जनों का निवास करानेवाले विद्वानों से
प्रीतस्य तस्य	हममें प्रेम करनेवाले उसके यज्ञ के घर में	इष्टः	सम्पादित किया गया है और सबका अभीष्ट सिद्ध करनेवाला है ॥५६॥
इह आ गमेः	यहाँ आगमन करो।		
आशीर्दाः यज्ञः	अभिलषित पदार्थों को देनेवाला यह यज्ञ		

विज्ञान-सिद्धि हैं प्राप्त कर चुके जो जन।
साधनावान शीर्षस्थ[2] सकल विद्वज्जन ॥
जो करते हैं भर्जन[3] रिपुओं का रण में।
जो वीर निरत हैं सज्जन-संवासन[4] में ॥
जो ये विशिष्ट जन करें यज्ञ संपादित।
हे द्रविण[5] ! तुम्हारा हो उसमें आगम नित ॥
हे देवदेव ! ऐश्वर्यवान द्रविणस्पति[6]।
यज्ञों में अर्पित करते हैं हम नुति नति ॥ ५६ ॥

१ अभीष्ट, इच्छित; २ प्रथम श्रेणी के विद्वान; ३ भूनना या जलाना; ४ सज्जनों को आवास प्रदान करना; ५ धन; ६ धन के अधिष्ठाता देवता।

प्रत्यक्ष सदृश अनुभव करता है। यह भी कहा गया है कि 'तत् एव अग्निः' अर्थात् वह परमात्मा ही अग्नि के रूप में प्रकट हुआ। इस मन्त्र में यज्ञ को अध्वर अर्थात् हिंसा-रहित कर्म कहा गया है। यज्ञकर्म हिंसा-रहित हों, वेदवाणी इसपर निरन्तर बल देती है। यह मंत्र अग्नि को संबोधित करते हुए कहता है, इस हिंसा-रहित यज्ञ में मैं तुम्हें सब प्रकार की समृद्धि के लिए प्रज्वलित करता हूँ। ४

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै।
सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य आ
त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

समित् (=समिद्) असि (हे यज्ञकर्ता!)	तू यज्ञ में हवन होनेवाली समिधा है
कस्याः चित्	किसी भी
अभिशस्त्यै	शाप से
सूर्यः त्वा	सूर्य तेरी
पुरस्तात् पातु	आगे से रक्षा करें।
सवितुः बाहू स्थ	सविता की तू भुजा है।
देवेभ्यः स्वासस्थं	देवताओं के बैठने के उत्तम आसन बनाने के लिए
ऊर्णम्म्रदसं	ऊन जैसे मृदुल
त्वा	तुझको
स्तृणामि	(मैं) फैलाता हूँ।
वसवः	वसुगण,
रुद्राः	रुद्रगण,
आदित्याः	आदित्यगण
त्वा	तुझपर
आ सदन्तु	बैठें ॥ ५ ॥

समिधा है तू सतत यजनकर्ता हे मानव!।
आत्म-समर्पण का प्रकाश भर जग में नित नव॥
काष्ठ नहीं तू समिधा है, नित ध्यान रहे यह।
शाप-ताप से तू रक्षित सविता से अहरह[1]॥
सविता का तू बाहु रोगहारक तमदारक[2]।
वसु, आदित्य, रुद्र तीनों देवों का धारक॥
बन तू परम पवित्र देवताओं का आसन।
करता हूँ विस्तीर्ण तुझे मानव! मैं क्षण-क्षण॥
शत-सांवत्सर[3] जीवन-यज्ञ रहे संवर्द्धित।
नित्य रहे दैवी स्वराज्य का लक्ष्य अनुष्ठित॥ ५ ॥

---

१ प्रतिदिन; २ अंधकार नष्ट करनेवाला; ३ सौ संवत्सरों अर्थात वर्षों वाला।

चक्षुः संभृतम्	आँख आदि इन्द्रियों में सम्यक् रूप से प्राप्त था,	उ प्र इत	निश्चय से प्राप्त करो,
तत् अनु	उसके अनुकूल ही	यत्र प्रथमजाः	जहाँ पहले उत्पन्न
सुकृतां लोकं	पुण्यशाली सत्पुरुषों के उस लोक को	पुराणाः	पुरातन
		ऋषयः जग्मुः	ऋषिगण पहुँचे हैं ॥ ५८ ॥

मन की प्रवृत्ति के पूर्व रहा जो विद्यमान।
हे मानव ! आत्मा के भीतर जो परम ज्ञान ॥
अन्तर में उसको करो निरंतर तुम धारण।
कर मनन बनाओ अन्तःकरण परम पावन ॥
फिर चक्षु आदि हैं जो ये सब बहिरिन्द्रियगण।
उनके द्वारा आचरित करो उसको प्रतिक्षण ॥
इस भाँति करो ध्रुव प्राप्त सत्पुरुष-लोक महत्।
हैं प्राप्त कर चुके जिसे आदिऋषि संशित-व्रत[1] ॥
उन आदि पुरातन ऋषियों का वह दिव्यलोक।
हे मानव ! है प्राप्तव्य वही अक्षर विशोक ॥ ५८ ॥

टि०—यह मंत्र वेद के अत्यंत दिव्य मंत्रों में से एक है। इसमें मनुष्य को संबोधित करते हुए कहा गया है परम चरम दिव्यतम परमात्म-तत्त्व का जो ज्ञान सृष्टि के पूर्व से ही मन, अंतःकरण-चतुष्टय, सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के क्रियाशील होने के पूर्व आत्मा में विद्यमान था, उसको मन में धारण करो। उस पर मनन कर अंतःकरण को पवित्र बनाओ और अपनी चक्षु आदि सब इन्द्रियों के द्वारा प्रतिक्षण उसके अनुकूल आचरण करो। इस प्रकार तुम उसके पात्र बनो, उसको प्राप्त करो। वह ज्ञान आदिकालीन पुरातन ऋषियों ने प्राप्त किया था। उसको प्राप्त कर वे जिस लोक को पहुँचे हैं, उसे तुम भी प्राप्त करो। ५८

एतꣳ संधस्थ परि ते ददामि
यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तꣳ
स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ ५९ ॥

---

१ जिसने अपने व्रत, नियम, प्रतिज्ञा, संकल्प पूरे कर लिये हैं।

टि०—इस मंत्र में द्रविण अर्थात् धन के देवता से यह प्रार्थना की गई है कि शीर्षस्थानीय विद्वज्जन, शत्रुओं को भून डालनेवाले वीर और सज्जनों को आवास प्रदान करनेवाले वीर जो यज्ञ करें, उनके पास आप स्वयं पधारें। ऐसे लोगों को कभी धन के अभाव का अनुभव न होने पावे। ५६

इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु न इष्टꣳ हविः।
स्वगेदं देवेभ्यो नमः ॥ ५७ ॥

हविः आहुतः	हवि द्वारा तृप्त किया हुआ	इदं नमः	यह अन्न की आहुति
इष्टः अग्निः	यज्ञरूप परमप्रिय अग्नि	देवेभ्यः	देवताओं को प्राप्त हो।
नः इष्टं पिपर्तु	हमारे मनोरथ को पूर्ण करे।	स्वगा	यह स्वयं गमनशील बने ॥ ५७ ॥

यज्ञ के रूप में अग्नि! इष्टतम हैं अनन्य।
हवियों से होकर तृप्त इष्टदाता वरेण्य ॥
वे अग्नि हमारे करें मनोरथ पूर्ण सकल।
देवों को प्राप्त करावें ये हवियाँ अविकल[1] ॥
गतिशील स्वयं हैं ये चेतन हवियाँ पावन।
हैं योगयुक्त करतीं ये देवों से जीवन ॥ ५७ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को यज्ञ का रूप और परम प्रिय कहा गया है। वे हवियों से तृप्त होकर अभीष्ट-सिद्धि प्रदान करते हैं। उनको दी हुई हवियाँ चेतन और स्वयं गमनशील होती हैं। वे पात्र का सीधा संबंध देवताओं से जोड़ देते हैं। ५७

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा
मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो
जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ ५८ ॥

यत् आकूतात्	जो ज्ञान मन की प्रवृत्ति के भी पहले	हृदः मनसः वा	हृदय में, मन में और

1 पूर्ण एवं व्यवस्थित।

हो परमव्योम[1] के अधिवासी देवो ! तुम ।
यह विनय कर रहे हैं तुमसे सादर हम ॥
यजमान यज्ञरत हम, हमको पहचानो ।
तुम रूप हमारा देवो ! सम्यक् जानो ॥
जब गमन करें हम देवयान के पथ[2] पर ।
हों प्राप्त स्वर्ग को चढ़ पुण्यों के रथ पर ॥
तव इष्टापूर्त[3] कर्मचय[4] के फल अगणित ।
कर देना देवगणो ! निःशेष प्रकाशित ॥ ६० ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि यज्ञ करनेवाला यजमान देवयान मार्ग से स्वर्ग को जाता है । उस समय उसको संसार में किये गये इष्टापूर्त कर्मों के फल मिलते हैं । ६०

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि
त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वे
देवा यजमानश्च सीदत ॥ ६१ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	विश्वेदेवाः	हे सम्पूर्ण देवताओ !
त्वं उद्बुध्यस्व	तुम उत्तम रीति से उठो	यजमानः च	यजमान भी
प्रतिजागृहि	और जाग्रत होओ ।	सधस्थे	देवताओं के साथ रहने योग्य
इष्टापूर्ते	इष्ट और पूर्त कर्मों के फल	अस्मिन्	इस लोकोत्तर
सं सृजेथाम्	यजमान को प्रदान करो	उत्तरस्मिन्	उत्कृष्ट द्युलोक में
अयं च	और (उससे) यह यजमान सुख को प्राप्त करे ।	अधि सीदत	चिरकाल तक निवास करे ॥६१॥

हे अग्निदेव ! सम्यक् उत्थान करो, जागो ।
कृतकृत्य बने यजमान, देव ! अनुरागो[5] ॥

---

१ स्वर्ग; २ देवताओं के आने-जाने का मार्ग; ३ यज्ञादि का अनुष्ठान, बाग लगाना, कुएँ आदि खुदवाना आदि; ४ कर्मसमूह; ५ प्रसन्न हो ।

सधस्थ	हे स्वर्ग में रहनेवाले !
जातवेदाः	सर्वज्ञ अग्नि ने
यं शेवधि	जिस यज्ञ के परम सुखरूप
आवहात्	फल को सौंपा है, ऐसे
एतं	इस फल को
ते परिददामि	तुम्हारे लिए मै सर्मपित करता हूँ हूँ।
यज्ञपतिः	यजमान
व अन्वागन्ता	तुम्हारे पास आगमन करेगा।
अत्र	यहाँ
परमे व्योमन्	उत्कृष्ट विस्तृत स्वर्ग स्थान में आये हुए
तं	उसको
जानीत स्म	तुम जानो ॥ ५९ ॥

हे स्वर्गस्थ देवगण ! मेरा श्रवण करो अनुरोध ।
आहुतियों से हुआ अग्नि को जो अमेय[1] सुखवोध ॥
वह सुखनिधि मैं तुम्हें सर्मपित करता हूँ निःशेष ।
याजक को दिव में दो देवो ! उत्तम स्थान विशेष ॥
विस्तृत स्वर्गलोक में जावे जव वह कृती महान ।
उस सुकृती को करो निरंतर आत्मीयता प्रदान ॥ ५९ ॥

टि०—इस मंत्र में देवताओं से यह अनुरोध किया गया है कि याजक इस लोक और परलोक दोनों में अनंत सुख का भोग करे । स्वर्ग में देवता उसे पहचानें, उत्तम स्थान और अनंत सुख प्रदान करें । ५९

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य ।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

परमे व्योमन्	हे उत्कृष्ट स्वर्ग में
सधस्थाः देवाः	रहनेवाले देवताओ !
एतं जानाथ	इस यजमान को जानो और
अस्य	इसके
रूपं विद	रूप को समझो।
यदा देवयानैः	जिस समय वह देवताओं के गमन योग्य
पथिभिः	मार्गो से गमन
आगच्छात्	करे,तव
इष्टापूर्ते	इष्ट और पूर्त कर्मो के फल
अस्मै	इसके लिए
आविः कृणवाथ	प्रकाशित (प्रकट) करो ॥६०॥

१ बहुत अधिक ।

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव से यह प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि ! अपनी जिस महान शक्ति से तुम हजारों दक्षिणाओं वाले यज्ञों का अनुष्ठान करवाते हो, अपनी जिस शक्ति से सब वेदों से होनेवाले यज्ञों की परंपरा का प्रवर्तन करते हो, उसी से मेरा यह यज्ञ भी सफल बनाओ और इसे देवताओं की प्रसन्नता के लिए स्वर्ग की ओर ले जाओ । ६२

प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा ।
ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६३ ॥

नः प्रस्तरेण	(हे अग्नि !) हमारे प्रस्तर,	इमं यज्ञं	इस यज्ञ को
परिधिना	परिधि,	देवेषु गन्तवे	देवताओं को प्राप्त करने के लिए
स्रुचा	स्रुवा,	स्वः नय	स्वर्ग को ले जाओ ॥ ६३ ॥
वेद्या	वेदी,		
बर्हिषा ऋचा	कुशा और वेद के मन्त्र से सम्पन्न		

अग्ने ! प्रस्तर[1], परिधि[2], स्रुचा[3], वेदी के द्वारा ।
कुशा, स्तोम[4]-सह हुआ यज्ञ सम्पन्न हमारा ॥
ले जाओ स्वर्ग को इसे हे देवदेव ! तुम ।
देवों की हो प्रीति प्राप्त हमको परमोत्तम ॥ ६३ ॥

टि०—यज्ञ पूर्ण हो जाने पर यह प्रार्थना की गई है । प्रस्तर, परिधि, स्रुवा, वेदी, कुशा और स्तुतियों के द्वारा जो यह मेरा यज्ञ संपन्न हुआ है, उसे हे अग्निदेव ! तुम देवताओं की प्रीति के लिए स्वर्ग को ले जाओ । ६३

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः ।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६४ ॥

वैश्वकर्मणः	विश्वकर्मा-सम्बन्धी	देवेषु दधत्	देवताओं को प्रदान करे।
अग्निः	अग्नि		
नः	हमारे	यत् दत्तम्	जो दिया गया है,
तत् स्वः	उस दान को स्वर्गलोक में स्थित	यत् परादत्तम्	जो परोपकार के लिए दिया गया है,

१ स्रुक् का आधार; २ पलाश आदि वृक्ष की लकड़ी जो यज्ञकुण्ड के चारो ओर रखी जाती है; ३ स्रुवा; ४ वेदमन्त्रों के द्वारा की गई स्तुति ।

हों इष्टापूर्त कर्मफल प्राप्त उसे सब।
उत्तम सुख प्राप्त उसे हों, कृपा करो अब॥
सब इष्ट-पूर्त कर्मों का कर संपादन।
यजमान बना यह अनघ[1] और अतिपावन॥
यह साथ तुम्हारे रहने का अधिकारी।
हे देवगणो! हो इस पर कृपा तुम्हारी॥
हो प्राप्त स्वर्ग का वास इसे यह अक्षय।
सम्पूर्ण देवगण! उसको करो अनामय॥ ६१॥

टि०—इस मंत्र में इष्टापूर्त कर्मों के फल का निर्देश है। ऐसे कर्मसंपादन करने वाले पर अग्निदेव प्रसन्न हों। ऐसे पुण्यकर्म करनेवाला स्वर्ग में देवताओं के साथ रहने का अधिकारी हो जाता है। देवताओं से प्रार्थना की गई है, इष्टापूर्त कर्म संपादित करनेवाले यजमान को वे अक्षय स्वर्ग-सुख प्रदान करें। ६१

येन॒ वहा॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥ ६२॥

अग्ने	हे अग्नि!	**तेन नः**	उस शक्ति से हमारे
येन सहस्रं वहसि	जिस शक्ति से सहस्र दक्षिणाओं वाले यज्ञ को करते हो,	**इमं यज्ञं**	इस यज्ञ को
		देवेषु गन्तवे	देवताओं के प्रति गमन करने के लिए
येन सर्ववेदसं	जिसके द्वारा सब वेदों से सम्पन्न होने वाले यज्ञ कराते हो,	**स्वः नय**	स्वर्ग के प्रति ले चलो॥ ६२॥

अग्ने! है सामर्थ्य तुम्हारा वंदनीय नित।
जिससे करते अयुत-दक्षिणा यज्ञ[2] अनुष्ठित॥
जिसके द्वारा करते हो सर्वदा प्रवर्तित।
सर्ववेदमय यज्ञों की शृंखला पुण्यकृत[3]॥
करो उसी के द्वारा मेरा यज्ञ सफल यह।
देवों के प्रीत्यर्थ स्वर्ग को ले जाओ वह॥ ६२॥

---

१ पापहीन; २ जिस यज्ञ में हजारों को हज़ार प्रकार की दक्षिणाएँ दी जाती हैं; ३ पुण्य संपादित करनेवाली।

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि स्वर्ग धरती पर उतर आवे। मनुष्यों में ऐसे गुणों का विकास हो, जिससे उन्हें देवताओं की प्रतिष्ठा प्राप्त हो। मधु-घृत की धाराएँ घर-घर बहें। कोई दीन-दुःखी न हो। ६५

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा
घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो
घर्मो हविरस्मि नाम[1] ॥ ६६ ॥

जातवेदाः	सब उत्पन्न जगत् को जाननेवाला,	मे चक्षुः घृतम्	मेरी आँखें घृत हैं।
अर्कः त्रिधातुः	पूजनीय यज्ञ-रूप और सामवेद के लक्षण वाली तीन धातुओं वाला,	मे	मेरे
		आस्यं अमृतम्	मुख में हवि-रूप अमृत है।
रजसः विमानः	मध्यलोक का निर्माता,	घर्मः नाम	उष्णता के अर्थयुक्त नाम वाला घर्म,
अजस्रः अग्निः	निरन्तर रहनेवाला अग्नि	हविः अस्मि	हवि-रूप पदार्थ मैं हूँ ॥ ६६ ॥
जन्मना अस्मि	उत्पत्ति से ही मैं हूँ।		

मैं हूँ उत्पन्न जगत् का सम्यक् ज्ञाता।
इस मध्यलोक का मैं ही हूँ निर्माता॥
पूजार्ह[1] यज्ञ हूँ मैं त्रिधातु[2] हूँ मैं ही।
हूँ ऋक्-यजुर्, सामस्वरूप वेदत्रय हूँ मैं ही॥
हूँ अग्निदेव मैं अजर-अमर अविनाशी।
सृष्टि की आदि से शाश्वत ज्योति-विलासी॥
घृत दृग है मेरा और अमृत मेरा मुख॥
अभिधान[3] घर्म[4] हवि हूँ नित हवि-हित उन्मुख॥ ६६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि स्वयं अपना परिचय देते हैं। मै इस उत्पन्न जगत् को अच्छी तरह जानता हूँ। मध्यलोक का निर्माण मैने ही किया है। ऋक्, यजुर्, साम-

---

१ पूजा के योग्य; २ ऋक्, यजुर्, साम; ३ नाम; ४ उष्णता।

यत् पूर्तम्	जो कूप, तड़ाग का निर्माण आदि पूर्त कर्मों के लिए दिया गया है,	याः दक्षिणाः	जो यज्ञसम्बन्धी दक्षिणाएँ दी गयी हैं,
		(देवेषु दधत्)	ये सब देवताओं को प्राप्त हों ॥६४॥

हे प्रजापति ! विश्वकर्मा अग्नि ज्योतिर्मान।
करो ऐसी कृपा, हो यह सफल मेरा दान॥
जो दिया है, दिया पर-उपकार के हित देव !।
और रचे तड़ाग, वापी[1], कूप आदि सदैव॥
यज्ञ में है दक्षिणाएँ की सश्रद्ध[2] प्रदान।
प्राप्त हों वे देवगण को सर्वदा सह-मान॥
स्वर्ग के सब सुरों में उसका करो आधान।
विश्वकर्मा अग्नि ! हो सब सफल मेरा दान॥ ६४॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे मेरा दान सफल करे। मैंने परोपकार के लिए दिया है। मैंने तालाब, बावड़ियाँ,कुएँ आदि बनवाकर पूर्त कर्म संपादित किये है। यज्ञों में मैने श्रद्धा-सहित दक्षिणाएँ दी हैं। उसको स्वर्ग-लोक में देवताओं में स्थापित करो। ६४

यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६५ ॥

वैश्वकर्मणः	विश्वकर्मा-सम्बन्धी	यत्र मधोः	जहाँ शहद की
अग्निः	अग्नि	घृतस्य च	और घी की (ऐसी)
तत् स्वः	उस स्वर्ग में	धाराः	धाराएँ प्रवहमान हैं,
देवेषु नः दधत्	देवताओं के मध्य में हमको प्रतिष्ठित करे,	याः	जो
		अनपेताः	(कभी) क्षीण नहीं होती॥ ६५ ॥

अग्नि विश्वकर्मा दे हमको वास परम सुखधाम।
रहे प्रतिष्ठा प्राप्त सुरों-सी हमको पूर्ण[3] प्रकाम[4]॥
मधु-घृत की धाराएँ बहती रहें अनंत अक्षीण।
प्लावित हों घर-द्वार हमारे हम हों सदा अदीन॥
उतरे स्वर्ग धरा पर, बरसें प्रेय-श्रेय के फूल।
जन-जन का जीवन इस जग में हो अनन्त सुखमूल॥ ६५ ॥

१ बावली; २ श्रद्धा के साथ; ३ खूब भरा-पूरा; ४ अभीष्ट।

इन्द्र	हे इन्द्र !	पृतनाषाह्याय	शत्रु-सेना का आक्रमण होने पर उसको पराजित करनेवाले
वार्त्रहव्याय	वृत्रासुर जैसे सम्मुख वर्तमान शत्रु के मारने में समर्थ,	शवसे त्वा	असह्य सामर्थ्य वाले तुमको हम
		आवर्तयामसि	बार-बार बुलाते है ॥ ६८ ॥

हम करते बारंबार तुम्हारा आवाहन।
हे इन्द्र ! शत्रुहन्ता हो विदित वृत्रसूदन[1] ॥
तुम सदा कराते सेनाओं को विजय प्राप्त।
आक्रान्ताधर्षण[2] कीर्ति तुम्हारी विश्वव्याप्त ॥
सामर्थ्य तुम्हारा सहन न कर सकते रिपुगण।
हो सदा तुम्हारे बल-विक्रम का संवर्धन ॥ ६८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि का स्तवन है। इन्द्र में तीन ऐसी विशेषताएँ हैं जो राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक हैं— शत्रुनाश करने की शक्ति, शत्रु-सेना का आक्रमण होने पर उसको पराजित करना और असह्य सामर्थ्य। ६८

स॒हदा॑नुं पुरुहूत क्षि॒यन्त॑मह॒स्तमि॑न्द्र॒ सं पि॑ण॒क् कुणा॑रुम्।
अ॒भि वृ॒त्रं वर्ध॑मानं॒ पिया॑रुम॒पाद॑मिन्द्र त॒वसा॑ जघन्थ ॥ ६९ ॥

पुरुहूत इन्द्र	हे बहुतों के द्वारा सहायता के लिए आवाहन किये जानेवाले इन्द्र !	इन्द्र	हे इन्द्र !
क्षियन्तं	समीप रहनेवाले,	वर्धमानं	अपनी शक्ति को बढ़ानेवाले (तथा)
कुणारुं सहदानुं	उच्च ध्वनियाँ-दुर्वचन कहनेवाले के साथ मिलकर रहनेवाले शत्रु को	पियारुं वृत्रं	बुरा भाषण करनेवाले वृत्रासुर को
अहस्तं सं पिणक्	हस्तहीन (शस्त्र-हीन) करके कुचल डालो।	तवसा	बल-पूर्वक
		अपादं	पैरहीन अर्थात्
		अभि जघन्थ	गतिहीन करके (सब ओर से) नष्ट कर दो ॥ ६९ ॥

---

१ वृत्रासुर को मारनेवाले; २ आक्रमण करनेवाले को पराजित करनेवाले।

रूप त्रिधातु मैं ही हूँ। मैं अविनाशी अग्नि हूँ। सृष्टि के आरंभ से ही मैं इस संसार को प्रकाश दे रहा हूँ। घृत मेरा नेत्र है, इसी से मेरे प्रकाश का विस्तार होता है। मेरा मुख अमृत है। घर्म अर्थात् उष्णता मेरा नाम है। हवि आदि पदार्थों के रूप में मैं ही विद्यमान हूँ। ६६

ऋचो नामा॑स्मि यजू॑ᳪषि नामा॑स्मि सामा॑नि नामा॑स्मि॑।
ये अ॒ग्नयः॒ पाञ्च॑जन्या अ॒स्यां पृ॑थि॒व्याम॑धि॑।
तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मः प्र नो॑ जी॒वात॑वे सुव॑ ॥ ६७ ॥

ऋचः नाम	ऋग्वेद नाम वाला	अग्नयः	अग्नि हैं,
अस्मि	मैं हूँ,	तेषां	उन अग्नियों में
यजूंषि नाम	यजुर्वेद नाम वाला	त्वं	तुम
अस्मि	मैं हूँ,	उत्तमः असि	श्रेष्ठ हो।
सामानि नाम	सामवेद नाम वाला	नः जीवातवे	तुम हमारे
अस्मि	मैं हूँ।		चिरकालिक जीवन
अस्यां पृथिव्यां	इस पृथ्वी पर		के लिए
अधि ये	जो श्रेष्ठ	प्रसुव	आदेश जारी
पाञ्चजन्या	पाँचों प्रजाजनों के लिए हितकारी		करो ॥ ६७ ॥

ऋग्वेद नाम मैं अग्नि प्रथित, मैं यजुर्वेद हूँ विश्वविदित।
मैं ही हूँ सामवेद वंदित, मैं वेदत्रयस्वरूप हूँ नित।
हैं प्रजाजनों के हित हितकर, अग्नियाँ पाँच[1] जो धरती पर।
उनमें हो अग्ने! सर्वोत्तम, हो प्राप्त हमें आयुष्य परम।
हे देव! करो आदेश आप्त, हो चिर-जीवन-वर[2] हमें प्राप्त ॥ ६७ ॥

टि०—इस मंत्र के पूर्वार्ध में अग्नि अपना परिचय देते हुए कहते हैं, मैं वेदत्रय-रूप हूँ—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, मेरे ही नाम हैं। आगे इस मंत्र में कहा गया है, समाज में पाँच जनों की हितकारिणी पाँच अग्नियाँ है। ये पाँच जन हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद। ये पाँचों यज्ञ करते है, इसलिए इन अग्नियों का नाम हुआ पांचजन्य। इन सबमें हे चितिरूप अग्नि! तुम सर्वोत्तम हो। हमारे चिरजीवी होने के लिए आदेश करो, हमें दीर्घायुष्य प्रदान करो। ६७

वार्त्र॑हत्याय॒ शव॑से पृत॒नाषाह्या॑य च।
इन्द्र॒ त्वाऽऽव॑र्तयामसि[1] ॥ ६८ ॥

---

१ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, निषादो की पाँच अग्नियां; २ दीर्घायु होने का वरदान।

टि०—लोकमंगल के लिए सर्वस्व-समर्पण की प्रेरणा देनेवाला यह दिव्यातिदिव्य मंत्र है। इस मंत्र में मनुष्य को समिधा कहा गया है। इसका अर्थ है–सच्चा मनुष्य वही है जो अपने जीवन को समिधा बनाकर उसे लोकमंगल की वेदी पर अर्पित कर देता है। समिधा सम्पूर्ण आत्मत्याग का प्रतीक है। जो इस सर्वस्व त्याग-रूप जीवन-यज्ञ का अनुष्ठान करता है, उसकी रक्षा स्वयं सूर्य आगे आकर करते हैं। गीता में भी यही कहा गया है—'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'। (अ० ९ २२) ५

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद[1]

घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद[2]

घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद[3]

प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद[4]। ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ

ता विष्णो पाहि[5] पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्[6] ॥ ६ ॥

घृताची असि	तू घृत प्रदान करने वाली है।
जुहूः नाम्ना	तेरा नाम जुहू या कड़छी है।
सा	वह तू
प्रियेण धाम्ना	अपने प्रिय धाम या तेज के साथ
इदं प्रियं	इस प्रिय
सदः आसीद	यज्ञसभा में बैठ।
घृताची असि	तू घृत देनेवाली है।
उपभृत् नाम्ना	तेरा नाम उपभृत् है।
सा	वह तू
प्रियेण धाम्ना	अपने प्रिय धाम या तेज के साथ
इदं प्रियं	इस प्रिय
सदः आसीद	यज्ञसभा में बैठ।
घृताची असि	तू घी देनेवाली है।
ध्रुवा नाम्ना	तेरा नाम ध्रुवा है।
सा	वह तू
प्रियेण धाम्ना	अपने प्रिय धाम या तेज के साथ
इदं प्रियं	इस प्रिय
सदः आसीद	यज्ञसभा में बैठ।
ऋतस्य योनौ	यज्ञ के स्थान में
ध्रुवा असदन्	ये स्थिर बैठे हैं।
विष्णो	हे व्यापक देव,
ताः पाहि	उनकी रक्षा करो।
यज्ञं पाहि	यज्ञ की रक्षा करो।
यज्ञपतिं पाहि	यज्ञपति की रक्षा करो।
यज्ञन्यं	यज्ञ करनेवाले (की)
मां पाहि	मेरी रक्षा करो ॥६॥

घृतदात्री हो प्रथित घृताची यज्ञ-सुरभि तुम।
घृतदायक हो प्रथित[1] घृताची यज्ञ-चमस् तुम ॥

१ प्रसिद्ध।

हे पुरुहूत[1] ! सहाय हेतु आहूत[2] सतत तुम।
होते हो हम सबके द्वारा हे देवोत्तम॥
वे रिपु जो रह निकट दुर्वचन कहते हैं नित।
करो उन्हें निःशस्त्र करो निज पदतल विदलित॥
कर रहे वृत्र-से[3] असुर निरंतर बल-वर्धन।
करते रहते दुर्वृत्त सदा वे दुर्भाषण॥
गतिहीन करो उनको, उनका कर दो विनाश।
हों असुर-त्रास से मुक्त धरा, सब दिशाकाश॥ ६९॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे असुरों को नष्ट करें। वृत्र की श्रेणी के असुर देश और समाज मे अपनी वाक्शक्ति और गतिशक्ति का दुरुपयोग करते हुए अनेक विकृतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं, उनका विनाश कर दो। इसी में लोक का परम हित है। ६९

वि नं इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ२ अभिदासत्यधरं गमया तमः[1] ॥ ७०॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	नीचा यच्छ	नीच स्थिति में पहुँचा दो और
मृधः	संग्राम में	यः अस्मान्	जो हमको
वि जहि	विशेष रूप से शत्रु को पराजित करो,	अभिदासति	नष्ट करने की इच्छा करता है,
पृतन्यतः नः	सेना से युक्त हमारे शत्रुओं को	अधरं	उसे अधोगति-रूप
		तमः गमय	अन्धकार की ओर ले जाओ॥ ७०॥

हे इन्द्र ! करो निःशेष[4] विशेष सकल रिपुदल।
कर दो पदमर्दित शत्रु राष्ट्र के सकल सदल[5]॥
जो हमें नष्ट करने की इच्छा करते नित।
पुरुहूत ! उन्हें तुम करो निरंतर पदमर्दित॥ ७०॥

टि०—हे इन्द्र ! राष्ट्र के शत्रुओं का विशेष रूप से विनाश करो। जो हमको हानि पहुँचाना चाहते हैं, उनको नीच स्थिति को पहुँचा दो। ७०

---

१ इन्द्र जिनका आह्वान बहुसंख्यक लोगो के द्वारा सहायता के हेतु किया जाता है; २ आमंत्रित; ३ वृत्रासुर-जैसे; ४ समाप्त; ५ सेना-सहित।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकꣳ सꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि
शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ७१ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	सृकं तिग्मं	शरीर में प्रवेश करनेवाले तीक्ष्ण
कुचरः	कुटिल गति वाले,	पवि	वज्र को
गिरिष्ठाः	पर्वतों की गुफाओं में रहनेवाले,	संशाय	अच्छी तरह सज्जित करके
भीमः मृगः न	भयंकर सिह के समान सम्पन्न,	शत्रून् वि ताढि	शत्रुओं को विशेष रूप से ताड़ित करो,
परावतः	दूर-देशवाले शत्रुओं को (तुम)	मृधः	युद्ध में शत्रु-सेना को
परस्याः	चारों ओर से	वि नुदस्व	पराजित कर दो ॥ ७१ ॥
आजजगन्था	घेर लो।		

हे इन्द्र ! पधारो दूर देश से देवेश्वर ! ।
ताड़ना विशेष करो, भागें अरि तज संगर[१] ॥
अतितीक्ष्ण वज्र से रिपुओं के तन करो दीर्ण[२] ।
दुर्द्धर्ष पराक्रम से अरि-संहृति[३] करो शीर्ण[४] ॥
पर्वत के गह्वर से जैसे केसरी निकल ।
आ दूर देश से देता पशुओं को दलमल ॥
वैसे ही आओ इन्द्र ! करो विक्रम प्रकाश ।
सब कुचर[५] पापियों का कर दो तुम सर्वनाश ॥ ७१ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, देवेश्वर इन्द्र स्वयं दूर देश से पधारकर शत्रुओं को विशेष रूप से प्रताड़ित करें । उनके शरीरों को अपने वज्र से छिन्न-भिन्न कर दें । जैसे सिंह दूरवर्ती पर्वत की कन्दरा से निकल पशुओं का सर्वनाश कर देता है, वैसे ही आप हमारी पुकार सुनकर दूर देश से आवें; अपना पराक्रम प्रकट करें और कुटिल आचार-व्यवहार वाले पापियों का सर्वनाश कर दें । ७१

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

---

१ युद्ध; २ छिन्न-भिन्न; ३ शत्रुओं का संगठन; ४ नष्ट; ५ कुटिल गति वाले ।

वैश्वानरः अग्निः	सब प्राणियों का हितकारी अग्नि	नः ऊतये	हमारी रक्षा करने के लिए,
नः सुष्टुतीः उप	हमारी सुन्दर स्तुति सुनने के लिए,	परावतः	दूर-देश से
		आ प्र यातु	आगमन करे ॥७२॥

हे अग्नि ! अये वैश्वानर[1] ! सबके हितकारी।
प्रभु ! श्रवण करो मेरा यह स्तव मंगलकारी ॥
तुम दूर देश के अधिवासी हे देवदेव ! ।
आओ पुकार सुन रक्षा के हित सर्वदैव[2] ॥ ७२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है। आप वैश्वानर है— सबके हितकारी हैं। हम आपको यह आह्वान-भरी स्तुति सुना रहे हैं। आप इसे ध्यान देकर सुनें। आप दूर देश के अधिवासी भले ही हों, किंतु हमारी पुकार सुनकर हमारी रक्षा के लिए पधारें। ७२

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां
पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो
दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥ ७३ ॥

वैश्वानरः अग्निः	सब प्राणियों का हितकारी अग्नि	सः पृष्टः	इस (अग्नि) से पूछा गया (कि यह प्रकाश करनेवाला कौन है ?),
दिवि पृष्टः	देवलोक में पूछा गया (कि आदित्य-रूप यह कौन है ?),	सहसः पृष्टः	बलपूर्वक पूछा गया (कि यह कौन है ?),
पृथिव्यां पृष्टः	पृथ्वी में लोगों से पूछा गया (कि यह नाश करनेवाला कौन है ?),	सः अयं अग्निः	ऐसा वह अग्नि
		दिवा नक्तं	दिन और रात
विश्वा ओषधीः आ विवेश	सम्पूर्ण ओषधियों में प्रविष्ट हुए,	नः रिषः पातु	हिंसक लोगों से हमारी रक्षा करे ॥ ७३ ॥

१ सबका हितकारी अग्नि; २ सदा ही ।

हैं निखिल लोक के हितकारी ये अग्निदेव।
हिंसा से रक्षा करें अहर्निश[1] सर्वदेव॥
पूछा द्युलोक में गया कौन आदित्य-रूप[2]?।
पूछा पृथ्वी पर गया, कौन ज्योतिःस्वरूप?॥
सब ओषधियों में कहो कौन यह है प्रविष्ट?।
बलपूर्वक पूछा गया, कौन यह है विशिष्ट?॥
वह है वैश्वानर अग्नि सभी का हितकारी।
वह प्रजाजनों का जीवन चिर मंगलकारी॥ ७३॥

टि०—द्युलोक में यह प्रश्न पूछा गया, जो आदित्य-रूप में प्रकाशमान है, वह कौन है? पृथ्वी पर लोगों के बीच यह प्रश्न उठा, प्रकाश का निर्माता यह कौन है? जो सब ओषधियों में प्रविष्ट है, वह कौन है? फिर ज़ोर देकर पूछा गया, आखिर वह कौन है? उत्तर मिला, वह सबका हितकारी वैश्वानर अग्नि नामधारी स्वयं परमात्मा है। ७३

अ॒श्याम॒ तं काम॑मग्ने तवो॒ती
अ॒श्याम॑ र॒यिं र॑यिवः सु॒वीर॑म्।
अ॒श्याम॒ वाज॑म॒भि वा॒जय॑न्तो॒ऽश्याम॑
द्यु॒म्नम॑जरा॒जरं॑ ते॥ ७४॥

अग्ने	हे अग्नि!
तव ऊती	तुम्हारे रक्षण-सामर्थ्य से
तं	(हम) उस
कामं अश्याम	अपनी अभिलाषा से पूर्ण हों।
रयिवः	हे धनवान!
सुवीरं	(तुम्हारी कृपा से हम) सुन्दर वीर पुत्र
रयिं अश्याम	और श्रेष्ठ धन को प्राप्त करनेवाले हों,
वाजयन्तः	संग्राम करते-कराते हुए हम लोग
वाजं	संग्राम में विजय को
अभि अश्याम	अच्छी तरह प्राप्त करें।
अजर	हे जरारहित!
ते अजरं	तुम्हारे अविनाशी
द्युम्नं अश्याम	यश और तेज को हम प्राप्त होवें॥ ७४॥

हे अग्नि! सदा तुम रक्षा करने में समर्थ।
हों सिद्ध तुम्हारे द्वारा अपने सकल अर्थ[3]॥

---

१ दिन-रात; २ सूर्य के रूप में; ३ अभीष्ट।

रयिवान[1] ! आपकी हो हम सब पर कृपा चरम।
हम पावें संतति वीर और धन श्रेष्ठ परम॥
हम युद्ध करें, युद्धों में पावें विजय सदा।
हम भोग करें विजयार्जित[2] भूति[3] नित्य सुखदा॥
हे अग्निदेव ! तुम जरा-रहित हो अजर-अमर।
हम प्राप्त तुम्हारी कीर्ति करें चिर अविनश्वर[4] ॥ ७४ ॥

टि०—इस मंत्र मे अग्नि का स्तवन करते हुए यह कहा गया है कि तुम हमारी रक्षा करने में समर्थ हो। उसी सामर्थ्य से तुम हमारे सब अभीष्ट सिद्ध करो। तुम हम पर कृपा करो, वीर पुत्र और श्रेष्ठ धन प्रदान करो। युद्धों मे हम विजयी हों, विजय से प्राप्त ऐश्वर्य का हम भोग करे। हमको अविनश्वर यश प्राप्त हो। ७४

वयं ते अद्य ररिमा हि
काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता
मन्मना विप्रो अग्ने ॥ ७५ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	मनसा हि कामं	सावधान मन से ही अभिलषित
उत्तानहस्ताः वयं	ऊँचे हाथों से हम	हविः ते ररिम	हवि को तुम्हारे लिए अर्पण कर रहे हैं।
नमसा उपसद्य	नमस्कार करके (तुम्हारे) पास पहुँच रहे हैं।		
अद्य यजिष्ठेन	आज यज्ञ में तत्पर	विप्रः	बुद्धिमान तुम (अग्नि)
अस्रेधता मन्मना	चंचलतारहित मननशील	देवान् यक्षि	देवताओं को तृप्त करो ॥ ७५ ॥

अग्ने ! जाकर हम निकट तुम्हारे बार-बार।
उत्तानहस्त[5] करते हैं अर्पित नमस्कार॥
हम हैं अनन्य गति[6] यज्ञकर्म में आज निरत।
एकाग्रचित्त अति सावधान मन संशितव्रत[7]॥

---

१ धनवान; २ विजय के द्वारा कमाया हुआ; ३ ऐश्वर्य; ४ जिनका नाश न हो; ५ उँगलियाँ खोलकर, हाथ उठाकर; ६ दूसरी ओर न जानेवाले एकाश्रयी भाव से; ७ यम-नियमादि का पालन करते हुए।

हम करते हैं अभिलषित हव्य तुमको अर्पित।
हे महामनीषी! करो सुरों की तृप्ति विहित[1]॥
हम हाथ उठाकर करते तुमको नमस्कार।
जाते हैं सादर निकट तुम्हारे बार-बार॥ ७५॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से यह कहा गया है कि हम कृपण-भाव छोड़कर, हाथ खोलकर उन्हें ऊपर उठाकर, नमस्कार करते हुए तुम्हारे समीप जाते हैं। यम-नियमों का पालन करते एकाग्रचित्त होकर और मन को सावधान कर तुमको अभीष्ट हवि प्रदान करते हैं। हे मननशील अग्निदेव! हमारे द्वारा अर्पित हवि से देवताओं को तृप्त करो। ७५

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।
सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे॥ ७६॥

धामच्छत्	तेज को धारण करनेवाला (तथा)	बृहस्पतिः	बृहस्पति और
देवः अग्निः	दिव्यगुणयुक्त अग्नि,	सचेतसः	महाबुद्धिसम्पन्न
इन्द्रः	इन्द्र,	विश्वेदेवाः	सब देवता
ब्रह्मा (देवः)	ब्रह्मा देवता,	नः यज्ञं	हमारे यज्ञ को
		शुभे प्रावन्तु	शुभकारक स्थान में स्थापित करें॥७६॥

ये तेजधरण[2] दिव्यगुणविमंडित[3] अग्निदेव।
ये इन्द्र, विधाता और बृहस्पति विश्वदेव॥
ये है समान मन वाले प्रज्ञावान परम।
सब करें हमारे ऋतु[4] का रक्षण परमोत्तम॥
न्यूनता करें सब दूर विषम को कर दें सम।
यज्ञ को करें सुस्थापित स्थानों में शुचितम॥ ७६॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को तेज धारण करनेवाले और दिव्य गुणगणों से मंडित कहा गया है। ये विशेषण इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति और विश्वेदेवों के साथ भी प्रयोज्य हैं। ये सब देवता समान मन वाले और परम प्रज्ञावान हैं। ये सब हमारे यज्ञ की रक्षा करें, उसका न्यूनातिरेक दूर करें, अर्थात् जो न्यून है, उसको पूरा करें और अधिक को सम कर दें। इस प्रकार हमारे यज्ञ को शुभ स्थानों में स्थापित करें। ७६

---

१ विधिवत्; २ तेज को धारण करनेवाले; ३ दिव्य गुणों से शोभित; ४ यज्ञ।

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः।

रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ७७ ॥

[अध्याय १८, कण्डिकाः ७७, मन्त्र-संख्या ८६]

॥ इति इत्यष्टादशोऽध्यायः ॥

यविष्ठ दाशुषः	हे अतिशय तरुण (तेजस्वी) अग्नि !	नॄः पाहि	मनुष्यों की रक्षा करो
त्वं गिरः शृणुधी	तुम हमारी स्तुतियों का श्रवण करो।	उत आत्मना	और अपने उपासक की
		तोकं रक्ष	संतान की रक्षा करो ॥ ७७ ॥

हे परम यविष्ठ[1] ! प्रकृष्ट तरुणतम अग्निदेव।
तुम श्रवण ध्यान से करो हमारे स्तव[2] सदैव ॥
प्रभु ! करो उपासक की संतति का नित रक्षण।
वे रहें तुम्हारी वरद शरण में चिर अव्रण[3] ॥ ७७ ॥

टि०—इस मंत्र में उपासक अग्निदेव से प्रार्थना करता है-आप हमारी संतान की रक्षा करें। हम सब उपासक आप की वरदायक शरण प्राप्त करें और सदा अक्षत रहें। हम पर कभी कोई आघात न हो। ७७

॥ अष्टादश अध्याय समाप्त ॥

१ अतिशय तरुण; २ स्तुति, ३ अक्षत।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन।
मधुमतीं मधुमता सृजामि सं सोमेन।
सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै
पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

स्वाद्वीं	अतिस्वादिष्ट,
तीव्रां	अत्यन्त तीखी,
अमृतां	अमृत के समान मधुर,
मधुमतीं त्वा	मीठे रस वाली तुमको
स्वादुना तीव्रेण	सुस्वादु, तीक्ष्ण
अमृतेन मधुमता	अमृत और मधुर
सोमेन सं सृजामि	सोमरस के साथ मिलाता हूँ।
सोमः असि	(हे सुरे ! सोम के साथ तुम) सोम हो गयी हो।
अश्विभ्यां पच्यस्व	दोनों अश्विनी-कुमारों के लिए परिपक्व बनो,
सरस्वत्यै पच्यस्व	सरस्वती के निमित्त अपने को परिपक्व करो,
सुत्राम्णे	भली भाँति रक्षा करनेवाले
इन्द्राय पच्यस्व	इन्द्र के लिए अपने को परिपक्व करो ॥ १ ॥

एकोनविंश अध्याय

हे सुरे ! परम स्वादिष्ट, तीव्र, हो सुधा-मधुर।
रसवती सदा करती हो रसमय सबके उर ॥
सुस्वादु, तीक्ष्ण, अमृतोपम, मधुमय सोम-सहित।
कर अभिमंत्रित करता हूँ तुमको संयोजित[1] ॥
हे सुरे ! प्राप्त हो गया तुम्हें सोम का रूप।
परिपक्व करो निज को देवों के हित अनूप ॥
परिपक्व बनो, हों तृप्त अश्विनी देवद्वय।
देवी सरस्वती और इन्द्र हों तुष्ट उभय ॥ १ ॥

---

१ मिलाने की क्रिया।

टिप्पणी—इस मंत्र में सोम के साथ देवों की विशेष प्रिय सुरा के मिलाने के विधान का वर्णन है। सुरा के महत्त्व का वर्णन चरक के 'सुराध्याय' में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, यह आज की शराब से भिन्न कोई स्वास्थ्यवर्धक पेय था जो देवताओं को प्रिय था। उसे पवित्र माना जाता था, तभी वह सोम के साथ मिलाकर प्रयोग में लाया जाता था। मंत्र में सुरा को संबोधित करते हुए कहा गया है— तुमको सोम के साथ मिलाया जा रहा है, तुमको सोम का रूप प्राप्त हो गया है। तुमको ऐसा रूप प्राप्त हुआ है, जो देवों को प्रिय है। तुम्हारा सेवन कर दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती देवी और इन्द्र प्रसन्न होंगे। जिस पेय से सरस्वती संतुष्ट हों, वह कोई सात्त्विक पेय ही होना चाहिए। उसे आज की शराब जैसा तामस पेय नहीं माना जा सकता है। वह फलों और ओषधियों के रस को मिलाकर तैयार किया जाता होगा। १

परीतो षिञ्चता सुतꣳ सोमो य उत्तमꣳ हविः।
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥ २॥

यः सोमः	जो सोम	सोमं	(जिस) सोम को
उत्तमं हविः	श्रेष्ठ हवि के रूप में प्रसिद्ध है,	अद्रिभिः	पत्थर द्वारा
वा यः	अथवा जो	आ सुषाव	पीसकर रस-रूप में सिद्ध किया गया है, (इस प्रकार)
नर्यः दधन्	मनुष्यों का हितकारी है और उनको शक्ति देता है और	सुतं	सिद्ध (उस सोम) को
अप्सु अन्तः	जलों के मध्य में रहनेवाले	इतः परि षिञ्चत	इस गाय के दूध में अच्छी तरह से मिलाओ॥ २॥

है हवि यह सोम परम उत्तम, मानव के हित है यह शुभतम[1]।
देता है उनको शक्तिदान, धारण करते वे बल महान।
यह सोम जलों में है निवसित, पत्थर से होकर निष्पेषित[2]।
पा जाता है रसरूप सिद्ध, बनता है तब वह हव्य शुद्ध।
गोदुग्ध से करो वह मिश्रित, तब बनता पान योग्य वह नित॥ २॥

टि०—सोम उत्तम हवन के योग्य पदार्थ है। यह मनुष्यों की शक्ति बढ़ाता है। इसको पत्थर से कूटकर रसरूप देकर दूध से मिलाकर पिया जाता है। २

---

१ परम कल्याणकारी; २ पीसा जाकर।

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा[१] ।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमो अतिद्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा[२] ॥ ३ ॥

प्रत्यङ्क्	पश्चिम दिशा में निकाला हुआ	प्राङ् अतिद्रुतः	पूर्व की ओर से अतिशीघ्र निकाला हुआ
अतिद्रुतः	अतिद्रुतगामी	सोमः	सोमरस
सोमः	सोमरस	वायोः पवित्रेण	वायु की पवित्रता से
वायोः पवित्रेण	वायु की पवित्रता से	पूतः	पवित्र हुआ
पूतः	पवित्र बना हुआ	इन्द्रस्य	इन्द्र का
इन्द्रस्य	इन्द्र का	युज्यः सखा	सदा साथ देनेवाला मित्र है ॥ ३ ॥
युज्यः सखा	सदा साथ देनेवाला मित्र है।		

सोमरस प्रतीची[१] में है हुआ सिद्ध यह ।
वायु की पूतता से है पूत बना यह ॥
इन्द्र का नित्य का सखा सोमरस है यह ।
प्राची[२] में हुआ सोमरस निष्पेषित[३] यह ॥
वायु का स्पर्श पा है यह बना पूत अति ।
इन्द्र का सदा का सखा सोमरस सुविदित ॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि जो सोमरस पूर्व अथवा पश्चिम में निकाला जाता है, वह वायु के स्पर्श से पवित्र हो जाता है। वह इन्द्र का नित्य का साथी है। ३

पुनाति ते परिस्रुतꣳ सोमꣳ सूर्यस्य दुहिता ।
वारेण शश्वता तना[१] ॥ ४ ॥

सूर्यस्य दुहिता	सूर्य की पुत्री (उषा)	शश्वता तना	शाश्वत रीति से आई हुई विधि से
ते	तुम्हारे द्वारा	वारेण पुनाति	ग्रहण करने योग्य स्वरूप में पवित्र करती है ॥ ४ ॥
परिस्रुतं सोमं	निकाले हुए सोमरस को		

१ पश्चिम दिशा; २ पूर्व दिशा; ३ पीसकर निकाला गया।

उपभृत[२] और ध्रुवा नामों से तुम अभिनंदित।
सतत विराजो यज्ञस्थल में होकर वंदित॥
ध्रुवा नाम से कथित, रहो ध्रुव यज्ञस्थल में।
तेज, शक्ति-युत धाम-सहित विलसो इस थल में॥
रहें सदा गौ और जुहू आपत्ति-विवर्जित।
सर्वव्यापक विष्णु करें इनकी रक्षा नित॥
हे परमेश्वर विष्णु! यज्ञ यह करो सुरक्षित।
प्रणत यज्ञपति मैं न कभी रह सकूं अरक्षित॥
प्रणत यज्ञपति रहूँ सदा मैं तुमसे रक्षित।
यज्ञ-सुरभि यह रहे निरंतर तुमसे रक्षित॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र का अर्थगौरव विशेष रूप से मननीय है। सबसे पहले इसमें 'घृताची' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'घृतं अच्यते यया' अर्थात् जिससे घृत दिया जाता है, वह घृताची है। घृत देनेवाली सबसे प्रथम गौ है। दूसरा घृत देनेवाला पदार्थ कड़छी या चमस् है। इन दोनों को इस मंत्र में 'उपभृत' और 'ध्रुवा' भी कहा गया है। गौ समीप रहकर भरण-पोषण करती है, इसलिए वह 'उपभृत' है। घृत को यज्ञाग्नि में परोसने का कार्य करने के कारण चमस् या कड़छी भी 'उपभृत' हैं। गौ दोहन के समय नहीं हिलती, कड़छी भी स्थिरता से घृत परोसती है। इसलिए दोनों ध्रुवा हैं। चमस् के द्वारा हवन किया जाता है, इसलिए वह 'जुहू' है। जो सर्वव्यापक देव विष्णु हैं, वे गौ की रक्षा करें, यज्ञ की रक्षा करें, यह प्रार्थना की गई है। यज्ञ को भी विष्णु कहा गया है—'यज्ञो वै विष्णुः'। ६

अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितᳬ सम्मार्ज्मि।
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम्—॥७॥

वाजजित् अग्ने	हे अन्न प्रदान कराने वाले अग्नि!	देवेभ्यः नमः	देवताओं को नमस्कार है।
वाजं सरिष्यन्तं	अन्न के प्रति जानेवाले	पितृभ्यः	पितरों के लिए
वाजजितं त्वा	(तथा) शत्रुओं को पराजित कर अन्न जीतनेवाले तेरा	स्वधा	(हम) अन्न समर्पित करते हैं।
सं मार्ज्मि	मैं शोधन करता हूँ।	मे	मेरी
		सुयमे भूयास्तम्	सहायता कर (मेरे लिए अनुकूल बन जा)॥ ७ ॥

१ समीप रहकर भरण पोषण करनेवाली ध्रुवा नाम से कथित।

तुम करो प्रकाशित तेज और इन्द्रिय का बल।
संयोजित सुरा-सहित करते मद प्रकट प्रबल॥ ५॥

टि०—इस मन्त्र में सोम को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि तुम अपने वीर्य से देवताओं को प्रसन्न करो। इससे युक्त अन्न यजमान को प्रदान करो। सोमरस निकालकर जो यज्ञ किया जाता है, वह ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पवित्र करता है। वह तेजस्विता और इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है। सुरा के साथ पिलाये जाने पर वह मद की वृद्धि करता है। ५

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमं उक्तिं यजन्ति।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वे—
न्द्राय त्वा सुत्राम्णं एष ते योनिस्तेजसे
त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा॥ ६॥

यथा	जिस प्रकार
इह यवमन्तः	यहाँ बहुत यव-सम्पन्न किसान
कुविदङ्ग यवं	बड़े बलदायक यवमय शस्य को
चित् अनुपूर्वं	विचार कर पूर्व पराक्रम की योग्यता से
वियूय दान्ति	शीघ्र काटते है, (वैसे ही)
इह एषां	इस स्थान पर इनके
भोजनानि कृणुहि	भोज्य पदार्थो को तैयार करके रखो,
ये बर्हिषः	जो आसनों पर बैठे हुए
नमः उक्ति	हविरूप अन्न को लेकर मन्त्र बोलते हुए,
यजन्ति	यज्ञ करते है।
उपयामगृहीतः	(तुम) उपयामपात्र में गृहीत
असि	हो।
अश्विभ्यां त्वा	अश्विनीकुमारों की प्रीति के लिए (मैं) तुमको ग्रहण करता हूँ।
एषः ते योनिः	यह तुम्हारा उत्पत्ति-स्थान है।
तेजसे त्वा	तेज-प्राप्ति के लिए तुमको यहाँ (मैं) स्थापित करता हूँ।
सरस्वत्यै त्वा	सरस्वती की प्रीति प्राप्त करने के लिए तुमको ग्रहण करता हूँ।
वीर्याय त्वा	पराक्रम के लिए तुमको यहाँ (मैं) स्थापित करता हूँ।

जो सोम तुम्हारे द्वारा निष्पेषित यह।
सूर्य की सुता करती शुचि शाश्वत-विधि[1] वह॥
सूर्य की सुता है उषा सोम-शुचिकारी।
शाश्वत सम्यक् वह करती है विधि सारी॥ ४ ॥

टि०—इस मन्त्र में बताया गया है कि सोम को पवित्र करने का कार्य उषा करती है। सोम का रस निकालकर उसे उषःकाल तक पात्र में रखा जाता है। उस रस के स्थूल भाग नीचे बैठ जाते हैं और पेयरस ऊपर रहता है। उसी को पिया जाता है। ४

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियꣳ
सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि
रसेनान्नं यजमानाय धेहि ॥ ५॥

देव	हे दिव्यगुण वाले देव (सोम)!	ब्रह्म क्षत्रं	ज्ञानी ब्राह्मणवर्ग को और शूर क्षत्रिय-वर्ग को
शुक्रेण देवताः	अपने वीर्यवर्धक तेज से देवताओं	पवते	यज्ञ में पवित्र करता है तथा (उनमें)
पिपृग्धिः	प्रसन्न करो।		
रसेन अन्नं	रस से युक्त अन्न को	तेजः इन्द्रियं	तेजस्विता और इन्द्रिय-सामर्थ्य को प्रकट करता है।
यजमानाय धेहि	यजमान को प्रदान करो।		
सोमः सुतः	ओषधि का रस निकालकर बनाया गया यह सोम	सुरया	सुरा से मिलाया यह
		आसुतः मदाय	सविधि निकाला हुआ सोमरस मद पैदा करनेवाला है ॥५॥

हे देव! दिव्यगुणयुक्त सोम!
है तेज तुम्हारा वीर्यवृद्धिकारक अनुपम।
देवों को तुष्टि प्रदान करो तुम परमोत्तम॥
यजमान हेतु रसयुक्त अन्न तुम करो दान।
तुम ब्रह्म-क्षत्र[2] को करो सोम! शुचिता प्रदान॥

---

१ परम्परा से चली आई हुई विधि से; २ ब्रह्मज्ञानी और लोकमंगलकारी शक्ति के साधक कर्मशील ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के लोग।

हि वां	तुम दोनों (सुरा और सोम)	मा सं सृक्षाथाम्	मत मिलो (एक न माने जाओ)।
देवहितं	देवताओं का हित करने के लिए	त्वं शुष्मिणी	(हे सुरारस !) तुम बल बढानेवाली
नाना	अनेक प्रकार से		
सदः कृतम्	तुम्हारा पृथक्-पृथक् स्थान (निर्धारित) किया गया है, इसलिए	सुरा असि	सुरा हो।
		एषः सोमः	यह सोम है।
		स्वां	अपने
		योनिं आविशन्ती	स्थान में प्रवेश करती हुई तुम
परमे व्योमन्	अत्यन्त उत्कृष्ट आकाश के विस्तृत स्थान में	सोमं	उस सोम को
		मा हिंसी	मत नष्ट करो ।।७।।

हे सुरा सोम ! देवों के हित तुम रहो पृथक्।
इस परम व्योम[1] में देवों के हित रहो पृथक् ।।
तुम दोनों के गुणधर्म पृथक्, यह रहे विदित।
तुम दोनो एक नहीं हो, है यह तथ्य प्रथित ।।
हे सुरा ! शुष्मिणी[2] हो तुम संतत बलवर्द्धक।
पर बनो कदापि न देवि ! सोम के हित दूषक[3] ।।

× × ×

हे राजाओ ! हे प्रजाजनो ! विद्वज्जन-सा आचरण करो।
बहुबलवर्द्धक इन सोमलतादिक ओषधियों का वरण करो ।।
बल, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयुष्य-वृद्धि के हेतु करो उद्यम अविरत।
उन्मादप्रदायक पेयों के सेवन से संतत रहो विरत ।। ७ ।।

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सोम और सुरा दो सर्वथा भिन्न पदार्थ है। इनके गुणधर्म पृथक् है। सोम के साथ सुरा के मिश्रण से सोम की गुणवत्ता नष्ट हो जाती है। अन्तिम चार पंक्तियों में महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की जो व्याख्या की है, उसका सार दिया गया है। राजाओं और प्रजाजनों को चाहिए कि वे विद्वानों जैसा आचरण करें। सोमलता आदि जो बलवर्द्धक ओषधियाँ है, उनका उन्हें संरक्षण और सेवन करना चाहिए। उनको मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। मादक पदार्थों के सेवन से बल, बुद्धि, आयुष्य, स्वास्थ्य सभी नष्ट हो जाते है। ७

---

१ अत्यन्त उत्कृष्ट आकाश; २ बलवर्द्धक; ३ दूषित करनेवाली।

सुत्राम्णे इन्द्राय त्वा	अच्छे रक्षक इन्द्र की प्रीति के लिए तुमको ग्रहण करता हूँ।	**बलाय त्वा**	बल की प्राप्ति के लिए तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ६॥

यवमन्त कृषक[1] जिस भाँति शस्य यवमय को,
काटते और संचित करते सुविचारित[2]।
तुम उसी भाँति बहु भोज्य पदार्थ सजाओ,
जो समासीन हवि सविधि कर रहे अर्पित॥
उपयामपात्र[3] में सोम ग्रहण कर तुमको,
अश्विनीकुमारों को करने को अर्पित।
हे सोम! तुम्हारा उद्‌भव-स्थान यही है,
इसलिए कर रहा तुम्हें यहाँ मैं स्थापित॥
मैं तुम्हें ग्रहण करता सादर श्रद्धा से,
देवी सरस्वती मुझ पर तुष्ट रहें नित।
है स्थान तुम्हारा सोम! यही, पद सुविदित।
पुरुषार्थ हेतु करता हूँ यहाँ प्रतिष्ठित॥
सबके सम्यक् रक्षक हैं इन्द्र विदित यह,
करने को उनकी परम प्रीति सम्पादित।
हे सोम! वृद्धि हो सदा वीर्य की, बल की,
करता हूँ तुमको यहाँ सविधि सुप्रतिष्ठित॥ ६॥

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सोम के द्वारा अश्विनीकुमारद्वय, देवी सरस्वती और इन्द्र का कृपा-प्रसाद प्राप्त होता है। तेजस्विता, विद्या, पराक्रम, करने की शक्ति, संरक्षण करने की सामर्थ्य, बल आदि सोम की साधना से प्राप्त होते हैं। ६

नाना हि वां देवहितꣳ सदस्कृतं
मा सꣳ सृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा
हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्ती ॥ ७॥

---

१ ऐसे किसान जिनके घर जौ आदि धान्यों से भरे हैं; २ अच्छी तरह सोच-विचार कर; ३ धर्मयुक्त यम-नियमों के पात्र में ही सोम धारण किया जा सकता है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि[1] वीर्यमसि वीर्यं
मयि धेहि[2] बलमसि बलं मयि धेह्यो[3]—
जोऽस्योजो मयि धेहि[4] मन्युरसि मन्युं मयि
धेहि[5] सहोऽसि सहो मयि धेहि[6] ॥ ९ ॥

तेजः असि	(हे परमात्मन् ! तुम) तेज हो।
तेजः मयि धेहि	वह तेज मुझमें स्थापित करो।
वीर्यं असि	पराक्रम करनेवाले हो।
वीर्यं मयि धेहि	अपने पराक्रम को मुझमें धारण करो।
बलं असि	तुम बलवान हो।
बलं मयि धेहि	उस बल को मुझमें स्थापित करो।
ओजः असि	(तुम) ओज-रूप हो।
ओजः मयि धेहि	वह अपना ओज मुझ में स्थापित करो।
मन्युः असि	(तुम) दुष्टों पर क्रोध-रूप हो।
मन्युं मयि धेहि	अपना दुष्टों को दमन करनेवाला क्रोध मुझ में स्थापित करो।
सहः असि	(तुम) शत्रु के आक्रमण का प्रतिकार करनेवाले बल हो।
सहः मयि धेहि	वह बल मुझ में स्थापित करो ॥९॥

हे परमात्मन् ! हो तेजरूप तुम, मुझको तेज प्रदान करो।
वीर्य पराक्रमरूप देव ! तुम, मुझको वीर्य प्रदान करो ॥
बल के परम निधान सदा तुम, मुझको बल दो परमात्मन् ! ।
अक्षय ओजरूप हो तुम नित, मुझे ओज दो हे भगवन् ! ॥
मन्यु[1]-रूप हो दुष्टजनों पर आततायियों के नाशक ! ।
मन्यु मुझे दो हे प्रभु ! अपना, बनूं पापियों का त्रासक ॥
रिपुओं का प्रतिरोध सकल तुम करते, मुझको दो वह वर।
सहनशील हो परम चरम तुम, सहनशील दो मुझको कर ॥ ९ ॥

टि०—इस मन्त्र में परमात्मा को मूर्तिमान तेज, ओज, वीर्य, मन्यु और सह कहा गया है। भगवान से यह प्रार्थना की गई है कि हमें भी अपना तेज, पराक्रम, ओज,

---

१ उस वरेण्य क्रोध को कहते हैं, जो शत्रुओं को नष्ट करने के लिए जाग्रत होता है।

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः
सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम् ।
एष ते योनि—र्मोदाय त्वाँ
ऽऽनन्दाय त्वाँ महसे त्वाँ ॥ ८ ॥

उपयामगृहीतः	(हे सोम ! तुम) धर्मयुक्त यम-नियमों से बँधे
असि	हुए हो,
ते	तुम्हारा
एषः योनिः	यह उत्पत्तिस्थान है ।
अश्विनं तेजः	अश्विनीकुमारों का तेज,
सारस्वतं वीर्यं	सरस्वती की प्रज्ञामयी ऊर्जा,
ऐन्द्रं बलं	इन्द्र का बल
त्वा मोदाय	तुमको प्रसन्नता के लिए,
त्वा आनन्दाय	तुम्हारे आनन्द के लिए,
त्वा महसे	तुमको महान ऐश्वर्य के लिए प्रदान करता हूँ ॥ ८ ॥

हो धर्मयुक्त नियमों से तुम संयुक्त सदा ।
हे सोम ! तुम्हारी योनि[1] यही है मोदप्रदा ॥
अश्विनीकुमारों का-सा हो हमें प्राप्त रूप ।
मैं सोम ! सदा हविरूप तुम्हें करता अनूप ॥
हो प्राप्त मुझे सारस्वत वाणी का वैभव ।
हविरूप तुम्हें अर्पित करता हूँ मैं नित नव ॥
ऐश्वर्य इन्द्र का प्राप्त रहे मुझको अकूत[2] ।
हविरूप तुम्हें करता मैं अर्पित मन्त्रपूत ॥
हो प्राप्त मोद, आनन्द और ऐश्वर्य अमित ।
हे सोम ! तुम्हारी सेवा में रहता रत निन ॥ ८ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सोम की आहुति देने और उसका सविधि सेवन करने से अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र को प्रसन्नता प्राप्त होती है, एवं मोद, हर्ष तथा ऐश्वर्य की वृद्धि होती है । सोम की सिद्धि धर्मयुक्त नियमों के पालन से होती है । इसीलिए उस पूर्ववर्ती मन्त्र में सुरा से पृथक् कहा गया है । ८

१ उत्पत्तिस्थान; २ अपरिमित, जिसका अनुमान भी न किया जा सके ।

मातरं आपिपेष	माता को पीड़ित करता है,	संपृचः स्थ	तुम संयोग करने में समर्थ हो,
अनृणः भवामि	उस पुत्र से मैं ऋण-रहित होता हूँ, जिससे	एतद्	इसलिए
		मां	मुझको
		भद्रेण सं पृङ्क्त	कल्याण से संयुक्त करो।
मया भद्रेण	मेरा कल्याण करनेवाले	विपृचः स्थः	तुम वियोग करने में समर्थ हो,
पितरौ अहतौ	माता-पिता सुरक्षित हों।	मा	मुझको
अग्ने	हे अग्नि !	पाप्मना वि पृङ्क्त	पाप से विमुक्त करो॥ ११ ॥

जो पुत्र सुखद माता का करता स्तन्य-पान[1]।
फिर भूल उसे करता माँ को पीड़ा प्रदान॥
ऐसे सुत का दायित्व शेष मुझ पर न लेश।
हे अग्नि ! मुक्त मै उसके प्रति ऋण से अशेष॥
मैं मातृ-पितृसेवी होऊँ कल्याणधाम।
अग्ने ! मुझको दो सतत शुभंकर[2] वर प्रकाम[3]॥
तुम हो संयोग-वियोग-समर्थ सदा भगवन्।
हो पुण्ययुक्त चिर पापमुक्त जग के सब जन॥ ११ ॥

टि०—इस मन्त्र में मातृसेवा और पितृसेवा का महत्त्व बतलाया गया है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हम मातृपितृसेवी बनें। परमेश्वर में अच्छे कार्यों में युक्त करने एवं बुरे कामों से मुक्त करने की सामर्थ्य है। वे हमें पुण्ययुक्त और पापमुक्त करें। ११

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाऽश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥ १२॥

देवाः भेषजं	देवताओं ने ओषधियों के हवन से	भिषजा अश्विना	वैद्यराज अश्विनी-कुमारों ने और
		सरस्वती	सरस्वती ने
यज्ञं अतन्वत	यज्ञ को विस्तारित किया।	वाचा इन्द्राय	वेद की वाणी से इन्द्र के लिए

१ दुग्धपान; २ कल्याणकारी; ३ अभीष्ट।

मन्यु और सद प्रदान करो। सद का एक अर्थ है संगठित होकर शत्रु से प्रतिरोध करने की शक्ति और दूसरा अर्थ है सहनशीलता। ९

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणंꣳ सिꣳहꣳ सेमं पात्वꣳहसः॥ १०॥

या	जो	**सिंहं**	और सिंह की रक्षा करती है,
विषूचिका	विषूचिका,	**सा इमं**	वह इस यजमान की
व्याघ्रं च वृकं	बाघ और भेड़िया	**अंहसः पातु**	पाप और अपराध से रक्षा करे॥१०॥
उभौ रक्षति	इन दोनों की रक्षा करती है तथा		
श्येनं पतत्रिणं	बाज पक्षी		

अन्नदोष से जो विषूचिका[1] होती दुःसह।
यजमानों की रक्षा करती रहे सदा वह॥
व्याघ्र और वृक[2] सब रहते हैं उससे रक्षित।
सिंह श्येन[3] भी उससे होते नहीं प्रभावित॥
मुक्त सदा हैं अन्नदोष से पशु-पक्षीगण।
रहे सुरक्षित अन्नदोष से मानव-जीवन॥ १०॥

टि०—विषूचिका भयानक रोग है, जो अन्नदोष से उत्पन्न होता है। बाघ, भेड़िया, सिंह, बाज आदि पर इस रोग का प्रभाव नहीं होता। कारण, वे आवश्यकता से अधिक नहीं खाते। मनुष्य ही शक्ति से अधिक खाकर इस रोग से प्रभावित होता है। यज्ञकर्ता की इस रोग से रक्षा हो, यह प्रार्थना इस मन्त्र मे की गई है। यज्ञ करनेवाले संयमी होते हैं। जिह्वा के संयम से इस रोग से बचा जा सकता है। १०

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया।
सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त
विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥ ११॥

यत् प्रमुदितः	जो अत्यन्त आनंदित	**पुत्रः धयन्**	पुत्र दूध को पीता हुआ

१ हैजा-जैसी महामारी;　२ भेड़िया;　३ बाज़।

टि०—इस मन्त्र में यह कहा गया है कि मनुष्यों को यज्ञ करने की अधिकारी वंश-परम्परा का विस्तार करते रहना चाहिए। साथ ही साथ यज्ञ में काम आने योग्य वस्तुओं के संचय भी करते रहना चाहिए। इन वस्तुओं में यव आदि के अंकुरो और शहद का विशेष उल्लेख किया गया है। शहद को सोम का अंश माना गया है। १३

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुराऽऽसुता ॥ १४ ॥

मासरं	धान्य का चूर्ण	एतद्	यह
आतिथ्य रूपम्	आतिथ्य में देने योग्य है।	उपसदाम्	यजमान के लिए
		रूपम्	उत्तम रूप है।
नग्नहुः	मूल धान्य	तिस्रः रात्रीः	(और) तीन रात्रि
महावीरस्य	महावीर को देने के लिए उपयोगी है।	सुरा सुता	तक सुरा का रस निकाला जाता है ॥ १४ ॥

मासर[1] है उत्तम धान्य अतिथि के हेतु देय।
है शुद्ध धान्य अविकृत वीरों के हित विधेय[2] ॥
हैं तीन रात्रि-पर्यन्त अतिथिगण सेव्य[3] सतत।
मानवो! सोम की सिद्धि रहो करते अविरत ॥
धार्मिक विद्वान अतिथिगण हों सादर सत्कृत।
वीरों को तुम सम्मान प्रदान करो नव नित ॥ १४ ॥

टि०—इस मन्त्र में अतिथियों और वीरों के सम्मान का महत्त्व बताया गया है। उनको अपने घर पर कम से कम तीन रात्रियों तक आवास प्रदान कर सोमरस आदि प्रदान कर संतुष्ट रखना चाहिए। सद्गृहस्थों के आवास पर सोमरस सदा तैयार रहना चाहिए। १४

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परि षिच्यते।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥१५॥

ऐन्द्रं इन्द्राय	ऐश्वर्य के स्वामी का पद इन्द्र के लिए है।	अश्विभ्यां	अश्विनीकुमारों द्वारा

१ धान्य का चूर्ण या उत्तम धान्य; २ विहित, अर्पित करने योग्य; ३ सेवा करने योग्य।

इन्द्रियाणि	इन्द्रियों की सामर्थ्यो	भिषग् दधतः	को स्थापित किया ॥ १२ ॥

देवों ने ओषधियों की हवियाँ कर अर्पित।
है यज्ञकर्म को किया निरंतर विस्तारित॥
ओषधियों की हवि से पुनीत हो ग्राम-नगर।
सब रोगमुक्त हो गये, बने सुख के आकर[1]॥
देवी सरस्वती-सहित अश्विनीबन्धु उभय।
करते हैं वेदगिरा से इन्द्रिय-बल-उपचय[2]॥
बढ़ती है इससे सदा इन्द्र की शक्ति महत्।
उसके ही द्वारा करते वे नित नव जग-हित॥ १२॥

टि०—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि देवों अथवा देवतुल्य विद्वज्जनों ने ओषधियों से हवन करने की परम्परा चलाई है। इसके परिणामस्वरूप ग्राम और नगर रोगमुक्त हो जाते है। भिषक्शिरोमणि अश्विनीकुमार और देवी सरस्वती वेदमंत्रों से औषधियों की आहुतियाँ देते है। इससे इन्द्र की शक्ति बढ़ती है। उस शक्ति से वे लोक-कल्याण करते हैं। १२

दीक्षायै रूपꣳ शष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि।
क्रयस्य रूपꣳ सोमस्य लाजाः सोमाꣳशवो मधु॥ १३॥

शष्पाणि दीक्षायै	नये उत्पन्न व्रीहि आदि यज्ञ की दीक्षा के लिए आवश्यक है।	सोमस्य	सोम के लिए
		क्रयस्य	उपयोग के लिए
		लाजाः	लावा
		रूपं	परम रूप है
तोक्मानि	नवीन यव	मधु	(वह और) शहद
प्रायणीयस्य	प्रायणीय यज्ञ का	सोमांशवः	सोम के अंश
रूपम्	रूप है।		है॥ १३॥

मानवो! यज्ञ के योग्य करो संतान सिद्ध।
यज्ञ के योग्य पदार्थ करो संतत प्रवृद्ध[3]॥
दीक्षा के हेतु यज्ञ के व्रीहि-शष्प[4] वांछित।
वे प्रायणीय यज्ञों में हैं उपयोगी नित॥
मधु का संचय भी यज्ञों के हित है अभीष्ट।
मधु अंश सोम का मान्य सदा ही है विशिष्ट॥ १३॥

---

१ खान; २ वृद्धि; ३ वृद्धियुक्त; ४ पक्के अँखुए।

अये वाजजित् अग्नि! अन्नदायक बलदायक।
करता हूँ मैं नमन शत्रुहन् हे सुरनायक!॥
हम सब मिलकर तुम्हें सपर्या[1] अर्पित करते।
नमन तुम्हें, हो तुम्हीं विघ्न-बाधा सब हरते॥
देव-पितर दोनों के आराधन के साधन।
तुमसे ही मिलता उनके प्रसाद का शुचि धन॥
पितर, देव दोनों ही हों अपने सहाय नित।
अये वाजजित्[2] अग्नि! नित्य तुम हमसे अर्चित॥ ७॥

टि०—इस कंडिका में अग्नि को वाजजित् कहकर संबोधित किया गया है। 'वाजस्' का अर्थ है अन्न, बल, सामर्थ्य। शत्रुओं को पराजित कर अन्न लानेवाला 'वाजजित्' कहा जाता है। यज्ञ का मुख्य साधन अग्नि है। यज्ञ से पर्जन्य अर्थात् बादल उत्पन्न होते हैं, बादलों की वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्नि को वाजजित् कहना उचित ही है। यज्ञ में अग्नि की सामुदायिक उपस्थिति होती है, इससे संगठन-शक्ति बढ़ती है। समाज में सहायक-शक्ति की वृद्धि से शत्रु पराजित होते हैं। अग्नि अन्न को पकाता है, सिद्ध करता है। इसीलिए उसे 'वाजजित्' कहना ठीक ही है। ७

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्॥ ८॥

अद्य	आज
देवेभ्यः	देवताओं को अर्पित करने के लिए
अस्कन्नं	जो कहीं गिरा नहीं, ऐसा पवित्र
आज्यं	घृत
संभ्रियासं	मैं लाया हूँ।
विष्णो	हे व्यापनशील यज्ञपुरुष!
अंघ्रिणा त्वा मा अवक्रमिषं	पांव से तेरे ऊपर मैं आक्रमण नहीं करूँगा।
अग्ने	हे अग्ने!
वसुमतीं छायां ते	तेरी धन प्रदान करनेवाली छाया में
उपस्थेषं	मैं रहूँ।
विष्णोः	(तू) विष्णु का या यज्ञ का
स्थानं असि	स्थान है।
इतः	इस स्थान से
इन्द्रः	इन्द्र ने
वीर्यं अकृणोत्	पराक्रम किया।
अध्वरः ऊर्ध्वः	इससे हिंसारहित कर्म
आस्थात्	बहुत उच्चकोटि का हुआ॥ ८॥

१ पूजा या आराधना; २ वाज का अर्थ अन्न और युद्ध दोनों है, अग्नि युद्ध में विजय प्रदान करता है और अन्न भी देता है।

सरस्वत्या दुग्धम्	और सरस्वती के द्वारा दुहा दूध	भेषजं परिषिच्यते	मिलाकर ओषधि वनाई जाती है, (वही)
परिस्रुत्	(और) उत्तम वनस्पतियों से निचोड़ा हुआ रस	क्रीतस्य	खरीद कर प्राप्त किया हुआ
		सोमस्य रूपं	सोमरस का रूप है ॥ १५ ॥

ऐश्वर्यपूर्ण स्वामित्व इन्द्र के हेतु विहित।
करते हैं उसका भोग सदा वे जग के हित॥
अश्विनीकुमारों द्वारा होता वह निर्मित।
करते हैं सरस्वती के पय को वे संचित॥
फिर उसमें करते ओषधि-रस का वे मिश्रण।
इस भाँति सिद्ध होती हे ओषधि व्याधिहरण॥
वह रूप सोम का करती प्राप्त सदैव वरण।
जो है मनुजों के हेतु सदा आयुष्यकरण[1]॥ १५॥

टि०—इन्द्र लोक के कल्याण के लिए इन्द्र-पद पर समारूढ़ होकर ऐश्वर्य का भोग करते हैं। अश्विनीकुमार सरस्वती के पय का संचय कर उसमें ओषधियों का रस मिलाकर जीवनदायक ओषधि का निर्माण करते है। वह इन्द्र का प्रिय पेय है और मनुष्यों के लिए आयुवर्द्धक होता है। १५

आसन्दी रूपꣳ राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तर उत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥ १६॥

आसन्दी	सोम की आसन्दी	अन्तरः	अन्तर लोक अर्थात् मध्य स्थान
राजासन्द्यै रूपम्	मुख्य पात्र का रूप है,	उत्तरवेद्याः रूपम्	उत्तर वेदि का रूप है,
सुराधानी	सुरा रखने का पात्र	कारोतरः भिषक्	करोतर छननी के समान है ॥ १६ ॥
कुम्भी वेद्यै	कुम्भी वेदि का रूप है,		

मानवो! यज्ञ के योग्य करो पदार्थ-संचय।
है मुख्य पात्र का रूप सोम-आसंदी[2]-चय॥

---

१ आयुवर्द्धक; २ बैठने का आसन।

है कुम्भी पात्र सुराधानी[1] वेदी सुविदित।
है मध्यस्थान-रूप उत्तरवेदी का नित॥
कारोतर[2] और भिषक् कर सार-असार ग्रहण।
ये परम विवेकी करते व्याधिमुक्त जीवन॥ १६॥

टि०—स्वामी दयानन्द जी के अनुसार इस मन्त्र में यज्ञयोग्य पदार्थों के संचय पर बल दिया गया है। अन्त में यह संकेत किया गया है कि विवेकी जन सार का ग्रहण और असार का त्याग कर जीवन को रोग और व्याधि से मुक्त करने का रास्ता दिखाते हैं। १६

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूप आप्यते प्रणीतो अग्निरग्निना॥ १७॥

वेद्या वेदिः	यज्ञ की वेदि से वेदि के लिए भूमि	यूपः आप्यते	से आधारस्थान को ग्रहण किया जाता है।
समाप्यते	ली जाती है।		
बर्हिषा बर्हिः	यज्ञवेदि में कुशों से	अग्निना	यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि से
इन्द्रियम्	इन्द्र की सामर्थ्य ज्ञात होती है।	प्रणीतः अग्निः	अग्रणी अग्नि के समान तेजस्वी को ग्रहण किया जाता है॥ १७॥
यूपेन	'यूप' नामक खम्भे		

जैसे विद्वज्जन यज्ञ योग्य कर वस्तु-चयन।
वेदी पर करते मन्त्रपूत हवि का अर्पण॥
इस भाँति निरंतर करके वे पुरुषार्थ महत्।
करते हैं प्राप्त प्रभूत भूति[3] इन्द्रत्व[4] सतत॥
सम्मिलित रूप से और व्यक्तिशः[5] वे नव नित।
विद्युत् का और अग्नि का बल करते अर्जित॥
मानवो! करो संयोजित सब अपने साधन।
साध्य की सिद्धि का करो निरंतर आराधन॥ १७॥

टि०—इस मन्त्र के काव्यानुवाद में महर्षि दयानन्द के भाष्य का अनुसरण किया गया है। जिस भाँति विद्वान अपने परम पुरुषार्थ का प्रयोग कर ऐश्वर्य प्राप्त करते

---

१ सुरा या सोम रखने का पात्र; २ कर्मकारी; ३ ऐश्वर्य; ४ इन्द्र-जैसा प्रभुत्व; ५ अलग-अलग।

है, और व्यक्तिगत रूप से तथा सम्मिलित रूप विद्युत् की और अग्नि की शक्तियों को सिद्ध करते है, वैसा ही अपने देश के मनुष्यों को भी करना चाहिए, जिससे सुख प्राप्त किया जा सके। १७

हविर्धानं यदश्विनाऽऽग्नीध्रं यत्सरस्वती।
इन्द्रायैन्द्रꣳ सदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः ॥ १८ ॥

यत् अश्विना	ये दोनो अश्विनी-कुमार है,	इन्द्राय ऐन्द्रं	इन्द्र का इन्द्र के योग्य
हविर्धानम्	उनके लिए हविर्धान रखा जाता है।	सदः कृतः	सभास्थान,
यत् सरस्वती	जो सरस्वती है,	पत्नीशालं	पत्नीशाला अर्थात्
आग्नीध्रम्	वह त्रिविध की शरण ग्रहण करती हुई आग्नीध्र है।	गार्हपत्यः	गार्हपत्य है ॥ १८ ॥

जैसे सामग्री-संचय करते ऋत्विजगण[1]।
फिर संपादित करते हैं यज्ञकर्म शोभन ॥
वैसे ही है गार्हस्थ्य-धर्म नित यज्ञकर्म।
पति-पत्नी मिलकर करते साधित निखिल शर्म[2] ॥
अश्विनीकुमारों के हित रखते हविर्धान।
आग्नीध्र[3]-रूप करते सरस्वती को प्रदान ॥
इन्द्र के हेतु निर्मित करते वे सभास्थान।
पत्नीशाला ही यज्ञभवन बनता महान ॥ १८ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह कहा गया है कि जैसे ऋत्विजगण सामग्री संचय कर यज्ञ-कर्म संपादित करते है, उसी प्रकार पति-पत्नी मिलकर गार्हस्थ्य जीवन को यज्ञमय बनावें। १८

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य।
प्रयाजेभिरनुयाजान् वषट्कारेभिराहुतीः[1] ॥ १९ ॥

---

१ यज्ञ के चार पुरोहित— होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्राह्मण; २ कल्याण; ३ अग्नि जलाने का स्थान।

प्रैषेभिः	प्रैष नाम के यज्ञ-कर्मों से (मनुष्य)	**प्रयाजेभिः**	उत्तम यज्ञ के कर्मों से प्रयाजों को,
प्रैषान् आप्नोति	भेजने योग्य भृत्यों को प्राप्त करता है,	**अनुयाजान्**	अनुयाजों से अनुयाजों को, अर्थात् अनुकूल यज्ञपदार्थों को,
आप्रीभिः	(वह) आप्रियों अर्थात् सब ओर से प्रसन्न करने वाली क्रियाओं से	**वषट्कारेभिः**	वषट्कारों से वषट्कारों को,
यज्ञस्य आप्रीः	यज्ञ की प्रीति उत्पन्न करनेवाली साधन-सामग्री प्राप्त करता है।	**आहुतीः**	आहुतियों से आहुतियों को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

मानवो ! यज्ञ के करो पूर्ण तुम सब विभाग।
उससे होंगे सब प्राप्त-अभिलषित भोग-राग[1] ॥
कर प्रैषकर्म तुम करो अभीप्सित प्रैष प्राप्त।
आप्री-संपादन देता आप्री सकल आप्त ॥
होती प्रयाज-संपादन से सुप्रयाज-सिद्धि।
अनुयाज-कर्म से होती है अनुयाज-वृद्धि ॥
तुम वषट्कार से वषट्कार को करो सिद्ध।
आहुतियों से होता जीवन आहुति-समृद्ध ॥ १९ ॥

टि०—इस मन्त्र में यज्ञ के छः विभाग बताये गये हैं— १ प्रैष, २ आप्री, ३ प्रयाज, ४ अनुयाज, ५ वषट्कार और ६ आहुति। जो इन सब विभागों का सविधि संचय करता है, उसको तद्रूप अभीष्ट फल प्राप्त होता है। १९

प॒शुभिः॑ प॒शूना॑प्नोति पु॒रो॒डाशै॑र्ह॒वीꣳष्या।
छन्दो॑भिः सामिधे॒नीर्या॒ज्या॒भिर्वषट्का॒रान् ॥ २० ॥

पशुभिः	(मनुष्य) पशुओं के पालन द्वारा	**पशून् आप्नोति**	गो आदि पशुओं को प्राप्त करता है,

१ जीवन के पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति।

पुरोडाशैः हवींष्या	वचन-क्रियाओं से पके हुए पुरोड़ाशों से हवियों को प्राप्त होता है,	**याज्याभिः**	यज्ञ की क्रियाओं से
छन्दोभिः	छन्दों से छन्दों को,	**वषट्कारान्**	वषट्कारों को अर्थात् धर्मयुक्त क्रिया करनेवालों को प्राप्त होता है ॥ २० ॥
सामधेनीः	सामधेनी द्वारा अग्नि प्रदीप्त करनेवाली सुन्दर समिधाओं को प्राप्त होता है,		

मानवो ! करो पशुओं का तुम पालन सधर्म।
पशुधन की करो समृद्धि, सफल हों सकल कर्म॥
तुम पुरोड़ाश का सविधि सश्रद्ध करो अर्पण।
हवियों का फल पाकर होगा स्वर्गिक जीवन॥
छन्दों के द्वारा छन्दों को तुम करो सिद्ध।
है सिद्धि सामधेनी[1] की उससे ही प्रसिद्ध॥
तुम वषट्कार[2] से वषट्कार को करो प्राप्त।
सिद्धियाँ यज्ञ से ही मिलती हैं सकल आप्त॥ २०॥

टि०—इस मन्त्र में बताया गया है, यज्ञ के विविध प्रकार के कर्म संपादित करने से तदनुरूप सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। गो आदि पशुओं की सेवा से पशुधन की वृद्धि होती है। पुरोड़ाश से पुरोड़ाश, छन्दों से छन्द, सामधेनी से सामधेनी और वषट्कार से वषट्कार की प्राप्ति होती है। २०

धानाः क॒रम्भः सक्त॑वः परीवा॒पः पयो॒ दधि॑।
सोम॑स्य रू॒पᳪ ह॒विष॑ आ॒मिक्षा॑ वा॒जिनं॒ मधु॑ ॥२१॥

धानाः	भूना हुआ अन्न,	**परीवापः**	हविष-पंक्ति,
करम्भः	भात की लप्सी,	**पयः**	दूध,
सक्तवः	सत्तू,	**दधिः**	दही,
		सोमस्य रूपम्	सोम का रूप है।

---

१ अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली समिधाएँ; २ वषट् शब्द के उच्चारण द्वारा आहुति देना।

आमिक्षा	गरम दूध में खट्टा डालने से फटा हुआ दूध,	मधु	शहद
		वाजिनं हविषः	अन्न हवि का रूप है ॥ २१ ॥

मानवो ! होम के द्रव्यों को तुम जानो।
सब रोगविनाशक हविर्द्रव्य पहचानो ॥
ये भुने धान्य, करंभ[1], सक्तु[2] हैं सुविदित।
हविपंक्ति, दुग्ध, दधि रूप सोम के है नित ॥
आमिक्षा[3], अन्न प्रशस्त और मधु वहुविध।
गुणमय ये हैं हवनीय सदा ही शुचि विधि ॥ २१ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि जो पदार्थ पुष्टिकारक सुगन्धित स्वाद में मधुर और रोगविनाशक हैं उन्हीं को हविसंज्ञा दी जाती है। वे ही होम करने के योग्य हैं। २१

धानानांᳪ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।
सक्तूनाᳪ रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥ २२ ॥

कुवलं	(यज्ञ में) मूल धान्य	वदरं	सम्पूर्ण बेल का फल
धानानां रूपम्	भुने धान्य का रूप है,	सक्तूनां रूपम्	सत्तुओं का रूप है,
गोधूमाः	गेहूँ हवि-पंक्ति	उपवाकाः	जौ
परीवापस्य	का रूप है,	करम्भस्य	करम्भ का रूप है ॥ २२ ॥

है मूल धान्य ही भुने धान्य का रूप मान्य।
है हविषपंक्ति का रूप विहित गोधूम धान्य ॥
हैं सफल वदरफल[4] सक्तुरूप में ग्राह्य सतत।
हैं यव करंभ के रूप में सदा ह्व्य प्रथित ॥
ये सब पदार्थ हैं भोज्य पुष्टिकारक अनुपम।
यज्ञ में यही हवि बनकर होते हितकर उत्तम ॥ २२ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि जो सुन्दर अन्न-भोजन के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर स्वास्थ्यकारक होते है, वे ही यज्ञ में हवि के रूप में प्रयुक्त होकर देवों के लिए तुष्टिकारक होते है। २२

---

१ भात की लप्सी; २ सत्तू; ३ गरम दूध मे खट्टा डालने से बना हुआ स्थूल भाग अर्थात् छेना; ४ बेर।

पयंसो रूपं यद्यवां दुध्नो रूपं कुर्कन्धूनि ।
सोमस्य रूपं वाजिनंꣳ सौम्यस्यं रूपमामिक्षा ॥२३॥

यत् यवाः	जो यव है,	रूपम्	रूप है,
पयसः रूपम्	वह दूध का रूप है,	आमिक्षा	फटा हुआ दूध अर्थात् छेना
कर्कन्धूनि	स्थूल बदरीफल		
दध्नः रूपम्	दही का रूप है,	सौम्यस्य रूपम्	सोम-चरु का रूप है ॥ २३ ॥
वाजिनं सोमस्य	अन्न सोम का		

यज्ञ के हेतु सदा यव है पय का स्वरूप ।
कर्कंधु[1] मान्य है सदा पूत दधि-सा अनूप ॥
है अन्न सोम के अंश-रूप में मान्य सतत ।
चरु के स्वरूप में आमिक्षा सुप्रयोज्य प्रथित ॥ २३ ॥

टि०—यव दुग्ध का रूप है, स्थूल बदरीफल दही का रूप है । अन्न सोम का रूप है, मिश्रित चरु सोम दधि का रूप है । २३

आ श्रांवयेतिं स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावो अनुरूपः ।
यजेतिं धाय्यारूपं प्रंगाथा येयजामहाः ॥ २४ ॥

आ श्रावय	'विद्याओं को सुनाओ'	यज इति	'वैसे यज्ञ करो', यह
इति स्तोत्रियाः	ये शब्द विद्यार्थी कहते हैं ।	धाय्या रूपम्	मुख्य अध्ययन का रूप है ।
प्रत्याश्रावः	'सुनाया जाता है',	येयजामहाः	'यज्ञ करता हूँ', यह ऋचाओं का
अनुरूपः	यह गुरुजनों का उत्तर जैसा है ।	प्रगाथाः	पाठ है ॥ २४ ॥

कहते हैं छात्रगण[2] 'सुनाओ विद्याओं को',
उत्तर है, 'सुनो, ध्यान से शास्त्रज्ञान यह' ॥
उसी भाँति से यज्ञ करो आदेश मुख्य सुन,
'करता हूँ सम्पन्न यज्ञ' उत्तर होता वह ॥
प्रश्नोत्तर के क्रम से होता ऋचापाठ नित ।
यज्ञ और अध्ययन हेतु यह विधि है सुविदित ॥ २४ ॥

---

१ मोटे पके बेरी के फल; २ विद्यार्थी ।

टि०—इस मन्त्र में अध्ययन और यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले प्रश्नोत्तर-क्रम का महत्त्व संकेतित है। इस क्रम से विद्या के विषयों को जो सुनते है और सुनाते हैं तथा यज्ञकर्म करते हैं, वे विद्वान होते है। २४

अर्ध-ऋचैरुक्थानांᳫं रूपं पदैराप्नोति निविदः।
प्रणवैः शस्त्राणांᳫं रूपं पयसा सोम आप्यते॥२५॥

अर्धऋचैः	अर्धऋचाओं से	प्रणवैः	ॐकारों से
उक्थानां	उक्थनामक मन्त्रों का	शस्त्राणां रूपम्	शस्त्रों का रूप प्राप्त होता है,
रूपं आप्यते	रूप प्राप्त होता है,		
पदैः निविदः	पदो से निश्चय ही प्रार्थना	पयसा सोमः	दूध से सोम प्राप्त होता है ॥ २५ ॥
आप्नोति	प्राप्त होती है।		

अर्ध ऋचाओं से बनता है उक्थरूप[1] मन्त्रों का,
और पदों से सम्यक् होती सिद्धि निविद[2] की।
ओंकारों से रूप शस्त्र के सिद्ध हुआ करते हैं,
और दुग्ध से सिद्धि प्राप्त होती है सदा सोम की॥
अंगभूत जो हैं पदार्थ यज्ञांगों के हित सुविदित।
उनके द्वारा ही होती हैं प्राप्त सिद्धि नव नित॥ २५ ॥

टि०—इस मन्त्र में यज्ञ के विविध अंगों की सिद्धि के लिए उनके साधनगत पदार्थों का निर्देश किया गया है। इन यज्ञांगों का ज्ञान वेदविद्या के आचार्यों से प्राप्त किया जाना चाहिए। २५

अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यँदिनम्।
वैश्वदेवᳫं सरस्वत्या तृतीयमाप्तᳫं सवनम्॥२६॥

अश्विभ्याम्	अश्विनीकुमारों के मन्त्रों से	माध्यन्दिनम्	मध्याह्नकाल का सवन होता है।
प्रातःसवनम्	प्रातःकाल का सवन होता है,	सरस्वत्या	सरस्वती द्वारा
		वैश्वदेवं	विश्वदेव सम्बन्धी
इन्द्रेण ऐन्द्रं	इन्द्र के मन्त्रों द्वारा इन्द्र देवता का	तृतीयं सवनम्	तीसरा सवन
		आप्तम्	प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

१ वैदिक स्तोत्र; सामवेद को भी उक्थ कहा गया है;　२ प्रार्थना।

जो जन होते हैं सूर्य-चन्द्रमा से प्रेरित।
प्रातःकालीन मांगलिक यज्ञक्रिया के हित॥
अश्विनीकुमारों का करते वे स्तव विधियुत।
देवी सरस्वती-हित सायंतन[1] सवन विदित॥
ऐश्वर्यप्राप्ति के हेतु सवन है माध्यंदिन[2]।
जीवन को करता है समृद्ध इन्द्र का स्तवन॥
मानवो! निरंतर करो स्तवन उनको अर्पित।
जग-मंगलकारी यज्ञक्रिया त्रिसवन अच्युत॥ २६॥

टि०—इस मन्त्र में यज्ञ के तीन सवन बताये गये हैं—प्रातःकालीन, माध्यंदिन एवं सायंकालीन। प्रातःकालीन सवन में अश्विनीकुमारों का स्तवन होता है, माध्यंदिन में इन्द्र का और सायंकालीन सवन में सरस्वती का। २६

वा॒य॒व्यै॑र्वाय॒व्या॒न्या॒प्नोति॒ सते॑न द्रोणक॒लश॑म्।
कु॒म्भीभ्या॑मम्भृ॒णौ सु॒ते स्था॒लीभि॑ स्था॒लीरा॑प्नोति ॥२७॥

वायव्यैः (यज्ञकर्ता यजमान) वायव्य सोमपात्रों के द्वारा वायव्य
वायव्यानि पात्रों को
आप्नोति प्राप्त करता है,
सतेन द्रोणकलशं वेतस् पात्र द्वारा द्रोणकलश प्राप्त करता है।
कुम्भीभ्याम् सुते दो कुम्भियों से सोम निकाले जाने पर
अम्भृणौ पूतभूत और आधवनीय प्राप्त करता है।
स्थालीभिः स्थालियों द्वारा
स्थालीः स्थालियों को
आप्नोति प्राप्त करता है॥ २७॥

वायव्य सोमपात्रों का जानो तुम प्रयोग।
वायव्य पात्र के होंगे उससे प्राप्त भोग॥
यजमान! वायु के दिव्य गुणों का ज्ञान दिव्य।
करता है जीवन गुणगणमंडित परम भव्य॥
हैं वायुदेव के जो विभागयुत कर्म सकल।
उनसे मिलते परिमाणजनित विद्या के फल॥

---

१ शाम का; २ दोपहर का।

तुम धान्य और जल के पात्रों को करो सिद्ध।
कुम्भीद्वय से ही सोम सवन होता समृद्ध॥
स्थालियाँ[1] कराती रहती हैं स्थालियाँ प्राप्त।
यजमान ! यज्ञ की विधि का पालन करो आप्त॥ २७॥

टि०—इस मन्त्र मे बताया गया है, यज्ञकर्ता यज्ञकर्म के अनेक प्रकार के प्रयोगों से अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त करता है। यह भी निर्देश किया गया है कि वायु में होनेवाले गुणों के ज्ञान से परिमाण विद्या का ज्ञान होता है, जिससे पाक-विद्या और अन्नसंस्कार की क्रिया का ज्ञान होता है। २७

यजु॑र्भिराप्यन्ते॒ ग्रहा॑ ग्रहै॒ स्तोमा॑श्च॒ विष्टु॑तीः।
छन्दो॑भिरुक्थाश॒स्त्राणि॒ साम्ना॑वभृ॒थ आ॑प्यते॑॥२८॥

यजुर्भिः	यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा	छन्दोभिः	छन्दों के द्वारा
ग्रहाः आप्यन्ते	सब ग्रह प्राप्त होते है,	उक्थाः शस्त्राणि	उक्थ और सारे शस्त्र
ग्रहैः स्तोमाः	ग्रहों के द्वारा सब स्तोम होते हैं,	साम्ना	साम से प्राप्त किये जाते हैं,
च विष्टुतीः	और स्तोमों से अनेक प्रकार की स्तुतियाँ होती हैं।	अवभृथः आप्यते	अवभृथ स्नान सम्पन्न होता है॥ २८॥

मानवो ! वेदविद्या का साधन करो धन्य।
उसके द्वारा ही जीवन बनना है वरेण्य॥
कर यजुर्वेद के मन्त्रों का सम्यक् प्रयोग।
तुम ग्रहण करोगे सब यज्ञों का क्रियायोग॥
है विविध ग्रहों से ही होते सब स्तोम सिद्ध।
स्तोमों से होती सब विष्टुतियाँ[2] हैं प्रवृद्ध॥
छन्दों से होते उक्थ और सब शास्त्र प्राप्त।
साम से सिद्ध होती है अवभृथ-शुद्धि[3] व्याप्त॥ २८॥

टि०—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि वेदाभ्यास के द्वारा मनुष्य को सांगोपांग वेदविद्याओ की सिद्धि प्राप्त होती है। यजुर्वेद से सब क्रियाकांडों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार के अन्य संकेत इस मंत्र में हैं। ग्रहों का अर्थ नक्षत्र-विद्या भी हैं। २८

---

१ थाली ;　२ स्तुतियाँ;　३ यज्ञान्त-स्नान।

लाया हूँ अस्कन्न - आज्य[1] मैं देवों के हित।
परम शुद्ध, मलिनताहीन है स्खलन - विवर्जित॥
हे विष्णो! हे यज्ञभूमि! हो अनतिक्रम्य तुम।
पाद-संचरण से न करें तुमको अपूत हम॥
अये अग्नि! वसुमती[2] तुम्हारी छाया है नित।
यज्ञभूमि में प्राप्त उसे करते हम संतत॥
तुम्हीं विष्णु के स्थान, इन्द्र के तुम्हीं पराक्रम।
करें अहिंसक यज्ञ, श्रेष्ठतम कर्म सदा हम॥ ८॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये गये हैं। पहला आदेश यह है कि यज्ञ में प्रयुक्त घृत अस्कन्न अर्थात् परम शुद्ध होना चाहिए। वह कहीं गिरा न हो, उसमें कुछ गिरने न पावे। दूसरा आदेश है, यज्ञ विष्णु का स्वरूप है, इसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए, अर्थात् उसको अपवित्र नहीं किया जाना चाहिए। यज्ञ में बड़ी सावधानी से बैठना चाहिए, जिससे किसी दूसरे को क्लेश न हो। तीसरा निर्देश है, अग्नि की छाया धन देनेवाली हो। यज्ञ से शक्ति प्राप्त कर इन्द्र ने बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं। यज्ञ हिंसारहित कर्म है। श्रेष्ठतम विश्वमंगलकारी कर्म ही यज्ञ है। 'अस्कन्न आज्य' का अर्थ है वह घृत जो कहीं गिरा नहीं है और जिसमें कुछ नही गिरा हो। ८

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥९॥

अग्ने	हे अग्नि!	इन्द्रः	इन्द्र
होत्र वेः	इस हवन-तत्त्व को जान।	हविषा आज्येन	हविरूप घृत द्वारा
दूत्यं वेः	दौत्यकर्म के तत्त्व को जान।	देवेभ्यः	देवताओं के लिए
द्यावा-पृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी	स्विष्टकृत् भूत्	उत्तम यज्ञ करने-वाला हो जाय।
त्वां अवतां	तेरा पालन करें।	स्वाहा	यह हमारा समर्पण है।
त्वं द्यावा	तू द्युलोक (और)	ज्योतिषा	तेज से
पृथिवी अव	पृथ्वीलोक की रक्षा कर।	ज्योतिः सं(भूत्)	तेज मिलकर बढ़े॥ ९॥

१ ऐसा घी जो कहीं गिरा न हो, परम शुद्ध हो; २ धन देनेवाली।

आप्नोति	प्राप्त होता है,	सत्यं आप्यते	सत्य की प्राप्ति
श्रद्धया	श्रद्धा से		होती है ॥ ३० ॥

व्रतपालन से दीक्षा होती प्राप्त अभीप्सित ।
उससे ही दक्षता निरंतर होती वर्धित ॥
दीक्षा से ही प्राप्त दक्षिणा[1] करते हैं जन ।
यही प्रतिष्ठा के अर्जन का उत्तम साधन ॥
सदा दक्षता से श्रद्धास्पद बनते मानव ।
श्रद्धा[2] से ही परम सत्य का होता उद्भव ॥
व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा का क्रम यह ।
सत्य-सूर्य के दर्शन के हित विदित सुखावह ॥ ३० ॥

टि०—इस मन्त्र में मनुष्य को चार गुणों के साथ अपना स्थायी सम्बन्ध रखने का आदेश दिया गया है । वे चार गुण हैं— व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा । मन्त्र का अभिप्राय है, व्रतपालन से मनुष्य को दक्षता प्राप्त होती है । दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् दक्षता प्राप्त होती है । दक्षता और दीक्षा यही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के साधन हैं । दक्षता से श्रद्धा प्राप्त होती है । तात्पर्य यह कि दक्ष मनुष्य श्रद्धास्पद बनता है । श्रद्धा के द्वारा ही सत्य के समग्र स्वरूप का दर्शन होता है । श्रद्धा शब्द श्रत् से बना है । 'श्रत् इति सत्य नाम' ऐसा कहा गया है । जिसके द्वारा सत्य का अवबोध होता है, वह श्रद्धा है । ३०

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ॥ ३१ ॥

देवैः ब्रह्मणा	देवताओं और ब्रह्मा द्वारा	यज्ञे सुते	यज्ञ में सोमरस निकालने पर, (उस मनुष्य को)
यज्ञस्य एतावत् रूपं	यज्ञ का इतना उत्तम स्वरूप	तत् एतत्	वह सब यज्ञ का स्वरूप
यत् कृतम्	जो वर्णन किया गया है,	सर्वं आप्नोति	पूर्ण रूप से प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥
तत् सौत्रामणी	वह सब सौत्रामणी नामक		

पा परमेश्वर की पुण्य प्रेरणा निरुपम ।
है प्रकटा रूप यज्ञ का यह पावनतम ॥

---

१ प्रतिष्ठा; २ आस्तिक्य बुद्धि ।

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः ।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषा सꣳस्थाम् ॥ २९ ॥

इडाभिः	अन्नों के द्वारा	पत्नीसंयाजान्	पत्नी से अच्छे सम्बन्ध प्राप्त होते है,
भक्षान् आप्नोति	भक्ष्य पदार्थ प्राप्त होते हैं,	समष्टि यजुषा	समष्टि योजना से
सूक्तवाकेन	उत्तम भाषण द्वारा	संस्थाम्	समाज का संगठन प्राप्त होता है ॥ २६ ॥
आशिषः	आशीर्वाद प्राप्त होता है,		
शंयुना	संयमन से		

करें वेदविज्ञान सिद्ध जग के गृहस्थजन ।
आप्तकाम बनता है उससे ही यह जीवन ॥
पृथ्वी से ही हैं मिलते भक्ष्यान्न विविध-विध ।
उत्तम वाणी से मिलती आशीषों की निधि ॥
संयम से दम्पति का जीवन बनता उन्नत ।
है समिष्ट यजुर्[1] से समिष्ट यजुर् मिलता संतत ॥
हो समष्टि योजना लोकहित में कार्यान्वित ।
करती है समाज-संगठना सुदृढ़ प्रतिष्ठित ॥ २६ ॥

टि०—इस मन्त्र के भाष्य में महर्षि दयानन्द ने लिखा है, गृहस्थ लोग वेदविज्ञान की साधना द्वारा पृथ्वी पर सब प्रकार के राजभोग प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वी द्वारा भक्षण करने योग्य अन्नादि पदार्थ प्राप्त होते है। उत्तम भाषण द्वारा आशीर्वचन प्राप्त होते है। संयम से पत्नी-संबंध का उत्कर्ष होता है और समष्टि के आयोजनों से संस्थाओं का संगठन होता है। २६

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।३०।

व्रतेन	मनुष्य व्रत के द्वारा	दक्षिणां आप्नोति	दक्षिणा अर्थात् प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है,
दीक्षाम् आप्नोति	दीक्षा प्राप्त करता है,	दक्षिणा श्रद्धाम्	दक्षता से श्रद्धा को
दीक्षया	दीक्षा के द्वारा		

1 इष्टसिद्धि करानेवाले यजुर्वेद के कर्म ।

हैं स्वर्गस्थ देव जो उनको अर्पित करते हैं हवि ऋत्विज।
नमस्कार-सह देते उनको अन्न, सोम का भाग सदा निज॥
जैसे ऋत्विजगण हैं करते सदा यज्ञकर्मों का साधन।
वैसे ही हम करें अन्न की हवि दे इन्द्रदेव-आराधन॥
करें इन्द्र के हेतु यज्ञ हम उनकी प्रीति करें संपादन।
प्राप्त करें ऐश्वर्य अतुल हम परम मोदपूरित हो जीवन॥
विविध भाँति के अन्न आदि ऐश्वर्य करो संचित हे मानव।
सर्वभूतहित में रत रहकर प्राप्त करो आनन्द नित्य नव॥ ३२॥

टि०—मनुष्य को विविध प्रकार के ऐश्वर्यों का अर्जन कर उनके द्वारा विद्वानों का उपकार करना चाहिए। जिस समाज में विद्वान सुखी होते हैं, उसमें सब सुखी होते हैं। यज्ञों में देवतागण स्वयं कुशासनों पर बैठकर हवि ग्रहण करते हैं। जो देवता नहीं आते, उनको भी श्रेष्ठ ऋत्विज हवि अर्पित करते हैं। सबके हितैषी ही संसार में सुखी होते हैं। ३२

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥ ३३॥

ओषधीषु	(हे सोमरस!) ओषधियों में	तेन मदेन	उस आनन्द-प्रदायक रस से
यः ते	जो तुम्हारा	यजमानं	यजमान को,
रसः सम्भृतः	रस एकत्र हुआ है,	सरस्वतीं	सरस्वती देवी को,
सुरया सुतस्य	वह उत्तम रीति से सिद्ध किये हुए	अश्विनौ	दोनों अश्विनी-कुमारों को,
सोमस्य शुष्मः	सोम का जो बल है,	इन्द्रं अग्निं जिन्व	इन्द्र और अग्नि को तृप्त करो॥ ३३॥

अये सोमरस! ओषधियों के सार-तत्त्व का करके संचय।
वह रस ही है रूप तुम्हारा है अनन्य बलदायक[1] निश्चय॥
उस आनन्दप्रदायक रस से अग्निदेव को तृप्त करो तुम।
तृप्त अश्विनीद्वय हों इससे सरस्वती को तृप्त करें हम॥
हम सब यजमानों को भी तुम उसके द्वारा तृप्त बनाओ।
सबके भीतर दिव्य ज्ञान की तुम अनन्त चेतना जगाओ॥ ३३॥

---

१ जिसके समान बल प्रदान करनेवाला दूसरा पेय नहीं।

है विद्वज्जन ने किया कोटिक्रम[1] निर्मित।
सहयोग मिला उनको ब्रह्मा का नव नित॥
वह सौत्रामणी यज्ञ में पूर्ण प्रतिष्ठित।
सोमरस उसी में होता है निष्पेषित॥
यज्ञोपवीत धारण का पर्व महत् वह।
द्विजता का वही प्रवर्तक है ज्योतिर्वह[2]॥
है यज्ञ विकासमान जगमंगलकारी।
हो प्रकट सदा इसका स्वरूप भयहारी॥ ३१॥

टि०—परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा का सहयोग प्राप्त कर विद्वानों ने यज्ञ का स्वरूप प्रकट किया है। यज्ञ के इस मंगलकारी स्वरूप का निरंतर अनुसंधान किया जाना चाहिए। इसका एक स्वरूप सौत्रामणी यज्ञ में प्रकट हुआ है। सौत्रामणी यज्ञ में सोमरस निकाला जाता है। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ में यज्ञोपवीतादि ग्रन्थियुक्त सूत्र धारण किये जाते हैं। इस यज्ञ में साधकों को द्विजत्व प्राप्त होता है। ३१

सुरावन्तं बर्हिषदंꣳ सुवीरं यज्ञꣳ
हिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु
मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः॥ ३२॥

नमोभिः	अन्नों के साथ	सुरावन्तं सुवीरं	देवताओं से युक्त उत्तम सोमरस तैयार करनेवाले श्रेष्ठ ऋत्विजगण
दिवि	स्वर्ग में रहनेवाले	यज्ञं हिन्वन्ति	यज्ञ को बढ़ाते हैं।
देवतासु	देवताओं के लिए	स्वर्काः इन्द्रं	उत्तम अन्न वाले इन्द्र के लिए,
सोमं दधानाः	सोम को धारण करनेवाले,	यजमानाः मदेम	यज्ञ करनेवाले यजमान हर्ष को प्राप्त हों॥ ३२॥
बर्हिषदं	कुशासन पर बैठे हुए		
महिषाः	महान ऋत्विज,		

सौत्रामणी यज्ञ का करते हैं महान्त[3] ऋत्विज संवर्धन।
जहाँ कुशों के आसन पर बैठे हैं वे यज्ञार्ह[4] देवगण॥

१ स्वरूप; २ प्रकाशमान; ३ महान्, ४ यज्ञ मे हवि पाने के अधिकारी।

था। सरस्वती ने उसे शुद्ध किया, उसे रक्त के मिश्रण से मुक्त किया। तब वह इन्द्र के तथा अन्य देवताओं के पीने योग्य हुआ। उसी शुद्ध सोम को हम यहाँ इस यज्ञ में पीते हैं। ३४

यदत्र॑ रि॒प्तꣳ र॒सिनः॑ सु॒तस्य॒ यदिन्द्रो॒ अपि॑ब॒च्छची॑भिः।
अ॒हं तद॑स्य॒ मन॑सा शि॒वेन॒ सोम॒ꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि ॥ ३५ ॥

रसिनः अस्य सुतस्य	रसयुक्त अच्छी तरह निकाले हुए उस सोम का	तत् राजनं	उस प्रकाशमान
यत् अत्र रिप्तम्	जो भाग यहाँ प्राप्त है, और	सोमं	सोम को
यत् शचीभिः	जिसको अपने पराक्रमपूर्ण कर्मों से	शिवेन मनसा इह	कल्याणकारी शुद्ध मन से यहाँ इस यज्ञ में
इन्द्रः अपिबत्	इन्द्र ने पान किया है,	अहं भक्षयामि	मैं भक्षण करता हूँ ॥ ३५ ॥

रसवान सिद्ध यह भाग सोम का सुधावान[1]।
है प्राप्त यहाँ इस क्रतु में परम प्रकाशमान ॥
था किया इन्द्र ने इसे पराक्रम से अधिगत[2]।
पौरुष से अपने पीते इसको संतत ॥
मैं शुद्ध चित्त हो करके मन को शिवतामय[3]।
भक्षण करता वह सोम यज्ञ में मृत्युंजय ॥
जैसे किरणों से रवि जल का करता कर्षण।
ओषधियों का रस मानव सदा करें सेवन ॥ ३५ ॥

टि०—इस मन्त्र में भी सोम की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। पूर्ववर्ती मन्त्र में बताया गया है कि इसे इन्द्र के लिए अश्विनीकुमारों ने नमुचि को मारकर प्राप्त किया। सरस्वती ने इसका शोधन किया। वह सोम इन्द्र के अधिकार में है, वे इसे पीते हैं। वही सोम इस यज्ञ में प्राप्त है। इसके पीने के अधिकारी वे हैं, जिनका चित्त शुद्ध है और जिनके मन शिवसंकल्प से परिपूर्ण हैं। मनुष्यों को सदा सोम जैसी ओषधियों के रस का सेवन करना चाहिए। ३५

---

१ अमृततत्त्व से युक्त; २ प्राप्त; ३ मंगलमय।

टि०—इस मन्त्र में सोमरस की महिमा का वर्णन है। सोमरस का निर्माण अनेक महोषधियों के सारतत्त्व का संचय कर किया जाता है। उस सोमरस को संबोधित कर कहा गया है कि वह सब देवताओं को परितृप्त करे। सोमरस के सेवन से अतीन्द्रिय दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है। ओषधियों के रस के बलदायक सेवन से अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। ३३

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳ सोमꣳ
राजानमिह भक्षयामि ॥ ३४ ॥

अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमारों ने	असुनोत्	तैयार किया,
आसुरात् नमुचेः	आसुर के पुत्र नमुचि के पास से	तं शुक्रं	उस शुद्ध और
अधि यम्	जिस सोम को प्राप्त किया (और)	मधुमन्तं	मधुर, बलकारी
सरस्वती	सरस्वती ने	इन्दुं राजानं	आह्लादकारक और प्रकाशमान
इन्द्रियाय	इन्द्र का बल बढ़ाने के लिए जिसे	इमं सोमं	इस सोम को (मैं)
		इह भक्षयामि	इस यज्ञ में भक्षण करता हूँ ॥ ३४ ॥

बलवान मधुर ज्योतिर्मय सोम महा यह।
इस महत् यज्ञ में भक्षण करता मैं वह ॥
अश्विनीकुमार-द्वय ने सोम महाधन[1]।
पाया कर असुर नमुचि का रण में धर्षण ॥
आसुर का पुत्र नमुचि था अति भयहारी।
इन्द्र की शक्तियाँ हर लेता था सारी ॥
फिर सरस्वती ने किया सोम का शोधन[2]।
बन गया इन्द्र का पेय प्रेय वह शोभन ॥
हम उसी सोम का भक्षण क्रतु में करते।
सब ताप-त्रास जीवन का जग का हरते ॥ ३४ ॥

टि०—इस मन्त्र में इन्द्र और आसुरि के पुत्र नमुचि के संघर्ष का संदर्भ अन्तर्भूत है। नमुचि असुर इन्द्र के वीर्य को पी लिया करता था। इन्द्र निस्तेज हो जाते थे। नमुचि को मारकर अश्विनीकुमारों ने उससे सोम प्राप्त किया। वह सोम रक्तमिश्रित

---

१ सोम रूपी यह महान सम्पत्ति; २ शुद्ध।

हे पितरो ! तुम सब होकर परिशुद्ध[1] बुद्ध।
हम सबको करो प्रबुद्ध रहें हम सदा शुद्ध ॥ ३६ ॥

टि०—इस मन्त्र में पितरों को स्वधा अर्पित करने की प्रक्रिया वर्णित है। पिता और पितामह के पितरों को भी स्वधा अर्पित करने का विधान है। स्वधा पितरों को अर्पित किये जानेवाले अन्न का नाम है। 'स्वधा वै पितृणामन्नं' यह श्रुति है। पितरों की तृप्ति से संतान का निरंतर मंगल होता है। पितर संतति परंपरा को शुद्ध अर्थात् सदाचारी बनाते हैं। ३६

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥

सोम्यासः पितरः	शान्त वृत्ति वाले पितृगणो !	पितामहाः	पिताओं के पिता लोग,
पवित्रेण	पवित्रतापूर्वक	पवित्रेण	अत्यन्त शुद्ध और आनन्दयुक्त
शतायुषा	बीतनेवाली सौ वर्ष की आयु देकर	शतायुषा पुनन्तु	सौ वर्ष आयु देकर
मा पुनन्तु	मुझको पवित्र करो।	(मा)	मुझको पवित्र बनावे।
पितामहाः	पिताओं के पिता-गण सौ वर्ष की सदाचारयुक्त आयु देकर	प्रपितामहाः	पितामहों के पिता लोग,
मा पुनन्तु	मुझको पवित्र करें।	(मा) पुनन्तु	मुझे सौ वर्ष की पवित्र आचरण-युक्त आयु देकर मुझको पवित्र बनावें, जिससे
प्रपितामहाः	पितामहों के पिता लोग		
मा पुनन्तु	सौ वर्ष का पवित्र जीवन देकर मुझको पवित्र बनावे।	विश्वं आयुः व्यश्नवै	सम्पूर्ण आयु को मैं प्राप्त होऊँ ॥३७॥

परमैश्वर्यप्रपूर्ण[2] सोम[3]-से शान्त पितरगण।
शतवर्षीया आयु मुझे दे प्रतिक्षण पावन ॥

---

१ सदाचारपरायण, २ आत्यंतिक वैभव से प्रकृष्ट रूप से पूर्ण; ३ चन्द्रमा।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः[1] पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः[2] प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः[3] । अक्षन् पितरो[4] ऽमीमदन्त पितरो[5] ऽतीतृपन्त पितरः[6] पितरः शुन्धध्वम्[7] ॥ ३६ ॥

स्वधायिभ्यः	अन्न के पास
पितृभ्यः	रखनेवाले पितरों के लिए
स्वधा नमः	स्वधासंज्ञक अन्न प्राप्त हो और उनको हमारा नमस्कार है।
स्वधायिभ्यः	अपनी धारणा-शक्ति वाले
पितामहेभ्यः	पितामहों को
स्वधा नमः	नमस्कार के सहित स्वधासंज्ञक अन्न प्राप्त हो।
स्वधायिभ्यः	अपनी धारणा-शक्ति से युक्त
प्रपितामहेभ्यः	पितामह के पिताओं को
स्वधा नमः	नमस्कार-सहित स्वधासंज्ञक अन्न प्राप्त हो।
पितरः	हे पितरो!
अक्षन् अमीमदन्त	अन्न भक्षण करके तृप्ति तथा आनन्द प्राप्त करो।
पितरः	हे पिताओ !
अतीतृपन्त	हमको भी तृप्त करो।
पितरः	हे पिताओ !
पितरः	हम पितरों को
शुन्धध्वम्	शुद्ध करो ॥ ३६ ॥

जो पितर स्वधा के हेतु गमन करते हैं नित।
यह स्वधा अन्न है उनको आदर से अर्पित॥
धारणाशक्ति से युक्त पिता के पितर सकल।
वे स्वधा अन्न यह करें प्राप्त वितरें मंगल[1]॥
जो पितर पितामह के हैं निज धारणायुक्त।
वे प्राप्त करें यह स्वधा अन्न, हों तृप्तियुक्त॥
हे पितरगणो! तुम ग्रहण करो यह स्वधा अन्न।
संतुष्ट रहो, हम पुत्र-शिष्य सब हैं प्रपन्न॥
परितृप्त रहो पितरो! पाकर यह स्वधा अन्न।
तुम तृप्त करो हम सबको, हम सब हैं प्रपन्न॥

---

१ कल्याण का वितरण करे।

दो व्रीहि[1] धान्य हमको दधि शुचि-चन्द्रिका-धवल।
आयुष्यविवर्धक[2] प्राप्त रहें नित खाद्य विपुल॥
श्वान[3] से रहें दुर्जन सब बाधाग्रस्त ध्वस्त।
आयुर्बल रक्षित रहे, बने जीवन प्रशस्त॥ ३८॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हमें आयुर्वर्धक जौ और दही जैसे खाद्य पदार्थ विपुल मात्रा में प्राप्त होते रहें। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है, 'खल परिहरिय स्वान की नाईं।' इस मन्त्र में भी यही कहा गया है। दुष्टों का स्वभाव कुत्तों जैसा होता है। उनके संसर्ग से दूर रहना चाहिए। दुष्टों के आक्रमण से सदा बचे ही रहना चाहिए। ३८

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३९॥

देवजनाः	विद्वान जन	जातवेदः	संसार के सब पदार्थों को जाननेवाले हे परमेश्वर !
मा पुनन्तु	मुझको पवित्र करें,	मा पुनीहि	मुझको पवित्र करो॥ ३९॥
मनसा	मन के साथ		
धियः पुनन्तु	बुद्धियाँ मुझे पवित्र करें,		
विश्वाभूतानि पुनन्तु	सम्पूर्ण प्राणी मुझको पवित्र करें,		

देवकल्प[4] देवों के अनुगामी विद्वज्जन।
रहें सतत अनुकूल बनावें जीवन पावन॥
मन के सहित बुद्धियाँ रहें हमारी शुचि नित।
प्रतिक्षण जीवन रहे पूतता से परिपूरित॥
मुझको करे पवित्र विश्व के सकल भूतगण।
परमेश्वर नित रहें हमारे हित अघमर्षण[5]॥
अखिल विश्व के निखिल पदार्थों के जो ज्ञाता।
जातवेद वे रहें नित्य पावित्र्यप्रदाता[6]॥ ३९॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन पवित्र और सतत सदाचारयुक्त हो। देवताओं के-से शील वाले विद्वान मनुष्यों को पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा प्रदान करे, जिससे हमारे मन और बुद्धियाँ सदा पवित्र

---

१ जौ; २ आयु बढ़ानेवाले; ३ कुत्ता; ४ देवताओं-जैसे; ५ पापनाशक; ६ पवित्रता प्रदान करनेवाले।

वन्द्य पितामह सकल चन्द्रमा-से आह्लादन।
शतवर्षीया आयु मुझे दे प्रतिक्षण पावन॥
वैभवदाता सतत सोम-से प्रपितामहगण[1]।
करे शतायु प्रदान परम पावन जो प्रतिक्षण॥
विद्यादिक वहुविध ऐश्वर्यों से जो मंडित।
प्रपितामह सौम्य सोम-से हैं जो संस्थित॥
करे शतायु प्रदान मुझे आनन्दविवर्धन।
पूत आचरणयुक्त रहे जीवन का प्रतिक्षण॥
हैं प्रपितामहगण के जो सब पितर पुण्यमय।
करे शतायु प्रदान मुझे वह निखिल निरामय॥
प्राप्त करावे मुझको वे विश्वायु अभीप्सित।
जीवन का प्रतिक्षण प्रतिपल हो परम पूत नित॥ ३७॥

टि०—इस मन्त्र का एक अर्थ पितरपूजापरक है। पितृलोक में निवास करने वाले पितरों से यह प्रार्थना की गई है कि वे हमे प्रतिक्षण सदाचरणयुक्त सौ वर्ष की आयु प्रदान करें। इस मन्त्र की व्यंजना यह है कि वह यह मानते है कि सदाचारपूर्ण जीवन बिताते हुए सौ वर्ष की आयु प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य की आयु उसके सदाचरण पर अवलंबित है। सदाचार से आयु की वृद्धि होती है और आचारहीनता से आयु का ह्रास होता है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है— पिता, पितामह और प्रपितामहों को योग्य है कि अपनी कन्या और पुत्रों को ब्रह्मचर्य की अच्छी शिक्षा और धर्मोपदेश से संयुक्त करके विद्या और उत्तम शील से युक्त करें। ३७

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ ३८॥

अग्ने	हे अग्नि! (तुम ही)	ऊर्जं आ सुव	और दधि आदि बलदायक रस प्रदान करो।
आयूंषि पवसे	आयु को बढ़ाने वाले कर्म करने की प्रेरणा देते हुए हमें पवित्र बनाओ।	आरे दुच्छुनां	दूरस्थित दुष्ट कुत्तों के समान जो दुर्जन हैं,
नः इषं	हमको गेहूँ, जौ आदि धान्य	बाधस्व	उनको प्रतिबन्धित करो॥ ३८॥

हे अग्नि! स्वयं करते हो तुम वे कर्म सकल।
जिनसे बढ़ता है सतत हमारा आयुर्बल॥

1 पितामह के पिता और उनके भी पिता।

अग्ने ! होता, हवनतत्त्वज्ञाता तुम उत्तम।
दिव्य शक्तियों का करते आह्वान पुण्यतम॥
तुम्हीं सुरों तक उनका हविर्भाग पहुँचाते।
द्यावा - पृथिवी से तुम हो संरक्षण पाते॥
तुमसे ही द्यावा - पृथिवी रक्षित रहते नित।
अग्नि, सूर्य, विद्युत् से होता जन-हित साधित॥
करो इन्द्र ! हविदान, देव परितुष्ट रहें सब।
परहित में निज अहं करें मानव अर्पित अब॥
मिले तेज से तेज, संगठित तेजस्वी जन।
ओज-तेज स्थिर, ज्ञान-ज्योति का करें विवर्धन॥ ९ ॥

टि०—इस कण्डिका के तीन भाग हैं। पहले भाग में बताया गया है, अग्नि 'होता' है। मनुष्य केवल हवि अग्नि में डालता है, उसे देवताओं तक ले जाने का कार्य अग्नि ही करता है। हवि का सत्त्वांश देवताओं तक अग्नि ही पहुँचाता है, इसलिए देवताओं तक मनुष्य का संदेश ले जानेवाला दूत अग्नि ही है। दूसरे मंत्र-भाग में यह कहा गया है कि द्यावापृथ्वी अग्नि की और अग्नि द्यावापृथ्वी की रक्षा करे। अर्थात् देवता और मनुष्य परस्पर सहायक रहें। तीसरे भाग में यज्ञतत्त्वों का निर्देश है। इन्द्र घृत की आहुतियों से देवों को प्रसन्न करें। घृत की आहुतियों से पंचतत्त्व की शुद्धि होती है, वायु आदि के रोग-बीज नष्ट होते हैं। मंत्र के अन्तिम भाग में समाज के वर्चस्वी और तेजस्वी जनों को संगठित होने के लिए आहूत किया गया है। ९

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा [2] ॥ १० ॥

इन्द्रः	(ऐश्वर्यवान् परमेश्वर) इन्द्र
मयि	मुझमें
इदं इन्द्रियं	यह इन्द्रियशक्ति
दधातु	स्थिर रखें।
रायः मघवानः	सब धन
अस्मान्	हमें (धनवानों
सचन्ताम्	के पास) प्राप्त हों।
अस्माकं आशिषः	हमारे सब अभीष्ट
सत्याः सन्तु	सत्य सिद्ध हों।
न आशिषः	हमारे आशीर्वाद
सत्याः सन्तु	सत्य हों,
स्वाहा	इसलिए हम समर्पण करते हैं।
माता पृथिवी	(हमने) माता पृथ्वी अर्थात् मातृभूमि की
उपहूता	उपासना की है।
पृथिवी माता	मातृभूमि
मां उप ह्वयतां	मुझे अनुमति प्रदान करे कि

रहें। संसार के सब प्राणियों से पवित्रता की प्रेरणा ग्रहण करें। सर्वज्ञ परमेश्वर भी हमारे जीवन को पवित्र बनावें। सदाचार के पालन पर बल देनेवाला यह बड़ा उदात्त मन्त्र है। ३९

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्।
अग्ने क्रत्वा क्रतूँ१रनु ॥ ४० ॥

देव अग्ने	हे दिव्यगुणसम्पन्न अग्नि !	मा पुनीहि	मुझको पवित्र करो,
दीद्यत् शुक्रेण	दीप्तमान, शुद्ध	क्रतून् अनु क्रत्वा	यज्ञ को पवित्र करो ॥ ४० ॥
पवित्रेण	पवित्र ज्योति द्वारा		

निःशेष[1] दिव्य गुणगण से मंडित अग्ने।
हो ज्योतिरूप विद्या के दाता अग्ने ॥
अपने प्रकाश से मुझे बनाओ पावन।
हो शुद्ध पराक्रम पूरित मेरा जीवन ॥
हैं यज्ञ हमारे द्वारा जो समनुष्ठित[2]।
साद्यन्त[3] करो उनको शुचिता से पूरित ॥ ४० ॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि अपने दिव्य गुणों और प्रकाशमयी विद्या से हमको पवित्र बनावें। हमारा जीवन शुद्ध पौरुष से पूर्ण हो। हम जो यज्ञ करें, वे भी आरम्भ से अन्त तक पवित्र रहें। ४०

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥ ४१॥

अग्ने	हे अग्नि !	ब्रह्म विततम्	वेदज्ञान फैला हुआ है,
ते अर्चिषिः	तुम्हारी ज्वालाओं	तेन मा पुनातु	उससे मुझको पवित्र करो ॥ ४१ ॥
अन्तरा	के मध्य में		
पवित्रं	पवित्र		

हे अग्निदेव ! अर्चियाँ तुम्हारी होतीं प्रसरित।
उन ज्वालाओं में ब्रह्मतत्त्व होता दर्शित ॥
वह ब्रह्मतत्त्व जो है लक्षणत्रय[4] से मंडित।
जो सत्य अनन्त प्रकाशविमर्श ज्ञान सुविदित ॥

---

१ सब; २ अच्छी तरह प्रवर्तित; ३ आदि से अन्त तक; ४ ब्रह्म सत्य रूप है, ज्ञानरूप है और अनन्त है।

हैं वेदज्ञान का वही उत्स[1] आनन्दधाम।
उससे तुम पावन करो मुझे, तुम पूर्णकाम॥
वे परमेश्वर अर्चना योग्य हैं तेजोमय।
सबमें व्यापक निःसंग ज्ञानमय हैं अक्षय॥
वे करें प्रदान मुझे वेदों का ज्ञान सकल।
आजन्म रहूँ मैं शुद्ध प्रबुद्ध प्रकाश-धवल[2]॥ ४१॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि की प्रशंसा में कहा गया है कि उसकी ज्वालाओं मे सत्य, अनन्त परमज्ञानरूप ब्रह्मतत्त्व के दर्शन होते है। वेदज्ञान का आविर्भाव उसी प्रकाश से होता है। वह पवित्र करे और पूर्णकाम बनावे, जिससे हम ईश्वर की विद्या को प्राप्त करके अनुकूल शुद्ध, प्रबुद्ध, प्रकाश-धवल जीवन बिता सके। ४१

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा॥ ४२॥

यः विचर्षणिः	जो विशेष ज्ञानी है,	**नः पोता**	जो हमको पवित्र करता है,
पवमानः	स्वयं पवित्र और दूसरे को पवित्र करनेवाला है,	**सः अद्य**	वह देवता आज
		पवित्रेण	अपनी पवित्रता से
		मा पुनातु	मुझको पवित्र करे॥ ४२॥

वे परमेश्वर है ज्ञान विशेष अशेष रूप।
कृत और अकृत सबके द्रष्टा वे हैं अनूप॥
पवमान[3] वही करते रहते सबको पावन।
वितरित करते रहते हैं पावनता प्रतिक्षण॥
पावित्र्यरूप प्रभु दें मुझको शुचिता अनन्त।
बन जाय धरा पावनता का अक्षय वसंत॥ ४२॥

टि०—इस मन्त्र में परमेश्वर को अशेष अर्थात् सम्पूण विशेष ज्ञान से युक्त कहा गया है। कारण, उनका ज्ञान अनन्त और अबाधित है। वे कृत और अकृत सबके साक्षी है। वे पवमान अर्थात् स्वयं पवित्र और सबको पवित्र करनेवाले है। वे मुझे पवित्र बनावे, धरती पर पवित्रता का वसन्त उतरे। ४२

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
मां पुनीहि विश्वतः॥ ४३॥

---

१ स्रोत; २ प्रकाश के समान उज्ज्वल; ३ पवित्र करनेवाले।

देव	हे देव !	च सवेन	और यज्ञ के सवनों द्वारा
सवितः	सबके प्रेरणा देनेवाले	विश्वतः	सब ओर से
उभाभ्यां	तुम अपने दोनों	मां पुनीहि	मुझको पवित्र करो ॥ ४३ ॥
पवित्रेण	प्रकार के पवित्र स्वरूप से		

हे देव ! सभी के प्रेरक तुम अंतर्यामी ।
सत्कर्मों के पथदर्शक हो सबके स्वामी ॥
हो उभय भाँति बाहर-भीतर से तुम पावन ।
मुझको भी बाहर-भीतर करो परम पावन ॥
अपने स्वरूप का ज्ञान मुझे दो प्रभु ! शुचितम[1] ।
नित रहें तुम्हारी पावनता से मंडित हम ॥
यज्ञों के द्वारा करो हमें परिशुद्ध[2] सतत ।
सब भाँति करो हमको पावनता से पूरित ॥ ४३ ॥

टि०—इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गई है—वे हमें बाहर-भीतर से पवित्र बनाएँ । आप जिस भाँति से बाहर-भीतर परम-चरम पावनता से युक्त हैं, वैसे ही पवित्र हमें भी बना दें । पवित्र होने के दो साधन हैं— ज्ञान और कर्म । भगवान के स्वरूप का ज्ञान ही पवित्र बनानेवाला ज्ञान है । यज्ञकर्म का अनुष्ठान पवित्रता का दूसरा अमोघ साधन है । ४३

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ४४ ॥

वैश्वदेवी	सब विदुषी स्त्रियों में	यस्यां इमाः	जिसके होने से ये
पुनती देवी	उत्तम पवित्रता का विस्तार करनेवाली और सब विद्याओं को पढ़ानेवाली ब्रह्मचारिणी कन्याएँ	बह्वाः तन्वः	बहुत-सी विद्या-युक्त
		वीतपृष्ठाः	और विविध प्रश्नों को जाननेवाली भार्याएँ (सिद्ध) हों ।
		तया	उसके द्वारा
		वयं सधमादेषु	हम लोग समान स्थानों में
आ अगात्	हमको प्राप्त हों,	मदन्तः	आनन्दयुक्त

१ अत्यंत पवित्र; २ सब प्रकार से पवित्र ।

द्वे सृती अंशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ४७ ॥

अहं मर्त्यानां	मैंने मरणधर्मा मनुष्यों के	पितरं मातरं	पिता और माता द्वारा उत्पन्न,
द्वे सृती	दो मार्ग	अन्तरा इदं	दोनों के संसर्ग से उत्पन्न यह
अशृणवम्	सुने हैं—	विश्वं एजत्	समस्त चलायमान संसार है, (वह)
पितॄणाम्	पितरों का पितृयान मार्ग,	ताभ्यां सं एति	उन दो मार्गों को ही कर्मानुसार सुखपूर्वक प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥
उत देवानाम्	और दूसरा देवताओं का मार्ग ।		
यत्	जो		

है सुना, मरणधर्मा[1] मनुजों के है दो पथ ।
चलता जिन पर है मरणोत्तर जीवन का रथ ॥
है पितृयान पथ प्रथम पितृगण से सेवित ।
है देवयान दूसरा देवगण का सुविदित ॥
पृथ्वी-द्युलोक के अन्तराल में क्रियावान[2] ।
हैं माता और पिता से जिनको मिले प्राण ॥
उन सकल प्राणियों की दो ही गतियाँ सुप्रथित ।
भोगी जन के हित पितृयान का मार्ग विदित ॥
ज्ञानीजन पालन करते जो यम और नियम ।
वे देवयान द्वारा पाते हैं गति उत्तम ॥ ४७ ॥

टि०—ऋषियों ने अपने दिव्यज्ञान और अनुभव से मरणधर्मा मनुष्यों के लिए मृत्यु के बाद दो मार्ग बताये हैं । वे हैं पितृयान और देवयान । धरती और आकाश के बीच जो प्राणी गतिमान हैं अथवा जो माता-पिता से उत्पन्न हुए है, उनकी यही दो गतियाँ हैं । जो भोगी हैं, वे पितृयान पथ से जाते हैं और कर्मानुसार पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं । जो भगवद्भक्त हैं, ज्ञानी है, यम-नियमों का पालन करते रहते हैं, वे देवयान मार्ग से जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं । ४७

इदꣳ हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरꣳ सर्वगणꣳ स्वस्तये ।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि ।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥ ४८ ॥

---

१ जिनके लिए मृत्यु अनिवार्य है; २ कर्मपरायण ।

इदं मे हविः	यह मेरा हवि के योग्य उत्तम द्रव्य	पशुसनि	गो आदि पशुओं की संख्या बढ़ानेवाला,
प्रजननं	उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाला,	लोकसनि	लोक को आश्रय दिलानेवाला,
दशवीरं	दस प्राणों की शक्ति को चढ़ानेवाला,	अभयसनि	अभय प्रदान करनेवाला,
सर्वगणं	सम्पूर्ण अंगों को पुष्ट करनेवाला,	स्वस्तये अस्तु	कल्याण करनेवाला हो।
आत्मसनि	आत्मा को प्रसन्न करनेवाला,	अग्निः मे	अग्नि मेरे लिए
प्रजासनि	प्रजा की वृद्धि करनेवाला,	बहुलां प्रजां	बहुत-सी प्रजाओं
		करोतु	की वृद्धि करें;
		अस्मासु अन्नं	हममें अन्न,
		पयः रेतः धत्त	दूध, वीर्य धारण करावें ॥ ४८ ॥

यह हविर्द्रव्य हो मेरे हित बहुविध शुभकर[1]।
उत्तम संतान प्राप्त हो हमको नित नव यशधर[2] ॥
दश प्राणों की हो शक्ति निरंतर वर्द्धमान।
हों अंग पुष्ट सब आत्मा हो नित मोदमान[3] ॥
इस हविर्द्रव्य से वृद्धि प्रजाओं की हो नित।
गोधन का संख्याबल हो इससे संवर्द्धित ॥
यह हविर्दान हो हमें निरंतर अभयप्रद।
सर्वदा स्वस्तिप्रद हो प्रति जन हित बने सुखद ॥
परितुष्ट अग्नि हों, करें हमें बहु प्रजावान।
पय, अन्न, वीर्य हम करे सदा धारण महान ॥ ४८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि हम जो पवित्र हविर्द्रव्य आपको अर्पित करते हैं, उससे आप संतुष्ट हों। हमको यशस्वी संतान प्रदान करें, हमारे दशों प्राण शक्तिशाली बनें। हमारे शरीर पुष्ट हों और हमारी चेतना आत्मानन्द से परिप्लावित हो। प्रजाजनों का अभ्युदय हो और गोधन की संख्यावृद्धि निरन्तर होती रहे। हमारा यह यज्ञ-विधान और हविर्दान समाज में सबको अभय बनावे और सबका कल्याण करे। अग्निदेव की प्रसन्नता से हम बहुप्रज बनें और प्रभूत दूध, अन्न तथा शुक्र को धारण करने की क्षमता हममें उत्पन्न हो। प्रकारान्तर से इस मन्त्र में यज्ञ से होनेवाले लाभ गिनाये गये है। ४८

---

१ कल्याण करनेवाला; २ यश धारण करनेवाली अर्थात् यशस्वी; ३ प्रसन्न।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४९ ॥

ये अवृकाः	जो भेड़ियों-जैसे शत्रुओं से रहित,
ऋतज्ञाः	सत्य को जाननेवाले,
पितरः हवेषु	हमारे पिता-पितामह आदि पितर सब प्रकार के सांसारिक व्यवहारों में
असुं उत् ईयुः	प्राण का उत्तमता से संरक्षण करते है,
ते नः	वे हमारी
उत् अवन्तु	उत्तम रक्षा करें ।
सोम्यासः अवरे	सौम्यगुणसम्पन्न प्रथम अवस्था वाले,
परासः मध्यमाः	उत्कृष्ट अवस्था वाले तथा बीच की अवस्था वाले (जो)
पितरः उदीरताम्	विद्वान पिता-पितामह आदि हैं, (वे) हमको अच्छी प्रकार प्रेरणा दें ॥ ४९ ॥

जो शत्रुरहित ऋत के ज्ञाता[1] है पितर सकल ।
सब व्यवहारों में प्राणों के रक्षक प्रतिपल ॥
वे करे हमारी उत्तम रक्षा का विधान ॥
जो शान्ति आदि सब शुभ गुणगण से हैं मंडित ।
उत्कृष्ट तुरीय[2] दशा में हैं जो संस्थित नित ॥
वे पितर करें हम सबकी रक्षा का विधान ॥
मध्य की अवस्था प्राप्त वन्द्य जो पितर सकल ।
जो पितृलोक में रह करते रहते मंगल ॥
वे करें हमारी उत्तम रक्षा का विधान ॥ ४९ ॥

टि०—इस मंत्र में पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे हमारा मंगल करें । प्रथम वर्ग में पिता, गुरु, पितृव्य, अग्रज आदि रहते हैं । जो इस संसार में है और सब शुभ गुणों से मंडित हैं, वे अपने सदुपदेश, आदर्श जीवन से हमें ऐसी प्रेरणा दें कि हम अपने धर्माचरण से सदा सुरक्षित रहें । दूसरा वर्ग परम उत्कृष्ट, तुरीय अवस्था-प्राप्त पितरों का है; वे अपनी पुण्य प्रेरणाओं से हमको सुरक्षित बनावें । तीसरा वर्ग पितृलोक में निवास करनेवाले पितरों का है; वे भी अपने शिवसंकल्पों से हमारी रक्षा करें । ४९

१ परम सत्य के स्वरूप को जाननेवाले; २ चतुर्थ अवस्था जिसे ब्राह्मी स्थिति भी कहा जा सकता है ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा
अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि
भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५० ॥

नः पितरः	हमारे पूज्य पितरगण
अङ्गिरसः	अग्नि के समान तेजस्वी,
नवग्वा	नवीन प्रगति करनेवाले,
अथर्वाणः	शत्रु से कभी परास्त न होनेवाले,
भृगवः सोम्यासः	दुष्टों को भूननेवाले और सोमयाग करनेवाले लोग है ।
तेषां यज्ञियानां	उन यज्ञ करनेवाले मनुष्यों की
अपि	भी
सुमतौ भद्रे	शुभ मति और कल्याणकारी
सौमनसे वयं	विचारधारा में हम सदा
स्याम	रहनेवाले हों ॥५०॥

हैं पिता आदि मेरे जो पूजनीय सब जन ।
रहते निज तप से अग्नि-समान ज्वलित प्रतिक्षण ॥
रहते वे नित्य नवल निज कृति से प्रगतिमान ।
अरिदल से होते कभी नहीं वे हन्यमान[1] ॥
उनका शुचि सात्त्विक क्रोध[2] दग्ध करता खलदल ।
कर सोमयाग साधते निखिल जग का मंगल ॥
ऐसे वे याज्ञिक पितर हमारे पूर्णकाम ।
उनकी मति, गति, चिंतन है सब कल्याणधाम ॥
वे करें हमें निज गति से, चिंतन से प्रेरित ।
अनुसरण करें हम उनके आदर्शों का नित ॥ ५० ॥

टि०—इस मंत्र में वैदिक, वरिष्ठ, वयोवृद्ध आर्यों के चारित्रिक वैशिष्ट्य का वर्णन किया गया है। वे अपनी तपस्या से तेजोमंडित रहते हैं, उनके कर्म निरन्तर उन्नतिकारक होते हैं। वे शत्रु से कभी पराजित या आहत नहीं होते। उनके सात्त्विक क्रोध में दुष्ट जल जाते हैं। वे सोमयाग का अनुष्ठान कर लोकमंगल का विधान करते हैं। वेद का आदेश है, हम ऐसे पूज्य जनों के आदर्शों का निरन्तर अनुसरण करें। ५०

---

१ आहत या पराजित; २ वह क्रोध जो लोकहित के लिए किया जाता है।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

ये नः	जो हमारे	हवींषि उशन्	हवनीय पदार्थों की इच्छा करनेवाले,
सोम्यासः	शान्ति आदि गुणों से युक्त,	संरराणः	अच्छी प्रकार सुखों के दाता,
वसिष्ठाः	निवास करनेवाले	यमः	नियमन करनेवाले हैं,
पूर्वे पितरः	पूर्ववर्ती पिता आदि	प्रतिकामं अत्तु	वे अपनी कामना के अनुकूल उचित उपभोग करें ॥५१॥
सोमपीथं अनूहिरे	सोमपान के अनुकूल आचरण करते हैं,		
तेभिः उशद्भिः	उन हमारे कल्याण की इच्छा करनेवाले,		

ये शान्त्यादिक[1] गुणगण से मंडित पूर्वजगण ।
करते निवास धनपूर्ण निवासों में शोभन[2] ॥
अनुकूल आचरण सोमपान के वे करते ।
वे सदा हमारे हित का व्रत हैं आचरते ॥
हवनीय[3] पदार्थों की इच्छा करते वे नित ।
यम-नियमों के बन्धन को करते हैं स्वीकृत ॥
हम बने योग्य सन्तान उन्हीं की कीर्तिमान ।
सुखवृद्धि सदा हो, दुःख का लेश न रहे भान ॥ ५१ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, हमारे पिता आदि पूर्वज अनेक श्रेष्ठ गुणों से मंडित हैं, हम उनके अनुकूल आचरण करें। उनकी योग्य सन्तान बनें। पुत्र पिता के साथ सब सुखों का उपभोग करे। परिवारों में और समाज में सदा सुख की वृद्धि हो और दुःख का नाश हो। ५१

---

१ शान्ति आदि; २ सुन्दर; ३ हवन योग्य।

त्वꣳ सोम प्र चिकितो मनीषा
त्वꣳ रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो
देवेषु रत्नमभजन्त धीराः[1] ॥ ५२ ॥

सोम	हे सोम !	नः धीराः पितरः	हमारे बुद्धिमान और धैर्यशाली पिता आदि ज्ञानी लोग
त्वं प्रचिकितः	तुम कान्तियुक्त हो,	तव प्रणीती देवेषु	तुम्हारे आश्रय से देवताओं में
त्वं मनीषा	तुम अपनी बुद्धि से	रत्नं अभजन्त	उत्तम रत्नों को प्राप्त किये हुए है ॥ ५२ ॥
रजिष्ठं पन्थां	सुखदायक सीधे देवयान मार्ग को		
अनुनेषि	प्राप्त कराते हो !		
इन्दो	हे सोम !		

हे सोम ! नाम-गुण दोनों से तुम कान्तिमान ।
बुद्धि से कराते प्राप्त मार्ग तुम देवयान ॥
सब पितर हमारे धीर[1] और सब ज्ञानीजन ।
कर प्राप्त तुम्हारी कृपा सफल करते जीवन ॥
चिर रम्य यज्ञफल का वे करते हैं सेवन ।
ऐश्वर्य-भोग देवों-सा करते वे प्रतिक्षण ॥ ५२ ॥

टि०—इसमें सोम की महिमा का वर्णन है । सोम गुण और नाम दोनों दृष्टियों से प्रकाश का प्रतीक है । सोम के अनुग्रह से ही धीमान पितरो को रमणीय यज्ञफल प्राप्त होता है । ५२

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे
कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधीँ१रपोर्णु
वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ५३ ॥

सोम	हे सोम !	त्वया हि	तुम्हारी सहायता से ही
पवमान	हे पवित्र करनेवाले !		

१ धी अर्थात् बुद्धि में रमण करनेवाले ।

नः पूर्वे	हमारे पूर्ववर्ती	परिधीन्	चारों ओर स्थित शत्रुओं को
धीराः पितरः	धैर्यवान एवं बुद्धिमान पितरगण	अप ऊर्णु	दूर हटाओ।
कर्माणि चक्रुः	सब कर्म करने में सफल हुए है।	वीरेभिः अश्वेभिः	वीर घुड़सवारों द्वारा
अवातः वन्वन्	किसी से पीड़ित होने पर सेनाओं को उचित स्थान पर स्थापित करते हुए	नः मघवा भव	हमारे लिए इन्द्र जैसे परम ऐश्वर्य-शाली होओ ।।५३।।

हे सोम ! अये पवमान ! अनुग्रह करो सतत।
सब पितर हमारे थे कृतार्थ तुमसे संतत ॥
पाकर साहाय्य तुम्हारा रहे कर्मरत नित।
वे धीर निरंतर रहे सफलता से मंडित ॥
हे देवयुगल ! तुम रहो अ-पीड़ित अरि से समस्त।
सेनाओं को निज करो यथाविधि सविभक्त ॥
द्रुत दूर करो सब शत्रु चतुर्दिक् विद्यमान।
अश्वारोही दल को निज करने दो प्रमाण ॥
तुम करो उपद्रवकारी अरिदल को विदलित।
ऐश्वर्य इन्द्र का प्राप्त कराओ हमें विहित ॥ ५३ ॥

टि०—इस मंत्र में सोम और पवमान से कहा गया है, तुम दोनों के द्वारा हमारे पूर्वजों को बड़ी सहायता मिली है। हमको भी कृतकृत्य शत्रु चारों ओर से घेरे खड़े हैं, उन्हें दूर हटाओ। अपनी अश्वारोही सेना से उन पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट करो। इस प्रकार हमको इन्द्र का परम ऐश्वर्य प्राप्त हो। ५३

त्वꣳ सोम पितृभिः संविदानोऽनु
द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयꣳ
स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५४ ॥

सोम	हे सोम !	अनु द्यावापृथिवी	द्यावापृथिवी के मध्य में
पितृभिः	पालकों के साथ	आ ततन्थ	सुख का विस्तार करो।
संविदानः त्वम्	मिलन करते हुए तुम		

अग्नीध्रात्	अग्नि प्रदीप्त होनेवाला है, (इसलिए)	अग्निः	प्रदीप्त जठराग्नि-वाला होकर अन्न(मैं) ग्रहण करूँ ॥ १० ॥

अये इन्द्र ! हे प्रभु ! इन्द्रिय-शक्तियाँ करो स्थिर।
मातृभूमि-हित करें प्राप्त हम ऋद्धि-वृद्धि चिर ॥
मातृभूमि करती अभीष्ट सब सिद्ध हमारे।
बन जाते अमोघ सब आशीर्वचन हमारे ॥
मातृभूमि के लिए करें हम यज्ञ अनुष्ठित।
राष्ट्रभूमि के हेतु करें सर्वस्व समर्पित ॥
मातृभूमि यह, राष्ट्रभूमि चिर सेवनीय यह।
यज्ञ करें इसके संवर्धन हित हम अहरह[1] ॥
यज्ञशेष पर ही केवल है स्वत्व हमारा।
मातृभूमि हित छिन्न करें स्वार्थों की कारा ॥ १० ॥

टि०—उदार राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण यह बड़ा ही उदात्त मंत्र है। इसमें यह कहा गया है कि यज्ञकर्ता को अपनी मातृभूमि और राष्ट्रभूमि का उपासक होना चाहिए, तभी यज्ञ सिद्ध हो सकते हैं। यज्ञों का एक महान उद्देश्य राष्ट्र को शक्तिशाली और समृद्ध बनाना है। मातृभूमि के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना श्रेष्ठ यज्ञ है। यज्ञ करने के बाद जो बचे, उसी का भोग हम कर सकते हैं, अन्य का भोग पाप है। मातृभूमि की सेवा से ही यज्ञशेष का भोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। १०

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा॑ ।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

द्यौः पिता उपहूतः	द्युलोक के पालक की उपासना मेरे द्वारा की गई है,	अग्नीध्रात् अग्निः	यज्ञाग्नि के प्रज्वलन के कार्य से मेरा जठराग्नि प्रदीप्त हुआ।
द्यौः पिता	(इसलिए) द्युलोक का पालक प्रभु	प्राश्नामि	(इसलिए मैं इस) यज्ञशेष अन्न का भक्षण करता हूँ।
मां उपह्वयतां	मुझको (अन्न ग्रहण करने की) अनुमति प्रदान करे।	स्वाहा	यह उत्तम आहुति बन जाय।

१ प्रतिदिन।

पालक पितरो ! है सभा तुम्हारी यह उत्तम।
हैं यही तुम्हारे पद उत्तम आसन उत्तम॥
उत्तम अन्नादि पदार्थ तुम्हारे योग्य भोग्य।
संस्कारित[1] कर प्रस्तुत हम करते हैं मनोज्ञ[2]॥
तुम करो सुरक्षा हेतु उन्हें सानन्द ग्रहण।
आगमन तुम्हारा बने शान्ति-सुख-संवर्धन॥
आओ रक्षा को कर सामर्थ्य सकल धारण।
हमको सुख करो प्रदान, करो भय-रोग-हरण॥
हम रहें मुक्त दुःख और पाप से सर्वदेव[3]।
अतिशय सुख करो प्रदान हमें हे पितरदेव ! ॥ ५५ ॥

टि०—पितरगण अथवा परिवार और समाज के वयोवृद्ध जन उत्तम सभा में उत्तम पदों पर उत्तम आसनों पर विराजमान है। उनके सामने संस्कारित अन्न के अनेक भोग्य पदार्थ प्रस्तुत किये गये है। उनसे प्रार्थना की गई है, इनको आनन्दपूर्वक ग्रहण करें। अत्यन्त शान्तिपूर्ण कल्याणकारी संरक्षण शक्ति के साथ इसी प्रकार आते रहें और हमको सब प्रकार के भय, रोग आदि से मुक्त करें। ५५

आऽहं पितॄन्त्सुविदत्राँ २ अवित्सि
नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त
पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ५६ ॥

अहं सुविदत्रान्	मै उत्तम सुख आदि देनेवाले,	विक्रमणं च	और विविध प्रकार के सृष्टिक्रम को भी जानूँ।
पितॄन् अवित्सि	अपने रक्षा करने और पालनेवाले पूर्वपुरुषों का ज्ञान प्राप्त करूँ,	ये बर्हिषदः	जो महान योग्य आसनों पर विराजमान ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं,
च विष्णोः	और सर्वत्र व्यापक विष्णु के	स्वधया सुतस्य	वे अपनी धारणा-शक्ति से स्वयं तैयार किये गये
नपातं	नाशरहित		

१ परिपक्व और शुद्ध;　२ सुन्दर;　३ सदा ही।

इन्दो	हे सोम !	हविषा विधेम	हवन और यज्ञ करे,
तस्मै ते	उन तुम्हारे लिए	रयीणां	ऐश्वर्यों के
वयं	हम लोग	पतयः स्याम	स्वामी बनें ॥५४॥

हे सोम ! पितृगण से सहयोग करो तुम नित।
द्यावापृथिवी के मध्य करो सुख विस्तारित॥
हे इन्दु ! तुम्हारे हेतु करें हम हविर्दान।
नित नवल यज्ञ का रचें लोकमंगल-विधान॥
स्वामित्व सकल ऐश्वर्यों का हो हमें प्राप्त।
हो जाय अनुग्रह की किरणों से विश्व स्नात[1]॥ ५४॥

टि०—सोम से प्रार्थना की गई है — वे पितरों के सहयोग से पृथ्वी और आकाश के बीच सुख का विस्तार करें। हम आपकी संतुष्टि के लिए लोकमंगलकारी यज्ञ करते है, आप को हवि अर्पित करते हैं, हमको समस्त ऐश्वर्यों का आप स्वामी बना दें और अपने अनुग्रह से संसार को कृतार्थ करें। ५४

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥ ५५॥

बर्हिषदः पितरः	उत्तम सभा में उत्तम आसनों और श्रेष्ठ पदों पर विराजमान पितरगणो !	अवसा आगत	रक्षण-सामर्थ्य के साथ यहाँ आओ (और)
वः इमा	तुम्हारे लिए इन	नः शं	हमको सुख प्रदान करो।
हव्या चकृम	हवनीय पदार्थों को हम उत्पन्न करते हैं।	यो अरपः	हमारे अन्दर जो व्याधि है, उसको दूर करके हमको सत्याचरण की ओर प्रेरित करते हुए सुख
ते शंतमेन	तुम लोग अत्यन्त शान्तिप्रद और सुखद	दधात	प्रदान करो॥ ५५॥

---
[1] नहाया हुआ।

जो पितर हमारे सोमयाग करनेवाले।
जिनसे हम रक्षित हैं जिनसे जाते पाले॥
वे इस अति उत्तम प्रिय ऋतु में हैं समाहूत[1]।
इस यज्ञस्थल में आवे वे सब ज्ञानपूत[2]॥
प्रार्थना-वचन वे सुनें हमारे सदय-हृदय।
उपदेश करें, दे हमको अपना ज्ञान-निचय[3]॥
वे रहें हमारी रक्षा में तत्पर अविरत।
हम रहें सपर्या[4] में उनकी सर्वदा निरत॥ ५७॥

टि०—पूर्वजों और समाज तथा परिवार के ज्ञानवृद्ध,वयोवृद्ध, शीलवृद्धजनों से इस मंत्र में प्रार्थना की गई है कि वे हमारा मार्गदर्शन करें। हमे अपनी ज्ञानराशि प्रदान करें जिससे हम सदा सुरक्षित रहे। हम इस सोमयाग में उनका आवाहन करते हैं। वे यहां कृपा कर आवें। हमें अपने ज्ञान का उपदेश करें। ५७

आ यन्तु नः पितरः सोम्या-
सोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि
ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ५८॥

सोम्यासः	जो सौम्यगुण वाले,	आयन्तु	आवें।
अग्निष्वात्ता	अग्नि द्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्म में निपुण	अस्मिन् यज्ञे	वे ही इस यज्ञ में
		स्वधया मदन्तः	अन्नादि द्वारा सन्तुष्ट होकर
नः पितरः	हमारे पितरगण है,	अस्मान् अधि	हमको दिव्य ज्ञान
ते देवयानैः	वे देवयान द्वारा	ब्रुवन्तु	का उपदेश करें
पथिभिः	मार्गों से	अवन्तु	और हमारी रक्षा करें॥ ५८॥

सोम[5]-से शान्त शम-दम आदिक गुणगणमंडित।
अग्न्यादि[6] पदार्थों के ज्ञाता अप्रतिम पंडित॥
जो श्रौतस्मार्त[7] विविध कर्मों में पारंगत।
जो पितर हमारा पालन करते हैं दृढ़व्रत॥

१ आदर से निमंत्रित; २ अपने द्वारा अर्जित ज्ञान के द्वारा पवित्र; ३ ज्ञानराशि; ४ पूजा, उपासना; ५ चन्द्रमा; ६ आग, विजली आदि; ७ श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित ज्ञान।

पित्वः भजन्त	पीने के योग्य सोमरस का सेवन करते हैं।	ते इह	ये इस स्थान में
		आ आगमिष्ठाः	सब ओर से आगमन करें ॥५६॥

उत्तम सुखदाता पिता आदि जो पालक जन।
मैं प्राप्त करूँ उन सबका ज्ञान परम पावन॥
अविनश्वर महाविष्णु का बहुविध सृष्टिक्रम।
मै प्राप्त करूँ इसकी अवगति[1] अशेष उत्तम॥
जो हैं महिमामय योग्य आसनों पर संस्थित।
जो ब्रह्मनिष्ठ हैं आत्म-धारणा-शक्ति-बलित[2]॥
जो स्वयं सोमरस का करते हैं निष्पादन[3]।
उस परम ब्रह्मरस का जो करते हैं सेवन॥
वे आत्मज्ञानसम्पन्न पितर वे विद्वज्जन।
आगमन करें सब यहाँ करें स्वीकृत पूजन॥ ५६ ॥

टि०—इस मंत्र मे बड़ा महिमामय आदेश दिया गया है। जो हमारे परमज्ञान की साधना करनेवाले पिता आदि पूर्वज है, हम उनके द्वारा अर्जित ज्ञान के उत्तराधिकारी बने। अनेक रूपों मे प्रवर्तित यह सृष्टि का क्रम सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के द्वारा प्रवर्तित है। हम लोगों का कर्तव्य है, हम इसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे। आगे चलकर इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सोमरस ब्रह्मरस या कोटि सुधाकल्प ब्रह्मतत्त्व अथवा परमात्म-तत्त्व का ज्ञान ही है। जो इस ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता है, जिन्हें गीतोक्त ब्राह्मीस्थिति प्राप्त है, वे यहाँ आवें और हमारी पूजा स्वीकार करें। ५६

उप॑हूताः पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।
त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॒ऽवन्त्व॒स्मान्॥ ५७॥

सोम्यासः पितरः	(जो) सोमयाग करनेवाले पितरगण	ते श्रुवन्तु	वे हमारी प्राथनाएँ सुनें,
बर्हिष्येषु प्रियेषु	अतिउत्तम प्रिय यज्ञ में	अस्मान्	हमको
उपहूताः	बुलाये गये है,	अधि ब्रुवन्तु	उपदेश देकर वोध प्रदान करें (और)
ते इह	वे यहाँ	ते अवन्तु	वे हमारी रक्षा करें॥ ५७॥
आ गमन्तु	आगमन करे,		

१ ज्ञान; २ आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न शक्ति से सम्पन्न; ३ उत्पादन या क्रियान्वयन।

टि०—इस मन्त्र में यह कहा गया है कि न्यायधर्म की परंपरा वाले सुनिर्मित सभाभवनों में अग्न्यादि से होनेवाले यज्ञों में नियुक्त उसके संरक्षकगण आदरपूर्वक अर्पित आसन ग्रहण करें और हमारे द्वारा पवित्रता से तैयार किये गये हविष्यान्न को ग्रहण करें। वे हमें इतना धन प्रदान करें कि हम राष्ट्र के श्रेष्ठ वीरों को संगठित कर सकें। ५६

ये अ॑ग्निष्वात्ता ये अन॑ग्निष्वात्ता
मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
तेभ्य॑ः स्व॒राड॒सु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं
त॒न्वं॑ कल्पयाति ॥ ६० ॥

ये अग्निष्वात्ताः	जो अग्निविद्या को अच्छी प्रकार जाननेवाले हैं,
ये अनग्निष्वात्ताः	जो अग्निविद्या से भिन्न अन्य विद्याओं को जानने वाले ज्ञानी लोग है,
दिवः मध्ये	वे प्रकाश के बीच
स्वधया मादयन्ते	अपनी धारणा-शक्ति से आनन्द को प्राप्त करते है।
तेभ्यः	उन लोगों के लिए
स्वराट् एतां	स्वयं प्रकाशमान परमात्मा इस मनुष्य के
असुनीतिं तन्वम्	प्राप्त होनेवाले शरीर को
यथावशं कल्पयति	योग्य रीति से शक्तिशाली बनाता है ॥ ६० ॥

अग्निष्वात्त अनग्निष्वात्त हैं जो ज्ञानीजन।
अग्नि और अनग्नि विद्याओं का जो करते है संपादन ॥
वे धारणा-शक्ति से अपनी करते हैं प्रकाश का दर्शन।
उसके मध्य प्राप्त करते है अप्रमेय वे परानन्द घन ॥
उन लोगों पर हो प्रसन्न वे स्वयं प्रकाशमान परमेश्वर।
उनके द्वारा प्राप्त देह को करते रहते है बलवत्तर[1] ॥ ६० ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त पितरों का वर्णन है। इन शब्दों के कई प्रकार के अर्थ मिलते हैं। उव्वट और महीधर के अनुसार अग्निष्वात्त वे हैं, जिनके शरीर अग्नि में दग्ध किये गये हैं। अनग्निष्वात्त वे हैं, जिनका श्मशान कर्म-नहीं

---

१ अधिक बलवान।

विद्वज्जन-सेवित देवयान से वे आवें।
इस ऋतु में अन्नादिक से परम तृप्ति पावें॥
वे दिव्य ज्ञान का दें हमको उपदेश परम।
वे करें हमारा रक्षण-पालन नित उत्तम॥ ५८॥

टि०—इस मंत्र में पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे देवयान मार्ग से हमारे इस यज्ञ में आवें और हमें उत्तम उपदेश दें। वे हमारी निरंतर रक्षा करते रहें। ५८

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत
सदः-सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा
रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ५९॥

अग्निष्वात्ताः पितरः	हे अग्न्यादि से होने वाले यज्ञों में निपुण हमारे संरक्षक याजको !
इह आगच्छ	यहाँ आओ,
सुप्रणीतयः सदः	श्रेष्ठ नीति वाले सभास्थान में
सदः सदत	और घर में स्थित होओ,
प्रयतानि हवींषि	अतिप्रयत्न से प्रस्तुत हविष्यों को
आ अत्त	ग्रहण करो,
अथ बर्हिषि	तत्पश्चात् आसनों पर बैठकर
सर्ववीरं	सब वीर पुरुषों को
रयिं दधातन	धन प्रदान करो॥ ५९॥

अग्निष्वात्त[1] पितरगण हे! इस ऋतु में आओ।
सुप्रणीत[2] इस सभास्थान में आओ, शोभा पाओ॥
अति प्रयत्न से सिद्ध विविध ये हविष्यान्न हैं प्रस्तुत।
इन्हें करो स्वीकार, समर्पित करते हम श्रद्धायुत॥
सुखासीन हो यहाँ निरंतर रक्षा करो हमारी।
धन देकर वीरों को अभिमत बनो संगठनकारी॥
सत्य-धर्म को करो प्रचारित प्रति जन में, प्रति मन में।
ऊर्जित रहे ज्ञान की धारा अव्याहत जीवन में॥ ५९॥

---

१ अग्न्यादि से होनेवाले यज्ञों में नियुक्त पितरगण; २ न्याय और धर्म की परम्परा के लिए प्रसिद्ध और सुनिर्मित।

टि०—इस मंत्र में कहा गया है कि सोमरस का दान करनेवाले, ऋतुओं के अनुकूल उत्तम से उत्तम यज्ञादि कर्म करनेवाले, अग्नि आदिक विद्याओं के ज्ञाता और यज्ञों के प्रयोक्ता ज्ञानी पिता एवं पितृगण हमारे इस यज्ञ में पधारें। हम उनका अभिनन्दन करें। वे हमें धन का स्वामी बनावें। ६१

आच्या जानु दक्षिणतो
निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो
यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

विश्वे पितरः	हे सब पालन करने वाले पितरगणो!
केन चित्	तुम किसी प्रकार से भी
नः पुरुषता	हमारी जो पुरुषार्थ-शक्ति है,
मा हिंसिष्ट	उसको नष्ट न करो, (जिससे)
कराम	हम लोग सुख प्राप्त करें।
यत् वः आगः	जो तुम्हारे प्रति अपराध है, उसको हम छुड़ावें।
इमं यज्ञं	इस यज्ञ को
अभि गृणीत	उत्तम प्रकार से, प्रशंसनीय रीति से सम्पन्न करो।
जानु आच्य	(हम) जानु का संकोच करके
दक्षिणतः निषद्य	तुम्हारी दाहिनी तरफ बैठकर तुम लोगों का सत्कार करें ॥६२॥

हे पितरजनो! हे अपने सब पालक पुरुषो!।
कुछ अप्रिय भी हो यदि हमसे अपराध बने हमसे भ्रमवश! ॥
पुरुषार्थ-शक्ति मत नष्ट करो हम सबकी हे पालक पुरुषो! ॥
पुरुषार्थ-शक्ति ही है अपनी सुख-समुदय[1] का अमोघ साधन।
उसको संवर्धित करो सतत, नतजानु विनय करते क्षण-क्षण।
उत्तम प्रकार से यज्ञ हमारा सफल करो पालक पुरुषो! ॥
नत-जानु तुम्हारे दक्षिण में बैठे हैं हम सब भावलीन।
सब अपराधों से मुक्त करो, हम हों संतत सत्कारलीन[2] ॥
यह यज्ञ प्रशस्त बने अपना तुम बनो सदय पालक पुरुषो! ॥ ६२ ॥

---

१ सुखसमूह; २ सेवा मे लगे हुए।

हुआ है। महर्षि दयानन्द अग्नि आदि विद्याओं के जाननेवाले को अग्निष्वात्त और अन्य विद्याओं को जाननेवाले को अनग्निष्वात्त कहते हैं। वेदमूर्ति सातवलेकर जी का अर्थ स्वामी दयानन्द के अर्थ से मिलता-जुलता है। ऐसे साधक अपनी धारणा-शक्ति से प्रकाश का दर्शन करते हैं। उसी के द्वारा वे परम आनन्द प्राप्त करते हैं। ऐसे लोगों के शरीर को परमात्मा बलवत्तर बनाते हैं। ६०

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे
नाराशंसे सोमपीथं य आशुः।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं
स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६१ ॥

ये	जो
सोमपीथं आशुः	सोमरस को पीवें,
ऋतुमतः	वसन्त आदि ऋतुओं में उत्तम कर्म करें, ऐसे
अग्निष्वात्तान्	यज्ञ की अग्नि-विद्या को अच्छी तरह जाननेवाले ज्ञानियों को
नाराशंसे हवामहे	हम लोग उत्तम पुरुषों की प्रशंसा करते समय यज्ञ में बुलाते हैं।
ते विप्रासः	वे बुद्धिमान लोग
नः सुहवाः भवन्तु	हमारे लिए बुलाने के योग्य हों (और)
वयं	हम
रयीणां पतयः	धनों के स्वामी
स्याम	होवें ॥ ६१ ॥

करते हैं सोमादिक का जो सदा पान।
करते मधुऋतु में उत्तम कर्मो का विधान॥
जो अग्नि आदि विद्याओं के ज्ञाता उत्तम।
यज्ञों के विविध प्रयोगों के कर्ता शुचितम॥
उन ज्ञानीजन का आवाहन करते सश्रद्ध[1]।
वे सदय पधारे यज्ञ हमारा करें सिद्ध॥
हम करते हैं उन सबका अभिनन्दन-वंदन।
उनके प्रसाद से पूर्णकाम हो यह जीवन॥
उन पिता आदि हैं ज्ञानवृद्ध जन जो महान।
सर्वदा हमें धन का प्रभुत्व वे करें दान॥ ६१॥

---

१ श्रद्धा-सहित।

टि०—इस मंत्र का उव्वट और महीधर ने एक प्रकार का अर्थ किया है। सातवलेकर और स्वामी दयानन्द का अर्थ भिन्न है। यहाँ दोनों प्रकार से अनुवाद किया है। ६३

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥ ६४॥

कव्यवाहन अग्ने	हे बुद्धिमानों के समीप उत्तम पदार्थ पहुँचानेवाले अग्नि !	आ युजं यं	सम्बन्ध जोड़ने वाले जिस
		रयिं मन्यसे	श्रेष्ठ धन को जानते हो,
त्वं गीर्भिः	तुम वाणियों से	तं चित्	उसको भी
श्रवाय्यं देवत्रा	सुनाने योग्य गुणों वाले विद्वानों से	नः पनय	हमारे लिए वहन कर लाओ ॥६४॥

पितरगण को अन्न पहुँचाते तुम्हीं हे देव !।
कव्यवाहन[1] अग्नि ! हो तुम वंदनीय सदैव॥
बुद्धिमानों को वितरते तुम्हीं इष्ट पदार्थ।
सिद्ध होते सकल तुमसे स्वार्थ और परार्थ[2]॥
वाणियों से वर्ण्य है जो वित्त[3] परम महान।
जो ऋतावृध[4] तत्त्व है प्राप्तव्य ज्योतिर्मान॥
सब मनीषी प्राप्त करने हेतु जिसके व्यग्र।
तत्त्व चित् ही वित्त है उपलब्धि योग्य समग्र॥
करो हमको परम वित्त प्रदान वह हे देव !।
वह ऋतावृध तत्त्व हम तक वहन करो सदैव॥ ६४॥

टि०—परमेश्वर का ही एक रूप अग्नि है। वे पितरों तक कव्य ले जाते हैं, इसलिए 'कव्यवाहन' कहे जाते हैं। ज्ञान के साधकों के योगक्षेम का वहन वे परमेश्वर ही करते है। उनसे यह प्रार्थना की गई है कि वे हमें वह धन प्रदान करें जिसका वाणियों से वर्णन नहीं किया जा सकता है और जिसको पाने के लिए बड़े-बड़े मनीषी लालायित रहते हैं। वह तत्त्व 'ऋतावृध' अर्थात् सत्य का संवर्धन करनेवाला कहा गया है। 'ऋतावृध' तत्त्व वह परम सच्चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व है, जिससे ऋत-सत्य और यज्ञ अर्थात् श्रेष्ठ कर्मयोग की परंपरा का विकास, विस्तार और संवर्धन होता है। इस मंत्र में उसी की याचना की गई है। ६४

---

१ पितरों तक कव्य अर्थात् उनका भक्ष्यान्न पहुँचानेवाले; २ परमार्थ; ३ धन; ४ ऋत को बढ़ानेवाला।

टि०—इस मंत्र में पितरों, माता-पिता, गुरुजनों, विद्वानों आदि से कहा गया है, वे हमारे अपराध क्षमा करें। हम नतजानु उनके दक्षिण भाग में बैठकर यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे यज्ञ को प्रशंसनीय रीति से पूरा करे। हमारी पुरुषार्थ-शक्ति बढ़ावें। ६२

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे
रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र
यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ६३ ॥

पितरः	हे पालन करने वाले पितरगण !	दाशुषे मर्त्याय	दाता मनुष्य के लिए
इह	इस गृहस्थाश्रम में	रयिं धत्त	धन प्रदान करो,
अरुणीनां उपस्थे	गौरवर्ण की स्त्रियों के समीप	तस्य वस्वः	उसके लिए श्रेष्ठ ऐश्वर्य
आसीनासः	बैठे हुए तुम लोग	प्रयच्छत	प्रदान करो, जिससे
पुत्रेभ्यः	पुत्रों के लिए,	ते	वे सब लोग
		ऊर्जं दधात	बल को धारण करें ॥ ६३ ॥

हे पितरजनो ! तुम हो निज संतति के पालक।
हम हविर्प्रदाता मनुज तुम्हारे हैं बालक ॥
हो अरुण वर्ण के ऊर्णासन पर समासीन।
अरुणिम किरणों से स्नात-गात हे प्रभापीन ॥
पत्नी-पुत्रों को दान करो धन सकल प्रेष्ठ।
हम वैभव धारण करे अतुल शक्तियाँ श्रेष्ठ ॥

× × ×

हे ज्ञानवृद्ध, हे वयोवृद्ध, हे शीलवृद्ध।
हो समासीन यज्ञस्थल में पालक प्रसिद्ध ॥
पत्नियाँ तुम्हारी वाम अंग में हैं शोभित।
हैं गौर प्रभा से उनकी यज्ञभवन दीपित ॥
हम दानशील जन सकल तुम्हारे हैं बालक।
कामना हमारी करो पूर्ण, तुम हो पालक ॥
दो हमको धन-ऐश्वर्य देव ! जो परम प्रेष्ठ।
हम धारण करते रहें सकल शक्तियाँ श्रेष्ठ ॥ ६३ ॥

सवितुः	सबके उत्पादक प्रेरक	त्वा प्रति	इस यज्ञशेष अन्न को
देवस्य प्रसवे	प्रभु की प्रेरणा से	गृह्णामि	(मैं) ग्रहण करता हूँ।
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों के	अग्नेः आस्येन	अग्नि के मुख के द्वारा
बाहुभ्यां	बाहुओं की सहायता से,	त्वा प्राश्नामि	तुझे (मैं) भक्षण करता हूँ ॥ ११ ॥
पूष्णः हस्ताभ्यां	पूषा देवता के दोनों हाथों की सहायता से		

की मैंने उपासना द्यौ के पालक परमेश्वर की।
पाऊँ अन्न-ग्रहण की अनुमति द्यौपति[1] परमेश्वर की॥
वैश्वानर प्रज्वलित हो चुका अब मेरे भीतर का।
ग्रहण करूँगा यज्ञशेष पा समादेश[2] प्रभुवर का॥
यज्ञशेष भक्षण करता हूँ जाठराग्नि दीपित कर।
मातृभूमि के उपासकों का स्वत्व मात्र इतने पर॥
विश्व-प्रसविता विश्व-नियामक प्रभु से प्रेरित होकर।
यज्ञ किया है मैंने, मुझको यज्ञशेष हो रुचिकर॥
देव अश्विनी की बाँहों से पूषा के हाथों से।
यज्ञशेष मैं ग्रहण कर रहा अर्थपूत-पाथों[3] से॥
यज्ञशेष यह अन्न सतत आरोग्य-पुष्टिदाता है।
अग्नि स्वयं मुख में दीपित हो इसको अपनाता है॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को मातृभूमि के उपासक होने और अर्थशुचि जीवन बिताने का आदेश वेद भगवान ने दिया है। देही का अधिकार मात्र यज्ञशेष अन्न पर है, अधिक पर नहीं। अधिक पर अपना अधिकार माननेवाले को पापी और चोर माना गया है। उसे दंडनीय ठहराया गया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है, जितने से हमारा पेट भरे उतने पर ही हमारा अधिकार है; उससे अधिक को अपना माननेवाला चोर है, उसे दंड मिलना चाहिए। 'यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति।' यह है वैदिक साम्यवाद। ११

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥ १२ ॥

१ द्युलोक का पालन करनेवाला पिता; २ आज्ञा; ३ धन-प्राप्ति के पवित्र साधनों से या मार्गों से।

यो अ॒ग्निः क॑व्य॒वाह॑नः पि॒तॄन् यक्ष॑दृता॒वृधः॑ ।
प्रेदु॑ ह॒व्यानि॑ वोचति दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ ॥ ६५ ॥

यः अग्निः	जो अग्नि के समान अग्रणी पुरुष	हव्यानि देवेभ्यः	ग्रहण करने योग्य हवनीय पदार्थों को ज्ञानवान पुरुषों और
कव्यवाहनः	मेधावी पुरुषों के	पितृभ्यः	पालक पितरों के लिए
ऋतावृधः	योग्य वचनों को धारण करनेवाला और सत्यज्ञान को बढ़ानेवाला,	आ प्र वोचति	प्रवचन द्वारा प्रसिद्ध करता है,
पितॄन् यक्षत्	पालन करनेवाले पितरगणों का सत्कार करता है,	उ इत् आ	वह ही सर्वत्र विख्यात होता है ॥ ६५ ॥

ऋत, सत्य, यज्ञ का संवर्धन करते सदैव ।
हैं वन्दनीय वे पितर ऋतावृध-रूप देव[1] ॥
अग्रणी पुरुष वे विद्याओं से उपभासित ।
है धारणीय उनकी मंगलमय वाणी नित ॥
ऐसे महनीय मनीषीजन से प्राप्त सत्य ।
प्रवचन से कर्मों से प्रसार के योग्य नित्य ॥
जो करते सदा प्रचार हेतु उसके प्रवचन ।
उनके आदर्शों में ढालते सदा जीवन ॥
वे पाते हैं इस जग में यश अक्षय अशेष ।
सुरभित होते उनकी कृति से हैं काल-देश[2] ॥ ६५ ॥

टि०—हमारे अग्रणी जिन पूर्व पुरुषों ने 'ऋतावृध' परम सत्य को प्राप्त किया है और जो अनेक प्रकार की विद्याओं की साधना से प्रकाशमान रहे हैं, उनके द्वारा प्राप्त परम ज्ञान का हम लोकमंगल के लिए प्रचार-प्रसार करें। उनके आदर्शों के अनुरूप हम अपना जीवन बनावें। अक्षय कीर्ति प्राप्त करने का यही राजमार्ग है। ६५

---

१ ऋत और सत्य के संवर्धन के कारण देवता-स्वरूप; २ तीनों काल और सारी धरती।

त्वम॑ग्न ईडि॒तः क॑व्यवाहना॒वाड्ढ॒व्यानि॑
सु॒र॒भीणि॑ कृ॒त्वी ।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि
त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥ ६६ ॥

कव्यवाहन	विद्वानों के वर्णन योग्य कर्मों और सामर्थ्यों को धारण करनेवाले	पितृभ्यः प्रादाः	पितरों को भी प्रदान करो,
अग्ने	हे अग्नि !	ते स्वधया अक्षन्	वे लोग अपने शरीर के पोषणकारी अन्न द्वारा उसका भोग करें ।
त्वं ईडितः	तुम स्तुति को प्राप्त होकर	देव	हे दिव्यगुण वाले !
हव्यानि	हवनीय पदार्थों को	त्वं प्रयता	तुम्हीं उत्तम रीति से
सुरभीणि	सुगन्धयुक्त	हवींषि अद्धि	हवियों को भक्षण करो ॥ ६६ ॥
कृत्वा अवाट्	बनाकर ग्रहण करो,		

हे कर्म तुम्हारे सब विद्वज्जन-वर्णनीय[1] ।
धारण करते सामर्थ्य सकल अग्ने! वरीय ॥
स्तवन हमारे श्रवण करो हे देवदेव ! ।
हव्यान्न सुगन्धित करो ग्रहण उत्तम सदैव ॥
पितरों तक वहन करो तुम उनका भक्ष्य पूत ।
वे स्वधा-अन्न से करें देह पोषित प्रभूत[2] ॥
हे दिव्य गुणों से मंडित अग्ने महीयान ! ।
भोगो उत्तम हवियाँ जो हम करते प्रदान ॥ ६६ ॥

टि०—हे अग्नि ! तुम्हारे गुण और कर्म विद्वानों के द्वारा वर्णनीय हैं । तुम हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे द्वारा अर्पित हविष्य को ग्रहण करो । पितरों तक कव्य पहुंचाओ । हमारे द्वारा अर्पित हविष्यान्न का भक्षण उत्तम रीति से करो । ६६

---

१ विद्वानों के द्वारा वर्णन करने के योग्य; २ पितर कव्यान्न से अपने को खूब पुष्ट-तुष्ट करें ।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च
विद्म याँ२ उं च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ ६७ ॥

ये इह	जो यहाँ	जातवेदः	हे संसार के सब उत्पन्न पदार्थों को जाननेवाले अग्नि !
च पितरः	अन्य पितृगण है,	ते यति	वे जितने भी हों,
च ये	और जो	त्वं वेत्थ	तुम उनको जानो
इह न	यहाँ विद्यमान नहीं हैं,	स्वधाभिः सुकृतं	(और) अन्न आदि सामग्रियों से उत्तम रूप से सम्पादित
च यान्	और हम जिनको	यज्ञं जुषस्व	यज्ञ का सेवन करो ॥ ६७ ॥
उ विद्मः	निश्चित रूप से नहीं जानते हैं,		
च यान्	और जिनको हम		
उ न प्र विद्मः	निश्चय ही नही जानते है,		

जो यहाँ पितरगण पालक अपने विद्यमान।
इस लोकमध्य हैं नहीं पितर जो वर्तमान ॥
जिन पालक पितरों से हम परिचित हैं निश्चय।
जिन पितरों की अवगति[1] न हमें है निःसंशय ॥
तुम जात मात्र[2] के ज्ञाता हो यह विश्व-विदित।
हे जातवेद ! सब पितर रहें तुमको परिचित ॥
तुम जानो सम्यक् उन्हे करो उसका पोषण।
शुचि स्वधा अन्न उनके हित संतत करो वहन ॥
पितरों हित होता जिसमें पावन स्वधा-दान।
उस पितृयज्ञ का करो पूर्ण अग्ने ! विधान ॥ ६७ ॥

टि०—अग्नि ही सब पितरों तक कव्य किंवा स्वधा अन्न पहुँचाते हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारे सब पितरों को जानें। जो पिता इस लोक में है अथवा जो परलोक नें हैं, उन सबका कल्याण तभी होगा जब अग्नि उन्हें जानते रहेंगे। हमारे द्वारा अनुष्ठित पितृयज्ञ अग्निदेव पूर्ण करें। ६७

---

१ जानकारी; २ जो सब पैदा हुए है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य
ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा
नूनᳬ सुवृजनासु विक्षु ॥ ६८ ॥

ये पूर्वासः	जो लोग हमारे पूर्ववर्ती है,	सुवृजनासु विक्षु	अच्छी प्रगति करनेवाली प्रजाओं में हैं,
ये उपरासः ईयुः	और जो वाद के समय के है,	पितृभ्यः	उन पालन करने वाले पितरों के लिए
ये पार्थिवे रजसि	जो पृथ्वीलोक में		
आ निषत्ताः	सब ओर रहते है,		
वा ये	अथवा जो	अद्य इदं	आज यह
नूनं	निश्चय ही	नमः अस्तु	अन्न प्राप्त हो ॥ ६८ ॥

जो है हमसे पहले के हमसे वयोज्येष्ठ[1] ।
वे सब जो हमसे पीछे के वय में कनिष्ठ[2] ॥
वे सब जो इस धरती पर करते हैं निवास ।
जो प्रजाजनों में हैं विशिष्ट करते विकास ॥
वे पालक पुरुष चतुर्विध के हैं जो वरेण्य ।
हो प्राप्त उन्हें यह परम संस्कृत अन्न धन्य ॥ ६८ ॥

टि०—सब प्रकार के पितरों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए इस मन्त्र में स्वधा-अन्न अर्पित करने की प्रेरणा दी गई है । ६८

अधा यथा नः पितरः परासः
प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा
भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ ६९ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	परासः	उत्कृष्ट पद पर प्रतिष्ठित
यथा नः	जिस प्रकार हमारे		

१ आयु में वड़े; २ छोटे ।

प्रत्नासः	पूर्व काल के उत्तम	दीधितिं अरुणीः	विद्या से प्रकाशित, चरित्र के गुणों से दीप्तिमती स्त्रियों
उक्थशासः	ज्ञान का प्रसार करनेवाले,	क्षामा अयन्	और निवास भूमि को प्राप्त हुए है,
शुचि	पवित्र,	अध भिन्दन्तः	तदनन्तर अविद्या का नाश करते हुए
ऋत आशुषाणाः	सत्य को अच्छी प्रकार प्राप्त हुए,	इत् अप व्रन्	अज्ञानान्धकार के अज्ञान को नष्ट करते हैं (वैसा तू भी कर) ॥ ६९ ॥
पितरः	पालन करनेवाले पूर्व पुरुष और गुरुवर		

जो पिता आदि ज्ञानीजन हैं अपने महान।
करते उत्तम प्राचीन श्रेष्ठ शिक्षा-प्रदान ॥
शुचि परम सत्य को प्राप्त कर चुके जो सम्यक्।
विद्या से परम प्रकाशमान सबके पालक ॥
है शीलवती जिनकी अर्द्धांगिनियाँ वंदित।
है प्राप्त धरा पर जिनको प्रिय आवास प्रथित[1] ॥
वे करते है जिस भाँति तिमिर-आवरण दीर्ण[2]।
हे अग्नि ! उसी विधि करो अविद्या-तिमिर शीर्ण ॥ ६९ ॥

टि०—जिस प्रकार पिता आदि विद्या-शील वयोवृद्ध जन उत्तम शिक्षा द्वारा अज्ञान के अँधेरे को दूर करते हैं, उसी भाँति हे अग्नि ! तुम भी अविद्या के अन्धकार को दूर करो। ६९

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ७० ॥

उशन्तः	(हे अग्नि !) सुख-प्राप्ति की कामना करते हुए	उशन्त समिधीमहि	यज्ञ की कामना वाले हम तुमको प्रज्वलित करते हैं।
त्वा नि धीमहि	हम तुमको यहाँ स्थापित करते है,	उशन्	कामना करते हुए तुम

१ छिन्न-भिन्न; २ तार-तार ।

उशतः पितृन्	इच्छा करनेवाले पितरों को	हविषे अत्तवे	हवि भक्षण करने के लिए
		आ वह	बुलाओ ॥ ७० ॥

स्थापित करते तुम्हें यहाँ हम अग्निदेव ! ।
सुख-प्राप्ति कामना सिद्ध करो मेरी सदैव ॥
हम यज्ञ-कामना से करते हैं तुम्हें ज्वलित ।
आह्वान करो पितरों का हवि-भक्षण के हित ॥
तुम करो कामना हविकामी[1] हों पितर प्राप्त ।
श्रद्धा से करें समर्पित हवियाँ उन्हें आप्त ॥ ७० ॥

टि०—अग्नि से कहा गया है, हम सुख-प्राप्ति की कामना से तुम्हें यहाँ स्थापित करते हैं। यज्ञ की कामना से हम तुम्हें प्रज्वलित करते हैं। हविकामी पितर तुम्हारा आमंत्रण पाकर यहाँ पधारें और हविर्लक्षण अन्न ग्रहण कर परितुष्ट हों। ७०

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ७१ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	अपां फेनेन	जलों के फेन से
यत् विश्वाः	जब तुम समस्त संग्रामों में	नमुचेः शिरः	नमुचि के सिर को
स्पृधः अजयः	प्रतिस्पर्धा करने वाली सेनाओं को पराजित करते हो, तब	उदवर्तयः	काटते हो ॥७१॥

हे इन्द्र ! करो तुम प्रतिपक्षी दल सकल ध्वस्त ।
हो जाती है निःशेष शत्रु को शक्ति अस्त ॥
सब संग्रामों में नमुचि असुरपति था अजेय ।
कर शिरच्छेद उसके पापी जय अप्रमेय[2] ॥
जल के फेनों से किया नमुचि का शिरकर्तन[3] ।
युग-युग से है हो रहा देव ! यश का गायन ॥ ७१ ॥

---

१ हविष्य प्राप्त करने की इच्छा वाले ; २ अतुलनीय विजय; ३ शिर को कतर देने की क्रिया ।

टि०—नमुचि असुर को वरदान था, वह किसी शस्त्र से नहीं मरेगा। इन्द्र ने जल के फेन से उसका शिर धड़ से अलग कर दिया। यह यश अभी तक गाया जा रहा है। ७१

सोमो॒ राजा॒मृतᳪ॑ सु॒त
ऋ॑जी॒षेणा॑जहान्मृ॒त्युम्।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳪ शु॒क्रमन्ध॑स॒
इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृ॒तं मधु॑ ॥ ७२ ॥

सोमः राजा	ओषधियों का राजा
सुतः अमृतम्	सोम का रस निकाला है, वह रस अमृत है (और)
ऋजीषेण	सरल रीति से
मृत्युं अजहात	मृत्यु को दूर करता है।
ऋतेन सत्यम्	सरलता से सत्य को
विपानं	विविध पान करने के साधन,
इन्द्रियं	ऐश्वर्य,
अन्धसः	अन्न,
शुक्रं	वीर्य,
इन्द्रस्य इन्द्रियं	इन्द्र का सामर्थ्य,
इदं पयः	यह दूध,
अमृतं मधु	दीर्घ जीवन और शहद (मृदु जीवन) को प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

ओषधियों का पति सोम विदित, उसका रस अमृत रूप है नित।
वह सहज भाव से मृत्यु-हरण[1], होता उससे अमरत्व-वरण।
उससे मिलता है सत्य परम, पान के विविध साधन अनुपम।
इन्द्रिय-बल, अन्न, तेज, वैभव, इन्द्र-सी अपरिमित क्षमता नव।
ये दुग्ध और मधु आदि सकल, होते हैं सदा सुलभ प्रतिपल ॥ ७२ ॥

टि०—सोम सब ओषधियों का स्वामी है। इसके रस के सेवन से मृत्यु के भय का निवारण होता है। अमरत्व प्राप्त होता है। सत्य के साक्षात्कार का भी वह अमोघ साधन है। उसके द्वारा संसार के अनेकानेक भोग और ऐश्वर्य सुलभ होते हैं। ७२

---

१ मृत्यु को दूर करनेवाला।

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत्
क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७३ ॥

क्रुङ्आङ्गिरसः	हंस शरीर में प्राण के समान,	विपानम्	विविध पान करने के साधन,
धिया	अपनी बुद्धि से	इन्द्रियम्	ऐश्वर्य,
अद्भ्यः क्षीरं	जलों से भोग योग्य दूध रूपी सार पदार्थ को	अन्धसः	अन्न,
		शुक्रं	तेज,
		इन्द्रस्य इन्द्रियम्	इन्द्र का बल,
वि अपिबत्	विविध रूपों में पान करता है ।	इदं पयः	यह दूध, (इन्हें प्रज्ञावान)
ऋतेन सत्यम्	सरलता के ज्ञान से सत्य को	अमृतं मधु	मधुमय दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं ॥ ७३ ॥

है- अंगों का रस प्राण हंस-सा शोभमान[1] ।
कर क्षीर अलग जल से पीता वह बुद्धिमान ॥
कर सार ग्रहण करता असार का त्याग सतत ।
संधान[2] सत्य का करता अविरत छोड़ असत् ॥
प्रत्यक्ष पदार्थों में जो शाश्वत विद्यमान ।
अविनाशी अक्षर तत्त्व प्राप्त करता महान ॥
यह इन्द्रिय-बल, जितने बलवर्द्धक पेय सकल ।
वैभव सम्पूर्ण और तेजोमयतादिक फल ॥
ऐश्वर्य, अन्न, सेनापतियों-सा बल-वैभव ।
मिलता रहता है दुग्ध और मधुयुत नव-नव ॥
है युक्ताहार विहार-युक्त जिनका जीवन ।
वे सत्यबोध विज्ञान-ज्ञान-अधिकारी जन ॥ ७३ ॥

टि०—शुद्ध प्रबुद्ध जीवात्मा ही हंस है । जैसे हंस जल को छोड़कर अपनी प्रज्ञा से दुग्ध को ग्रहण करता है, उसी तरह प्रज्ञावान भी असत् तत्त्व-रूपी असार को छोड़कर सारतत्त्व-रूपी सत् को ग्रहण करता है । अचित् में चित् का संधान ही योग है । प्रत्यक्ष नाशवान पदार्थों में अविनाशी अक्षर तत्त्व का विवेक दृढ़ करना ही योगाभ्यास है ।

---

१ शोभित; २ खोज ।

सत्याचरण में दृढ़ता से स्थित होकर युक्ताहार-विहार द्वारा शुद्ध और प्रबुद्ध होकर जीवात्मा 'हंस' नाम प्राप्त करता है। उस स्थिति में उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। वह सत्य के साक्षात्कार का अधिकारी हो जाता है। वह कैवल्य स्थिति को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है।७३

सोम॑म॒द्भ्यो व्य॑पिब॒च्छन्द॑सा
ह॒ꣳसः शु॑चि॒षत् ।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒
इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७४ ॥

हंसः अद्भ्यः	जैसे हंस जलों में से	विपानं	विविध पान करने के साधन,
सोमं वि अपिबत्	सोम को पीता है,	इन्द्रियं	ऐश्वर्य,
शुचिषत् छन्दसा	(उसी प्रकार विद्वान) शुद्ध उपायो से सत्य को प्राप्त करता है,	अन्धसः	अन्न,
		शुक्रं	तेज,
		इन्द्रस्य इन्द्रियं	इन्द्र का बल,
		इदं पयः	यह दूध,
ऋतेन सत्यम्	सरलता से सत्य को (तथा)	अमृतं मधु	मधुमय दीर्घ जीवन प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

नीर-क्षीर में नीर त्याग, कर लेता क्षीरपान ज्यो हंस।
त्यों असत्य-भ्रम त्याग, सत्य को पा लेता विद्या-अवतंस ॥
'विद्या और विवेक'—दुग्ध-मधु के बल पर सत्पथ, विद्वान।
करता है उपलब्धि सत्य की, उसे न ग्रसता है अज्ञान ॥
अशन[1] शुद्ध, मन विमल, जितेन्द्रिय शक्तितेजमय ब्रह्मानन्द।
कुत्सितजल-जग में भ्रमते जन, जैसे इतर-हंस[2] खगवृन्द ॥ ७४ ॥

टि०—जल का रूप एक है। किन्तु उसी में से हंस अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा क्षीर-मधु को अनायास सहज ही में प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत, अन्य प्राणी अज्ञानवश उसी जल के आजीवन सेवन पर भी उस क्षीर की रूप-गन्ध तक नहीं पाते। प्रकृति समान है। ज्ञानीजन संयम और विवेक-बुद्धि के बल पर उससे तेज, ऐश्वर्य, दृढ़ आत्मबल, सदुपयोग-दुरुपयोग की क्षमता पर सर्वथानन्द (ब्रह्मानन्द) तक प्राप्त कर

१ आहार; २ हंस के अलावा ज्ञानहीन पक्षी।

लेते हैं। दूसरी ओर अज्ञानग्रस्त विमूढ़जन, मिथ्या उपयोगों में फँस कर, उसी प्रकृति में शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तनाव, विग्रह और नाना दुःखों को भोगते रहते हैं। उनके पल्ले, वह तेज, ऐश्वर्य, शक्तिरूपी सोम यदि कभी पड़ भी जाता है, तो वह भी उनके अज्ञान और प्रमादवश उनको दुखदायी ही सिद्ध होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार में न फँसकर, ज्ञान (बुद्धि-विवेक) रूपी क्षीर को ही ग्रहण करना परमानन्ददायी है। प्रकृति के पदार्थ नहीं बदलते। उनका ज्ञान अथवा अज्ञानमय उपयोग ही क्रमशः सुख और दुःख का प्रदाता है। विष ही अमृत और अमृत ही विष हो जाता है। त्याज्य नीर क्या है? ग्राह्य क्षीर क्या है? प्रतिक्षण इसका अभ्यास करें। 'उस पार' तथा 'प्रस्तुत जीवन' में अक्षय सुख-भण्डार भरें। ७४

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्
क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७५ ॥

ब्रह्मणा	चारों वेदों के विद्वानों के साथ	ऋतेन सत्यम्	वेदज्ञान से सत्य को
प्रजापतिः	प्रजा का रक्षक राजा	विपानम्	विविध प्रकार के पान के साधन,
परिस्रुतः अन्नात्	परिपक्व अन्न के साथ	इन्द्रियम्	ऐश्वर्य,
		अन्धसः	अन्न,
सोमं रसं	सोमरस को	शुक्रं	तेज,
पयः व्यपिबत्	विविध प्रकार से पीता है।	इन्द्रस्य इन्द्रियम्	इन्द्र का बल,
		इदं पयः	यह दूध,
क्षत्रम्	क्षात्र-बल को धारण करता है,	अमृतम् मधु	मधुमय दीर्घ जीवन प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥

चारों वेदों के ज्ञाता हैं जो विद्वज्जन।
राजागण उनका करते रहें सदा सेवन॥
परिपक्व अन्न के साथ सोमरस करे पान।
है यही क्षात्रबल धारण का उत्तम विधान॥
अन्याय-दमन से क्षात्रशक्ति होती वर्द्धित।
ऐश्वर्य इन्द्र का प्राप्त सहज ही रहता नित॥

सवितः देव	हे विश्वप्रसविता सविता देवता !	तेन यज्ञं अव	इसलिए यज्ञ की रक्षा कर,
एतं यज्ञं	यह यज्ञ	तेन यज्ञपतिं अव	इसलिए इस यजमान की रक्षा कर,
ते बृहस्पतये	तुझ बृहस्पतिस्वरूप	तेन मां अव	इसलिए मेरी रक्षा कर ॥ १२ ॥
ब्रह्मणे	ब्रह्मा के लिए है, (किया जाता है)		
प्राहुः	ऐसा लोग कहते हैं।		

विश्व-प्रसविता सविता ! है यह यज्ञ अनुष्ठित।
तुम्हीं ज्ञानपति ब्रह्मा, तुम हो इससे अर्चित॥
सविता, देव, बृहस्पति, ब्रह्मा नाम तुम्हारे।
पूजनीय यजनीय तुम्हीं हो सदा हमारे॥
अये देव ! तुम करो यज्ञ की रक्षा संतत।
रक्षित हों यजमान और हम तुमसे अविरत॥
यज्ञ करें यजमान, करें उन्नति नित-नित नव।
बने विश्वकल्याण-विधायक सदा यज्ञ-दव[1] ॥ १२ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, सविता, देव, बृहस्पति, ब्रह्मा, यज्ञ ये सब एक ही देवता के नाम हैं। प्रार्थना की गई है कि परमेश्वर यज्ञ की, यजमान की और हम सबकी रक्षा करें। यज्ञ के द्वारा यजमानों की उन्नति हो और विश्व का कल्याण हो, यही उसका उद्देश्य है। १२

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं
त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳ समि॒मं द॑धातु।
विश्वे॑ दे॒वास॑ इ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ ॥ १३ ॥

जूतिः मनः	(तेरा) वेगयुक्त मन	अरिष्टं	हिंसारहित बनाकर
आज्यस्य	घृत का	सं दधातु	सम्यक् धारण करे,
जुषतां	सेवन करे,	विश्वे देवासः	सब देवता
बृहस्पतिः	ज्ञान का स्वामी	इह मादयन्तां	यहाँ आनंदित हों।
इमं यज्ञं	इस यज्ञ को	ओं प्रतिष्ठ	ऐसा ही हो, प्रतिष्ठित होवे ॥१३॥
तनोतु	फैलावे,		
इमं यज्ञं	इस यज्ञ को		

१ यज्ञ की ज्वाला।

सब यथाकाल होते है नित नव-नव सक्रिय ॥
वीर्यानुरूप संतान प्राप्त करती आकृति ।
फिर यथाकाल बल, तेज आदि होते वर्द्धित ॥
फिर सहज शक्ति सेनापति की होती समुदित[1] ।
भोगता दुग्ध, मधु, अन्न, विविध वैभव प्रमुदित[2] ॥
फिर वेदज्ञान से करता परम सत्य साधन ।
इस भाँति बनाता प्रेय-श्रेयमय जग-जीवन ॥ ७६ ॥

टि०—इस मन्त्र में जीव के प्रादुर्भाव एवं उसके विकास का क्रम निरूपित है। मनुष्य के वीर्य और स्त्री के रज के योग से जीव का जरायु से ढके हुए गर्भ में आविर्भाव होता है। उसका क्रमशः विकास होता है, उसमें विविध इन्द्रियाँ और उनकी शक्तियाँ विकसित होती है। अन्ततः वही वेदज्ञान प्राप्त कर सत्य का साक्षात्कार कर प्रेय-श्रेय का अधिकारी बनता है। ७६

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬं सत्ये प्रजापतिः ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानᳬं शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

प्रजापतिः	प्रजा का पालक राजा,
ऋतेन	सत्य ज्ञान से
सत्यानृते रूपे	सत्य और असत्य के रूप को
दृष्ट्वा	देखकर
वि आ अकरोत्	उनको पृथक्-पृथक् करके सत्यज्ञान का उपदेश करता है,
प्रजापतिः अनृते	वह प्रजापालक असत्य में
अश्रद्धां अदधात्	अश्रद्धा को स्थापित करता है,
सत्ये श्रद्धाम्	सत्य में श्रद्धा को रखता है। (वह)
ऋतेन सत्यम्	सत्य ज्ञान से सत्य को,
विपानं इन्द्रियं	विविध पान करने के साधन, राजोचित ऐश्वर्य,
अन्धसः शुक्रं	अन्न, तेज,
इन्द्रस्य इन्द्रियं	इन्द्र का बल,
इदं पयः	यह दूध,
अमृतं मधु	दीर्घ जीवन स्वरूप मधु को प्राप्त करता है ॥ ७७ ॥

१ उत्पन्न; २ आनन्द के साथ, आनन्दित ।

है वेदज्ञान से प्राप्त सत्य होता महान।
मिलते हैं वैभव, अन्न, तेज, बल, विविध पान॥
मधुरादि गुणों से युक्त परम अमृतोपम रस।
सेवन करने से क्षात्र तेज होता निज वश॥ ७५॥

टि०—इस मन्त्र में यह आदेश दिया गया है कि शासकों को विद्वानों के परामर्श से शासन का संचालन करना चाहिए। अन्याय का दमन शासक का प्रमुख कर्तव्य है। ७५

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्।
गर्भो जरायुणाऽऽवृत उल्वं जहाति जन्मना।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ ७६॥

इन्द्रियं मूत्रं जहाति	जैसे मूत्रेन्द्रिय मूत्रोत्सर्ग करती है,	ऋतेन सत्यम्	(वैसे ही विद्वान) वेदज्ञान की सरल रीति से सत्य को
योनिं प्रविशत्	स्त्रीयोनि में प्रवेश करती हुई	विपानं इन्द्रियं	विविध पान-साधन करनेवाले ऐश्वर्य,
रेतः वि जहाति	वीर्य का त्याग करती है,	अन्धसः शुक्रं	अन्न, तेज,
गर्भः जरायुणावृतः	जैसे गर्भ जरायु से ढँका हुआ होकर भी	इन्द्रस्य इन्द्रियं	इन्द्र का बल,
		इदं पयः	यह दुग्ध,
जन्मना	जन्म के समय	अमृतं मधु	दीर्घ जीवन स्वरूप मधु को प्राप्त करता है॥ ७६॥
उल्वं जहाति	उल्व (जेर) को छोड़ देता है,		

पुरुष के रेत नारी के रज का भोग-योग।
निष्कासन और वृद्धि का है साधक प्रयोग॥
वह वीर्य जरायु-समावृत[1] बनता गर्भरूप।
आवरण[2] भंग कर वह बनता है शिशु अनूप॥
फिर वही विविध इन्द्रिय-चय का करता अर्जन।
जीव की शक्ति का होता क्रमशः संवर्धन॥
प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन चक्षुरादि इन्द्रिय।

१ झिल्ली से ढका हुआ; २ झिल्ली का परदा।

होते हैं प्राप्त उन्हें साधन पान के विविध।
ऐश्वर्य, अन्न, अमृतोपम पय, मधुचय[1] बहुविध॥
वैभव-प्रदीप्त[2] सेनापति का बल वे पाते।
जग के जीवन में अपनी छाप छोड़ जाते॥ ७८॥

टि०—जो राजा प्रजा के पालन में लगे रहते है और वेदविहित विधि से यज्ञों का अनुष्ठान कर सोमरस का पान करते है, वे ऋत के मार्ग पर चलकर सत्य का साक्षात्कार करते हैं। उन्हें पान के विविध साधन, ऐश्वर्य, अन्न, मधु, दुग्ध आदि सदा प्राप्त रहते है। उन्हें जयिष्णु सेनापतियों का सहयोग सदा प्राप्त रहता है। ७८

दृष्ट्वा परि॑स्रुतो॒ रसँ॑ शु॒क्रेण॑ शु॒क्रं
व्य॑पिब॒त् पय॒: सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ँ शु॒क्रमन्ध॑स॒
इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑॥ ७९॥

परिस्रुतः	अभिषिक्त	ऋतेन सत्यम्	ऋतात्मक यज्ञ से सत्य को,
प्रजापतिः	राजा ने	विपानं इन्द्रियं	विविध प्रकार के पान के साधन, ऐश्वर्य,
शुक्रेण शुक्रं	शुद्ध करनेवाले उपाय से शुद्ध किये गये	अन्धसः शुक्रं	अन्न, तेज,
रसं दृष्ट्वा	रस को देखकर	इन्द्रस्य इन्द्रियं	इन्द्र का बल,
पयः सोमं	पान करने योग्य सोमरस को	इदं पयः	यह दूध,
व्यपिबत्	दूध के साथ पान किया और	अमृतं मधु	दीर्घ जीवन स्वरूप मधु को प्राप्त किया॥ ७९॥

दिशि-दिशि से प्राप्त प्रजाओं का जो है स्वामी।
है प्रजा सकल श्रद्धा से जिसकी अनुगामी॥
शोधन के विहित[3] उपायों से कर शुद्धि सिद्ध।
पय-सहित सोमरस पिया उसी नृप ने प्रसिद्ध॥
यज्ञ से सत्य को किया प्राप्त उसने प्रबुद्ध।
अधिगत[4] है उसको सकल पान-साधन विशुद्ध॥

१ ढेर का ढेर शहद; २ ऐश्वर्यशाली; ३ शास्त्रसम्मत; ४ प्राप्त।

जो भूप प्रजा के पालन में रत है अविरत।
करते विविक्त वे प्रज्ञा से शुचि सदा अनृत॥
फिर सत्यज्ञान का करते वे उपदेश अमल।
मिलता जिससे सत्य को सदा श्रद्धा का बल॥
बनता असत्य है चरम अश्रद्धा का भाजन[1]।
सत्य के ज्ञान से सत्य चिरंतन[2] जाता बन॥
उससे ही होते प्राप्त पान-साधन अनेक।
राजोचित वैभव, अन्न, तेज, अच्युत विवेक॥
ऐश्वर्यवान सेनापति का बल चिर अजेय।
मिलता उससे है दुग्ध और मधु अप्रमेय॥ ७७॥

टि०—प्रजाजनों का पालक श्रेष्ठ राजा वही है जिसे सत्य और असत्य का विवेक है। ऐसा विवेकवान राजा सत्य का उपदेश करता है। इसके परिणामस्वरूप असत्य के प्रति अश्रद्धा और सत्य के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। सत्य के ज्ञान से मनुष्य और सब कुछ मिल जाता है। ७७

वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ ७८॥

प्रजापतिः वेदेन	प्रजा का पालक राजा वेद के ज्ञान के अनुसार	विपानं इन्द्रियं	विविध प्रकार के पान के साधन, ऐश्वर्य,
सुता सुतौ	यज्ञ में निकाले गये सोमरस को	अन्धसः शुक्रं	अन्न, तेज,
वि अपिबत्	ग्रहण करता है।(वह)	इन्द्रस्य इन्द्रियम्	इन्द्र का बल,
ऋतेन सत्यम्	सत्य ज्ञान से सत्य को,	इदं पयः	यह दूध,
		अमृतं मधु	दीर्घ जीवन स्वरूप मधु को प्राप्त करे॥ ७८॥

जो निरत प्रजापालन में रहते सदा भूप।
पीते है वे सोमरस वेदज्ञानानुरूप[3]॥
ऋत के पथ पर चल करते हैं वे प्राप्त सत्य।
होते है उनके सफल निरंतर सकल कृत्य॥

---

१ पात्र; २ शाश्वत; ३ वेद के ज्ञान के अनुरूप, श्रुति मे निर्धारित विधि से।

टि०—जैसे सीसे के यन्त्र की सहायता से ऊन के सूत्र से वस्त्र बुना जाता है, वैसे ही यज्ञ का अनुष्ठान होता है। दोनों अश्विनीकुमार सविता, सरस्वती, वरुण, क्रान्तदर्शी कविगण इन्द्र के स्वरूप को देख-समझकर उनके लिए यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। ८०

तदस्य रूपममृतꣳ शचीभिस्तिस्रो
दधुर्देवताः सꣳरराणाः ।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य
माꣳसमभवन्न लाजाः ॥ ८१ ॥

तिस्रः देवताः	(इस यज्ञ में) तीनों देवता	लोमानि दधुः	बालों के सहित लोग यह यज्ञ करते हैं।
शचीभिः	अपनी-अपनी शक्तियों से	न तोक्मभिः	बालको से यज्ञ का यह अनुष्ठान नहीं होता,
अस्य तद्	इस इन्द्र के उस	अस्य	(इन्द्र के यज्ञ-हवि) में
अमृतं रूपं	अमृत रूप को	त्वक् मांसं लाजाः	त्वचा, मांस, खीलें
संरराणः	अच्छी प्रकार प्राप्त करते हुए	न अभवन्	नही प्रयुक्त होती हैं ॥ ८१ ॥
बहुधा शष्पैः	अनेक दीर्घ और लम्बे		

मानवो ! अध्ययन-अध्यापन करके समग्र।
सब परीक्षणों में कर साफल्य प्राप्त अव्यग्र[१] ॥
विद्वान तीन उत्तम प्रज्ञा से मंडित नित।
सत्कर्मों के व्रत के पालन में जो दीक्षित ॥
वे करते हैं जिस भाँति यज्ञ कर वयःप्राप्त[२]।
कर ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण सिद्ध कर ज्ञात आप्त ॥
उस यज्ञ और यज्ञविधि का स्वरूप जो अविनश्वर।
जानो तुम सम्यक् अनुष्ठेय[३] वह ही शुचितर ॥
जो बालबुद्धि सम्यक् शिक्षा-दीक्षा विहीन।
उनके द्वारा संपन्न यज्ञ सब सिद्धिहीन ॥
यह भी जानो, यज्ञ में मांस अतिशय निषिद्ध[४]।
जो अन्न शुष्क भर्जित[५] वह भी न प्रयोज्य सिद्ध ॥

---

१ बिना व्याकुलता के; २ प्रौढ उम्र होने पर; ३ अनुष्ठान के योग्य; ४ वर्जित; ५ भूना हुआ।

राजोचित वैभव सकल, अन्न, पय, मधु-प्रभूत[1]।
ऐश्वर्ययुक्त सेनापति का बल चिर अकूत[2] ॥ ७९ ॥

टि०—जिस राजा को प्रजाजन अनेक दिशाओं से प्राप्त होते है और प्रजाजन जिसका श्रद्धा से अनुगमन करते है, वह शोधन के विविध उपायों से शुद्ध किये हुए परिशुद्ध सोमरस को पीता है। वह यज्ञों के अनुष्ठान से सत्य का साक्षात्कार करता है और पास के विविध साधन दुग्ध, मधु, अन्न, तेज, अकूत वैभवसम्पन्न सेनापतियों का सहयोग उसे सदैव सुलभ रहता है। ७९

सीसे॑न॒ तन्त्रं॒ मन॑सा मनी॒षिण॑
ऊर्णासू॒त्रेण॑ क॒वयो॑ वयन्ति ।
अ॒श्विना॑ य॒ज्ञꣳ स॑वि॒ता सर॑स्व॒तीन्द्र॑स्य
रू॒पं वरु॑णो भिष॒ज्यन् ॥ ८० ॥

अश्विना सविता	दोनों अश्विनी-कुमार और सूर्य,	यज्ञं वयन्ति	यज्ञ करते है,
सरस्वती वरुणः	सरस्वती, वरुण	सीसेन	जैसे सीस के यन्त्र की सहायता से
मनीषिणः कवयः	और मेधावी क्रान्तदर्शी कवि	ऊर्णासूत्रेण तन्त्रम्	ऊन के सूत से वस्त्र का निर्माण करते है ॥ ८० ॥
इन्द्रस्य रूपं	इन्द्र के रूप की		
भिषज्यन् मनसा	योग्य परीक्षा करके मन से विचार कर		

सीस के यन्त्र का करते सहज सहाय ग्रहण।
ऊन के सूत से करते पट का निष्पादन[3] ॥
हैं उसी भाँति इन्द्र के हेतु क्रतुकर्म सकल।
अश्विनीकुमार उभय करते हैं सविधि सफल ॥
सविता, सरस्वती, वरुण, मनीषी सब कविगण।
इन्द्र के रूप का करते हैं सम्यक् ईक्षण[4] ॥
फिर करते हैं वे मिलकर क्रतु[5] का अनुष्ठान।
ऊर्ण[6] के सूत्र से निष्पादित पट के समान ॥ ८० ॥

---

१ प्रचुर; २ जिसका अनुमान न किया जा सके; ३ निर्माण; ४ देखना; ५ यज्ञ; ६ ऊन।

रुद्रवर्तिनी	प्राण के मार्ग के समान रुद्र के मार्ग से युक्त	तत्	वह स्वरूप
भिषजा अश्विना	वैद्य दोनों अश्विनीकुमार	अस्थिमज्जानं	अस्थियों और मज्जा तथा परिपक्व ओषधियों के सारतत्त्व से
सरस्वती	और सरस्वती	मासरैः	उत्तम शिल्पी की
अन्तरं पेशः	शरीर के अन्तर्वर्ती	कारोतरेण	तरह बनाया हुआ
वयति	(इन्द्र के रूप को) परिपूर्ण करते हैं।		होता है ॥ ८२ ॥

अश्विनीकुमार उभय हैं विश्रुत वैद्य कुशल।
रुद्र के मार्ग का अनुवर्तन[1] कर बने सफल॥

× × ×

वे करते स्थापित सोम महारस धरती पर।
जो प्रकटाता इस तन में इन्द्र-तत्त्व भास्वर॥
पाकर सरस्वती देवी का सहयोग परम।
करते हैं नर-शरीर का सिद्ध विकास चरम॥
है मनुज-देह में निहित[2] इन्द्र का जो स्वरूप।
वह अव्यय आत्मतत्त्व वे प्रकटाते अनूप॥
है अस्थि, मांस, मज्जा से निर्मित मानव-तन।
उस महिमामय शिल्पी का है यह दिव्य रचन॥
इसके भीतर परमात्वमत्त्व है संगूहित[3]।
सारस्वत ज्ञान प्राप्त कर वह होता प्रकटित॥ ८२॥

टि०—इस मन्त्र में अत्यन्त महनीय तत्त्व का उपदेश किया गया है। उस परम शिल्पी ने अस्थि, मांस आदि से इस शरीर को बुना है। इसके भीतर परमात्म-तत्त्व छिपा हुआ है। इसके प्रकट करने के लिए स्वस्थ शरीर द्वारा साधना अभिप्रेत है। अश्विनीकुमार शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। उसी में सरस्वती के अनुग्रह से परमात्म-तत्त्व प्रकट होता है। ८२

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति द॒र्श॒तं वपुः॑।
रसं॑ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं न॒ग्नहु॒र्धीर॒स्तस॑रं॒ न वेम॑॥ ८३ ॥

---

1 अनुसरण;　2 छिपा हुआ;　3 अच्छी तरह छिपाकर रखा गया।

गुणरहित क्षार, कटु, तिक्त वस्तुएँ गन्धहीन।
वे यज्ञयोग्य मानते नहीं पंडित प्रवीण॥
विद्वज्जन जो हैं ब्रह्मचर्य-साधन में रत।
उनके ही द्वारा अनुष्ठेय हैं यज्ञ सतत॥
जो अपरिपक्व मति, बालबुद्धि, अज्ञानी जन।
वे यज्ञकर्म का करें न कथमपि संयोजन॥

× × ×

इन्द्र की प्रीति के लिए यज्ञ हों समनुष्ठित।
देवत्रय उनको करें शक्तिसह संयोजित॥
इन्द्र का अमृत अविनश्वर अक्षर अजर रूप।
उसके हैं परम तत्त्व के ज्ञाता जो अनूप॥
केवल वे ही यज्ञों का करें सविधि विधान।
है प्राप्त जिन्हें परमात्म-तत्त्व का पूर्ण ज्ञान॥ ८१॥

टि०—इस प्रकार के मन्त्र अपेक्षाकृत जटिल हैं। इनके अर्थों में भाष्यकारों में मतभेद है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र में मानवों को सम्बोधित कर कहा गया है कि अच्छी भाँति पढ़े-लिखे और परीक्षोत्तीर्ण विद्वान ही यज्ञकर्म सम्पन्न करवावें। वे लम्बे बालों वाले हों, अर्थात् वे ब्रह्मचर्य व्रतादि का पालन कर यज्ञकर्म के पूर्ण अधिकारी बन गये हों। इन यज्ञों में मांस, सूखे भूने हुए अन्न, नमकीन, कड़वी वस्तुओं आदि का प्रयोग न हो। बालबुद्धि, अविद्वान इस यज्ञकर्म से दूर रहें। दूसरा अर्थ सातवलेकर जी का है। उसके अनुसार यज्ञ परमात्मा के लिए किये जाते हैं, जिनका एक अभिधान इन्द्र भी है। उनके लिए जो यज्ञ किये जायँ उनमें तीनों देवता अपनी शक्तियों के साथ आवें। परमात्मा के अक्षर, अमर, अजर स्वरूप का साक्षात्कार जिन विद्वज्जनों ने किया है, वे इन यज्ञों का अनुष्ठान करवावें। मूल मन्त्र में तीन देवताओं का उल्लेख है। उव्वट के अनुसार वे तीन देवता हैं दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती। इस मन्त्र में यज्ञों में मांस का प्रयोग सर्वथा वर्जित कहा गया है। ८१

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒
सर॑स्वती वयति॒ पेशो॒ अन्त॑रम्।
अ॒स्थि म॒ज्जानं॒ मास॑रैः कारोत॒रेण॒
दध॑तो॒ गवां॒ त्व॒चि॑॥ ८२॥

गवां त्वचि	पृथ्वी के ऊपरी स्तर पर	दधतः	सोमरस को स्थापित किया जाता है,

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ
सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊवध्यं
वातꣳ सव्वं तदारात् ॥ ८४ ॥

पयसा शुक्रं	(तीनों देवता इन्द्र के लिए) वीर्यवर्धक	तत् ऊवध्यं वातं	उस अमाशय में बैठी अपानवायु को
अमृतं	अमृत-रूप		
जनित्रं	प्रजननशील	सव्वं सुरया	और पक्वाशयगत अन्नरस को सुरा-रस से मिलाकर
रेतः जनयन्त	वीर्य को उत्पन्न करते है,		
आरात् अपामतिं	समीप से अज्ञान और	मूत्रात्	शेष को बाहर निकाल देते हैं ॥ ८४ ॥
दुर्मतिं बाधमानाः	दुर्मति को दूर करते है ।		

जो विद्वज्जन करते हैं दुर्जन-संग त्याग।
व्यभिचार आदि से दूर सदा हैं महाभाग[1] ॥
वे शुद्ध शुक्र से करते संतानोत्पादन।
बनते हैं उनके सदा प्रशंसित पुण्य-भरण[2] ॥
वे करते सोमरसादिक का सेवन अति शुचि।
मूत्र के सदृश त्यागते सुरा जो सदा अशुचि ॥ ८४ ॥

टि०—इस मन्त्र के अनुवाद में महर्षि दयानन्द के भाष्य को आधार बनाया गया हैं। उन्होंने लिखा है, "जो मनुष्यों के दुर्गुण और दुष्ट संगों को छोड़कर व्यभिचार से दूर रहते हुए वीर्य को बढ़ाकर संतानों को उत्पन्न करते हैं, वे अपने कुल को प्रशंसित करते हैं।" उव्वट और महीधर के अनुसार आमाशय-गत अन्न अशुचि हो जाता है—'सर्वं पक्वाशयगतमन्नं अशुचिः'। वह सुरारूप प्राप्त करता है और मूत्र बनकर बाहर निकलता है। ८४

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं
पुरोडाशेन सविता जजान ।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने
वायव्यैर्न मिनाति पित्तम् ॥ ८५ ॥

---

१ भाग्यशाली; २ पुण्य का भंडार भरनेवाला।

नासत्याभ्यां	अश्विनीकुमारों के साथ	धीरः रोहितं	धीर जन लोहित (रक्त) को,
सरस्वती	सरस्वती देवी	नग्नहुः परिस्नुता	शुद्ध को ग्रहण करनेवाले इन्द्र के शरीर की शोभा के लिए
मनसा पेशलं	मन से विचार करके अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार	रसम्	रस को
वसु दर्शतं	तुष्ट तथा श्रीमान एवं दर्शनीय	तसरं वेम न	दुःखनाशक बनाकर शरीर को उत्पन्न करते हैं ॥ ८३ ॥
वपुः वयति	शरीर की रचना करती है।		

अश्विनीकुमारों का करके सहयोग प्राप्त,
करती हैं गहन मनन ये वाणी वरदानी[1]।
बुनती हैं तन का पट यह शोभन परम आप्त[2],
जो चरम सुदर्शन[3] सुदृढ़ कलाकृति कल्याणी।
इन्द्र की देह यह, करते इसमें इन्द्र वास,
दुःखनाशक वयन-साधनों[4] से है यह निर्मित।
परमात्म तत्त्व का है इसमें शाश्वत प्रकाश,
लोहित[5], रस आदिक सब इसके चितृतत्त्व गठित।
जानते धीर जन ही इसका रहस्य अनुपम,
निर्विकार यह देह गेह है परमात्मा का ॥ ८३ ॥

टि०—यह परम अद्‌भुत और श्रेष्ठ काव्यकला से मंडित मन्त्र है। इसमें कहा गया है, शरीर के पट का वहन देवी सरस्वती अश्विनीकुमारों के सहयोग से करती हैं। यह इन्द्र का शरीर है; अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा, जिनका एक अभिधान इन्द्र है, इसमें निवास करते हैं। यह शरीर परम दर्शनीय, पुष्ट और अत्यन्त सुन्दर है। इस शरीर में व्याप्त रक्त, रस आदि जिन तत्त्वों का प्रयोग किया गया है, उनमें दुःख-नाशक अचित् तत्त्व ओतप्रोत हैं। अतएव परमात्मा के निवास इस शरीर को निर्विकार बनाये रखना चाहिए, जिससे अन्त में कबीर की तरह कहा जा सके कि 'इस चादर को देवताओं और मुनियों ने ओढ़कर भले ही मैली बनाया हो, पर मानव कबीर ने इसे इतनी सावधानी से ओढ़ा कि इसमें एक दाग नहीं लगा।' "यह चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी, कै मैली कीनी चदरिया। दास कबीर जतन तें ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।" इस मन्त्र में जुलाहे के द्वारा वस्त्र बनाने के रूपक का प्रयोग किया गया है। ८३

१ वरदानी सरस्वती; २ प्रामाणिक; ३ अत्यन्त दर्शनीय; ४ बुनने के उपकरणों; ५ रक्त।

वेगवान मन करे सदा तेरा घृत-सेवन।
करें बृहस्पति यज्ञ-भावना का संवर्धन॥
ज्ञानेश्वर वे यज्ञ-भाव जग में फैलावें।
सबका हो कल्याण, ज्ञान की ज्योति जगावें॥
रहें अहिंसक यज्ञ सदा अच्छिद्र[1] अनुष्ठित।
रहें देवगण यज्ञ-कर्म से नित नव नंदित[2]॥
अग्नि, वायु, जल, सूर्य सभी यजनीय[3] देवगण।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यजनीय सभी जन॥
माता, पिता, अतिथि, गुरु ये सुर सदा हमारे।
तुष्टि, पुष्टि पाते हैं यज्ञों से ये सारे॥
यहीं प्रतिष्ठित हों, आनंदित हों सब सुरगण।
बनें यज्ञ ये विश्व-प्रतिष्ठा-धारण-कारण[4]॥ १३॥

टि०—इस मंत्र के अनुसार अन्न में घृततेज का भाग है। उसके सेवन से मन तेजस्वी बनता है। इस मंत्र में ईश्वर स्वयं मनुष्यों को संबोधित करते हुए कहता है, तुम्हारा मन अच्छे कामों में प्रवृत्त हो और तेजस्वी बने। मनुष्य यज्ञों का अनुष्ठान कर सुखी हों तथा औरों को भी सुखी करें। मनुष्य अधर्म को छोड़कर धर्म के कार्य करें। यज्ञकर्म में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो, सब देवता प्रसन्न हों। देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा में भी इस मंत्र का उपयोग होता है। १३

एषा ते॑ अग्ने स॒मित्तया॒ वर्ध॑स्व॒ चा च॑ प्यायस्व। व॒र्धि॒षी॒महि॑ च व॒यमा च॑ प्यासिषीमहि॑। अग्ने॑ वाज॒जिद्वाजं॑ त्वा ससृ॒वाᳪंसं॑ वाज॒जित॒ᳪं सम्मा॑र्ज्मि॒ ॥ १४॥

अग्ने	हे अग्नि!	अग्ने	हे अग्नि!
एषा	यह	वाजजित् असि	(तू) अन्न को जीतनेवाला है।
ते समित्	तेरे लिए समिधा है,	वाजं ससृवांसं	अन्न को उत्पन्न करनेवाले
तया वर्धस्व	इससे तू बढ़	वाजजितं त्वा	(और) अन्न को जीतनेवाले तेरा
च आप्यायस्व च	और हमको भी संवर्धित कर (जिससे)	संमार्ज्मि	मैं संशोधन करता हूँ॥ १४॥
वयं वर्धिषीमहि	हम लोग बढ़ेंगे		
च	और (अन्य लोगों को)		
आप्यासिषीमहि	बढ़ायेंगे।		

१ जिसमें कोई छिद्र या दोष न हो; २ प्रसन्न; ३ यज्ञ द्वारा प्रसन्न होने योग्य; ४ यज्ञ ही विश्व की प्रतिष्ठा धारण करने या बढ़ाने के हेतु हैं।

सुत्रामा	उत्तम रक्षा करनेवाले
इन्द्रः हृदयेन	इन्द्र ने हृदय से
सविता	और सविता देवता ने
पुरोडाशेन	पुरोड़ाश से
सत्यं जजान	यज्ञ को प्रकट किया।
वरुणः भिषज्यन्	वरुण ने विचार करके चिकित्सा करते हुए
यकृत् क्लोमानम्	यकृत् और गले की नाड़ी को बनाया,
वायव्यैः मतस्ने	वायु-सम्बन्धियों से हृदय के दोनों ओर
न पित्तं मिनाति	अस्थि और पित्त का निर्माण किया ॥ ८५ ॥

उत्तम रक्षा करनेवाले हैं इन्द्र विदित।
प्रकटा है उनके हृदय-देश से यज्ञ प्रथित॥
सविता ने पुरोड़ाश से ऋतु को प्रकटाया।
कर मनन वरुण ने यकृत्[1] क्लोम[2] को निर्माया॥
फिर रचे वायु से गये हृदय के पार्श्व उभय।
निर्मित सब हुईं अस्थियाँ और पित्त का चय॥ ८५ ॥

टि०—इस मन्त्र में शरीर-रचना की प्रक्रिया का संकेत है। इन्द्र ही सबसे उत्तम रक्षक हैं। सृष्टि-रचना-रूपी यज्ञ का प्रवर्तन उन्होंने किया। सविता ने इसमें सहयोग किया। वरुण ने यकृत् और क्लोम की रचना की। वायुतत्वों से हड्डियों की तथा पित्ताशय की रचना हुई। ८५

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना
गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी
नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥

श्येनस्य स्थालीः	बाज पक्षी के समान शरीर में
आन्त्राणि	आँते काम करती है,
पात्राणि मधु	वे मधुसमूह को
पिन्वमानाः गुदाः	सर्वत्र पहुँचाने वाली गुदा के पास स्थूल नाड़ियाँ है।
सुदुघा	दुधारू

1 जिगर; 2 गले की नाड़ी।

धेनुः न	गाय के समान पृथ्वी है,	नाभिः आसन्दी	शरीर में नाभि राजा के बैठने की गद्दी के समान है।
प्लीहा न	प्लीहा के समान	न उदरं माता	उदर माता के समान है,
[श्येनस्य] पत्रम्	(बाज के) पंखों के सदृश शत्रु पर झपटनेवाले वीर पुरुष की तलवार है।	शचीभिः	अपनी शक्तियों से वही शरीर रूपी राज्य का संचालन करता है ॥ ८६ ॥

श्येन-सदृश करती हैं आँतें कार्य मनुज के तन में।
निकट गुदा के स्थूल नाड़ियाँ गतिशीला प्रति क्षण में ॥
मधु को अंग-अंग में करती है सर्वत्र वहन वे,
दुग्धवती[1] गो-सी है तन की धरती यह सुपुनीता।
प्लीहा है विकार की नाशक श्येन-सदृश गति-आक्रामक,
जैसे किसी वीर की असि हो जिसने शत्रुसंघ हो जीता ॥
नाभि-देश की आसंदी[2] ही है उत्तम राजासन शोभन।
जैसे सदा राज्यपरिषद् है करती सत्यासत्य-विवेचन ॥
उदर-रूप माता करती वैसे रस-अपरस[3] ग्रहण-विसर्जन,
माता-सदृश उदर ही करता अपनी सब शक्तियाँ संकलित ॥
सब देहस्थ क्रियाएँ उसके द्वारा ही संचालित सम्यक्,
उसके द्वारा ही होती हैं सकल स्वास्थ्य की स्थितियाँ चालित ॥ ८६ ॥

टि०—इस मन्त्र में शरीरतन्त्र का वर्णन राज्य के रूपक के रूप में किया गया है। नाभि राजा का सिंहासन है, उदर माता है, प्लीहा रोग-रूपी शत्रुओं का नाश करनेवाली तलवार है। स्वस्थता का आधार उदर की स्वस्थता है, यह इस मन्त्र में बताया गया है। ८६

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे
योन्यां गर्भो अन्तः।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधार उत्सो दुहे न
कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥ ८७ ॥

---

१ दूध देनेवाली; २ सिंहासन; ३ विकृत रस।

कुम्भः वनिष्ठुः	जो कलश के सदृश	कुम्भी दुहे	कुम्भी के समान
शचीभिः	वीर्य-शौर्य आदि से पूर्ण,		उत्तम गुणों से पूर्ण नारी है,
जनिता प्लाशिः	सन्तानोत्पादक, उत्तम पदार्थों का संग्रहीता एवं भोक्ता,	पितृभ्यः स्वधाम्	उन दोनों के लिए उचित है (अपने पिता आदि को अन्न देवें),
शतधारः	सैकड़ों शक्तियों से युक्त,	यस्मिन् अग्ने	जिससे प्रथम
उत्सः न	कूप के समान, गम्भीर पुरुष है (और)	योन्यां अन्तः	गर्भाशय के बीच
		गर्भः व्यक्तः	धारण किया गया गर्भ सुरक्षित रहे ॥ ८७ ॥

जो कलश[1]-सदृश है वीर्य-शौर्य से पूरित।
भोक्ता, सन्तानोत्पादक, संग्रहकर्ता नित ॥
कूप के सदृश गम्भीर पुरुष, वैसी ही उत्तम नारी।
मिल करें पिता की सेवा मंगलकारी ॥
माता-पितादि गुरुजन को दे वे अन्न विपुल।
जीवन-भर उनकी सेवा करते रहें अतुल[2] ॥
उनके प्रसाद से नारी गर्भ करे धारण।
हो सावधान नर उसका करे सतत रक्षण ॥ ८७ ॥

टि०—इस मन्त्र में दाम्पत्य-कर्तव्य का निर्देश है। पति-पत्नी सब सद्गुणों के आश्रय बनें। वे माता-पिता आदि की सेवा करें। पत्नी प्रथम गर्भ धारण करे, तो सावधानी से उस गर्भ की रक्षा की जाय। ८७

मुखꣳ सदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा
पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न
शेपो हरसा तरस्वी ॥ ८८ ॥

अस्य मुखं	इसका मुख	आसन् जिह्वा	मुख में जिह्वा
शिरः इत् सत्	और सिर सत् है,		रहती है,

१ घड़ा;　२ जिसकी तुलना न हो सके।

सतेन पवित्रं	सत् से पवित्रता होती है।
अश्विना	अश्विनीकुमार
सरस्वती	और सरस्वती पवित्रता करते हैं।
पायुः न	पायु रक्षक के समान है,
चप्यं वालः	और वाल दोषों को दूरकर शरीर को शान्ति प्रदान करते हैं,
अस्य भिषग्	वे शरीर-वैद्य के समान है।
वस्ति शेपः	(शरीर) वस्ति और शेप में प्रवाहित
न हरसा तरस्वी	करता है और भोगाभिलाषी होता है ॥ ८८ ॥

इस तन के मुख-शिर से मिलता है सत्य ज्ञान।
मुख में जिह्वा है करती पवित्रता का विधान॥
अश्विनीकुमार उभय सरस्वती-सहित सतत।
करते है जीवन-मन में पावित्र्य-वृद्धि अविरत॥
वायु से विसर्जन होता, उससे मिलती तन को शान्ति परम।
कर वालरोग सब निष्कासित करते स्वस्थता प्रदान चरम॥
है वस्ति[1] शेप[2] दोनों का करता प्रयोग यह मानव-तन।
एक से विसर्जन होता है करता दूसरा काम-वर्द्धन॥ ८८॥

टि०—मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों के उपयोग का निर्देश इस मन्त्र में है। मुख और शिर दोनों सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं। शिर मे मेधा है जो परमज्ञान की साधना का हेतु है। उसमें आज्ञा और सहस्त्रारादि चक्र हैं। मुख से और जिह्वा से जपादि अनेक पवित्रताविधायक कर्मो का संपादन होता है। इसी प्रकार अन्य अंगों के भी निर्दिष्ट कर्म है। ८८

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां
छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो
न शुक्रमसितं वसाते ॥ ८९ ॥

---

१ मूत्राशय; २ जननेन्द्रिय।

अश्विभ्यां	दोनों अश्विनी-कुमारों के द्वारा	गोधूमैः पक्ष्माणि	गोधूमों से नीचे की पलकें
ग्रहाभ्यां	इन्द्र राजा का	कुवलैः उतानि	और बेरों से ऊपर की पलकें बनी हैं,
अमृतं चक्षुः	अविनाशी चक्षु बनाया गया।	शुक्रं न असितं	जो श्वेत और कृष्ण रूप को
छागेन शृतेन हविषा तेजः	बकरी के हुए दूध के हवि द्वारा उसका तेज निर्मित है।	पेशः वसाते	दिखाया करती है ॥ ८९ ॥

अश्विनीकुमारों ने विरचा है नेत्र इन्द्र का अविनश्वर।
दुग्ध में अजा[1] के पके हव्य से बना नेत्र का तेज प्रखर ॥
गोधूमों[2] से हैं बने नेत्र के निम्न भाग के पक्ष सुघर।
है कुवल बदर से बनीं दृगों की बरौनियाँ ऊपरी सुघर ॥
ये नेत्र सितासित का दर्शन करवाते रहते हैं क्षण-क्षण।
इनके द्वारा ही बनता है ज्योतिर्वाहक मानव-जीवन ॥ ८९ ॥

टि०—अश्विनीकुमारों ने इन्द्र के नेत्र की रचना की है। सब नेत्र उसी परब्रह्म परमेश्वर इन्द्र के नेत्र है। बकरी के दूध का हवि प्रदान करने से आँख का तेज बढ़ता है। इसी प्रकार इस मन्त्र में नेत्र के निर्माता अन्य उपादानों का उल्लेख है। नेत्र ही श्याम और शुक्ल नाम-रूपात्मक जगत का दर्शन करवाते हैं। ८९

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥ ९० ॥

अविः न मेषः	भेड़ के समान मेढा है।	सरस्वती	सरस्वती देवी ने
नसि वीर्याय	उसी प्रकार नासिका में बल के लिए	उपवाकैः	उपवाको से
ग्रहाभ्यां प्राणस्य	ग्रहों में प्राण-वायु का	व्यानं जजान	व्यानवायु को प्रकट किया,
पन्थाः अमृतः	अविनाशी मार्ग बनाया है।	बदरैः	तब बदरों के समान
		बर्हिः नस्यानि	नासिका के लोम हुए ॥ ९० ॥

---

१ बकरी; २ गेहूँ।

नासिका-रंध्र-द्वय प्राणवायु के मार्ग अमर।
बल-प्राप्ति हेतु है रचना इनकी हुई सुघर॥
ये प्राणवायु के आगम-निर्गम के साधक।
जीवन की रक्षा के हैं ये ही आराधक॥
देवी सरस्वती ने उपवाकों[1] के द्वारा।
है व्यानवायु का प्रकट किया प्रसरण[2] सारा॥
बदरों के सदृश नासिका-लोम हुए विकसित।
योगी की प्राणशक्ति इस भाँति हुई ऊर्जित॥ ९०॥

टि०—इस मन्त्र में नासिका की रचना का तत्त्व बताया गया है। प्राणवायु का नियमन ही योगियों को सिद्धि प्रदान करता है। ९०

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳪं
श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम्।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु
जज्ञे मधु सारघं मुखात्॥ ९१॥

बलाय	सामर्थ्य के लिए	भ्रुवि केसराणि	भौहों के वालों को बनाया
इन्द्रस्य रूपं	इन्द्र का रूप	मुखात् कर्कन्धु	मुख से बेर के समान
ऋषभः	ऋषभ के समान हुआ,	सारघं मधु जज्ञे	मधुमक्खी के आकर्षक मधु के के समान श्लेष्मा आदि प्रकट हुए॥ ९१॥
कर्णाभ्यां ग्रहाभ्यां	श्रोत्र-सम्बन्धी ग्रहों द्वारा		
श्रोत्रम् अमृतं	श्रोत्र की इन्द्रियाँ हुई,		
यवाः न बर्हिः	जौ और कुश ने		

इन्द्र ने ऋषभ का ग्रहण किया दुर्द्धर्ष रूप।
बल-प्राप्ति स्वीकृत की युक्ति परम अनूप॥
श्रोत्र[3] के ग्रहों से निर्मित हुई श्रोत्र-इन्द्रिय।
कानों के बने केश, यव कुश हुए सक्रिय॥
मुख से बेर के तुल्य हुई सरधा[4] निष्कृत[5]।
जिससे मधु-सदृश लार-श्लेष्मादि हुए प्रकटित॥ ९१॥

---

१ यव के अंकुर; २ संचार; ३ कान; ४ बड़ी मधुमक्खी; ५ निकली।

टि०—इस मन्त्र में कर्णेन्द्रिय और मुख के लार, श्लेष्मा आदि के निर्माण की प्रक्रिया वर्णित है। ९१

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम
मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।
केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिꣳहस्य
लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥ ९२ ॥

आत्मन् उपस्थे	अपने शरीर में उपस्थ आदि के लोम	न शीर्षन्	और सिर में
न लोम वृकस्य	भेड़िये के लोम के समान हैं,	यशसे केशाः	यश के लिए बाल हैं,
न मुखे	और मुख में	श्रियैः शिखा	शोभा के निमित्त
श्मश्रूणि	दाढ़ी-मूँछ के बाल	त्विषिः	शिखा है, (और)
व्याघ्रलोम	व्याघ्र के लोम के समान है,	इन्द्रियाणि	इन्द्रियाँ
		सिंहस्य लोम	सिंह के लोम हैं ॥ ९२ ॥

मानवो ! आत्मा के समीप जो संस्थित।
परमात्म-तत्त्व में अवगाहन[1] करते नित ॥
उनके मुखमण्डल वृक-से या व्याघ्रों-से।
लोमों से, हो जाते यथाकाल श्मश्रुविमंडित[2] ॥
शिर पर उनके सिंह के सटामंडल-सी।
हो उठती सुन्दर शिखा[3] कान्ति से दीपित ॥
श्रोत्रादि[4] इन्द्रियाँ होतीं उनकी पावन।
श्री यश[5] वे करते रहते अविरत अर्जित ॥ ९२ ॥

टि०—इस मन्त्र में मनुष्यों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य आत्मा के स्वरूप को समझकर उसमें स्थित होकर परमात्म-तत्त्व का अवगाहन करते हैं, उनके मुखमंडल यथासमय दाढ़ी-मूँछ से शोभित हो उठते है। शिर पर सिंह के केसरों जैसी शिखा दीप्तिमान हो उठती है। उनकी कान, आंख आदि सब इन्द्रियाँ नितान्त पवित्र हो जाती है। उनकी कीर्ति और लक्ष्मी निरंतर बढ़ती रहती है। इस प्रकार इस मन्त्र में परमात्म-तत्त्व के साधक के व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है। ९२

१ डुबकी लगाना, निष्णात होना; २ दाढ़ी-मूँछ से शोभित; ३ चोटी; ४ कान आदि; ५ लक्ष्मी और कीर्ति।

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः
समधात् सरस्वती ।
इन्द्रस्य रूपꣳ शतमानमायुश्चन्द्रेण
ज्योतिरमृतं दधानाः ॥ ९३ ॥

इन्द्रस्य रूपं	इन्द्र के रूप को	आत्मन् अङ्गानि	आत्मा के साथ शरीर के अंगों का योग किया ।
शतमानं आयुः	और सौ वर्ष की अवधि वाली आयु को	सरस्वती	सरस्वती ने
चन्द्रेण ज्योतिः	चन्द्र की ज्योति को	तत् आत्मानं	उस आत्मा के
अमृतं दधानाः	अविनाशी वनाते हुए	अङ्गैः समधात्	अङ्गों के साथ शरीर का निर्माण किया ॥ ९३ ॥
भिषजा अश्विना	दोनों वैद्य अश्विनीकुमारों ने		

अश्विनीकुमार युगल हैं विश्रुत वैद्य कुशल ।
आत्मा में अंगों का संयोजन[1] किया सफल ॥
इन्द्र के रूप में शतायुष[2] का किया योग ।
कर चन्द्र-ज्योति का योग किया अमरण प्रयोग ॥
आत्मा के अंगों-सहित हुआ निर्मित यह तन ।
यह है सरस्वती देवी की रचना शोभन ॥
करके योगों के अंगों[3] का साधन नित नव ।
सब प्रेय-श्रेय उपलब्ध रहो करते मानव ! ॥ ९३ ॥

टि०—यह मानव-शरीर किस कुशलता से निर्मित हुआ है, इसका निर्देश इस मन्त्र में है । इस मानव-शरीर में आत्म और अनात्म तत्त्व का कुशल समन्वय है । मनुष्य योग-साधना द्वारा सब प्रेय और श्रेय प्राप्त करे, यही मानव-जीवन की सफलता का मानदण्ड है । मनुष्य को योग के अंगों का अनुष्ठान कर अविद्या से मुक्त होना चाहिए । सुखप्राप्ति का यही मार्ग है । ९३

सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति ।
अपाꣳ रसेन वरुणो न साम्नेन्द्रꣳ
श्रियै जनयन्नप्सु राजा ॥ ९४ ॥

---

१ योग; २ सौ वर्ष की आयु; ३ आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि योग के आठ अंग ।

सरस्वती	सरस्वती, विदुषी	अन्तः बिभर्ति	अच्छी तरह आन्तरिक भरण-पोषण हो सके।
अश्विभ्यां	दोनों अश्विनी-कुमारों को	न अप्सु	और जलों का
पत्नी गर्भम्	पत्नियों के गर्भ में स्थापित करके शिशुओं-सा	राजा वरुणः	अधिष्ठाता देवता वरुण
सुकृतं योन्यां	सम्यक् प्रकार से योनि में धारण करती है, जिससे उनका	अपां रसेन	जल के सारभूत रस के द्वारा
		साम्ना श्रियै	साम के प्रभाव से श्री के लिए
		इन्द्रं जनयन्	इन्द्र का निर्माण करता है ॥ ६४ ॥

हे मानव ! प्राप्त तुम्हें यह योगैश्वर्य अमित[1]।
साधना करो योगाङ्गों की जय-श्री हित नित ॥
जैसे करती है विदुषी सती गर्भ-धारण।
फिर करती है उसका संवर्धन, संरक्षण ॥
जैसे करता है राजा सदा प्रजापालन।
कर साम-दाम से राष्ट्रवृद्धि प्रति पल प्रति क्षण ॥
वैसे ही विद्वज्जन कर योगाङ्गों का साधन।
सिद्धियाँ प्राप्त कर करें सफल मानव-जीवन ॥ ६४ ॥

टि०—इस मन्त्र में मनुष्य को यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य योग के विविध अंगों का साधन कर मनुष्य-जीवन को सफल बनावे। इसके लिए दो उपमानों का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार विदुषी सती अपने गर्भ का संरक्षण-संवर्धन करती है और जिस प्रकार राजा साम-दान आदि से प्रजा का पालन करता है, वैसे ही योगी आत्मतत्त्व को विकसित करे। ६४

तेजः॑ पशूनाᳬ हविरि॑न्द्रियाव॑त्
परि॒स्रुता॒ पय॑सा सार॒घं मधु॑ ।
अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भि॒षजा॒ सर॑स्वत्या
सु॒ता॒सु॒ताभ्या॑म॒मृतः॒ सोम॒ इन्दुः॑[1] ॥ ९५ ॥

[अध्यायः १९, कण्डिकाः ९५, मन्त्र-संख्या १२०]

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः ॥

---

१ योग की अप्रमेय विभूति।

भिषजा	चिकित्सा करनेवाले	हविः परिस्रुता	सब ओर से प्राप्त होनेवाले
अश्विभ्यां	दोनों आश्विनीकुमारों	पयसा	दूध के साथ उस मधु को मिलाकर
सरस्वत्या	और सरस्वती ने		
इन्द्रियावत्	वीर्यवान शक्ति-सम्पन्न	तेजः दुग्धम्	तेज को दुहा
		सुता सुताभ्याम्	और उस परिस्रुत दूध से
पशूनाम्	पशु-सम्बन्धी दूध, घी	अमृतः	अमृत-रूप
सारघम् मधु	और बड़ी मधुमक्खी का शहद लेकर	इन्दुः सोमः	ऐश्वर्यदायक सोम (इन्द्र के लिए) तैयार किया ॥९५॥

है भिषग्रत्न अश्विनीकुमार उभय विश्रुत।
मानवो ! सेव्य है उनकी विद्या सुर-संस्तुत[1] ॥
सहयोग प्राप्त करते सरस्वती का वे नित।
फिर पय,घृत, मधु को करते मिश्रित नवनिर्मित ॥
प्रक्रिया सोमरस-रचना की कर सहज सिद्ध।
अर्पित करते इन्द्र को पेय वह अति समृद्ध ॥
तेजोमय पेय परम वह है प्रज्ञावर्द्धक[2]।
वह दुराचरणहर[3] सदाचार का संवर्द्धक ॥ ९५ ॥

टि०—महान चिकित्सक दोनों अश्विनीकुमारों और सरस्वती देवी के सहयोग से घृत, दुग्ध, मधु आदि का सर्वोत्तम अंश निकालकर सोमरस में मिलाकर उत्तम पेय तैयार किया जाता है। यह इन्द्र को प्रिय है। इसके सेवन से सात्त्विक बुद्धि की वृद्धि होती है। सात्विक बुद्धि की वृद्धि से दुराचार नष्ट होता है और समाज मे सदाचार का प्रकाश फैलता है। ९५

॥ एकोनविंश अध्याय समाप्त ॥

---

१ देवताओ के द्वारा वंदित; २ सात्त्विक बुद्धि को बढ़ानेवाला; ३ भ्रष्टाचार को नष्ट करनेवाला।

अग्ने ! अर्पित करता हूँ समिधा तुमको।
इसके द्वारा तुम बढ़ो, बढ़ाओ हमको॥
यज्ञों से ही होती है वृद्धि हमारी।
हम सदा बढ़ेंगे पाकर शक्ति तुम्हारी॥
औरों को लेकर साथ बढ़ेंगे आगे।
संकल्प हमारे मन में ये दृढ़ जागे॥
वाजजित् अग्नि ! तुम हो अन्नों के जेता।
अन्नोत्पादक ऊर्जा के तुम हो नेता[1]॥
समिधाओं से जैसे समिद्ध[2] होते तुम।
यज्ञों से वैसे ही समृद्ध होते हम॥
हम आत्मशुद्धि से जीवन पूर्ण बनायें।
सब ओज, तेज हम अग्नि ! तुम्हारा पायें॥ १४॥

टि०—इस मंत्र में श्लेषालंकार है। एक-एक अर्थ के लिए दो-दो क्रियापदों का प्रयोग आदर के लिए किया गया है। जिस प्रकार अग्नि समिधा डालने से प्रज्वलित हो उठता है, इसी प्रकार यज्ञ से हमारी शक्ति बढ़ती है। अग्नि में यज्ञ करने से अन्नोत्पादन होता है, यह पहले कहा जा चुका है। इसीलिए अग्नि को वाजजित् कहा गया है। इस मंत्र में आत्मशोधन पर बहुत बल दिया गया है। शुद्धि से ही सिद्धि मिलती है, जीवन पूर्ण बनता है। १४

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि[1]। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि[2]। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि[3]। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि[4]॥ १५॥

अग्निषोमयोः	अग्नि और सोम ने	वाजस्य प्रसवेन	अन्न की प्रेरणा द्वारा
उज्जितिं	जैसी विजय प्राप्त की,	मा प्रोहामि	मैं अपने आपको प्रेरणा देता हूँ।
अनु उज्जेषं	उसी प्रकार की जीत मेरी भी हो।	यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करता है

१ 'नी' धातु से बना होने के कारण आगे से 'ले जानेवाले' के अर्थ में प्रयुक्त है,
२ प्रज्वलित।

धृतव्रतः	सत्य-पालन आदि व्रतों को धारण करनेवाले,	आ नि षसाद	प्रजा के मध्य में विराजमान होवें।
सुक्रतुः	उत्तम बुद्धि और कर्म से युक्त यज्ञ करनेवाले	साम्राज्याय	तुम प्रजा की
वरुणः पस्त्यासु	सर्वश्रेष्ठ पुरुष प्रजा के मध्य न्याय-ग्रहों में,	मृत्योः पाहि	मृत्यु के कारणों से रक्षा करो,
		विद्योत् पाहि	विजली आदि गिरने से रक्षा करो ॥ २ ॥

जो हैं धृतव्रत[1], करते हैं सदा सत्यपालन।
जिनके क्रतुमय[2] सब कर्म पूतजीवन प्रति क्षण ॥
उत्तम प्रज्ञासम्पन्न विवेक सदा जागृत।
वरणीय राजपद हेतु पुरुष ऐसे सुकृत ॥
वे ही प्रतिनिधि वन प्रजामध्य होते शोभित।
उनके ही द्वारा प्रजा सतत रहती रक्षित ॥
वे मृत्युभीति[3] से मुक्त प्रजाजन को करते।
उत्पातजन्य सब त्रास प्रजा का हैं हरते ॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में उन लोगों की योग्यता का निर्देश किया गया है, जो प्रजा के शासक वनाये या चुने जा सकते है। वे सदा अनेक प्रकार के श्रेष्ठ व्रतों का पालन करनेवाले होने चाहिए। सत्य में उनकी अनन्य निष्ठा होनी चाहिए। उनके कर्म यज्ञमय होने चाहिए और उनके जीवन का प्रत्येक क्षण पवित्र होना चाहिए। ऐसे शासक या जनप्रतिनिधि ही प्रजा को मृत्युभीति से मुक्त कर उसकी रक्षा में समर्थ होते हैं। इस मंत्र में राज्य के तीन अंग वताये गये हैं। पहला राजा या शासक, दूसरा अधिकारी वर्ग और तीसरा प्रजा वर्ग। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए तीनों का सहयोग अनिवार्य है। २

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
अ॒श्विनो॒र्भैष॑ज्येन॒ तेज॑से ब्रह्मवर्च॒साया॒भि षि॑ञ्चा॒मि[1]
सर॑स्वत्यै॒ भैष॑ज्येन वी॒र्या॒यान्ना॒द्याया॒भि षि॑ञ्चा॒मी[2]—
न्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॒ बला॑य श्रि॒यै यश॑से॒ऽभि षि॑ञ्चामि[3] ॥ ३ ॥

---

१ सत्य आदि पवित्र व्रतों को धारण करनेवाले; २ यज्ञमय; ३ मृत्यु का भय।

अथ विंशोऽध्यायः

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि[1] ।
मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः[2] ॥ १ ॥

क्षत्रस्य	तुम क्षात्रबल का	त्वा मा हिंसीत्	तुम्हें ये प्रजाजन न मारें (तुम्हारी राजशक्ति का विनाश न करें)।
योनिः असि	आश्रय हो,	मा मा हिंसीः	तुम भी हम प्रजाजनो को मत मारो ॥ १ ॥
क्षत्रस्य	क्षात्रबल का		
नाभिः असि	केन्द्रस्थान हो।		

विंश अध्याय

हे राजन् ! तुम हो क्षात्रशक्ति के आश्रयस्थल[1] ।
वह नाभि तुम्हीं जिसमें केन्द्रित क्षात्रबल सकल ॥
तुम मुख्य केन्द्र हो क्षात्रशक्ति के, हे राजन् ! ।
तुम बनो कभी न प्रजाजन के हिंसाभाजन ॥
हम राष्ट्रनिवासी प्रजा तुम्हारी अनुशासित ।
हम राजशक्ति के द्वारा हों न कभी पीड़ित ॥
राजा, अधिकारी और प्रजा हो धर्मनिरत ।
वे हों न परस्पर वैमनस्यहत[2] हिंसारत ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में राजा को क्षात्रशक्ति का आश्रयस्थान कहा गया है। वह क्षात्रशक्ति का मुख्य केन्द्र है। राजा, अधिकारी और प्रजाजनो के सहयोग से ही राष्ट्र की उन्नति होती है। १

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः[1] ।
मृत्योः पाहि[2] विद्योत्पाहि[3] ॥२॥

---

१ अवलम्ब; २ पारस्परिक द्वेष के कारण विनष्ट ।

अभिषेक तुम्हारा करते हैं हम सब गजेन्द्र।
इन्द्र की अपरिमित शक्ति मिले तुमको राजन्! ॥ ३ ॥

टि०—यह राजा के अभिषेक का मंत्र है। अभिषेक के समय प्रजा राजा को अपने अधिकार समर्पित करती है। अधिकारों के समर्पण की शर्त यह है कि प्रजा राजा के राष्ट्र में कल्याणराज्य की स्थापना करे। वह अश्विनीकुमारों की बाँहों अर्थात् भैषज्य-कर्म के द्वारा प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा का परिपूर्ण विधान करे। अन्नोत्पादन की ऐसी योजनाएँ बनें, जिससे किसी भोज्य वस्तुओं के अभाव का अनुभव न हो। राजा का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है शिक्षा। वह प्रजाओं को वेदज्ञान में दीक्षित कर उनके ब्रह्मवर्चस् की वृद्धि करें। ३

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ४ ॥

सुश्लोक	हे उत्तम कीर्ति वाले !	कस्मै त्वा	प्रजापति पद के लिए तुम्हे (मैं) अधिकारी घोषित करता हूँ तथा
सुमङ्गल	हे उत्तम मांगलिक कार्य करनेवाले !		
सत्यराजन्	हे सत्य और न्याय के प्रकाशक राजा !	काय त्वा	ब्रह्म या वेदज्ञान की वृद्धि के लिए तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ४ ॥
कः असि	तुम सुखस्वरूप हो,		
कतमः असि	अति सुखकारी हो।		

हे पुण्यश्लोक[1] ! अभिषेक तुम्हारा करते हम।
हे मंगलकृत[2] अभिषेक तुम्हारा करते हम ॥
तुम सत्य-न्याय के बनो प्रकाशक हे राजन्!।
तुम सुखस्वरूप बन रहो प्रकाशित हे राजन्! ॥
अभिषेक तुम्हारा हो यह अतिशय सुखकारी।
अभिषेक प्रजापति-पद पर हो मंगलकारी ॥
अभिषेक-सिद्धि है वेदज्ञान की सतत वृद्धि।
हो ब्रह्मज्ञान को प्राप्त प्रजाओं की समृद्धि ॥ ४ ॥

टि०—यह भी राज्याभिषेक का मंत्र है। इसमें शासक-पद पर वृणीत अथवा निर्वाचित राजपुरुष के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। ऐसा राजा निरन्तर

१ पवित्र कीर्ति वाला; २ मंगलकारी कर्म करनेवाला।

सवितुः देवस्य	सवितादेव की
प्रसवे	प्रसन्नता में रहते हुए
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों की
बाहुभ्याम्	बाहुओं से
पूष्णः हस्ताभ्याम्	पूषा देवता के हाथों से
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों के
भैषज्येन तेजसे	चिकित्सा करने से तेज प्राप्त करने के लिए,
ब्रह्मवर्चसाय	ब्रह्मवर्चस् की वृद्धि के लिए
त्वा	तुम्हारा (मै)
अभि षिञ्चामि	अभिषेक करता हूँ।
सरस्वत्यै	सरस्वती द्वारा सम्पादित
भैषज्येन वीर्याय	ओषधि के द्वारा बल के लिए,
अन्नाद्याय	अन्न की प्राप्ति के लिए (मैं)
अभि षिञ्चामि	तुम्हारा अभिषेक करता हूँ।
इन्द्रस्य ऐन्द्रियेण	इन्द्र की शक्ति की वृद्धि के लिए,
बलाय श्रियै	बल और श्री की वृद्धि के लिए
यशसे	और यश की प्राप्ति के लिए (मैं)
अभि षिञ्चामि	तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ३ ॥

अभिषेक तुम्हारा करते हैं हम सब राजन्!।
इन्द्र की शक्ति-सामर्थ्य बढ़े तुममें राजन्! ॥
सविता देवता प्रसन्न रहें तुम पर सदैव।
ऐश्वर्य अनन्त प्रदान करे वे देवदेव! ॥
अश्विनीकुमारों की बाँहों से रक्षित नित।
उत्साह और पुरुषार्थ तुम्हारा बढ़े अमित ॥
वे भिषक्-कर्म[1] से करें तुम्हारी तेज-वृद्धि।
परमात्मज्ञान जीवन में पावे परम सिद्धि ॥
हो वेदज्ञान-निष्णात तुम्हारी प्रजा सकल।
हो प्राप्ति ब्रह्मवर्चस् की उन सबको प्रति पल ॥
अभिषेक तुम्हारा करते हैं हम इसी हेतु।
फहराओ जग में वेदज्ञान का यशःकेतु ॥
दें सरस्वती तुमको उत्तम प्रेरणा सतत।
कल्याणराज्य के हेतु रहो कृतश्रम अविरत ॥
ओषधियों के बल से आरोग्य-विधान करो।
अन्नोत्पादन की वृद्धि हेतु अभियान[2] करो ॥

---

१ चिकित्सा-सम्बन्धी कार्य;　२ सामूहिक प्रयत्न।

टि०—राज्य में अभिषिक्त राजा अथवा निर्वाचित मंत्री आदि को अपने सब अंगों को राज्यशासन का विभाग मानना चाहिए। उन्हें प्रजा के हित में नियुक्त करना चाहिए। प्रजा का ऐश्वर्य ही राजा का शिर है। मेरे संपूर्ण प्रजाजन सत्कर्म करते हैं, यह कह सकने का अवसर राजा को मिले, यही उसका मुख है। राजा का समत्वपूर्ण निष्पक्ष न्याय-विधान ही उसके दाढ़ी-मूंछ और केश हैं। राजपद उसका सर्वसाक्षी नेत्र है। राजसभा उसके कान हैं, जहाँ सब राजकीय कार्य-व्यापार सावधानी से सुने जाते हैं। यह महान उद्‌घोष इस मंत्र में प्रजा को संबोधित करते हुए राजा के द्वारा किया गया है। राजा कहता है, मेरे प्राण राष्ट्र में अमृतत्व का संचार करने के लिए समर्पित हैं। ५

जि॒ह्वा मे॑ भ॒द्रं वाङ्महो॒ मनो॑ म॒न्युः स्व॒राड् भामः॑।
मोदाः॑ प्रमो॒दा अ॒ङ्गुली॒रङ्गा॑नि मि॒त्रं मे॒ सहः॑ ॥ ६ ॥

मे जिह्वा भद्रम्	मेरी जीभ कल्याणकारी भाषण करे,	भामः स्वराट्	(मेरा) क्रोध मुझे स्वराज्य चलाने की सामर्थ्य दे,
वाक् महः	मेरी वाणी जनता को महत्त्व के कार्यों का निर्देश करे।	अङ्गुलीः मोदाः	अँगुलियाँ आनन्द बढ़ानेवाली हों,
मनः मन्युः	(मेरा) मन दुराचारी मनुष्यों पर क्रोध करनेवाला हो,	अङ्गानि प्रमोदाः	मेरे सब अङ्ग मुझमें आनन्द की वृद्धि करें,
		मे मित्रं सहः	और मेरे मित्रों में शत्रु-नाश करने की सामर्थ्य हो ॥ ६ ॥

मेरी जिह्वा कल्याणरूप भाषण करने में रहे निरत।
मेरी वाणी से महत्कार्य की पावें जन प्रेरणा सतत ॥
मन में पापी के दुर्जन के प्रति रहे क्रोध उद्‌गीरित[१] नित।
हो रोष सदा मेरा स्वराज्य-संचालन क्षमता से ऊर्जित ॥
मेरी उँगलियाँ कार्यरत रह सर्वदा करें आनन्द-सृष्टि।
कर्तव्यनिरत प्रति अंग करे अविरत आनन्द-प्रमोद-वृष्टि ॥
शत्रु को पराजित करने की हो शक्ति सदा मुझमें जागृत।
यह शत्रुनाशिनी शक्ति रहे मित्र-सी सहायक मेरे हित ॥ ६ ॥

---

१ बाहर प्रकट किया हुआ।

उत्तम कीर्ति वाला और मंगलमय कर्म करनेवाला हो। वह सत्य और न्याय का प्रकाश फैलावे। प्रजा सुखी हो और उसको सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने के साधन सुलभ किये जायँ। राजा अपने अभिषेक की चरितार्थता तभी माने जब प्रत्येक व्यक्ति को वेदज्ञान अर्थात् उच्चतम ज्ञान सुलभ हो सके। प्रजा की समृद्धि का मानदंड है, उसका ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त करना। ४

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ ५॥

मे श्रीः शिरः — (हे प्रजाजनो!) मेरी शोभा अथवा धन-ऐश्वर्य शिरस्थानीय है,
यशः मुखं — यश मुख के समान है;
त्विषिः — न्याय के प्रकाश के समान
केशाः च श्मश्रूणि — मेरे वाल और दाढ़ी-मूँछ हैं;
मे प्राणः — मेरा प्राण
राजा अमृतं — राष्ट्र के जीवन के दीप्तिमान अमृत के समान हैं;
सम्राट् चक्षुः — सम्राट् का पद आँख के समान साक्षी-रूप है;
विराट् श्रोत्रम् — विद्वानों की विशाल सभा कान के समान है॥५॥

अभिषिक्त प्रजापति-पद पर है हम हुए आज।
हे प्रजाजनो! तुम सजो सदा सुख के समाज॥
ऐश्वर्य तुम्हारा ही है मेरा शिरःस्थान।
मुख सदा तुम्हारे सत्कर्मों का करे गान॥
न्याय का विधान-दान ही मेरे श्मश्रु-केश[1]।
हैं प्राण राष्ट्र के अमृतरूप मेरे विशेष॥
सम्राट् महापद मेरा है यह नेत्र-रूप।
साक्षी जन-जन के जीवन का है यह अनूप॥
विद्वज्जनसेवित संसद[2] ही है श्रवण-सिद्ध।
श्रुतिगत होते व्यवहार राज्य के सब समृद्ध॥
मूर्द्धाभिषिक्त राजा के जितने अंग प्रथित।
वे राजकीय शासन के हैं विभाग सुविदित॥ ५॥

१ दाढ़ी, मूँछ और बाल; २ राजसभा (पार्लमेंट) आदि।

मे पृष्ठीः राष्ट्रम्	मेरा पृष्ठप्रदेश सबको धारण करनेवाले राष्ट्र के समान हो;	अरत्नी	भुजाओं का मध्य प्रदेश,
उदरम् अंसौ	पेट और दोनों कंधे,	श्रोणी जानुनी	कटि और दोनों जाँघें
ग्रीवा ऊरू	गर्दन और दोनों ऊरु,	च सर्वतः	और सब
		अङ्गानि	अंग
		मे विशः	मेरी प्रजावत् पोषणीय हैं ॥८॥

है पृष्ठदेश मेरा धारक राष्ट्र-सा सुदृढ़।
मेरे सब अंग प्रजा के हित हैं रक्षक गढ़॥
यह उदर, स्कन्ध, ग्रीवा, ऊरुद्वय, जानुदेश।
ये उभय अरत्नी और सिंह-सा कटि-प्रदेश॥
हैं प्रजा-सदृश प्रत्यंग-अंग ये सब मदीय[1]।
राष्ट्र के अभ्युदय के हित हैं नित पोषणीय॥
जिस भाँति राष्ट्र की रक्षा अपना परम धर्म।
उस भाँति देह का संपोषण कर्तव्य कर्म॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में मूर्धाभिषिक्त राजा कहता है कि मेरे शरीर के सब अंग मेरे राष्ट्र की प्रजा के समान हैं। मेरा पृष्ठ-प्रदेश सबको धारण करनेवाले राष्ट्र के सदृश है। जैसे प्रजा रक्षणीय है, उसी प्रकार प्रजा और राष्ट्र की सेवा के लिए देह रक्षणीय है। राजा के सब अंग प्रजा की रक्षा करनेवाले गढ़ के समान हैं। ८

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि
विशि राजा प्रतिष्ठितः॥ ९॥

मे नाभिः चित्तम्	मेरी नाभि ज्ञान और स्मृति-रूप है;	भसत् अपचितिः	स्त्री की जननेन्द्रिय प्रजाजनक है;
मे पायुः विज्ञानम्	मेरी गुद-इन्द्रिय विशेष प्रकार के ज्ञान वाली है;	मे अण्डौ	मेरे अण्डकोष
		आनन्दनन्दौ	आनन्द से समृद्ध है;

१ मेरे।

टि०—इस मंत्र में मूर्द्धाभिषिक्त राजा अपने संकल्पित कर्तव्यों की घोषणा करता है। वह कहता है, मेरी वाणी सदा कल्याणरूप भाषण करेगी। मेरी वाणी सदा प्रजाजनों को महत्कार्यों के अनुष्ठान की प्रेरणा देगी। मेरा मन पापियों और दुर्जनों को क्षमा नही करेगा। स्वराज्य-संचालन की शक्ति का विकास दुष्टों का दमन करके ही संभव होता है। शत्रु को पराजित करने की शक्ति ही मेरी सबसे बड़ी मित्र होगी। मेरा अंग-प्रत्यंग प्रजा की सेवा मे निरत रहकर प्रसन्नता का अनुभव करेगा। ६

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥

मे बाहू	मेरी दोनों भुजाएँ	मम आत्मा	मेरा अन्तरात्मा और
इन्द्रियम् बलम्	और प्रत्येक इन्द्रिय बलवान हों;	उरः क्षत्रम्	मेरा हृदय बहुत से क्षात्रधर्म का अवलम्बन करें ॥ ७ ॥
मे हस्तौ	मेरे दोनों हाथ		
कर्म	कर्मशील		
वीर्यम्	और पराक्रमयुक्त हों;		

बल से सम्पन्न रहें मेरे ये बाहु उभय।
प्रत्येक अंग हो अति उत्तम बल का आश्रय॥
नित करें पराक्रमपूर्ण कार्य मेरे होकर।
हो क्षात्रतेज से पूर्ण सदा मेरा अन्तर॥
बलवीर्य-पराक्रम मण्डित हो प्रत्यंग[1] सतत।
भयमुक्त करें हम क्षात्रधर्म-पालन अविरत॥ ७ ॥

टि०—इस मंत्र में क्षात्र-धर्म का महत्त्व निरूपित है। अभिषिक्त शासक को क्षात्र-धर्म का मूर्तरूप होना चाहिए। उसकी भुजाएँ बलसंपन्न होनी चाहिए, प्रत्येक अंग पूर्णविकसित और शक्तिसंपन्न होना चाहिए। वह स्वयं सदा भयमुक्त रहे और प्रजाजनों को भयमुक्त करे। उसकी अंतरात्मा और हृदय क्षात्र-तेज से परिपूर्ण होना चाहिए। ७

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू
अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

---

१ प्रत्येक अंग।

अङ्गेषु प्रति	राज्य के अङ्गों में (प्रतिष्ठित होता हुआ, (मैं)	पुष्टे प्रति तिष्ठामि	पुष्टि के कार्यों में प्रतिष्ठित होता हूँ,
आत्मन् प्रति तिष्ठामि	आत्मा-रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित होता हूँ,	द्यावापृथिव्योः प्रति	स्वर्ग और पृथ्वी में प्रतिष्ठित होकर
प्राणेषु प्रति	प्राणों में प्रतिष्ठित होता हुआ	यज्ञे प्रति तिष्ठामि	यज्ञ में (मैं) प्रतिष्ठित होता हूँ ॥ १० ॥

राजा हूँ अपने प्रजाजनों में सुप्रतिष्ठित।
रक्षा करता हूँ क्षय से भय से उनकी नित ॥
क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुआ हूँ मैं धृतव्रत[1]।
हूँ क्षात्रधर्म के पालन में रत मैं अविरत ॥
सम्मान राष्ट्र का हो नित नव-नव संवर्द्धित।
है क्षात्र धर्म का मेरे यही निकष निश्चित ॥
गोधन, अश्वधन आदि से राष्ट्र रहे समृद्ध।
जन-जन को हो प्राणांग प्रतिष्ठा[2] सदा सिद्ध ॥
हो आत्मप्रतिष्ठा[3] राष्ट्र रहे चिर आधिहीन।
हो पुष्टप्रतिष्ठा[4] से जन का जीवन अदीन ॥
द्यावा-पृथिवी के मंगल हित प्रतिबद्ध सतत।
आजीवन यज्ञकर्म का मैं लेता हूँ व्रत ॥ १० ॥

टि०—इस उदात्त मंत्र में शासक से कर्तव्य-कर्म एवं साधारण तथा विशेष धर्म का निर्देश है। राजा कहता है, मैं क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुआ हूँ और मैंने क्षात्रधर्म-पालन करने का व्रत लिया है। मैं संपूर्ण राष्ट्र को विनाश और भय से मुक्त करने को कृत-संकल्प हूँ। राष्ट्र का सम्मान बढ़े। प्रजा आधि और व्याधि से मुक्त हो। यही क्षात्रधर्म की कसौटी है। प्रत्येक जन स्वस्थ हो। स्वास्थ्य का अर्थ है शरीर और मन—दोनों का स्वस्थ होना। इतना ही नहीं, मैं ऐसे यज्ञ की दीक्षा ले रहा हूँ, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का मंगल हो १०

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिꣳशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे।
देवा देवैरवन्तु मा ॥ ११ ॥

---

१ उत्तम व्रतों का पालन करनेवाला; २ नीरोगत्व; ३ आधिहीनता अर्थात् मानसिक रोगों से मुक्ति; ४ धनसमृद्धि।

पसः भगः	मेरी जननेन्द्रिय ऐश्वर्यसम्पन्न है;	धर्मः अस्मि	धारण करनेवाली सामर्थ्य से युक्त मैं धर्म हूँ,
सौभाग्यम्	(मेरा कुल) सौभाग्ययुक्त है;	विशि प्रतिष्ठितः	प्रजा में प्रतिष्ठित
जंघाभ्यां पद्भ्यां	अपनी जंघाओं और पैरो से	राजा	राजा हूँ ॥ ९ ॥

मूर्द्धाभिषिक्त राजा हूँ मैं, हूँ प्रजाजनों में सुप्रतिष्ठित।
सब अंग धर्ममय हैं मेरे, मैं धर्म-हेतु प्रति क्षण अर्पित ॥
है ज्ञानस्वरूप नाभि मेरी, विज्ञानरूप है पायुदेश[1]।
मेरी सहधर्मचारिणी में सन्तानजनन-क्षमता विशेष ॥
आनन्दसमृद्ध वृषण[2] मेरे, जननेन्द्रिय चिर ऐश्वर्यभरित।
कुल और देह सौभाग्यबलित, जंघा-पद सदा धर्मचालित ॥
अपने सब अंगों से सदैव मैं रहता हूँ सद्धर्मनिरत।
निष्पक्ष न्याय का वितरण मैं करता हूँ प्रजाजनों में नित ॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में अभिषिक्त राजा के कर्तव्यों का उल्लेख है। अभिषिक्त राजा वह होता है, जिसका प्रजाजन वरण करते है। ऐसे राजा के अंग-प्रत्यंग धर्म-संपादन के हित समर्पित होते है। किसी भी अंग से कभी वह असदाचरण नहीं कर सकता। उसकी पत्नी उसकी सहधर्मचारिणी होती है। वह श्रेष्ठ संतान को जन्म देने की विशेष क्षमता धर्माचरण द्वारा अर्जित करती है। जो सब अंगों से शुभ-कर्म करता है, प्रजा को निष्पक्ष होकर न्यायदान करता है, वही धर्मात्मा राजा प्रजा में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। ९

प्रति॑ क्षत्रे प्रति॑ तिष्ठामि राष्ट्रे
प्रत्यश्वे॑षु प्रति॑ तिष्ठामि गोषु।
प्रत्यङ्गे॑षु प्रति॑ तिष्ठाम्यात्मन् प्रति॑ प्राणेषु प्रति॑ तिष्ठामि
पुष्टे प्रति द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

क्षत्रे प्रति	क्षय से रक्षा करने वाले क्षत्रियकुल में प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर (मै)	तिष्ठामि	को प्राप्त होता हूँ;
		अश्वेषु प्रति गोषु प्रति तिष्ठामि	घोड़ो में, गायों में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता हूँ,
राष्ट्रे प्रति	राष्ट्र में सम्मान		

१ गुदेन्द्रिय; २ अण्डकोश।

यं च	और जिससे
वयं द्विष्मः	हम द्वेष करते हैं,
तं	उसको
अग्नीषोमौ	अग्नि और सोम
अपनुदतां	(हमसे) दूर करें।
वाजस्य प्रसवेन	अन्न की प्रेरणा से
एनं अपोहामि	इस (शत्रु को मैं) दूर करता हूँ।
इन्द्राग्न्योः	इन्द्र और अग्नि ने
उज्जितिं	जैसी विजय प्राप्त की
अनु उत् जेषं	(उसी तरह) मैं भी विजय प्राप्त करूँ।
वाजस्य प्रसवेन	अन्न की प्रेरणा से
मा प्रोहामि	मैं अपने आपको प्रेरित करता हूँ।
यः अस्मान्	जो हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करता है
यं च वयं	और जिससे हम
द्विष्मः	द्वेष करते हैं,
तं इन्द्राग्नी	उसको इन्द्र और अग्नि
अपनुदतां	दूर करें।
वाजस्य प्रसवेन	अन्न की प्रेरणा से मैं
एनं अपोहामि	इस (शत्रु को) दूर करता हूँ॥ १५॥

है विजय प्राप्त की अग्नि सोम ने जैसी।
मैं प्राप्त कर सकूं विजय सर्वदा वैसी॥
अवशेष यज्ञ का अन्न शक्ति दे मुझको।
प्रेरणा सदा दे दिव्य भव्य वह मुझको॥
जो करता रहता मुझसे द्वेष अकेला।
झेला करता जो सबका द्वेष अकेला॥
वह है समाज का शत्रु अमंगलकारी।
इन्द्राग्नि करें निःशेष उसे भयहारी॥
यज्ञावशिष्ट यह अन्न बने बलदायक।
यह अरिहंता[1] है और सतत जयदायक॥
शुचि तर्कों से ऊर्जित हो अपनी वाणी।
हो वायु, इन्द्र, विद्युत् की सृति[2] कल्याणी॥ १५॥

टि०—इस मंत्र में विजय के तीन सिद्धांत-सूत्रों का निर्देश है— (१) अपनी विजय प्राप्त करना; (२) शत्रु को दूर रखना और (३) पदार्थ-विद्या का ज्ञान संसार में प्रकाशित करना। इस मंत्र में विरुद्ध गुणवाले अग्नि देवता और सोम देवता के मिलकर कार्य करने की प्रक्रिया वर्णित है। मनुष्य को भी इन देवताओं की तरह संगठित होकर कार्य करना चाहिए। 'वाज' का अर्थ सातवलेकरजी ने 'अन्न' किया और महर्षि दयानन्द ने 'युद्ध'। ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। १५

---

१ शत्रुनाशक; २ गति, ढंग।

त्रया एकादश	ग्यारह-ग्यारह देवों के तीन समूह	पुरोहिताः	अपना पुरोहित बनाकर (वे)
त्रयः त्रिंशाः देवाः	इस प्रकार ये तैंतीस देवता है।	देवस्य सवितुः	दिव्यगुणयुक्त, सबके उत्पादक सविता के
सुराधसः	श्रेष्ठ ऐश्वर्य से सम्पन्न जिनसे अच्छे प्रकार कार्यों की सिद्धि होती है,	सवे	शासन में रहें।
		देवाः देवैः	सब देवगण अपने दिव्यगुणों से
बृहस्पति	ऐसे बृहस्पति को	मा अवन्तु	मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

हैं पंडित जो कल्याण-शक्तियों[1] से अशेष।
एकादश देवों के जो गणत्रय हैं विशेष॥
उन सबके नेता ज्ञानी परम बृहस्पति नित।
हैं ऐश्वर्य श्रेष्ठतम से वे हैं शाश्वत मंडित॥
दिव[2] के, धरती के, अन्तरिक्ष के देव सकल।
पालन करते उन ज्ञानी का अनुशासन नित॥
उनके अधीन रहकर ये सब देवों के गण।
सविता[3] के नियमों का करते रहते पालन॥
वे देव दिव्यगुणयुक्त बृहस्पति-सहित सतत।
दें पुण्य-प्रेरणा और करें रक्षा अविरत॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में ग्यारह-ग्यारह देवताओं के तीन गण बताये गये हैं, स्वर्ग में ग्यारह, अंतरिक्ष में ग्यारह और पृथ्वी पर ग्यारह—इस प्रकार ये सब मिलकर तैंतीस होते हैं। इन सबके नेता महाज्ञानी बृहस्पति है। बृहस्पति के नेतृत्व में ये सब देवता सबके उत्पादक सविता देवता के अनुशासन का पालन करते हैं। बृहस्पति के अनुशासन में रहनेवाले दिव्य गुणों से मंडित ये सब देवता मुझे दिव्य कर्म करने की प्रेरणा दें और मेरी रक्षा करें। महाज्ञानी का नेतृत्व ही कल्याणकारी होता है। ११

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंꣳषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्कारा आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा[1] ॥ १२॥

१ मंगलकारी शक्तियां; २ स्वर्ग; ३ सबके उत्पादक परमेश्वर।

प्रथमा — प्रथम स्थान में रहनेवाले पृथ्वी आदि आठ वसु,
द्वितीयैः द्वितीयाः — दूसरे स्थान में रहनेवाले ग्यारह रुद्र,
तृतीयैः तृतीयाः — तीसरे स्थान में रहनेवाले बारह आदित्य,
सत्येन सत्यम् — सत्य से सत्य की,
यज्ञेन यज्ञः — यज्ञ से यज्ञ की,
यजुर्भिः यजूंषि — यजुर् से यजुर्वेद,
सामभिः सामानि — सामवेद के साथ सामवेद,
ऋग्भिः ऋचः — ऋचाओं के साथ ऋचाएँ,
पुरोनुवाक्याभिः — अथर्ववेदोक्त
पुरानुवाक्याः — प्रकरणों के साथ अथर्ववेद के व्यवहार,
याज्याभिः — यज्ञमन्त्रों के साथ
याज्याः — यज्ञमन्त्र,
वषट्कारैः — वषट्कारो के
वषट्काराः — के साथ वषट्कार,
आहुतिभिः — होम में आहुतियों
आहुतयः — के साथ आहुतियाँ,
स्वाहा भूः — समर्पण के साथ ये सब भूमि में
मे कामान् — मेरी कामनाओं को
समर्धयन्तु — भली भाँति सिद्ध करें ॥ १२ ॥

प्रथम देवगण मिल द्वितीय से रक्षा मेरी करें सदा।
मिले द्वितीय तृतीय देवगण करें सुरक्षा मोदप्रदा ॥
और तृतीय देवगण मिलकर सत्य-सहित दें संरक्षण।
सत्य-यज्ञ दोनों मिल रक्षा करे सदा मेरी प्रतिक्षण ॥
यजु से यजु का और साम से सामवेद का योग बने।
ऋचा ऋचाएँ मिलें वेदवाणी का ज्योति-वितान बने ॥
पुरोनुवाक्यों से योजित हो पुरोनुवाक्य मन्त्र शुभप्रद।
और यज्ञमन्त्रों से योजित यज्ञमन्त्र हो सिद्धि-प्रद ॥
वषट्कार के साथ वषट्कारों का योग कामदाता।
आहुति से आहुतियाँ मिलतीं स्वर्ग धरा पर खिंच आता ॥
यज्ञाहुति अर्पित करते ही होते हैं सब काम सफल।
पूर्णकाम होता है जीवन मिल जातीं सिद्धियाँ सकल ॥ १२ ॥

टि०—अभिषिक्त राजा की यह कामना है कि प्रथम स्थान में रहनेवाले पृथ्वी आदि आठ वसु दूसरे ग्यारह रुद्रों से मिलकर मुझ प्रजासेवी राजा की रक्षा करते रहे। इसी प्रकार ग्यारह आदित्य और बारह रुद्र मिलकर मेरी रक्षा करे। सत्य से सत्य का योग हो, संसार मे सत्य का व्यापक प्रसार हो। यज्ञ से यज्ञ मिले, यज्ञकर्म का व्यापक प्रवर्तन हो। यजुर् से यजुर्वेद, साम से सामवेद, ऋचाओं के साथ ऋचाओं आदि का योग

होता चले। वषट्कारों के साथ यज्ञ में आहुतियाँ डाली जायँ और इस प्रकार प्रजा के सर्वतोमुखी अभ्युदय की कामनाएँ सम्यक् सिद्ध हों। १२

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्म॒ आन॑ति॒राग॑तिः।
मा॒ꣳसं म॒ उप॑नति॒र्वस्वस्थि॑ म॒ज्जा म॒ आन॑तिः ॥१३॥

मम लोमानि	मेरे सारे रोम	अस्थि	(मेरी) हड्डियाँ
प्रयतिः	प्रयत्नशील हैं।	वसु	निवास प्रदान करनेवाली और धनस्वरूप है।
मे त्वक्	मेरी त्वचा	मे मज्जा	मेरी वसा
आनतिः आगतिः	नम्रता बताती है और आकर्षण करती है।	आनतिः	संसार को नम्र बनाती है॥ १३॥
मे मांसं	मेरा मांस		
उपनति	नम्रताकारक है।		

जग के वशीकरण को मेरी सब धातुएँ समर्थ।
रोम-रोम यतमान[1] निरंतर हैं उन्नति के अर्थ॥
मेरी त्वचा सभी भूतों को करती है नममान[2]।
उसे देख आकर्षित होते, करते प्रणति[3] प्रदान॥
मेरा मांस सकल भूतों की उपनति का है कारण।
मेरी अस्थि वासप्रद करती वसुस्वरूप[4] धन धारण॥
मेरी मज्जा[5] नमन कराती है यह सारी संसृति।
मेरी सप्त धातुएँ जग की वशीकरणकारी कृति॥ १३॥

टि०—यह राजपद पर अभिषिक्त राजा की वाणी है। उसका कहना है, मेरे शरीर की सातों धातुएँ— रक्त, त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा आदि संसार को अपने वश मे करने में समर्थ है। १३

यद्दे॑वा देव॒हेड॑नं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम्।
अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥ १४॥

देवाः देवासः	हे प्रकाशमान देवताओ!	देवहेडनं	देवताओं का
		आ चकृम	अपराध किया है,
वयं यत्	हमने जो	अग्निः तस्मात्	अग्निदेव उस

१ प्रयत्नशील; २ झुके हुए; ३ नमित होना; ४ धन का रूप; ५ हड्डी के अन्दर का भाग।

एनसः	पाप से	मा मुञ्चतु	मुझको मुक्त करें ॥ १४ ॥
विश्वात् अंहसः	और अन्य सब प्रकार के पाप से		

हे देवो ! सदा प्रकाशमान, हम माँग रहे हैं क्षमादान ॥
हमने हैं जो अपराध किये, तुम उनसे हमको मुक्त करो ।
हे अग्निदेव ! सब पाप हरो, हमको अधर्म से पृथक्[1] करो ॥ १४ ॥

टि०—प्रार्थनामूलक मंत्र है । इसमें अग्निदेव से यह प्रार्थना की गई है कि वे हमें अपराधों और पापों से मुक्त करें । १४

यदि दिवा यदि नक्तमेनांꣳसि चकृमा वयम् ।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १५ ॥

यदि वयं दिवा	यदि हमने दिन में,	तस्मात् एनसः	उन पापों से
यदि नक्तं	यदि हमने रात्रि में	विश्वान्	तथा सब प्रकार के
		अंहसः	पापों से
एनांसि आ चकृम	पाप किये हैं,	मा मुञ्चतु	मुझको मुक्त करें ॥ १५ ॥
वायुः	तो वायु देवता		

यदि दिन में हमने किया पाप, यदि मुझसे निशि में हुआ पाप ।
तो वायुदेवता क्षमा करें, हर लें मेरा वह विषम[2] पाप ।
जो पाप अन्य हों हुए, उन्हें भी वायुदेवता दूर करें ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में वायुदेवता से पाप-हरण करने की प्रार्थना की गयी है । १५

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनांꣳसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १६ ॥

वयं	हमने	सूर्यः	सूर्य भगवान
यदि जाग्रत्	यदि जाग्रत अवस्था में,	तस्मात् एनसः	उन पापों से
यदि स्वप्ने	यदि स्वनावस्था मे	विश्वान् अंहसः	और सब प्रकार के पापों से
एनांसि आ चकृम	पाप किये हैं, तो	मा मुञ्चतु	मुझको मुक्त करें ॥ १६ ॥

१ अलग ; २ कठिन ।

जो पाप स्वप्न में हुए घटित, जाग्रत् मुझसे जो हुए पाप।
ये सूर्यदेव! वे हरें पाप, तज्जन्य[1] करें सब दूर ताप॥ १६॥

टि०—इस मंत्र में सूर्यदेव से प्रार्थना की गई है कि वे जाग्रत् अथवा स्वप्न की अवस्था में मुझसे जो पाप हुए हों, उनसे और उत्पन्न दुःखमय प्रभावों से मेरी रक्षा करें। १६

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि
धर्मणि तस्यावयजनमसि॥ १७॥

यत् ग्राम	जो ग्राम में,	वयं आ चकृम	हमें लोगों ने किये है,
यत् अरण्ये	जो जंगल में,	यत् एकस्य	जो किसी एक पुरुष के सम्बन्ध में
यत् सभायां	जो सभा में,	अधि धर्मणि	पाप किये हैं,
यत् इन्द्रिये	जो इन्द्रियों के द्वारा,	तस्य	उन पापों को
यत् शूद्रे	जो शूद्रवर्ग में,	अवयजनं असि	तुम्हीं दूर करने वाले हो॥ १७॥
यत् अर्ये	जो वैश्यवर्ग में,		
यत् एनः	जो पाप		

जो पाप किये हों मैंने ग्राम-नगर में।
जो पाप किये हों मैंने वन्य-प्रसर[2] में॥
जो पाप किये हों मैंने जन-संसद[3] में।
अथवा जो पाप किये हों ऐन्द्रिय-मद[4] में॥
जो पाप हुए हों शूद्रों में, वैश्यों में।
जो हुए पाप वैयक्तिक सम्बन्धों में॥
केवल तुम उनका प्रक्षालन कर सकते।
प्रभु! केवल तुम वह ताप-शाप हर सकते॥ १७॥

टि०—भगवान के प्रति अनन्य शरणागति का भाव इस मंत्र में अभिव्यक्त हुआ है। गाँवों में, वनों में, सभाओं में, शूद्रों और वैश्यों में, इन्द्रिय-मद के कारण वैयक्तिक सम्बन्धों में जो पाप होते हैं, उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं। केवल भगवान ही उनका क्षमा द्वारा हरण सकते हैं। १७

---

१ उस पाप से उत्पन्न; २ जंगलों के विस्तार में; ३ जनसभा; ४ इन्द्रियों के अनुचित आवेश में।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ।
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं
पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ १८ ॥

वरुण	हे वरुण !
अघ्न्याः इति यत्	गायें न मारने
आपः	योग्य हैं,
शपामहे	इसके विरोध में जो वार्तालाप हमने किये हैं,
ततः	उससे
वरुण इति	हे वरुण ! तुम
नः मुञ्च	हमको छुड़ाओ।
निचुम्पुण	हे मन्दगति वाले !
अवभृथ	हे ब्रह्मचर्य और विद्या से निष्णात !
निचेरुः असि	यद्यपि तुम अत्यन्त गमनशील हो,
निचुम्पुणः	तो भी यहाँ मन्दगति वाले हो जाओ,
देवैः देवकृतं	देवताओं के द्वारा ज्ञानपूर्वक
एनः	जो पाप हुआ है,
अवायक्षि	उसको मैंने त्याग दिया है,
मर्त्यैः मर्त्यकृतं	हमारे सहायक मानवों से जो पाप हुआ है, वह भी
अव	दूर करो।
देव	हे वरुणदेव !
पुरुराव्णः	विरुद्ध आचरण करनेवाले और बहुत दुःख देनेवाले
रिषः पाहि	हिंसक शत्रुओं से हमारी रक्षा करो ॥ १८ ॥

हे वरुण ! अवध्य सदा ही है ये गाये।
इसके विरोध में जो जन बात चलाये ॥
उससे तुम हमको मुक्त करो हे भगवन् !।
हम सुने न पापपूर्ण वह कथन कदाचन ॥
हे अवभृथ ! यद्यपि गमनशील हो अति तुम।
मन्दगति निचुम्पुण बनो, विनय करते हम ॥
रहकर सचेत देवों ने पाप किये जो।
है त्याग दिया मैंने प्रबुद्ध हो उनको ॥
कर रहे पाप मेरे सहयोगी मानव।
उनको तुम भस्म करो बनकर दव ॥

हिंसक रिपु जो प्रतिकूल आचरणरत नित।
उनसे तुम रक्षा करो हमारी संतत॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में वरुणदेव की स्तुति की गयी है। इसमें मानव ने वरुण से यह प्रार्थना की है कि हे देव ! मुझसे जो गायों के विषय में वाणी द्वारा पाप हुए, उससे मुझे मुक्त करो तथा हिंसक शत्रुओं से मेरी रक्षा करो। १८

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै
सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ १९॥

ते हृदयं	(हे सोम !) तुम्हारा हृदय
समुद्रे अप्सु अन्तः	समुद्र के जलों के मध्य में है,
त्वा ओषधीः	तुम्हारे अन्दर ओषधियाँ
उत आपः	और जल
सं विशन्तु	प्रवेश करें,
आपः ओषधयः	जल और ओषधियाँ
नः	हमारे लिए
सुमित्रियाः सन्तु	भले मित्र-रूप हों।
यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करता है,
च वयं	और हम
यं द्विष्मः	जिससे द्वेष करते हैं,
तस्मै	उसके लिए जल और ओषधियाँ
दुर्मित्रियाः सन्तु	शत्रु-रूप हों॥१९॥

हे सोम ! तुम्हारा हृदय सिन्धु के जल में।
जल ओषधि करे प्रवेश उसी के तल में॥
सब जल, सब ओषधियाँ हों मित्र तुम्हारी।
वे शत्रु-दृष्टि डाले न कभी कुविचारी[1]॥
जो दुर्जन हमसे द्वेष किया करते हैं।
जिनसे हम होकर विवश द्वेष करते हैं॥
सब ओषधियाँ जल शत्रुरूप हो उनको।
प्रतिकूल सोम हों नित द्वेषी दुर्जन को॥ १९॥

टि०—इस मंत्र पर टिप्पणी करते हुए स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है, मनुष्य अवकाश-रहित प्राण तथा ओषधियों की विद्या जाननेवाले बनें। ओषधि, जल और प्राण अच्छे प्रकार से सेवा किये हुए मित्र के समान विद्वानों का पालन करें और अविद्वानों-दुर्जनों को शत्रु के समान पीड़ा देवें। १९

---

१ दुर्भावपूर्ण।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥ २० ॥

आपः मा	जल मुझको	स्नातः मलात्	स्नान करने से मल से मुक्त हो जाता है,
एनसः शुन्धन्तु	पाप से शुद्ध करे.	वा पवित्रेण	अथवा जैसे छानने से
इव	जिस प्रकार	पूतं आज्यम्	घृत मल-रहित हो जाता है । (वैसे ही जल मुझे शुद्ध करे) ॥ २० ॥
द्रुपदात् मुमुचानः	वृक्ष के तने से पत्ते फल-फूल आदि सहज ही पृथक् हो जाते हैं,		
इव स्विन्नः	जैसे पसीने से युक्त पुरुष		

पादुका त्याग उनके मल का होता मोचन ।
सस्वेद-देह-मल[1] का होता स्नान से शमन ॥
छनकर होकर मलमुक्त आज्य[2] वनता पावन ।
वैसे ही जल पावन कर दे मेरा तन-मन ॥
जल मुझे पाप से शुद्ध करे, दे आत्मज्ञान ।
हो धर्मपूत मेरा जीवन प्रति क्षण महान ॥ २० ॥

टि०—जैसे मनुष्य खड़ाऊँ उतारकर उनके मल के संसर्ग-दोष से मुक्त हो जाता है, जैसे पसीने से लथपथ मनुष्य जल में स्नान कर निर्मल वन जाता है, जैसे घृत छानने से मल-मुक्त होता है, वैसे ही यह जल मुझे पाप-मुक्त करे । मैं इस शुचिताकारी जल की प्रेरणा से प्रतिक्षण धर्मयुक्त जीवन विताऊँ । मैं चिन्मय आत्मज्ञान में निरन्तर स्थित रहूँ । इस मंत्र का प्रयोग संध्या में होता है । २०

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २१ ॥

वयं उत्तरं स्वः	हम इस लोक से उत्कृष्ट सुखमय लोक को,	देवत्रा देवं	प्रकाशमान देव
उत्तमं ज्योतिः	सर्वोत्तम ज्योति-स्वरूप	सूर्यं पश्यन्तः	सूर्य को देखते हुए
		तमसः परि	अन्धकार के पार
		उत् अगन्म	उत्तम उच्चस्थान को गमन करें ॥ २१ ॥

१ पसीनों से लथपथ शरीर की मलिनता; २ घृत ।

यह लोक तिमिर का ओक[1] गहन[2], है ऊपर सूर्यलोक पावन।
ज्योतिर्मय दिव्याधार निखिल, उन सबसे ज्योतिर्मय वह किल ॥
उत्कृष्ट परम सुखमय प्रति क्षण, उसका हम करें दिव्य दर्शन।
चिज्ज्योति[3] प्रकाशरूप भास्वर, हों प्राप्त मुझे वे परमेश्वर ॥
संप्राप्त करे उनको सब जन, मंगलमय हो सबका जीवन ॥ २१ ॥

टि०—यह भी संध्या में प्रयुक्त होनेवाला सूर्योपासक मंत्र है। यह अन्धकार का लोक है। इसके ऊपर सूर्य का परम पावन लोक है। यह सब प्रकाशमान पदार्थों से अधिक प्रकाशमान है। सूर्यदेव चिन्मय ज्योतिरूप हैं। वे परमेश्वर के ही स्वरूप हैं। हम उनका दर्शन कर अपने को कृतकृत्य करें। सब लोग उनका साक्षात्कार कर अपना जीवन मंगलमय बनावें। २१

अपो अद्यान्वचारिषꣳ रसेन समसृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आऽगमं तं मा सꣳ सृज
वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥ २२ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	आगमम्	तुम्हारे पास आया हूँ,
अद्य अप:	आज जल से,	तं मा	उस मुझको
अनु अचारिषम्	मैंने सम्पर्क स्थापित किया है,	वर्चसा प्रजया	तेज से प्रजा से
रसेन समसृक्ष्महि	जल के रस से मैं संयुक्त हुआ हूँ,	च धनेन सं सृज	और धन से संयुक्त करो ॥ २२ ॥
पयस्वान्	रस से युक्त होकर		

अग्ने ! आज किया है मैंने यह शुचि अवभृथ-स्नान[4]।
पयस्वान्[5] मैं निकट तुम्हारे हूँ अब आगतवान[6] ॥
जलरस से संपृक्त और संसृष्ट[7] देह है देव !।
उत्तम संतति से वैभव से मंडित रहूँ सदैव ॥
दिव्य ब्रह्मवर्चस्[8] का भर दो मुझमें परम प्रकाश।
जन-जन के जीवन में विद्या का हो विपुल विकास ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि मैंने यज्ञ पूरा कर अवभृथ-स्नान किया है। जल से संसिक्त-देह मैं तुम्हारे पास आया हूँ। मुझे ब्रह्मतेज प्रदान करो, श्रेष्ठ संतान और अनन्त वैभव दो। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में विद्या का विकास हो। २२

---

१ घर; २ घना; ३ चिन्मय ज्योति वाले; ४ यज्ञान्त स्नान; ५ जल से संसिक्त; ६ आया हुआ; ७ युक्त; ८ ब्रह्मतेज।

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः । समु विश्वमिदं जगत् ।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून् कामान्
व्यश्नवै भूः स्वाहा ॥ २३ ॥

एधः असि	तुम वृद्धि करने वाले हो,
एधिषीमहि	हम वृद्धि को प्राप्त हों ।
समित् असि	तुम भली प्रकार दीप्तिमान हो,
तेजः असि	तुम तेजस्वरूप हो, अतः
मयि तेजः धेहि	मुझमें तेज की स्थापना करो ।
पृथिवी	हमारे लिए पृथ्वी
सं आववर्ति	अच्छी तरह सुख प्रदान करनेवाली बने ।
उषाः सम् (आववर्ति)	उषा अच्छी प्रकार सुखदायिनी हो ।
सूर्यः सम् उ	सूर्य भी हमें सुखदायी हो ।
इदं विश्वं जगत्	यह समस्त संसार
सम् उ	हमें सदा सुखकारी हो, और मैं
वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम्	सब प्राणियों को तेजस्वी बनाने वाली ज्योति-रूप बनूँ ।
विभून् कामान्	बड़ी-बड़ी कामनाओं को
व्यश्नवै	सिद्ध करूँ ।
भूः स्वाहा	अस्तित्वरूप यह आहुति दी जाती है ॥ २३ ॥

हे परमात्मन् ! हे अग्नि ! आप हैं वृद्धिरूप ।
हम करें वृद्धि को प्राप्त नित्य नव-नव अनूप ॥
तुम तेजरूप हो करो तेज का मुझे दान ।
यह भूमि बने मेरे हित सुखदायक महान ॥
हो उदय उषा का मेरे हित सुख का समुदय[1] ।
हों सूर्यदेव मेरे हित संतत श्रेयोमय[2] ॥
यह विश्व सकल हो मेरे हित सुखप्रद अविरत ।
मैं प्राणिमात्र को तेज-ज्योति दूँ अप्रतिहत[3] ॥
मेरे सब महत् मनोरथ होते रहें सिद्ध ।

---

१ समूह, २ कल्याणपूर्ण; ३ निर्बाध ।

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वा[२] ऽऽदित्येभ्यस्त्वा[३] संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्[४]। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा[५] मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह । चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि[६] ॥ १६ ॥

आदित्येभ्यः	आदित्यों के लिए	**वयः व्यन्तु**	पक्षी चले जाएँ।
त्वा	तुझे (अर्पित करते हैं)।	**मरुतां पृषतीः**	मरुतों की गति का अनुधावन करते हुए
वसुभ्यः त्वा	वसुओं के लिए तुझे (अर्पित करते है)।	**गच्छ**	(तू) जा।
रुद्रेभ्यः त्वा	रुद्रों के लिए तुझे (अर्पित करते है)।	**वशा पृश्निः**	वशा गौ के द्वारा
		भूत्वा	बने हुए
द्यावापृथिवी	हे द्युलोक और पृथ्वी	**दिवं गच्छ**	द्युलोक को प्राप्त कर।
संजानाथां	(तुम दोनों) इसे जान लो।	**ततः नः**	वहाँ से हमारे लिए
		वृष्टिं आ वह	वर्षा को ले आ।
मित्रावरुणौ	मित्र और वरुणदेवता	**अग्ने**	हे अग्नि !
वृष्ट्या	वर्षा से	**चक्षुष्पा असि**	(तू) नेत्रों की रक्षा करनेवाला है।
त्वा अवतां	तेरी रक्षा करें।		
अक्तं रिहाणाः	भीगे हुए को चाटनेवाले	**मे चक्षुः पाहि**	मेरी आँखों को रक्षा कर ॥ १६ ॥

चक्षुष्पति[१] अग्ने ! करो अक्षि[२]-रक्षा तुम।
आदित्यों के हित हवि अर्पित करते हम ॥
वसुओं के हित हम करते नित हवि अर्पण।
करते एकादश रुद्रों हेतु समर्पण ॥
निःशुल्क सुखद आवास मिले जन - जन को।
हो ध्येयनिष्ठता प्राप्त मनुज के मन को ॥
द्यावापृथिवी दोनों रहस्य यह जानें।
सब मानव अपना धर्म - कर्म पहचानें ॥
अनुकूल वायु के हो मानव की गति-सृति[३]।
गायें सुदुहा[४] हों धरती दिव की प्रतिकृति ॥

---

१ आंख के स्वामी; २ आंख; ३ क्रिया-कलाप; ४ सहज और उत्तम दूध देनेवाली।

पुण्यं प्रज्ञेशं	पुण्य अर्थात् निष्पाप और उत्कृष्ट जानता समझता हूँ,	अग्निना सह	अग्नि के साथ तेजस्वी होकर निवास करते हैं ॥ २५ ॥
यत्र देवाः	(जिसमें) विद्वान लोग		

ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ण जहाँ होते सहकारी[1]।
करते निज कर्तव्य-कर्म रहकर सहचारी ॥
होता है वह लोक परम निष्पाप पुण्यमय।
करते सुधी[2] निवास अग्नि-से सुधी तेजमय ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि वही लोक विद्वानों के निवास करने के योग्य होता है, जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय मैत्री के बंधन में बँधे हुए साथ-साथ रहते हैं और अपने कर्तव्य-कर्मों का संपादन करते है। २५

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ २६ ॥

यत्र इन्द्रः	जहाँ इन्द्र	न विद्यते	नहीं है या नहीं होता है,
च वायुः	और वायु भी		
च सह	एक साथ	तं पुण्यं	उसे (मैं) पवित्र
सम्यञ्चौ	एकमन होकर	लोकं प्रज्ञेषं	लोक जानता (मानता) हूँ ॥२६॥
चरतः	विचरण करते हैं,		
यत्र सेदिः	जहाँ पर अन्नाभाव-जनित क्लेश		

इन्द्र-वायु मिल विचरण करते हैं जहाँ।
एक प्राण मन हो दोनों संस्थित जहाँ ॥
जहाँ किसी को अन्नाभाव न किंचिदपि[3]।
अन्नक्लेश से व्यथित न कोई है किमपि[4] ॥
उसी देश को पापहीन प्रभु मानते।
उसको ही उत्कृष्ट सदा वे जानते ॥ २६ ॥

टि०—इस देश को भगवान की दृष्टि में पवित्र और उत्तम माना गया है, जहाँ इन्द्र और वायु सौमनस्य के साथ मिलकर रहते है और जहाँ किसी को अन्न की कमी से कष्ट नहीं होता। २६

---

१ साथ-साथ कार्य करनेवाले और मिलकर रहनेवाले; २ विद्वज्जन; ३ थोड़ा भी; ४ थोड़ा-सा भी।

ये सकल भुवन, सब सत्ताएँ हों चिर समृद्ध ॥
इन सबके मंगलहित अर्पित यह हवि स्वाहा ॥ २३ ॥

टि०—यह अत्यन्त दिव्य प्रार्थना-मन्त्र है। प्रार्थना का मुख्य स्वर है-हमारी निरंतर वृद्धि हो। हम निरंतर प्रगति करते रहें। तेजस्वरूप परमात्मा अपने तेज का दान हमें करें। धरती हमारे लिए सर्वत्र सुखदायक हो। उषा सुख की वर्षा करती हुई उदित हो। हमारे सब महत्त्व की पूर्ण वृद्धि हो। साथ ही साथ प्राणियों का कल्याण हो, सब सत्ताएँ सदा सुखी रहें। उन सबके कल्याण के लिए स्वाहापूर्वक यह हवि अर्पित की जाती है। २३

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ २४ ॥

व्रतपते अग्ने	हे व्रत के पालक अग्नि !	दीक्षितः अहं	यज्ञ में दीक्षित हुआ मैं
समिधं त्वयि	इस समिधा को तुममें	व्रतं च	व्रत और
		श्रद्धां उपैमि	श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ।
अभ्या दधामि	आहुति-रूप में अर्पित करता हूँ।	च त्वा इन्धे	और तुमको दीप्त करता हूँ ॥ २४ ॥

व्रतपति अग्ने ! समिधा की आहुति है अर्पित।
दीक्षित होकर इस क्रतु में मैं व्रत-श्रद्धा प्राप्त करूँ नव नित ॥
व्रत के पालक हे अग्निदेव ! मैं तुमको करता हूँ दीपित[1]।
सत्कर्म-निरत मैं रहूँ सतत, श्रद्धा-विश्वास रहे वर्द्धित ॥ २४ ॥

टि०—हे व्रत के पालक अग्निदेव ! तुमको मैं यह समिधा की आहुति अर्पित करता हूँ। तुम दीपित रहकर मेरे श्रद्धा-विश्वास की वृद्धि करो। आध्यात्मिक प्रगति का मूल आधार श्रद्धा है। इसलिए उसकी वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। २४

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥

यत्र ब्रह्म च	जहाँ ब्राह्मण और	सह चरतः	एक साथ विचरण करते हैं,
क्षत्रं च	क्षत्रियवर्ण दोनों ही		
सम्यञ्चौ	अच्छी प्रकार से	तं लोकं	उस लोक को मैं

१ प्रज्वलित।

बल के धारक सोम के लिए जो संतत,
ओषधियों के रस का सिंचन[1] करते हैं।
पीते, उत्सिंचन[2] करते रहते अविरत,
वे पावन होते, बल-वर्द्धन करते हैं॥
पर जो संशय के तम में घिरे निरंतर,
क्या है, कैसा है, करते ही रहते हैं।
वे जीवन में सब कुछ से वंचित होकर,
नित आत्मग्लानि की ज्वाला में दहते हैं[3] ॥ २८ ॥

टि०—'संशयात्मा विनश्यति' यह इस मंत्र का मूल स्वर हैं। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर जो उस आनंद में निमग्न रहते है, उस आनंद की वृद्धि करनेवाले उपादानों का सेवन करते हैं, उनका बल बढ़ता है और वे पवित्र हो जाते हैं। जो इस विषय में सशयग्रस्त रहते है, आत्मा है अथवा नहीं, ईश्वर है अथवा नहीं, वे सब कुछ खो देते हैं। २८

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	अपूपवन्तं	और मालपुए
प्रातः नः	प्रातःकाल हमारे	उक्थिनं	आदि से युक्त
धानावन्तं	धनों से युक्त		स्तुति के साथ
करम्भिणं	दही और सत्तू,	जुषस्व	सेवन करो ॥२९॥

हे इन्द्र ! करो सेवन प्रातः यह पुरोड़ाश[4]।
संस्कारित[5] अन्नों से निर्मित है सहोल्लास[6] ॥
दधि, सत्तू मालपुए के साथ स्वादयुत यह।
उक्थों[7] के साथ समर्पित करता ज्योतिर्वह[8] ॥ २९ ॥

टि०—यह इन्द्र को पुरोड़ाश अर्पित करने का मंत्र है। यज्ञ के प्रातःसवन में इन्द्र को दही, सत्तू और मालपुए के साथ सामस्तोत्रों का पाठ करते हुए पुरोड़ाश अर्पित किया जाता था। २९

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ३० ॥

---

१ जठराग्नि को तृप्त करते है अर्थात् पीते है; २ उत्कृष्टता से ग्रहण; ३ जलते है; ४ चावलों को पीसकर बनाई जानेवाली यज्ञाहुति; ५ पवित्र; ६ प्रसन्नता के साथ; ७ स्तुतियों; ८ प्रकाशमान।

अ॒ꣳशुना॑ ते अ॒ꣳशुः पृ॑च्यतां॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
ग॒न्धस्ते॒ सोम॑मवतु॒ मदा॑य॒ रसो॒ अच्यु॑तः ॥ २७ ॥

ते अंशुः अंशुना	(हे महौषधि रस!) तुम्हारे भाग सोम के भाग से और	अच्युतः रसः	अविनाशी रस
परुः परुषा	तुम्हारे पर्व सोम	मदाय सोमं अवतु	हर्ष और शान्ति प्रदान करने के लिए सोम से संयुक्त हो ॥ २७ ॥
पृच्यताम्	के पर्व से मिले हों,		
ते गन्धः	तुम्हारी सुगन्ध तथा		

अये महोषधि-रस हैं जितने भाग तुम्हारे ।
सोम-भाग से मिले सोममय[1] हों वे सारे ॥
अये महोषधि रस ! हैं जितने पर्व तुम्हारे ।
पर्वों से वे मिले सोम के, वह गुण धारे ॥
सुरभि तुम्हारी मिले सोम से युक्त रहे चिर ।
स्वरस सोमरस से मिल हो, अविनश्वर सुस्थिर ॥ २७ ॥

टि०—महोषधियों का रस सोम के साथ संयुक्त सोममय हो जाता है, अर्थात् उसमें अमृत के गुण आ जाते है । महोषधियों के रस के प्रत्येक भाग को, प्रत्येक पोर को, उसकी सुगंध और रस को सोम के साथ संयुक्त कर प्रयोग में लाना चाहिए । २७

सि॒ञ्चन्ति॒ परि॑ षिञ्च॒न्त्युत्सि॑ञ्चन्ति पु॒नन्ति॑ च ।
सुरा॑यै ब॒भ्र्वै मदे॑ कि॒न्त्वो वद॑ति कि॒न्त्वः॑ ॥ २८ ॥

बभ्र्वै सुरायै	जो लोग वल के धारण करनेवाले सोम के लिए	च पुनन्ति	और पवित्र होते है (वे बल को प्राप्त होते है)
मदे सिञ्चन्ति	ओपधियों के रस को सीचते हैं,	किन्त्वः किन्त्वः	और जो लोग क्या यह, क्या वह, इस प्रकार
परि सिञ्चन्ति	अच्छी तरह से पीते है,	वदति	कहते रहते है, (वे कुछ नही पाते) ॥ २८ ॥
उत्सिञ्चन्ति	उत्कृष्टता से ग्रहण करते हैं,		

1 अमृतमय ।

टि०—इस मंत्र में अध्वर्यु से यह कहा गया है कि पत्थर से पीस कर तैयार किया गया सोमरस यहाँ प्रस्तुत है, इसको पवित्र करनेवाले स्थान को ले चलो। इसे पवित्र करो, जिससे इन्द्र इसका सेवन करें और दूसरे लोग भी इसका पान करें। ३१

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं
मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

यः भूतानां	जो समस्त प्राणियों का	तेन	उस परमेश्वर की सामर्थ्य से
अधिपतिः	स्वामी है,	त्वां अहं गृह्णामि	तुमको मैं स्वीकार करता हूँ, तथा
यस्मिन् लोकाः	जिसमें सब लोक	त्वां अहं	तुमको मैं
अधिश्रिताः	आश्रित है,	मयि गृह्णामि	अपने में ही ग्रहण करता हूँ ॥३२॥
यः महान्	जो सबसे महान होकर		
महतः ईशे	बड़े-बडे पदार्थों को अपने वश में कर रहा है,		

जो प्राणिमात्र का है स्वामी, ये निखिल लोक जिसके आश्रित।
जो है महान, जो महीयान[1], जिसके वश सकल महत् है नित॥
अपने बल से ही ग्राह्य सदा, तुम हो अनंत हे परमेश्वर!।
मैं ग्रहण और धारण करता, तुमको अपने में हे प्रभुवर! ॥ ३२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर सब प्राणियों का, सब लोकों का स्वामी है, वह महान से भी महान है। जितने भी महान है, सब पर उसका शासन है। उसको उसी की शक्ति से जाना जा सकता है। 'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन, जानहिं भगत भगत उर चंदन' —तुलसीदास। ३२

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय
त्वा सुत्राम्ण एष ते योनिरश्विभ्यां त्वा
सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३३ ॥

---

१ सबसे बड़ा।

मरुतः	हे मरुतगणो !	ऋतावृधः	यज्ञ की वृद्धि करनेवाले ऋत्विजों ने
वृत्रहन्तमम्	वृत्र असुर का नाश करनेवाले	देवं जागृवि	सतत जागरणशील
इन्द्राय	इन्द्र के लिए,	ज्योतिः	अविनाशी तेज को
बृहत् गायत	उस बृहत स्तोम का गायन करो,	अजनयन्	उत्पन्न किया ॥ ३० ॥
येन देवाय	जिस सामगान से इन्द्र के लिए		

मरुतो ! गाओ इन्द्र के लिए यह बृहत् साम।
उन इन्द्र वृत्रहंता हित गाओ बृहत् साम॥
हैं बृहत् साम यह वही जिसे गोऋत्विजगण।
हैं प्रकट कर चुके तेज इन्द्र का वृत्रशमन[1]॥
नित प्रकट करो वह तेज सत्य ऋत का वर्धक।
जाग्रत हो विक्रम परम राष्ट्र का संवर्द्धक॥ ३०॥

टि०—मरुद्गण शौर्य के देवता हैं। वे इन्द्र के परम सहयोगी हैं। वे युद्धों में इन्द्र के लिए बृहत्साम गाते हैं, जिससे इन्द्र का पुरुषार्थ जाग्रत होता है और वे वृत्र का वध करते हैं। ऋत्विजगण उसी बृहत्साम का गान कर राष्ट्र में वह तेज प्रकट करते रहे हैं जिसके द्वारा वृत्र जैसे असुरों का विनाश होता है। ऋत और सत्य की वृद्धि करनेवाले तेज की वृद्धि से ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। ३०

अध्वर्यो अद्रिभिः सुतꣳ सोमं पवित्र आ नय।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३१ ॥

अध्वर्यो	हे अध्वर्यु !	इन्द्राय पातवे	इन्द्र के लिए और पान करने के लिए
अद्रिभिः सुतं	तुम ग्रावा द्वारा पीस कर निकाले गये	पुनाहि	उसको पवित्र करो ॥ ३१ ॥
सोमं पवित्रे	सोम को पवित्र		
आ नय	करने के स्थान में ले आओ,		

ग्रावा[2]-अभिषुत[3] सोम यहाँ यह, शुचिताकारी स्थान वहाँ वह।
हे अध्वर्यु ! ले चलो उसको, पावन करो दिव्य इस रस को।
पान करें मघवान[4] निरंतर, यज्ञशेष[5] सब पान करें नर॥ ३१॥

१ वृत्रासुर को नाश करनेवाला, २ पत्थर; ३ पीसा गया, ४ इन्द्र; ५ यज्ञ में बचा हुआ।

ने प्रसन्न होकर अपना वाणी-वैभव तुमको दिया है। मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ। तुम यम-नियमों के साधक हो, इसलिए इन्द्र तुम पर प्रसन्न हैं। इन्द्र का शौर्य और पराक्रम तुम्हें प्राप्त हो, मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ। ३३

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥३४॥

मे प्राणपाः	तुम मेरे प्राणों के पालक,
अपानपाः	मेरे अपानों के पालक
चक्षुष्पाः	आँखों के पालक,
श्रोत्रपाः	और कानों के रक्षक हो।
मे वाचः	मेरी वागिन्द्रिय के
विश्वभेजषः	सब दोषों के दूर करनेवाले ओषधि-रूप हो।
मनसः विलायकः	मन को विविध प्रकार से प्रगति के मार्गों से सम्बन्ध करानेवाले
असि	हो ॥ ३४ ॥

हे परमेश्वर! तुम हो प्राणों के पालक।
तुम हो अपान-पालक, श्रोत्रों[1] के रक्षक॥
मेरी वागिन्द्रिय[2] के सब दोष हरो तुम।
प्रगति के पथ पर मन से सदा चलें हम॥
उद्घाटित कर दो मार्ग प्रगति के नव-नव।
भर दो जीवन में सौख्य-शान्ति का कलरव॥ ३४॥

टि०—परमात्मा हमारे प्राणों का पालक है। सब इन्द्रियों की शक्ति को वही सुरक्षित रखता है। वह हमारे लिए उन्नति के अनेक प्रकार के मार्ग खोलता रहता है और जीवन को सुख एवं शान्ति से भर देता है। ३४

अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य।
उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि ॥ ३५॥

उपहूतः	आदरपूर्वक निमंत्रित किया गया मैं
ते अश्विन	तुम्हारे अश्विनी-कुमारों के द्वारा
कृतस्य	संस्कार किये गये
सरस्वति	और सरस्वती से
कृतस्य	प्रस्तुत किये गये,
सुत्राम्णा	रक्षा करनेवाले

1 कानों; 2 जीभ।

अश्विभ्यां	दोनों अश्विनी-कुमारों से
उपयामगृहीतः	उत्तम नियमों के अनुकूल ग्रहण किया गया
असि	है,
त्वा सरस्वत्यै	तुझको सरस्वती के लिए,
त्वा इन्द्राय	तुझको इन्द्र के लिए
त्वा सुत्राम्णे	और तुझको उत्तम रक्षा के लिए (मै) ग्रहण करता हूँ।
एषः ते योनिः	यह तुम्हारा उत्पत्तिस्थान है,
त्वा अश्विभ्यां	तुमको दोनों अश्विनीकुमारों के लिए,
त्वा सरस्वत्यै	तुमको सरस्वती के लिए,
त्वा इन्द्राय	तुमको इन्द्र के लिए
त्वा सुत्राम्णे	तुमको उत्तम रक्षण के लिए (मैं) ग्रहण करता हूँ ॥ ३३ ॥

उत्तम नियमों का पालन कर जीवन में,
तुम हो गृहीत[1] अश्विनीकुमारों द्वारा।
तुमको सरस्वती ने स्वीकार किया है,
तुम हो गृहीत परितुष्ट[2] इन्द्र के द्वारा॥
उत्तम रक्षा कर सकूँ तुम्हारी संतत,
सम्यक् गृहीत हो मानव ! मेरे द्वारा।
हूँ मैं ही जन्मस्थान तुम्हारा सुविदित,
तुम प्रगति कर सके हो सब मेरे द्वारा॥
अश्विनीकुमार रहें आरोग्य-प्रदाता,
रक्षित है स्वास्थ्य तुम्हारा मेरे द्वारा।
ऐश्वर्य बुद्धि का वाणी से पाओ तुम,
रक्षित हो इसीलिए तुम मेरे द्वारा।
हो प्राप्त इन्द्र का शौर्य-पराक्रम तुमको,
हो इसीलिए तुम रक्षित मेरे द्वारा॥ ३३॥

टि०—इस मंत्र में स्वयं परमेश्वर द्वारा मानव को यह बताया गया है कि मैं ही तुम्हारा उत्पत्तिस्थान हूँ। तुमने यम-नियमों का पालन किया है, इसलिए अश्विनी-कुमारों ने तुमको अपना लिया है। तुम अश्विनीकुमारों के कृपापात्र हो, इसलिए तुम्हारे स्वास्थ्य की रक्षा मैं करता हूँ। तुम यम-नियमों का पालन करते हो, इसलिए सरस्वती

---

१ ग्रहण किये गये; २ प्रसन्न।

तैंतीस सुरगणों से परिवृत[1], रहते हैं नित नव संवर्द्धित।
हैं वज्रपाणि ये इन्द्रदेव, सुप्रथित वृत्रहंता सदैव ॥
ये तोड़ मेघ के वज्रद्वार, बरसाते जग पर सुधाधार ॥ ३६ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर के इन्द्र-रूप का स्तवन है। ये इन्द्र उषःकाल में ज्योतिमालाओं से मंडित होकर सूर्यरूप में पूर्व दिशा को प्रकाशित करते हैं। ये उदित होकर जब गतिमान होते हैं तो अप्रमेय प्रभामंडल इनके आगे-आगे चलता है। ये सूर्यदेव वस्तुतः वृत्रहंता वज्रपाणि इन्द्र हैं। ये ही मेघों की कारा भंग कर सृष्टि पर जलवर्षा करते हैं। ३६

नराशꣳसः प्रति शूरो
मिमानस्तनूनपात्प्रति यज्ञस्य धाम ।
गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन्
हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः ॥ ३७ ॥

नराशंसः	जो जनों से स्तुति के योग्य	मधुना समञ्जन्	मधुर स्वादिष्ट घृत से अच्छी प्रकार प्रयुक्त हुआ
यज्ञस्य धाम	यज्ञ का स्थान,	हिरण्यैः	सुवर्ण आदि द्रव्यों से
प्रतिमिमानः	अनेक उत्तम पदार्थों का निर्माण करनेवाला,	चन्द्री प्रचेताः	उत्तम वर्ण वाला और उत्तम विद्वान
शूरः तनूनपात्	शूरवीर और पतन न होने देनेवाला,	प्रति यजति	प्रतिदिन यज्ञ करता है (वही हमारे-आश्रय के योग्य है) ॥३७॥
गोभिः वपावान्	गो आदि के दुग्ध से युक्त,		

जो जन-प्रशस्य[2], आचरण सत्य करते संतत।
उत्तम पदार्थचय[3] की रचना में रहते रत ॥
जो शूरवीर, संयम-रक्षित हैं अक्षत[4] तन।
दधि, दुग्ध, आज्य से पूरित गृह-शोभित गोधन ॥
जो वपावान जो हैं परमोत्तम क्रियावान।
जो सुधा-मधुर मधु का संग्रह करते महान ॥

---

१ घिरे हुए; २ प्रशंसा के योग्य; ३ वस्तुओं का समूह; ४ घावों से सुरक्षित।

इन्द्रेण कृतस्य	इन्द्र के द्वारा किये हुए (और)	भक्षयामि	अन्न का मैं सेवन करता हूँ ॥३५॥
उपहूतस्य	समीप में लाये हुए		

इस ऋतु में हूँ आदरपूर्वक आमंत्रित।
प्रस्तुत हैं ये खाद्यान्न[1] विविध भक्षण हित॥
अश्विनीकुमारों द्वारा हैं संस्कारित।
हैं सरस्वती के द्वारा ये सब शुचिकृत[2]॥
ऐश्वर्यवान हैं इन्द्र निकट ले आये।
भक्षण करता हूँ, हैं मुझको ये भाये॥ ३५॥

टि०—मैं इस यज्ञ में सादर आमंत्रित हूँ। मेरे सम्मुख अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ भोजन के लिए अर्पित किये गये हैं। इनको सरस्वती ने पवित्रता से तैयार किया है। अश्विनीकुमारों ने स्वास्थ्य की दृष्टि से इन्हें तैयार किया है। इन्द्र ने उन्हें अर्पित किया है। ये मुझे प्रिय लगे, इन्हें मैं ग्रहण करता हूँ। ३५

समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः।
त्रिभिर्देवैस्त्रिंशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार॥ ३६॥

समिद्धः	अच्छी तरह प्रदीप्त,	देवैः	देवताओं के साथ
उषसां अनीके	प्रातःकाल के समय सेनाओं में जैसे	वावृधानाः	वृद्धि करनेवाले
पुरोरुचा पूर्वकृत्	आगे चलनेवाले प्रकाश से, सूर्य से पूर्व दिशा को प्रकाशित करनेवाले	वज्रबाहुः	वज्र हाथ में लिये
त्रिभिः त्रिंशता	तीन और तीस अर्थात् तैंतीस	इन्द्रः	इन्द्र ने
		वृत्रं जघान	वृत्रासुर को मार डाला
		वि दुरः ववार	और पूर्व के दरवाज़ों को खोल दिया॥ ३६॥

सम्यक् दीपित यह उषःकाल, धारण अनंत कर ज्योतिमाल।
प्राची को करते उद्भासित, आगे चल रहे सूर्य समुदित॥

---

१ भोज्य वस्तुएँ; २ पवित्रता से बनाये गये।

ये मित्र-वरुण देवता वृष्टि के स्वामी।
बरसें अभीष्ट जल हों सबके हितकामी॥
धनधान्यपूर्ण बन जाय जगत का जीवन।
खगकुल-कलरव से मुखरित हो गगनांगन॥
चक्षुष्पति अग्ने! करो अक्षि-रक्षा तुम।
बहिरन्तर व्याधि-विहीन दृष्टि पावें हम॥ १६॥

टि०—इस मंत्र में प्रमुख रूप से मनुष्य को तीन निर्देश दिये गये हैं– (१) मनुष्य ऐसा प्रयत्न करे जिससे वह सुखपूर्वक निवास कर सके। (२) मनुष्य मानवता के और समाज के शत्रुओं का नाश करे। (३) सबको द्युलोक अर्थात् भगवद्धाम को प्राप्त करने के लिए संगठित करे, भगवान की ओर अभिमुख करे। भगवान की प्राप्ति समष्टिगत संगठित जीवन का लक्ष्य हो। 'दिवं गच्छ' का अर्थ है–Back to Godhead (बैक टु गॉडहेड)। इस मंत्र में वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को मनुष्य आत्मसमर्पण करे, यह आदेश दिया गया है। वसु आठ हैं, उनमें पृथ्वी भी है। ये ही सबको निवास प्रदान करते हैं, बसाते हैं। रुद्र एकादश हैं, वे शत्रु का संहार करते हैं। शरीर में स्थित ग्यारह प्राण ही एकादश रुद्र कहे गये हैं। आदित्य बारह हैं, वे अदिति के अर्थात् अखंडता, अविभाज्यता, अदीनता, स्वतंत्रता के पुत्र हैं। वे सबको अदीन, स्वतंत्र और संगठित करते हैं, आधार प्रदान करते हैं। तीनों देवों के उक्त कार्यों के लिए मनुष्य समर्पण करें, उनके साथ सहयोग करें। मित्र और वरुण पृथ्वी पर अभीष्ट जलवृष्टि करें, प्राणी सुखी हों। पक्षी आकाश में सुख से विचरण करें। मानव वायु की गतियों के अनुसार अपने कार्य व्यवहार का संयोजन करें। इस मंत्र में वशा गौ का उल्लेख है, जो स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली बताई गई है। गायें तीन प्रकार की होती हैं— (१) वशा जो जिस समय, जितना चाहें, उतना दूध दे; कामधेनु की भी प्रायः यही परिभाषा है। (२) सूतवशा जो परिचारक के वश में रहती है। (३) साधारण गौ। वशा गायें धरती को स्वर्ग बना सकती हैं। १६

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ अग्ने॑ देव प॒णिभि॒र्गुह्य॑मानः।
तं त॑ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑तै॒
अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑तम्॥ १७॥

देव अग्ने	हे प्रकाशक अग्नि!	अनुभरामि	(मैं) अनुकूलता से भर देता हूँ।
पणिभिः गुह्यमानः	पणि नामक शत्रुओं से घिरे होने पर	एषः	यह परिधि
यं परिधिं	जिस परिधि को तूने	त्वत्	तुझसे
परि अधत्थाः	चारों ओर निर्मित किया है,	न इत अपचेतयातै	पृथक् न हो।
		अग्नेः	अग्नि का
तं एतं जोषं	उस प्रिय परिधि को	प्रियं पाथः	यह प्रिय अन्न
ते	तेरे लिए	अपि इतम्	तुझे प्राप्त हो॥१७॥

जो रजत-हिरण्य[1] आदि के हैं शुचि संचयिता।
सर्वोच्च ज्ञानमय जिनकी प्रज्ञा-पारमिता[2] ॥
जो यजनशील करते हैं नित नव, क्रतुविधान।
आश्रय के योग्य वही नर पाते सदा मान ॥ ३७ ॥

टि०—इस मंत्र मे श्रेष्ठ आदर्श मनुष्य के गुणों का निर्वाचन किया गया है। जिस मनुष्य की सब लोग प्रशंसा करते हैं, जो नित्य नवीन वस्तुओं की रचना करते रहते हैं, जो शूरवीर है और संयम से अपने शरीर को अक्षत रखते हैं, जिनके घर गोधन, चाँदी, सोने आदि से भरे हुए हैं और जिनकी प्रज्ञा ज्ञान की परमोत्कृष्ट भूमिकाओं पर संचरण करती है, वे मनुष्य संसार में दूसरों के आश्रय देनेवाले बन जाते हैं। ३७

ईडितो देवैर्हरिवाँ२ अभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्धमानः ।
पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्रबाहुरा यातु यज्ञमुप नो जुषाणः ॥ ३८ ॥

देवैः ईडितः	देवताओं के द्वारा स्तुति किया गया,	पुरन्दरः	और शत्रुओं के नगरों को ध्वस्त करनेवाला
हरिवान् अभिष्टिः	किरणों से अथवा किरणों के अश्वों से युक्त सम्पूर्ण यज्ञों में वन्दित,	गोत्रभित्	और मेघों को विदीर्ण करनेवाला,
हविषा आजुह्वानः	ऋत्विजों के द्वारा हवि देकर आह्वान किया गया,	वज्रबाहुः	जिसके बाहु वज्र के समान बलवान है, ऐसा इन्द्र
शर्धमानः	ऐसा अत्यधिक बलशाली	नः यज्ञं	हमारे यज्ञ को
		उप जुषाणः	सेवन करता हुआ
		आ यातु	आगमन करे ॥३८॥

देवों से हैं जो रहते संतत स्तूयमान[3]।
वर्चस्वपूर्ण[4] व्यक्तित्वयुक्त अति कान्तिमान ॥
सब यज्ञों में जिनके यश का होता कीर्तन।
जिनको आहुतियाँ देते है सब ऋत्विजगण ॥
असुरों के दुर्गो के भंजक जो शर्धमान[5]।
मेघों का भेदन का करते जो वृष्टिदान ॥

---

१ चाँदी और सोना; २ श्रेष्ठतम प्रज्ञा; ३ प्रशंसित; ४ तेजस्वी, ५ अत्यत बलवान।

जो वज्रबाहु रहते कृशानु[1] से सदा ज्वलित।
वे इन्द्र पधारें, करें महाक्रतु[2] यह शोभित॥
देवेश्वर सेवन करें पूत निज यज्ञभाग।
कृतकृत्य बनावे इस क्रतु को वे महाभाग[3]॥ ३८॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के गुणगणों का वर्णन करते हुए उनसे यज्ञ में पधारकर उसके सेवन करने का अनुरोध किया गया है। इन्द्र देवराज हैं, देवता उनकी स्तुति करते रहते हैं, यज्ञों में ऋत्विजगण उनके यश का कीर्तन करते हैं। वे बड़े बलशाली हैं। असुरों के दुर्गों को नष्ट करना उनके बायें हाथ का खेल है। वे मेघों का अवरोध भंग कर जलवृष्टि कराते हैं, जिससे पृथ्वी के जीवमात्र त्राण पाते हैं। वे अग्नि की तरह ज्वलित और अपने वर्चस् से परम कान्तिमान दिखायी पड़ते हैं। ३८

जुषाणो बर्हिर्हरिवान् न इन्द्रः प्राचीनꣳ
सीदत् प्रदिशा पृथिव्याः।
उरुप्रथाः प्रथमानꣳ स्योनमादित्यैरक्तं
वसुभिः सजोषाः[1] ॥ ३९॥

हरिवान्	किरणों से युक्त	वसुभिः अक्तम्	और आठ वसुओ से युक्त होकर,
उरुप्रथाः	और अत्यन्त विस्तृत कीर्ति वाला	प्रथमानं स्योनं	विस्तृत और सुखदायक
सजोषा इन्द्रः	प्रीतिमान इन्द्र	बर्हिः जुषाणः	आसन को स्वीकार करते हुए
पृथिव्याः प्रदिशा	भूमि की उपदिशा में निर्मित (प्राचीन बर्हिशाला को लक्ष्य करते हुए)	नः प्राचीनं सीदतु	हमारे सनातन यज्ञस्थान में विराजमान होओ॥ ३९॥
आदित्यैः	बारह आदित्यों		

तेजस्वी किरणों से मंडित अति कीर्तिमान।
वे इन्द्रदेव हों हम सब पर अति प्रीतिमान[4]॥
प्रदिशा[5] है यह धरती की पावन शोभमान।
विरचित इस पर प्राचीन बर्हिशाला[6] महान॥

१ अग्नि; २ महान यज्ञ; ३ महान भाग्यशाली; ४ प्रसन्न; ५ उपदिशा; ६ यज्ञशाला।

द्वादश आदित्यों, अष्ट वसुगणों से सेवित।
तुम करो यज्ञमंडप में निज आसन शोभित॥
विस्तीर्ण तुम्हारे हेतु आस्तरण[1] यह सुखकर।
श्री से सुषमा से भर दो यह क्रतु देवेश्वर॥ ३९॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र की तरह इस मंत्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वे बारह आदित्यों और आठ वसुओं के साथ इस यज्ञ में पधारें और उसकी शोभा बढ़ावें। ३९

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना
वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताᳬ
सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः॥ ४०॥

कवष्यः	जिस प्रकार उत्तम स्तुति करनेवाली अथवा बोलने में चतुर,	देवीः महोभिः	विद्यादि गुणों से प्रकाशमान और तेजस्वी अच्छे गुणों से युक्त सेनाएँ
जनयः	उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ	वीरं प्रथमानाः	वीर्यवान राजा की शक्ति एवं यश को बढ़ाती हैं।
सुपत्नीः	अच्छी गृहस्वामिनियाँ	द्वारः दुरः	शत्रु को निवारण करनेवाले द्वारों के समान सुदृढ़ सेनाएँ,
धावमानाः	शुद्ध होकर		
वृषाणं यन्तु	समर्थ पति को प्राप्त होती है,	इन्द्रं अभितः	इन्द्र के सब ओर
सुवीराः	उसी प्रकार उत्तम वीर पुरुषों से सजी हुई,	वि श्रयन्ताम्	विविध प्रकार से खड़ी हों॥ ४०॥

शोभना[2] साध्वियाँ[3] जो हैं उत्तम स्तवन-कुशल।
है श्रेष्ठ प्रजा के उत्पादन का जिनमें बल॥

---

१ बिछौना या आसन; २ सुन्दर, ३ सतीधर्म का पालन करनेवाली गृहपत्नियाँ।

हो रजोधर्म से शुद्ध प्राप्त करतीं निज पति।
सेनाओं से हों वैसे ही परिवृत सुरपति॥
वे सेनाएँ हों उत्तम वीरों से सज्जित।
अतिशौर्य-तेज से मंडित हों रण में शोभित॥
वे वीर इन्द्र का बल यश करें सतत विस्तृत[१]।
हों शत्रु शमन वे अति दृढ़ द्वारों-सी संस्थित॥
ऐसी अजेय सेनाओं से परिवृत[२] सुरपति।
दुर्द्धर्ष महाअसुरों की हो अप्रतिहत[३] गति॥ ४०॥

टि०—जैसे उत्तम संतान उत्पन्न करने में समर्थ साध्वी पत्नियाँ रजोधर्म से पवित्र होकर अपने पति का सेवन करती है, वैसे ही इन्द्र उत्तम सेनाओं से घिरे रहे और निरन्तर विजय प्राप्त करें। ४०

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं
पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती
देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥ ४१॥

बृहती पयस्वती	बड़ी और दूध वाली,	उषासानक्ता	उषा और रात्रि
सुदुघे	सुन्दर दोहन वाली,	बृहन्तं शूरं	महान पराक्रमी
ततं तन्तुं	विस्तारवान सूत्र के समान,	देवानां देवं इन्द्रं	देवताओं के भी देवता इन्द्र को
पेशसा	उत्तम सौन्दर्य से	सुरुक्मे यजतः	सुन्दर दीप्ति से युक्त करती है॥ ४१॥
संवयन्ती	इन्द्र को (शोभा से) युक्त करनेवाली		

है बड़ी दूध वाली सुंदर दोहन वाली।
ये उषा-निशा हैं सूत्र-सदृश विस्तारवती[४]॥
संग्रथित इन्द्र को करतीं ये शोभा के रूपाकारों में,
देवों के देव सदा ही है वे शूर अन्यतम विजयव्रती।
इन्द्र की परम श्री को निर्मायक[५] हैं दोनों,
करती प्रदान हैं दीप्ति उन्हें वे रुक्मवती[६]॥ ४१॥

---

१ विस्तारयुक्त; २ घिरे हुए; ३ निर्बाध; ४ धागे की तरह फैलनेवाली; ५ बनानेवाली; ६ स्वर्णमयी।

टि०—बड़ा कवित्वपूर्ण मंत्र है। इन्द्र परमेश्वर का ही अभिधान है। यह गोचर विश्व उन्हीं का विराट् विग्रह है। उषा और निशा परमेश्वर के विराट् अनेक रूपाकारों में संज्ञा को नित्य नवीन रूपों में प्रस्तुत करती हैं। उन्हें सुवर्णवती शोभा से मंडित करती रहती है। ४१

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा
होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।
मूर्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना
प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

पुरुत्रा मिमानाः	बहुत प्रकार से यज्ञ की रचना करनेवाले	इन्द्रं दधाना	इन्द्र को स्थापन करते हुए,
मनुषः	मानव होता के	दैव्या होतारौ	दिव्य होता वायु और अग्नि
प्रथमा सुवाचा	पहले सुन्दर वचन वाले	प्राचीनं ज्योतिः	पूर्व दिशा में वर्तमान आहवनीय यज्ञ को
यज्ञस्य मूर्धन्	यज्ञ के प्रधान अंग शिरोभाग में	मधुना हविषा	मधुर हवि से
		वृधातः	बढ़ाते हैं ॥ ४२ ॥

बहुविध रचना यज्ञों की करते जो मानव।
होता के पहले शिरोभाग[1] में यज्ञों के॥
जो सुंदर वचनों से शोभित होती नित नव।
स्थापित करते हैं इन्द्रदेव को आदर से॥
होता बनता है वायु दिव्य, हो अग्नि पूर्व में वर्तमान।
करते हैं आहवनीय अग्नि को मधु हवियों से वर्द्धमान॥
ऐसे ऋतुकृत[2] मानव पाते हैं धरती सम्मान अमित।
देवों से सत्कृत होते हैं, यश होता रहता है वर्द्धित॥ ४२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि जिस यज्ञ में सुन्दरवाणी से मंत्रपाठ होता है, प्रधान अंग में इन्द्र की प्रतिष्ठा होती है, उसमें वायु दिव्य होता होते हैं और अग्नि स्वयं अपने दूसरे रूप आहवनीय अग्नि में मधुर आहुतियाँ डालते हैं। ऐसे यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य यशस्वी होते है। ४२

---

१ प्रधान स्थान;　२ यज्ञकर्ता।

तिस्रो देवीर्हविषा वर्धमाना
इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः ।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा
देवी भारती विश्वतूर्तिः ॥ ४३ ॥

देवीः विश्वतूर्त्तिः	दीप्तिमान और सर्वगामिनी
सरस्वती भारती इडा	सरस्वती भारती और इला नामक देवियाँ
तिस्रः वर्धमानाः	तीनों वृद्धि करती हुई
पत्नीः जनयः न	साध्वी स्त्रियों के समान,
इन्द्रं जुषाणाः	इन्द्र की सेवा करती हुई ये
देवीः	देवियाँ
पयसा हविषा	दूध और हवि से
तन्तुं अच्छिन्नम्	यज्ञ को विघ्न-रहित करें ॥ ४३ ॥

सरस्वती, भारती, इड़ा है दीप्यमान अति सर्वगामिनी[1] ।
दुग्ध आज्य आहुति प्रस्तुत कर बनें यज्ञ को विघ्नहारिणी ॥
करें यज्ञ में इन्द्रदेव का निज सेवाओं से परितोषण[2] ।
जैसे साध्वी सतियाँ करतीं निज पति का सम्यक् आराधन ॥
ये तीनों देवियाँ शक्तियाँ है मानवहित मंगलकारी ।
इनके सम्यक् आराधन से होतीं प्राप्त सिद्धियाँ सारी ॥ ४३ ॥

टि०—यज्ञ की सहायक तीन देवियाँ हैं— सरस्वती, भारती और इड़ा । यज्ञों के अधिष्ठाता देवता इन्द्र हैं । सरस्वती के मार्गदर्शन में जो यज्ञ संपन्न होते हैं, उनका निर्विघ्न होना स्वाभाविक है । इसलिए यह कहा गया है, जैसे साध्वी स्त्रियाँ अपने पति की सेवा कर उन्हें संतुष्ट करती है, वैसे ही इन देवियों के सहयोग से यज्ञ निर्विघ्न संपन्न हो और इन्द्र प्रसन्न हों । ४३

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय
वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि ।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्धन्
यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥ ४४ ॥

---

१ सर्वत्र गमन करने की शक्ति वाली; २ प्रसन्नता ।

त्वष्टा वृष्णे	उत्तम कार्यों को करने में समर्थ और शत्रुओं की शक्ति को नष्ट करनेवाले तेजस्वी त्वष्टा	वृषा	मनोरथों की वर्षा करनेवाला
इन्द्राय	इन्द्र के लिए	भूरिरेताः	अत्यन्त पराक्रमी,
शुष्मन् दधत्	बल को धारण करे और वह	वृषणं यजन्	बलवान इन्द्र को प्राप्त करता हुआ,
अपाकः यशसे	सबसे अधिक प्रशंसनीय कीर्ति और यश के लिए	यज्ञस्य मूर्द्धन्	यज्ञ के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होकर
अचिष्टुः पुरूणि	पूजित होनेवाला होकर बहुत पदार्थों को धारण करे।	देवान् सं अनक्तु	विजयशील विद्वान देवताओं की सभा बुलावे ।। ४४ ।।

उत्तम कार्यों के संपादन में जो समर्थ,
वह वीर करे बल वहन परंतप[1] इंद्र हेतु।
यश हो सर्वाधिक उसका सदा प्रशंसनीय,
इस जग में सब पूज्यों का वह बन जाय केतु[2] ।।
वह करे सदैव पदार्थों को बहुविध धारण।
वह बने इन्द्र की प्राप्ति-हेतु साधना-सेतु ।।
हैं इन्द्र मनोरथ की वर्षा करनेवाले,
है परम पराक्रमवान और बलवान इन्द्र।
वह विजयशील विद्वान् करे देवाराधन,
सबसे ऊँचे पर हों नित आसीन इन्द्र ।। ४४ ।।

टि०—इन्द्र परमैश्वर्यशाली परमेश्वर का नाम है। वे परमेश्वर आसुरी शक्तियों का विनाश करते है, इसलिए संसार के सत्त्व-शील मनुष्यों को इन्द्र के कार्य को पूरा करने में सहयोग करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति संसार के पूजनीयों में श्रेष्ठ बन जाता है। पूज्यों की पूजा हो और अपूज्य का निरादर हो, तभी समाज में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सकती है। इन्द्र सब उच्चतम आदर्शों और मूल्यों के धारण करनेवाले है। उनके आदर-सम्मान और पूजा का अर्थ है, उन लोगों का सम्मान करना जो अपने जीवन में आदर्शनिष्ठ है और जो उच्चतम मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध है। ४४

---

१ शत्रुओं को तपानेवाले; २ ध्वजा अर्थात् उत्कर्ष का मानदंड।

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या
समञ्जञ्छमिता न देवः ।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति
यज्ञं मधुना घृतेन ॥ ४५ ॥

वनस्पतिः	वनस्पति महावृक्ष वट	इन्द्रस्य	और ऐश्वर्यवान इन्द्र के
पाशैः अवसृष्टः	स्वयं सभी बन्धनों से मुक्त होकर भी	जठरं	उदर के समान
त्मन्या	अपने ही सामर्थ्य से	हव्यैः पृणानः	हवि-योग्य अन्नों से पूर्ण करता हुआ,
सं अञ्जन्	प्रकाशमान होकर सम्पर्क करता हुआ,	यज्ञं मधुना	यज्ञ को तेज से और मधुर शहद से
देवः	दिव्यगुणयुक्त		
शमिता न	शान्ति देनेवाले के समान सबका हितकारी हो जाता है,	घृतेन स्वदाति	तथा घृत से युक्त भोजन के समान स्वयं ग्रहण करता है ॥ ४५ ॥

सब पाशों से है मुक्त वनस्पति वट महान ।
अपने ही बल से रहता नित्य प्रकाशमान ॥
है दिव्य गुणों से मंडित यह शान्तिप्रद सतत ।
है सबके हित वह छायाप्रद हित अविरत ॥
वैभवशाली इन्द्र के उदर-सा वह विस्तृत ।
अन्नों से करता पूर्ण यज्ञ का मंडप नित ।
ऋतु को करता है वह सुव्यवस्थित संगत अति ॥
मधु और आज्य[1] से युक्त भोग का कर सेवन ।
वह वट करता है सदा पुष्ट अपना जीवन ॥ ४५ ॥

टि०—वट की तरह युक्त आहार-विहार करता हुआ मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करे और लोक-कल्याण करे । इस मंत्र में वट वृक्ष का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है । वह मनुष्य की महानता का प्रतीक है । ४५

---

१ घृत, घी ।

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूर इन्द्रो
वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् ।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा
देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ४६ ॥

शूर	शुर,	घृतप्रुषा	घृत की आहुतियों से
वृषायमाणः	शत्रुओं के प्रति अपना बल प्रकट करनेवाला एवं	मनसा मोदमानाः	मन से आनन्दित होते हुए,
वृषभः	मेघ के समान सुखवर्षा करनेवाला,	अमृताः देवाः	ये सब मरण-रहित देवगण
		स्तोकानां	थोड़े- से
तुराषाट् इन्द्रः	शत्रुओं को पराजित करनेवाला इन्द्र (और)	इन्दुं	घृतबिन्दुयुक्त सोम को पाकर
स्वाहा	स्वाहाकार में	प्रति मादयन्ताम्	आनन्दित होवें ॥ ४६ ॥

शूरों में सर्वाग्रणी[1] इन्द्र अरियो के हैं धर्षक[2] महान।
मेघों से सुख बरसाते हैं हिंसक खलगण कर विगत प्राण ॥
स्वाहायुत घृत की आहुतियाँ पाकर होते वे आनंदित।
ये अमर देवगण भी होते हैं उन आहुतियों से मोदित ॥
घृत बिंदु अल्प से युक्त सोम को पाकर ये देवता अमर।
आनंदित हों, मानव का जीवन करते रहें सदा भास्वर ॥ ४६ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों को यह आदेश दिया गया है कि वे शूरों में अग्रणी, महान बलवान, शत्रुओं का बल से धर्षण करनेवाले, मेघों के समान सुख की वर्षा करनेवाले इन्द्र को स्वाहायुक्त घृत की आहुतियाँ देकर प्रसन्न करें। इस प्रकार अमर देवगण भी प्रसन्न होंगे। इस प्रकार जीवन प्रकाशमान बनता है। ४६

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न
इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न
क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ ४७ ॥

---

१ सबसे प्रमुख; २ धर्षण करनेवाले ।

शूरः इन्द्रः	पराक्रमी इन्द्र
नः अवसे	हमारी सुरक्षा के लिए
इह उप आ यातु	यहाँ प्राप्त हो,
स्तुतः	प्रशंसित होकर रहे,
सधमाद् अस्तु	समस्त जनों के साथ समान स्थान वाले होकर रहे,
यस्य पूर्वीः	जिसके पूर्ण सामर्थ्य वाली
तविषीः	वड़ी-वड़ी सेनाएँ और शक्तियाँ विद्यमान है।
वावृधानः	(वह) वृद्धि को प्राप्त होनेवाली है,
अभिभूति क्षत्रम्	शत्रु को पराजित करने में समर्थ उसक्षात्रबल को
द्यौः न पुष्यात्	द्विलोक अथवा सूर्य के समान (वह इन्द्र) तेजस्वी और पुष्ट करे ॥ ४७ ॥

रक्षा के हेतु हमारी इन्द्रदेव आवें।
रक्षा के हेतु हमारी इन्द्र निकट आवें॥
हों स्तूयमान वे सब देवों के सहित यहाँ।
सब जनों के सहित करें प्रसन्न निवास यहाँ॥
हैं परम पूर्ण सामर्थ्यवान वे विश्वविदित।
है महत्कार्य संपादन-क्षमता से मंडित॥
वे स्वयं वृद्धि को होते रहते प्राप्त सतत।
हो चरम क्षात्रबल से उद्भासित वे अविरत॥
वे करते रहें शत्रुओं को नित पराभूत[1]।
सूर्य के सदृश हो पुष्टि-तेज-दाता अकूत[2]॥ ४७ ॥

टि०—इन्द्र से प्रार्थना की गई है, वे हमारी रक्षा के लिए हमारे निकट आवें। वे हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर सब देवताओं के साथ यहाँ आवें। वे परिपूर्ण क्षात्रबल से संपन्न हैं, महान से महान कार्य करते हैं। विश्व में उनकी कीर्ति प्रकाशमान है। वे सूर्य के समान प्रकाशित रहकर हमको परिपुष्ट करें और हमारा तेज बढ़ावें। ४७

आ नु इन्द्रो दूरादा नं
आसार्दभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठाभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे
समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ ४८ ॥

१ पराजित; २ अननुमेय।

हे अग्ने ! हम रहें सदा पणियों[1] से रक्षित।
रहें हमारी दुर्ग - परिधियाँ चिर अभेद्य स्थित ॥
करें अनुभरण[2] दुर्ग - परिधियों का जागृत रह।
अन्न और जल से परिपूरित रहें सदा वह ॥
सर्वव्यापक देव ! दिव्य गुणवान सुधीजन।
करते रहते प्रीतिभरित सेवन आराधन ॥
करें सदा हम कर्म-धर्म प्रीतिकर तुम्हारे।
कभी न हों प्रतिकूल आपसे चित्त हमारे ॥
पुष्टि-तुष्टिकर अन्न सदा हम तुमसे पावें।
दुर्ग रहें दुर्भेद्य शत्रुओं पर जय पावें ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में श्लेषालंकार है। अतएव मनीषी आचार्यों ने इसके द्विविध अर्थ किये हैं। महामनीषी सातवलेकरजी के अनुसार इस मंत्र में शत्रुओं का आक्रमण होने पर सुरक्षा की क्या व्यवस्था रहनी चाहिए, यह बतलाया गया है। इस मंत्र में 'पणि' शब्द आया है। 'पणि' के अर्थ हैं, वे शत्रु जो व्यापार-व्यवहार करते हुए सहसा सेना लेकर आक्रमण कर देते हैं। उनके आक्रमण को विफल करने के लिए क़िलों की परिधि अर्थात् दीवारें मज़बूत बनाई जानी चाहिए। शत्रु के आक्रमण-काल के लिए अभीष्ट जल और अन्न का संचय रहना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार 'पणि' का अर्थ है 'दिव्य गुणवाले विद्वान्'। ये विद्वान् शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को सर्वतोभावेन सुखी बनाने का उपक्रम करते रहें। मनुष्यों को सब प्रकार की अग्नियों की शक्ति सिद्ध कर लोक को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। काव्यानुवाद में दोनों प्रकार के अर्थों की छाया का ग्रहण किया गया है। १७

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि
मादयध्वꣳ स्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

विश्वे देवाः	हे सब देवताओ !	ये प्रस्तरेष्ठाः	हे पत्थरों के आश्रित रहनेवालो !
संस्रव	अच्छी तरह स्रवनेवाला रसमय अन्न	च परिधेयाः	और हे परिधि के आश्रय में रहनेवालो !
भागाः स्थ	जिनका भाग है, ऐसे तुम हो।		
इषा बृहन्तः	इसके सेवन से बड़े बनो।	विश्वे देवाः	सब देवताओ !
		इमां	इस

१ वे शत्रु जो व्यापार-व्यवहार करते हुए सेना लेकर आक्रमण करते हैं;
२ अनुकूलता से भरना, पूरा करना।

मघवा विरप्शी	ऐश्वर्यवान, महान्
वज्री इन्द्रः	वज्रधारी इन्द्र
नः अवसे	हमारी रक्षा के लिए
च राधसे	और सम्पत्ति की वृद्धि के लिए
अर्वाचीनः	हमारे सम्मुख आता हुआ
हरिभिः	घोड़ों के द्वारा
अच्छ आ यातु	अच्छी तरह आगमन करके
नः इमं यज्ञं	हमारे इस यज्ञ में
अनु वाजसातौ	तथा प्रजापति के महान कार्य में
तिष्ठति	उपस्थित रहे ॥ ४९ ॥

ऐश्वर्यवान हैं इन्द्र वज्रधारी महान।
आवें वे विरमणशील[1] करें रक्षा प्रदान ॥
रक्षा के हित संपत्ति-वृद्धि के हित आवें।
निज अश्वों से आगमन करें, शोभा पावें ॥
आगमन करें हम सबके इस क्रतु में महान।
यह कार्य प्रजापति का है, इसका करें मान ॥ ४९ ॥

टि०—महान ऐश्वर्यवान वज्रधारी इन्द्र का यज्ञ में पधारने के लिए आवाहन किया गया है। वे यज्ञ में पधारें, हमारी रक्षा करते हुए हमारे धन-वैभव की वृद्धि करें। वे अपने घोड़ों से अच्छी प्रकार यहाँ आवें और शोभा प्राप्त करें। यह यज्ञ प्रजापति का महान अनुष्ठान है। इन्द्रदेव इसमें उपस्थित रहें, इसे सम्मान प्रदान करें। ४९

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ
हवे-हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति
नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ५० ॥

त्रातारं इन्द्रं	रक्षा करनेवाले इन्द्र को
ह्वयामि	मैं बुलाता हूँ,
अवितारं इन्द्रं	पालन करनेवाले इन्द्र को
हवे हवे (ह्वयामि)	प्रत्येक यज्ञ में बुलाता हूँ,
सुहवं शूरं इन्द्रं (ह्वयामि)	उत्तम रीति से आह्वान किये जाने योग्य, पराक्रमी इन्द्र को बुलाता हूँ,
शक्रं पुरुहूतं इन्द्रं (ह्वयामि)	समर्थ बहुतों से सत्कार प्राप्त इन्द्र को बुलाता हूँ,

१ विराम करनेवाले।

अभिष्टिकृत् उग्रः	सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला, दुष्टों पर क्रोध करनेवाला,
ओजिष्ठेभिः	उत्कृष्ट एव तेजस्वी योद्धाओं से
नृपतिः वज्रबाहुः	वज्रधारी राजा
सङ्गे	एक संग्राम में
समत्सु पृतन्यून्	तथा बहुत से बड़े युद्धों में सेना और संग्राम की इच्छा करनेवाले
तुर्वणिः इन्द्रः	शत्रुओं को मारने वाला इन्द्र
न अवसे	हमारी रक्षा के लिए
दूरात् आयासत्	दूर से आवे
नः आसात् आ	और हमारे निकट के स्थानों से भी आगमन करे ॥ ४८ ॥

हों इन्द्र दूर से प्राप्त हमारी रक्षा हित।
अति दूर द्युलोकादिक[1] से आवें रक्षा हित॥
अत्यन्त निकट से करें आगमन रक्षा-हित।
वे रक्षा करें मानवों की हम सबको नित॥
वे इन्द्र मनोरथदाता हैं बलवान परम।
वे वज्रबाहु पाते युद्धों में विजय चरम॥
संग्राम एक हो, हों अथवा दारुण अनेक।
शत्रु के दलन की इन्द्रदेव की अटल टेक[2]॥
वे इन्द्र हमारी रक्षा करें, यहाँ आवें।
दूर से, निकट से रक्षा हेतु सदा आवें॥ ४८॥

टि०—इन्द्र महाबलवान है, वज्रबाहु है, सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाले हैं। युद्ध एक हो, चाहे अनेक। सबमें वे विजय प्राप्त करते है। वे दूर से और निकट से आकर हम सब मनुष्यों की निरंतर रक्षा करें। ४८

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं
यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ ४९॥

---

१ द्युलोकादि जो दूर के देश हैं, २ प्रतिज्ञा।

अन्न के प्रभूत प्रदाता हैं वे प्रजापाल ॥
वे सुमृडीक[1] शोभन सुखकारी हों सदैव ।
रिपुओं के बाधित करें सदा वे देवदेव ॥
हम प्रजा अनुग्रह उनका करें प्राप्त अविरत ।
उत्तम सामर्थ्य पराक्रमपूरित रहें सतत ॥
शासक धरती के रहें इन्द्र से न्याय-निरत ।
वे करें प्रजा का रक्षण सुखवर्धन धृतव्रत ॥ ५१ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के गुणों का वर्णन करते हुए उनसे यह प्रार्थना की गई है कि वे प्रजा को सुखी बनावें । प्रजा अन्न और धन से एवं उत्तम सामर्थ्य और पराक्रम से परिपूर्ण रहे । शासक इन्द्र के गुणों का अनुसरण करें, तभी स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकती है । ५१

तस्य॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑
भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ।
स सु॒त्रामा॒ स्वव॒ाँ२ इन्द्रो॑ अ॒स्मे
आ॒राच्चि॑द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ॥ ५२ ॥

वयं तस्य	हम सब उस	स्ववान् इन्द्रः	ऐश्वर्यवान इन्द्र
यज्ञियस्य	यज्ञकर्ता पूजनीय इन्द्र की	अस्मे आरात	हमसे दूर स्थित
		च्चित्	होता हुआ भी
सुमतौ स्याम	सुमति प्राप्त करें,	द्वेषः	द्वेष करनेवाले शत्रुओं को (हमसे)
भद्रे	कल्याणकारी		
सौमनसे अपि	श्रेष्ठ मन में भी रहे ।	सनुतः युयोतु	सर्वदा पृथक् रखे ॥ ५२ ॥
सः सुत्रामा	वह उत्तम रक्षकों से शोभित		

हम सब मानव हैं ऋतुसंपादनव्रती[2] सतत ।
यज्ञप्रिय इन्द्र हैं वंद्य हमारे हित संतत ॥
वे विश्वविदित रक्षा करनेवाले उत्तम ।
उत्तम रक्षकगण से सेवित धनपति उत्तम ॥
वे दिव में दूर भले ही रहते हों संस्थित ।
द्वेषी अरियों को पृथक् करें वे हमसे नित ॥

---

१ शोभन सुख प्रदान करनेवाले; २ यज्ञानुष्ठान का व्रत पालन करनेवाले।

मघवा इन्द्रः	धनवान इन्द्र	नः स्वस्ति धातु	हमको कल्याण प्रदान करे ॥५०॥

करता हूँ रक्षक इन्द्रदेव का आवाहन।
करता हूँ पालक इन्द्रदेव का आवाहन॥
प्रति ऋतु में करता हूँ मैं उनका आवाहन।
हैं आवाहन के योग्य शूर वे अतिशोभन॥
करता मैं विक्रमवान इन्द्र का आवाहन।
करता हूँ मैं पुरुहूत[1] शक्र[2] का आवाहन॥
मैं बार-बार मघवा[3] का करता आवाहन।
आवें कल्याण प्रदान करें हमको प्रति क्षण॥ ५०॥

टि०—इस मंत्र में भी इन्द्रदेव का यज्ञ में आवाहन किया गया है। इन्द्र हमारे रक्षक और पालक हैं। वे समर्थ शूर हैं और आवाहन के योग्य हैं। ५०

इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॒२ अवो॑भिः सुमृ॒डी॒को भ॑वतु वि॒श्ववे॑दाः।
बाध॑तां॒ द्वेषो॒ अभ॑यं कृणोतु सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम॑ ॥ ५१ ॥

सुत्रामा इन्द्रः	सबका उत्तम स्थानों से पालन करनेवाला इन्द्र	सुमृडीकः भवतु	(और)सुखकारी हो।
स्ववान्	अपने सहायकों से युक्त,	द्वेषः बाधतां	द्वेष करनेवालों को पीड़ा पहुँचावे,
विश्ववेदाः	समग्र ज्ञानैश्वर्ययुक्त	अभयं कृणोतु	हम सब प्रजाजनों को निर्भय बनाए।
अवोभिः	अन्नों द्वारा अपनी सब प्रजा जनों की रक्षा करे,	सुवीर्यस्य पतयः	(हम) उत्तम सामर्थ्य और पराक्रम के स्वामी (हम)
		स्याम	होवे ॥ ५१ ॥

उत्तम से उत्तम साधन सब कर संयोजित।
करते रहते हैं इन्द्र प्रजा का पालन नित॥
हैं साधुत्राणपरायण[4] वे धनवान परम।
नाना सहायकों से शोभित बलवान चरम॥
ऐश्वर्य अशेष सुलभ हैं उनको सर्वकाल।

---

१ बहुतों से आहूत और सत्कृत इन्द्र; २ समर्थ; ३ धनवान; ४ सज्जनों की रक्षा करनेवाले।

टि०—इस मंत्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वे अपने हरे रंग के अश्वों पर यहाँ आवें। इन्द्र के घोड़ों का रंग मोरपंखों का-सा हरा है। वे मन्द्र हेषारव करते हुए आवें। इन्द्र कभी शत्रुओं के बंधन में न पड़ें। जिस तरह से कोई पथिक मरुस्थल की विषम बाधाओं को पददलित करता हुआ गन्तव्य को प्राप्त करता है, वैसे ही इन्द्र भी शत्रुओं के व्यूह को चीरकर हमें प्राप्त हो। ५३

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं
वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स न स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं
पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५४ ॥

वृषणं	कामनापूर्ति की वर्षा करनेवाले
वज्रबाहुं इन्द्रं	बाहु में वज्र धारण करनेवाले इन्द्र का
एव इत	ही सत्कार करो।
वसिष्ठासः अर्कैः	ब्रह्मर्षि वसिष्ठ मन्त्रों और प्रशंसित कर्मों द्वारा
अभि अर्चन्ति	उनकी पूजा करते हैं।
सः स्तुतः	वह यशस्वी और स्तवन किया जाने वाला इन्द्र
नः वीरवत्	हमारे वीरों से युक्त,
गोमत् धातु	और गोधन से समृद्ध होकर राष्ट्र की रक्षा करे।
यूयं नः सदा	(हे ऋत्विजो!) तुम सब भी हमारे लिए सर्वदा
स्वस्तिभिः पात	अनेक कल्याणों के साथ रक्षा करने वाले हों ॥ ५४ ॥

धारासार कामप्रद मेघों-सी करते हैं वृष्टि।
वज्रधरण[1] इन्द्र की बाहुओं से रक्षित है सृष्टि ॥
बहु ब्रह्मर्षि वसिष्ठ-सदृश करते मंत्रों से अर्चन।
इन्द्रदेव का शत-शत स्तुतियों से होता आराधन ॥
इन्द्रदेव हे! राष्ट्र हमारा है वीरों से ऊर्जित[2]।
गोधन से समृद्ध है, पद-पद रहे तुम्हीं से रक्षित ॥
ऋत्विजगण! तुम सदा यज्ञ करते रहते संपन्न।
स्वस्तिमयी[3] ऋतुकृति से रक्षित बने राष्ट्र अविपन्न[4] ॥ ५४ ॥

---

१ वज्र धारण करनेवाले, २ शक्तिशाली; ३ कल्याणकारी; ४ विपत्तिहीन।

हम उन वरेण्य इन्द्र की करें शुचि प्राप्त सुमति।
मन में हम धारण करें भद्र उनकी गति-सृति[1] ॥ ५२ ॥

टि०—इन्द्र को यज्ञ प्रिय है। इसीलिए उनका एक नाम शतक्रतु है। वे हम सब यज्ञवती मानवों के लिए वंदनीय हैं, वे उत्तम रक्षा करनेवाले हैं। उत्तम धन के संचयिता और स्वामी हैं। यद्यपि उनका निवास द्युलोक में है, फिर भी वे हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं। परम पूजनीय इन्द्र की सद्बुद्धि हमें प्राप्त हो। उनकी कल्याणकारी कार्यविधि हमारे जीवन का अंग बन जाय। ५२

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि यमन् विं न
पाशिनोऽति धन्वेव ताँ२ इहि ॥ ५३ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	त्वा केचित्	उस प्रकार से तुमको कोई भी शत्रु
मयूररोमभिः	मोरपंखों के समान वर्ण के लोमों वाले		
मन्द्रैः हरिभिः	और गम्भीर शब्द करनेवाले अपने घोड़ों द्वारा	मा नि यमन्	अपने बन्धन में नियन्त्रित न कर सके।
आ याहि	यहाँ पधारो।	तान्	उन दुष्ट शत्रुओं को
पाशिनः	पाश फेंकनेवाले शिकारी	अति धन्वा इव	बड़े धनुर्धर के समान
न विं	जिस प्रकार से पक्षी को फँसा लेते हैं,	अति आ इहि	दूर करके हमको प्राप्त होओ ॥५३॥

आओ, हे इन्द्र ! मन्द्र-हेषित[2] निज अश्वों पर।
जिनके हैं रोम मयूरपंखवर्णी भास्वर ॥
पक्षी को करते व्याध जिस तरह विवश बद्ध।
उस भाँति करे रिपु कोई तुम्हें न बद्ध-रुद्ध ॥
तुम महाधनुर्धर अप्रतिभट हे महावीर !।
खल रिपुदल विदलित कर दो उनका व्यूह चीर ॥
जिस भाँति पान्थ[3] मरुपथ[4] को करते अतिक्रान्त[5]।
हो प्राप्त हमें तुम रिपुदल का कर दलित ध्वान्त[6]॥ ५३ ॥

---

१ कार्यपद्धति; २ गंभीर हिनहिनाने का शब्द करते हुए; ३ यात्री;
४ रेगिस्तान; ५ पार; ६ अन्धकार।

सुते	सोमयाग में	मध्वा रजांसि	मधु के समस्त लोकों को
तनूपा भिषजा	शरीर के रक्षक और सब रोग दूर करनेवाले	इन्द्रियं पथिभिः	अनेक मार्गो से
उभा अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार और	इन्द्राय वहान	परम ऐश्वर्यवान इन्द्र की ओर ले जाते हैं ॥ ५६ ॥
सरस्वती	सरस्वती		

हैं शरीर के रक्षक दोनों भिषक्‌श्रेष्ठ[1] अश्विनीकुमार।
सब रोगों के निर्मूलन[2] की शक्ति प्राप्त है उन्हें अपार॥
वे दोनों पाकर सरस्वती का सहयोग वरेण्य परम।
इन्द्र हेतु मधु से कर देते पूरित लोकों को उत्तम॥
विविध यज्ञमार्गो से करते इन्द्र-हेतु वे वीर्य वहन।
उसी भाँति से करें मनुज सब इस मधुविद्या का साधन॥ ५६ ॥

टि०—इस मंत्र में मधु-विद्या की साधना का संकेत है। अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् अर्थात् दधीचि ऋषि से यह मधु-विद्या सीखी थी। मानवों को इस विद्या की साधना कर शरीर और मन को स्वस्थ बनाना चाहिए। इस मधु-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य रोग-निवारण कर पूर्ण स्वस्थता प्राप्त करने में समर्थ होता है। यह विद्या धर्ममार्ग पर चलने का उपदेश भी देती है। ५६

इन्द्रा॒येन्दु॑ꣳ॒ सर॑स्वती॒ नरा॒शꣳसे॑न न॒ग्नहु॑म्।
अधा॑ताम॒श्विना॒ मधु॑ भेष॒जं भि॒षजा॑ सु॒ते॥ ५७ ॥

सरस्वती	सरस्वती	भिषजा अश्विना	वैद्य अश्विनी-कुमारों ने
नराशंसेन	यज्ञ के द्वारा	सुते मधु	सोमयाग मे इस मधुर
इन्द्राय	इन्द्र के लिए	भेषजं अधाताम्	भेषज को स्थापित किया ॥ ५७ ॥
इन्दुं नग्नहुम्	सोम महोदधियों के कन्द को ले आयी और		

समानीत[3] है सरस्वती के द्वारा मानव-संस्तुत[4] शुचिकृत[5]।
हुआ मधु-मधुर सोमकंद यह इन्द्र हेतु यज्ञों में निर्मित॥
भिषक्‌श्रेष्ठ अश्विनीकुमारों ने की यह ओषधि आविष्कृत।
सोमयाग में किया इसे है जन-कल्याण हेतु संस्थापित॥ ५७ ॥

---

१ श्रेष्ठ वैद्य; २ जड़ से उखाड़ फेंकना; ३ लाई गई; ४ मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित; ५ पवित्रता से बनाई गई।

टि०—मंत्र के पूर्वार्द्ध में इन्द्र की महिमा और पौरुष का वर्णन है। उनसे निवेदन किया गया है कि वे इस राष्ट्र की रक्षा करें। ऋत्विजों से भी अनुरोध किया गया है कि वे कल्याणकारी यज्ञकर्म करते हुए राष्ट्र को सुरक्षित और शक्तिसंपन्न बनावें। ५४

समिंद्धो अग्निरंश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः ।
दुहे धेनुः सरंस्वती सोमंꣳ शुक्रमिहेन्द्रियम् ॥५५॥

अश्विनौ	हे दोनों अश्विनीकुमारो !	सुतः	सोम से निकाला हुआ रस है।
अग्निः समिद्धः	अग्नि जैसे तेजस्वी	सरस्वती	सरस्वती
तप्तः	अपने तेज से अत्यन्त प्रदीप्त,	धेनुः इह	गौ के समान
घर्मः	तपा हुआ,	शुक्रं इन्द्रियम्	शुद्ध कान्तिमान इन्द्र राजा के पद के योग्य
विराट्	विविध प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त होकर (यह)	सोमं दुहे	सोम का दोहन करती है ॥ ५५ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! है यह अग्नि तेज से अपने दीपित।
तप्यमान[1] हो बहु ऐश्वर्यों द्वारा हुआ सोमरस निर्मित ॥
सरस्वती गो-सदृश यज्ञ में करती सार-प्रदान हमें नित।
शुद्ध कान्तिमत्[2] सोम उन्हीं के द्वारा होता है यह दोहित ॥
पद के योग्य इन्द्र के करती हैं वे सदा सोम का दोहन।
इन्द्रियगण का इन्द्रदेव की होता उससे बल का वर्द्धन ॥ ५५ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के ऐश्वर्यमय व्यक्तित्व के दो पक्षों के संकेत हैं। एक का प्रतीकात्मक वर्णन अश्विनीकुमारों के माध्यम से किया गया है, दूसरे का सरस्वती के द्वारा। अश्विनीकुमार पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करनेवाले देवताओं के वैद्य हैं। उनके आविर्भाव का काल ब्राह्मवेला है, जब उषा आती है और रात्रि विदा होती होती है। सरस्वती बौद्धिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्रतीक हैं। इन्द्र के व्यक्तित्व की महिमा इन देवताओं के व्यक्तित्व के द्वारा निर्देशित है। ५५

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरंस्वती ।
मध्वा रजांꣳसीन्द्रियमिन्द्राय पृथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

---

१ तप्त होकर; २ प्रकाशमान।

अश्विना	दोनों आश्विनी-कुमारों ने
परिस्रुता सुतं	ओषधियों के रस के साथ मिलाये
शुक्रं सोमं	बल बढानेवाले सोमरस को
नमुचेः सरस्वती	नमुचि नामक शत्रु से सरस्वती ने हरण किया।
तं इन्द्राय पातवे	उसको इन्द्र के पीने के लिए
बर्हिषा	कुशो पर
आभरत्	स्थापित किया ॥ ५९ ॥

यह शुक्ल मलिनता-रहित सोम है शोभित।
अश्विनीकुमारों द्वारा है यह आहृत[1] ॥
यह नमुचि असुर के पास से गया लाया।
है सरस्वती ने इसको ग्राह्य बनाया ॥
यह हुआ कुशों पर उनके द्वारा स्थापित।
करते रहते हैं पान इन्द्र इसको नित ॥ ५९ ॥

टि०—इन्द्र के पीने के लिए जो सोमरस बनता है, वह अश्विनीकुमारों के और सरस्वती के सहयोग से बनता है। सरस्वती उसे यज्ञ में कुशों पर स्थापित करती है। इन्द्र उसका पान करते हैं। सोमरस-निर्माण की विद्या पहले नमुचि असुर के पास थी। उससे सरस्वती और देवताओं ने प्राप्त किया। ५९

क॒व॒ष्यो॒ न व्यच॑स्वतीर॒श्विभ्यां॒ न दुरो॒ दिशः॑ ।
इन्द्रो॒ न रोद॑सी उ॒भे दु॒हे कामा॒न्त्सर॑स्वती ॥६०॥

अश्विभ्यां	दोनों अश्विनी-कुमारों के सहित
सरस्वती	सरस्वती ने
न इन्द्रः	और इन्द्र ने
उभे रोदसी	दोनों द्यावा और पृथ्वी का
न कवष्यः	और अत्यन्त प्रशंसित तथा
व्यचस्वतीः दुरः	विस्तृत यज्ञीय द्वार के समान
न दिशः	और सब दिशाओं के समान,
कामान् दुहे	कामनाओं को पूर्ण किया ॥ ६० ॥

अश्विनीकुमारद्वय ने सरस्वती से मिल।
पाया सहयोग इन्द्र का पौरुषपूर्ण निखिल ॥

१ आहरण किया गया।

टि०—इस मंत्र में अश्विनीकुमार द्वारा आविष्कृत महोषधि का संकेत है, जिसको सोमयाग में पहले-पहल स्थापित और प्रचारित किया गया था। वह कंदरूप ओषधि बड़ी पवित्रता से बनाई गई है और सरस्वती के द्वारा इन्द्र के बलवर्धन के लिए लाई गई है। ५७

आजुह्वा॑ना सर॑स्वती॒न्द्रा॑येन्द्रि॒याणि॑ वी॒र्य॑म्।
इडा॑भिर॒श्विना॒विष॒ꣳ समू॒र्ज॒ꣳ सꣳ र॒यिं द॑धुः ॥५८॥

आजुह्वाना	इन्द्र को बुलानेवाली	वीर्यं सन्दधुः	और सामर्थ्य प्रदान किया।
सरस्वती	सरस्वती ने,		
अश्विनौ	दोनों अश्विनी-कुमारों ने	इडाभिः इषं	गौवों ने अन्न और
		ऊर्जं	दही आदि रस
इन्द्राय	इन्द्र को	रयिं सं (दधुः)	एवं धन प्रदान किया ॥ ५८ ॥
इन्द्रियाणि	इन्द्रियाँ		

करती हैं पुण्याह्वान[1] इन्द्र का सरस्वती।
यज्ञों में हैं सामर्थ्य विपुल उनमें भरती॥
सहयोग अश्विनी वैद्य उभय करते हैं।
उनकी इन्द्रियगण में वह बल भरते हैं॥
फिर गायों से पा पय, दधि, अन्न और धन।
करते हैं इन्द्र पराक्रम अनुपम धारण॥
होती है धर्मश्री नित नव संवर्धित।
रहता है जीवन-आधि-व्याधि[2] से वर्जित॥ ५८ ॥

टि०—जीवन की पूर्णता सरस्वती और अश्विनीकुमारों के सहयोग से संपन्न होती है। यह तथ्य इस मंत्र में प्रकट किया गया है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं—एक आध्यात्मिक और दूसरा दैहिक। आध्यात्मिक पक्ष और बौद्धिक पक्ष की पूर्णता सरस्वती के द्वारा संपन्न होती है। दैहिक पक्ष अश्विनीकुमारों के द्वारा पूर्ण बनता है। गायों के द्वारा लौकिक जीवन संपन्न बनता है, धर्मश्री की वृद्धि होती है। ५८

अ॒श्विना॑ नमु॑चेः सु॒तꣳ सोम॑ꣳ शु॒क्रं प॑रि॒स्रुता॑।
सर॑स्वती॒ तमा ऽभ॑रद्ब॒र्हिषेन्द्रा॑य॒ पात॑वे ॥ ५९ ॥

---

१ पवित्र आवाहन, २ मानसिक और शारीरिक व्याधि।

वाचं अभिगृणन्त.	घोषणा को सुनो।	मादयध्वं	आनंदित होओ।
अस्मिन्	इस	स्वाहा वाट्	सर्वस्व समर्पण की यह आवाज़ है ॥१८॥
बर्हिषि	आसन पर		
आसद्य	बैठे हुए ही (तुम)		

अये देवगण अन्न अखिल यह मधु-रस-स्रावी[1]।
भाग तुम्हारा, सेवन कर वह बनो प्रभावी॥
जहाँ रहोगे, प्राप्त रहेगा भोग्य तुम्हारा।
देवगणो! यह सुनो समर्पण-घोष[2] हमारा॥
करें सुधीजन सदा वेदवाणी का प्रवचन।
शुभ कर्मों से करें सदा जग-जन आराधन॥
यजन-कर्म से रहें हमारे प्रमुदित सुरगण।
करें हमारे हेतु सतत मंगल वर-धारण॥
ज्ञान, शक्ति, धन, कर्म रहें चारों सुसमन्वित।
मधुरस-स्रावी अन्न देवगण! तुमको अर्पित॥
शत्रु दमित हों, दुर्ग रहें दुर्भेद्य सुरक्षित।
प्रस्तर-निर्मित दुर्ग रहें अरियों से अविजित॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में देवताओं के चातुर्वर्ण्य का निर्देश है। वे हैं ज्ञान के देवता, शक्ति के देवता, धन के देवता और कर्म के देवता। इन चारों के समन्वयकारी कर्म-समवाय से समाज सुखी बनता है। इन सब प्रकार के देवताओं को रसमय अन्न का भाग देने की घोषणा इस मंत्र में की गई है। देवताओं के और विद्वानों के समुचित सम्मान से ही समाज को सुखी बनाया जा सकता है। देवकल्प विद्वज्जन जहाँ रहें, उनको उनका प्राप्य मिलता रहना चाहिए। १८

घृताचीं स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्।
यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे
मे संतिष्ठस्व ॥ १९ ॥

घृताची स्थ	तुम घृत से युक्त हो।	धुर्यौ पातं	(तुम) धुरा में जो नियुक्त हैं उनकी रक्षा और पालन करो।

१ मीठा स्वाद देनेवाला; २ वाणी।

सच्छिद्र यज्ञ के द्वार-सदृश जो हैं शोभन।
उन द्यावापृथिवी[1] का विधि-सहित किया दोहन॥
की निखिल दिशाओं से अपनी कामना-पूर्ति।
जीवन था पूर्णकाम प्रति क्षण चिन्मयी स्फूर्ति॥ ६०॥

टि०—अत्यन्त विराट् फलक पर जीवन की परिपूर्णता को प्रस्तुत करनेवाला यह एक महान मंत्र है। यह द्यावापृथिवी एक विराट् यज्ञमंडप है। इसमें ज्ञानयज्ञ के अनुष्ठान द्वारा सब कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है। यह यज्ञ अश्विनीकुमारों की कुशलता और दक्षता सरस्वती के ज्ञान और इन्द्र के पौरुष के सहयोग से संपन्न किया जा सकता है। यह यज्ञ इस विराट विश्व में व्याप्त परमात्म-तत्त्व के दोहन का यज्ञ है। जो इस अचित् में चित् का दोहन कर लेता है, अनात्म से परमात्म-तत्त्व प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन पूर्णकाम बन जाता है। उसका प्रति क्षण चिन्मयता से युक्त हो जाता है। ६०

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रंꣳ सायमिन्द्रियैः।
सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या॥ ६१॥

सरस्वत्या	सरस्वती के सहित	दिवा सायम्	दिन और सायंकाल
अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार	इन्द्रं इन्द्रियैः	इन्द्र को अनेक प्रकार की शक्तियों से
सञ्जानाने	एकमत होकर		
सुपेशसा	उत्तम रूप से	समञ्जाते	संयुक्त करते हैं॥ ६१॥
उषासा-नक्तं	प्रभात और रात्रि,		

सरस्वती के सहित हो गये पूर्ण एकमत।
उभय अश्विनी-बन्धु वैद्य-विद्या-पारंगत[2]॥
करते है सामर्थ्ययुक्त इन्द्र को निरंतर।
अहोरात्र सायं-प्रभात निज शक्ति-दान कर॥ ६१॥

टि०—इस मंत्र में सरस्वती और वैद्यविद्या में निष्णात अश्विनीकुमारो को इन्द्र को निरंतर सामर्थ्य-प्रदान करनेवाले कहा गया है। यह अनेक मंत्रों की टिप्पणियों में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन्द्र परमात्मा का बोधक है। 'इदि ऐश्वर्ये' धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', अर्थात् इन्द्र परमात्मा ने माया-रूपी स्वसंकल्प से अनेक रूप धारण किये। सरस्वती और अश्विनीकुमार सब उन्हीं परमात्मा इन्द्र की सेवा में लगे है। ६१

१ आकाश और पृथिवी; २ चिकित्सा के पूर्ण मर्मज्ञ।

पातं नो अश्विना दिवा पाहि नक्तंꣳ सरस्वति ।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रंꣳ सचा सुते ॥ ६२ ॥

अश्विना	हे दोनों अश्विनी-कुमारो !	दैव्या होतारा	हे दिव्य होताओ !
दिवा नः पातम्	दिन में हमारी रक्षा करो ।	भिषजा	हे वैद्यो !
सरस्वति	हे सरस्वती !	सुते सचा	सोमरस निकालने में एकमत होकर
नक्तं पाहि	तुम रात्रि में हमारी रक्षा करो ।	इन्द्रं पातम्	इन्द्र की रक्षा करो ॥ ६२ ॥

दिन में अश्विनीकुमारो ! रक्षा करो सतत ।
रात्रि में करो रक्षा हे सरस्वती ! अविरत ॥
हे परम दिव्य होताओ ! हे हे वैद्यगणो ! ।
इन्द्र की करो रक्षा, मेरी प्रार्थना सुनो ॥
यह सोमलता का रस है संतत रक्षणीय[1] ।
अमरत्वप्रदायक वैभव-हित है सेवनीय[2] ॥ ६२ ॥

टि०—इन्द्र परमात्मा का बोधक है । सोम उस परमात्म-तत्त्व का निदान है । अमरत्व-प्रदायक सोमतत्त्व सदा रक्षणीय है । अविद्या रूप रोगों को दूर करने के लिए सरस्वती के सहयोग से सोम का सेवन किया जाना चाहिए । ६२

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा ।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

त्रेधा	तीन प्रकार से स्थित	परिस्रुता तीव्रं	सब ओर से झरनेवाला तीक्ष्ण प्रभाव वाला
सरस्वती	सरस्वती,		
भारती इडा	भारती और इड़ा	मदं सोमं	प्रसन्नताकारक सोम
तिस्रः	इन तीनों ने		
अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमारों द्वारा	इन्द्राय सुषुवुः	इन्द्र के लिए निकाला है ॥६३॥

ये सरस्वती, भारती, इड़ा त्रेधा[3] संस्थित ।
सहयोग अश्विनीद्वय का करतीं संयोजित ॥

---

१ रक्षा करने योग्य; २ सेवन करने योग्य; ३ तीन प्रकार से ।

करतीं निष्पेषित तीव्र हर्षप्रद सोम सतत।
पाते जिससे परितोष शक्ति अति इन्द्र महत् ॥ ६३ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि सरस्वती, भारती और इड़ा ये तीन ःवियां अश्विनीकुमारों के सहयोग से सोमरस निकालती हैं। यह सोम आनन्द की बड़ी नेशित और निविड़ अनुभूति उत्पन्न करता है। इन्द्र इसका पान कर शक्ति और ारितोष प्राप्त करते हैं। इस मंत्र से सरस्वती, इड़ा और भारती इन नामों को अलग-ालग दिव्य सत्ताओं के वाचक के रूप में प्रयोग किया गया है। इनको तीन प्रकार से ़स्थित कहा गया है। मध्यस्थान में स्थित वाक् की अधिष्ठात्री देवी का नाम सरस्वती ़। द्युलोक में स्थित का नाम भारती है और पृथ्वी पर स्थित का नाम इड़ा है। ६३

अ॒श्विना॑ भेष॒जं मधु॑ भेष॒जं नः॒ सर॑स्वती।
इन्द्रे॒ त्वष्टा॒ यशः॒ श्रियँ॑ रू॒पँ-रू॑पमधुः सु॒ते[१] ॥६४॥

ुते	सोम का रस तैयार हो जाने पर	मधु भेषजं	मीठी ओषधि,
ः इन्द्रे	हमारे इन्द्र के लिए	त्वष्टा यशः	त्वष्टा देवता ने कीर्ति और
ाश्विना भेषजं	दोनों अश्विनी-कुमारों ने ओषधि,	श्रियं रूपं	कान्ति तथा अनेक प्रकार के
ारस्वती	सरस्वती ने	रूपं अधुः	रूप धारण किये ॥ ६४ ॥

देवी सरस्वती त्वष्टा-सह अश्विनी उभय।
ये हैं प्रयाज[१] देवता सिद्धिदायक अक्षय॥
इन्द्र के लिए करते हैं सोम यही परिस्रुत[२]।
निज को बहुरूपों में वे करते हैं प्रस्तुत॥
अश्विनीकुमार उभय बनते चिन्मय ओषधि।
बनतीं सरस्वती भेषज मधु उपनीत[३] सविधि॥
त्वष्टा धरते हैं कान्ति, कीर्ति, श्री का स्वरूप।
बनता व्यक्तित्व इन्द्र का बाह्यान्तर अनूप॥ ६४ ॥

टि०—सब देवताओं के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य इन्द्र में उपलब्ध है। अश्विनी-ुमार इन्द्र को शक्तिशाली बनाने के लिए स्वयं चिन्मय ओषधि बन जाते हैं, सरस्वती ाधुर भेषज बनती है और त्वष्टा रूप, कान्ति और कीर्ति बन जाते हैं। ६४

---

१ प्रधान यज्ञसंबंधी एक अनुष्ठान; २ बूंद-बूंद कर तैयार करना; ३ लाई ाई।

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता ।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥ ६५ ॥

वनस्पतिः इन्द्रः	वनों के पति इन्द्र ने	धेनुः सरस्वती	गौ ने तथा सरस्वती ने
शशमानः ऋतुथा	उत्तम रीति से ऋतुओं के अनुसार वृद्धि करते हुए	अश्विभ्यां	दोनों अश्विनी-कुमारों के साथ
परिस्रुता	उसके साथ अन्न	मधु दुहे	उत्तम रस का दोहन किया ॥६५॥
कीलालम्	को भी मिलाया ।		

गो ने, सरस्वती ने, अश्विनीकुमारों ने ।
दोहन अति उत्तम रस का, मधु का किया सविधि ॥
हैं निखिल वनस्पतियों के स्वामी इन्द्र विदित ।
करते हैं श्रेष्ठ रीति से वृद्धि प्राप्त बहुविध ॥
करते ऋतु के अनुसार सोमरस निष्पेषित[1] ।
कीलाल-अन्नरस[2] करते हैं उसमें मिश्रित ॥ ६५ ॥

टि०—इसमें यह निर्देश किया गया है कि जिस प्रकार वनस्पतियों के राजा इन्द्र वनस्पतियों का रस और अन्नरस मिलाकर सोमरस तैयार करते हैं, ऋतु के अनुसार उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करते है, वैसा ही प्रयत्न सबको करना चाहिए । ६५

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता ।
समधातꣳ सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥ ६६ ॥

अश्विना	हे दोनों अश्विनी-कुमारो !	सुतं मधु सोमं	सिद्ध किये हुए मधुर सोम को
सरस्वत्या	सरस्वती के द्वारा	इन्द्रे	इन्द्र के लिए
गोभिः	गो के दूध, घी आदि के साथ	समधातम्	अच्छी तरह अर्पित करो,
मासरेण	महौषधियों के	स्वाहा	उत्तम रीति से यह आहुति दी गयी है, इसे स्वीकार करो ॥ ६६ ॥
परिस्रुता	रस के साथ		
न	जैसे		

1 पीसकर तैयार किया गया; 2 अन्न का रस ।

यह मधुर सोम इन्द्र को करो सादर अर्पित।
अश्विनौ[1] ! गाय के पय-दधि से यह है मिश्रित ॥
यह ओषधियों के रस से सम्यक् संश्लेषित[2]।
है सरस्वती के द्वारा यह स्वयमेव[3] रचित ॥
इन्द्र के लिए है स्वाहा-सह यह हवि अर्पित।
उनके द्वारा हो यह शुचि सोमाहुति स्वीकृत ॥ ६६ ॥

टि०—अश्विनीकुमारों को संवोधित कर कहा गया है कि सरस्वती के द्वारा ओषधियों का रस, दूध, दही, घृतादि वस्तुएँ मिलाकर सोम की आहुति इन्द्र को प्रदान करो। स्वाहा के साथ दी गई यह आहुति वे अवश्य स्वीकार करेंगे। ६६

अश्विना॑ ह॒विरि॑न्द्रि॒यं नमु॑चेर्धि॒या सर॑स्वती।
आ शु॒क्रमा॑सु॒राद्वसु॑ म॒घमिन्द्रा॑य जभ्रिरे[1] ॥ ६७ ॥

अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार और	शुक्रं हविः	शुद्ध हवि,
सरस्वती	सरस्वती ने	इन्द्रियं मघं	ऐश्वर्य और पूज्य धन को
धिया	बुद्धि से	वसु आ जभ्रिरे	एवं वास प्रदान करनेवाला दिव्य धन लाकर अर्पित किया ॥ ६७ ॥
नमुचेः आसुरात्	नमुचि नामक दैत्य से		
इन्द्राय	इन्द्र के लिए		

अश्विनीकुमार उभय ने सरस्वती से मिल।
बुद्धि से हरण की नमुचि असुर की शक्ति अखिल ॥
इन्द्र के लिए छीना उसका ऐश्वर्य सकल।
उसका वरेण्य धन हुआ असुर हतश्री[4] हतबल[5] ॥
इन्द्र को समर्पित कीं ऋतु में हवियाँ उत्तम।
बन गया दिव्य यह वैभव-बल-वर्चस अनुपम ॥ ६७ ॥

टि०—अश्विनीकुमारों ने और सरस्वती ने मिलकर अपने बुद्धिबल से नमुचि असुर का ऐश्वर्य, धन और शक्ति छीनकर इन्द्र को यज्ञ में हवियों के साथ अर्पित कर दी। नमुचि असुर वह है जो सत्तालोलुप है। जो कुछ उसे प्राप्त है, उसे अकेले भोगना चाहता है— उसे छोड़ना नहीं चाहता है। 'छोड़ना नहीं चाहता', इसलिए वह 'नमुचि' है। ऐसे स्वार्थी सत्तालोलुप, धनासक्त, पदासक्त से उसका ऐश्वर्य और धन छीनकर परमात्मा को यज्ञ में अर्पित किया जाना चाहिए। वेद का आदेश है, लोभ मत कर,

---

१ दोनों अश्विनीकुमार; २ मिलाई गई; ३ अपने आप; ४ श्रीहीन; ५ बलहीन।

दान कर। दान न करनेवाला लोभी ही नमुचि है। इन्द्र परमात्मा का नाम है। यज्ञ उनकी आराधना है। बुद्धि का यह धर्म है,कि सब धन-वैभव भगवान को अर्पित कर जीवन-यापन करें। नमुचि असुर की प्रकृति के मनुष्यों को हतबल और हतश्री होना अनिवार्य है। ६७

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्धयन्।
स बिभेद वलं मघं नमुचावासुरे सचा ॥ ६८ ॥

अश्विना	हे दोनों अश्विनी-कुमारो !	सः	उस इन्द्र ने
सरस्वती सचा	सरस्वती के साथ एकमत होकर	आसुरे नमुचौ	असुर नमुचि के
यं इन्द्रं	जिस इन्द्र को	मघं वलं	महान वल को
हविषा अवर्धयन्	हवि से सम्बन्धित किया,	विभेद	छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ६८ ॥

अश्विनीकुमार उभय ने सरस्वती से मिल।
हवियों से किया इन्द्र का बल संवर्द्धित किल[1] ॥
यज्ञों से पा बल इन्द्र हो गये महीयान[2]।
कर दिया ध्वस्त उस नमुचि असुर का बल महान ॥ ६८ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र में जो कुछ कहा गया है, उसी का अनुमोदन इस मंत्र में है। 'नमुचि' वह है जो न+मुचि है, जो मोचन करना, छोड़ना नहीं चाहता। संसार में जन्म छोड़ने के लिए मिला है, त्याग और दान के लिए हुआ है। यज्ञ उस त्याग और दान का साधन है। यज्ञों से दैवी शक्तियाँ बल प्राप्त करती हैं, आसुरी शक्तियाँ क्षीण-दीन होती है। यज्ञों के द्वारा इन्द्र की शक्ति बढ़ी, असुर नमुचि की शक्ति नष्ट हो गई। संसार और समाज सुखी हुए। ६८

तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधाना अभ्यनूषत हविषा यज्ञ इन्द्रियैः ॥ ६९ ॥

पशवः	दूरदृष्टि रखनेवाले	सरस्वती	सरस्वती
उभा अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार और	सचा	मिलाकर और एकमत होकर
		यज्ञे तं इन्द्रं	यज्ञ में उस इन्द्र को

१ निश्चय ही; २ सबसे वड़ा।

हविषा इन्द्रियैः	अन्नादि और ऐश्वर्य को	अभ्यनूषत	सब ओर से प्रशंसित हुए ॥ ६९ ॥
दधानाः	प्रदान करने के कारण		

देवी सरस्वती और उभय अश्विनीदेव।
हैं निज कृति-सृति[1] में परम दूरदर्शी सदैव॥
यज्ञों में देकर विहित[2] इन्द्र को हविर्दान।
अर्पित कर उनको अन्न और वैभव महान॥
धारण करते हैं वे युग-युग से यश अक्षय।
हैं चिर प्रशस्त बन गये सुकृति[3] के पुण्योदय[4] ॥ ६९ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों में यह कहा गया है कि अश्विनीकुमारों और सरस्वती के द्वारा अनुष्ठित यज्ञों से शक्ति प्राप्त कर इन्द्र ने नमुचि का वध किया। यह उनकी महान दूरदर्शिता थी। इसके कारण वे युग-युग से प्रशंसित होते आ रहे हैं। परोपकार से जो यश मिलता है, वही अक्षय होता है। ६९

य इन्द्र॑ इन्द्रि॒यं द॒धुः स॑वि॒ता वरु॑णो॒ भगः॑ ।
स सु॒त्रामा॑ ह॒विष्प॑ति॒र्यज॑मानाय सश्चत ॥ ७० ॥

ये सविता	जो सविता	सः हविष्पति	वह हवि का स्वामी
वरुणः भगः	वरुण और भग देवता है,	सुत्रामा	उत्तम रक्षक
इन्द्रे	उन्होंने इन्द्र में	यजमानाय	यजमान के लिए
इन्द्रियं दधुः	इन्द्रिय के बलों को स्थापित किया।	सश्चत	सहायक हो ॥७०॥

ये सविता, वरुण और भग हैं सब देवोत्तम।
वे निज इन्द्रिय-बल किया इन्द्र को बलवत्तम[5] ॥
हवियों के स्वामी इन्द्र त्राणकर[6] हैं शोभन[7]।
वे यजमानों का करें सदा रक्षण-वर्द्धन ॥ ७० ॥

टि०—सविता, वरुण, भग आदि सब देवता इन्द्र को अपनी शक्ति प्रदान कर महान शक्तिशाली बनाते हैं। इन्द्र हवियों के स्वामी हैं, सबके उत्तम रक्षक हैं। वे यज्ञ करनेवालों की रक्षा करते रहें, यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। ७०

---

१ चालढाल या जीवन-प्रणाली; २ शास्त्रसम्मत; ३ सत्कर्म; ४ पवित्र अभ्युदय का उत्कर्ष; ५ सबसे बलवान; ६ रक्षक; ७ सुन्दर।

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे ।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥

सुत्रामा	उत्कृष्ट रीति से रक्षा करनेवाले इन्द्र ने	आदत्त	ले लिया;
नमुचेः	नमुचि नामक दैत्य से	सविता वरुणः	सविता और वरुण देवता ने
वसु बलं	धन और बल तथा	दाशुषे	दानशील
इन्द्रियं	इन्द्रियों की सामर्थ्य को	यजमानाय दधत्	यजमान के लिए धन और बल प्रदान किया ॥७१॥

इन्द्र हैं श्रेष्ठतम रक्षक है यह विश्वविदित ।
करते वे नमुचि असुर का इन्द्रिय-बल अपहृत ॥
हैं सत्तालोलुप[1] अर्थपिशाच[2] नमुचि दानव ।
छीनते इन्द्र उनका समग्र हैं बल-वैभव ॥
वह बल-वैभव ले सविता और वरुण वरेण्य ।
वितरित करते दानी यजमानों में अनन्य ॥ ७१ ॥

टि०—इन्द्र नमुचि असुर को मारकर उसका बल, वैभव और इन्द्रियों की सामर्थ्य छीन लेते हैं। नमुचि वे हैं जो अर्थपिशाच हैं, सत्तालोलुप है, दान नहीं देते, निरंतर स्वार्थरत रहते हैं। ऐसों को दंड देना इन्द्र का धर्म है। वे नमुचि का धन छीनकर उन यजमानों को बाँट देते है जो यज्ञशील हैं। सविता और वरुण इन्द्र की प्रेरणा से उन्हें धन देते हैं। ७१

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम् ।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत[1] ॥ ७२ ॥

वरुणः	वरुण	सविता सुत्रामा	सविता और अच्छी प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्र
क्षत्रं इन्द्रियं भगेन	क्षत्रिय के बल और ऐश्वर्य को		
श्रियं यशसा	लक्ष्मी को तथा यश को	यज्ञं आशत	इस यज्ञ की सुरक्षा करते हैं ॥ ७२ ॥
बलं दधानाः	एवं शक्ति को यजमान में धारण करते हुए		

१ पद और कुर्सियों से चिपके हुए लोग; २ ऐसे धनसंग्रही जो समाजविरोधी हैं।

हैं यज्ञ सदा ही इन्द्रदेव द्वारा रक्षित।
वे सुत्रामा[1] रक्षा करते हैं सबकी नित॥
क्षात्रबल प्रबल ऐश्वर्य वरुण देते नित नव।
यजमानों में श्री का यश का होता उद्भव[2]॥
यश-श्री की रक्षा करते सवितादेव सतत।
सबकी रक्षा में इन्द्र सदा रहते हैं रत॥ ७२॥

टि०—पुरुषार्थ के सतत क्रियाशील रूप का नाम यज्ञ है। जो पुरुषार्थ करते हैं, उनके क्षात्रबल और ऐश्वर्य की निरंतर वृद्धि होती है। उनका यश बढ़ता है। सब देवता उनकी रक्षा करते हैं। ७२

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम्।
हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्धयन्॥ ७३॥

अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार और	**इन्द्रियं**	धनैश्वर्य और
		वीर्यं	पराक्रम
सरस्वती	सरस्वती	**बलं**	और बल से
गोभिः अश्वेभिः	गायों, घोड़ों तथा	**इन्द्रं यजमानं**	यजमान इन्द्र को
हविषा	हवि से	**अवर्धयन्**	बढ़ाते है॥ ७३॥

यजमान यज्ञ का जो विधान करते संतत।
वे इन्द्र-सदृश होते समाज में हैं आदृत[3]॥
अश्विनीकुमार उभय देवी सरस्वती मिल।
सजते हैं उनके हित मंगल के साज अखिल॥

देते गोधन का दान इन्द्रियों का पाटव[4]।
देते अश्वादिक वाहन देह-दाढ्र्य[5] नित नव॥
धन, पुत्र-पौत्र पशुधन का करते संवर्धन।
यजमानों का बनता है पूर्णकाम जीवन॥ ७३॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र और यजमान को समानधर्मा माना गया है। इसलिए यजनशील यजमान को सरस्वती और अश्विनीकुमार सब लौकिक सुख और ऐश्वर्य प्रदान करते है। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ से इन्द्रियों की पटुता अर्थात् कुशलता बढ़ती है, शरीर में दृढ़ता अर्थात् मजबूती आती है और सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। ७३

---

१ सुंदर रक्षा करनेवाले; २ आविर्भाव; ३ सम्मानित; ४ पटुता या दक्षता; ५ शरीर की मजबूती।

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा ।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥ ७४ ॥

हिरण्यवर्तनी	सुवर्ण-मार्ग में विचरण करनेवाले,	हविष्मती	हवि ग्रहण करनेवाली
सुपेशसा नरा	सुन्दर रूप वाले सर्वगुणप्रापक और सबके नेता	सरस्वती	सरस्वती तथा
		इन्द्र	हे इन्द्र ! तुम
		कर्मसु नः अवत	यज्ञकर्मों में हमारी रक्षा करो ॥७४॥
ता नासत्या	वे दोनों अश्विनी-कुमार		

जो क्रूर असत्य का त्याग सत्यपथ पर चलते ।
अति रूपवान हैं जो सबके मन को हरते ॥
जो स्वर्णदान से उपलक्षित[1] पथ पर चलकर ।
जो नराकार पथ-दर्शन रहे हमारा कर ॥
अश्विनी युगल वे करें यज्ञ की रक्षा नित ।
क्रतु हविष्मती[2] सरस्वती से सदा हों रक्षित ॥
यज्ञ के करें हम जिन कर्मों का संपादन ।
उन सबकी रक्षा करो सदा तुम हे मघवन्[3] ! ॥ ७४ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र हमारे यज्ञ की रक्षा करें । अश्विनीकुमार सदा सत्य के मार्ग का अवलंबन करते हैं । सोने का दान करनेवाले मार्ग पर चलना उनको प्रिय है, ये बड़े सुन्दर हैं तथा लोगों को सन्मार्ग पर चलाने की प्रेरणा देते हैं । ७४

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती ।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

ता सुकर्मणा	वे सुन्दर कर्म करनेवाले	सः वृत्रहा	वह वृत्र को मारने वाले
भिषजा	दोनों वैद्य अश्विनी-कुमार,	शतक्रतुः	इन्द्र
		इन्द्राय	(इन)इन्द्र के लिए
सा सुदुघा	कामना पूर्ण करनेवाली	इन्द्रियं दधुः	सामर्थ्य को धारण करते है ॥ ७५ ॥
सरस्वती	सरस्वती,		

१ चिह्नित या विशेषीकृत; २ हविर्दान जिनको प्रिय है; ३ इन्द्र ।

सुम्ने स्थ	तुम सुख में हो,	यज्ञस्य सं शिवे	यज्ञ के कल्याण में
सुम्ने मे धत्तं	इसलिए तुम मुझे सुख में रखो।	तिष्ठस्व	(तुम) रहो।
यज्ञ	हे यज्ञ !	मे स्विष्टे	मेरे श्रेष्ठ इष्ट में
च ते नमः	और यह अन्न तुम्हारे निकट लाया गया है।	सं तिष्ठस्व	(तुम) रहो ॥ १९ ॥

अये घृताची[1] यज्ञ ! सतत तुम घृत से सिंचित।
अग्रेसर[2] सैनिक सब तुमसे रहें सुरक्षित॥
अन्नवान सब करें राष्ट्रहित उसका अर्पण।
पावें उससे नवल राष्ट्रसैनिक नित जीवन॥
सुखी रहो तुम और मुझे भी सुखी बनाओ।
लायें हम जो अन्न उसे निज भोग्य बनाओ॥
अये यज्ञ ! तुम करो सभी को सुखी निरामय।
यज्ञ कर्म हों सदा अनुष्ठित, हों जन गतभय ! ॥ १९ ॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि हे यज्ञ ! तुम घृत से परिपूर्ण हो। जो वीर आगे होकर शत्रुओं से लड़ने गये हैं, उनका तुम संवर्धन करो। इसका आशय यह हुआ कि राष्ट्र के जो सैनिक आगे होकर शत्रुओं से राष्ट्र के लिए युद्ध कर रहे हैं, यज्ञ करने वाले याजक जाकर उनके खान-पान आदि की समुचित व्यवस्था करें। जो समाज के शत्रुओं से लड़नेवाले वीर है, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यज्ञ के पास अन्न पहुँचना चाहिए। राष्ट्र को सुरक्षित रखना, उसकी स्वतंत्रता के लिए युद्ध करना भी यज्ञ है। इस यज्ञ की सम्यक् पूर्ति के लिए सब साधन सुलभ रहने चाहिए। १९

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाऽग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥२०॥

अदब्धायो	हे न दबनेवाली आयु देनेवाले !	अग्ने	हे अग्नि !
अशीतम	हे बहुभक्षी !	दिद्योः	शस्त्र से
		मा पाहि	मेरी रक्षा कर।

१ घृत से युक्त; २ आगे चलनेवाले।

पुत्रमिंव पितरांवुश्विनोभेन्द्रावथुः
काव्यैर्दृसनांभिः ।
यत्सुरामं व्यपिंबः शचींभिः सरंस्वती
त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	मघवन्	हे इन्द्र !
उभा अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमार	यत् शचीभिः	जब कि तुम अपनी शक्तियों के साथ
काव्यैः दंशनाभिः	कवियों के रचे हुए काव्य रूप मन्त्रों से	सुरामं	सोमरस का
त्वा आवथुः	तुम्हारी रक्षा करते है,	व्यपिबः	पान करते हो,
इव पितरौ पुत्रं	जिस प्रकार माता और पिता पुत्र की रक्षा करते हैं।	सरस्वती	(इसलिए) सरस्वती
		अभिष्णक्	तुम्हारे अनुकूल हो गयी है ॥ ७७ ॥

हे इन्द्र ! तुम्हारी रक्षा करते हैं ये नित।
अश्विनीकुमार तुम्हारे प्रति हैं सेवार्पित[1] ॥
रहते ज्यों माता-पिता पुत्र-रक्षा में रत।
रक्षा में सदा तुम्हारी रहते उभय निरत ॥
शक्तियों-सहित अपनी तुम करते सोमपान।
अनुकूल इसी से सरस्वती तुम पर महान ॥ ७७ ॥

टि०—अश्विनीकुमार स्वर्वैद्य हैं। वे इन्द्र की रक्षा उसी समर्पित और सजग भाव से करते हैं जैसे माता-पिता अपने पुत्र की रक्षा करते हैं। तुम अपनी शक्तियों के साथ सोमरस-आत्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्व का पान करते हो, इसलिए सरस्वती सदैव तुम्हारे अनुकूल रहती हैं। सोम चिन्मय ज्ञानतत्त्व है। उसका साधन और ग्रहण करनेवाले के प्रति चिन्मय ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का अनुकूल होना स्वाभाविक है। ७७

यस्मिन्नश्वांस ऋषभासं उक्षणों वशा मेषा अंवसृष्टास आहुंताः ।
कीलालपे सोमंपृष्ठाय वेधसें हृदा मतिं जंनय चारुमग्नयें ॥ ७८ ॥

---

१ सेवा करने के लिए अपने को समर्पित करनेवाले।

सत्कर्मकुशल है वैद्य-युगल अश्विनी-बंधु।
हैं सकल कामदाती[1] सरस्वती दयासिंधु॥
वृत्रहा शतक्रतु[2] है निज कृति से विश्वविदित।
ये इन्द्र-हेतु इन्द्रिय-बल धारण करते नित॥ ७५॥

टि०—अश्विनीकुमार अपने वैद्यक-कर्म की कुशलता से शरीर और मन के रोगों का निवारण करते हैं। सरस्वती सहज दयावती हैं, वे सब कामनाएँ पूर्ण करती है। शतक्रतु इन्द्र वृत्र का वध कर ससीम से असीम की ओर ले जाते हैं। ये सब इन्द्र नामधारी परमेश्वर के लिए इन्द्रियों का बल धारण करने की साधना करते हैं। ७५

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत॥ ७६॥

अश्विना	हे दोनों अश्विनी-कुमारो!	सुरामं	सोम के रस को (अमृतत्व को) लेकर
सरस्वति	हे सरस्वती!	विपिपानाः	अनेक प्रकार से पान करते हुए,
युवं सचा	तुम दोनों एक-मत होकर	कर्मसु	यज्ञकर्मों में
नमुचौ आसुरे	नमुचि नामक असुर में रहनेवाले	इन्द्रं अवत	इन्द्र की रक्षा करनेवाले बनो॥ ७६॥

अश्विनीकुमार-युगल! हे देवी सरस्वती!।
तुम बनो एकमत लक्ष्यसिद्धि के एक व्रती॥
है नमुचि असुर में अमृत-तत्त्व बंदी महान्।
आहरण[3] करो उसका, बहुविधि से से करो पान॥
ये यज्ञकर्म हो रहे विविध जो समनुष्ठित।
परमात्म-तत्त्व को सदा करो उनमें योजित[4]॥ ७६॥

टि०—चेतना की अनेक भूमिकाओं पर दिव्य भाव और अर्थ का प्रसार करनेवाला यह एक बड़ा उदात्त मंत्र है। असुर वह है जो प्राणों में रमण करता है। अचित्, असत् और अनात्म के प्रति उसमें ऐसा अभिनिवेश है कि वह उसके सत् और चित् की ओर उन्मुख ही नहीं होता। उसे छोड़ता नहीं, इसीलिए वह न+मुचि (नहीं छोड़नेवाला) है। उसके भीतर ही सोमरस है, आत्मतत्त्व या अमृतत्व है, पर उससे वह अनभिज्ञ है। दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती देहवादी नमुचि के बन्धन से इस आत्मतत्त्व-सोमरस को मुक्त करें। यज्ञों में इसी सोमरस का सुधीजन पान करें। यज्ञों में इसी परमात्म-तत्त्व का अभिज्ञान प्रदान किया जाए। वे परमात्म-ज्ञान को प्रदान करनेवाले हों। ७६

---

१ कामनाएँ पूर्ण करनेवाली; २ सौ यज्ञ करनेवाले; ३ छीनना या ग्रहण करना; ४ जुड़ा हुआ।

इव स्रुचि घृतं	जिस प्रकार स्रुवा में घृत	सुवीरं रयिं	वीर पुत्र, धन,
इव चम्वि सोमः	और जिस प्रकार पात्र में सोमरस रहता है,	प्रशस्तं बृहन्तं	सब लोक में प्रशंसित महान
अस्मे वाजसनिं	(उसी प्रकार तुम) हम लोगों मे अन्न,	यशसं धेहि	यश को प्रदान करो ॥ ७६ ॥

हे अग्नि ! तुम्हारे मुख में हवि करते अर्पण।
श्रद्धा से अर्पित करते हम, यह करो ग्रहण॥
जिस भाँति स्रुवा[1] में घृत, पात्र में सोम संस्थित।
वैसे हवि मेरी रही तुम्हारे मुख में हुत॥
हे अग्नि ! हमें दो तुम नित पावन अन्न-भोग।
धन-संवर्धन का हमको मिलता रहे योग॥
हम वीर अपत्यों[2] से शोभित वंदित हों नित।
हों सर्वलोकव्यापी यश से हम अभिमंडित[3] ॥ ७६ ॥

टि०—बड़ा भक्तिपूर्ण मंत्र है। अग्नि से यह कहा गया है, हम तुम्हारे मुख मे निरंतर हवि अर्पित करते रहें। हमें तुम्हारी कृपा प्राप्त हो। हम पवित्र अन्न का भोग प्राप्त करें, धन की वृद्धि के अवसर हमें मिलते रहें, हमको वीर संतान प्राप्त हो और हमारा यश देशव्यापी हो जाए। ७६

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ८० ॥

अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमारों ने	इन्द्रः	इन्द्र ने
तेजसा चक्षुः	तेज के सहित नेत्र,	वाचा बलेन	वाणी की सामर्थ्य से
सरस्वती	सरस्वती ने	इन्द्रियम्	बल
प्राणेन वीर्यम्	प्राण के सहित सामर्थ्य,	इन्द्राय दधुः	इन्द्र के लिए धारण किया है ॥ ८० ॥

तेज के परम वैशिष्ट्ययुक्त ये नेत्रद्वय।
अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को दिये अक्षय॥

१ यज्ञ मे घृत अग्नि मे डालनेवाला चमचा; २ संतानों; ३ विशेष शोभित।

कीलालपे	उत्तम अन्नरस का पान करनेवाले,
सोमपृष्ठाय	सोम की आहुति लेनेवाले और सोमविद्या सम्बन्धी जिज्ञासा करनेवाले
वेधसे अग्नये	शुभमति धारण करनेवाले अग्नि के लिए
हृदा मतिं चारुं	अन्तःकरण के मनन से उत्तम बुद्धि को
जनय	प्रकट करो,
यस्मिन् अश्वासः	जिसमें घोड़े,
उक्षणः ऋषभासः	सेचन-समर्थ बैल,
वशाः मेषाः	गायें, भेड़ें
अवसृष्टासः	प्रशिक्षित करके
आहुताः	सब ओर से ग्रहण किये जाते हैं ॥ ७८ ॥

मन-बुद्धि शुद्ध कर अग्निदेव को करो प्रकट।
अन्नरस-पान के प्रेमी हैं वे अति उत्कट ॥
सोम की ग्रहण करते आहुति वे शुभ-मति नित।
करते हैं निज यज्ञों में बहुविध पशु दीक्षित ॥
घोड़ों को मिलता है गति का नैपुण्य[1] अमित।
वृषभों की प्रजनन-क्षमता[2] होती है वर्द्धित ॥
गो, मेषी, मेष आदि की उन्नति के उपाय।
सोचते सुधी जन, मानकर इसे निज पुण्यदाय[3] ॥ ७८ ॥

टि०—इस मंत्र में अत्यन्त शुद्ध बुद्धि से अग्नि को प्रकट करने का आदेश दिया गया है। 'अग्ने नयति इति अग्निः', अर्थात् जो प्रकाश की ओर ले जाता है, वह अग्नि है। जीव को प्रकाश की ओर ले जानेवाले परमात्मा का नाम अग्नि है। ये अग्नि सोम की आहुति ग्रहण करते है। इस मंत्र में यज्ञों का बड़ा महत्त्वपूर्ण उपयोग बताया गया है। यज्ञों में विविध विषयों के विद्वान उपस्थित होते थे। वे पशुओं को प्रशिक्षित करने के उपायों का अनुसंधान करते थे जिससे वे अधिक उपयोगी हो सकें, वे अधिक दूध दें और अधिक कार्यक्षम बनें। ७८

अहा॑व्यग्ने ह॒विरा॒स्ये॑ ते स्रु॒चीव॑ घृ॒तं च॒म्वी॒व॒ सोमः॑।
वा॒ज॒सनि॑ꣳ र॒यिम॒स्मे सु॒वीरं॑ प्रश॒स्तं धे॑हि य॒शसं॑ बृ॒हन्त॑म् ॥ ७९ ॥

अग्ने	हे अग्नि !
ते आस्ये	हम तुम्हारे मुख में
हविः अहावि	हवि का हवन करते है।

१ चाल की कुशलता; २ उत्पन्न करने की शक्ति; ३ पवित्र उत्तराधिकार।

न यत्परो नान्तर आदधर्षद्वृषणवसू ।
दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥

वृषणवसू	हे वृष्टि करनेवाले, दोनों अश्विनीकुमारो !	न अन्तरः	और अपने साथ उत्तम सम्बन्ध नहीं रखता है,
यत् दुःशंसः	जो निन्दा करनेवाला है	न आदधर्षत्	वह हमारा धर्षण या विनाश न कर सके ॥ ८२ ॥
रिपुः मर्त्यः परः	और पराया बनकर शत्रु जैसा व्यवहार करता है,		

अश्विनीकुमार युगल ! तुम हो धन की वर्षा करते ।
तुम वासहीन उत्तम जन को हो वास प्रदान सदा करते ॥
जो मानव निंदानिपुण[1] शत्रु-सा करता है व्यवहार सदा ।
जो सौमनस्यवर्जित[2] नितान्त जिसकी गतिविधि है दुःखप्रदा ॥
हे देवयुगल ! तुम उस मानव की ध्वंसकारिणी[3] शक्ति हरो ।
दुर्जन-विहीन मानव-समाज की रचना में सहयोग करो ॥ ८२ ॥

टि०—इस मंत्र में पहले अश्विनीकुमारों का स्तवन है । श्लेषमूलक शब्द का प्रयोग करते हुए उन्हें धन की वर्षा करनेवाले और सज्जनों को वास प्रदान करनेवाले कहा गया है । उनसे प्रार्थना की गई है कि वे दुष्टों की विनाशकारिणी शक्ति को नष्ट कर दुर्जन-विहीन मानव-समाज की रचना में सहयोग करें । ८२

ता न आ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम् ।
धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ८३ ॥

धिष्ण्या अश्विना	सबके धारण करनेवाले हे दोनों अश्विनीकुमारो !	वरिवोविदं रयिं	और ऐश्वर्य को प्रदान करनेवाला धन
ता नः	वे तुम दोनों हमारे लिए	आ वोढम्	प्राप्त कराओ ॥ ८३ ॥
पिशङ्गसन्दृशं	पीले रंग के सोने के समान दिखाई देनेवाला		

१ निंदा करने में कुशल; २ मैत्री-भावना से रहित; ३ विनाश करनेवाली ।

प्राण के सहित वीर्य का दिया है दिव्य दान।
इन्द्र को सरस्वती देवी ने महिमा-महान[1] ॥
वाणी के बहु सामर्थ्य-सहित इन्द्रिय का बल।
है किया समर्पित इन्द्र हेतु इन्द्र ने सकल ॥ ८० ॥

टि०—इस मंत्र में अश्विनीकुमार, सरस्वती इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा परमात्मा इन्द्र को विविध प्रकार के बलों के समर्पण की प्रक्रिया का वर्णन है। ८०

गोम॑दू षु णा॑सत्याश्वा॑वद्यातमश्विना ।
व॒र्त्ती रु॑द्रा नृ॒पाय्य॑म् ॥ ८१ ॥

नासत्या अश्विना	हे सत्य व्यवहार करनेवाले दोनों अश्विनीकुमारो !	गोमत् अश्वावत्	तुम सब गौओं से युक्त और अश्वों से युक्त
रुद्राः	और दुष्टों को रुलानेवाले वीरो !	वर्त्ती	मार्ग
ऊ सु	निश्चय ही	नृपाय्यं यातं	जो मनुष्यों के पालन करने योग्य है, उस पर गमन करो ॥ ८१ ॥

अश्विनीकुमारो उभय ! और हे रुद्रो अरिहंता[2] वीरो ! ।
गोमत्[3] अश्वावत्[4] मार्गो से तुम गमन करो धीरो, वीरो ! ॥
तुम गमन करो उस पक्ष से जो जन-जन के है गमन-योग्य ।
तुम ग्रहण करो वह यज्ञों में जो शुचि प्रति-जन के हेतु योग्य ॥
उन यज्ञों में तुम करो गमन जिनका ऋतमय सात्त्विक विधान ।
है आत्मतत्त्वमय सोम जहाँ पीते जन-जन हो मोदमान ॥ ८१ ॥

टि०—बड़ा अद्भुत मंत्र है। इस मंत्र में अश्विनीकुमारों से यह प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञों में उस मार्ग से पधारे जो गायों और घोड़ों से भरे हुए है। तुम लोग ऐसे यज्ञों में जाओ जहाँ जाकर प्रत्येक व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्य और सदाचार के श्रेष्ठ आदर्श ग्रहण कर सके। तुम यज्ञों मे वही पवित्र भाग ग्रहण करो जो परम पवित्र हो। तुम उन्ही यज्ञों में जाओ, जो अहिंसक हों और ऋत और सत्य के नियमों के अनुकूल अनुष्ठित होते है। जिन यज्ञों में परमात्मतत्त्व रूपी अमृतमय सोम का पान किया जाता है, उन यज्ञों में आप लोग पधारें। ८१

---

१ अपनी महिमा के कारण महान; २ शत्रु का नाश करनेवाले; ३ गायो से युक्त; ४ घोड़ों से भरे।

सूनृतानां	उत्तम सत्य वाणियों को	सुमतीनां चेतन्ती	उत्तम बुद्धियों को प्रकट करती हुई
चोदयित्री	प्रेरणा देनेवाली	सरस्वती	सरस्वती देवी
		यज्ञं दधे	यज्ञ को धारण करती है ॥ ८५ ॥

हे सरस्वती ! तुम सत्य और प्रिय वाणी की प्रेरक अनन्य ।
तुम वेदत्रयी की दिव्य प्रेरयित्री[1] वरेण्य ॥
उत्तम मेधाएँ ज्योति-शिखा-सी प्रकटाती ।
प्रतिभा का वैभव नित नव जन में सरसाती ॥
धारण करती हो यज्ञक्रिया विज्ञानमयी ।
कर देती हो जीवन की मति-गति यज्ञमयी ॥ ८५ ॥

टि०—सरस्वती सत्य और प्रिय वाणी की प्रेरक हैं। वेदत्रयी उन्हीं की प्रेरणा का प्रसाद है। उत्तम मेधा की ज्योति-शिखा वे ही प्रकट करती हैं, प्रतिभा का वैभव उन्हीं की कृपा का फल है। वे ही यज्ञों को धारण करती हैं और जीवन को यज्ञमय बना देती हैं। ८५

म॒हो अर्णः॒ सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑ ।
धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति ॥ ८६ ॥

सरस्वती	सरस्वती देवी	विश्वः धियः	और सम्पूर्ण बुद्धियों को
केतुना	उत्तम ज्ञान से	वि राजति	विशेष प्रकार से प्रकाशित करती है ॥ ८६ ॥
महः अर्णः	अनन्त असीम आकाश में		
प्र चेतयति	उत्कृष्ट चेतना जाग्रत करती है,		

निज ज्ञान और विज्ञान-शक्ति से सरस्वती ।
करती हैं निखिल व्योम की चिति से स्पंदवती[2] ॥
बरसाती हैं प्रज्ञा के ज्योतिर्धन अनंत ।
खिलते हैं धरती पर शत-प्रतिभा के वसंत ॥
करती हैं जन-मेधा[3] को बहुविध उद्भासित[4] ।
विद्याओं और कलाओं की धात्री हैं नित ॥ ८६ ॥

टि०—इस मंत्र में भी सरस्वती का स्तवन है। सरस्वती परव्योम के चिन्मय शब्द-महार्णव को स्पंदित करती हैं। वे स्पंदन-प्रज्ञा के प्रकाशमान बादल बनकर

---

१ प्रेरणा देनेवाली; २ कंपित और क्रियमाण; ३ मनुष्य की बुद्धि; ४ प्रकाशित ।

सबके धारण करनेवाले धीमान परम अश्विनौ[1] प्रथित।
बरसाओ हम पर पीत वर्ण की अमित हिरण्यराशि नव नित ॥
ऐश्वर्य-प्राप्त हम करें परम उस धन से चिर मंगलकारी।
हम सत्य-धर्म पर करें सदा आचरणवरण[2] सब दुःखहारी ॥ ८३ ॥

टि०—इस मंत्र में अश्विनीकुमारों को सबका धारण करनेवाला और परम धीमान कहा गया है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमको पीतवर्ण की अनन्त सुवर्णराशि प्रदान करें। उस धन से हम ऐश्वर्यवान बनें। हमारे सब दुःख दूर हो जाएँ और हम दृढ़ता से सत्य और धर्म का आचरण करें। ८३

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ८४ ॥

पावका	पवित्र करनेवाली,	सरस्वती	सरस्वती देवी
वाजेभिः	अन्नों से युक्त,	नः यज्ञं वष्टु	हमारे यज्ञ को तेजस्वी बनावें, सुशोभित करें ॥ ८४ ॥
वाजिनीवती	उत्तम विद्या से युक्त और बुद्धि के साथ धन देनेवाली,		
धिया वसुः	प्रज्ञारूपी परम धन प्रदान करनेवाली		

हे सरस्वती ! तुम हो पावनकर्त्री[3] अनन्य, तुम चिर वरेण्य।
हे मातः ! तुम हो अन्नावती[4] श्रीप्रद[5] धनप्रद तुम-सा न अन्य ॥
निज कृपा-प्रसाद प्रदान करो, तेजोमय यज्ञ-विधान करो।
यज्ञमय करो मेरा जीवन, वरदायिनि ! प्रतिभा-दान करो ॥ ८४ ॥

टि०—इस मंत्र में सरस्वती को पावनकर्त्री कहा गया है। गीता में कहा गया है— 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं। उनका पवित्रताकारी स्वरूप स्वतःसिद्ध है। उनसे जीवन को यज्ञमय बनाने और प्रतिभा प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। ८४

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥

---

१ दोनों अश्विनीकुमार; २ श्रेष्ठ; ३ पवित्र करनेवाली; ४ अन्न देनेवाली; ५ बुद्धिदात्री।

हैं मेधावी[1] जन इस क्रतु में प्रार्थना-निरत[2]।
सद्बुद्धि-प्रणोदित आओ तुम स्वागत, स्वागत ॥
हवियों का वैभव अर्पित करते ऋत्विजगण।
इनके समीप आओ, आओ हे इन्द्र प्रमन[3] ॥
इन तपोधनों को अन्न और धन दो अकूत[4]।
अधिकारपूर्ण जीवन हो उनका कर्मपूत[5] ॥ ८८ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में आकर ऋत्विजों को धन, अन्न और अधिकारपूर्ण जीवन प्रदान करें। ८८

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ८९ ॥

हरिवः इन्द्र	हे अच्छे उत्तम घोड़ों वाले इन्द्र!	उप आ याहि	हमारे समीप आगमन करो,
तूतुजानः ब्रह्माणि	शीघ्र कार्य (सम्पन्न) करके, मन्त्रपाठ के समीप होनेवाले यज्ञ में शीघ्र	सुते	सोमरस निकालने पर
		नः चनः	हमारे हवि को
		दधिष्व	अपने उदर में धारण करो ॥ ८९ ॥

तुम श्रेष्ठ तुरंगों[6] के आरोही[7] हो सदैव।
है मन्त्रपाठयुत यज्ञ अनुष्ठित इन्द्रदेव! ॥
शीघ्रता करो, आओ यह क्रतु कृतकृत्य करो।
ऋत्विजों के निकट प्रस्तुत हवि स्वीकार करो ॥
है सोम-समन्वित पुरोडाश प्रस्तुत पावन।
यह धर्मार्जित[8] धन-अन्न करो हे देव! वरण ॥ ८९ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र से यज्ञ में पधारने की प्रार्थना की जा रही है। यज्ञ में धर्म से कमाये गये धन और अन्न का उपयोग किया गया है। ऋत्विजों ने पवित्र हविष्य तैयार किया है। यह सोममिश्रित पुरोडाश है। तीव्रगामी अश्वों से चालित रथ पर आओ और हमारे द्वारा समर्पित हवि आदि स्वीकार करो। ८९

---

१ बुद्धिमान; २ विनय करने में लगे हुए; ३ सुन्दर मन वाले; ४ अपरिमित; ५ उत्तम कर्मों के आचरण द्वारा पवित्र; ६ घोड़ा; ७ सवार; ८ धर्म से कमाया हुआ।

धरती पर बरसती हैं। उस वर्षा से धरती पर कवि-प्रतिभा के सैकड़ों वसंत अवतरित होते रहते है। ये सरस्वती सब विद्याओं और कलाओं की धात्री हैं। ८६

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः[1] ॥ ८७ ॥

चित्रभानो इन्द्र	हे अनेक प्रकार की कान्ति वाले इन्द्र !	तना पूतासः	विस्तारयुक्त गुण से बनाये गये (इस) पवित्र सोम को,
आ याहि	यहाँ आगमन करो,	अण्वीभिः सुताः	अँगुलियों से निकाले गये सोमरस को रखा गया है ॥ ८७ ॥
इमे त्वा यवः	तुम्हारी इच्छा करनेवाले,		

बहु कान्तिमान हे इन्द्र ! यहाँ आओ, आओ।
शुचि स्वादु[1] सोमरस पान करो, आओ, आओ ॥
कर रहे प्रतीक्षा सोमपूर्ण ये पात्र देव !।
है सोम तुम्हें पाने को उत्कंठित सदैव ॥
यह सोम तुम्हारा पेय श्रेष्ठतम[2] है प्रस्तुत।
तुम पान करो, कृतकृत्य करो हमको शतक्रतु[3] ॥ ८७ ॥

टि०—यज्ञ में सोमरस तैयार है। बड़ी पवित्रता से इसे तैयार कर पात्रों में रखा गया है। इन्द्र से प्रार्थना की जा रही है कि वे आकर इसका पान करें। ८७

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः[1] ॥ ८८ ॥

इन्द्र	हे इन्द्र ! (तुम)	वाघतः ब्रह्माणि	अन्न, धन और अधिकार प्राप्त कराने के लिए
धिया विप्रजूतः	सदा बुद्धि द्वारा प्रेरित और मेधावी जनो से प्रार्थित होकर	उप आ याहि	हमारे समीप आगमन करो ॥ ८८ ॥
सुतावतः	सिद्धि-प्राप्त विद्वान पुरुषों को		

१ स्वादिष्ट; २ सबसे श्रेष्ठ, ३ इन्द्र।

प्रसित्यै पाहि	जाल से रक्षा कर।	सवेशपतये	समीपवर्ती स्थान के पालक
दुरिष्टयै पाहि	विनाश से रक्षा कर।	अग्नये	अग्नि के लिए
दुरद्मन्या पाहि	दूषित अन्न के भोजन से बचा।	स्वाहा	यह समर्पित है।
नः पितुं	हमारा अन्न	यशोभगिन्यै	यश की बहिन
अविषं कृणु	विषरहित कर।	सरस्वत्यै	सरस्वती के लिए
सुषदा योनौ	सुख से अपने घर रहूँ	स्वाहा	यह समर्पित है ॥ २० ॥
स्वाहा वाट्	ऐसा करो, यह मेरी प्रार्थना है।		

अदब्धायुदाता[१] अग्ने! हम पाहि-पाहि कह।
नत चरणों में हम हैं अये अशीतम-हुतवह[२]! ॥
अनाधृष्य हम रहें शत्रु से, शत्रुजाल से।
रक्षित हों हम दुरित-दोष-दुष्काल-व्याल[३] से ॥
अन्न रहे विष-रहित शस्त्र अरि के हों कुंठित।
ध्वंस-कर्म से जन-जीवन चिर रहे अबाधित ॥
सुख से करें निवास स्वीय आवासों में हम।
पृथिव्यादि लोकों के पालक निकट रहो तुम ॥
यश को भगिनी सरस्वती विद्या की दात्री।
प्राप्त हमें हों सदा वेदवाणी की धात्री ॥ २० ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को 'अदब्धायु' और 'अशीतम' कहा गया है। जिस जीवन में दबना नहीं हो, दूसरे के अधीन होना न पड़े, वह 'अदब्धायु' है। अग्नि 'अशीतम' भी है, क्योंकि वह बहुत कुछ खाकर उसे पचा लेता है। अग्नि ऐसा उपास्य देवता है जो किसी शत्रु के वश में नहीं होता और जिसमें अपचन का दोष नहीं होता। मनुष्य को भी ऐसा ही होना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब मनुष्य शत्रु की दुरभिसंधियों से सावधान रहे और अन्न-दोष से अपने को बचावे। इसलिए इस मंत्र मे अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे खाद्य-पदार्थों को विष-रहित करे, अपने घर और राष्ट्र में हम सुख से निवास करें; सरस्वती देवी हमारे ज्ञान की वृद्धि करे, हमें यशोभागी बनावे। २०

---

१ ऐसी आयु जिसमें किसी के सामने दबकर या दीन बनकर न रहना पड़े, — अग्नि से ऐसा अदीन तेजस्वी जीवन माँगा गया है; २ अग्नि अशीतम है, बहुत अन्न खाकर उसे पचा लेता है; ३ पाप, दीनता और अकाल रूपी सर्प से हम रक्षित रहें।

अ॒श्विना॑ पिबतां॒ मधु॒ सर॑स्वत्या स॒जोष॑सा ।
इन्द्र॑ः सु॒त्रामा॑ वृत्र॒हा जु॒षन्ता॑ᳪ सो॒म्यं मधु॑ ॥९०॥

[अ० २०, कं. ९०, मं. सं. १००]
[पू० विं० मं. सं. २५८५]

॥ इति विंशोऽध्यायः ॥
॥ इति पूर्वविंशतिः समाप्ता ॥

सरस्वत्या	सरस्वती के साथ	सुत्रामा	उत्तम रक्षा करनेवाला,
सजोषसा	परस्पर प्रीतियुक्त होकर	वृत्रहा इन्द्रः	वृत्रासुर का नाश करनेवाला इन्द्र
अश्विना	दोनों अश्विनीकुमार	मधु सोम्यं	मधुर सोमरस का
मधु पिबताम्	मधुर सोमरस का पान करे और	जुषन्ताम्	सेवन करे ॥ ९० ॥

अश्विनी युगल हैं सरस्वती ज्ञानी महान।
सौहार्द-सहित यज्ञ में सोमरस करें पान॥
यह आत्मतत्त्व का अमृत-चषक[1] है सोम पूत।
हे इन्द्र ! पियो यह मधुर सोम बलकर[2] प्रभूत॥
उत्तम रक्षक वृत्रहा इन्द्र हैं विश्वविदित।
निर्बध[3] असीम बताते वे जीवन को नित॥ ९०॥

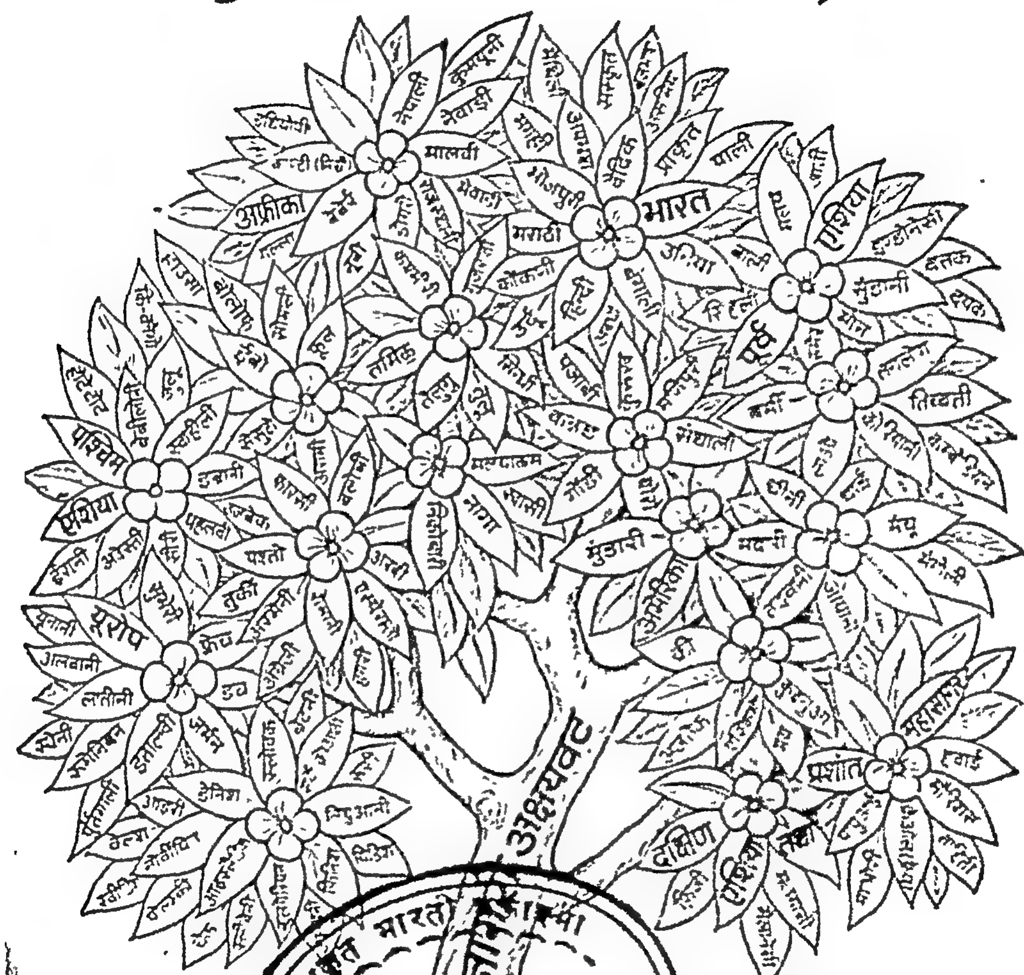
टि०—हमारे यज्ञ में सरस्वती और अश्विनीकुमार सौहार्द के साथ सोमपान करें। यह सोम आत्मतत्त्व रूपी अमृत का प्याला हैं। इन्द्र इसे पीते है। यह सोम अनन्त शक्ति प्रदान करता है। इन्द्र इसकी शक्ति से लोको की रक्षा करते हैं और वृत्र का वध करते हैं। वृत्र घेरे को कहते है। चारों ओर अचित्, असत् और आनन्दहीनता का घेरा पड़ा है। जीवन इन सीमाओं में बन्दी है; चारों ओर जड़ ने हदबंदी कर रखी हैं। इन्द्र इस हद को तोड़कर बेहद की ओर ले जाते हैं। सीमा को तोड़कर असीम का स्पर्श कराते है। मृत को अमृत बनाते हैं। 'हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।' ९०

॥ विंश अध्याय समाप्त ॥

१ अमृत का प्याला; २ शक्तिवर्धक; ३ जड़ता से मुक्त।

॥ ग्रामे-ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे-ग्रामे कथा शुभा ॥

भुवन ग्रन्थ-गाथा भुवन सन्त-वाणी



भाषा-सुमन-पल्लवित उपजा, भारत में ... एक अनूप।
देवनागरी-अक्षयवट का देखो ... ॥
विश्व ... से निःसृत उपागत भाषाई धारा।
... नागरी-पट सबने अब भूतल भ्रमण विचारा॥

भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ

प्रतिष्ठाता – पद्मश्री नन्दकुमार अवस्थी

विश्व का परम कल्याण निहित है। वेद के अध्ययन से सत्यमार्ग का ज्ञान होता है। उसी सत्यमार्ग पर चलना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीवन यज्ञमय बने, यज्ञ का मुख्य उद्देश्य आत्मसमर्पण है। यज्ञ से वायु की शुद्धि होती है, ऋतुसंधियों में वातावरण की शुद्धि के लिए और सामूहिक स्वास्थ्य-साधन के लिए यज्ञ करना अनिवार्य होना चाहिए। २१

संबर्हिरङ्क्ताᳯं हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः।
समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा॥२२॥

इन्द्रः आदित्यैः	इन्द्र आदित्यों,	यत् दिव्यं नभः	जो दिव्य आकाश है
वसुभिः	वसुओं,	गच्छतु	उसके प्रति (यह दर्भमुष्टि वहाँ) जाए।
मरुद्भिः	मरुतों और	स्वाहा	मैं (ये कुशा की मूठें) समर्पित करता हूँ॥ २२॥
विश्वेदेवेभिः	सब देवों के साथ		
हविषा घृतेन	हवन के घृत से		
बर्हिः	कुशाओं की मुट्ठी को		
सं अंक्ताम्	अच्छी तरह भिगो दे।		

मरुत्, इन्द्र, आदित्य, अष्ट वसु आदि देव नित।
आज्यसिक्त[1] हों, दर्भमुष्टियाँ[2] हों घृत-सिंचित॥
हवनीयों में वास करें सुर-शक्ति-संघ सब।
अंतरिक्ष को करें दिव्य हवियाँ सुरभित अब॥
सूर्य, पवन, जल से मिश्रित हो यज्ञधूम यह।
करे प्रजा को सुखी धान्य-धन पूरित अहरह॥
परम शुद्ध हवनीयों से हों यज्ञ अनुष्ठित।
करें दान विज्ञान-ज्ञान का परमेश्वर नित॥ २२॥

टि०—इस मंत्र मे बताया गया है, अच्छी तरह शुद्ध किया हुआ हवि ही यज्ञाग्नि में डाला जाए। दर्भमुष्टि घृत में डूबी हुई होनी चाहिए। आदित्य, वसु आदि सब देवों की शक्तियाँ हवनीय द्रव्य में निवास करें, इसके लिए उसकी अच्छिता अर्थात् पूर्ण शुद्धि अनिवार्य है। ऐसी परिशुद्ध हवनीय सामग्री से यज्ञ का नित्य अनुष्ठान किया जाना चाहिए। इसी में लोक का परम हित है। २२

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै
त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति।
पोषाय रक्षसां भागोऽसि॥ २३॥

---

१ घी से तर; २ कुश के मूठे।

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो
वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥

वेदः असि	(हे वेद !) तू सबका ज्ञाता है।	गातुं वित्त्वा	सत्य-मार्ग को जानकर
वेद देव	हे वेद-रूपी देव,	गातुं इत	सत्य-मार्ग पर ही आओ।
येन त्वं	जिस प्रकार तू	मनसस्पते देव	हे मन के स्वामी परमेश्वर !
देवेभ्यः	देवो के लिए	इमं यज्ञं	इस यज्ञ का
वेदः अभवः	ज्ञानप्रदायक हुआ	स्वाहा	समर्पण (मैं तेरे लिए) करता हूँ।
तेन मह्यं	वैसा ही तू मुझे	वाते धाः	इसे वायु में स्थापित कर ॥२१॥
वेदः भूया	ज्ञान देनेवाला हो।		
गातुविदः देवाः	हे पथप्रदर्शक सुरगणो !		

हे जगदीश्वर ! तुम हो श्रेष्ठ गुणों के दाता।
वेदरूप तुम, वेद - ज्ञान के धाता - ज्ञाता ॥
वेद-ज्ञान जिस तरह सुरों ने तुमसे पाया।
प्राप्त किया था ज्ञान सत्य का शुद्ध अमाया[1] ॥
उसी भाँति हम ज्ञान वेद का तुमसे पावें।
आत्मसमर्पण - यज्ञ करें जीवन - फल पावें ॥
ज्ञानयज्ञ ये, कर्मयज्ञ ये, द्रव्ययज्ञ सब।
अर्पित हैं, सब तुम्हें, तुम्हीं सब कुछ अपने अब ॥
वेद - ज्ञान के परम प्रकाशक हे परमेश्वर !।
करो सिद्ध सब यज्ञ वायु में सुस्थापित कर ॥
मन के पति हे देव ! यज्ञ अर्पित यह स्वाहा।
वायु-शुद्धि के हेतु समर्पित हवियाँ स्वाहा ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र में यह आदेश दिया गया है कि परमेश्वर ने जो वेद-विद्या प्रकाशित की है, उसके द्वारा सबके हित का संपादन किया जाना चाहिए। वेदविद्या में सचराचर

---

१ माया-रहित, छल-रहित ।

सुदत्रः त्वष्टा	उत्तम दाता त्वष्टा	तन्वः	हमारे शरीर में
रायः वि दधातु	अनेक प्रकार का धन हमें दे, दिलाए।	यत् विलिष्टं	जो कमी हो
		तत् अनुमार्ष्टु	वह दूर हो ॥२४॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण देहों से युक्त सतत हम।
उत्तम बल से मंडित कर दो प्रभु! उनको तुम॥
मन हो शिव-संकल्प-वलित उत्तम विचार-रत।
दुग्ध-अन्न से रहें हमारे गृह परिपूरित॥
पय-सेवन से रहे सदा वर्चस्वी जीवन।
हों अभाव से मुक्त हमारे देह और मन॥
त्वष्टा! दाता श्रेष्ठ! करो धन-वृद्धि निरंतर।
जीवन बनता रहे हमारा सतत पूर्णतर॥ २४॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, हमारे तीनों शरीर—स्थूल, सूक्ष्म और कारण—उत्तम ऊर्जा से निरंतर मंडित रहें। मन से शिव-संकल्पों का अविच्छिन्न प्रवाह बहता रहे। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्रचुर दुग्ध मिलता रहे। प्रलय के समय सब दुःखों और पदार्थों को सूक्ष्मरूप में परिणत करनेवाले 'त्वष्टा' नाम से जाना जानेवाला परमेश्वर हमें प्रभूत धन प्रदान करे और हमारे शरीर की सब न्यूनता दूर करे। यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। २४

दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन
छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां
विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं
च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सं
ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

विष्णुः	विष्णु ने	अस्मान् द्वेष्टि	हमसे द्वेष करता है
जागतेन छन्दसा	जगती छन्द से	यं च	और जिससे
दिवि व्यक्रंस्त	द्युलोक पर आक्रमण किया।	वयं द्विष्मः	हम द्वेष करते हैं,
		सः निर्भक्तः	वह दूर कर दिया गया है।
ततः	वहाँ से		
यः	जो	विष्णुः	विष्णु ने

कः	कौन	त्वा विमुञ्चति	तुझे मुक्त करता है?
त्वा	तुझको	तस्मै पोषाय	उस पोषण के लिए
विमुञ्चति	मुक्त करता है ?	त्वा विमुञ्चति	तुझे मुक्त करता है।
सः	वह	रक्षसां	(तू) राक्षसों का
त्वा विमुञ्चति	तुझे मुक्त करता है।	भागः असि	भाग है ॥ २३ ॥
कस्मै	किसलिए		

कर सकता है कौन मुक्त दुख से, हे मानव ! ।
कर सकते हैं शमित प्रजापति ईश्वर दुखदव ! ॥
क्यों करते हैं परमेश्वर जन का दुख-मोचन ? ।
कृपामूर्ति वे, इष्ट उन्हें है सबका पोषण ॥
सबपर उनको है अहैतुकी कृपा निरन्तर ।
कर देते हैं छिन्न सभी बन्धन वे स्तर-स्तर[1] ॥
मुक्ति हेतु जो कर्म अपेक्षित, यज्ञ अनुष्ठित ।
करते है सम्भार सभी का करुणामय नित ॥
यज्ञ-कर्म का करता जो मानव उल्लंघन ।
कर देते हैं त्याग ईश भी उसका तत्क्षण ॥ २३ ॥

टि०—इस मंत्र में सार-रूप में भक्ति-तत्त्व के आधारभूत सिद्धांत का विवेचन किया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा व्यक्त की गई है कि हे मनुष्य ! तुझे कौन मुक्त करता है ? उत्तर मिलता है, वह प्रजापति परमेश्वर ही हमें सब दुःखों से मुक्त करता है। फिर प्रश्न है, वह परमेश्वर हमें सांसारिक दुःखों से और जन्म-मृत्यु के पाशों से मुक्त क्यों करता है। उत्तर है, यह उसकी अहैतुकी कृपा है, यह उसका स्वभाव है। मंत्र में 'पोषाय' शब्द आया है जिसका अर्थ है भगवान पोषण के लिए जीव को विविध दुःखों से मुक्त करता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है, यह पोषण उन भगवान का अनुग्रह है। उनका अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहे, इसलिए यज्ञ करना आवश्यक है। यज्ञ न करने से भगवान की कृपा के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। भगवान का अनुग्रह हमें प्राप्त हो, इसलिए यज्ञ करना, जीवन को यज्ञमय बना देना आवश्यक है। २३

सं वर्च॑सा पय॑सा सं त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा सꣳ शि॒वेन॑ ।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायो॑ऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्विलि॑ष्टम् ॥ २४ ॥

वर्चसा	तेजस्विता से,	शिवेन मनसा	उत्तम शिवसंकल्प-शील मन से
पयसा	दूध से,		
तनूभिः	शरीर से,	सं अगन्महि	(हम) संयुक्त हुए हैं।

1 हर तह ।

पृथ्वी मे पराक्रम कर सब शत्रुओं को नष्ट कर दिया। हम मनुष्यों को भी वैसा ही पराक्रम कर अपने शत्रुओ को नष्ट कर देना चाहिए। भगवान विष्णु द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने के तीन साधनो का इस मंत्र में निर्देश है। पृथ्वी पर शत्रुओं को निरस्त करने का साधन गायत्री मंत्र है। यह प्राणों का रक्षक है। छंद वह है जो स्वेच्छा से किया जाता है, प्राण-धारण भी स्वेच्छा से होता है, पर उसका रक्षण गायत्री मंत्र करता है। दूसरा साधन जगती छन्द है। मानव-जाति और राष्ट्रभूमि की उन्नति करने की जो जन्मजात प्रवृत्ति है, वही जगती छंद है। तीसरा साधन है त्रिष्टुभ् छंद। त्रिष्टुभ् का अर्थ है– त्रि+स्तुभ्! स्तुभ् का अर्थ है स्तुति या उपासना। प्राण का धारण-संरक्षण, मानवजाति का हित-संपादन और उपासना एवं आराधना ये ही तीन छंद हैं, जिनके द्वारा शत्रु नष्ट होते हैं तथा समाज सुखी होता है। भगवान विष्णु ने यही किया, मनुष्यों को उनका अनुकरण-अनुसरण करना चाहिए। जिस प्रकार विष्णु ने स्वर्गधाम रचा, उसी प्रकार मनुष्यों को इस धरती को स्वर्ग बना देना चाहिए। हम विष्णु के तेज से एक रूप हों, हमारा अन्न रोग-बीजों से मुक्त हो, यह प्रार्थना भी इस मंत्र में की गई है। २५

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

स्वयंभूः श्रेष्ठः	(तू) स्वयं उत्पन्न होनेवाली और परमोत्तम	मे	मुझको
रश्मिः असि	प्रकाश और तेज की किरण है।	वर्चः देहि	तेज प्रदान कर।
वर्चोदा असि	तू तेज प्रदान करनेवाला है।	सूर्यस्य आवृतं	सूर्य की प्रदक्षिणा के अनुसार
		अनु आवर्ते	मैं प्रदक्षिणा करता हूँ ॥ २६ ॥

प्रथित स्वयंभू! ज्ञान-ज्योति की चरम रश्मि तुम।
वर्चस्‌दायक स्वयं प्रकाशित प्राणवह्नि तुम॥
स्वीय शक्तियों से संस्थित चिर निरालंब हे!।
सर्वोपरि सच्चिदानंद निर्वृतिकदंब[1] हे!॥
जैसे भ्रमते तिमिर-हरण रवि कक्षा में नित।
वैसे ही हों कार्य हमारे आयजनोचित॥
दान करो वर्चस्व तेज, विज्ञान-ज्ञान तुम।
विश्वात्मन्! 'नित करें' तुम्हारा आवर्तन[2] हम॥
करें निखिल अज्ञान-तिमिर का हम अपनोदन[3]।
वेदविहित कर्मों से ज्योतित हो यह जीवन॥ २६॥

---

१ मोक्ष-सुख के समूह, २ प्रदक्षिणा, ३ हटाना, नष्ट करना।

त्रैष्टुभेन छन्दसा	त्रिष्टुभ् छन्द से
अन्तरिक्षे व्यक्रंस्त	अंतरिक्ष पर आक्रमण किया।
ततः	वहाँ से
यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करता है
यं च	और जिससे
वयं द्विष्मः	हम द्वेष करते हैं,
सः निर्भक्तः	वह दूर हटा दिया गया है।
विष्णुः	विष्णु ने
गायत्रेण छन्दसा	गायत्री छन्द द्वारा
पृथिव्यां व्यक्रंस्त	पृथ्वी पर आक्रमण किया।
ततः	वहाँ से
यः अस्मान् द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करता है
यं च वयं द्विष्मः	और हम जिससे द्वेष करते हैं,
सः निर्भक्तः	वह निकाल दिया गया है।
अस्मात् अन्नात्	इस अन्न के स्थान से भी उस शत्रु को निष्कासित कर दिया गया है।
अस्यै प्रतिष्ठायै	इस प्रतिष्ठा के स्थान से भी उसे निकाल दिया गया है।
स्वः अगन्म	हम लोगों ने स्वर्ग-धाम पा लिया है।
ज्योतिषा सं अभूम	तेज के साथ (हम) एकाकार हो गये हैं ।। २५ ।।

सर्वव्यापक विष्णुदेव का प्रकट पराक्रम।
सब द्युलोक है विजित छंद जगती से उत्तम ।।
है गायत्री प्रथित निखिल प्राणों की धात्री।
वही विष्णु के हेतु हुई भू पर जयदात्री ।।
त्रैष्टुभ से है विजित हुआ यह अंतरिक्ष सब।
शासन करते हैं त्रिभुवन पर विष्णु स्वयं अब ।।
व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के अरि सब हों उन्मूलित।
मानव! तुम आचरण विष्णु-सा करो विपश्चित[1] ।।
यज्ञ-सिद्ध परिशुद्ध अन्न नित प्राप्त करें हम।
पौरुष वर्धित करो त्रिविक्रम विष्णुदेव! तुम ।।
नष्ट करो वे शत्रु, करें जो हमको पीड़ित।
न्यायनिष्ठ हम रहें और कर्तव्यनिरत नित ।। २५ ।।

टि०—इस मंत्र में भगवान विष्णु की महिमा का वर्णन है। भगवान विष्णु ही सर्वव्यापी परमेश्वर है। वे त्रिविक्रम कहे गये है। उन्होंने द्युलोक, अन्तरिक्ष और

१ बुद्धिमानों जैसा।

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि गृहस्थ-जन परमेश्वर जैसे गृहपति बनें। परमेश्वर जिस कुशलता और पूर्णता के साथ यह संसाररूपी गृहस्थी चलाता है, वैसे ही धर्मनिष्ठ, कुशल और परिपूर्ण गृहस्थ हम बनें। वैदिक वाङ्मय में 'स्थूरि' और 'अस्थूरि' ये दो शब्द आये हैं। एक बैल की गाड़ी को 'स्थूरि' कहते हैं। दो या अधिक बैलों से खींची जानेवाली गाड़ी 'अस्थूरि' कहलाती है। गृहस्थी का शकट पति-पत्नी खींचते हैं। इसलिए उसे 'अस्थूरि' कहा गया है। पति-पत्नी पूर्णता को प्राप्त करें, गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए लोक-कल्याण करते रहें। २७

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधी—दमहं
य एवास्मि सोऽस्मि ॥ २८ ॥

व्रतपते अग्ने	व्रतों के पालनकर्ता हे अग्निदेव !	तत् (-तन्) मे अराधि	मेरा यह व्रतानुष्ठान (तेरे अनुग्रह से ही) सिद्ध हो सका है।	
अहं व्रतं	मैंने व्रतों का	इदं	यह कर्म करने पर	
अचारिषं	जो पालन किया है	यः अहं अस्मि	जो मैं था	
तत् अशकं	उसके करने में मैं (तेरी कृपा से ही) सक्षम हो सका हूँ।	सः एव अस्मि	वही मैं अब हूँ ॥ २८ ॥	

हे अग्ने ! व्रतपते ! रहा मैं व्रताचरणरत।
मैं पालन कर रहा यम-नियम सब अव्याहत[1] ॥
सिद्ध हुए ये कर्म कृपा से देव ! तुम्हारी।
वही कृपा हो देव ! निरंतर मंगलकारी ॥
हो न कभी भी व्रताचरण में त्रुटि कोई अब।
हों भविष्य में धर्म-कार्य मेरे अविघ्न सब ॥
ध्वस्त हुए आवरण असत् के हे परमेश्वर !।
प्राप्त कर लिया सत्य रूप अपना अविनश्वर ॥ ॥ २८ ॥

टि०—अध्याय एक के पाँचवें मंत्र में व्रतपालन की प्रतिज्ञा की गई है। इस मंत्र में उस व्रतपालन की सिद्धि का निर्देश है। कहा गया है, जिस व्रतपालन की प्रतिज्ञा की थी, वह संकल्प, हे अग्नि ! आपकी कृपा से पूरा हुआ। मैंने सत्यलक्षण से युक्त प्रसिद्ध सत्याचरण व्रत को सिद्ध कर लिया है। अब मैंने अपने सत्यस्वरूप को पा लिया है। असत्य का आवरण हट गया है। जैसा मैं अपने मूल रूप में था, वैसा ही अब हूँ। २८

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा[2] ।
अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः[3] ॥ २९ ॥

१ बिना रुकावट के।

टि०—इस मंत्र में भगवान से तेज और वर्चस्व प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। भगवान स्वयंभू है, स्वयंसिद्ध हैं, अपनी शक्ति से प्रतिष्ठित हैं। हम भी उनके चिदंश है। हम उनके तेज और वर्चस्व के सहज उत्तराधिकारी हैं। हम भी सूर्य की तरह चतुर्दिक् भ्रमण करते हुए अज्ञान का अंधकार दूर करें, यह हमारा कर्तव्य है। २६

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासᳬ सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतᳬ हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते[२] ॥२७॥

गृहपते अग्ने	हे गृह के पालक अग्नि!	अग्ने	हे अग्नि!
त्वया गृहपतिना	गृह के रक्षक तेरे साथ रहते हुए	नौ गार्हपत्यानि	हम दंपति के गार्हस्थ्य-धर्म
अहं	मैं	शतं हिमाः	सौ वर्षों तक
सुगृहपतिः भूयासं	उत्तम गृहपति बनूं।	अस्थूरि सन्तु	निरन्तर निर्विघ्न चलते रहें।
अग्ने	हे अग्नि!	सूर्यस्य आवृतं	सूर्य की प्रदक्षिणा के भ्रमण के समान
मया	मुझ जैसे	अनु आवर्ते	मैं प्रदक्षिणा करता हूँ॥ २७॥
गृहपतिना त्वं	गृहरक्षक की उपासना से तू		
सुगृहपतिः भूयाः	उत्तम गृहपति बन।		

हे अग्ने! हे परमेश्वर! उत्तम गृहपति तुम।
पाते हैं प्रकाश गृह-गृह में तुमसे ही हम॥
हम गृहस्थ भी बनें तुम्हारे जैसे गृहपति।
ज्ञान-कर्म से करें प्रकाशित प्रति जीवन-स्थिति॥
अग्ने! हम तुम रहें परस्पर सदा सहायक।
यज्ञ-कर्म निर्विघ्न करें शत-शत वर्षों तक॥
हम दम्पति, शत वर्ष रहें गार्हस्थ्य-धर्मरत।
रहें सदा 'अस्थूरि'[१] गृहस्थी की शुचि व्रतरत॥
करता हूँ प्रदक्षिणा सूर्य-सदृश मैं संतत।
हे गृहपति! हे अग्नि! तुम्हारे सम्मुख हम नत॥ २७॥

---

१ गाड़ी। एक बैल वाली गाड़ी को 'स्थूरि' और दो या अधिक बैलों की गाड़ी को 'अस्थूरि' कहा जाता था। गृहस्थी की गाड़ी पति-पत्नी चलाते है। इसलिए वह 'अस्थूरि' है।

कपटरूप धर विचर रहे हैं असुर चतुर्दिक् आज।
अपहृत करते कव्य-हव्य वे दुष्ट धर्म के व्याज॥
भोग रहे हैं असुर-निशाचर देव-पितर का भाग।
परापुरा[1] हैं हृष्टपुष्ट ये सकल धर्म-पथ त्याग॥
दुर्जन हों न समृद्ध हरण करके सुजनों की वृत्ति।
हे अग्ने! दो असुर-राक्षसों से धरती को मुक्ति॥
परजीवी[2] हों नष्ट तुम्हारा प्रकटे तेज-प्रकाश।
असुर-राक्षसों से विमुक्त हों ये धरती-आकाश॥ ३०॥

टि०—इस मंत्र मे स्वार्थियों, दूसरे का स्वत्व हरण करनेवालों, पाखंडी धर्म-ध्वजियों को असुर और राक्षस कहा गया है। वे कपट-वेष धारण कर दूसरों के भाग का भोग करते हैं। राक्षस और असुर कपट-वेष धारण कर असुरों और पितरों का भोग स्वयं खा जाते हैं। इस मंत्र में 'प्रतिमुञ्चति' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ है खोलने का उलटा अर्थात् बांधना। असुर और राक्षस वेष बदल-बदलकर ठगते है, दूसरों का हक छीनते हैं। इस मंत्र में 'परापुरा' शब्द का प्रयोग है, जो दूसरों का हक़ मारकर मोटे-ताज़े बने राक्षसों और असुरों का विशेषण है। ३०

अत्र॑ पित॑रो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्व॒म्।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत॒॥ ३१॥

पितरः	हे पितरो!	पितरः	पितरगण
अत्र मादयध्वं	यहाँ परम आनन्द प्राप्त करो।	अमीमदन्त	आनन्दित हुए;
यथाभागं	यथाभाग अन्न प्राप्त करके	यथाभागं	अपने भाग का उचित अन्न प्राप्त करके
आ वृषायध्वं	वैल के समान परिपुष्ट बनो।	आ वृषायिषत	वैल के समान परिपुष्ट हुए॥३१॥

पितरगणो! आओ-आओ तुम मोदित होकर अत्र[3]।
कव्य प्राप्त कर पुष्ट वृषभ-से विचरो तुम सर्वत्र॥
माता-पिता सुपरिजन पावें परम रम्य सम्मान।
विद्या और धर्म की शिक्षा का दो हमको दान॥
स्थूल-सूक्ष्म सब विद्याओं पर हो अपना अधिकार।
निखिल चराचर के मंगल का करें नित्य विस्तार॥

१ मोटे-ताज़े; २ दूसरों का हक मारनेवाले; ३ यहाँ।

कव्यवाहनाय	पितरों को दिये हुए अन्न को ले जानेवाले	सोमाय स्वाहा	सोम के लिए यह समर्पित है।
अग्नये स्वाहा	अग्नि के लिए यह आहुति समर्पित है।	वेदिषदः	यज्ञवेदी पर आये हुए
		असुराः	असुरों और
पितृमते	पितरों के साथ रहनेवाले	रक्षांसि	राक्षसों का
		अपहताः	नाश हुआ है ॥२९॥

पितरगण हित कव्यवाहक अग्नि को यह हवि समर्पित।
पितृगण के साथ रहते सोम उनको कव्य अर्पित॥
असुर अपहत हों निहत हों राक्षसों के व्यूह।
दूर हमसे रहें पापी और कुजन[1] - समूह॥
दुरित-दोषों से धरा यह रहे संतत मुक्त।
वृद्धि हो विद्वज्जनों की रहें वैभव - युक्त॥
स्वार्थरत परपीड़कों का वंश हो निःशेष।
ज्ञान-ज्योति प्रदान करते रहें नित परमेश॥ २९॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, असुरों और राक्षसों से दूर ही रहना चाहिए। वे निरंतर कष्ट देते हैं। यज्ञवेदी में छिपे हुए और समाज में कपट-वेश धारण कर विचरनेवाले असुरों और राक्षसों को नष्ट कर देना चाहिए। यज्ञ में पितरों को जो यज्ञभाग दिया जाता है, वह कव्य है। देवताओं को जो अन्नभाग अर्पित किया जाता है, वह हव्य है। अग्नि इनको यथास्थान पहुँचाता है। पितरों के साथ रहनेवाले सोम को भी हव्य भाग अर्पित किया जाता है। २९

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्॥ ३०॥

ये असुराः	जो असुर	ये परापुराः	जो पूरे मोटे-ताज़े होकर भी
रूपाणि	अपने रूपों को		
प्रतिमुञ्चमानः सन्तः	बदलते हुए	निपुरः भरन्ति	दुर्बलों जैसा व्यवहार करते हैं,
स्वधया	पितरों को दिये हुए अन्न को	तान् अग्निः	उनको अग्नि
चरन्ति	(छल से उनका रूप धारण कर भक्षण करते हुए) विचरते हैं	अस्मात् लोकात्	हमारे स्थान से
		प्रणुदाति	निकाल बाहर कर दे॥ ३०॥

[1] दुर्जन।

पितरो ! तुमको नमस्कार है जीवन-वारि-प्रदाता ।
पितरो ! तुमको नमस्कार है स्वधारूप सुखदाता ।।
पितरो ! तुमको नमस्कार है घोर स्वरूप भयावह ।
पितरो ! तुमको नमस्कार है मन्यु-स्वरूप जयावह ।।
मधुऋतु, ग्रीष्म, सुवृष्टि, शरद, हेमन्त, शिशिर का क्रम यह ।
रहे हमारे लिए काल-परिवर्तन सदा सुखावह ।।
करो कृपा विज्ञानरूप आनंद नित्य हम पावें ।
शत्रु और सब क्लेश नष्ट हों, पूत जीविका पावें ।।
पृथ्वी, अन्न, स्वराज्य, न्याय से युक्त बने यह जीवन ।
पापीजन के हेतु मन्यु[1] से पूर्ण रहें अपने मन ।।
पितरो ! हमको दान करो गृह की विभूति चिरस्थायी ।
पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों से समृद्ध सुखदायी ।।
जो कुछ अपने पास, पितृगण वह सब तुमको अर्पित ।
स्वीकारो उपहार वस्तु यह, हमसे नित्य नमस्कृत ।। ३२ ।।

टि०—इस मंत्र में रस, शोष, जीव, स्वधा, घोर और मन्यु नामक प्रतीकों का प्रयोग क्रमशः छः ऋतुओं के लिए किया गया है। रस वसंत है, शोष ग्रीष्म जीव वर्षा, स्वधा शरद, घोर हेमंत और मन्यु शिशिर है। यह ऋतु-क्रम पितरों की छिपी शक्ति का परिणाम, उनकी कृपा का फल है। उपर्युक्त छः शब्द क्रमशः रसिकता, नीरसता, जीवन, स्वकीय धारक शक्ति, घोरत्व और उत्साह के भी प्रतीक हैं। ये गुण सुप्रयुक्त होकर मनुष्य के व्यक्तित्व को समृद्ध बनाते हैं और उसके जीवन को सफल बनाते हैं। इस मंत्र में पितरों से सुंदर निवास-स्थान और पुत्र-पौत्र की वृद्धि की याचना की गई है। मंत्र के अन्तिम भाग में पितरों को वस्त्र-समर्पण कर देने का संकेत किया गया है। वस्त्रदान सर्वस्व-समर्पण का प्रतीक है। ३२

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत् ।। ३३ ।।

पितरः	हे पितरो !	कुमारं	कुमार को गर्भ में
यथा इह	जिस प्रकार यहाँ	आधत्त	स्थापित
पुरुषः असत्	वीर पुरुष हो,		करो ।। ३३ ।।
पुष्करस्रजं	(उस प्रकार) कमल की माला धारण करनेवाले		

१ क्रोध। पापियों पर क्रोध करना धर्म है।

वृद्धि प्राप्त कर करें अनुष्ठित सतत श्रेष्ठतम कर्म।
सबको सत्पथ पर प्रेरित कर पालें अपना धर्म ॥ ३१ ॥

टि०—असुरों और राक्षसों के नष्ट हो जाने के बाद जो स्थिति होती है उसका वर्णन इस मंत्र में है। असुरों के निरस्त होने पर पितरों को उनका भाग मिलने लगा है। उनकी क्षीणता चली गई है। अब वे बैल के समान हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं। वे बड़े प्रसन्न दिखाई पड़ते है। ३१

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृहान्नः पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो दे॒ष्मैतँ॑द्वः॑ पितरो॒ वास॒ आधत्त ॥ ३२ ॥

पितरः	हे पितरो !	पितरः वः नमः	पितरो ! तुमको नमस्कार है।
वः रसाय नमः	तुम्हारे रस को नमस्कार है।	पितरः	हे पितरो !
पितरः	हे पितरो !	नः	हमको
वः शोषाय नमः	तुम्हारी शुष्कता को नमस्कार है।	गृहान् दत्त	घर और पुत्र दो।
पितरः	हे पितरो !	पितरः	हे पितरो !
वः स्वधायै नमः	तुम्हारे जीवन को नमस्कार है।	वः सतः देष्म	हम अपने पास जो है, उसे तुमको देते है।
पितरः	हे पितरो !	पितरः	हे पितरो !
वः घोराय नमः	तुम्हारी घोर स्थिति को नमस्कार है।	वः वासः आ धत्त	हम तुम्हारे लिए यह वस्त्र अर्पित करते हैं ॥ ३२ ॥
पितरः	हे पितरो !		
वः मन्यवे नमः	तुम्हारे उत्साह और क्रोध को नमस्कार है।		

पितरो ! तुमको नमस्कार है रस के लिए निरंतर।
पितरो ! तुमको नमस्कार है शोषरूप बहिरंतर ॥

प्राप्त उपायन[1] करें श्रेष्ठ ये, पितर बनें परितृप्त।
और प्रदान करें हम सबको संतति गौरव-दृप्त ॥
पितृयज्ञ से तृप्त पितरगण करे सुसंतति दान।
प्रकट करे जो इस धरती पर अपना शौर्य महान ॥
हे जल! तुम हो अमृत, सतत अमरत्व धर्म से युक्त।
तृषा दूर कर, तुम पितरों को करो नित्य परितृप्त ॥ ३४ ॥

टि०—इस मंत्र में पितरो को अर्पित करने योग्य वस्तुओं का निर्देश किया गय है। वे है बल बढ़ानेवाले अन्न के रस, घी, दूध, फलों-फूलों से चूनेवाने उत्तम रस आरोग्यवर्धक और मृत्यु-निवारक ओषधि-रस, उत्साहवर्धक पेय तथा धारणाशक्ति बढ़ा वाले खाद्य पदार्थ। इनको पाकर पितर तृप्त होते हैं। तृप्त होकर पितर वीर संता प्रदान करते हैं। ३४

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

---

१ उपहार, वायन।

पितरो ! हम दंपति को दो तुम संतति वीर वरेण्य।
जिसको पाकर पूर्णकाम हों राष्ट्र, धरा हो धन्य॥
पुष्करस्रक्[1] कुमार दे हमको करो वंश की वृद्धि।
श्रेष्ठ पुत्र पाकर होते हैं सकल मनोरथ सिद्ध॥
विद्वज्जन ऐसी संतति का करें शुद्धि-संस्कार।
उनमें विद्या के वैभव का होता रहे प्रसार॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्र में पितरों से वीर पुत्र प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। इस मंत्र में गर्भाधान-संस्कार की महत्ता का निर्देश है। गर्भाधान के समय पति-पत्नी को कमल की माला धारण करनेवाले वीर पुत्र की प्राप्ति की कामना करनी चाहिए। पितर ही गुण रूप से व्यक्ति में, वीर रूप से राष्ट्र में और ऋतु रूप से विश्व में रहते हैं, श्रुति का यह निर्देश है। पितर ही अभीष्ट संतति प्रदान करते हैं। ३३

ऊर्ज॒ꣳ वह॑न्तीर॒मृतं॑ घृ॒तं पय॑: की॒लाल॑ꣳ परि॒स्रुत॑म्।
स्व॒धा स्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन्॥ ३४ ॥

[अध्यायः २; कण्डिकाः ३४, मंत्र-संख्या ६५]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

ऊर्ज घृतं	(हे जलो !) अन्न, घृत (और)	कीलालं	उत्तम पान करने के योग्य हो।
पयः	दूध	स्वधा स्थ	स्व को (अर्थात् देह और आत्मा की) धारक शक्ति बढ़ाने वाले हो।
परिस्रुतं	(तथा) चूनेवाले रसों को		
वहन्तीः	वहन करनेवाले तुम हो।	मे	मेरे
अमृतं	(इसलिए) अमरत्व गुण से मंडित तुम	पितॄन् तर्पयत	पितरों को तृप्ति प्रदान करो ॥३४॥

हे जल ! हे घृत ! अन्न-पूत हे ! रस-स्रावी फल-फूल।
अर्पित करता हूँ पितरों को तुम सबको सुखमूल॥

---

१ कमल की माला धारण करनेवाला।

सुसमिद्धाय	अच्छी तरह से प्रज्वलित	अग्नये	अग्नि के लिए
शोचिषे	तेजस्वी	तीव्रं	तेजस्वी
जातवेदसे	जातमात्र के ज्ञाता (परमज्ञानी)	घृतं जुहोतन	घृत की आहुतियाँ प्रदान करो ॥ २ ॥

उत्तम यहाँ प्रदीप्त जातवेदस् यह ज्ञानी।
सब कर्मों का, निखिल ज्ञान का साधन मानी॥
डालो इसमें स्वच्छ शुद्ध तेजस्वी घृत की धारा।
होंगे दोष निवृत्त, इष्ट सब होगा सिद्ध तुम्हारा॥
वहिरन्तर[1] का पूर्ण ज्ञान यह अग्नि प्रकट करता है।
मानव ! दुरित[2] - दोष जीवन के यही दूर करता है॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को 'जातवेदस्' कहा गया है। 'जातवेदस्' वह है जो सब 'जात' अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थों को जानता है और उनका ज्ञान कराता है। अग्नि में घृत की पतली अखंड धार डालते रहने का निर्देश इस मंत्र में दिया गया है। अग्नि ज्ञान का साधन है। २

तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्धयामसि।
बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

अंगिरः	हे गतिमान अग्नि !	वर्धयामसि	हम बढ़ाते हैं।
तं त्वा	उस तुझे	यविष्ठ्य	हे युवा अग्नि !
समिद्भिः	समिधाओं से	बृहत् आ शोच	तू बड़ी ज्वालाओं से प्रकाशित हो जा॥ ३ ॥
घृतेन	(और) घृत से		

हे अग्ने गतिमान ! तुम्हें हम करते हैं संवर्द्धित।
समिधाओं, घृत - आहुतियों से तुम हो हमसे एधित[3] ॥
ज्ञानदायिनी युवा शिखाओं से तुम रहो प्रकाशित।
ज्ञानप्राप्ति के शिल्प-सिद्धि के लिए रहो आराधित॥
अये यविष्ठ्य अग्नि ! हम मानव प्राप्त करें जीवन-रस।
नित्य शुद्ध सच्चिदानंदमय अनाद्यन्त[4] चिर निरलस॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र में 'अंगिरः' शब्द बड़ा सारगर्भित है। अंगों में व्याप्त रस में

---

१ बाहर और भीतर; २ पाप; ३ बढ़ा हुआ; ४ जिसका आदि-अन्त न हो।

अथ तृतीयोऽध्यायः

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।

आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

समिधा	समिधा द्वारा	अस्मिन्	(तत्पश्चात्) इसमें
अग्नि दुवस्यत	अग्नि की सेवा करो।	हव्या	हवनीय पदार्थों की
घृतैः	घृत की आहुतियों के द्वारा	आ जुहोतन	आहुतियों से अच्छी तरह हवन करो ॥ १ ॥
अतिथिं बोधयत	अग्निरूपी अतिथि को जाग्रत करो।		

तृतीय अध्याय

अग्नि रहे समिधाओं से सम्यक्[1] आराधित।
घृत, आहुति से अतिथि अग्नि को दीप्त करो नित ॥
फिर उसमें शुचितम हवनीयों का कर क्षेपण[2]।
अग्नि सर्वभक्षी[3] का सविधि करो तुम तोषण ॥
सुधीजनो ! यज्ञ में अग्नि को कर संस्थापित।
वायु और वर्षा का शुद्धि - विधान[4] करो नित ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में अग्नि को अतिथि मानकर उन्हें घृत की आहुतियों से परितृप्त करने का आदेश दिया गया है। 'अतिथि' शब्द इस मंत्र में अग्नि का विशेषण है। 'अतिथि' की व्युत्पत्ति कई प्रकारों से की जाती है। जिसके आने की कोई निश्चित तिथि नहीं, वह अतिथि है। 'अतति इति अतिथिः' अर्थात् जो घूमता है, भ्रमण करता है, आता-जाता है, वह अतिथि है। तीसरी व्युत्पत्ति है, 'अत्ति इति अतिथिः' अर्थात् जो खाता है, वह अतिथि है। इसी तीसरे अर्थ में यहाँ 'अतिथि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा अग्नि के सर्वभक्षक गुण का निर्देश किया गया है। 'भानु कृसानु सर्व रस खाहीं'—गोस्वामी तुलसीदास। १

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।

अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

---

१ अच्छी तरह,विधिपूर्वक; २ आहुति अर्पित करने की क्रिया; ३ सब कुछ खानेवाला; ४ शुद्ध बनाने का काम।

अन्नाद्याय	अन्न के अदन या भक्षण के लिए
अन्नादं	अन्न का अदन (भक्षण) करनेवाले
अग्निं	अग्नि की
आ दधे	स्थापना करता हूँ,
भूम्ना	(जिससे मैं) विशालता में
द्यौः	स्वर्गलोक के
इव	समान,
वरिम्णा	वरिष्ठता में
पृथिवी	पृथ्वी के
इव	समान होऊँ ।।५।।

ॐ भूर्भुवःस्वः - रूप ईश ! हे अग्ने ! ।
सत् चित् आनंद स्वरूप सदा तुम अग्ने ! ।।
मैं करता हूँ आराधन सदा तुम्हारा ।
सच्चिदानंदमय हो अस्तित्व हमारा ।।
हे पृथ्वी ! देव - यजन के हेतु पुण्यतम ।
शुचितम वेदी है पीठ तुम्हारी उत्तम ।।
अन्नाद अग्नि का इसपर कर संस्थापन ।
अन्नादि हेतु करता मैं यजन - सुयोजन[1] ।।
द्यौ - सा विस्तार अनंत प्राप्त हो हमको ।
पृथ्वी सी गुरुता आप्त[2] प्राप्त हो हमको ।।
द्यौ - सा मैं संतत रहूँ अन्न - धन पूरित ।
परिवार कार्य - व्यापार रहे नित विस्तृत ।।
ऐश्वर्य, कीर्ति - गौरव मंडित हो जीवन ।
पर निर्वृति[3] से परिपूर्ण रहूँ मैं प्रतिक्षण ।। ५ ।।

टि०—इस मंत्र में प्रयुक्त 'भूर् भुवः स्वः' शब्दों के टीकाकारों ने अलग-अलग अर्थ किये हैं। ये तीन शब्द सत्ता, ज्ञान और आनंद के बोधक हैं। इनका अर्थ पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक भी है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ का बोध भी इनसे होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं अन्न, प्रजा, पशु का बोध भी इनसे होता है। मंत्र में सभी के मंगल के लिए प्रार्थना की गई है। पृथ्वी 'देवयजनि' है। वह देवयज्ञ के लिए स्थान प्रदान करती है। इस मंत्र में प्रार्थना की गई है, हम द्युलोक के समान विशाल और विस्तृत तथा पृथ्वी के समान वरिष्ठ और श्रेष्ठ बनें। ५

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ।। ६ ।।

१ यज्ञ की सुन्दर योजना; २ प्रामाणिक; ३ परमानंद या मोक्ष का आनंद ।

जो आग्नेय तत्त्व है, वही 'अंगिर:' या अग्निरस है। अग्नि को 'यविष्ठय' भी कहा गया है। इसका अर्थ है 'नित्य युवा और बलवान अग्नि' जो कभी वृद्ध नहीं होता। 'अग्नि' अंगिरस है अर्थात् सतत गतिमान है। अंगों में व्याप्त जीवन-रस में जो नित्य शुद्ध अमृत तत्त्व है, वही अंगिरस है। जीवन-तत्त्व सच्चिदानंद का अंश है। ३

उप॑ त्वाऽग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत ।

जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑ ॥ ४ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	हर्यत	हे कान्तियुक्त अग्नि !
हविष्मतीः	हविष्यान्न से युक्त	मम समिधः	मेरी समिधाएँ
घृताचीः	(और) घी से भीगी हुई (समिधाएँ)	जुषस्व	ग्रहण कर या सेवन कर ॥ ४ ॥
त्वा उप यन्तु	तुझे प्राप्त हों।		

हे अग्ने ! ये हविष्यान्न[1] से युक्त सिक्त[2] शुचि घृत से।
समिधाएँ सब तुम्हें प्राप्त हों, नीत[3] भक्तिमय हृद्[4] से ॥
हे हर्यत् ! हे अग्नि कान्तिमत् ! तुम इनको स्वीकारो।
इन समिधाओं का सेवन कर ज्ञान-प्रकाश पसारो ॥
संचित करते रहें सतत हम शुचि घृत शुचि समिधाएँ।
रहें प्रकाशित मानव-मन में पावन ज्ञान-शिखाएँ ॥ ४ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि में अर्पित की जानेवाली समिधाएँ घृताची हों, यह आदेश दिया गया है। घृताची का अर्थ है घृत में डूबी हुई। इस मंत्र में 'हर्यत्' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है कान्तिमान। महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ प्राप्ति का हेतु किया है। दोनों की अर्थच्छाया अनुवाद में है। ४

भूर्भुवः॒ स्वः॒ द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा ।
तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॑ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे ॥ ५ ॥

भूः	(तू) सत्तारूप	पृथिवि	हे पृथ्वी !
भुवः	ज्ञानरूप,	तस्याः	उस
स्वः	आनन्दरूप (है)।	ते	तेरी
देव यजनि	देवताओं के यज्ञ के लिए स्थान देनेवाली	पृष्ठे	पीठ पर

१ हवन करने का अन्न; २ भीगी हुई; ३ लायी गयी; ४ हृदय।

अस्य	इन अग्निदेव की	महिषः	यह महान अग्निदेव
रोचना	प्रभापूर्ण शक्ति	दिवं	द्युलोक को
प्राणात्	प्राण और	व्यख्यत्	प्रकाश प्रदान करता है ।। ७ ।।
अपानती	अपान-रूप से		
अन्तः चरति	(सब प्राणियों के) भीतर संचरण करती है।		

इन्हीं अग्नि की दीप्ति यही ऊर्जा चेतन[1] नित ।
अंतर में बन प्राण-अपान सतत संचारित ।।
यही अग्नि दीपित करते रहते हैं दिव को ।
और वायु बन पूरित करते अंतरिक्ष को ।।
यही अग्नि हैं आराधित अपनी धरती पर ।
वायु और विद्युत् बन शोभित अंतरिक्ष पर ।।
यही अग्नि बन सूर्य निरंतर नभ में ज्योतित ।
यही अग्नि है मानव के हित वंदनीय नित ।। ७ ।।

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव का स्तवन है। ये अग्नि ही प्राण, अपान रूप से सब प्राणियों के भीतर संचार करते हैं। ये अग्नि ही अंतरिक्ष में वायु बनकर संचार करते है। ये ही द्युलोक में सूर्य बनकर प्रकाशित हैं। ये ही पृथ्वी पर वायु और विद्युत् के रूप में विद्यमान हैं। ७

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ।। ८ ।।

त्रिंशत् धाम	तीस धामों में (जो)	द्युभिः	अपनी तेजराशि से
विराजति	शोभा पाती है,	पतङ्गाय	अग्नि के लिए
वाक्	(वह) वाणी	धीयते	प्रयुक्त होती है ।। ८ ।।
प्रति वस्तोः	प्रतिदिन		
अहः	(और) विशेष दिनों में		

त्रिशद्धामों में वाणी जो सदा विराजित ।
प्रतिदिन और विशेष दिनों पर वही प्रवर्तित ।।

१ चिन्मयी शक्ति ।

अयं	इस	मातरं असदत्	माता पृथ्वी के निकट गया।
गौः	गमनशील		
पृश्निः	अद्भुत दीप्तियुक्त अग्नि ने	स्वः	प्रकाशलोक की ओर
		प्रयन्	गमन करता हुआ
आ	अन्तरिक्ष पर	पितरं च	पितृरूप द्युलोक को भी
अक्रमीत्	आक्रमण किया।		
पुरः	(वह) पहले	असदन्	प्राप्त हो गया ।।६।।

प्रत्यक्ष वर्तुलाकार[1] सतत गतिशीला[2]।
है अंतरिक्ष में करती अनुपम लीला।।
अपनी कक्षा[3] में अंतरिक्ष में संस्थित।
रवि के सम्मुख हैं अविरत प्रदक्षिणा - रत।।

दिन, रात और ऋतु-क्रम से सज्जित नित नव।
माता यह पृथ्वी अपनी और पिता दिव।।
हे अग्नि! रहो नित दीपित, इस धरती पर।
शत वर्णमयी[4] ज्वालाओं से चिर भास्वर[5]।।
फैले द्युलोक तक दिव्य प्रकाश तुम्हारा।
मेघों में विद्युन्मय[6] हो वास तुम्हारा।।
लोकत्रय में विक्रम निज करो प्रकाशित।
त्रयताप- मुक्त हो मानव पर निर्वृत्तिरत।। ६ ।।

टि०—यह मंत्र बड़ा कवित्वपूर्ण है। इसमें अग्नि के पराक्रम का चित्रात्मक वर्णन है। इसमें श्लेषालंकार है। 'गौ पृश्निः' का अर्थ गतिशील बहुरंगी ज्वालाओं वाला अग्नि किया गया है। महर्षि दयानन्द ने 'गौः' का अर्थ पृथ्वी किया है। यह पृथ्वी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर अंतरिक्ष में घूमती है। इसी से दिन-रात, कृष्ण-शुक्ल पक्ष, अयन, वर्ष, ऋतु आदि का क्रम चलता है। अनुवाद में यही अर्थ ग्रहण किया गया है। अग्नि पृथ्वी का पुत्र भी कहा गया है। इस मंत्र में विशेष ध्यान देने की बात है—पृथ्वी का अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमना। इससे सिद्ध है कि वैदिक ऋषि को पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने का ज्ञान था। ६

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन् महिषो दिवम् ।। ७ ।।

---

१ गोल; २ निरन्तर चलती हुई; ३ मार्ग (ऑरबिट्),ग्रह-पथ; ४ सैकड़ो रंगोंवाला; ५ प्रकाशमान; ६ बिजली के रूप में।

अग्नि ज्योति है, ज्योति अग्नि है—उसके लिए समर्पण, स्वाहा ।
सूर्य ज्योति है, ज्योति सूर्य है, उसके लिए समर्पण, स्वाहा ।।
अग्नि वर्च है, ज्योति वर्च[1] है—उसके लिए समर्पण, स्वाहा ।
सूर्य वर्च है, ज्योति वर्च है—उसके लिए समर्पण, स्वाहा ।।
सूर्य ज्योति है, ज्योति सूर्य है—उसके लिए समर्पण, स्वाहा ।। ९ ।।

टि०—इस मंत्र में 'वर्च' का अर्थ है तेज । 'स्वाहा' का अर्थ है 'मैं अर्पित करता हूँ।' 'स्वाहा' का एक अर्थ 'ग्रहण' भी निरुक्तकार ने बताया है। ग्रहण के अर्थ में इस मंत्र का आशय होगा, मैं सूर्य और अग्नि के तेज को ग्रहण या धारण करता हूँ । ९

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा[1] ।
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा[2] ।। १० ।।

सवित्रा देवेन	विश्व के प्रसविता सविता देवता के	उषसा सजूः	उषा के साथ
सजूः	साथ,	जुषाणः	रहनेवाले
इन्द्रवत्या	इन्द्र की शक्ति के साथवाला,	सूर्यः	सूर्यदेवता
रात्र्या सजूः	रात्रि के साथ	वेतु स्वाहा	यह आहुति प्राप्त करें। (मैं उनको इस आहुति के साथ अपना 'स्व' अर्पित करता हूँ। वह सर्वदेवस्वरूप अग्नि को मिले)।। १० ।।
जुषाणः अग्निः	रहनेवाले अग्नि		
वेतु स्वाहा	(इस आहुति को) प्राप्त करें।		
सवित्रा देवेन	सविता देवता के		
सजूः	साथ		
इन्द्रवत्या	इन्द्र की शक्तिवाली		

जो सविता देवता सहित हैं सदा विराजित ।
इन्द्रवती यह रात्रि साथ रहती जिनके नित ।।
अग्निदेव वे प्राप्त करें आहुति यह मेरी ।
स्वाहा ! स्वाहा ! स्वाहा ! ।।

१ तेज ।

निज द्युतियों से अग्नि हेतु होती प्रयुक्त वह।
प्रेरित करते अग्निदेव ही उसको अहरह[1]॥
वही अग्नि गतिमान पतंग[2] रूप धर भास्वर।
मानव - वाणी में प्रकाशमय नित्य निरंतर॥ ८॥

टि०—इस मंत्र में वाणी और अग्नि के महत्त्व का एक साथ वर्णन किया गया है। अग्नि ही मनुष्य में वाणी के रूप में प्रकाशित होती है। यह वाणी तीस धामों में विराजती है। इसका अर्थ है अहोरात्र के तीस मुहूर्त। इन तीसों मुहूर्तों में वाणी निरंतर व्यापृत रहती है। 'पतंग' का अर्थ है पतन्+गच्छति अर्थात् जो उड़ता हुआ जाता है, वह पतंग है। अग्नि और सूर्य दोनों का नाम पतंग है। ८

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा । अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ९ ॥

अग्निः	अग्नि
ज्योतिः	ज्योति है;
ज्योतिः	ज्योति
अग्निः	अग्नि है।
स्वाहा	मै उसमें आहुति अर्पित करता हूँ।
सूर्यः	सूर्य
ज्योतिः	ज्योति है;
ज्योतिः	ज्योति
सूर्यः	सूर्य है।
स्वाहा	मैं उसमें आहुति अर्पित करता हूँ।
अग्निः	अग्नि
वर्चः	तेज है;
ज्योतिः	ज्योति ही (अग्नि का)
वर्चः	तेज है।
स्वाहा	मैं उसके प्रति आहुति समर्पित करता हूँ।
सूर्यः	सूर्य
वर्चः	तेज है;
ज्योतिः	ज्योति ही
वर्चः	(सूर्य का) तेज है।
स्वाहा	मै उसमें अपने स्वयं को अर्पित करता हूँ।
ज्योतिः	ज्योति ही
सूर्यः	सूर्य है;
सूर्यः	(और) सूर्य
ज्योतिः	ज्योति है।
स्वाहा	मैं इस प्रकाश में अपने को अर्पित करता हूँ॥ ९॥

१ प्रतिदिन; २ सूर्य।

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ १२ ॥

दिवः	द्युलोक का	अग्निः	अग्नि
मूर्धा	मस्तक	अपां	जलों के
ककुत्	(और) उच्चभाग	रेतांसि	वीर्यों को
पृथिव्याः पतिः	पृथ्वी का स्वामी	जिन्वति	पुष्ट करता
अयं	यह		है ॥ १२ ॥

सर्वदेवमय अग्नि यही पृथ्वी का पालक ।
यह द्युलोक का ककुद जलों का वीर्य-प्रपालक[1] ॥
विद्युन्मय[2] मेघों में यही अग्नि है संस्थित ।
सर्वव्यापी यह करता है सबको प्रेरित ॥
ओज, तेज, उत्साह इसी से हम सब पाते ।
सर्वदेवमय अग्नि ! तुम्हारे स्तव[3] हम गाते ॥ १२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को द्युलोक का ककुद् कहा गया है । बैल के कंधे का ऊँचा भाग ककुद् कहलाता है । वह उसका भूषण भी है । द्युलोक का सबसे ऊँचा भाग ककुद् माना जाता है । अग्नि का स्थान विश्व में सर्वोच्च है । १२

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ १३ ॥

इन्द्राग्नी	हे इन्द्र और अग्नि !	उभौ	तुम दोनों
वां उभौ	तुम दोनों का	इषां	अन्नों के (और)
आहुवध्यै	मैं आवाहन	रयीणां	धनों के
	करता हूँ ।	दातारौ	दाता हो।
राधसः	अन्न के द्वारा	उभौ वां	तुम दोनों को
उभौ सह	तुम दोनों को	वाजस्य	अन्न के
मादयध्यै	मैं संतुष्ट करना	सातये	दान के लिए
	चाहता हूँ ।	हुवे	(मैं) बुलाता हूँ ॥ १३ ॥

१ जलों के वीर्य का पोषण करनेवाला; २ विजलीवाला; ३ स्तोत्र।

जो सविता देवता सहित हैं सदा सुशोभित।
इन्द्रवती यह उषा साथ रहती जिनके नित॥
सूर्यदेव वे प्राप्त करें आहुति, यह मेरी।
स्वाहा! स्वाहा! स्वाहा!॥

विश्व - प्रसविता सकल जगत के हैं जो ईश्वर।
इन्द्रशक्ति संवलित रात्रि के हैं जो सहचर॥
इन्द्रशक्ति संयुक्त उषा के हैं जो सहचर।
सूर्यरूप अग्नि को प्राप्त हो आहुति मेरी॥
स्वाहा! स्वाहा! स्वाहा!॥ १०॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले ईश्वर के साथ इन्द्रवाली उषा के साथ रहनेवाले सूर्य-रूप अग्नि में मैं यह आहुति अर्पित करता हूँ। यह सर्वदेवतामय अग्नि को प्राप्त हो। इस मंत्र में सूर्य को आहुति अर्पित करने का विधान है। अग्नि सूर्य का ही रूप है। १०

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।

आरे अस्मे च शृण्वते॥ ११॥

अध्वरं उप प्रयन्तः	यज्ञ के निकट जानेवाले हम	च शृण्वते	सुननेवाले
		अग्नये	अग्नि के लिए
आरे	दूर से भी	मंत्रं	मंत्र
अस्मे	हमारा कथन	वोचेम	बोलते-पढ़ते हैं॥११॥

करते कैतवहीन अहिंसक यज्ञ अनुष्ठित।
ऐसे यज्ञों के समीप हम जाते हैं नित॥
अग्निदेव के हेतु प्रार्थना मंत्र बोल हम।
आत्मार्पण करते सभक्ति परमेश्वर को हम॥
दूर - दूर सुनते हैं वे प्रार्थना हमारी।
सदा निकट सुनते हैं वे प्रार्थना हमारी॥ ११॥

टि०—इस मंत्र में हिंसा और कुटिलता-रहित यज्ञ को अध्वर कहा गया है। अग्नि सर्वदेवता-स्वरूप परमेश्वर की प्रत्यक्ष कला हैं। चाहे दूर हो या निकट, वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं। ११

टि०—इस मंत्र में गृहस्थाश्रम के गार्हपत्य अग्नि और आहवनीय अग्नि के परस्पर उत्पादक-उत्पाद्य संबंध का निरूपण करते हुए गृहस्थ के दान-धर्म का निर्देश किया गया है। ऋत्विय का अर्थ होता है ऋतु के अनुकूल। आहवनीय अग्नि गृहस्थाश्रम के यज्ञ, हवन और दान का प्रतीक है। १४

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ १५॥

होता	हवन करनेवाले	चित्रं	विचित्र कर्म करनेवाले अग्नि को
यजिष्ठः	यजनशील	विशे विशे	प्रजाजनों के हित के लिए
अध्वरेषु	अहिंसक यज्ञों में	अप्नवानः	कर्म करनेवाले
प्रथमः	सबसे पहले	भृगवः	भृगु आदि ऋषियों ने
अयं ईड्यः	इस पूजार्ह अग्नि को	वनेषु	वनों में
धातृभिः	आधान करनेवाले ऋत्विजों ने	वि रुरुचुः	विशेष रूप से प्रदीप्त किया (था)॥ १५॥
इह	यहाँ		
अधायि	स्थापित किया है।		
यं	इस		
विभ्व	व्यापक		

अग्निदेव ये ही होता हैं, हैं यजिष्ठ[1] ये, प्रथम ईड्य[2] ये।
अग्न्याधान-विहित विधि से हैं यज्ञवेदिका में एधित[3] ये॥
किया ऋत्विजों ने है इनका इस वेदी में सम्यक् पूजन।
यज्ञों में हैं प्रथम पूज्य ये अग्नि देवता ब्रह्म सनातन॥
सर्वव्यापक हैं विचित्र ये अग्नि निखिल मानव के हितकर।
भृगु आदिक ऋषियों से ये ही दीप्त हुए हैं इस धरती पर॥
सर्वभूतहित निरत अग्नि ये, इनका नित्य करें आराधन।
हैं आश्चर्यकर्मकर्ता ये, इनका करें अनुग्रह-साधन॥
तपःशक्ति को संवर्धित कर सब पापों को भस्म करें हम।
भृगु बनकर, ऋषिकल्प मनुज बन प्रेय-श्रेय सब प्राप्त करें हम॥ १५॥

टि०—'भृगु' का अर्थ है अपनी तपःशक्ति से पापों को जलानेवाले ऋषिगण। मनुष्य मात्र का हित करना इनका जीवन-व्रत है। १५

१ यजनशील; २ पूजनीय; ३ विकसित या स्थापित।

अये इन्द्र! हे अग्नि! तुम्हारा कर आवाहन।
अर्पित कर यह अन्न कर रहा हूँ आराधन॥
अये इन्द्र! हे अग्नि! अन्न-धन देते हो तुम।
हम पर रहो प्रसन्न, अन्न पावें प्रभूत[1] हम॥
अये इन्द्र! हे अग्नि! तुम्हारा कर आराधन।
पूर्णकाम हम बनें, प्राप्त हो प्रचुर अन्न-धन॥
सदा शक्ति-गुण रहें तुम्हारे हमको अवगत[2]।
जग-मंगल के हेतु करें उनको प्रयुक्त नित॥ १३॥

टि०—वायु और अग्नि की सम्पूर्ण शक्तियों और उनके अंतर्निहित गुणों का सम्यक् ज्ञान मनुष्य को हो सके, इसके लिए इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। १३

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ १४॥

अग्ने	हे अग्नि (आहवनीय)!	जातः	उत्पन्न होकर
ऋत्वियः	ऋतु के अनुकूल उत्पन्न	अरोचथाः	तू प्रकाशित होता है,
अयं	यह अग्नि (गार्हपत्य)	तं	उसको
ते	तेरा	जानन्	जानता हुआ
योनिः	उत्पत्ति-स्थान है।	आरोह	ऊपर आरोहण कर
यतः	जहाँ से	अथ नः	और हमारे
		रयिं	धनों की
		वर्धय	वृद्धि कर॥ १४॥

गार्हपत्य हे अग्नि! तुम्हीं करते हो आहवनीय प्रकट।
समुत्पन्न होकर ऋत्विय[3] तुम करते आहवनीय प्रकट॥
आहवनीय अग्नि! तुम होकर समुत्पन्न गार्हपत्य अग्नि से।
उसको जानो और प्रकाशित वर्द्धित हो गार्हस्थ्य धर्म से॥
सतत करो आरोह, गृहों को करें प्रकाशित शिखा तुम्हारी।
धन-संवर्धन करो, निरंतर वृत्ति दान की बढ़े हमारी॥
हे अग्ने जगदीश! दान के हेतु विपुल धन प्राप्त करें हम।
वर्धमान धन रहे निरंतर पुण्यकीर्ति पावें गृहस्थ हम॥ १४॥

---

१ अत्यधिक; २ ज्ञात; ३ ऋतु के अनुकूल।

मे	मुझको	अग्ने	हे अग्नि !
आयुः	आयु	यत्	जो
देहि	दे।	मे	मेरे
अग्ने	हे अग्नि !	तन्वा	शरीर में
वर्चोदा	(जो तू) तेज देनेवाला	ऊनं	कमी हो
असि	है (वही तू)	तत्	उस
मे	मुझको	मे	मेरी (कमी को)
वर्चः	तेजस्विता	आ पृण	पूर्ण कर ॥ १७ ॥
देहि	प्रदान कर।		

हे अग्ने ! तुम इस शरीर के रक्षक हो विख्यात।
पाहि पाहि, इस तन की रक्षा करो देव ! दिन-रात॥
हे अग्ने जगदीश ! आयु के दाता हो तुम आप्त।
पाहि पाहि, आयुर्बल अक्षय मुझे कराओ प्राप्त॥
हे अग्ने ! हो तुम्हीं वर्च के दाता प्रथित अनंत।
पाहि ! पाहि ! दो दान हमें तुम तेजस्विता अनंत॥
मेरे तन की सकल न्यूनता दूर करो हे देव !।
पूर्ण करो विज्ञान-ज्ञान से मेरा तन-मन देव ! ॥ १७ ॥

टि०—महर्षि दयानन्द के अनुसार इस मंत्र में श्लेषालंकार है। यह परमेश्वर-रूप अग्नि एक ओर शारीरिक आयु, आरोग्य, तेज आदि प्रदान करता है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक पूर्णता भी प्रदान करता है। १७

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳ हिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि। वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्। अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ अदा॑भ्यम्। चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय॥ १८॥

अग्ने	हे अग्नि !	अदाभ्यं त्वां	न दबनेवाले तुझको
वयस्वन्तः	अन्न से समृद्ध (तथा)		
सहस्वन्तः	बलवान (एवं)	इन्धानाः	प्रदीप्त करते हुए
अदब्धासः	न दबे हुए हम सब,	शतं हिमाः	सौ वर्षों तक
द्युमन्तं	तेजस्वी (एवं)	समिधीमहि	प्रज्वलित करते रहेंगे।
वयस्कृतं	अन्न सिद्ध करनेवाले,		
सहस्कृत	बलशाली (तथा)	चित्रावसो	हे रात्रि !
सपत्नदम्भनं	शत्रुओं का नाश करनेवाले		

अस्य प्रत्नामनु द्युतंꣳ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पर्यः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

अस्य	इन अग्निदेव के	सहस्रसां ऋषिं	हजारों ऋषितुल्य गायों से
प्रत्नां	पुरातन		
द्युतं	तेज के	शुक्रं	वीर्यवर्द्धक शुद्ध
अनु	अनुकूल रहनेवाले	पयः	दूध
अह्रयः	भय-संकोच-रहित ऋत्विजों ने	दुदुह्रे	दुहा है ॥ १६ ॥

मानव ! जानो गुणसहित अग्नि का कारण और अनादि रूप ।
जानो जग के चर-अचर सभी का कारण और अनादि रूप ॥
सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाले हैं जो विद्वज्जन ।
करते हैं अग्निदेव का शत-शत कार्यों में नित संयोजन ॥
यह अग्नि अनादि स्वरूपों में है आदिकाल से वर्तमान ।
है शुद्ध कर्म-संपादन के हित होता इसका शुभ विधान ॥
होते ही इसके ज्वलित, ज्योति-प्रसरित होते कर गो-दोहन ।
ऋषिकल्प[1] सुरभि से पाते हैं पय परम शुद्ध ये याजक जन ॥
रवि रूप इसी से करते हैं वे अग्निदेव का सविधि यजन ।
घन घिरते हैं, वर्षा होती बनता है पूर्णकाम जीवन ॥ १६ ॥

टि०—प्राचीन काल से ही प्रकाश को देखकर अग्नि प्रदीप्त किया जाती रही है । हजारों यज्ञों की पूर्णता गाय का दूध निकालकर होती थी इसलिए गो को भी ऋषि कहा गया है । अग्नि के प्रकाश में दूध दुहकर उससे हवन होता था । यज्ञ से ही वर्षा होती है । जीवन के अभाव दूर होते हैं । १६

तनूपा अंग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अंग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अंग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ १७ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	तन्वं	शरीर की
तनूपा	(तू) शरीर का रक्षक	पाहि	रक्षा कर।
असि	है ।	अग्ने	हे अग्नि !
मे	(इसलिए) मेरे	आयुर्दा असि	(तू) आयु देनेवाला है।

१ ऋषि-जैसी ।

टि०—इस मंत्र में कहा गया है-हमको दीर्घायु, तेजस्विता, उत्तम स्थान और धन के द्वारा पुष्टि प्राप्त करनी चाहिए और देश हमें प्रिय होना चाहिए। १९

अन्ध॒ स्थान्धो॑ वो भक्षीय॒ मह॑ स्थ॒ महो॑ वो भ॒क्षीयोर्ज॒ स्थोर्जं॑ वो भक्षीय रा॒यस्पोषं॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय ॥ २० ॥

अन्धः स्थ	तू अन्न है।	ऊर्जं	बल
वः	तेरा	भक्षीय	प्राप्त करूँ।
अन्धः	अन्न	रायस्पोषः	(तू) धन का पोषक
भक्षीय	मैं खाऊँगा।	स्थ	है।
महः स्थ	(तू) पूज्य है।	वः	तुझसे
महः भक्षीय	(मैं तुझसे) पूजनीयता प्राप्त करूँ।	रायस्पोषं	धन का पोषण
ऊर्जः स्थ	(तू) बलयुक्त है।	भक्षीय	मैं प्राप्त करूँ ॥२०॥
वः	तुझसे (मैं)		

बलदायक जो वृक्ष, पदार्थ विविध ओषधिचय।
भक्षण उनका करें, वीर्य-बल हो निज अक्षय ॥
अये अन्ध! हे अन्न! करूँ मैं ग्रहण तुम्हें नित।
जल, पय, घृत, मिष्टान्न, सरस फल प्राप्त रहें नित ॥
हो वर्धित पुरुषार्थ हमारा जीवन ऊर्जित।
बहु गुणयुक्त पदार्थ ईश! हम भोग करें नित ॥
धनवाली है गाय, गाय ही धन है उत्तम।
गो करती पय-दान, अन्न है पय ही उत्तम ॥
हे गो! तुम हो पूज्य, हमें भी पूज्य बनाओ।
तुम हो बल से युक्त, हमें भी सबल बनाओ ॥ २० ॥

टि०—सातवलेकरजी के अनुसार यह गो की स्तुति का मंत्र है। 'अंध' का अर्थ है प्राण को धारण करानेवाला अन्न। २०

रेव॑ती॒ रम॑ध्वम॒स्मिन्योना॑व॒स्मिन् गो॒ष्ठे॒ऽस्मिँल्लो॒के॒ऽस्मिन् क्षये॑। इ॒हैव स्त॒ माप॑गात ॥ २१ ॥

रे-वतीः	हे धनवाली गायो!	अस्मिन्	इस
अस्मिन्	इस	गोष्ठे	गोशाला में,
योनौ	स्थान पर	अस्मिन् लोके	इस देश मे,

ते	(हम) तेरे	स्वस्ति	कल्याण के साथ
पारं	पार	अशीय	हो जाएँ ॥ १८ ॥

हे परमेश्वर अग्निदेव! शत हिम- ऋतुओं तक।
करते रहें प्रदीप्त तुम्हें आयुर्बल पूरित॥
प्राप्त करें हम अन्न और अक्षय, अदम्य बल।
शत हिमऋतु तक चले तुम्हारा आराधन नित॥
अन्नवान! बलवान! शत्रुनाशक! तेजोमय।
अये अग्नि! शत हिमऋतु हमसे रहो उपासित॥
करते रहें प्रदीप्त तुम्हें शत हिमऋतुओं तक।
हे चित्रावसु! रहे सतत धन-धान्य प्रपूरित॥
अति विचित्र ग्रह कोटि-कोटि नक्षत्र-प्रवर्तित।
अये रात्रि! कल्याण सहित हम तुम्हें तरें नित॥ १८॥

टि०—'चित्रावसु' का अर्थ रात्रि भी है और आश्चर्यरूप धनयुक्त भी। १८

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाᳬ स्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा
सं प्रजया सᳬ रायस्पोषेण ग्मिषीय॥ १९॥

अग्ने	हे अग्नि!	अगथाः	संगत हो गया है।
त्वं	तू	आयुषा सं	आयु के साथ,
सूर्यस्य	सूर्य के	वर्चसा सं	तेज के साथ,
वर्चसा सं	तेज के साथ,	प्रजया सं	प्रजा के साथ,
ऋषीणां	ऋषियों की	रायस्पोषण सं	धनधान्य के साथ
स्तुतेन सं	स्तुतियों के साथ,	स ग्मिषीय	(तू) युक्त हुआ है ॥ १९ ॥
प्रियेण	प्रिय		
धाम्ना सं	धाम के साथ,		

हे अग्ने! सूर्य के वर्च से हो तुम मंडित।
हे जगदीश्वर! तुम ऋषियों से संस्तुत हो नित॥
तुम अपने प्रिय पुण्य धाम सह रहकर शोभित।
आयु, अन्न-धन, तेज, प्रजा को करते वर्द्धित॥
सूर्य-सदृश वर्चस्व-वृद्धि की सिद्धि करें हम।
हो पुरुषार्थ प्रवृद्ध, देश से प्रेम करें हम॥ १९॥

ऊर्जादायक देवि ! करो मुझमें प्रवेश तुम।
गोपालन के भाव से रहें प्रेरित नित हम ॥
तुम्हीं यज्ञ के प्रकट सकल करती हो साधन।
तुमसे वर्द्धित रहे हमारा प्रति गृह प्रतिजन॥
हे अग्ने ! हम श्रद्धायुक्त वचन से प्रतिदिन।
करते रहते नमन प्राण से मन से दिन-दिन॥
परमेश्वर की परम सृष्टि हे अग्नि ! दयामय।
व्याप रहे हो निखिल सृष्टि में तुम विद्युन्मय॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में गो को पुण्य-संहिता अर्थात् पवित्र संगठन करनेवाली कहा गया है। सब शुभ गुणों का संगठन गो में है। २२

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानꣳ स्वे दमे ॥ २३ ॥

राजन्तं	तेजस्वी	स्वे	अपने
अध्वराणां	अहिंसक यज्ञों के	दमे	घर में
गोपां	रक्षक,	वर्धमानं	बढ़नेवाले (अग्नि
ऋतस्य	सत्य के		को हम प्राप्त
दीदिविं	प्रकाशक		करते हैं) ॥ २३ ॥

तेजस्वी हे अग्नि ! अध्वरों के गोपा[1] तुम !।
सकल अहिंसक शुभ कर्मों के रक्षक हो तुम॥
ऋत[2] को कर देदीप्यमान सत्य के प्रकाशक।
संवर्द्धित हो स्वीय[3] धाम में तुम ज्योतिःस्रक्[4]॥
यज्ञमार्ग के देव प्रवर्तक संवर्धक तुम।
करते यज्ञ-प्रसार हमारे ही हित में तुम॥
जिन परमेश्वर से प्रकटा यह अग्नि शुभावह।
भजें सत्क्रिया शुद्ध बुद्धि से उनको अहरह॥ २३॥

टि०—महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र में श्लेषालंकार माना है। परमेश्वर आदि-रहित सत्य कारण-रूप से सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा करता है और अग्नि सब व्यवहारों को सिद्ध करता है। इस मंत्र में यज्ञ को मानवों का कल्याण करनेवाला प्रशस्त कर्म कहा गया है। २३

---

१ रक्षक; २ ईश्वरीय सत्याश्रित विधान; ३ अपने; ४ प्रकाश की माला वाले।

अस्मिन् क्षये	इस घर में,	स्त	रहो,
रमध्वम्	आनंद से रहो।	मा अपगात	दूर मत जाओ ॥२१॥
इह एव	यहाँ ही		

अये रे-वती गायो! तुम हो परमोत्तम धन।
होता सदा तुम्हारे पय से तन का पोषण॥
वृषभों को दे जन्म, धान्य-धन करती वर्द्धित।
तुमसे ही राष्ट्रीय-सम्पदा संवर्द्धित नित॥
गोगण! विचरो सुख से गोष्ठों में, ग्रामों में।
तुम विचरो सानंद देश में, जन-धामों में॥
निखिल लोक में रमो सदा सानंद विगत-भय[1]।
प्रति गृह में तुम रहो प्रजाजन रहें अनामय[2]॥
दूर न जाओ हमें छोड़कर हे गोगण! तुम।
अरे रे-वती[3] गायो! संतत निकट रहें हम॥ २१॥

टि०—रे-वती: शब्द का अर्थ है धनवाली गायें। इस मंत्र में कहा गया है, सब प्रजाएँ गो के दूध का सेवन कर परिपुष्ट हों। २१

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ २२॥

विश्वरूपी	अनेकानेक रूपों में	वयं	हम सब
संहिता	संगठन करनेवाली	दिवे दिवे	प्रतिदिन,
असि	(तू) है।	दोषावस्तः	रात-दिन
ऊर्जा	(हे गोमाता!)	धिया	श्रद्धापूरित बुद्धि से
	बल देनेवाली होकर	नमो	नमस्कार
गौपत्येन	गोपालन के भाव से	भरन्तः	करते हुए
मा	मुझमें	त्वा	तेरे
आविश	प्रवेश कर।	उप	पास
अग्ने	हे अग्नि!	एमसि	आते हैं॥ २२॥

विश्वरूपिणी पुण्य-संहिता[4] हो हे गो! तुम।
करती हो अनेक रूपों में संगठना तुम॥

---

१ निर्भय; २ नीरोग; ३ धनस्वरूपा; ४ संगठन करनेवाली।

हे अग्ने ! हे जगदीश्वर ! हो निकट सदा तुम ! ।
अंतर्यामिन् ! रहें सदा तुमसे रक्षित हम ॥
शिवमय सतत रहो हमारे हेतु दयामय ।
गृह-गृह में तुम मित्र हमारे हो मंगलमय ॥
त्राता भव[1] हे देव ! श्रेष्ठ गुण कर्म दान कर ।
कांतिमान हे अग्नि ! रहो तुम निकट निरंतर ॥
दो हमको द्युतिमत्[2] परम तेजस्वी धन वह ।
जो सुख - साधन सहित सुरक्षादायक अहरह ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में कुछ शब्द दो अर्थों-वाले हैं । 'अंतमः' का अर्थ निकट रहनेवाला है और अंतर्यामी भी । 'वरूथ्यः' का अर्थ घरेलू मित्र है और श्रेष्ठ गुण, कर्म और स्वभाव में होने की स्थिति । भगवान से आत्मज्ञान-रूपी धन प्रदान करने की प्रार्थना की गई है । २५

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे सखि॑भ्यः ।
स नो॑ बोधि श्रु॒धी हव॑मुरु॒ष्या णो॑ अघाय॒तः स॑मस्मा॒त् ॥ २६ ॥

शोचिष्ठ	तेजस्वी	सः	वह
दीदिवः	कान्तिमान्	त्वं	तुम
	(हे अग्ने !)	नः	हमको
तं	उस	बोधि	जान ले ।
त्वा	तुझको	हवं	हमारी पुकार
नूनं	निश्चय से (हम)	श्रुधी	सुन ले ।
सुम्नाय	सुख के लिए,	समस्तात्	सभी
सखिभ्यः	मित्रों के हित के	अघायतः	पापियों से
	हेतु	नः	हमारी
ईमहे	प्राप्त करते हैं ।	उरुष्य	रक्षा करदे ॥ २६ ॥

कान्तिमान अग्ने ! हे परम शुद्ध जगदीश्वर ! ।
हम मित्रों के सहित रहें सानंद निरंतर ॥
करते हम याचना आपसे हे परमेश्वर ! ।
जानो हमको, सुनो हमारे स्तोम[1] सुखाकर ॥
देते हो विज्ञान - ज्ञान हमको तुम पावन ।
पाहि देव ! सब दूर रहें हमसे पापी जन ॥ २६ ॥

---

१ रक्षक बनो; २ प्रकाशमान; ३ स्तुतियाँ ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये[1] ॥ २४ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	सूपायनः	सुगमता से प्राप्त
सः	वह तू (जो)	भव	हो जा,
सूनवे	पुत्र के लिए	नः	हमारे
पिता इव	पिता की तरह (सुखदाता है)	स्वस्तये	कल्याण के लिए
		सचस्व	हमारे साथ
नः	हमारे लिए		रह ॥ २४ ॥

हे अग्ने ! हे जगदीश्वर ! तुम पिता परम हित ।
देते विद्या, धर्म आदि की शिक्षा तुम नित ॥
पुत्र हेतु जिस भाँति पिता है सहज प्राप्य नित ।
उसी भाँति तुम रहो हमारे निकट प्रतिष्ठित ॥
रहें भक्तिरत और करें कल्याण प्राप्त नित ।
हो उत्तम अस्तित्व हमारा तुमसे वर्द्धित ॥
सूपायन[1] भव देव ! माँगते शरण वरण हम ।
तन के मन के और बुद्धि के चिर शरण्य[2] तुम ॥ २४ ॥

टि०—यह मंत्र वात्सल्य भाव की भक्ति से ओत-प्रोत है । भगवान को भक्ति के द्वारा सुख से प्राप्त होने योग्य कहा गया है । २४

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः[1] ॥ २५ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	वसुः अग्निः	(हमारा) प्रकाश-देव
त्वं	तू		
नः	हमारे	वसुश्रवाः	यशस्वी अग्नि
अन्तमः	पास रहनेवाला	अच्छ	हमारे पास
उत त्राता	और हमारा रक्षक,	नक्षि	रहे
शिवः	कल्याणकारी और	द्युमत्तमं	(और हमें) तेजस्वी
वरूथ्यः	हितकारी मित्र	रयिं दाः	धन दे ॥ २५ ॥
भव	हो जा।		

१ सुख से प्राप्त होनेवाले; २ शरण देने के योग्य ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ २८ ॥

ब्रह्मणस्पते	हे ज्ञान के स्वामी परमात्मन् !	कृणुहि	कर
		यः	जैसे (तूने)
सोमानं	सोमरस तैयार करनेवाले को	औशिजः	उशिक्-पुत्र
		तं	उस
स्वरणं(सु-अरणं)	उत्तम प्रगति से युक्त	कक्षीवन्तं	कक्षीवान् को (किया था) ॥ २८ ॥

ब्रह्मणस्पते हे ! निखिल ज्ञान के प्रभु परमेश्वर ! ।
करो सोमयागी को तेजस्वी उन्नततर ! ॥
उन्नतिकामी उशिक् देव ! तुम हमें बनाओ ।
अंतर में सब विद्याओं की ज्योति जगाओ ॥
पुत्र उशिक् के जैसे कक्षीवान् प्रथित-यश ।
रहें प्रगति हित वैसे हम सन्नद्ध अहर्निश ॥
ज्ञान, तेज, स्थिर प्रगति-प्रदायक हे परमेश्वर ! ।
नीतियुक्त दो हमको विद्याएँ अविनश्वर ! ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में उशिक् ऋषि के पुत्र कक्षीवान् का संदर्भ है, जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कृतसंकल्प होकर साधना की होगी। 'उशिक्' का अर्थ उन्नति चाहनेवाला भी है और 'कक्षीवान्' का अर्थ है वह जो उन्नति करने के लिए कमर कस ले। 'कक्ष्या' कमर कसनेवाली रस्सी को भी कहते हैं। २८

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः ।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ २९ ॥

यः	जो	यः	जो
रेवान्	धनवान है,	तुरः	शीघ्रता से कार्य सम्पन्न करनेवाला है,
यः	जो		
अमीवहा	रोगनाशक (और)	सः	वह
वसुवित्	धनसंपन्न है	नः	हमारे
पुष्टिवर्धनः	पोषण करनेवाला है,	सिषक्तु	पास रहे ॥ २९ ॥

अमीवहा[1] ब्रह्मणस्पते[2] ! रे-वान्[3] सदा तुम ।
रोगमुक्त धनयुक्त रहें हे देव ! सदा हम ॥

---

१ रोगों का नाश करनेवाला; २ ज्ञान का स्वामी; ३ धनवाले ।

टि०—इस मंत्र में कहा गया है कि तेजस्वी, प्रतापी अग्नि हमें सुख प्रदान करे; इष्ट-मित्रों का कल्याण करे। २६

इड्ड एह्यदित एहि[1] काम्या एत।

मयि वः कामधरणं भूयात्[2] ॥ २७ ॥

इड एहि	हे अन्नरूपी गो यहाँ आओ।	एत	यहाँ आ जाओ।
अदिति एहि	हे अदीन बनाने वाली गो, यहाँ पधारो।	वः	तुम्हारी
काम्या	हे सबके द्वारा कामना करने के योग्य (गौ),	कामधरणं	कामनापूर्ति करने की शक्ति
		मयि	मुझे
		भूयात्	प्राप्त होवे ॥ २७ ॥

अयि इड़े! तुम्हारा स्वागत, यहाँ पधारो।
अयि अदितिरूपिणी! आओ, यहाँ पधारो॥
सबकी काम्ये! धेनुओ! यहाँ तुम आओ।
प्रति गृह पय, दधि, नवनीत, आज्य सरसाओ॥
हम रहें अदीन प्रभूत अन्न-धन-पूरित।
काम्ये! तुम करो प्रदान हमें सब वांछित॥
दो कामधरण[1] निज शक्ति अये गो! हमको।
पूजते इड़े! अदिते! काम्ये! हम तुमको॥
हे परमेश्वर! हम करें राज्य पृथ्वी पर।
हो शासन-नीति हमारी अक्षय सुखकर॥
शुचि राजनीति से पृथ्वी हो मंगलमय।
शुभ कामप्रद पुरुषार्थ करें हम निर्भय॥ २७॥

टि०—'इड़ा' शब्द 'गो' और 'पृथ्वी' दोनों का बोधक है। गो दीनता निवारण करने के कारण अदिति और वह कामना के पूर्ण करने के कारण काम्या है। अदिति का अर्थ महर्षि दयानन्द ने सब सुखों को प्राप्त करानेवाली नाश-रहित राजनीति बतलाया है। २७

---

१ कामना पूर्ण करनेवाली।

महि	महान्,	अवः	हमारा रक्षण
द्युक्षं	तेजस्वी,	अस्तु	हो जाए ॥ ३१ ॥
दुराधर्षं	शत्रु से अधृष्य		

ये करें सुरक्षा सदा मित्र, अर्यमा, वरुण ।
जगदीश्वर हम पर रहें सदा ही परम करुण ॥
वे दुराधर्ष[1] तेजस्वी करते हैं रक्षण ।
भरते प्रकाश से आत्मा, प्राण, हृदय मन धन ॥
हीनता - दीनताहीन द्युक्ष[2] वे अघमर्षण ।
कर देते तेजस्वी तमजित्[3] अपना जीवन ॥
बर्ताव मित्र ! हम सबके साथ करें उत्तम ।
अंतर में शील तुम्हारा करे प्रकाशित हम ॥
जाग्रत हो श्रेष्ठ - अश्रेष्ठ विवेक हमारा ।
अर्यमन् ! ध्वस्त कर दो जड़ता की कारा ॥
हे वरुण ! सदा वरणीय[4] परम प्रिय हो तुम ।
जीवन - संजीवन प्राप्त करें तुमसे हम । ३१ ॥

टि०—इस मंत्र में वंदित तीनों देवता मित्र, अर्यमा, वरुण दिव्य गुण, कर्म, स्वभाववाले हैं। उनकी कृपा से मानव को दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव प्राप्त होते हैं। मित्र-भाव से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। 'अर्यमा', अर्य अर्थात् श्रेष्ठ का विवेक प्रदान करते हैं। ऐसा विवेक-संपन्न व्यक्ति श्रेष्ठ को ही श्रेष्ठ कहता है, हीन को श्रेष्ठ नहीं। वरुण की कृपा से मनुष्य वरणीय बनता है। इस मंत्र का यह भाव अगले मंत्र में परिपुष्ट किया गया है। ३१

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ।
ईशे रिपुरघशंसः ॥ ३२ ॥

अघशंसः	पापी	वारणेषु	दुर्गम स्थानों में,
रिपुः	शत्रु	चन	किसी भी तरह
तेषां	उनको	नहि ईशे	वशीभूत करने
अमा	घर में,	ईशे	में समर्थ नहीं
अध्वसु	मार्ग में,		हो ॥ ३२ ॥

पापकर्म के लिए ख्यात अघशंस[5] दुष्ट जन ।
हैं समाज के शत्रु और मानवता के व्रण[6] ॥

१ अजेय; २ तेजस्वी; ३ अंधकार को जीतनेवाला; ४ वरण करने योग्य; ५ पाप-कर्म के लिए प्रसिद्ध; ६ घाव।

अये पुष्टिवर्धन ! वसुवित्[1] हे ! रहो निकट तुम।
त्वरायुक्त शुभकर्म रहें करते संतत हम॥
करो अविद्या आदि व्याधियों का प्रभु ! वारण।
अप्रमेय पुरुषार्थ करें हम अविरल धारण॥ २९॥

टि०—'अमीवहा' का अर्थ है 'आग', अर्थात् अपच से उत्पन्न होनेवाले रोगों का नाश करनेवाला। दूसरा अर्थ है अविद्या आदि रोगों को दूर करनेवाला। रेवान् का अर्थ धनवान है। २९

मा नः शꣳसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्‌मर्त्यस्य।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते॥ ३०॥

ब्रह्मणस्पते	हे ज्ञान के स्वामी !	नः	हमारे पास
अररुषः	हिंसाकारी	मा	नहीं
मर्त्यस्य	घातक शत्रु का	प्रणक्	आवे।
शंसः	अपशब्द, शाप आदि	नः रक्ष	उससे हमारी रक्षा
धूर्तिः	कपट		कर॥ ३०॥

वेद-ज्ञान- ब्रह्मणस्पते ! यह रहे अनश्वर !।
रहें दूर हमसे हिंसक पर स्वत्ववित्तहर[2]॥
दान-रहित वंचनानिरत[3] कपटी परनिंदक।
विफलकर्म हों शत्रु प्रकट या छद्मवेश बक[4]॥
बहिरंतर सब शत्रु हमारे नष्ट करो तुम।
रक्षित तुमसे रहें सदा हे जगदीश्वर ! हम॥ ३०॥

टि०—इस मंत्र में कुसंग से वचने और उत्तमोत्तम कर्म करने का उपदेश दिया गया है। शत्रु दो प्रकार के है—बाहरी और भीतरी। भीतरी शत्रु है काम, क्रोध, लोभ आदि। हमारी दोनों प्रकार के शत्रुओं से रक्षा करो, यह प्रार्थना भगवान से की गई है। ३०

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः।
दुराधर्षं वरुणस्य॥ ३१॥

मित्रस्य	मित्र का,	वरुणस्य	वरुण का,
अर्यम्णः	अर्यमा का,	त्रीणां	(इन) तीनों का

---

१ धनो को यथावत् जाननेवाला और ज्ञानपूर्वक प्रयोग करनेवाला; २ दूसरों का हक और धन छीन लेनेवाला; ३ धोखेबाज; ४ कपट वेशधारी बगुलो की तरह आचरण करनेवाले।

इन्द्र	हे इन्द्र !	उप सश्चसि	अनुकूल होते हैं।
कदाचन	कभी भी (तुम)	मघवन्	हे धन के स्वामी इन्द्र !
स्तरीः	वंध्या गौ की तरह निष्फल	देवस्य ते	तुम देवता से
न	नहीं	दानं	दान
असि	हो।	भूयः इन्नु	बहुत (मात्रा) में
दाशुषे	दाता (इन्द्र)	उपपृच्यते	प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥
इन्नु	बहुत दान (देनेवाले के) शीघ्र		

अये इन्द्र ! निष्फल होते हो नहीं कभी तुम।
वंध्या गौ-से निष्फल होते नहीं कभी तुम॥
दे विद्या का दान सुखों से कर आच्छादित।
देते पुष्कल श्रेय-प्रेय परमेश्वर ! तुम नित॥
दाता के अनुकूल सदा रहते हो मघवन् !।
देव ! तुम्हारा दान हमारा है यह जीवन॥
शुभ कर्मों के अमृत पुण्यफल के दाता तुम।
निखिल ज्ञान-विज्ञान तुम्हीं से पाते हैं हम॥ ३४॥

टि०—'स्तरीः' का अर्थ वंध्या गौ। भगवान की कृपा वंध्या गौ के समान नहीं होती, वह कभी निष्फल नहीं होती। ३४

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

सवितुः	सबके प्रसविता	यः	जो
देवस्य	सविता देवता के	नः	हमारी
तत्	उस	धियः	बुद्धियों को
वरेण्यं	श्रेष्ठ	प्रचोदयात्	प्रेरणा प्रदान करता है ॥ ३५ ॥
भर्गः	तेज को		
धीमहि	हम जानते हैं और (उसका) ध्यान करते हैं,		

सर्वप्रसविता सविता का वरणीय भर्ग नित।
पापतापभर्जकर देशकाल से अबाधित॥

देवत्रय की कृपा प्राप्त जगदीश्वर पद-रत।
मानव रहता सदा पापियों से अपराजित॥
घर हो, ज्ञाताज्ञात मार्ग किंवा दुर्गम स्थल।
ऐसे मानव का न अहित कर पाते रिपुदल॥
मित्रभावसंपन्न अर्यमर्मज्ञ[1] पुण्य जन।
सर्वभूतहित निरत अभय हैं रिपु से प्रतिक्षण॥ ३२॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि पाप करनेवाला समाज का और जनता का शत्रु है। वेद का इस मंत्र में आदेश है कि श्रेष्ठ को ही श्रेष्ठ कहना चाहिए। हीन को श्रेष्ठ कहना पाप है। ३२

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥ ३३॥

हि	निश्चय ही	जीवसे	दीर्घ जीवन के लिए
ते	वे	अजस्रं	अविच्छिन्न
अदितेः	अदिति के	ज्योतिः	तेज
पुत्रासः	पुत्र	प्रयच्छन्ति	देते हैं॥ ३३॥
मर्त्याय	मनुष्य को		

है अविभाज्य अखंड ईश की शक्ति अदिति नित।
पुत्र उसी के मित्र, अर्यमा, वरुण सुप्रथित॥
मानव को सुखपूर्ण दीर्घजीवन के दाता।
देवत्रय ये प्राण, सूर्य, जल, पवन-प्रदाता॥
कर देते ये ही अजस्र ज्योतिर्मय जीवन।
होता द्वैत निरस्त अ-दिति से दीप्त प्राण, मन!॥ ३३॥

टि०—'अदिति' को देवताओं की माता कहा गया है। यह मंत्र उसकी पुष्टि करता है। वे ही मित्र, अर्यमा और वरुण की माता हैं। वे भगवान की अचिंत्य, अविभाज्य शक्ति हैं। 'अदिति' शब्द 'अ+दिति' से बना है। जिसमें 'दिति' का भाव नहीं है, वह अदिति है। अदिति का अर्थ है भगवान् की वह शक्ति जो विश्वव्यापिनी, अविभाज्य और एकरस है। ३३

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥ ३४॥

---

[1] श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ को जाननेवाले।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳯं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः[1] ।
नर्य प्रजां मे पाहि[2] शᳯंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि[4] ॥३७॥

भूः	सत्,	नर्य	हे मानवों के हितकर्ता !
भुवः	चित्,	मे	मेरी
स्वः	आनंद (स्वरूप परमात्मन्),	प्रजां	संतानों की
प्रजाभिः	प्रजाओं से	पाहि	रक्षा कर।
सुप्रजाः	सुन्दर संततिवाला	शंस्य	हे प्रशंसा-योग्य !
वीरैः	वीरों से	मे	मेरे
सुवीरः	उत्तम वीरोंवाला,	पशून्	पशुओं की
पोषैः	पुष्टियों से	पाहि	रक्षा कर।
सुपोषः	उत्तम पोषक अन्नवाला	अथर्य	हे गतिमान !
		मे	मेरे
स्याम	मैं हो जाऊँ।	पितुं	पालक अन्न की
		पाहि	रक्षा कर ॥ ३७ ॥

सत् - चित् - आनंद-स्वरूप प्रभो ! परमेश्वर ! ।
हम रहें प्रजाओं से सुप्रज[1] जीवन - भर ॥
उत्तम सुवीर संतानवान सब हों हम ।
उत्तम सुपोष्य[2] अन्नोंवाले सब हों हम ॥
हे नर्य ! सर्वहितकर्ता परम अहैतुक ।
रक्षा मेरी संतति की करो सर्वदिक् ॥
हे शंस्य ! हमारे पशु सब रहें सुरक्षित ।
गायों की रक्षा करो, यज्ञ हों वर्धित ॥
हे हे अथर्य ! गतिमयता संतत धारे ।
रक्षित हों तुमसे अन्नागार हमारे ॥
रोगाणुरहित हों अन्नागार विवर्धित ।
वह अन्न प्रजा को पुष्टि-तुष्टि दे नव नित ॥
हम करें उसी से यज्ञ - कर्म - संपादन ।
हों यज्ञ हमारे सिद्ध, सुखी हो प्रतिजन ॥

---

१ अच्छी संतानवाले; २ अच्छी तरह पोषण करने योग्य ।

जो भुवनत्रय का अतिवर्ती[1] सदा एकरस।
कालत्रय के परे अखंड अनंत महायश॥
हम सब मिलकर करें ध्यान उसका सुसमाहित[2]।
सत्कर्मों में करे बुद्धियों को वह प्रेरित॥
परम कारुणिक अंतर्यामी परमेश्वर नित।
शुभ कर्मों में बुद्धि हमारी करें प्रचोदित[3]॥ ३५॥

टि०—इस मंत्र में सविता देवता के वरणीय 'भर्ग' का ध्यान करने का आदेश दिया गया है। भर्ग का अर्थ है, सब पापों का 'भर्जन' करनेवाला अर्थात् जलानेवाला। ३५

परिं ते दूडभो रथोऽस्माँर अंश्नोतु विश्वतंः।
येन रक्षंसि दाशुषंः॥ ३६॥

येन	जिसके द्वारा	**रथः**	रथ
दाशुषः	दाताओं की	**अस्मान्**	हम सबके
रक्षसि	तू रक्षा करता है,	**विश्वतः परि**	चारों ओर
सः	वह	**अश्नोतु**	रहे॥ ३६॥
ते	तेरा		
दूडभः	किसी से न दबाया जानेवाला		

जिससे दाताओं की तुम रक्षा करते।
जो अनाधृष्य[4] है, चिर अजेय दुर्दम है॥
परमेश्वर! रथ वह नित्य तुम्हारा चिन्मय।
अविनश्वर है विज्ञान स्वरूप परम है॥
वह करे हमारी सभी ओर से रक्षा।
वह निकट हमारे रहे चाहते हम हैं॥
हे प्रभु! तुम हो उस चिन्मय रथ के स्वामी।
शरणीय आपके सदा उपासक हम हैं॥ ३६॥

टि०—प्रभु का रथ इस मंत्र में 'दूडभः' कहा गया है। 'दूडभः' का अर्थ है दुर्दम्य या दुर्लभ। प्रभु का रथ किसी से दबाया नहीं जा सकता, किसी के द्वारा प्रतिबंधित नहीं हो सकता। ३६

---

१ सबके परे; २ मन की वृत्तियों को एकाग्र कर; ३ प्रेरित; ४ अदम्य।

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥३९॥

अयं	यह	गृहपते अग्ने	हे घर के स्वामी अग्नि !
गार्हपत्यः	गार्हपत्य नामक	द्युम्नं सह	बल-सहित
अग्निः	अग्नि ही	अभि आ	तेज हमें
गृहपतिः	घर का मालिक है,	यच्छस्व	प्रदान कर ॥ ३९ ॥
प्रजायाः	प्रजाजनों को		
वसुवित्तमः	धन देनेवाला है।		

गार्हपत्य अग्नि ही हैं ये अपने गृहपति ।
हम अर्पित करते हैं सभक्ति उनको नति[1] ॥
हम प्रजाजनों को ये उत्तम वसु[2] दाता ।
गृहपति अग्ने ! तुम हो बल-तेज विधाता ॥
गार्हस्थ्य धर्म में दीक्षित प्रजा सकल हम ।
बलयुक्त तेज से मंडित करो हमें तुम ॥
अभि द्युम्नबलित[3] परमोत्तम धन हम पावें ।
गार्हस्थ्य धर्म नित अपना सफल बनावें ॥ ३९ ॥

टि०— गार्हपत्य अग्नि को गृहस्थों के घर का स्वामी माना गया है। इसी को यह मंत्र संबोधित करता है। ३९

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः ।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥४०॥

अयं	यह	पुरीष्य	पृथ्वीनिवासी
पुरीष्यः	पृथ्वी पर रहनेवाला	अग्ने	हे अग्नि !
अग्निः	अग्नि है,	द्युम्नं सह	तेजयुक्त बल
रयिमान्	(वह) धनवान (तथा)	आयच्छस्व	(हमें) प्रदान कर ॥ ४० ॥
पुष्टिवर्धनः	पुष्टि की वृद्धि करनेवाला है।		

यह है अग्नि पुरीष्य धरामंडल पर संस्थित ।
है संतत रयिमान्[4] पुष्टि का संवर्धक नित ॥

१ प्रणति; २ धन; ३ श्रेष्ठ बलसम्पन्न; ४ धनयुक्त ।

उत्तम सुवीर संतानवान हों सब हम।
धन, धर्म, शौर्य, विद्यासाधक परमोत्तम ॥ ३७ ॥

टि०—इस मंत्र में आये हुए कुछ शब्द विचारणीय हैं। 'नर्य' का अर्थ है मानवों के हितकर्ता परमेश्वर। 'शंस्य' का अर्थ है प्रशंसा-योग्य परमेश्वर। 'अथर्य' का अर्थ है गतिमान परमेश्वर। इस मंत्र में विशेष रूप से वीर सुसंतान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की गई है। 'पितुम्' का अर्थ अन्न है। इस मंत्र में उत्तम संतान प्राप्त करने पर विशेष बल दिया गया है। ३७

आ गंन्म विश्ववेंदसमुस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडुभि द्युम्नमुभि सह आ यंच्छस्व ॥३८॥

सम्राट् अग्ने	हे तेजस्वी अग्निदेव !
विश्ववेदसं	सबके ज्ञाता (और)
अस्मभ्यं	हमारे लिए
वसुवित्तमं	धन प्राप्त करनेवाले
अभि आगन्म	तेरे ही पास हम आते हैं।
द्युम्नं सह	बल-सहित
अभि आ	सब ओर से विस्तारयुक्त तेज
यच्छस्व	(हमें) प्रदान कर ॥ ३८ ॥

सम्राट् अग्नि! हो प्रथित विश्ववेदा[1] तुम।
परमोत्तम धन प्रभु प्राप्त करें तुमसे हम! ॥
दो हमको द्युम्न[2] अमेय[3] अनंत महाबल।
वर्धित हो हममें तेज तुम्हारा अविकल[4] ! ॥
सब यज्ञ तुम्हीं से होते सिद्ध हमारे।
विज्ञान, ज्ञान, धन प्राप्त तुम्हीं से सारे ॥
उत्तम बल, उत्तम यश के तुम विस्तारक।
सच्चिदानंद प्रभु तारक जीवन-धारक ॥
वर्चस्वी, तेजस्वी, धनवान बनें हम।
ज्ञानी, विज्ञानी, धर्मनिरत हों नित हम ॥ ३८ ॥

टि०—इस मंत्र में श्लेषालंकार है। मनुष्यों को परमेश्वर और उसके प्रकट लौकिक रूप प्रकाशमान अग्नि की उपासना करनी चाहिए। यह अग्नि विश्ववेदा अर्थात् सबका ज्ञाता है। वह 'द्युम्न' अर्थात् बल प्रदान करता है। सूर्य, विद्युत् आदि भी उसी के रूप हैं। द्युम्न के अन्य अर्थ भी है जैसे-तेज, शक्ति, धन, स्फुरण, ज्ञान। यह सब प्राप्त करने के लिए इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। ३८

---

१ सर्वज्ञ; २ बल; ३ जिसकी नाप-जोख न हो सके, ४ पूर्ण।

सदा धारणावती तुम्हारी मेधा उत्तम।
मोदमान सच्चिदानंद परिपूरित हो तुम॥
परमोत्तम विज्ञान, ज्ञान, उत्साह, हर्ष भर।
गृहीजनो! भय छोड़ करो कर्त्तव्य निरंतर॥ ४१॥

टि०—गृहस्थों के प्रति यहां संबोधन है। उनसे कहा गया है, भय छोड़कर चार बातें स्मरण रखो– (१) मैं बलवान हूं; (२) मेरा मन अच्छे विचारों से युक्त है; (३) मेरी बुद्धि उत्तम है; (४) मेरे मन में आनन्द का वास है। ४१

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥ ४२॥

प्रवसन्	(यात्रा या) प्रवास के लिए जाते हुए (हम)	तान्	उन
		गृहान्	घरों को
येषां	जिसके विषय में	उपह्वयामहे	हम हर्षयुक्त करते हैं।
अध्येति	विशेष ध्यान रखते है,		
		जानतः	वे ज्ञाता (जन)
येषु	जिनके विषय में	ते	वे (घर-गृहवासी)
बहु	(हमें) बहुत	नः	हमारा (यह भाव)
सौमनसः	सौमनस्य या प्रीति है,	जानन्तु	जानें॥ ४२॥

अतिथि प्रवासशील हम करते स्मरण प्रेमभर।
बढ़ती जिन गृहियों के प्रति अति प्रीति निरंतर॥
ऐसे गृहीजनों की हम करते श्लाघा[1] नित।
रहें हमारे हृद्गत भावों से वे परिचित॥
गृहीजनों से हों सेवित विद्वान अतिथिजन।
प्राप्त करें विज्ञान-ज्ञान उनसे गृहस्थगण॥
संतशील विद्वान अतिथियों का कर स्वागत।
श्रेय-प्रेय बहु प्राप्त करें उनसे गृहस्थ नित॥ ४२॥

टि०—इस मंत्र में गृहस्थों और विचरणशील ज्ञानी, परोपकारी संत-अतिथियों के पारस्परिक संबंध का निर्देश है। ४२

---

१ प्रशंसा।

पौर[1] जनों का इष्ट पुरीष्य अग्नि यह पावन।
देता द्युम्न[2] अधृष्य और अक्षय पुष्कल धन॥
भूतलवासी अग्नि! करो वर्चस्व दान तुम।
तेजस्वी हों ज्ञानवान, विज्ञानवान हम॥
परमेश्वर! हम बनें अग्नि-विद्या के ज्ञाता।
करामलक-सा सिद्ध ज्ञान हो हमको धाता[3]॥ ४०॥

टि०—पृथ्वी पर रहनेवाले अग्नि को पुरीष्य कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'पुरि+इष्य' बताई गई है। जो पुर में अथवा नगर में निवास करनेवालों को इष्ट है, वह 'पुरीष्य' है। इसलिए इसे पृथ्वी पर रहनेवाला 'अग्नि' कहा गया है। ४०

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥

गृहाः	हे गृहो (गृह-निवासियो)!	ऊर्जं	(यह समझो-) बल को
मा	मत	बिभ्रत्	धारण करनेवाला
बिभीत	डरो,	सुमनाः	उत्तम मनवाला
मा	(भयभीत होकर) मत	सुमेधाः	उत्तम मेधावाला (मैं)
वेपध्वम्	काँपो।	मनसा	मन से
ऊर्जं	बल को	मोदमानः	प्रसन्न होकर
बिभ्रतः	धारण करनेवाले	वः गृहान्	घरों को
एमसि	हम तुम्हारे पास आते हैं।	ऐमि	प्राप्त हो जाता हूँ॥ ४१॥

मा भैः[4] मा भैः गृहीजनो! छोड़ो अपना भय।
संपादित कर्त्तव्य करो अपने तुम निर्भय॥
काँपो मत तुम, करो धर्म का पालन गतभय।
बलशाली तुम सदा शत्रु से अजय अनामय॥
रहो शक्तिशाली बनकर गार्हस्थ्य कर्मरत।
बल को धारण करो घरों में वास करो नित॥
सोचो तुम, हों शक्तिमान ऊर्जावर्द्धित[5] नित।
शिवसंकल्पों शुद्ध विचारों से सब ईड़ित[6]॥

१ नगरवासी; २ अपराजेय बल; ३ सर्जनात्मक; ४ डरो मत; ५ जिसकी शक्ति बराबर बढ़ रही है; ६ प्रशंसित।

रिशादसः	शत्रु का नाश करनेवाले,	मरुतः	मरुद्गण को
सजोषसः	प्रीति करनेवाले	करम्भेण	दधिमिश्रित सत्तू के ग्रहण के लिए
प्रघासिनः च	और बहुत भक्षण करनेवाले	हवामहे	हम बुलाते हैं ॥ ४४ ॥

शत्रुनाश करनेवाले मरुतों का करते हम आवाहन।
बहु भक्षण करनेवाले मरुतों का हम करते आवाहन॥
सदा प्रीति करते वे हमसे उनका हम करते आवाहन।
दधिमिश्रित करंभ[1] हम उनको ससम्मान करते हैं अर्पण॥
मरने तक लड़ते अरियों से उठ जो वीर मरुत् कहलाते।
मनुज भाव यह छोड़ सहज ही वे देवत्व सनातन पाते॥
उन मरुतों का भी सादर हम यज्ञों में करते आवाहन।
दधिमिश्रित करंभ हम उनको श्रद्धायुत करते हैं अर्पण॥
शत्रु-रूप दुख-दोष अविद्या के तज देते जो विद्वज्जन।
हम गृहस्थ उनका भी यज्ञों में करते रहते आवाहन॥
सकल मरुद्गण, शूरवीर सब, भिषग्रत्न[2] जो हैं मृत्युंजय।
हम गृहस्थजन यज्ञों में उनका पूजन करते हैं सविनय॥४४॥

टि०—इस मंत्र में गृहस्थों के कर्तव्य का निर्देश है। 'मरुतों' को 'रिशादसः' कहा गया है। 'रिश+अदसः' का अर्थ है शत्रु को खानेवाले। मरुत् शब्द 'मर्+उत्' से बना है, जिसका अर्थ है मरने तक उठ-उठकर शत्रु से धर्म-युद्ध करनेवाले। ऐसे वीर भी मरुतों का देवपद प्राप्त कर लेते हैं। देवकोटि के मरुद्गणों के अतिरिक्त जो शूरवीर है, कालजयी विद्वान है, अविद्या से सर्वथा मुक्त लोक-कल्याण में लगे हुए जो विद्वज्जन हैं, वे सब गृहस्थजनों के उपास्य हैं। ४४

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥४५॥

यत् (यद्)	जो	सभायां	सभा में,
ग्रामे	गाँव में,	यत् (यद्)	जो
यत् (यद्)	जो	इन्द्रिये	इन्द्रिय-संबंध में,
अरण्ये	वन में,	यत् (यद्)	जो
यत् (यद्)	जो	एनः	पाप

१ सत्तू, २ श्रेष्ठ वैद्य।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः[२] ॥४३॥

इह	यहाँ	कीलाल	रस
नः	हमारे	उपहूतः	लाया गया है।
गृहेषु	घरों में	क्षेमाय	कल्याण के लिए,
गावः	गायें	शान्त्यै	शान्ति के लिए
उपहूताः	सम्मानपूर्वक	वः	तुम (गायों) को (मैं)
	बुलाई गई हैं,	प्रपद्ये	प्राप्त करता हूँ।
अजावयः	बकरियाँ और भेड़ें	शं-योः शिवं	सुख-शान्ति के
उपहूताः	बुलाई गई हैं		लिए कल्याण
अथो	और	शं-यो शग्मम्	और सुख की (मुझे)
अन्नस्य	अन्न का		प्राप्ति हो ॥ ४३ ॥

होतीं स्वीय गृहों में गायें ससम्मान उपहूत[१]।
पालित-पोषित होती हैं वे आदर-सहित प्रभूत[२] ॥
अजा[३] और अविगण[४] भी होते हैं सादर आहूत।
पालित होते सदा घरों में पा सम्मान अकूत[५] ॥
प्राणप्रदायक विपुल अन्न हम करते रहते प्राप्त।
संचित करते हैं गृहस्थ हम सामग्री सब आप्त[६] ॥
सबका हो कल्याण, शान्ति का वर्धित रहे विधान।
निकट इसी से हम गायों का करते हैं आह्वान।
सबका हो कल्याण, सुखी हों सब, हों दूर अनिष्ट।
पालित, पोषित, सेवित गायें प्राप्त करातीं इष्ट ॥ ४३ ॥

टि०—गृहस्थों के घरों में गायों को आदर से बुलाया और पाला जाना चाहिए। गृहस्थों को पशु-धन की वृद्धि करनी चाहिए। ४३

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः।
करम्भेण सजोषसः ॥४४॥

१ बुलायी जानेवाली; २ बहुत; ३ बकरी; ४ भेड़ें; ५ जिसका अनुमान न किया जा सके; ६ प्रामाणिक, शुद्ध।

स्म	हैं,	यव्याः	यव के बने भोज्य पदार्थ के समान (सेवन करने योग्य) है।
मीढुषः	वृष्टि करानेवाले हैं।	गीः	(हमारी) वाणियाँ
हविष्मतः	हवनीय द्रव्य लेने वाले (इन्द्रदेव) का	मरुतः	मरुतों की
महः	माहात्म्य	वन्दते	वन्दना करती हैं ॥ ४६ ॥
चित्	निश्चय ही		

हे शुष्मिन् ! हे इन्द्र ! तुम्हारे साथ सदा हम।
देवों का दे रहे साथ सब युद्धों में हम॥
आप परम सर्वज्ञ आपके सहचर हम सब।
नाश हमारा हो न कभी, करते हम संस्तव[1]॥
देवों की कर प्राप्त शक्ति बलवान हुए हम।
देवों के ही रहे पक्षधर हैं मानव हम॥
संग्रामों में विजय वरण हम करें अनश्वर।
यथाकाल हो वृष्टि अन्न से भर जायें घर॥
इन्द्रदेव ! हवनीय द्रव्य दो हमको अविरत।
उन्नति के पथ पर बढ़ते जायें हम संतत॥
वंदनीय, अभिनंदनीय है कीर्ति तुम्हारी।
मरुतों का कर रहीं स्तवन वाणियाँ हमारी॥
ऋतु-ऋतु में कर रहे यज्ञ-साधन विद्वज्जन।
वे ही करते प्रकट तुम्हारे गुण अघमर्षण॥
है यव्यों[2] के सदृश सेव्य माहात्म्य तुम्हारा।
वाणी से गुणगान करें हम सदा तुम्हारा॥ ४६ ॥

टि०—इस मंत्र में प्रयुक्त 'शुष्मिन्' शब्द का अर्थ है पूर्ण बल-संपन्न महान् शूरवीर ! वेद भगवान का आदेश है, उन्नतिकामी मनुष्यों को दैवी संपत्ति से सम्पन्न व्यक्तियों के साथ रहना चाहिए, धर्मयुद्ध में उनके साथ सहयोग करना चाहिए। लोगों को नवजीवन प्रदान करना चाहिए। जैसे यव की बनी हुई खाद्य-वस्तुओं का सेवन पुष्टि-तुष्टि के लिए किया जाता है, वैसे ही भगवान की महिमा का मनन, चिंतन, सेवन, आराधन निरंतर किया जाना चाहिए। ४६

---

१ स्तवन; २ जौ से बने खाद्य-पदार्थ।

चकृम	(हमने) किया है,	अव यजामहे	दूर करते हैं।
वयं	हम	आवाह (सु-आह)	यह ठीक कहा है ॥ ४५ ॥
तत्	उस पाप को		
इदं	इसके (यजन के) द्वारा		

ग्रामों में कर्त्तव्य-कर्म कर रहे गृहीजन।
वानप्रस्थ करते अरण्य में हैं तप-साधन॥
करते सभा-समितियों का विद्वज्जन सेवन।
योगी करते सदा इन्द्रियों का हैं नियमन॥
हो जाते हैं पाप, अधर्म कभी यदि उनसे।
अपनोदन[1] वे करें सदा उनका तन-मन से॥
ग्राम, अरण्य, सभा-संसद के पाप भयावह।
नेत्र, कर्म, जिह्वा, वाणी के पाप दुखावह॥
करो सुदृढ़ संकल्प दग्ध करने का उनको।
दग्ध करें सब पाप करें पावन जीवन को॥
करें अनुष्ठित सत्य-रूप हम यजन चिरंतन।
सत्य अग्नि की ज्वलित शिखाएँ हैं अघमर्षण[2]॥ ४५॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य से जो अनेक प्रकार के पाप होते हैं, उनसे बचने का निर्देश किया गया है। ग्राम-जीवन में, वनों में, सभा-समितियों में अनृत भाषणादि द्वारा जो पाप होते हैं, उनसे बचना चाहिए। इन्द्रियों द्वारा अनेक पाप होते हैं। आँखें पर-स्त्री पर कुदृष्टि न डालें, कान अभद्र न सुनें, जिह्वा अभक्ष्य-भक्षण और पर-निंदा न करे, त्वचा से हम अविहित पाप न करें, यह आदेश इस मंत्र में वेद भगवान ने दिया है। ४५

मो षू ण॑ इन्द्रात्र॑ पृत्सु दे॒वैरस्ति॒ हि ष्मा॑ ते शुष्मिन्नव॒याः।
म॒हश्चि॒द्यस्य॑ मी॒ढुषो॑ य॒व्या ह॒विष्म॑तो म॒रुतो॒ वन्द॑ते॒ गीः॥४६॥

शुष्मिन् इन्द्र	हे बलवान् इन्द्रदेव!	नः सु	हमारा रक्षाण कर
अत्र पृत्सु	यहाँ (के) इन संग्रामों में	मो	नाश मत कर,
देवैः	देवों के साथ रहनेवाले	ते (यूयं)	(क्योंकि) वे आप लोग
		अव याः हि	ज्ञानी

---

१ नष्ट करना; २ पाप नाश करनेवाली।

अव यासिषं	मैं हटा देता हूँ।	देव	हे देव !
मर्त्यैः	मनुष्यों के द्वारा (किये गये)	पुरुराव्णः	बहुत दुःख देनेवाले
		रिषः	शत्रु से
मर्त्यकृतं (एनः)	मानव-कृत पाप को	पाहि	हमारी रक्षा कर ॥ ४८ ॥
अव (यासिषं)	हटा देता हूँ।		

अये निचुम्पुण-अवभृथ[1] ! तुम स्वीकार करो नति।
तुम अति गतिमय करो यहाँ धारण सुमंद गति॥
स्नान-योग्य मंदगति बनो हे पूत जलाशय ! ।
सकल बाह्य मल हरण करो, तन करो निरामय॥
अये मंद गति से प्रवहित शुचि जल-प्रवाह नित।
शारीरिक मल हरो, करो पावनता वर्द्धित॥
पाप - मुक्त इन्द्रियाँ हमारी हों परमेश्वर।
विषयों का संसर्ग उन्हें दूषित न सके कर॥
इन्द्रिय, मन विज्ञान-ज्ञान से रहें प्रकाशित।
विषयों का संसर्ग उन्हें कर सके न दूषित॥
संघबद्ध शत पाप-कर्म करते जो मानव।
करो ज्ञान-गंगा में उनको स्नात[2] नित्य नव॥
करो देव ! सामूहिक पापों का प्रक्षालन।
संघबद्ध होकर मानव न करे परपीड़न॥
जिन विषयों से त्रस्त रुदन करता जन-जीवन।
पाहि, पाहि प्रभु ! उनसे करो हमारा रक्षण॥ ४८॥

टि०—इस मंत्र में तीन प्रकार के पापों से बचने का निर्देश किया गया है। शारीरिक मल और पाप स्नान करने से दूर होते हैं। इसलिए मंद प्रवाहवाले जल में स्नान करने का उपदेश दिया गया है। इन्द्रियों के पाप विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। तीसरे प्रकार के पाप वे हैं, जो मनुष्य संघबद्ध होकर सामूहिक रूप से करता है। ये सब पाप ज्ञान-गंगा में स्नान करने से दूर होते हैं। वैदिक ज्ञान की गंगा में स्नान करने से मनुष्य इन्द्रियजन्य एवं संघ-बद्ध होकर किये गये पापों से बच सकता है। 'पुरुराव्णः' अर्थात् बहुत रुलानेवाला शत्रु। 'अवभृथ' का अर्थ है शारीरिक मल को दूर करनेवाला स्नान। ४८

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुन॑रा प॑त।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जꣳ शतक्रतो ॥४९॥

---

१ हे मंदगति वाले स्नानयोग्य जलाशय; २ नहाई हुई।

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥४७॥

कर्मकृतः	(वे) कर्म करनेवाले (लोग)	सचाभुवः	हे साथ रहनेवालो !
मयोभुवा	सुख देनेवालो	देवेभ्यः	देवताओं के लिए
वाचा	वाणी के	कर्म	कर्म
सह	साथ	कृत्वा	करके
कर्म	काम	अस्तं	अपने घर के प्रति
अक्रन्	करते रहें।	प्रेत	जाओ ॥ ४७ ॥

पुण्यकर्मकृत[1] हैं प्रचंड पुरुषार्थी जो जन।
मंगलवाणी से करते हैं कर्माराधन ॥
सचाभुवः हे ! करो कर्म देवों के हित नित।
करो स्वीय कर्तव्य-कर्म सानंद अनुष्ठित ॥
जो उत्तम कर्मों का करते हैं संपादन।
करते प्राप्त अभीष्ट धाम ज्योतिर्मय वे जन ॥ ४७ ॥

टि०—प्रमाद छोड़कर कर्तव्य-कर्म संपादन करनेवाले वेद-विद्या से शुद्ध हुई वाणी से भगवान की वंदना करनेवाले सज्जनों और विद्वज्जनों को अपना कार्य पूरा कर प्रभु के ज्योतिर्मय धाम को प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता है। 'सचाभुवः' का अर्थ है परस्पर साथ रहकर कर्म करनेवाले। ४७

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं
पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि[1] ॥४८॥

निचुम्पुण	हे मंद गति से प्रवहमान (तथा)	निचुम्पुणः	(यहाँ) मंद गतिवाला
अवभृथ	(अन्दर) स्नान (करने) योग्य जलाशय ।	असि	हो जा।
		देवैः	इन्द्रियों के द्वारा
निचेरुः	निम्न भाग में वेग से प्रवहमान	देवकृतं	इन्द्रियों से संबंधित
		एनः	पाप को

१ पुण्यकर्म करनेवाले।

मे	(हे देव!) मुझको	नि हराणि च	देता हूँ और
हरासि	प्रदान कर,	स्वाहा	समर्पित करता
निहारं	क्रेतव्य पदार्थ		हूँ ॥ ५० ॥
ते	तुझको		

इन्द्रदेव कहते हैं, याजक! दो हवि हमको।
कहता याजक— यह हवि-रत्न समर्पित तुमको॥
फिर कहते हैं इन्द्र— दान दो हवि का हमको।
हविर्दान तुम करो, दान दो हवि का हमको॥
याजक कहता— मूल्य-रूप हवि है यह अर्पित।
देता हूँ हवि देव! सत्य वाणी का मैं नित॥
नारायण नर करें परस्पर इस विधि भावन[1]।
परम श्रेय को करे प्राप्त यह मानव जीवन॥ ५०॥

टि०—इस मंत्र में दो उपदेश दिये गये हैं। पहला यह कि मनुष्य भगवान से जो कुछ प्राप्त करना चाहता है, उसका मूल्य उसे सत्य भाषण, सत्याचरण के रूप में देना अनिवार्य है। दूसरे भगवान और मानव—नारायण और नर—परस्पर एक-दूसरे की सहायता कर श्रेय प्राप्त करते हैं। गीता में भी यही बात भगवान कहते हैं—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ'। (३-११)। ५०

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया
मती योजा न्विन्द्र ते हरी[1] ॥५१॥

अक्षन्	अन्न खाया,	नविष्ठया	नवीन
अमीमदन्त	आनंद हुआ,	मती	बुद्धि द्वारा
प्रियाः	संतुष्ट होकर	अस्तोषत	स्तुति आरंभ की।
हि अव अधूषत	सिर भी हिलाया।	इन्द्र	हे इन्द्र!
स्वभानवः	आत्म तेज से युक्त	ते हरी	तू अपने घोड़े
विप्राः	ज्ञानी जनों ने	नु योज	जोत ॥ ५१ ॥

अतिथि और पितरों को हमने किया यज्ञ में अन्न समर्पित।
ग्रहण किया सप्रीति उन्होंने और हुए हैं अति आनंदित॥

---

१ विचार।

दर्वि	हे चमस् या कलछी !	शतक्रतो	सौ यज्ञों के कर्ता हे इन्द्र !
पूर्णा	(तू) पूर्ण भर (कर)	वस्ना	मूल्य देकर वस्तु खरीदने
परा	परे	इव	के समान
पत	जा;	इषं ऊर्जं	अन्न और रस को
पुनः	फिर	विक्रीणावहै	(हम) बेचें ॥ ४९ ॥
सुपूर्णा	अच्छी तरह पूर्ण होकर		
आपत	इधर आ।		

घृत से भर-भर तुम्हें दर्वि[1] ! दें आहुतियाँ हम।
उत्तमता से पूर्ण रीति से भरें तुम्हें हम॥
यदि रह जाय अपूर्ण चमस्, है यज्ञ-दोष यह।
देवों के हित नहीं प्रीतिकर होता है वह॥
पूर्ण दर्वि से अर्पित होती है जो आहुति।
अंतरिक्ष में वही वृष्टि की बनती शुभ सृति[2]॥
उत्तम जल-रस प्राप्त उसी से करती धरती।
अन्नौषधि की शुद्धि-सिद्धि भी वही वितरती॥
क्रय-विक्रय का यजन-कर्म है साधन उत्तम।
आहुतियाँ देकर पाते सत्कर्म-धर्म हम॥ ४९ ॥

टि०—इस मंत्र में दर्वि भर-भरकर आहुति देने का वेद का आदेश है। अपूर्ण चमस् से आहुति देने से दोष उत्पन्न होते है। यज्ञ में आहुति देकर हम सत्कर्म-फल प्राप्त करते है। अगले मंत्र में यज्ञकर्ता दाता और ग्रहीता देवता के वार्तालाप का वर्णन है। ४९

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते स्वाहा ॥५०॥

मे देहि	मुझको दे,	ते	तुझको
ते ददामि	(हे देव ! मै) तुझे देता हूँ।	निदधे	मैं प्रदान करता हूँ।
मे	(हे देव !) मुझको	निहारं	खरीदने योग्य पदार्थ
निधेहि	प्रदान कर,		

१ चमस् या कलछी;　२ गतिशीलता।

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन ।
पितॄणां च मन्मभिः ॥५३॥

नाराशंसेन	वीरों की प्रशंसा के	मनः नु	मन का
स्तोमेन	स्तोत्र के द्वारा	आह्वामहे	(हम) आह्वान
पितॄणां	और पितरों के		करते हैं ॥ ५३ ॥
मन्मभिः च	स्तोत्रों के द्वारा		

वीरों की श्लाघा से हैं जो स्तोम प्रणोदित[1] ।
पितरों के रक्षक जिन स्तोमों से वंदित नित ॥
हम उनसे मन सत्कर्मों में करते योजित ।
नाराशंसी स्तोम[2] करें वे हमें प्रचोदित ॥
विद्या आदि गुणों से पूरित प्रेरित हो मन ।
पुरुषार्थों से रहे प्रशंसित मानव - जीवन ॥
ऋतुओं के गुण होते क्रम से ज्यों उद्भासित ।
विद्वज्जन सब ज्ञान करें इस भांति प्रकाशित ॥ ५३ ॥

टि०—'नाराशंसेन स्तोमेन' का अर्थ है वे स्तोत्र जिनमें वीरों से संबंध रखनेवाले व्यवहारों का वर्णन होता है । 'पितॄणां मन्मभिः' का अर्थ है पितरों के रक्षकों का वर्णन करनेवाले स्तोत्र । ५३

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥५४॥

नः	हमारा	च	और
मनः	मन	सूर्यं	सूर्य के
क्रत्वे	सत्कर्म के लिए,	दृशे	दर्शन के लिए
दक्षाय	बल के लिए,	पुनः	दुबारा
जीवसे ज्योक्	दीर्घायुष्य के लिए (चिरकाल तक)	आ एतु	प्रवृत्त हो । ५४ ॥

रहे हमारा मन सत्कर्मों में रत प्रतिक्षण ।
बल-संवर्धन-हेतु करें अनुदिन हम साधन ॥
करें प्राप्त दीर्घायु, रहें चिरकाल कार्यक्षम[3] ।
सूर्यदेव का करें नित्य दर्शन अघमर्षण ॥

१ प्रेरित; २ मनुष्यों की प्रशंसा वाले स्तोत्र; ३ कार्य करने में समर्थ ।

प्रकट कर रहे पुष्टि-तुष्टि वे अपने शीर्षों का कर चालन।
परमोत्तम भोजन है इसका वे सब करते हैं अनुमोदन॥
आत्म-ज्ञान-संपन्न अतिथि सब और परम संतुष्ट पितरगण।
सफल करो यह यज्ञ, पधारो इन्द्र! कर रहे वे आवाहन॥५१॥

टि०—इस मंत्र में अतिथियों और पितृगणों का पूजन कर उन्हें संतुष्ट करने का विधान बताया गया है। उनके संतुष्ट होने से यज्ञ सफल होता है। वे ही प्रसन्न होकर भगवान को प्राप्त कराते हैं। ५१

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन्वान्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२
अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५२॥

मघवन्	हे इन्द्र!	वशान्	वश में रहनेवाले याजकों के पास
वयं	हम लोग	नूनं अनु प्र यासि	निश्चय ही अनुकूल होकर जाता है।
सुसंदृशं	उत्तम दर्शनीय	इन्द्र	हे इन्द्र!
त्वा	तेरी	ते	अपने
वन्दिषीमहि	वन्दना करते हैं।	हरीआ अनु योज	घोड़ों को जोत ॥ ५२ ॥
स्तुतः	जिसकी स्तुति की गई है, ऐसा तू		
पूर्णबन्धुरः	धन से भरे रथ के साथ		

दर्शनीय परमोत्तम हे मघवन्! परमेश्वर!।
करते हम वंदना तुम्हारी देव! निरंतर॥
होकर वंदित और उपासित नित हमसे तुम।
देते करुणा-कृपा प्रसाद अनंत दिव्यतम॥
रखते अपना धन समृद्धि वितरक[1] रथ योजित।
करने को कृतकृत्य हमें हो रथारूढ़[2] नित॥ ५२॥

टि०—इस मंत्र में भगवान के परम कृपालु रूप की वंदना की गई है। वे स्तवन करते ही उपासक को उसका अभीष्ट प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं। पुराणों में भी यही कहा गया है, भगवान गरुड़ पर सवार होकर अपने भक्त की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। वेद भी कहते हैं, प्रभु उपासकों की सहायतार्थ अपना रथ जोतकर तैयार रहते हैं। ५२

१ बांटनेवाला; २ रथ पर सवार होकर।

सोम	हे सोम,	मनः	मन को
वयं	हम सब	बिभ्रतः	धारण करते हुए,
तव	तेरे	प्रजावन्तः	प्रजायुक्त होकर
व्रते	व्रत-नियम में स्थित रहकर	जीवं व्रातं	प्राणियों के जीवंत समूह की
तनूषु	शरीरों में	सचेमहि	सेवा करेंगे ॥५६॥

हे सोम ! विश्व के स्रष्टा हे परमेश्वर ! ।
शुचि शान्ति-विधान तुम्हारा व्रत है सुखकर ॥
तुम शान्ति वितरते[1], रोग-व्याधि सब हरते ।
हे कलावान् ! धन - वैभव से घर भरते ॥
हैं उमा ब्रह्म-विद्या संगिनी तुम्हारी ।
दो ज्ञान - दान हम बनें शान्ति - व्रतधारी ॥
हे सोम ! तुम्हारे व्रत में हों हम संस्थित ।
मानव - समाज में शान्ति करें संस्थापित ॥
ये स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर जो अपने ।
सब करें अनुष्ठित विश्व-शान्ति के सपने ॥
हम प्रजावंत हों उत्तम संतति - वाले ।
अनुदिन समाज की सेवा का व्रत पाले ॥
सेवा समाज की यज्ञकर्म है उत्तम ।
हे सोम ! उसी के हेतु रहें अर्पित हम ॥ ५६ ॥

टि०—सोम शान्ति के देवता है। उनके नाम की व्युत्पत्ति है 'स + ओम' अर्थात् जो ब्रह्म-विद्या से नित्य संयुक्त है। इस मंत्र में प्रार्थना की गई है कि शान्ति के अधिदेवता सोम हमें ब्रह्मविद्या प्रदान करें और उसके द्वारा समाज में और विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना हो। ५६

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा[1]—ष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः[2] ॥५७॥

रुद्र	हे रुद्र !	एष (एषः)	यह
ते	तेरी	भागः	भाग है।
स्वस्रा	बहिन	तं	उसका
अम्बिकया सह	अम्बिका के साथ	जुषस्व	सेवन करो।

१ बांटते ।

अनुष्ठान उत्तम कर्मों का करें निरंतर।
जन्मान्तर तक रहे हमारा ज्ञान अनश्वर॥
अहरह करते रहें श्रेष्ठ धर्मों का सेवन।
ईश्वरमय हो जाय हमारा जीवन पावन॥ ५४॥

टि०—इस मंत्र में 'पुनःपुनः आ एहु' द्वारा वार-वार उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करने का आदेश दिया गया है। उत्तम कर्मों का और श्रेष्ठ धर्मों का अनुष्ठान कर बल का संवर्धन करते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त करना चाहिए। 'ज्योक् सूर्य दृशे च' दीर्घकाल तक सूर्य का दर्शन करते हुए कार्यक्षम बने रहना मनुष्य का धर्म है, कर्तव्य है। ५४

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातंꣳ सचेमहि ॥५५॥

पितरः	हे पितृगणो!	ददातु	देवे,
दैव्यः जनः	दिव्य मनुष्य	जीवं व्रातं	(जिससे हम)
पुनः	फिर		जीवित जीव-
नः	हमें		समूह की
मनः	(उत्तम) मन	सचेमहि	सेवा करेंगे ॥५५॥

पितरजनो! रक्षको! करो विद्या प्रदान तुम।
दिव्यशक्तिसंपन्न धर्मरत सदा रहें हम॥
बीते दैवी शक्तियुक्त संतों में जीवन।
हो आदर्श समाज हेतु अपना सब अर्पण॥
जीवित, जाग्रत, प्रगतिमान हो संघ हमारा।
दिव्य शक्तिमय रहे सनातन जीवन-धारा॥
पावें हम शुचिशील[1] पिता-माता से शिक्षा।
परम सुधी आचार्यों की हो हमें विवक्षा[2]॥ ५५॥

टि०—इस मंत्र में आदर्श समाज के निर्माण के सूत्र बताये गये है। पवित्र शीलवाले माता-पिता, विद्वान आचार्य ही आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। श्रेष्ठ संघबद्ध सामाजिक जीवन का संगठन ही यज्ञ का मूलमंत्र है। ५५

वयꣳ सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

---

१ पवित्र चरित्रवाले; २ इच्छा या आवश्यकता।

यथा नः	जिससे हमें	व्यवसाय्यायात्	व्यवसायों में
श्रेयसस्करत्	कल्याण प्राप्त हो,		सफलता प्राप्त
यथा नः	जिससे हमें		हो ॥ ५८ ॥

हे रुद्र ! शत्रु को सदा रुलानेवाले।
त्र्यम्बक[1] हे ! प्रभु हे ! रक्षा करनेवाले ॥
अध्यात्म दृष्टि, अधिदेव दृष्टि, अधिभूत दृष्टियुत।
त्रिनयन ! त्रिकाल में हमसे हो तुम संस्तुत ॥
हे देववीर ! तुमको कर अन्न समर्पण।
हम यज्ञशेष का ही करते हैं भक्षण ॥
आवास हमें दो परम सुखावह उत्तम।
श्रेयों का साधन करते रहें वहाँ हम ! ॥
व्यवसायों में सफलता निरंतर पावें।
हे रुद्र ! सत्यव्रत-रत रह जय-यश पावें ॥ ५८ ॥

टि०—अधिदेव, अधिभूत और अध्यात्म —इन तीनों दृष्टियों से संपन्न होने के कारण रुद्रदेव को 'त्र्यंबक' कहा गया है। वे तीनों कालों में एकरस ज्ञानयुक्त हैं, इसलिए भी 'त्र्यंबक' हैं। ५८

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्।
सुखं मेषाय मेष्यै ॥५९॥

भेषजं	(तू) औषध	मेषाय मेष्यै	भेड़ और भेड़ी
असि	है।		के लिए
गवे अश्वाय	गौ, घोड़ा	सुखं	(तू) सुखकारक
पुरुषाय	पुरुष के लिए		हो जा ॥ ५९ ॥
भेषजं	(तू) औषध हो जा।		

आत्मा ही भेषज[2] है वह परमौषध है।
निज आत्मशक्ति सब रोगों की भेषज है ॥
हर लेते क्लेश अविद्या के जगदीश्वर।
आत्मा की शक्ति उन्हीं की निखिल व्याधि-हर ॥
यह आत्मशक्ति सबके अंतर में संस्थित।
व्यापृत[3] हो करती रोग-व्याधि उन्मूलित ॥

---

१ तीन नेत्रों वाले; २ दवा; ३ क्रियाशील।

स्वाहा	(तेरे लिए) यह अर्पण है।	भागः	भाग है।
रुद्र	हे रुद्र !	ते	तेरा
एष (एषः)	यह	पशुः	पशु
ते	तेरा	आखुः	चूहा है ॥ ५७ ॥

हे रुद्र ! शत्रु - विद्रावण देव वीर तुम।
सब शत्रु नष्ट करके रक्षा करते तुम॥
अम्बिका तुम्हारी स्वसा[1] हमारी माता।
वे मातृ-भाव से भरित विश्व को धाता[2]॥
तुम दोनों को है यज्ञ-भाग यह अर्पित।
हम हैं कृतज्ञ, चरणों में विनत समर्पित॥
पशु आखु[3] तुम्हारा ज्ञान-खनन[4] का साधन।
हम ज्ञान-शोधमय कर दें अपना जीवन॥
हे देववीर ! हे रुद्र ! शत्रु-विद्रावण[5]।
सब शत्रु नष्ट कर करो सुरक्षित जीवन॥ ५७॥

टि०—यह मंत्र कई दृष्टियों से विचारणीय है। 'रुद्र' शौर्य के देवता हैं, वे शत्रुओं का नाश करते हैं, उन्हें रुलाते हैं। अम्बिका उनकी बहिन है जो वात्सल्य-भाव से प्रेरित होकर सबकी रक्षा करती है। 'आखु' अर्थात् चूहे को उनका पशु कहा गया है। महान वेदज्ञ सातवलेकरजी के मत से यह विचारणीय प्रसंग है, क्योंकि पुराणों में आखु रुद्र के पुत्र गणेशजी का वाहन कहा गया है। महर्षि दयानन्द के अनुसार 'आखु' का अर्थ है खोदनेवाला या खनन करनेवाला। जो ज्ञान के क्षेत्र मे खनन करे, गहन अनुसंधान में प्रवृत्त रहे, वही 'आखु' है। यही अर्थ यहाँ ग्रहण किया गया है। ५७

अव॑ रु॒द्रम॑दीम॒ह्यव॑ दे॒वं त्र्य॑म्बकम्।
यथा॑ नो॒ वस्य॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नः॒ श्रेय॑स॒स्कर॒द्यथा॑
नो व्यवसा॒यया॑त्॥५८॥

रुद्रं	शत्रुओं को रुलानेवाले	अव	समर्पित कर।
		अदीमहि	हम अन्न खाते हैं,
त्र्यम्बकं देवं	तीन दृष्टियों से युक्त देव को	यथा नः	जिससे हमारा
		वस्यसस्करत्	निवास उत्तम हो,

१ बहिन, २ जन्म देनेवाली; ३ चूहा; ४ खोदना; ५ शत्रु को रुलाने और पराजित करनेवाले।

हे रुद्र-रूप ! हे त्र्यम्बक ! हे जगदीश्वर ! ।
हम अमृत-तत्त्व से योजित रहें निरंतर ।।
हों मृत्यु-मुक्त हम बद्ध अमृत के फल से ।
हों मृत्यु-मुक्त भवदीय कृपा के बल से ।।
छूटें हे त्र्यम्बक ! व्याधि, मृत्यु, भय, बंधन ।।
अमरत्वयुक्त हो तुमसे पोषित जीवन ।
पतिकामी कुमारिकाएँ हम संशितव्रत ।।
पति - प्राप्ति - हेतु हे त्र्यम्बक ! हैं पूजनरत ! ।।
पति से हो प्रभु संबंध हमारा अविचल ।
मृत्यु-भय-मुक्त पतियुक्त रहें हम प्रतिपल ।। ६० ।।

टि०—इस मंत्र का पूर्व भाग मृत्युंजय मंत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसके विधिपूर्वक जप से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस मंत्र का दूसरा भाग पति-प्रदाता है। उव्वट और महीधर के अनुसार यह मंत्र विवाह चाहनेवाली कुमारिकाओं के जप के लिए विहित है। इसके जप से अच्छे पति के साथ कुमारियों का विवाह संपन्न हो जाता है। ६०

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि ।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा
अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ।।६१।।

रुद्र	हे शत्रुओं को रुलाने वाले महेश्वर !	मूजवतः परः	मूजवान के परे
एतत्	यह	अतीहि	गमन कर।
ते	तेरा	कृत्तिवासाः	चर्म परिधान करनेवाले
अवसं	हविर्भाग है।	नः	हमारी
तेन	उसको साथ लेकर	अहिंसन्	हिंसा न करते हुए
अवतत-धन्वा	धनुष की डोरी उतार।	शिवः	कल्याणकारी होकर
पिनाकावसः	अपने पिनाक धनुष को वस्त्र में छिपा कर	अतीहि	तू चला जा ।। ६१ ।।

हे महावीर ! हे रुद्र ! शत्रु-विद्रावण[1] ।
यह हविर्भाग करते हम तुमको अर्पण ।।

---

१ शत्रु को रुलानेवाले ।

ये मानव, ये गो, अश्व, मेष, मेषीगण।
उस आत्म-शक्ति से ही रक्षित हैं प्रति क्षण॥
औषध अमोघ है आत्म-शक्ति चिरकालिक।
है रुद्र-शक्ति यह प्राण-शक्ति चिरकालिक॥
इसके द्वारा आरोग्य प्राप्त करते जन।
इससे ही बनता परम निरामय जीवन॥ ५९॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि आत्मशक्ति सबसे बड़ी ओषधि है। मनोविज्ञान और चिकित्साविज्ञान दोनों इसे स्वीकार करते हैं। ५९

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥६०॥

सुगन्धि	सुगन्धयुक्त,	सुगन्धि	सुगन्धन्युक्त
पुष्टिवर्धनम्	पुष्टिवर्धक	त्र्यम्बकं	तीन दृष्टियों से युक्त (महादेव का)
त्र्यम्बकं	तीन दृष्टियों से युक्त	यजामहे	हम यजन करते हैं,
यजामहे	महेश्वर का हम यजन करते हैं,	बन्धनात्	(जिसके फलस्वरूप) बन्धन से
मृत्योः	(जिससे) मृत्यु से	उर्वारुकं इव	ककड़ी के फल के समान
मुक्षीय	हम मुक्त हों,	मुक्षीय इतः	हम इस लोक से मुक्त हों,
बन्धनात्	(मृत्यु के) बन्धन से	अमुतः मा	अमरत्व से हम कभी वियुक्त न हों॥ ६०॥
उर्वारुकं इव (मुक्षीय)	ककड़ी के फल के समान (हम मुक्त हों),		
अमृतात् मा	अमरत्व से हम वियुक्त न हों।		
पतिवेदनं	पति की प्राप्ति कर देनेवाले		

संुदर सुगंध से युक्त अतीव मनोहर।
सबके पोषक त्र्यम्बक जीवनदाता हर॥
श्रद्धा से पूजन करते शरणागत हम।
दो मृत्यु-पाश से मुक्ति देव! हमको तुम॥

हम महर्षि जमदग्नि और कश्यप-जैसे दीर्घायु हों। हमारे तीनों रूप—बाल्यावस्था, युवावस्था और वार्द्धक्य—देवताओं-जैसे दिव्य ओज और तेज से मंडित हों। ६२

शिवो नामा॑सि स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः।
नि व॑र्त्तयाम्या॒युषे॒ऽन्नाद्या॑य प्र॒जन॑नाय
रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥६३॥

[अध्यायः ३; कण्डिका: ६३, मंत्र-संख्या ७९]

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

शिवः	शिव
नाम	(तेरा) नाम
असि	है।
स्वधितिः	शस्त्र
ते	तेरा
पिता	पालन करनेवाला है।
ते	तुझे
नमः	नमस्कार
अस्तु	है!
मा	मेरी
मा	मत
हिंसीः	हिंसा कर।
आयुषे	दीर्घायु (तथा)
अन्नाद्याय	अन्नादि की प्राप्ति के लिए,
(सु) प्रजाननाय	(सुंदर) संतान की प्राप्ति के लिए,
सुप्रजास्त्वाय	उत्तम प्रजा होने की सामर्थ्य के लिए,
रायस्पोषाय	धन और पुष्टि के लिए,
सुवीर्याय	उत्तम पराक्रम के लिए
नि वर्त्तयामि	मैं प्रयत्नवान होता हूं ॥ ६३ ॥

शिव नाम तुम्हारा है शिवकर हे ईश्वर!।
है स्वधिति तुम्हारा रक्षक हे अविनश्वर!॥
हिंसा का वारण करो, नमन करते हम।
हिंसा न कहीं हो नमन तुम्हें करते हम॥
दीर्घायु-प्राप्ति के हेतु नमन करते हम।
अन्नादि-प्राप्ति के हेतु नमन करते हम॥
सु-प्रजा प्राप्त हो हमें नमन करते हम।
है नमन कर रहे, पुष्टि-तुष्टि पावें हम॥

राष्ट्र के शत्रुओं का विध्वंस करो प्रभु !।
सर्वत्र शान्ति का अटल विधान करो विभु !॥
देश के शूर सैनिकगण जय-यश पावें।
निष्कंटक अपना शासन-तंत्र बनावें॥
तब अवततधन्वा[1] हो हे रुद्र ! महेश्वर।
ज्या-शिथिल पिनाक धनुष निज वस्त्रावृत कर॥
प्रभु ! गमन करो हिमगिरि के मूजवान पर।
विश्राम करो, श्रमहर कैलाश-शिखर पर॥
हिंसा से रक्षित रहें सदा शिव ! हम सब।
विश्राम करो कैलाश-शिखर पर हर ! अब॥ ६१॥

टि०—देश के शत्रु नष्ट हो जाएँ, सर्वत्र शान्ति की स्थापना हो जाए। भगवान रुद्र की शक्ति से भावित हमारे शूर वीर सैनिक विजयी हों। इस प्रकार विश्व-शान्ति का विधान कर पुण्यवान हिमगिरि पर स्थित मूजवान पर्वत के पार कैलास शिखर पर भगवान रुद्र अपने पिनाक की प्रत्यंचा उतारकर उसे वस्त्र में लपेटकर रख दें और विश्राम करें। यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। राष्ट्र में अखंड शक्ति का साम्राज्य स्थापित तभी हो सकता है, जब उसके शत्रुओं को नष्ट कर दिया जाए। ६१

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥६२॥

जमदग्नेः	जमदग्नि की जो	त्र्यायुषं	त्रिविध आयु है
त्र्यायुषं	त्रिविध आयु है,	तत्	वह
कश्यपस्य	कश्यप की जो	त्र्यायुषं	त्रिविध आयु
त्र्यायुषं	त्रिविध आयु है,	नः	हमको
यत्	जो	अस्तु	प्राप्त हो॥ ६२॥
देवेषु	देवताओं की		

जमदग्नि-सदृश त्र्यायुष्य प्राप्त हो हमको।
कश्यप-जैसी त्र्यायुष्य प्राप्त हो हमको॥
देवों-जैसी त्र्यायुष्य प्राप्त हो हमको।
चिर वर्चस्वी त्र्यायुष्य प्राप्त हो हमको॥
त्र्यायुष्य बाल्य, यौवन, वार्धक्य बलित हम।
हों ओज, तेज, पुरुषार्थ विवर्द्धित नित हम॥ ६२॥

टि०—इस मंत्र में भगवान से परिपूर्ण आयु प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

१ वह धनुष जिसकी डोरी उतार दी गई हो।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्याᳬं सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवी³—रोषधे त्रायस्व
स्वधिते मैनᳬं हिᳬंसीः⁴ ॥१॥

इदं	इस	इषा	अन्न की प्राप्ति से
पृथिव्याः	पृथ्वी पर के	संमदेम	(हम) आनन्द प्राप्त करेंगे।
देवयजनं	देव-यज्ञ के स्थान में		
आ अगन्म	हम आये हैं,	इमाः	यह
यत्र	जहाँ	देवीः	दिव्य
विश्वेदेवासः	सब देवगण	आपः	जल
अजुषन्त	प्रेम से विराजमान हैं।	मे	मेरे लिए
ऋक्सामाभ्यां	ऋग्वेद, सामवेद	शं उ	कल्याण करनेवाला
यजुर्भिः	और यजुर्वेद के मंत्रों से	सन्तु	हो जाए।
		ओषधे	हे ओषधि !
सन्तरन्तः	दुख के पार होकर हम (इस यज्ञ को) पूर्ण करते हैं)	त्रायस्व	हमारी रक्षा करो।
		स्वधिते	हे शस्त्र !
		एनं मा	इसकी
रायः पोषेण	धन और पोषकता की वृद्धि से (तथा)	हिंसीः	हिंसा मत करो ॥ १ ॥

चतुर्थ अध्याय

यह पृथिवी है देव-यजन का स्थल परमोत्तम।
प्रेम-सहित हैं यहाँ विराजे सब देवोत्तम ॥
ऋचा, साम, यजुर् मंत्रों से यह यज्ञ अनुष्ठित।
करें सविधि हम पूर्ण श्रेय सब प्राप्त करें नित ॥
देवकल्प[1] विद्वज्जन से सेवित हो अहरह।
गरीयसी[2] हो गई स्वर्ग से भी धरती यह ॥

---

१ देवताओं के समान; २ अधिक महत्त्वपूर्ण।

धन प्राप्त करें, पुरुषार्थ रहें करते हम।
अनुकूल मार्ग में सदा प्रवृत्त रहें हम॥
सब साध्य सिद्ध शुचि ध्येय प्राप्त हों हमको।
परमेश्वर! करते नमन सदा हम तुमको॥ ६३॥

टि०—इस मंत्र में आये 'स्वधिति' शब्द के दो अर्थ किये गये हैं—एक अस्त्र और दूसरा अविनाशी। परमेश्वर अविनाशी है और 'स्वधिति' अर्थात् शस्त्र द्वारा रक्षा भी करता है। निर्देश यह है कि राष्ट्र और शास्त्र शस्त्र से ही रक्षित रहते हैं। ६३

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

भद्रं	कल्याणकारक	पुष्यन्	पुष्टि करता हुआ
कान्ति	कान्ति की	परिदधे	मैं धारण करता हूँ ॥ २ ॥

दिव्य आप यह है माताओं-सा नित हितकर।
शुद्ध करे यह हमें, रहे यह सदा तृप्तिकर ॥
रिप्र[1] हरे सब दुरित-दोष सब दूर बहावे।
स्वीय तेज से रोग-रहित, मल-रहित बनावे ॥
मेघों से है प्राप्त व्योम-प्रस्रवित[2] पूत जल।
शिव-तत्त्वों से अनुस्यूत[3] है परम पूत जल ॥
दीक्षा[4]-तप[5] से करो नित्य मानव! तन पावन।
इस जल से हो स्नात निरामय कर लो जीवन ॥
रोग-रहित दीर्घायु तेज-बल प्राप्त करो तुम।
भद्रकान्ति से भरित रहो वर्चस्व बलित तुम ॥
शिवमय, सुखमय कान्ति करो धारण नित तन पर।
दिव्य आप[6] यह शत माताओं-सा है हितकर ॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में जल के शुभ गुणों का वर्णन है। स्नान के समय इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। २

म॒ही॒नां पयो॑ऽसि वर्चो॒दा अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ।
वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दा अ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥ ३ ॥

महीनां	(हे दूध, तू) गायों का	वृत्रस्य	वृत्र की
पयः	दूध	कनीनकः	कनीनिका
असि	है।	असि	(तू) है।
वर्चोदा	तेज देनेवाला	चक्षुर्दा	(तू) नेत्र देनेवाला
असि	है	असि	है,
मे	मुझे	मे	मुझको
वर्चः	तेज	चक्षुः	नेत्रेन्द्रिय
देहि	दे।	देहि	दे ॥ ३ ॥

---

१ दोष; २ आकाश से गिरा हुआ; ३ मिला हुआ; ४ दीक्षा का अर्थ है व्रत के नियमों का दक्षता से ज्ञान एवं निर्वाह करना; ५ शीत और उष्ण आदि द्वंद्वों का सहन करना तप है; ६ जल।

ऋक्, यजुर्, सामादिक से है यह यज्ञ प्रवर्तित।
सब दुःखों से करे पार, दे ऋद्धि विपुल नित॥
प्रचुर अन्न से पूर्ण रहें सानंद सदा हम।
पुष्टि - तुष्टियुत, इष्ट - सिद्धि - संपन्न रहें हम।
प्रवहित है यह यहाँ दिव्य सरि का जल पावन॥
करे अनामय[1] हमें बने मंगलमय जीवन।
ओषधियो! दो त्राण हमें पालना करो नित॥
स्वधिति! रहें हम शस्त्रघात से सदा सुरक्षित॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि यज्ञ-स्थल में वेद, जल, ओषधियाँ, शस्त्रादि रहते हैं। वे सब शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्रदान करें। यह धरती विद्वानों और संतजनों से सेवित होकर 'स्वर्गादपि गरीयसी' बन जाए। १

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॒: पुनन्तु।
वि॒श्वꣳ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदि॒दा॑भ्य॒: शुचि॒रा पू॒त ए॑मि[1]।
दी॒क्षा॒त॒पसो॑स्त॒नूर॑सि॒ तां त्वा॑ शि॒वाꣳ श॒ग्मां परि॑ दधे भ॒द्रं
वर्णं॒ पुष्य॑न्[2] ॥ २ ॥

मातरः आपः	माताओं के समान ये जल	प्रवहन्ति	दूर बहा देते हैं।
अस्मान्	हमें	शुचिः	शुद्ध (और)
शुन्धयन्तु	पवित्र करें।	आपूतः	पूर्ण पवित्र
घृतप्वः	जल को पवित्र करने की विशेषताएँ	आभ्यः	होकर
घृतेन	जल के द्वारा	उत् इत्	इससे (जल से) ऊपर
नः	हमको	एमि	मैं आता हूँ।
पुनन्तु	पवित्र करें।	दीक्षातपसोः	(हे शरीर!) तू दीक्षा और तप का
हि	निश्चय ही	तनूः	शरीर
देवीः	दिव्य	असि	है।
आपः	जल	तां	उस
विश्वं	सब	शिवां	शुभ
रिप्रं	दोषों को	शग्मां	सुखदायी
		त्वा	तुझको

१ रोग-हीन।

मा	मुझको	**पवित्रपते**	हे पवित्रपति परमात्मा !
पुनातु	पवित्र करे।	**तस्य**	उस
सविता	सविता	**पवित्रपूतस्य ते**	तुम्हारी पवित्र और शुद्ध सामर्थ्य से
देवः	देवता	**पुनामि**	मैं पवित्र होता हूँ।
सूर्यस्य	सूर्य की	**यत्कामः पुने**	जिस कामना से मैं पवित्र होना चाहता हूँ,
अच्छिद्रेण	छिद्ररहित,	**तत् शकेयम्**	उसे सिद्ध करने में समर्थ बनूँ ॥ ४ ॥
पवित्रेण	पवित्र		
रश्मिभिः	रश्मियों से		
मा	मुझको		
पुनातु	पवित्र करें।		

हे चित्पति ! हे ज्ञानेश्वर ! हे परमेश्वर प्रभु ! ।
हमको करो पवित्र, पूत-पावनकर्त्ता विभु ॥
हे वाक्पति ! वाणी के अधिपति ! विश्व-प्रसविता ।
वाणी करो पवित्र हमारी हे प्रभु सविता ! ॥
सूर्य ! रश्मियों से अच्छिद्र[1] पवित्र करो तुम ।
हे पवित्रपति ! परम पूतपति ! विनत सदा हम ॥
ज्ञान शुद्ध हो बुद्धि सतत कुविचार-विवर्जित ।
शक्ति और कल्याण-स्रोत हो वाणी अविरत ॥
भक्ति- शुद्ध चिरकाल हमारे हों बहिरंतर ।
मिले हमें परिपूर्ण शुद्धि चिन्मय हे ईश्वर ! ॥
जीवन की यह शुद्धि बने सब सिद्धि-प्रदायक ।
करो सिद्ध पुरुषार्थ हमारे शुद्धि-विधायक ! ॥ ४ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान से मन, बुद्धि, चित्त और वाणी की सर्वांगीण शुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। इस प्रकार की सर्वांगीण शुद्धता द्वारा ही सब कल्याण-कामनाओं की पूर्ति हो सकती है। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध हो, मन में कुविचार और दूसरे का अपकार करने की इच्छा उत्पन्न न हो, वाणी कल्याण-विधायिनी हो और हमारे बाहरी-भीतरी आचरण परम शुद्ध हों, यह प्रार्थना हम परमेश्वर से इस मंत्र के द्वारा करें। ४

आ वो॑ देवास ईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे ।
आ वो॑ देवास आ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥५॥

[1] जिसमें कोई छिद्र अर्थात् दोष या कमी न हो।

सूर्यदेव! महीयसी[1] मही[2] के जलप्रदाता।
वर्चोदा[3] हो प्रथित, ज्योति के विदित विधाता।
वर्च - दान दो हमें तेज से भर दो जीवन॥
परमेश्वर! कृतकृत्य तुम्हीं से हैं हम प्रतिक्षण।
कनीनिका[4] हो तुम्हीं वृत्र की नेत्र-प्रदायक॥
नेत्रेन्द्रिय के देव! तुम्हीं व्यवहार - विधायक।
देवदेव! सब मेघ तुम्हीं से पाते हैं जल॥
नेत्र हमारे रहें सदा पूरित प्रकाश - बल।
गायों का पय पियें, करें तेजस्वी जीवन॥
हे गो-पय! तुम परम वर्च से भर दो तन-मन॥

गो-पय से ही निर्मित होता वह सिद्धांजन।
'वृत्र-कनीनक' नाम जिसे देते हैं ऋषिगण॥
गो-पय से ही यज्ञ सफल होते हैं सारे।
हे गो-पय! तुम दोष नेत्र के हरो हमारे॥ ३॥

टि०—यह एक अद्भुत मंत्र है। इसमें सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वह हमको वर्चस्वी बनावे, हमारी नेत्र-ज्योति सदा प्रकाशमान रहे। इस मंत्र में 'महीनां पयः', शब्द विचारणीय है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इसका अर्थ है मही अर्थात् पृथ्वी का जल। ऋषिकल्प सातवलेकरजी ने इसका अर्थ किया है—गायों का दूध। उसी से नेत्र-शक्ति की वृद्धि होती है, उसी से सब यज्ञ सिद्ध होते हैं। उनका कहना है, इसी से वृत्र-कनीनक नाम का सिद्धांजन बनता था जो नेत्रेन्द्रिय को शक्ति प्रदान करता था। तैत्तिरीय संहिता में यह कथन मिलता है कि जब इन्द्र ने वज्र से वृत्र को मारा, तो उसकी कनीनिका गिर पड़ी। वही नेत्र की शक्ति बढ़ानेवाला अंजन बन गई। इस मंत्र के जप से नेत्र-दोष दूर होने की बात कही गई है। वृत्र-कनीनक अंजन लगाते समय इस मंत्र का विशेष रूप से जप करने का विधान है। सातवलेकरजी ने इस सिद्धांजन के अनुसंधान के लिए वैद्यों का आवाहन किया है। ३

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥ ४॥

चित्पतिः	ज्ञान का अधिपति	पुनातु	पवित्र करे।
मा	मुझे	वाक्पतिः	वाणी का अधिपति

१ अधिक महान्; २ पृथ्वी; ३ तेज प्रदान करनेवाले; ४ आँख की पुतली।

आरभे	हम यज्ञ का आरंभ करते हैं।	स्वाहा	(हम)आत्मसमर्पण से यज्ञ करते हैं ॥ ६ ॥

मानव! मैं जिस भाँति वेद-विधि से परमोत्तम।
प्राणिमात्र के मंगल का कर रहा उपक्रम॥
उत्तम शिक्षा-सहित प्रकट कर विद्याएँ चित्।
अंतरिक्ष - भू - शुद्धि यज्ञ करता रहता नित॥
उसी भाँति तुम करो सतत यज्ञों का साधन।
भर लो अविचल निष्ठा से मानव! अपना मन॥
अंतरिक्ष विस्तीर्ण तुम्हारा सदा सहायक।
द्यावा - पृथिवी के मंगल के बनो विधायक॥
यज्ञ करो, अनुकूल वायु देवता रहें नित।
यज्ञ करो, तुम आत्म-समर्पण करो विधि-विहित॥
आत्म-समर्पण से ही होते सफल यज्ञ सब।
आत्म-समर्पण ही है सर्वोत्तम यज्ञोत्सव॥
विस्तृत अंतरिक्ष के मंगल के हित स्वाहा[१]!।
द्यावा-पृथिवी के मंगल के हित नित स्वाहा[२]!॥
वायुदेव के हेतु यज्ञ यह स्वाहा, स्वाहा!।
सबके मंगल-हेतु यज्ञ यह, स्वाहा, स्वाहा!॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र में बतलाया गया है कि भगवान के लिए और लोक-कल्याण के लिए आत्मसमर्पण से सब यज्ञ सफल होते हैं। भगवान स्वयं चराचर के कल्याण के लिए आत्म-समर्पण-यज्ञ कर रहे हैं। मनुष्य को उनका अनुसरण करना चाहिए। इस मंत्र के प्रारंभ में परमेश्वर स्वयं मानवों को संबोधित कर रहे हैं। ६

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा[1] मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा[2] दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा[3] सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा[4]। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा[5] ॥७॥

---

१ 'स्व+अ+हा' का अर्थ है— अपने अहं का पूर्ण त्याग अर्थात् पूर्ण समर्पण; २ इस शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति है 'सु+आह+आ'। इसका अर्थ है सुन्दरता से सच बात का कहा जाना।

देवासः	हे देवताओ !	आ ईमहे	साकल्य अथवा समग्र-भाव से माँगते हैं।
अध्वरे	हिंसा और कुटिलता-रहित कर्म के	देवासः	हे देवताओ !
प्रयति	प्रवर्तमान होने पर	यज्ञियासः	पूज्य (यज्ञसंपादक)
वः	तुमसे	आशिषः	आशीर्वाद
वामं	(हम) सुन्दर धन को	वः	आपसे
		आ हवामहे	(हम) चाहते हैं ॥५॥

देवो ! विद्या आदि गुणों से नित्य प्रकाशित।
किया हिंसा-रहित यज्ञ यह यहाँ अनुष्ठित ॥
कैतव[1]-वर्जित, हिंसा-रहित कर्म करते हम।
धन दो इसके हेतु, करो नित पूर्णकाम तुम ॥
हमको धन दो परम पूत अभिनंद्य-वंद्य अति।
सकल सुफल हों यज्ञ हमारे अर्पित नित नति[2] ॥ ५ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि धन-लाभ के स्रोत पूर्ण रूप से पवित्र हों। हमको पवित्र यज्ञकर्म करने और विहित पुरुषार्थों के संपादन के हेतु पवित्र धन निरंतर प्राप्त होता रहे। 'यः अर्थशुचिः स शुचिः' यह सिद्धांत इस मंत्र में प्रतिपादित किया गया है। ५

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त्स्वाहा॒ द्यावा॑पृ॒थि॒वी-
भ्या॒ᳪं᳭ स्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑ ॥६॥

मनसः	मन लगाकर	द्यावापृथिवीभ्यां	द्युलोक और पृथिवी के लिए
यज्ञं	यज्ञ	स्वाहा	आत्मसमर्पणपूर्वक यज्ञ करते है।
स्वाहा	संपादित करते हैं;	वातात्	वायु की अनुकूलता
उरोः	विस्तृत	स्वाहा	से हम आत्मसमर्पण-पूर्वक यज्ञ करते हैं।
अन्तरिक्षात्	अन्तरिक्ष की सहायता से (हम यज्ञ करते हैं);		
स्वाहा	आत्मसमर्पण से यज्ञ करते हैं।		

१ छल; २ प्रणति।

हो द्युलोक में शान्ति, व्योम यह रहे शान्ति से पूरित ।
पृथिवी पर हो शान्ति, शान्ति-हित मानव रहें समर्पित ॥ ७ ॥

टि०—इस मंत्र में विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए मानव मात्र की ओर से भगवान से प्रार्थना की गई है। इस समय जब कि विश्व 'स्टारवार' अर्थात् अंतरिक्ष-युद्ध की विभीषिका से त्रस्त है, यह मंत्र, यह प्रार्थना कितनी प्रासंगिक एवं समीचीन है—यह आसानी से समझा जा सकता है। 'स्वाहा' का अर्थ है आत्म-समर्पण, दान करना, अपनी वस्तु का त्याग करना। ७

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।
विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥८॥

विश्वः	सब	द्युम्नं	तेजस्वी धन
मर्तः	मनुष्य	वृणीत	प्राप्त करें।
नेतुः	सबके नेता	विश्वः	सब मानव
देवस्य	देव	राये	धन की
सवितुः	सविता की	इषुध्यति	इच्छा करते हैं।
सख्यं	मित्रता को	स्वाहा	इसके लिए यह
वुरीत	प्राप्त करें।		आहुति अर्पित ॥
पुष्यसे	पुष्टि के लिए		है ॥ ८ ॥

विश्व-नियामक, विश्व-प्रसविता सबके नेता।
सख्य-भक्ति से हों प्रसन्न हम सबकी सविता॥
सख्य-भक्ति उन सविता की है पुष्टि-विधायक।
वे ही हैं तेजस्वी धन-समृद्धि के दायक॥
सर्वांगीण-समृद्धि-हेतु कामना करें हम।
स-संकल्प[१] धन-प्राप्ति-हेतु पुरुषार्थ करें हम॥
दैवी धन-संपत्ति प्राप्त हम करें निरंतर।
यज्ञ सफल हों सकल हमारे दो सविता! वर॥
रहें सख्य के सूत्र में बंधे हम सब मानव।
युद्धों में कर दुष्ट-दलन पावें जय नित नव॥
प्रभु सविता के हेतु समर्पित हवि यह स्वाहा!।
विश्व-प्रसविता को अर्पित यह आहुति स्वाहा! ॥ ८ ॥

टि०—महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र में वाचक-लुप्तोपमा अलंकार बतलाया है।

१ संकलपूर्वक।

आकूत्यै	मानस-संकल्पपूर्वक	पूष्णे	पोषक
प्रयुजे	प्रेरणा करनेवाले	अग्नये	अग्नि के लिए
अग्नये	अग्नि के लिए	स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
स्वाहा	आहुति अर्पित है।	देवीः	हे प्रकाशमान दिव्य (तथा)
मेधायै	मेधा से मंडित	बृहतीः	महान
मनसे	मन को प्रेरणा देनेवाले	विश्व	विश्व को
अग्नये	अग्नि के लिए	शं भुवः	कल्याण करनेवाले
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।	आपः	जलो !
दीक्षायै	दीक्षा और	द्यावापृथिवी	हे द्यावापृथ्वी !
तपसे	तप की प्रेरणा देनेवाले	उरो अन्तरिक्ष	हे विशाल अंतरिक्ष !
		बृहस्पतये	बृहस्पति के लिए
अग्नये	अग्नि के लिए	हविषा	हवि के द्वारा
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।	विधेम	हम यज्ञ करते हैं।
सरस्वत्यै	विद्यादेवी के विषय में प्रेरक (तथा)	स्वाहा	उसके लिए यह आहुति अर्पित ।। है ।। ७ ।।

शुभ संकल्प शक्तिप्रद उत्तम कर्मों के जो प्रेरक।
उन्हीं अग्नि के लिए समर्पित है आहुति यह स्वाहा ! ।।
जो धारणावती मेधा से करते प्रेरित मन को।
उन्हीं अग्नि के लिए समर्पित है आहुति यह स्वाहा ! ।।
दीक्षा-तप में, धर्म-नियम में जो करते नित प्रेरित।
उन्हीं अग्नि के लिए समर्पित है आहुति यह स्वाहा ! ।।
जो सरस्वती के आराधन के प्रेरक, पोषक हैं।
उन्हीं अग्नि के हेतु समर्पित है यह आहुति स्वाहा ! ।।
परमदिव्य कल्याण-विधायक निखिल विश्व के जनगण।
हे द्यावा पृथिवी ! हे विस्तृत अंतरिक्ष के प्रांगण ! ।।
हुआ बृहस्पति परम ज्ञानपति-हित यह यज्ञ अनुष्ठित।
परम प्रेम अविचल निष्ठा से हवि यह उनको अर्पित ।।

विश्व-शांति के हेतु अनुष्ठित है ये यज्ञ हमारे।
द्यावा, अंतरिक्ष, पृथिवी के दुरित दूर हों सारे ।।

यह है कि इसमें वेदों के संगीत-शिल्प का निर्देश है। पादबद्ध व्यवस्था जिसमें होती है, उसे ऋक् मंत्र या ऋचा कहा जाता है। ऋक् मंत्र जब गान का रूप प्राप्त करता है, तब उसे ऋचा कहते हैं। ऋग्वेद का मंत्र स्तोमों के साथ, आलापों के साथ गाया जाता है, तब वह साम कहा जाता है। उसी को सामगान कहते हैं। ऋक् मंत्र तीन स्वरों में बोला जाता है, साम सात स्वरों में गाया जाता है। तान, आलाप, मूर्च्छना के रूप में इसका बड़ा विराट् विस्तार है। सामगान बड़ी कुशलता का कार्य है। ऋचा और साम की कुशल गान-विधि को शिल्प कहते हैं। यज्ञों में इस शिल्प की निर्विघ्न सिद्धि हो —यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। यज्ञों में संगीत के अतिरिक्त अन्य अनेक शिल्पों का भी संयोजन होता है। यज्ञ से सब शिल्पियों और शिल्पों की वृद्धि और सिद्धि होती है। इस मंत्र में सर्वोच्च वैज्ञानिक शिल्प-सिद्धि के लिए ऋषि ने दैवी शक्तियों और शिल्प के अधिदेवता का आवाहन किया है। ९

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्म्रदा ऊर्जं मयि धेहि[1]। सोमस्य नीविरसि[2] विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्ये[3]न्द्रस्य योनिरसि[4] सुसस्याः कृषीस्कृधि[5]। उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योदृचः[6] ॥१०॥

आंगिरसी	अंगीय रस का
ऊर्क्	बल बढ़ानेवाला
ऊर्णम्रदाः	(तू) ऊन जैसा मृदु अन्न
असि	है।
ऊर्जं	बल
मयि	मुझमें
धेहि	धारण कर।
सोमस्य	सोम का
नीविः	प्रधान अंग
असि	(तू) है।
विष्णोः	सर्वव्यापक विष्णु से प्राप्त
शर्म	सुख
असि	(तू) है।
यजमानस्य	यजमान का
शर्म (असि)	(तू) सुख है।
इन्द्रस्य	इन्द्र की शक्ति का
योनिः	उत्पत्ति-स्थान
असि	(तू) है।
कृषिः	कृषि को
सुसस्याः	उत्तम फलदायी
कृधि	कर।
वनस्पते	हे वनस्पते !
उच्छ्रयस्व	(तू) उन्नत है।
ऊर्ध्वः	ऊँचा होकर
अस्य यज्ञस्य	इस यज्ञ की
उदृचः	समाप्ति तक
मा	मुझको
अंहसः	पाप से
आ पाहि	बचा ले ॥ १० ॥

इस मंत्र में यह निर्देश दिया गया है कि सब मनुष्यों को परमेश्वर की सख्य-भक्ति का संपादन करना चाहिए और दुष्टों का दलन कर निर्बाध स्वराज्य-लक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिए इस मंत्र में लोकतंत्र की सफलता के रहस्य का भी संकेत मिलता है। सब मनुष्य परस्पर मैत्री के सूत्र में बँधे रहें। संकल्पपूर्ण समाज और राष्ट्र के अभ्युदय के लिए प्रबल पुरुषार्थ करें। अपने वैयक्तिक जीवन को समृद्ध बनावें। यह मंत्र इस प्रार्थना से प्रेरित है। वैष्णव साधना में पाँच प्रकार की भक्ति का विधान है— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। सख्य का स्थान सबके केन्द्र में है। ८

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारंभे
ते मां पातमास्य यज्ञस्योदृचः।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मां हिंसीः ॥९॥

ऋक्सामयोः	ऋचा और साम का मिलकर	शर्म	कल्याणरूप
शिल्पे स्थः	तू यह शिल्प है।	असि	(तू) है।
ते वां	उन शिल्पों का (मैं)	मे	मुझको
आरभे	आरम्भ करता हूँ।	शर्म	कल्याण
ते	वे	यच्छ	प्रदान कर
मा	मेरी	ते	तुझे
अस्य यज्ञस्य	इस यज्ञ के	नमः	प्रणाम
उदृचः	उत्तम ऋचा की अथवा अन्त तक	अस्तु	है।
पातम्	रक्षा करें।	मा	मेरी
		मा	मत
		हिंसीः	हिंसा कर ॥ ९ ॥

ऋचा साम मिलकर होती है शिल्प! तुम्हारी सिद्धि।
समारम्भ कर रहा तुम्हारा, करो यज्ञ की वृद्धि ॥
अये शिल्प! हे कुशल यज्ञ-विधि! करो यज्ञ यह पूर्ण।
रक्षा करो अंत तक इसकी, विघ्न सकल हों चूर्ण ॥
शर्म[1]-रूप, कल्याण-रूप तुम, करो सतत कल्याण।
सुख-स्वरूप इस यज्ञ-कार्य में करो सिद्धि का दान ॥
अये यज्ञ! हे कुशल यज्ञविधि! तुमको कोटि प्रणाम।
हिंसा से रक्षित हों हम सब, बारंबार प्रणाम! ॥ ९ ॥

टि०—यह मंत्र अनेक दृष्टियों से मननीय है। इस मंत्र की पहली विशेषता

१ कल्याण।

व्रतं	(तू) व्रत का	नः	हमारे
कृणुत	पालन कर ।	वशे	वश में
अग्निः	अग्नि	असत्	रहे।
ब्रह्म	ब्रह्म है।	ये	जो
अग्निः यज्ञः	अग्नि यज्ञ है।	मनोजाताः	मन से,
वनस्पतिः	वनस्पति	मनोयुजः	मन के साथ रहनेवाली,
यज्ञियः	यज्ञ के योग्य है।	दक्षक्रतवः	दक्षता के साथ कर्म करनेवाली
अभिष्टये	सहायता के लिए	देवाः	इन्द्रियाँ हैं,
देवीं	दिव्य,	ते	वे
सुमृडीकां	गुणकारक,	नः	हमारा
वर्चोधां	बलवर्धक,	अवन्तु	पालन करें।
यज्ञवाहसं	यज्ञसाधक	तेभ्यः	उनके लिए
धियं	बुद्धि को	स्वाहा	यह आहुति अर्पित है ॥ ११ ॥
मनामहे	हम विचार में लेते हैं।		
सुतीर्था	वह पारंगत बुद्धि		

मानव ! व्रत-पालन करो, बनो संशितव्रत[१]।
यम-नियमों की साधना करो तुम अविरत ॥
यह अग्नि ब्रह्म है, यज्ञ अग्नि है जानो।
यज्ञीय वनस्पति ही है यह पहचानो ॥
यदि कहीं वनस्पति-रहित हुआ होता जग।
अवरुद्ध सकल हो जाते यज्ञों के मग ॥
हो बुद्धि तुम्हारी यज्ञ-कार्य की साधक।
सुखकारक, बलवर्द्धक प्रभु की आराधक ॥
हो बहुविद्या-पारंगत बुद्धि तुम्हारी।
अनवद्य वंद्य हो संयत तेज-प्रसारी ॥
दैवी सामर्थ्ययुक्त प्रज्ञा से मंडित।
प्रारब्ध यज्ञ सब करो पूर्ण अविचल चित ॥
जो हैं मन से उत्पन्न, युक्त है मन से।
शुभ कर्म करो निरलस उन इन्द्रियगण से ॥

---

१ जिसने अपना व्रत या प्रतिज्ञा पूरी कर ली है।

ऊर्ण मृदुल हो अन्न, आंगिरस ऊर्जा हो तुम।
अंग-अंग में प्राप्त करें अक्षय ऊर्जा हम॥
तुम्हीं सोम के मुख्य अंग बलवर्द्धक उत्तम।
सर्वव्यापक विष्णु! शर्मप्रद रहो सदा तुम॥
तुमसे सब यजमान रहें पाते सुख निरवधि[1]।
इन्द्रयोनि हे! करो निरंतर शस्यवृद्धि-विधि[2]॥
हे वनस्पते! उन्नत होते रहो निरंतर।
यज्ञ पूर्ण यह करो हमारे दुरित दोष हर॥
शत[3] सांवत्सर आयु-यज्ञ मेरा यह अनुदिन।
पाप-मुक्त नित रहे समर्पित प्रभु को प्रतिक्षण॥
विद्याएँ हम करें विविध विधि निरवधि धारण।
पूर्ण करो यह आयु-यज्ञ कर दुरित निवारण॥ १०॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को शत सांवत्सरिक पूर्णायु प्राप्त करने और उसे यज्ञमय बना देने की प्रार्थना की गई है। यह निर्देश किया गया है कि मनुष्य का पाप-दोष-विवर्जित लोक-हित में समर्पित-जीवन परमोत्तम यज्ञ है। इस मंत्र में 'ऊर्गस्याङ्गिरस' शब्द का प्रयोग किया गया है जो 'ऊर्क् असि आङ्गिरस' शब्दों की संधि से सिद्ध हुआ है। इसका अर्थ है शरीर के अंग-प्रत्यंग में उसका वीर्य और बल बढ़ानेवाला रस। यह रस योग्य सुपाच्य सरस अन्न के सेवन से ही बन सकता है। इसलिए भोजन योग्य अन्न को 'ऊर्णम्रदा' अर्थात् ऊन जैसा मृदु कहा गया है। शुष्क और नीरस अन्न भोजन के योग्य नहीं। यह भी बतलाया गया है कि सोमवल्ली का मुख्य सत्त्वरस ही बलवर्द्धक उत्तम अन्न है। सोमवल्ली में परमेश्वर ही रसरूप में व्याप्त हैं। वे सर्वव्यापक हैं, इसलिए विष्णु है। सोमरूप होकर ये सर्वव्यापक विष्णु ही सब ओषधियों का पोषण करते हैं —पुष्णामि औषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः। (गीता १५:१३)। यह मंत्र यह निर्देश भी करता है कि मनुष्य वनस्पतियों को उगाये और बढ़ाये। उत्तम कृषिकर्म का संपादन कर प्रभूत अन्नोत्पादित करना भी मनुष्य का परम धर्म है। १०

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः[1]। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे[2]। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा[3] ॥११॥

१ असीम; २ फ़सलों के बढ़ाने के उपाय; ३ सौ वर्षोंवाला।

ऋतवर्धक[1] हैं अमृत-कल्प ये प्राण-रूप जल।
इनका सेवन करें, मिले सुखमय जीवन-फल ॥ १२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह निर्देश किया गया है कि मनुष्यों को सुपरीक्षित शुद्ध जल आदि पदार्थों का सेवन करना चाहिए, जिससे शरीर और आत्मा के बल की वृद्धि हो। शुद्ध जल के सेवन से क्षय रोग दूर होता है, आम से उत्पन्न रोग नष्ट होते हैं। ऋत अर्थात् दिव्य किंवा सात्त्विक भाव की वृद्धि होती है, और मृत्यु का भय नहीं रहता। इस मंत्र में जल के गुणों का निर्देश है, जो आधुनिक जल-चिकित्सा आदि का आधार बन सकता है। १२

इ॒यं ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नूर॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम्।
अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृथि॒वीमा वि॑शत
पृथि॒व्या सम्भ॑व ॥१३॥

इयं	यह पृथिवी	अंहो मुचः	पाप को फैलानेवाले,
ते	तेरा	स्वाहाकृताः	स्वाहा करके स्वीकृत किये जल
यज्ञिया	यज्ञ के योग्य, पवित्र	पृथिवीं	भूमि में
तनूः	शरीर है।	आ	अच्छी तरह
अपः मुञ्चामि	मैं जल को त्यागता हूँ,	विशत	प्रविष्ट हों,
न प्रजाम्	प्रजा को नही छोड़ता	पृथिव्या	वे पृथ्वी में
		सम्भव	मिल जावें ॥१३॥

सुधी मनुज! है प्राप्त तुम्हें यह यज्ञ-योग्य तन।
पूर्ण आयु तक करो निरंतर इसका रक्षण॥
जल है प्राण-स्वरूप प्रजाओं का रक्षक नित।
देता है आरोग्य-दान होकर शुचि-सेवित॥
यह पृथिवी है प्रथित तुम्हारा तन अति पावन।
पाप न फैले यहां, बने स्वाहाकृत[2] जीवन॥
करे विसर्जित जल न कभी धरती यह दूषित।
रोग-मुक्त हो धरा रहे दुख-दोष-विवर्जित ॥ १३ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों को शरीर को रोगरहित और आत्मबल-संपन्न रखने का निर्देश किया गया है। धरती ही मनुष्य का यज्ञ योग्य शरीर है। इसे मानव-प्राणी अपनी कुचेष्टाओं से दूषित न करें, यथास्थान जल-मल-विसर्जन क्रियाएं करें।

१ यज्ञ-भाव को बढ़ानेवाले; २ यज्ञ करने के बाद बचा हुआ।

दक्षक्रतु[1] रहें इन्द्रियाँ वशवर्ती नित।
स्वैरिणी न होने पावें वे सब किंचित्॥
परितुष्टि-हेतु देवों के हवि यह स्वाहा!।
वे रक्षा करें हमारी, हवि लें स्वाहा!॥ ११॥

टि०—इस मंत्र में विशेष रूप से इन्द्रियों को अपने वश में रखने और उन्हें 'दक्ष-क्रतव' बनाये रखने का निर्देश किया गया है। 'दक्ष-क्रतवः' का अर्थ है दक्षता से कर्म संपादन करनेवाली इन्द्रियाँ। वे असत् मार्ग पर न चलें, सदा वश में रहें। सफलता प्राप्त करने का यही मार्ग है। ११

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु
देवीरमृता ऋतावृधः ॥१२॥

आपः	हे जलो!	अयक्ष्माः	रोगरहित हों,
यूयं	तुम	अनमीवाः	आम-दोषरहित हों।
पीताः	पिये जाने के बाद	अनागसः	पाप दूर करनेवाले,
श्वात्रा	बल बढ़ानेवाले	ऋतावृधः	यज्ञभाव बढ़ानेवाले,
भवत	बनो;	अमृताः	मृत्यु को दूर करनेवाले,
अस्माकं	हमारे	देवीः	दिव्य शक्ति से युक्त होकर
उदरे	पेट के	अस्मभ्यं	(वे) हमारे लिए
अन्तः	भीतर	स्वदन्तु	स्वाद में रुचिकर हों॥ १२॥
सुशेवाः	सुखदायी बनो।		
ताः	वे जल		

अये आप! हम पियें तुम्हें, बलवान बनें हम।
रहो हमारे उदरों में संतत सुखकर तुम॥
हे जल! सेवन करें तुम्हें, हों रोग-मुक्त हम।
आम[2] दोष हों दूर, पाप सब हरण करो तुम॥
जल-समूह ये यज्ञ-भाव की वृद्धि करें नित।
दिव्य शक्ति से युक्त रहें सु-स्वादु परम हित॥

---

१ कर्म करने में दक्ष; २ अन्न के अपचन से उत्पन्न दोष।

पुनः	फिर (मिली)।
प्राणः	प्राण
पुनः	फिर
आ आगन्	प्राप्त हुआ
मे	मुझे
आत्मा	आत्मा
पुनः	फिर (प्राप्त हुआ)।
चक्षुः	नेत्र
पुनः	फिर (मिले)।
मे	मुझे
श्रोत्रं	कान भी
पुनः	फिर
आ आगन्	प्राप्त हुआ।
वैश्वानरः	विश्व का नेता अग्नि,
अदब्ध	न दबनेवाला
तनूपाः	शरीररक्षक
अग्निः	अग्नि
अवद्यात्	निंदनीय
दुरितात्	पाप से
नः	हमारी
पातु	रक्षा करे ॥ १५ ॥

वीतनिद्र[2] हम हुए जागरित हे परमेश्वर ! ।
पुनः प्राप्त मन, आयु प्राप्त नव, प्राण प्राप्त फिर ॥
जीव-भाव फिर मिला, चक्षु क्रियमाण हुए फिर ।
कानों में हैं लगे गूँजने स्वर मधुमय फिर ॥
निद्रा में निष्क्रिय थे जो अपने इन्द्रियगण ।
वे ही फिर क्रियमाण हुए पाया नवजीवन ॥
हैं अदम्य वैश्वानर इस तन के रक्षक नित ।
पाहि अग्नि ! सब करो निवारण देव ! दुख-दुरित ॥ १५ ॥

टि०—यह मंत्र बड़े गंभीर अर्थ का प्रतिपादक है। प्रति प्रभात नींद से जागकर हम मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति को अक्षुण्ण रूप से पूर्ववत् प्राप्त करते है। पुनर्जन्म होने पर भी ये सब शक्तियाँ पुनः पूर्ववत् प्राप्त होती हैं। प्रति प्रातःकाल हमारा दैनिक पुनर्जन्म होता है। इस मंत्र का यह संकेत है कि हम जगदीश्वर की आराधना-उपासना से अपने दैनिक जीवन को पापों से मुक्त रखें। पुनर्जन्म-काल में साधना ही मंगल-विधान कर सकेगी। नीच योनियों में पतन से हमारी रक्षा करेगी। १५

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः[19] ।
रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥१६॥

अग्ने	हे अग्नि !
देवः त्वं	तुम प्रकाशक देव
आ मर्त्येषु	सब मर्त्यों में
व्रतपाः	व्रत-पालन करनेवाले

२ नींद पूरी कर।

धरती पर प्रदूषण और पाप न फैले, इस विषय में मनुष्य सावधान रहें। जीवन 'स्वाहा कृतः' बने, परहित में समर्पित रहे, यह प्रयास मनुष्य को निरंतर करते रहना चाहिए। १३

अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

अग्ने	हे अग्नि !	**अप्रयुच्छन्**	प्रमाद न करते हुए
त्वं	तुम	**नः रक्ष**	हमारी रक्षा करो।
सु जागृहि	उत्तम जागो।	**नः**	हमें
वयं	हम	**पुनः**	फिर
सु मन्दिषीमहि	उत्तम निद्रा करेंगे।	**प्रबुधे**	जाग्रत्
		कृधि	करो ॥ १४ ॥

अग्ने ! जागो, हो जागरण तुम्हारा उत्तम।
यज्ञ-भवन में रहो जागरित देव ! सदा तुम ॥
यहाँ करें सुख-शयन तुम्हारा कर आराधन।
अप्रमाद तुम करो हमारा निशि में रक्षण ॥
करें प्राप्त विश्राम गाढ़ निद्रा[1] से हम नित।
योग्य समय पर करो पुनः तुम हमें जागरित ॥
जाग्रत् हो हम करें यज्ञ के कार्य अनुष्ठित।
धर्म - कर्म सब करें पूर्णता से संपादित ॥ १४ ॥

टि०—इस मंत्र में युक्तिसहित अग्नि के सेवन का उपदेश किया गया है। अग्नि भगवान की वह विभूति है जो सोने, जागने, जीने, मरने का हेतु है। अप्रमाद भाव से उसे जाग्रत् रखकर यज्ञकर्मों का संपादन किया जाना चाहिए। १४

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥१५॥

मे	मुझे
मनः	मन
पुनः	फिर

शुक्र	हे शुक्र !	गच्छ	प्राप्त हो।
एषा	यह	जूः	वेगवान
ते	तुम्हारा	असि	(तुम) हो।
तनूः	शरीर है।	मनसा	(तुम) मन से
एतत्	यह	धृता	धारण किये हुए
वर्चः	तेज है।	विष्णवे	व्यापक ईश्वर के लिए
तया	उसके साथ	जुष्टा	प्रीति से रखे हुए हो ॥ १७ ॥
संभव	एक बनो।		
भ्राजं	प्रकाश को		

हे शुक्र ! पराक्रम-युक्त सुधी हे मानव ! ।
उद्दीप्त करो निज ओज-तेज का तुम दव ॥
इस तन का है आधार शुक्र ही पावन ।
वह वीर्य तुम्हारा रहे सुरक्षित प्रतिक्षण ॥
उससे ही होती वृद्धि तेज की, बल की ।
है रक्षणीय निधि मानव ! वह पल-पल की ॥
तन में वह सुस्थिर करो, बनो वर्चस्वी ।
हो एकरूप वह तन से बनो मनस्वी ॥
है परम वेग यह जीवन मनुज तुम्हारा ।
अप्रतिहत[1] बहे तुम्हारी पौरुष - धारा ॥
यह वेग करो मन में, तन में तुम धारण ।
पुरुषार्थ करो तुम अपने प्रभु को अर्पण ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में भी अपरिमित अर्थ-शक्ति भरी है। शुक्र के दो अर्थ हैं, पहला वीर्य और दूसरा वीर्यपराक्रम-युक्त विद्वान मनुष्य है। शुक्र की रक्षा करते हुए अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्वान और बुद्धिमान मनुष्य को अपने वर्चस्व को बढ़ाते रहना चाहिए, यह उपदेश इस मंत्र मे दिया गया है। जीवन-यज्ञ की परिपूर्णता के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। १७

तस्यांस्ते सत्यसंवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा ।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि[1] ॥१८॥

तस्याः	उस	ते	तुम्हारी
सत्यसवसः	सत्य प्रवृत्ति वाले	प्रसवे	प्रगति के लिए

१ बिना रुकावट के।

असि	हो।	भूयः	पश्चात्
त्वं	तुम	आ भर	और (देकर) अच्छी तरह भर दो।
यज्ञेषु	यज्ञ में		
आ ईड्यः	अच्छी तरह पूजनीय हो।	वसोः दाता	धन के देनेवाले
		सविता देवः	सविता देवता ने
सोम	हे सोम !	नः	हमें
इयत्	इतना	वसु	धन
रास्व	धन (तुम) हमें दो।	अदात्	दिया है ॥ १६ ॥

अग्ने ! करते सब मर्त्यों में तुम हो निवास।
व्रतपालक हो, देते हो अग-जग को प्रकाश ॥
हे देव ! तुम्हीं सब यज्ञों में हो पूजनीय।
कर्मों के प्रेरक तुम्हीं सदा हो वंदनीय ॥
सबके भीतर है शक्ति तुम्हारी निहित महत्।
हम उसको जानें और उसे खोजें अविरत ॥
हे सोम ! हमें पुष्कल[1] धन दो तुम बार-बार।
दो भूरि-भूरि धन हमें देव ! तुम बार-बार ॥
उत्पादक सविता ने की है धनशक्ति-दान।
उत्पन्न हुए हैं लेकर हम वह निधि महान ॥
वह जन्मजात धनशक्ति करें हम संवर्धित।
लौकिक दैवी संपत्ति हमारी बढ़े अमित ॥
हो अग्नि तुम्हीं, हो सोम तुम्हीं हे जगदीश्वर !।
पावें तुमसे संपत्ति विविध-विध दो यह वर ॥ १६ ॥

टि०—इस मंत्र में लौकिक और दैवी सब प्रकार की संपत्तियाँ प्राप्त करने के लिए भगवान से प्रार्थना की गई है। मनुष्य को अपने भीतर विद्यमान परमात्म-शक्ति को पहचानना चाहिए। उसका अन्वेषण करते रहना चाहिए। यही अपरमित सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग है। इस मंत्र में श्लेषालंकार है। धन और सुख का प्रयोग लौकिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में किया गया है। १६

एषा ते॑ शुक्र त॒नूरे॒तद्वर्च॒स्तया॒ सम्भ॑व॒ भ्राजं॑ गच्छ।
जूर॑सि धृ॒ता मन॑सा॒ जुष्टा॒ विष्ण॑वे[2] ॥१७॥

---

१ प्रचुर।

चिर्दसि मनासि धीरसि दाक्षिणासि क्षत्रियासि
यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी ।
सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि
बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥१९॥

चित्	(हे ईश्वर तुम) ज्ञान	असि	हो।
असि	हो,	सा	वह तुम
मना	मन	नः	हमारे लिए
असि	हो,	सुप्राची	आगे बढ़ने में
धीः	(तुम) बुद्धि	सु प्रतीची	अथवा पीछे हटने में
असि	हो,		
दक्षिणा	दक्षता	एधि	सहायक हो;
असि	हो,	मित्रः	मित्र
क्षत्रिया	क्षत्रिय-शक्ति	त्वा	तुम्हें
असि	हो,	पदि	पैर में
यज्ञिया	पूजा योग्य	बध्नीतां	बाँधकर रखे।
असि	हो,	पूषा	पूषा देवता
अदितिः	अखंड शक्ति	अध्यक्षाय	अध्यक्ष
असि	हो,	इन्द्राय	इन्द्र के लिए
उभयतः	दोनों ओर	अध्वनः	मार्ग की
शीर्ष्णी	शिरों-वाली	पातु	रक्षा करें॥ १९ ॥

सत्यैश्वर्ययुक्त यह जग है ईश ! प्रसूति तुम्हारी।
इसमें वाणी-विद्युत् दोनों हों हमको सुखकारी॥
चित्स्वरूप तुम, मनःरूप तुम, तुम हो बुद्धि अनुत्तम।
मूर्त्तिमान दाक्षिण्य तुम्हीं हो क्षात्र-शक्ति तुम निरुपम॥
यज्ञों में हो ईड्य देव ! तुम और अखंड अदिति तुम।
उभयशीर्ष हो, आगे पीछे दोनों पथगामी तुम॥
सख्य-भाव से प्रणत जनों का बंधन भी सह लेते।
साधन के अनुरूप मनुज को इच्छित फल हो देते॥
मानव में भी सहज-सुलभ हैं ये गुण ईश तुम्हारे।
चिन्मय हों मन, बुद्धि, क्षात्र-बल दाक्षिण्यादि हमारे।
पूजा योग्य रहें हम संतत अदिति भाव से मंडित॥

शरीर के
यंत्र को
मैं प्राप्त करूँ।
इसके लिए यह
आहुति अर्पित है।
(तुम) शुक्र
हो।

चन्द्रं	(तुम) आनन्ददायक
असि	हो।
अमृत असि	अमर हो।
वैश्वदेवं	सब देवों की शक्ति से युक्त
असि	हो ॥ १८ ॥

सत्य - प्रवृत्ति से रहो सदा तुम पूरित।
ऐश्वर्य - प्राप्ति - हित रहो धर्म में सुस्थित ॥
ऐश्वर्य - प्राप्ति के हेतु प्राप्त है तुमको।
यह देह - यंत्र, है सकल कामदायक जो ॥
वैयक्तिक सुख की प्राप्ति का न यह साधन।
इसके द्वारा तुम करो लोक - आराधन ॥
सबकी उन्नति - हित करो समर्पण, स्वाहा !।
दो आत्म-दान सबके मंगल-हित, स्वाहा ! ॥
हे मानव ! तुम हो शुद्ध शौर्य - परिपूरित।
तुम स्वयं चन्द्र आनंद अखंड - भरे नित ॥
तुम अमृत - रूप, अमरत्व - प्राप्त तुम संतत।
सब देव - शक्तियाँ तुम्हें सदा हैं अधिगत ॥
इन देव - शक्तियों को क्रियमाण करो तुम।
हो जाय यज्ञमय जीवन विगत - मोह - भ्रम ॥
हे ईश्वर ! वाणी का, विद्युत् का, तन का।
है मिला हमें वरदान दिव्य जीवन का ॥
उनका विकास हम करें, करें संवर्धन।
सच्चिदानंद - पूरित हो अपना प्रतिक्षण ॥ १८ ॥

टि०—सोलहवें मंत्र में धन प्राप्त करने, धन से घर भर देने की प्रार्थना की गई
। इस मंत्र में यह बताया गया है कि वह धन सत्य में संस्थित रहकर सत्प्रवृत्तियों
रा प्राप्त किया जाए। असत् मार्ग का अवलंबन कर धन प्राप्त करना विहित नहीं।
ुष्य को शरीर का जो यंत्र मिला है, वह अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है। उन
क्तियों को जाग्रत् किया जाना चाहिए, जिससे जीवन आनंदपूर्ण और सब प्रकार से
पन्न बन सकें। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के संदर्भ में लिखा है, "मनुष्यों को चाहिए
क ईश्वर की उत्पन्न की हुई इस सृष्टि में विद्या से कलायंत्रों को सिद्ध करके अग्नि आदि
दार्थों से अच्छी प्रकार पदार्थों को ग्रहण कर वे सब सुखों को प्राप्त करें।" १८

अनु	अनुमति दे;	इन्द्राय	इन्द्र के लिए
सगर्भ्यः	सहोदर	सोमं देवं	सोम देव को
भ्राता	भाई	अच्छ	शीघ्र अथवा सम्यक्
अनु	अनुमति दे;	इहि	प्राप्त हो जाओ।
सयुथ्यः	यूथ में रहनेवाला	रुद्रः	रुद्र
सखा	सखा	त्वा	तुम्हें
अनु	(तुम्हें) अनुमति दे।	वर्तयतु	परावृत्त करे;
देवि	हे देवि !	सोमसखा	हे सोमरूपी मित्र—!
सा	वह	स्वस्ति	कल्याणपूर्वक
त्वं	तुम	पुनः एहि	फिर आओ ।।२०।।

हे मानव ! प्राप्त करो माता की अनुमति।
दे पिता सहोदर भ्राता तुमको स्वीकृति ।।
अनुमति दे तुमको सखा, यूथ[1] - सहचारी।
अनुकूल रहें सब, हों संतत हितकारी ।।
हे सोमलते ! हे देवि ! इन्द्र के हित हम।
आहूत कर रहे यज्ञ - हेतु आओ तुम ।।
तुम सोमदेव को शीघ्र यहाँ ले आओ।
कर वहन पीठ पर उनको लौटो, आओ ।।
शूरों, वीरों से, रुद्रदेव से रक्षित।
निर्बाध तुम्हारा मार्ग रहे मानव ! नित ।।
ये सोम तुम्हारे सखा, इन्हें ले आओ।
तुम क्षेम-सहित हो परावृत्त[2] फिर आओ ।।
ये सोम सदा वाणी के वैभव दाता।
विद्युत् की ऊर्जा इनसे ही जग पाता ।।
तुम सोम-प्राप्ति-हित करो अनंत पराक्रम।
हों यज्ञ - सिद्ध, हो धर्म - शुद्ध जीवन - क्रम ।। २० ।।

टि०—इस मंत्र में सोमप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने का निर्देश किया गया है। इस कार्य में माता, पिता, भाई, मित्र सबका सहयोग प्राप्त रहना चाहिए। सोम का अर्थ है इन्द्र अर्थात परमेश्वर को यज्ञ में अर्पित करने के लिए लाया गया हवि रूपी अन्न। महर्षि दयानन्द ने सोम का अर्थ वाणी किंवा विद्युत् किया है। वाणी और विद्युत् की शक्तियों की साधना से मनुष्य का बहिरंतर जीवन परमेश्वर की शक्तियों से मंडित हो जाता है। २०

---

१ समूह मे साथ रहनेवाला; २ लौटकर।

विकसित होते रहें तुम्हारे गुण ये हम सब में नित ॥
गो में भी गुणगण हम सब हैं जगदीश्वर के पाते।
भावभरित श्रद्धा-विगलित हम हैं उसके गुण गाते ॥
गो है चिन्मय ज्ञानदायिनी और बुद्धि-संवर्द्धक।
उभयशीर्ष प्रत्यङ्मुख[1], पराङ्मुख[2] यज्ञ-कर्म की साधक ॥
दुग्धदान दे उभय भाग यज्ञों के सफल बनाती।
पूजनीय है चिर अवध्य वह है दक्षता बढ़ाती ॥
मन की सुप्त शक्तियाँ गो-सेवन से होतीं जाग्रत्।
पोषण करती सबके रक्षक क्षात्र-भाव का वह नित ॥
आगे-पीछे बढ़ें-हटें, हम गो है सदा सहायक।
मित्र-भाव से पद-बंधन कर हम हों उसके सेवक ॥
विचरण करे जहाँ गो पोषक[3] पथ में हों संरक्षक।
इन्द्र-हेतु गो के हों पूषादेव सदा परिपोषक ॥
रहें अवध्य सुरक्षित संतत गायें ईश! हमारी।
पोषण उनका सदा करें हम गो-सेवा-व्रतधारी ॥ १९ ॥

टि०—यह मंत्र भी अनेक संश्लिष्ट अर्थों-वाला है। अनुवाद में वेदमूर्ति सातवलेकर और महर्षि दयानन्द दोनों का भावार्थ ग्रहण किया गया है। एक ओर इसमें भगवान की स्तुति है, भाव-विभोर होकर उनके गुणों का गान किया गया है और दूसरी ओर यह निर्देश किया गया है कि ईश्वर के सब गुणगण बीजरूप में मनुष्य में विद्यमान हैं। मनुष्य को उनका विकास करना चाहिए। यह मंत्र प्रमुख रूप से गो-वाची है। गो अवध्य है, वह मनुष्य के द्वारा सदा सेवनीय है। मनुष्य को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण के लिए उसकी निरंतर सेवा करनी चाहिए। गो का पोषण-भरण-सेवन मनुष्य मात्र का नित्यधर्म है। इन्द्रवाची और इन्द्रियों के स्वामी परमेश्वर गो की सेवा से प्रसन्न होते हैं। १९

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यताम॒नु॑ पि॒ताऽनु॒
भ्रा॒ता सग॒र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः।
सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳ
रु॒द्रस्त्वा॑ वर्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥२०॥

त्वा	तुमको	अनुमन्यतां	अनुमति दे;
माता	माता	पिता	पिता

१ आगे; २ पीछे; ३ पोषण करनेवाले लोग।

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्द्धन्नाजि॑घर्मि देव॒यज॑ने पृ॒थि॒व्या इडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॑त् स्वाहा॑ । अ॒स्मे र॑मस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रायो॑ मे रायो॑ मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियौ॑ष्म॒ तोतो॒ रायः॑ ॥२२

अदित्याः	अखंडित	ते	तुम्हारे
पृथिव्याः	पृथ्वी के	अस्मे	हम
मूर्धन्	सिर पर	बन्धुः	बन्धु हैं।
देवयजने	देवों के यज्ञस्थान में	त्वे	तुम्हारे अन्दर
त्वा	तुमको	रायः	धन है।
आजिघर्मि	(मैं) घृत की आहुति अर्पित करता हूँ।	मे रायः	मेरे पास धन रहे।
		वयं	हम
इडायाः	(तुम) पृथ्वी का	रायः	धन
पदं असि	स्थान हो।	पोषेण	और पुष्टि से
घृतवत्	घृत की आहुति	मा वियौष्म	वंचित न हों।
स्वाहा	(तुम्हें) अर्पित है।	तोतः	(यह) तुम्हारा
अस्मे	हमारे अन्दर	रायः	धन है ॥ २२ ॥
रमस्व	रममाण हो।		

हे पृथिवी ! तुम हो अदिति नित्य अविभक्त, अखंडित।
किया तुम्हारे शीर्ष देश पर मैंने यज्ञ अनुष्ठित ॥
देवों का यह यज्ञस्थल है, धाम धेनुओं का परमोत्तम।
होती रहती स्वयं प्रकाशित यहीं वेद की वाणी शुचितम ॥
देता हूँ घृत की आहुतियाँ हेतु तुम्हारे हे जगदीश्वर !।
यज्ञथलों में और गृहों में गायें सुख से रहें निरंतर ॥
परम बंधु हो तुम्हीं हमारे अंतर में रमते रहते तुम।
तुम हो धन से पूर्ण, रहें गोधन से पूरित देव ! सदा हम ॥
हम गोधन से और तुम्हारे पोषण से न कभी हों वंचित।
धन गोधन से रहें पूर्ण हम परहित-निरत सतत आनंदित ॥
कृपा-प्रसाद प्राप्त हो हमको, अर्पित घृत-आहुति यह स्वाहा।
गो-धन से परिपूर्ण रहें हम, घृत-आहुति यह अर्पित स्वाहा ! ॥२२॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि जहाँ यज्ञों का अनुष्ठान होता है, वेद-मंत्रों का प्रकाशन और प्रवचन होता है तथा जहाँ गायें निवास करती हैं, वही हमारा यह देश पृथ्वी की मूर्धा है। भगवान से प्रार्थना की गई है कि हम धन और गो-धन से परिपूर्ण रहें, हमारे हृदय भूत-दया से भरे रहें और हम निरंतर परोपकार करते रहें,

वस्व्य॑स्यदि॑तिरस्यादि॒त्यासि॑ रु॒द्रासि॑ च॒न्द्रासि॑ ।
बृह॒स्पति॑ष्ट्वा सु॒म्ने र॑म्णातु रु॒द्रो वसु॑भि॒रा च॑के ॥२१॥

वस्वी असि	(तुम) वसु की शक्ति हो,	असि	हो।
अदितिः असि	अखंड शक्ति हो,	बृहस्पतिः	बृहस्पति
आदित्या	आदित्य की शक्ति	त्वा	तुम्हें
असि	हो,	सुम्ने	आनंद में
रुद्रा	रुद्र की शक्ति	रम्णातु	रममाण करें।
असि	हो,	रुद्रः	रुद्र तुमको
चन्द्रा	चन्द्र की आह्लाद-शक्ति	वसुभिः आचके	वसुओं के साथ आनंद में तेजस्वी रखें ॥ २१ ॥

वस्वी[1] हो, तुममें है वसुओं की शक्ति सकल।
है भर्ग द्वादशादित्यों का तुममें अविकल ॥
तुम हो अविभाज्य, अखंड अदिति की शक्ति अमित।
तुम रुद्र-शक्ति, तुम चन्द्र-शक्ति हो मानव नित ॥
ज्ञानेश बृहस्पति है तुममें रममाण सतत।
है शक्तिबीज तुममें नक्षत्रों का सुखकृत ॥
शिव-संकल्पों से युक्त तुम्हारा मन मानव।
है निखिल शक्ति का स्रोत और सुख का उद्भव ॥
ये रुद्र और वसु आदि देवगण हों सहाय।
तुम करो निरंतर शक्ति-जागरण के उपाय ॥
गो में भी है देवों की शक्ति भरी अनुपम।
सब देवों का है अधिष्ठान गो-देह परम ॥
वाणी विद्युत् की शक्ति सिद्ध हो तुम्हें अमित।
तुम ब्रह्मचर्य की करो साधना मानव! नित ॥ २१ ॥

टि०—यह अनेकार्थी वेदमंत्र है। इसमें मनुष्य में बीजरूप में निहित अनन्त शक्तियों का संकेत किया गया है। मनुष्य में अग्नि, वायु, पृथ्वी, अंतरिक्ष, सूर्य, द्यु, चन्द्र, नक्षत्र इन आठ वसुओं का अंश है। 'यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे' यह इस मंत्र का मूल आशय है। रुद्र, वसु, आदित्य, बृहस्पति आदि सब शक्तियाँ मनुष्य-देह में अधिष्ठित हैं। मनुष्य उनको अपने शिवसंकल्पों से जाग्रत् कर सकता है। गो-देह में भी सब देवताओं का वास है। यह मंत्र गो के स्तवन के रूप में भी प्रयुक्त होता है। महर्षि दयानन्द के अनुसार दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा इन देवशक्तियों को जाग्रत् किया जाना चाहिए। २१

---

१ वसुओं की शक्ति से युक्त।

आयु खण्डित न हो। हम एक-दूसरे के पूरक बने रहें। तुम वीरप्रसू बनो। हमारी संतान उत्तम ज्ञान-विज्ञान का संपादन करे। २३

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥२४॥

ते	तुम्हारा	ब्रूतात्	कहो।
एषः	यह	छन्दो	छंदों के
गायत्रो	गायत्री छंद का	नामानां	नामों के
भागः	भाग है।	साम्राज्यं	साम्राज्य को
इति मे	ऐसा मेरा वचन	गच्छ	प्राप्त करो।
सोमाय	सोम के प्रति	इति मे	ऐसा मेरा वचन
ब्रूतात्	बोलो।	सोमाय	सोम के प्रति
ते एषः	तुम्हारे यह	ब्रूतात्	कहो।
त्रैष्टुभः	त्रिष्टुप् छंद का	आस्माकः	(हे सोम! तुम) हम सबके
भागः	भाग है।	असि	हो।
इति मे	ऐसा मेरा कथन	ते	तुम्हारा
सोमाय ब्रूतात्	सोम के उद्देश्य से कहो।	शुक्रः	शक्तिवर्धक रस
ते एषः	तुम्हारा यह	ग्रह्यः	ग्राह्य है।
जागतः	जगती छंद का	विचितः	सार और असार का विभाग करनेवाले
भागः	भाग है।	त्वा	(तुम्हारा)
इति मे	ऐसा मेरा वचन	विचिन्वन्तु	विभाग करें ॥२४॥
सोमाय	सोम से		

बोलो, बोलो, सोम को लक्ष्य कर यह बोलो।
विद्वानों के सम्मुख अपना जिज्ञासामय अंतर खोलो॥
गायत्री का है भाग सोम का कौन कहो?।
है सेवनीय जो छंद-भाग वह कहो, अहो॥
सोम को लक्ष्य कर बोलो, यह वाणी बोलो।
त्रैष्टुभ का अपना छंद-भाग बतलाओ, यह रहस्य खोलो॥

यही सब प्रकार के धन की उत्तम गति है। गायें सर्वोत्तम धन हैं, वे हमारे पास सदा रहें। २२

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा ।
मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं
विदेय तव देवि सन्दृशि ॥२३॥

देव्या	दिव्य	**तव आयुः**	तुम्हारी आयु
दक्षिणया	दक्षिणा से युक्त,	**अहं**	मैं
उरुचक्षसा	विस्तृत दृष्टिवाली	**मा उ**	खँडित नहीं करता।
धिया	बुद्धि से युक्त	**देवि**	हे देवि !
समख्ये	(तुम) दीखती हो।	**तव सदृशि**	तुम्हारे समान या तुम्हारी दृष्टि में
मे आयुः	मेरी आयु		
मा प्रमोषीः	खंडित मत करो,	**वीरं विदेय**	(मैं) वीर पुत्र प्राप्त करूँ ॥ २३ ॥

दाक्षिण्य[1] दिव्यता से मंडित तुम देवि ! सदा।
हो दूर-दृष्टि, शुभ बुद्धि-युक्त तुम प्रियंवदा[2] ॥
हे पत्नि ! कार्य - दक्षता तुम्हारा गुण अनुपम।
कल्याणी तुम हो प्राप्त मुझे, यह भाग्य परम ॥
हम करें परस्पर संभाषण व्यवहार मधुर।
एकरस परस्पर रहें प्रेम परिपूरित उर ॥
हम करें आयु का एक-दूसरे की वर्धन।
पूर्णायु प्राप्त हम करें परस्पर पूरक बन ॥
तुम वीरप्रसू बन करो वंश की वृद्धि सतत।
संतान तुम्हारी करे हमारी कीर्ति वितत[3] ॥
संतान हमारी करे शौर्य - संपादन नित।
उत्तम विद्या से रहे निरंतर वह मंडित ॥ २३ ॥

टि०—इस मंत्र में पति-पत्नी के कलात्मक वार्तालाप का संयोजन किया गया है। इसमें आदर्श दाम्पत्य जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष का निर्देश किया गया है। पति पत्नी से कहता है, तुम गृहकार्य में दक्ष हो, विदुषी हो, दूरदर्शी और दयाभाव से युक्त होने के कारण दानशील भी हो। तुम्हारी जैसी सुशीला और विदुषी पत्नी पाकर मैं भाग्यशाली हूँ। हम लोग परस्पर ऐसा व्यवहार करें कि क्रोध-कलहादि के कारण हमारी

---

१ अनुकूलता और दक्षता; २ प्रिय वाणी बोलनेवाली; ३ विस्तृत।

अदिद्युतत्	यहाँ प्रकाशित होती है,
हिरण्यपाणिः	हाथ में सुवर्ण भूषण धारण करनेवाले
सुक्रतुः	शोभन कर्म करने वाले (उस देव ने)
कृपाः	अतुल कृपा से
स्वः	स्वर्ग का निर्माण किया, (मैं उसकी पूजा करता हूँ)।
प्रजाभ्यः	प्रजा के कल्याण के निमित्त
त्वा	(हम) तुमको (प्राप्त करते हैं)।
प्रजाः	प्रजा
त्वा	तुम्हारे अनुकूल होकर
अनुप्राणन्तु	जीवे।
त्वं	तुम
प्रजाः	प्रजा के
अनुप्राणिहि	अनुकूल होकर जीवो ॥ २५ ॥

पृथ्वी-द्युलोक के बीच अवस्थित देव परम।
सविता सबका प्रसविता प्रकाशक है निरुपम॥
कविकर्म-यज्ञ संपादन करता वह अविरत।
इन्द्रियातीत सत्यों को करता उद्भासित॥
सत्यसव[1] प्रथित वह कवि है रत्नों का धारक।
हिरण्मयपाणि[2] वह सबका प्रिय, सबका तारक॥
है ज्ञान, कर्म, सद्बुद्धि-प्रदाता सबका वह।
अर्चना उसी की करता रहता मैं अहरह॥
उसकी अपरिमित प्रभा से पूरित व्योम सकल।
उसकी अपरिमित प्रभा से पूरित है भूतल॥
जितने प्रकाश हैं, पाते उससे ही प्रकाश।
लक्षित है चारों ओर उसी का ज्योतिर्लास॥
यज्ञों में होता अग्नि-रूप में वही प्रकट।
सोमरसपूर्ण कर देता वह ही शत-शत घट॥
उसकी अहैतुकी अनुकंपा से स्वर्ग रचित।
मैं उसका अर्चन, उसका पूजन करता नित॥
सब प्रजाजनों का मंगल हो इस हेतु संतत।
करते उपासना प्रभो! तुम्हारी हम संतत॥

---

१ सत्य को उत्पन्न करनेवाला; अथवा सुनहली किरणोंवाला। २ स्वर्ण के भूषण हाथ पर धारण करनेवाला।

लक्ष्य कर सोम को कहो, कहो यह मधुर वचन।
जगती के अपने छंद-भाग का करो कथन॥
संबोधित करते हुए सोम को पढ़ो सोम।
यह छंदों का साम्राज्य प्राप्त हो तुम्हें सोम॥
तुम हम सबके हो सोम, सोम हो हम सबके।
है शुक्र तुम्हारा ग्राह्य शक्तिप्रद हित सबके॥
हो सार-असार विवेक प्राप्त तुमको मानव।
यह सोमयाग साम्राज्य-दान करता अभिनव॥ २४॥

टि०—इस मंत्र में सोमयाग के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सोमयाग से जो संगठना होती है, वह साम्राज्य चलाने में सहायक होती है। इस मंत्र में आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के साम्राज्यों का संकेत है। सातवलेकरजी ने लिखा है, सोमयाग के तत्त्व को जाननेवाले मानव शासन-विद्या को भी जान लेते हैं। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के संदर्भ में लिखा है, सुधीजन विद्वानों से पूछकर सोम आदि विद्याओं को ग्रहण करें। २४

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः[1]। प्रजाभ्यस्त्वा[2] प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि[3] ॥२५॥

ओण्योः	द्युलोक और पृथ्वी के बीच, द्यावा-पृथ्वी के बीच	कविं	अतीन्द्रिय वस्तुओं का साक्षात्कार करनेवाले, क्रान्तदर्शी
त्यं देवं	उस प्रकाशमान, उस प्रकाशक	सवितारं	सबको जन्म देने वाले देव की
कविक्रतुं	कवित्व-कर्म करनेवाले	अभि अर्चामि	(मैं) पूजा करता हूँ।
सत्यसवं	सत्य को जन्म देनेवाले,	यस्य	जिसकी
		अ-मतिः	अपरिमित
रत्नधां	रत्नधारक,	भाः	प्रभा
अभि प्रियं	सबके प्रिय,	ऊर्ध्वा	ऊपर
मतिं	मननशील,	सवीमनि	प्रसव में

यजमान ! धेनुएं साथ तुम्हारे रहें सदा।
आह्लाद - प्रदायक सोम साथ में रहे सदा ॥
हे धेनु ! सोम ही तुममें है शुभ गुण अनंत।
वे प्राप्त हमें हों सकल, धरा को ज्यों वसंत ॥
स्वायत्त[1] रहें आनंद-प्रदायक सब शुभ गुण।
तप-साधन से हो जाय तुम्हारा चिन्मय तन ॥
देह में प्रजापति के करते मानव निवास।
है वर्ण प्रजापति का सब वर्णों का प्रकाश ॥
हम क्रीत परम पशु से हो परहित हेतु सदा।
पुष्टियाँ सहस्रों मेरा पोषण करें सदा ॥
मन, वाणी, धन से करो ईश का आराधन।
विज्ञान अनश्वर द्वारा करो मोक्ष-साधन ॥ २६ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि हे मानव ! तुम्हारे भीतर वीर्य है, आनंद है, अमरत्व है। ये सब परमेश्वर के व्यावर्त्तक गुण-धर्म हैं। सर्वतोभावेन अपने को परमेश्वर को अर्पित कर तुम उनके उक्त सब गुण अपने में प्रकाशित कर सकते हो। जो कुछ भगवान को अर्पित होगा, वह अनंतगुना बनकर प्राप्त होगा। शरीर का निर्माण तप से होता है। शरीर तप के लिए है, जैसा तप वैसा शरीर। इन्हीं गुणों का साधना द्वारा प्रकटीकरण कर तुम भगवान को प्राप्त कर सकते हो। तप करने से ही उत्तम शरीर की प्राप्ति होती है, वही मोक्ष का साधन है। इस कंडिका में तीन मंत्र हैं, पहला मंत्र परमेश्वर को संबोधित है, दूसरा यजमान को, तीसरा गो को। २६

मि॒त्रो न॒ एहि॒ सुमि॑त्रध॒ इन्द्र॑स्यो॒रुमा वि॑श॒ दक्षि॑ण॑मु॒शन्नु॒शन्त॑ᳪ स्यो॒नः स्यो॒नम्॑ । स्वान॒ भ्राजाङ्घा॑रे॒ बम्भा॑रे॒ हस्त॒ सुह॑स्त॒ कृशा॑नवे॒ते वः॑ सोम॒क्रय॑णा॒स्तान्र॑क्षध्वं॒ मा वो॑ दभन् ॥२७॥

मित्रः	हमारा मित्र	स्योनः	सुखकारी होकर
सुमित्रधः	सन्मित्रों का वर्धन करता हुआ	इन्द्रस्य	शत्रु-नाशक इन्द्र के
नः	हमारे पास	उशन्तं	अन्दर लेने की इच्छा करनेवाले
एहि	आवे।	स्योनं	सुखकारी
उशन्	अपनी उन्नति की इच्छा करते हुए	दक्षिणं	दक्षिण
		उरुं	विस्तार में

१ अपने अधिकार में।

अनुकूल रहो, शक्तियाँ हमारी हों विकसित।
उत्तम जीवन हो प्राप्त हमें, प्रभु से प्रेरित ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर के अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हुए उनकी अहैतुकी कृपा का अनुभव करते हुए, भावविह्वल प्रार्थना की गई है। भगवान की अनुकूलता से मनुष्यों के जीवन में शुभ वृत्तियों और अनंत शक्तियों का विकास हो, यह मंगलाशा इस मंत्र में अभिव्यक्त है। इस मंत्र में भगवान को सत्यसव कवि कहा गया है। सच्चा कवि वह है जो अतीन्द्रिय सत्यों का साक्षात्कार करता है, जिसकी वाणी से सत्य की नित्य प्रसूति होती रहती है। कवि-विषयक यह वैदिक धारणा आज के संदर्भ में विशेष रूप से विचारणीय और ग्रहणीय है। २५

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥२६॥

शुक्रं	वीर्यवान	चन्द्राणि	आनन्ददायक गुण
त्वा	तुम्हें	अस्मे	हमारे पास रहें।
शुक्रेण	वीर्य से,	तपसः तनूः	(तुम) तप का शरीर
चन्द्रं	आह्लाददायक तुम्हें	असि	हो।
चन्द्रेण	आह्लाददायक से,	प्रजापतेः	प्रजापालक का
अमृतं	अमृत-रूप तुमको	वर्णः	वर्ण तुम्हारा है।
अमृतेन	अमृत से	परमेन	परम
क्रीणामि	(मैं) क्रय करता हूँ।	पशुना	पशु से
गोः	गो	क्रीयसे	क्रय किया जाता है।
ते	तुम्हारे	सहस्रपोषं	सहस्रों पुष्टियों से
स-ग्मे	साथ रहे;	पुषेयम्	मैं) पुष्ट होता
ते	वे		हूँ ॥ २६ ॥

हे शुक्र! शुक्र से क्रय करता हूँ मैं तुमको।
वीर्यवान्! वीर्य से क्रय करता हूँ मैं तुमको॥
हे चन्द्र! चन्द्र से क्रय करता हूँ मैं तुमको।
आह्लादक करता आह्लादक दे क्रय तुमको॥
हे अमृत! अमृत दे मै करता हूँ क्रय तुमको।
सर्वस्व दान कर करता हूँ मैं क्रय तुमको॥

रहना (हस्त), कुशलता से हाथ के सब काम करना (सुहस्ता), दीनों-दुखियों और दुर्बलों की सहायता करना (कृश-अनो)। इन्हीं गुणों से सोम को प्राप्त किया जा सकता है। ये सात गुण मनुष्य के परम धन हैं। सोम का अर्थ बहुत व्यापक है। सामान्य अर्थ उत्तम पदार्थ है। सर्वोत्तम पदार्थ परमात्म-तत्त्व, परम सत्य है। २७

परिं माऽग्ने दुश्चंरिताद्बाधस्वा मा सुचंरिते भजं।
उदायुंषा स्वायुषोदंस्थाममृताँ२ अनुं ॥२८॥

अग्ने	हे अग्नि !	उदायुषा	उत्तम जीवन से,
दुश्चरितात्	दोषयुक्त आचरण से	स्वायुषा अमृतान्	उत्तम आयुष्य से युक्त होकर
मा	मुझको		
परि बाधस्व	निवृत्त करो।	अमृतान् अनु	अमृतों का अनुसरण करता हुआ
सुचरिते	उत्तम आचरण में		
मा	मुझे	उद् अस्याम्	उत्तम भावों को मैं प्राप्त होऊँ ॥ २८ ॥
आभज	रखो (जिससे)		

अग्ने ! दुराचरण से मेरी रक्षा करो निरंतर।
सदाचार के पथ पर प्रेरित करो सदा परमेश्वर ॥
उत्तम जीवन प्राप्त करूँ मैं शुभ कर्मों के द्वारा।
बहे अबाधित सत्य पंथ पर मेरी जीवन-धारा ॥
दिव्य कर्म-गुण बनें हमारे, हो स्वभाव अमृतोपम।
दीर्घायुष्य प्रदान करो प्रभु, बने धर्ममय जीवन ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों को अधर्म का मार्ग छोड़कर धर्म के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया गया है। २८

प्रति पन्थांमपद्महि स्वस्तिगामनेहसंम्।
येन विश्वाः परि द्विषों वृणक्ति विन्दते वसुं ॥२९॥

स्वस्तिगां	सुख या कल्याण के साथ जाने योग्य,	येन	जिसके द्वारा
		विश्वाः	सब
अनेहसं	जहाँ विनाश का भय नहीं है,	द्विषः	शत्रु
		परि वृणक्ति	दूर होते हैं (और)
पन्थां	ऐसे मार्ग को	वसु विन्दते	हम धन प्राप्त करते है ॥ २९ ॥
प्रति पद्महि	हम प्राप्त होते हैं,		

आविश	प्रवेश करो।	वः	आपके
स्वान	हे उपदेशकर्ता !	एते	ये (जो)
भ्राज	तेजस्वी,	सोमक्रयणाः	सोमक्रयण के पदार्थ हैं,
अङ्घारे	पापनाशक,	तान्	उनकी
बम्भारे	प्रगतिशील,	रक्षध्वम्	रक्षा करो।
हस्त	प्रसन्न,	वः	तुमको (कोई)
सुहस्त	हस्त-कौशल में अत्यंत दक्ष,	मा	नहीं
कृशानो	कृश को जिलाने-वाले	दभन्	दबावे ॥ २७ ॥

मित्रों का वर्धन करे हमारा मित्र सदा।
ऐसा सुमित्र आवे, हो हमको प्राप्त सदा ॥
मित्रों के वर्धन से होता कल्याण अमित।
संग्रह, संवर्धन सन्मित्रों का करो सतत ॥
अपनी उन्नति की इच्छा करो सदा मानव।
सबको सुख दो रह सर्वभूतहित-रत[1] नित नव ॥
दक्षिण[2]-विस्तार इन्द्र का है जो सुखद परम।
उसमें तुम करो प्रवेश देश वह है निरुपम ॥
जो हैं स्वराष्ट्र के शत्रु, करो निःशेष सकल।
तुम बनो राष्ट्र की उन्नति के साधन प्रतिपल ॥
उपदेश करो मंगलमय, बनो पापनाशक।
तुम रहो तेज से मंडित, उन्नतिशील मुदित ॥
बनकर सुहस्त संपादन अपने करो कर्म।
'कृश अनो' बनो, दीनों की सेवा परम धर्म ॥
ये ही गुण हैं वे जिनसे होता सोम-क्रयण।
रक्षण, संवर्धन करो सजग उनका क्षण-क्षण ॥
इन सप्त गुणों का कवच करो धारण मानव।
तुम रहो अदम्य सुमित्रों से परिवृत नित नव ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को सात गुणों को धारण करने का उपदेश दिया गया है। वे सात गुण हैं— उत्तम हितकारी उपदेश देने की प्रतिभा (स्वान), तेजस्विता (भ्राज-गुण), पाप नाश करने का संकल्प (अंध-अरे), प्रगति से भरपूर (बं-भारे), सदा प्रसन्न

---

१ सब प्राणियों के कल्याण में लगे हुए; २ इन्द्र का सुखदायक दक्षता से चलाया राज्य।

ऊपर द्युलोक है, अंतरिक्ष है विस्तृत।
धारण करते परमेश्वर महाशक्ति नित॥
सम्राट् विश्व के वे भुवनों के अधिपति।
नापते सदा वे विस्तृत धरती की मिति[1]॥
हे वरुण! वही वरणीय श्रेष्ठ प्रभु सबके।
अंदर - बाहर हैं विद्यमान प्रभु सबके॥
सब कर्म उन्हीं के उनसे ही संचालित।
जानते ईश की हैं हम यह महिमा नित॥ ३०॥

टि०—इस मंत्र में 'अदित्याः त्वक्' का अर्थ है, अदीनता, स्वतंत्रता ओर अखंडता के भाव का रक्षक। 'वृषभः' शब्द ईश्वर की शक्तिमत्ता का द्योतक है। 'वरुण' का अर्थ है श्रेष्ठ प्रभु! 'विश्वा व्रतानि' का अर्थ है सब कर्म उन्हीं श्रेष्ठ प्रभु के हैं। ३०

वनेषु व्युन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयं उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥ ३१॥

वरुणः	वरुणदेव ने	हृत्सु	हृदयों में
वनेषु	वनों में	क्रतुं	यज्ञ,
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को	विक्षु	प्रजाओं में
वि ततान	विशेष रूप से फैलाया।	अग्नि	अग्नि,
		दिवि	द्युलोक में
अर्वत्सु वाजं	(उन्होंने) घोड़ों में बल,	सूर्यं	सूर्य (तथा)
		अद्रौ	पर्वत पर
उस्रियासु	गायों में	सोमं	सोम को
पयः	दूध,	अदधात्	स्थापित किया॥ ३१॥

वरणीय देव हे वरुण! अये परमात्मन्!।
विरचा तुमने यह गगन और ये सब वन॥
है बीच वनों के अंतरिक्ष फैलाया।
वैद्युतिक वेग है तुमने ही उपजाया॥
अश्वों में बल, गायों में पय की धारा।
क्रतुमय[2] मानव का उर है दान तुम्हारा॥

१ सीमा या विस्तार; २ यज्ञ की भावना से भरा।

स्वस्ति-गमन के योग्य मार्ग हम प्राप्त करें वह।
भय विनाश का नहीं जहाँ है किंचित् अहरह ॥
ऐसे पथ पर चलें, करें हम प्रगति निरंतर।
शत्रु सकल हों ध्वस्त, प्राप्त हों सब इच्छित वर ॥
धन-समृद्धि की वृद्धि करो नित नव जगदीश्वर।
सुखमय जीवन करो निखिल दुख-हरण त्रासहर ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को जीवन का वह मार्ग चुनना चाहिए, जिसमें राग-द्वेष के लिए कोई स्थान न हो। २९

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीद। अस्तभ्नाद्द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः। आऽसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥३०॥

अदित्याः	अदीनता, अखंडता स्वाधीन-भाव के	अस्तभ्नात्	स्थिर रखते है।
त्वक्	रक्षक	पृथिव्याः	(वे) पृथ्वी के
असि	तुम हो।	परिमाणं	गुरुत्व या परिमाण
अदित्यैः	अदीनता के लिए	अमिमीत	नापते है।
सदः	यज्ञस्थान पर	सम्राट्	वे सम्राट्
आसीद	बैठो	विश्वा भुवनानि	सब भुवनों के
वृषभः	(वे) बलवान ईश्वर (वरुण)	आसीदत	अधिष्ठाता है।
द्यां	द्युलोक को,	वरुणस्य	वरुण राजा के ये
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को	विश्वा	सब
		व्रतानि इत्	कर्म हैं ॥ ३० ॥

तुम अदिति-भाव की त्वक्[1] हो हे जगदीश्वर!।
रक्षक आवरण अखंड-भाव के प्रभुवर! ॥
रक्षित तुमसे ही स्वाधीनता हमारी।
रक्षा करती हम सबकी शक्ति तुम्हारी ॥
यज्ञों में रहें अदीन, स्वतंत्र सदा हम।
सुस्थिर यज्ञों में करो सदैव हमें तुम ॥

१ त्वचा या खाल।

सूर्य, अग्नि और नेत्न तीनों एक तत्त्व से बने हैं, नेत्न सूर्य का अंश है। सूर्य चक्षु होकर शरीर में नेत्नेन्द्रिय बनकर विराजमान है। आँख की कनीनिका अर्थात् पुतली में अग्नि का तेज है। सूर्य, अग्नि और नेत्न तीनों के प्रकाश के स्रोत परमेश्वर हैं। मनुष्यों को इस तत्त्व को जानकर नेत्नेन्द्रिय को नीरोग रखते हुए परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए। सूर्य की किरणों से नेत्न की चिकित्सा होने का संकेत भी इस मंत्न में किया गया है। ३२

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥३३॥

उस्रौ	हे बैलो !
धूर्षाहौ	धुरा का भार वहन करनेवाले,
अनश्रू	अश्रुपात न करने वाले,
अवीरहणौ	वीरों को न मारनेवाले,
ब्रह्मचोदनौ	मंत्रों से प्रेरित होकर
एतं	इसमें
युजेथां	जुत जाओ (और)
स्वस्ति	कल्याण करते हुए
यजमानस्य	यजमान के
गृहान्	घरों के प्रति
गच्छतम्	जाओ ॥ ३३ ॥

जिस भाँति सूर्य ये और सकल विद्वज्जन।
करते हैं भू पर भार धर्म का धारण॥
वे अग्नि और जल की विद्युत् जाग्रत् कर।
रचते यानों को गमन-हेतु जो सुखकर॥
तुम सहनशील बन करो धैर्य धारण नित।
ऊर्जा अनंत अपने में करो सुयोजित॥
वृषभों से झेलो भार धर्म का असहन।
अति धैर्यवान, अतिशय अनश्रु[1] रहो प्रतिक्षण॥
वैदिक मंत्रों की महाशक्ति से ईड़ित।
गंतव्य मार्ग की ओर बढ़ो तुम अविरत॥
शूरों-वीरों का करो सदा संरक्षण।
तुम स्वस्ति-हेतु इस जग के करो संचरण॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्न में श्लेष है। इसमें बैलों के प्रतीक द्वारा मनुष्यों को धैर्यसहित, अपरिमित कष्ट सहन करते हुए भी अपने धर्म पर दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि विद्वानों को सूर्य और विद्युत् की शक्तियों को जाग्रत्

१ आँसू गिराये बिना।

जग के हित तुमने किया अग्नि का प्रकटन।
विरचा द्युलोक में सूर्य नित्य ज्योतिर्घन॥
विरचा है अद्रि-शिखर[1] पर सोम यज्ञ हित।
वन्दना तुम्हारी करते हैं हम प्रभु! नित॥ ३१॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि परमेश्वर अपनी सृष्टि के सब पदार्थों में उनके स्वाभाविक गुणों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे प्राणियों के लिए सुखों का विस्तार करते हैं। यज्ञ में सोम की आवश्यकता होती है, उसकी रचना उन्होंने हिमालय पर्वत पर की है। कहा जाता है, सोम १२००० फीट की ऊँचाई के पर्वत पर ही होता है। यज्ञों में हवन करने के बाद इस सोम का रस पिया जाता है। वह आरोग्य और दीर्घायु प्रदान करता है। परमात्मा सबके लिए वरणीय है, इसलिए उनका नाम 'वरुण' है। ३१

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥३२॥

सूर्यस्य	सूर्य की	यत्र	जहाँ (तुम)
चक्षुः	चक्षुरिन्द्रिय तुम	विप श्चिता	ज्ञान से युक्त
अग्नेः	अग्नि की,	भ्राजमानः	तेजस्वी होकर
अक्ष्णः	आँख की	एतशेभिः	किरणों से
कनीनकं	पुतली पर	ईयसे	गति (को प्राप्त)
आरोह	आरोहण करो,		करते हो॥ ३२॥

सूर्य के तेज से निर्मित नेत्रेन्द्रिय यह।
है अग्नि-तत्त्व से निर्मित कनीनिका[2] यह॥
हे नेत्र! करो आरोहण तुम पुतली पर।
परिपूरित रहो प्रकाश-रूप से निर्भर॥
यह सूर्य और यह अग्नि एक हैं दोनों।
यह नेत्र उन्हीं से बना एक हैं तीनों॥
परमेश्वर! तुमसे ही है सूर्य प्रकाशित।
तुमसे ही रहता पावक सदा प्रज्वलित॥
हैं नेत्र प्रकाशित पाकर शक्ति तुम्हारी।
स्वीकार करो प्रभु! यह अर्चना हमारी॥ ३२॥

टि०—यह मंत्र नेत्र की शक्ति की मीमांसा करता है। इसमें बताया गया है कि

---

१ पर्वत की चोटी; २ पुतली।

यजमानों - यज्ञकृतों के घर जा - जाकर ।
शुचि संस्कारों से दूँ उनका जीवन भर ॥ ३४ ॥

टि०—इस मंत्र में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य कल्याणकारी कर्म करता हुआ सर्वत्र विचरण करे। वह प्रकृति की शक्तियों को जानकर ऐसे यानों का निर्माण करे, जिनमें श्येन का बल भरा हो और वे सुदूर देशों तक ले जा सकें। ३४

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत ।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसत ॥३५॥

मित्रस्य	मित्र के	सूर्याय	सूय को
वरुणस्य	और वरुण के	नमः	नमस्कार है।
चक्षसे	प्रकाश-रूप	तत्	वह
महो देवाय	महादेव को,	ऋतं	यज्ञ
दूरे दृशे	दूरदर्शी	सपर्यत	करते रहो।
देवजाताय	देवता-समूह-रूप	शंसत	उसकी प्रशंसा
केतवे	ज्ञानप्रद		करो ॥ ३५ ॥
दिवस्पुत्राय	द्युलोक के पुत्ररूप		

हे मित्र वरुण के परम प्रकाशक महादेव ! ।
हे दूरदृशे[1] ! हे सुर समष्टिमय देवदेव ! ॥
हे दिवस्पुत्र ! हे सूर्य ! तुम्हें है नमस्कार ।
हे देव - प्रसविता ! सविता तुमको नमस्कार ॥
तुम केतु-सदृश रहते हो नभ में शोभमान ।
विश्वतश्चक्षु[2] तुम वंदनीय सबसे महान ॥
समुदित हो प्रभु ! हम करें यज्ञ का समारंभ ।
हम करें देव-गुण-गान, शक्ति दो ज्योतिस्कंभ[3] ॥ ३५ ॥

टि०—इस मंत्र में सूर्यदेव के गुण-गौरव का भक्तिपूर्ण कथन किया गया है। वे महादेव हैं, विश्व के चक्षु हैं। वे द्युलोक के पुत्र हैं, सबके वन्दनीय हैं। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के संदर्भ में लिखा, "परमेश्वर के समान समर्थ वा सूर्य के समान कोई लोक नहीं, ऐसा जानना चाहिए।" ३५

---

१ दूरगामी दृष्टिवाले, २ सब ओर नेत्रोंवाले; ३ प्रकाश के आधार।

कर सुखकर यानों का निर्माण करना चाहिए। धर्म के लिए बड़े से बड़े कष्ट सहते हुए भी अनश्रु रहना चाहिए, आँसू नहीं गिराने चाहिए। ३३

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्य भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि। मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्। श्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सँस्कृतम् ॥३४॥

भुवः पते	हे पृथ्वीपति !	अघायवः	पापी
मे	मेरे लिए	वृका	भेड़िये
भद्रः	कल्याणकारी	त्वा	तुमको
असि	(तुम) हो।	मा	न
विश्वानि	सब	विदन्	जानें।
धामानि	धामों को	श्येनः	बाज पक्षी जैसे
अभि प्रच्यवस्व	सब प्रकार से प्राप्त हो।	भूत्वा	होकर
		परापत	दूर-दूर जाओ।
त्वा	तुमको	यजमानस्य	यजमान के
परिपरिणः	चोर या दुर्जन	गृहान्	उन घरों के प्रति
मा	न	गच्छ	जाओ,
विदन्	जानें।	यत्	जिनको
त्वा	तुमको	नौ	हमने
परिपन्थिनः	बटमार	संस्कृतम्	संस्कार करके (परिमार्जित करके) रखा है ॥ ३४ ॥
मा	न		
विदन्	जानें।		

हे भुवस्पते ! कल्याण करो तुम मेरा।
सब स्थानों पर निर्बाध गमन हो मेरा॥
ये स्तेन[1] कर्मरत वृकगण[2] निकट न आवें।
परिपंथी पथ में मुझको नहीं सतावें॥
सब पाप-रूप वृक मुझसे रहें अपरिचित।
भर वेग श्येन[3] का करूँ दूर विचरण नित॥

१ चोरी का काम; २ भेड़िये; ३ बाज़।

सोम	हे सोम !
ते	तुम्हारे
या	जो
धामानि	धाम (जहाँ)
हविषा	हवि से
यज्ञं	यज्ञ को
यजन्ति	संपन्न करते हैं,
ते विश्वा	वे सब स्थान-
ता	तुमसे (हमको)
परिभूः	प्राप्त
अस्तु	हों।
गयस्फानः	घर का विस्तार करनेवाले,
प्रतरणः	तारनेवाले
सुवीरः	उत्तम वीर
अवीरहा	शत्रुओं का नाश करनेवाले होकर
दुर्यान्	(तुम) यज्ञगृहों के प्रति
प्र आ चर	प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

हे सोम ! तुम्हीं से होते यज्ञ अनुष्ठित।
हों धाम तुम्हारे प्राप्त सोम ! हमको नित॥
तुम प्राप्त कराओ धाम स्वकीय अनुत्तम।
हवि देकर जिनसे यज्ञ पूर्ण करते हम॥
तुम यज्ञ-भवन के प्रथित परम विस्तारक।
तुम हो अप्रतिभट[1] वीर सभी के तारक॥
तुम हो रक्षक, तुम वीरों के निर्माता।
कादर्य - दलन हो तुम हे शौर्य - विधाता !॥
अरिगण को कर निःशेष यहाँ तुम आओ।
आओ इस यज्ञ - भवन में शोभा पाओ॥
ऋतु-भाव विवर्धित करो देव ! उर-उर में।
हों यज्ञ अनुष्ठित प्रति गृह में, प्रति पुर में॥ ३७ ॥

टि०—सोम यज्ञ का अपरिहार्य तत्त्व है। यज्ञ में उसका अनेक प्रकार से उपयोग होता है। सोम के अनेकानेक गुणों का कथन इस मंत्र में है। वह कायरता को नष्ट कर सबके हृदयों में वीरता का संचार करता है। इसीलिए उसको वीरों का निर्माता कहा गया है। वह उत्तम वीर है, क्योंकि वह अप्रतिभट है। वैसा वीर कोई और नहीं। इस मंत्र में यह निर्देश किया गया है कि मनुष्य यज्ञों का अनुष्ठान करे। ३७

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

---

१ जिसके समान कोई दूसरा वीर नहीं।

वरुणस्योत्तम्भनमसि[1] वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो[2] वरुणस्य ऋतसदन्यसि[3] वरुणस्य ऋतसदनमसि[4] वरुणस्य ऋतसदनमा सीद[5] ॥३६॥

वरुणस्य	वरुण का	ऋतसदनी असि	यज्ञ में आसन के समान हो।
उत्तम्भनं	उत्कर्ष	वरुणस्य	वरुण के
असि	तुम हो।	ऋतसदनं	यज्ञ के स्थान
वरुणस्य	वरुण का	असि	हो।
स्कम्भसर्जनी	निरोध करनेवाली (तुम दोनों शक्तियाँ)	वरुणस्य	वरुण के
स्थः	हो।	ऋतसदनं	यज्ञस्थान में
वरुणस्य	वरुण के	आसीद	बैठो ॥ ३६ ॥

हे जगदीश्वर ! वरणीय वरुण ! तुम सबके प्रभु ! ।
उत्तंभन[४] से ही प्राप्य सदा हो तुम हे विभु ! ॥
उत्तंभन में आसुरी शक्तियाँ हैं बाधक ।
उनका निरोध कर सकें इष्ट हैं सह-साधक[५] ॥
ऐसे जन करें सहाय करें हम लक्ष्य सिद्ध ।
ऋत-सदन[६] करें हम प्राप्त यज्ञ-ज्वाला-समिद्ध ॥
हम बनें यज्ञ में वरुणदेव के शुचि आसन ।
हम रहें वरुण के निकट करें ऋतमय जीवन ॥ ३६ ॥

टि०—वरुण वरणीय देव हैं, जगदीश्वर हैं। उनको 'उत्तंभन' के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'उत्तंभन' का अर्थ है उन्नत होकर जाना। उन्नत होकर जाने के मार्ग में, आसुरी शक्तियाँ बाधक होती हैं। उन शक्तियों का विरोध करनेवाले सहसाधक सहयाली सहायता करें, यह आवश्यक है। उन्हीं के सहयोग से ऋतसदन अर्थात् समिद्ध ज्वालाओं से मण्डित यज्ञ-सदन तक पहुँचा जा सकता है। प्रभु को प्राप्त करने का सरल मार्ग यही है। मनुष्य को ऋतसदन यज्ञ का सेवन करना चाहिए। ३६

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्[1] ॥३७॥

[अध्यायः ४, कण्डिकाः ३७, मन्त्र-संख्या ८२]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

४ उत्कर्ष; ५ सहयोगी, साधना करनेवाले; ६ ऋत का घर।

तुम हो आतिथ्य अतिथियों के हे सोम ! आप्त।
तुमसे ही अतिथिदेव की होती प्रीति प्राप्त॥
हों विष्णु सर्वव्यापी परमेश्वर प्रीतिमान।
इसलिए सोम ! स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं॥
सोम का भरण-पोषण करते जो श्येन* कुशल।
हों वे प्रसन्न, वे रहें निरंतर प्रीतिमान॥
दें विष्णु सर्वव्यापी परमेश्वर कृपादान।
इसलिए सोम ! स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं॥
धन और पुष्टिदाता[1] परमेश्वर के समान।
वंदित अभिनंदित यज्ञों में तुम हो महान॥
धन - पुष्टि - प्रदायक परमेश्वर हो प्रीतिमान।
इसलिए सोम ! स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं॥ १ ॥

टिप्पणी—* इस मंत्र में 'श्येन' शब्द आया है। जो सोमलता का रोपण करता है, उसका पालन-पोषण करता है, वह श्येन कहा जाता है। सोम स्वास्थ्यप्रद है। स्वस्थ व्यक्ति प्रभूत धन का अर्जन कर सकता है। सोमरस आतिथ्य-सत्कार का एक प्रमुख साधन है। १

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥२॥

अग्नेः	अग्नि के	गायत्रेण	गायत्री
जनित्रं	जन्म-दाता	छन्दसा	छन्द के द्वारा
असि	हो;	त्वा	तुमको
वृषणौ स्थ	वीर्य को देनेवाले हो;	मन्थामि	(मैं) मथता हूँ।
उर्वशी	उर्वशी (सबको वश में रखनेवाले)	त्रैष्टुभेन	त्रिष्टुप्
		छन्दसा	छन्द के द्वारा
असि	हो।	त्वा मन्थामि	तुमको मथता हूँ।
आयुः असि	(तुम) आयु हो;	जागतेन	जगती
पुरूरवाः	उत्तम और बहुत भाषण करनेवाले	छन्दसा	छंद के द्वारा
		त्वा	तुमको
असि	हो।	मन्थामि	मथता हूँ॥ २ ॥

१ 'पोषणं तदनुग्रहः— भगवान के अनुग्रह को पोषण कहते हैं।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा
ऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे
त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा ॥१॥

अग्नेः	(हे सोम ! तुम) अग्नि के
तनूः	शरीर
असि	हो।
विष्णवे	सर्वव्यापक परमात्मा के प्रीति-भाजन होने के कारण
त्वा	(मैं) तुम्हें (स्वीकार करता हूँ)।
सोमस्य	सोम के
तनूः असि	(तुम) शरीर हो।
विष्णवे	विष्णु की प्रीति के लिए
त्वा	(मैं) तुमको (स्वीकार करता हूँ)।
अतिथेः	(हे सोम ! तुम) अतिथि का
आतिथ्यम्	अतिथि-सत्कार (करनेवाले)
असि	हो।
विष्णवे	विष्णु के लिए
त्वा	तुमको (मैं स्वीकार करता हूँ)।
सोमभृते	सोम धारण करने वाले तुम
श्येनाय	श्येन के समान हो।
विष्णवे	विष्णु के लिए
त्वा	तुमको (मैं स्वीकार करता हूँ)।
रायस्पोषदे	धन का पोषण करनेवाले
विष्णवे	विष्णु के सदृश
अग्नये	अग्नि की प्रीति के लिए
त्वा	तुमको (मैं स्वीकार करता हूँ)॥ १ ॥

पञ्चम अध्याय

हे सोम ! अग्नि के हो शरीर तुम कान्तिमान।
हो विष्णु सर्वव्यापी परमेश्वर प्रीतिमान॥
इसलिए सोम ! स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं।
हे सोम ! सोमरस के शरीर हो तुम महान॥
दें विष्णु सर्वव्यापी परमेश्वर भक्तिदान।
इसलिए सोम ! स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं॥

तुमसे हों रक्षित यज्ञ रहें अक्षत वे नित।
यजमान रहें अविनष्ट और हिंसावर्जित ॥
तुम दोनों रहो हमारे हित संतत शिवकर।
अग्नियो ! हमारे हेतु बनो तुम मंगलकर ॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र में दो अग्नियों से प्रार्थना की गई है। अग्नि के स्वरूपों के विषय में पूर्ववर्ती मंत्रों में संकेत प्राप्त होते हैं। महर्षि दयानंद के अनुसार अग्नि कारण-कार्य भेद से दो प्रकार का है। कारण-रूप से विद्युत्-स्वरूप अग्नि सबमें प्रवेश कर रहा है। कार्य-रूप से वह सूर्यादि में प्रकाशमान है। गार्हस्पत्य और आहवनीय इसके दो रूप प्रसिद्ध हैं। ३

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा[1] ॥४॥

ऋषीणाम्	ऋषियों के	सुयजा	सुन्दर यज्ञ होवेवाले
पुत्रः वा	पुत्ररूप तथा	इह	इस स्थान में
अभिशस्तिपा	अभिशाप से याजकों की रक्षा करनेवाला	सदम्	सदा
अग्निः	अग्नि	अप्रयुच्छन्	प्रमाद-रहित होकर
अग्नौ	आहवनीय अग्नि में	देवेभ्यः	देवताओं के लिए
प्रविष्टः	प्रविष्ट होकर	हव्यं	हवि का
चरति	रहता है।	यज	यजन करो;
सः	वह (तुम अग्नि !)	स्वाहा	(तुम्हारे लिए) यह आहुति अर्पित है ॥ ४ ॥
नः	हमारे लिए		
स्योनः	सुखदायी होकर		

ऋषियों के पुत्ररूप में अग्नि प्रकट हो तुम।
नरकों से ऋषियों की रक्षा करते हो तुम।
याजक की रक्षा करते अभिशापों से तुम ॥
अग्रणी और पथदर्शक हो समाज के तुम।
हे अग्नि ! वही तुम रहो सर्वदा सुखदायी ॥
यज्ञों में करो सहाय रहो मंगलदायी।
हो अप्रमाद[1] देवों तक पहुँचाओ हवि तुम ॥
हे अग्नि ! तुम्हें अर्पित करते यह आहुति हम।

---

१ आलस छोड़कर;

हे सोम! अग्नि के हो उत्पादनकर्त्ता।
ऊष्मा[1] के बल के तुम हो सुविदित भर्ता॥
सेवन करने से वीर्यवृद्धि करते हो।
बहुसंख्यक जनगण को वश में करते हो॥
तुम स्वयं आयु हो, हो विश्वायु[2]-प्रदायक।
तुम पुरूरवा[3] हो भाषण-शक्ति-विधायक॥
गाकर गायत्री छंद तुम्हें मथता हूँ।
त्रिष्टुप् के द्वारा आलोड़न करता हूँ॥
करता गा जगती छंद सदा आवाहन।
हे सोम! पधारो करो यज्ञमय जीवन॥ २॥

टि०—इस मंत्र द्वारा यज्ञ में सोमरस निकालने की क्रिया का निर्देश किया गया है। गायत्री, जगती और त्रिष्टुप् छंद बोलकर उसका आवाहन किया जाता है। सोम को उर्वशी अर्थात उरु+वशी कहा गया है, जिसका अर्थ है-बहुसंख्यक जनों को अपने वश में करनेवाला। २

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ
शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

जातवेदसौ	हे दोनों अग्नियो!	हिंसिष्टम्	विनष्ट होने दो।
नः	हमारे लिए	यज्ञपतिम्	यज्ञपति (यजमान) को
समनसौ	एकाग्रमन	मा	विनष्ट न होने दो।
सचेतसौ	समान चित्तवाले	अद्य	आज
अरेपसौ	भ्रम-प्रमाद-रहित	नः	हम लोगों के लिए
भवतम्	हो जाओ।	शिवौ	मंगल करनेवाले
यज्ञं	यज्ञ को	भवतम्	हो जाओ॥ ३॥
मा	मत		

हे उभय अग्नि! तुम करो हमें एकाग्रचित्त।
हों हम समान-मन और निरंतर एकचित्त!॥
हो भ्रम-प्रमाद से रहित सकल अपना जीवन।
हम एक-प्राण हों करें राष्ट्र का संवर्धन॥

१ गर्मी; २ पूर्णायु; ३ बहुत रव या शब्द करनेवाले।

देवों के बल की वृद्धि सदा करते हो तुम।
अनवद्य[1] देव! अनवद्य सदा तुम-से हैं हम॥
हे अनाधृष्य! हम भी हैं तुम-से अनाधृष्य।
है प्राप्त तुम्हारी शक्ति हमें जो परम दिव्य॥
तुम हो अनिंद्य, हम भी हैं तुम-से ही अनिंद्य।
ऋजु[2] पथ से प्राप्त कराओ हमको स्थान वंद्य[3]॥
हम करें अहिंसामय सत्याश्रित यज्ञकर्म।
अंतर में स्थापित करो हमारे पूर्ण धर्म॥
जीवन का, जग का सत्य-तत्त्व हम करें प्राप्त।
मेरे कर्मों में अभिव्यक्त हो धर्म आप्त॥ ५॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि भगवान में जो अनंत गुण और शक्तियाँ हैं, उनका चिदंश मानव में भी विद्यमान है। मनुष्य को उन गुणों और शक्तियों को जाग्रत करना चाहिए। सत्याश्रित यज्ञ-कर्म के अनुष्ठान से यह संभव है। मनुष्य को इन ईश्वरीय गुणों को अपने में जाग्रत करने के लिए परम पुरुषार्थ करना चाहिए। ५

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियᳬं
सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि।
सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां
दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥६॥

व्रतपा	व्रत के पालक
अग्ने	हे अग्निदेव!
त्वे	तुम्हारे अन्दर
व्रतपाः	व्रत के पालक रहें।
तव	तुम्हारा
या	जो
तनूः	शरीर है,
सा	वह
इयम् मयि	मुझमें व्याप्त हो।
या	जो
मम	मेरा
तनूः	शरीर है,
सा	वह
एषा त्वयि	तुममें रह जाय।
व्रतपते	हे व्रतपालक!
नौ सह	हम दोनों साथ रहें।
दीक्षापतिः	दीक्षा देनेवाला
मे दीक्षाम्	मेरी दीक्षा को
अनुमन्यताम्	माने।
तपस्पतिः	तप का पति
तपः	(मेरे) तप को
अनु	माने॥ ६॥

१ अनिंद्य; २ सरल; ३ वंदनीय।

यज्ञों के साधक अग्नि! तुम्हारे हित स्वाहा।
देवता तुष्ट हों अग्नि! तुम्हारे हित स्वाहा॥ ४॥

टि०—अग्नि ऋषियों को नरक से बचाता है, इसलिए वह ऋषियों का पुल कहा गया है। सूर्य और विद्युत् अग्नि के ही रूपान्तर हैं। मनुष्यों को इनका विज्ञान अर्जित कर लोक-कल्याण करना चाहिए। यह इस मंत्र का निर्देश है। ४

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभि शस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ॥५॥

त्वा	तुमको
परिपतये	सबके स्वामी
तनूनप्त्रे	शरीर से पौत्र के समान
शाक्वराय	सबमें प्रिय,
शक्वने	समर्थ,
ओजिष्ठाय	बलवान,
आपतये	सदा गतिशील (के रूप में)
गृह्णामि	मै ग्रहण करता हूँ।
अनाधृष्टम्	अद्यावधि अतिरस्कृत (तथा)
अनाधृष्यम्	तिरस्कृत न होने योग्य हो।
देवानाम् ओजः	देवताओं का बल बढ़ानेवाले (तथा)
अनभिशस्ति	अनिंदनीय,
अभिशस्तिम्	निंद्य कर्म से बचानेवाले
असि	(तुम) हो।
आ अञ्जसा	सीधे मार्ग से
अनभिशस्त्येन्यम्	अनिंद्य स्थान को प्राप्त करानेवाले हो।
सत्यम्	सच्चे भाव से
उपगेषम्	(हम) यज्ञ करते हैं।
स्विते	शोभन मार्गवाले यज्ञकर्म में
मा	मुझको
धाः	स्थापित करो॥५॥

तुम हो समर्थ रक्षा करने में प्रभु! सब विधि।
रक्षक पालक के सर्व गुणों की हो तुम निधि॥
पौत्र के सदृश प्रिय और सभी से शक्तिमान।
गतिशील सतत, सबके स्वामी सबसे महान॥
इन रूपों में मैं तुम्हें ग्रहण करता सदैव।
हे अनाधृष्ट[1]! हे अनाधृष्य[2]! हे देवदेव!॥

१ अपराजित; २ अपराजेय।

आप्यायताम् वृद्धि को प्राप्त हो जाओ।
त्वम् तुम
इन्द्राय इन्द्र के लिए
आप्यायस्व वृद्धि को प्राप्त हो जाओ।
सखीन् हमारे मित्रों के लिए
अस्मान् हमारी
सन्या मेधया धनदान बुद्धि के द्वारा
आप्यायस्व तुम वृद्धि को प्राप्त करो।
देव सोम हे दीप्तिमान सोम !
ते तुम्हारा
स्वस्ति कल्याण हो।
सुत्याम् अशीय (मैं) सोमयज्ञ पूरा करूँ ऐसा करो।
एष्टाः अभिवांछित
रायः धनों को
प्रेषे (मुझे) प्राप्त कराओ।
भगाय ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए
ऋतवादिभ्यः सत्यवादियों का
ऋतम् सच्चा मार्ग बताओ।
द्यावापृथिवीभ्याम् द्यावापृथ्वी में जो वंदनीय हैं,
नमः उनको नमस्कार है ॥ ७ ॥

हे दिव्य सोम ! प्रति अंशु[1] तुम्हारा प्रति अवयव।
इन्द्र - हित सुरक्षित रहे, वृद्धि पावे नित नव ॥
धनवान इन्द्र के लिए सोम ! तुम बढ़ो नित्य।
तुमको पाकर इन्द्र की वृद्धि हो सिद्ध नित्य ॥
दीप्तिमत्[2] सोम ! कल्याण तुम्हारा हो अनुदिन।
हम करें विधि - सहित सोमयज्ञ का संपादन ॥
तुम प्राप्त कराओ हमें अपेक्षित धन प्रभूत[3]।
हम चलें सत्य पथ पर पावें वैभव अकूत[4] ॥
ऐश्वर्य प्राप्ति का करो प्रदर्शित सत्य मार्ग।
द्यावा - पृथिवी में वंदनीय जन का सुमार्ग ॥
द्यावा - पृथिवी में वंदनीय को नमस्कार।
धनप्राप्ति हेतु हे सोम ! तुम्हें है नमस्कार ॥ ७ ॥

टि०—महर्षि दयानंद के अनुसार सोम का अर्थ है पदार्थ-विद्या को जाननेवाला अर्थात् जगदीश्वर। उनके अनुसार इस मंत्र में आदेश दिया गया है कि मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की सेवा और विद्युत-विद्या का प्रचार कर जीवन को आनंदमय बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस मंत्र में इन्द्र और सोम के रूपक द्वारा परस्पर सहयोगपूर्ण जीवन बिताने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मनुष्य को दैवी और लौकिक दोनों प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। ७

---

१ किरण; २ प्रकाशमान; ३ प्रचुर; ४ अपरिमित।

हे व्रतपालक अग्नि ! रहें व्रतपालक साथ तुम्हारे ।
व्याप्ति तुम्हारी मिले हमें, हम इन्द्रियजय व्रत धारें ॥
तेज-ज्वलित तन हमें प्राप्त हो ऊष्माबलित[४] तुम्हारा ।
तपस्तेज से रहे तुम्हारे पूरित जीवन सारा ॥
हे व्रतपालक अग्नि ! रहें हम दोनों साथ निरंतर ।
दीक्षापति अनुकूल रहें दीक्षा का अनुमोदन कर ॥
सानुकूल गुरु-शिष्य परस्पर करें व्रतों का पालन ।
विद्या-बुद्धि वृद्धि हो उनको धर्मशुद्ध हो जीवन ॥
तपोव्रती आचार्य करें उत्तम तप का अनुमोदन ।
तपोव्रती अंतेवासी[५] पावें उत्तम पथदर्शन ॥
रहें सदा अनुकूल शिष्य-गुरु ज्ञानसाधना में रत ।
तप से पूरित रहे परस्पर सिद्ध करें साधन-व्रत ॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों को अग्नि-जैसा तेजस्वी जीवन-यापन करने का उपदेश दिया गया है। विशेष रूप से इस मंत्र में गुरु-शिष्य के आदर्श संबंधों पर बल दिया गया है। तपस्वी आचार्यगण अपने शिष्यों का उत्तम मार्ग-दर्शन करें, वे एक-दूसरे के प्रति सदैव अनुकूल रहें, यह इस मंत्र का विशेष निर्देश है। ६

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे ।
आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व ।
आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते
देव सोम सुत्यामशीय ।
एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो
द्यावापृथिवीभ्याम् ॥७॥

देव सोम	हे दिव्य गुणयुक्त सोम !
ते	तुम्हारे
अंशुः अंशुः	अंश-अंश
एक धनविदे	धन को पास रखनेवाले
इन्द्राय	इन्द्र के लिए
आप्यायताम्	वृद्धि को प्राप्त हो जाओ।
तुभ्यम्	तुम्हारे द्वारा
इन्द्रः	इन्द्र

४ उष्णता से युक्त, ५ शिष्य ।

गह्वरेष्ठा	असुरों के विषम देश में रहनेवाला है,	अपावधीत्	नाश करता है,
उग्र	वह तुम्हारा शरीर असुरों की उग्र	त्वेषं	असुरों के आक्षेप
वचः	वाणी का	वचः	वचनों का
		अपावधीत्	नाश करता हुआ
		स्वाहा	उसके लिए यह आहुति अर्पित है ॥ ८ ॥

हे अग्नि ! तुम्हारा विदित लौहमय जो निवास।
देवों को देता वह अभिमत फल अनायास॥
असुरों के विषम देश में भी रहकर संस्थित।
तुम करते उनके उग्र वचन सब अपवादित[1] ॥
हे अग्नि ! तुम्हारे हित अर्पित यह हवि स्वाहा।
हे अग्नि ! तुम्हारा प्रथित रजतशायी[2] जो तन॥
देवों पर करता वह अभिमत फल का वर्षण।
असुरों के विषम देश में भी करके निवास॥
उनके अत्युग्र वचन का करता है निरास[3]।
करता विनष्ट वह असुरों के आक्षेप वचन॥
जिनका प्रहार वे करते देवों पर अनुदिन।
हे अग्नि ! तुम्हारे हित अर्पित यह हवि स्वाहा॥
हे अग्नि ! तुम्हारी देह रौक्म[4] है, गेह प्रथित।
बरसाते हो देवों पर तुम अभिमत फल नित॥
असुरों के विषम देश में रहते हुए सतत।
करते आक्षेप वचन उनके निरस्त[5] अविरत॥
दैत्यों के उग्र वचन का करते सदा नाश।
करते कृतज्ञ हम अग्ने ! अर्पित हवि स्वाहा॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के लौह, रजत और स्वर्ण के तीन प्रकार के घर बतलाये गये हैं। यह त्रिपुर के पौराणिक रूपक का मूल वैदिक रूप है। सब पदार्थों में अग्नि का निवास है। उसके द्वारा सुरों का और देवकल्प मनुष्यों का हित-साधन होता है और वह असुरों किंवा दैत्यशील दुराचारी मनुष्यों के उद्यम को विफल करता है। यही परमेश्वर का स्वभाव है। ८

१ वचन द्वारा विरोध; २ चाँदी में सोनेवाला; ३ खंडन; ४ सोने का; ५ खंडित या असिद्ध।

या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ।
या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ।
या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ॥८॥

अग्ने	हे अग्नि !
या	जो
ते	तुम्हारा
तनूः	शरीर
अयःशया	लोहस्थान में निवास करनेवाला,
वर्षिष्ठा	देवों पर अभिमत फल की वृष्टि करनेवाला,
गह्वरेष्ठा	असुरों के विषम देश में स्थित रहनेवाला है,
स्वाहा	उसके लिए यह आहुति अर्पित है।
उग्रं	(यह तुम्हारा शरीर) दैत्यों की उग्र
वचः	वाणी को
अपावधीत्	नाश करनेवाला है;
त्वेषं वचः	असुरों के आक्षेपपूर्ण वचनों को
अपावधीत्	नष्ट करनेवाला है।
अग्ने	हे अग्नि !
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है
या ते	जो तुम्हारा
रजः शया	रजःस्थान अर्थात् चाँदी में वास करनेवाला
तनूः	शरीर है,
वर्षिष्ठा	(जो)अभिमत फल बरसानेवाला तथा
गह्वरेष्ठा	असुरों के विषम देश में रहनेवालाहै ।
उग्रं वचः	(जो) दैत्यों की उग्र वाणी का
अपावधीत्	नाश करता है,
त्वेषं वचः	असुरों के आक्षेप-रूप वचनों का
अपावधीत्	विनाश करता है
स्वाहा	उस तुम्हारे शरीर को यहआहुति अर्पित है ।
अग्ने	हे अग्नि !
या ते	जो तुम्हारा
हरिशया	सुवर्णगृह में वास करनेवाला
तनूः	शरीर है,
वर्षिष्ठा	देवताओं पर अभिमत फलों की वर्षा करनेवाला तथा,

यः	जो तुम	आदधे	(मैं)स्थापित करता हूँ।
तृतीयस्याम्	तीसरी	देववीतये	(हे मृत्तिके !) देवताओं की प्रीति के लिए
पृथिव्याम्	पृथ्वी अर्थात्		
असि	द्युलोक में स्थित हो,		
यत् ते	जो तुम्हारा रूप	त्वा	तुमको
यज्ञियम्	यज्ञ योग्य	अनु	(मैं)स्वीकार करता हूँ ॥ ९ ॥
अनाधृष्टम् नाम	तिरस्कार-रहित है,		
तेन त्वा	तुम्हारे उस रूप को		

हे तप्तायनी अग्नि ! हो ऊष्मावर्धक[1] तुम।
हे वित्तायनी अग्नि ! हो धन - संवर्धक तुम॥
तुम हो नभ से उत्पन्न जानता हूँ यह मैं।
याचना-दशा[2] से मुझको सदा बचाओ तुम॥
अंगिरा अग्नि हे ! आयु रूप धरकर आओ।
मेरे अंगों में अपनी ऊष्मा सरसाओ॥
मृत्युंजय - जप तुम्हारा मुझमें रहे व्याप्त।
अंगिरा अग्नि ! दीर्घायु रूप धरकर आओ॥
इस पृथ्वी पर जो यज्ञयोग्य जो अनाधृष्ट[3]।
हैं पूजनीय जो और सदा जो महोत्कृष्ट[4]॥
मैं वरण कर रहा उन्हें तुम्हारा रूप मान।
पृथ्वी के सब उत्तम रूपों में तुम प्रविष्ट॥
कर रहा यहाँ मैं देव ! तुम्हारा संस्थापन।
नभ-अग्नि नाम से करता हूँ सूर्य का कथन॥
आंगिरस अग्नि ! दूसरी धरा यह परम व्योम।
उसपर समुदित लख तुमको करता सदा वरण॥
हे अग्नि ! तुम्हारा स्थान धरा है यह तृतीय।
जो अनाधृष्ट जो यज्ञ योग्य जो है वरीय॥
देवों की प्रीति पुनीत करूँ मैं संपादन।
इसलिए यहाँ संस्थापन मैं करता त्वदीय॥
कर सकूँ देवताओं की अविरत प्रीति प्राप्त।
मृत्तिके ! विनत स्वीकार तुम्हारा करता हूँ॥ ९ ॥

१ उष्णता बढ़ानेवाले; २ किसी से माँगने की अवस्था; ३ अपराजित; ४ अत्यंत श्रेष्ठ।

तप्तायनी मेऽसि[1] वित्तायनी मेऽस्य[2]वतान्मा नाथिता[3]द्वतान्मा व्यथितात्[4] । विदेद्ग्निर्नभो नामा[5]ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[6] योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[7] विदेद्ग्निर्नभो नामा[8]ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[9] यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[10] विदेद्ग्निर्नभो नामा[11]ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[12] यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[13] । अनु त्वा देववीतये[14] ॥९॥

मे	मेरी (मेरे लिए)
तप्तायनी	उष्णता बढ़ानेवाले
असि	हो,
मे	मेरे लिए
वित्तायनी	धन देनेवाली
असि	हो।
मा	मेरी
नाथितात्	याचना करनेवाली अवस्था से
अवतात्	मेरी रक्षा करो।
नभः नाम	(मैं तुमको) आकाश नामक
अग्निः वदेम	अग्नि समझता हूँ।
अङ्गिरः अग्ने	अंगों में रहनेवाले हे अग्नि !
आयुना	आयु
नाम्ना	नाम से
एहि	यहाँ आओ।
यः	जो
अस्याम् पृथिव्याम्	(तुम) इस पृथ्वी में रहते
असि	हो,
ते यत्	तुम्हारा जो रूप
यज्ञियम्	यज्ञ के योग्य है
अनाधृष्टम् नाम	तिरस्कार-रहित है,
तेन	उस रूप से
त्वा आदधे	मैं तुमको स्थापित करता हूँ।
नभः नाम	(मै उसे) नभ नामक
अग्निः विदेत्	अग्नि कहता हूँ।
अङ्गिरः नाम	अंगिरा नामवाले
अग्ने	हे अग्नि !
द्वितीयस्यां	दूसरी
पृथिव्याम्	पृथ्वी अर्थात् आकाश में
ते यत्	जो तुम्हारा
यज्ञियम्	यज्ञ योग्य
अनाधृष्टं नाम	तिरस्कार-रहित
असि	रूप है,
तेन	उस
त्वा	तुम्हारे रूप को मैं
दधे	स्थापित करता हूँ।

माधुर्यपूर्ण हों हम सबकी वाणी अशेष।
रह जाय न उर में देवि ! अविद्या-तिमिर लेश॥
देवों की प्रीति हेतु बन शुद्ध सदा शोभित।
देवों की संचित शक्ति सदा तुमसे वर्द्धित॥ १०॥

टि०—यह विचित्र अर्थों वाला मंत्र है। इसमें मुद्रालंकार प्रतीत होता है। परमेश्वर का संबोधन इसमें मातृ-रूप में किया गया है। उनमें परम शक्ति का अधिष्ठान है। वे पराशक्ति सिंह जैसी शत्रुनाशिका है। तीन प्रकार की वाणी के रूप में वे ही प्रकट हैं। इस मंत्र में सिंही और शुंभस्व शब्द बड़े व्यंजक हैं। सिंही में उस शक्ति के सिंहवाहिनी होने का संकेत प्रतीत होता है और शुंभस्व में शुंभ के वध का। १०

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वाऽऽदित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निः सृजामि ॥११॥

इन्द्रघोषः	इन्द्र नाम से प्रसिद्ध देवता	पितृभिः	पितरों के साथ
वसुभिः	वसुओ के साथ	दक्षिणतः	दक्षिण से
त्वा	तुम्हारी	त्वा	तुम्हारी
पुरस्तात्	आगे से अर्थात् पूर्व दिशा से	पातु	रक्षा करें।
पातु	रक्षा करें।	विश्वकर्मा	विश्वकर्मा
प्रचेताः	वरुणदेव	आदित्यैः	बारह आदित्यों के साथ
रुद्रैः	एकादश रुद्रों के साथ	उत्तरतः	उत्तर से
पश्चात्	पीछे से अर्थात् पश्चिम से	त्वा	तुम्हारी
त्वा	तुम्हारी	पातु	रक्षा करें।
पातु	रक्षा करें।	अहं	मैं
मनोजवाः	मन के समान वेग-वाले देवता	तप्तम्	तप्त जल को
		इदं	इस
		वाः यज्ञात्	यज्ञवेदी से
		बहिर्धाः	बाहर की ओर
		निःसृजामि	फेंकता हूँ॥ ११॥

इन्द्र नाम से प्रथित देवपति रक्षा करें तुम्हारी।
पूर्व दिशा में अष्ट वसु-सहित रक्षा करें तुम्हारी॥

टि०—इसमें अग्नि के तीन रूपों का आवाहन किया गया है। पहला है अंगिरा या आंगिरस अग्नि—जो मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में ऊष्मा बनकर व्याप्त रहता है। यही मनुष्य को जीवित रखता है। यही आयु के रूप में परिणत होता है। अग्नि का दूसरा रूप है-सूर्य, जो आकाश में संस्थित रहता है। अग्नि का तीसरा रूप पृथ्वी पर का लौकिक अग्नि है। इस मंत्र में इन तीनों रूपों के सम्यक् उपयोग का निर्देश किया गया है। ९

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व॒

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व॒

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुम्भस्व ॥१०॥

सिंही	(तुम) सिंहिनी के समान	सपत्नसाही असि	शत्रु-नाश करनेवाली हो,
सपत्नसाही	शत्रुओं पर पराक्रम (सिद्ध) करनेवाली	देवेभ्यः	देवताओं के हित के लिए
असि	हो,	शुन्धस्व	शुद्ध हो,
देवेभ्यः	देवताओं का	सिंही असि	(तुम) सिंहिनी हो,
कल्पस्व	हित करनेवाली हो,	सपत्नसाही असि	शत्रुनाशिनी हो,
सिंही असि	सिंहिनी के समान महान शक्तिशाली हो,	देवेभ्यः	देवताओं के हित के लिए
		शुम्भस्व	शोभित होती हो ॥ १० ॥

हे अग्नि! तेज की अधिष्ठान हे परमेश्वरि!।
सिंहिनी-सदृश बल है तुममें सपत्न-क्षयकरि[1] ॥
देवों का हित करने में हो! समर्थ संतत ॥
सिंही हो, शत्रुनाश करती रहती तुम नित।
देवों का विद्वानों का करो श्रेय-साधन।
अंतर में उनके करो प्रकाशित सब शुभ गुण ॥
उनके अंतर में रहो प्रकाशित वाणी बन।
शिक्षा से संस्कारित है जो अतिशय पावन ॥
तुम सत्य-तेज से ज्वलित निरंतर बन वाणी।
साधक के उर में रहो प्रकाशित गीर्वाणी[2] ॥

---

१ शत्रुओं का नाश करनेवाली; २ सरस्वती।

स्वाहा	हवि अर्पित है।	त्वा	तुमको (मैं बुलाता
भूतेभ्यः	सब प्राणियों के लिए		हूँ) ॥ १२ ॥

सिंह - पराक्रम असुरविनाशिनि विश्ववन्दिते!।
अर्पित करता हूँ मैं तुमको हवि यह, स्वाहा॥
सबके रक्षक आदित्यों पर प्रीति तुम्हारी।
सर्वविदित है हवि तुमको अर्पित यह, स्वाहा॥
वेद और वेदज्ञों की तुम हो संरक्षक।
ज्ञानदायिनी सिंही! अर्पित यह हवि, स्वाहा॥
क्षात्रधर्म की राज्य और शूरों की रक्षक।
सिंहपराक्रम हे! अर्पित है यह हवि, स्वाहा॥
सिंही हो तुम परम पराक्रमवती निरंतर।
हमको दो संतान श्रेष्ठ धन पुष्टि-तुष्टि सब॥
इसी हेतु अर्पित है तुमको हवि यह, स्वाहा।
सिंह - पराक्रम हो, देवों का आवाहन कर॥
लाओ क्रतु[1] में याजक के हित रहो शुभंकर[2]।
सर्वभूतहित हेतु कर रहा मैं आवाहन॥
सबका हो कल्याण, समर्पित हवि यह, स्वाहा॥ १२॥

टि०—इस मंत्र में सब प्राणियों के कल्याण के लिए भगवान की पराशक्ति का आवाहन किया गया है। वह पराशक्ति ही सब देवताओं की सम्मिलित केन्द्रीभूत शक्ति है। उसमें असंख्य सिंहिनियों का पराक्रम है। यज्ञ में उसी की कृपा से सब देवताओं का आगमन होता है। वह ब्राह्म और क्षात्र-बल की रक्षा करती है, याजक का कल्याण करती है। अच्छी संतान भी उसी की कृपा से मिलती है। सृष्टि का प्रगति-विधान उसी के द्वारा होता है। वही वाणी—सरस्वती—के रूप में आविर्भूत होकर ज्ञानदायिनी है। वही लक्ष्मी के रूप में धन, पुष्टि-तुष्टि प्रदान करती है। दुर्गा-सप्तशती में लक्ष्मीरूपेण संस्थिता, पुष्टिरूपेण संस्थिता, तुष्टिरूपेण संस्थिता—आदि कहकर बार-बार उन्हीं का अभिनंदन-वंदन किया गया है। १२

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥१३॥

---

१ यज्ञ; २ मंगल करनेवाली;

एकादश रुद्रों से सेवित वरुणदेव पश्चिम से।
कृपापूर्ण अंतर से संतत रक्षा करें तुम्हारी॥
मन के सदृश वेगवाले देवता समस्त पितरगण।
दक्षिण दिशि से प्रीति-सहित नित रक्षा करें तुम्हारी॥
वारह आदित्यों को लेकर साथ विश्वकर्मा ये।
उत्तर दिशि से करें अहर्निश रक्षा सतत तुम्हारी॥
वेदी के वाहर करता हूँ मैं निक्षिप्त[1] तप्त जल।
बाहर-भीतर सकल देवगण रक्षा करें हमारी॥ ११ ॥

टि०—आपाततः यह रक्षा-मंत्र है। इसमें सब देवगणों का रक्षा-प्राप्ति के लिए आवाहन किया गया है। तप्त जल के विषय में महर्षि दयानंद की टिप्पणी है कि मैं होमरूप यज्ञ में होनेवाले तप्त जल को वाहर शीतल जल में निक्षिप्त करता हूँ। ११

सि॒ꣳह्यसि॒ स्वाहा॑[1] सि॒ꣳह्य॒स्यादि॒त्यव॒नि॒ः स्वाहा॑[2] सि॒ꣳह्य॒सि ब्र॒ह्मवनि॑ः क्ष॒त्रव॒नि॒ः स्वाहा॑[3] सि॒ꣳह्य॒सि सु॒प्र॒जा॒वनी॑ रा॒यस्पोष॒वनि॒ः स्वाहा॑[4] सि॒ꣳह्य॒स्या व॑ह दे॒वान् यज॑माना॒य स्वाहा॑[5] भू॒तेभ्य॑स्त्वा॑[6] ॥१२॥

सिंही	(तुम) सिंही-रूप हो।
स्वाहा	तुम्हारे लिए हवि अर्पित है।
आदित्यवनिः	आदित्यों पर प्रीति करनेवाली (तुम)
सिंही	सिंही-रूपा
असि	हो।
स्वाहा	तुम्हारे लिए यह आहुति अर्पित है।
ब्रह्मवनिः	ज्ञान को जाननेवाली
क्षत्रवनिः	प्रीति-जनक
सिंही	पराक्रम में (तुम) सिंही-रूप
असि	हो।
स्वाहा	तुम्हारे लिए यह आहुति अर्पित है।
सुप्रजावनिः	अच्छी रीति से प्रजाओं को देनेवाली,
रायस्पोषवनिः	धन और पुष्टि देनेवाली (तुम)
सिंही असि	पराक्रमशीला सिंहिनी हो।
स्वाहा	तुम्हारे लिए आहुति अर्पित है।
सिंही असि	(तुम) सिंही-रूपा हो।
यजमानाय	यजमान के लिए
देवान्	देवताओं को
आ वह	बुलाकर लाओ।

१ उष्ण जल फेंकता हूँ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही
देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥१४॥

बृहतः	बड़े ज्ञान से	वयुनावित्	सत्कर्मों की मनोवृत्ति को जाननेवाले
विपश्चितः	महत्त्व को प्राप्त	एकः इत्	उस एक ज्ञानी ने ही
विप्रस्य	ज्ञानी को देखकर	विदधे	सच्चे सामर्थ्य को जाना है, (जिससे)
विप्राः	सच्चे ज्ञानी लोग,	सवितुः देवस्य	प्रेरक अन्तर्यामी परमेश्वर की
होत्राः	हवन करनेवाले बुद्धिमान (लोग)	परिष्टुतिः	स्तुति
मनः	मन को	मही	महान है।
युञ्जते	एकाग्र कर योग में लगाते हैं	स्वाहा	उसकी प्रीति के निमित्त यह आहुति अर्पित है ॥ १४ ॥
उत	और		
धियः	बुद्धियों को		
युञ्जते	धर्मकार्य में युक्त करते हैं।		

बृहत् विपश्चित[1] विप्रजनों को देख उच्च स्थिति।
ज्ञानी जन करते हैं मन की योगयुक्त धृति[2] ॥
करते वे बुद्धियाँ धर्म-कार्यों में योजित।
परम ज्ञान में करते सब वृत्तियाँ समाहित ॥
सत्य शक्ति का मर्म जानते हैं वयुनावित्।
उनसे ही होती सविता की महत् परिष्टुति[3] ॥
सर्वप्रसविता सविता सबके अंतर्यामी।
सबके प्रेरक और सभी के हैं वे स्वामी ॥
सबके परम प्रकाशक अद्वितीय परमेश्वर।
उनकी प्रीति हेतु अर्पित है हवि यह स्वाहा ॥ १४ ॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि परम ज्ञानी विप्रों की उच्च आध्यात्मिक अवस्था देखकर अन्य ज्ञानीजन भी अपने मन को योगयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं।

१ विद्वान; २ धारण; ३ स्तुति।

ध्रुवः	(हे मध्यम परिधि ! तुम) स्थिर
असि	हो।
पृथिवीं	इस पृथ्वी को
दृंह	दृढ़ करो।
ध्रुवक्षित्	(हे दक्षिण परिधि ! तुम) स्थिर यज्ञ में निवास करती
असि	हो।
अन्तरिक्षम्	(तुम) अंतरिक्ष को
दृंह	दृढ़ करो।
अच्युतक्षित्	(हे उत्तर परिधि ! तुम) विनाश-रहित यज्ञ में
असि	(निवास करती) हो।
दिवम्	द्युलोक को (तुम)
दृंह	दृढ़ करो।
अग्नेः	(तुम) अग्नि की
पुरीषम्	पूरक
असि	हो ॥ १३ ॥

हे मध्यमा परिधि ! ध्रुव हो, ध्रुव हो ! तुम।
इस पृथ्वी को करो सुदृढ़, ध्रुव हो, स्थिर हो हम ॥
हे दक्षिण की परिधि ! यज्ञ में तुम हो सुस्थिर।
अंतरिक्ष दृढ़ करो, व्योमवासी हों सुस्थिर ॥
हे उत्तरा परिधि ! अच्युत यज्ञों की वासिनि !।
तुम दिव को दृढ़ करो, अये अक्षर-क्रतुवासिनि[1] ॥
हे अनंत संभार ! अग्नि के पूरक हो तुम।
अस्थिरता सब मिटे, रहें युग-युग सुस्थिर हम ॥

विद्याक्रियायुक्त क्रतु हम सब करें अनुष्ठित।
पृथ्वी की हो वृद्धि, विश्वजन सुखी रहें नित ॥
प्राप्त करें हम तत्त्व अजर, अविनाशी, अक्षर।
परम ज्ञान से रहें प्रकाशित सबके अंतर ॥ १३ ॥

टि०—इस मंत्र में तीन परिधियों का संकेत है—मध्यमा परिधि, दक्षिणा परिधि और उत्तरा परिधि। 'परिधि' शब्द 'परि' और 'धि' के संयोग से बना है। इस प्रकार परिधि का अर्थ होता है चारों ओर से धारण अथवा सुरक्षा। जिन तीन परिधियों का इस मंत्र में संकेत है, वे त्रिभुवन के रक्षा-कवच के रूप में निर्दिष्ट है। महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र का सार बताते हुए कहा है, मनुष्यों को त्रिलोकी के पदार्थों को पुष्ट करनेवाले विद्या-क्रियामय यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से विश्व का सुख-संपादन संभव है। १३

---

१ अविनश्वर यज्ञ में निवास करनेवाली।

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या ।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ
पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥१६॥

रोदसी	हे द्यावापृथ्वी !	एते	इन द्यावा-पृथ्वी को
इरावती	(तुम) अन्न से युक्त,	व्यस्कभ्नाः	(तुमने) विभक्त किया है।
धेनुमती	बहुत गायों से युक्त,		
सूयवसिनी	उत्कृष्ट खाद्य पदार्थ देनेवाली (तथा)	पृथ्वीम्	पृथ्वी को
		मयूखैः	किरणों से
मनवे	मनुष्यों को	अभितः	सब ओर से भली भाँति
दशस्या	हित के साधन		
भूतम्	देनेवाली हो।	दाधर्थ	(तुम) धारण करते हो।
विष्णो	हे सर्वव्यापी परमात्मन् !		
		स्वाहा	तुम्हारे लिए आहुति है ॥ १६ ॥

द्यावापृथ्वी ! हो सबके हित इरावती[1] तुम ।
पाते अन्न प्रभूत तुम्हीं से हैं संतत हम ॥
द्यावापृथ्वी ! धेनुमती हो विश्व हेतु तुम ।
पावें दुग्ध प्रभूत तुम्हीं से जग के जन हम ॥
देते तुम उत्कृष्ट खाद्य वस्तुएँ निरंतर ।
हम सबको हैं दिये सभी साधन मंगलकर ॥
विष्णो ! हे सर्वव्यापी प्रभु ! हे परमेश्वर ! ।
तुमने ही हैं किये विभाजित पृथ्वी - अंबर ॥
कर अपनी आकर्ष शक्तियों का विस्तारण ।
तुम अनंत किरणों से धरती करते धारण ॥
तुम करते हो इस धरती को सम्यक् शोभित ।
हम अर्पित करते रहते हैं तुमको हवि नित ॥
विष्णु ! तुम्हारे हेतु समर्पित हवि यह स्वाहा ॥ १६ ॥

टि०—सर्वव्यापक विष्णु इस धरती के धारण करनेवाले हैं। उन्होंने 'रोदसी' को द्यावा-पृथ्वी के रूप में विभाजित किया है। उन्होंने ही इसे मनुष्य के कल्याण के लिए प्रभूत धनवती और दुग्धवती बनाया है। उन्होंने अपनी आकर्ष शक्तियों से इसे धारण कर रखा है। उनकी महिमा की दिव्य किरणों से यह धरती सम्यक् धर्म में स्थित

१ अन्नवती ।

इस मंत्र में 'वयुनावित्' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है उत्तम कर्मों का जाननेवाला। 'विपश्चित्' का अर्थ है सब विद्याओं का ज्ञाता। 'वयुनावित्' अर्थात् उत्तम कर्मों के जाननेवाले के द्वारा की गई सबके उत्पादक सविता की 'परिष्टुति' अर्थात् स्तुति ही महान होती है। मनुष्यों को उचित है, परमेश्वर में अपने मन और बुद्धि को एकाग्र कर परम आनंद प्राप्त करें। १४

इदं विष्णुर्वि चंक्रमे त्रेधा नि दंधे पदम्।
समूंढमस्य पांथंसुरे स्वाहा ॥१५॥

विष्णुः	सर्वव्यापी परमात्मा ने	अस्य	इस
इदं	इस विश्व को	पांसुरे	पद में सम्यक् प्रकार
विचक्रमे	धारण किया है।	समूढम्	विश्व अंतर्भूत है।
त्रेधा	तीन (पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक)	स्वाहा	उस परमात्मा की प्रीति के लिए यह आहुति अर्पित है ॥ १५ ॥
पदम्	पदों की		
निदधे	स्थापना करता है।		

परम विष्णु सर्वव्यापी हैं जो परमेश्वर।
रचा उन्होंने क्रमपूर्वक यह विश्व चराचर॥
भुवनत्रय पर किया चरण-निक्षेप[1] महाजव[2]।
व्याप्त उन्हीं से अंतरिक्ष, धरती समस्त दिव॥
समाविष्ट[3] है विष्णु-चरण में विश्व चराचर।
भुवनत्रय में व्याप्त वही हैं नित्य निरंतर॥
सेवनीय हैं महाविष्णु वे सबके सम्यक्।
अर्पण करता हूँ उनके हित हवि ज्योतिःस्रक्[4]॥
महाविष्णु के हेतु समर्पित हवि यह स्वाहा।
महाविष्णु के हेतु समर्पित हवि यह स्वाहा॥ १५॥

टि०—पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक—ये तीन ऐसे स्थान हैं, जिनमें परमेश्वर सर्वव्यापी विष्णु ने अपने चरण रखे है। इसीलिए वे त्रिविक्रम कहे गये है। महीधर ने इसमें वामनावतार का निर्देश माना है। महर्षि दयानन्द इसे ठीक नहीं मानते। १५

---

१ पैर रखने की क्रिया; २ बड़े वेग के साथ, ३ समाये हुए; ४ प्रकाश की मालावाली।

उत्तम देवस्थानों में तुम करो गोष्ठ निर्माण।
देवस्थान और गोष्ठों के रहो निकट सुख मान॥
यजमानों की संतानों को कहो न कुवचन भूल।
इस धरती पर बने तुम्हारा जीवन शुचि सुखमूल॥
याजक जन पूर्णायु प्राप्त कर धन से हों भरपूर।
आयु-विनाशक कर्मजाल से रहें निरंतर दूर॥
खोजो पृथ्वी पर ऐसे रमणीय निवास-स्थान।
सुख से रहकर बने तुम्हारा जीवन जहां महान॥ १७॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को निरंतर उदात्त जीवन विताने का आदेश दिया गया है। मनुष्य को जीवन में उत्तमोत्तम कर्म करते हुए उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। आयु के एक क्षण का भी व्यर्थ क्षय नहीं होना चाहिए। १७

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांꣳसि।
यो अस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥ १८॥

विष्णोः	सर्वव्यापी परमात्मा के	यः	जिसने
नुकम्	किन-किन	त्रेधा	तीनों लोकों में
वीर्याणि	पराक्रमों का	विचक्रमाणः	पराक्रम किया है।
प्र वोचम्	मैं वर्णन करूं,	उरुगायः	वह बहुत प्रशंसित होकर
यः	जिसने	उतरं	उच्चतम
पार्थिवानि	अपनी सामर्थ्य से	सधस्थं	स्थान को
रजांसि	पृथ्वी, द्युलोक आदि के रजकणों का	अस्कभायत्	शोभित करता है॥ १८॥
विममे	निर्माण किया है,		

गाऊँ कैसे विष्णु सर्वव्यापी के गुणगण?।
कौन पराक्रम का उनके कर सकता वर्णन?॥
रचे उन्हीं ने हैं धरती के अगणित रजकण।
और स्वयं ही करते है उन सबका धारण॥
स्वीय शक्ति से रची उन्हीं ने निखिल सृष्टि यह।
पृथ्वी, अंतरिक्ष, दिव मे कर दी विभक्त वह॥

रखी जा रही है। इस मंत्र में सर्वव्यापक परमेश्वर की आकर्ष शक्तियों का निर्देश है। परवर्ती काल में इस आकर्ष शक्तियों वाले सर्वव्यापी परमेश्वर ही कृष्ण कहे गये हैं। १६

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं[1] प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्[2]। स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टं[3] मत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः[4] ॥१७॥

देवश्रुतौ	देवताओं की सभा में,
देवेषु	प्रसिद्ध विद्वानों में
अघोषतम्	(तुम)घोषित करो।
अध्वरं	इस हिंसारहित यज्ञ का
कल्पयन्ती	समर्थन करते हुए
प्राची प्रेतम्	पूर्व दिशा में जाओ
यज्ञम्	यज्ञ को
ऊर्ध्वम्	उच्च
नयतम्	बनाओ।
मा जिह्वरतम्	अधःपतित न करो।
देवी दुर्ये	देवस्थान में रहनेवाले
स्वं गोष्ठम्	अपनी गोशाला में
आ वदतम्	निवास करो
आयुः	जब तक आयु है
मा निर्वादिष्टम्	यजमान को धनहीन आदि होने को न कहो।
प्रजाम्	यजमान की संतान को
मा निर्वादिष्टम्	दुर्वचन मत कहो।
पृथिव्याः	पृथ्वी के
अत्र	यहाँ
वर्ष्मन्	रमणीय सुख-से सेवनयुक्त प्रदेश में
रमेथाम्	सुख के साथ वास करो ॥ १७ ॥

देव-सभाओं में विद्वानों का करके आवाहन।
करो ज्ञानियों का उस संसद में उदात्त संबोधन ॥
हिंसा-रहित यज्ञकर्मों को करते हुए अनुष्ठित।
पूर्व दिशा में आगे बढ़ते जाओ अप्रतिहत नित ॥
यज्ञकर्म हों उच्च और उन्नत ये सदा तुम्हारे।
श्रेष्ठ कर्म-संपादन का व्रत रहो निरंतर धारे ॥
हीन कर्म कर यज्ञक्रिया को करो न कथमपि दूषित।
पीछे हटो न, ध्वंस-कर्म में करो न निज को योजित ॥

सर्वव्यापक विष्णु ! सुखों से दो हमको भर।
यज्ञों के द्वारा पूजित नित हे परमेश्वर ! ॥ १९ ॥

टि०—इस मंत्र में सर्वव्यापी परमेश्वर विष्णु से संरक्षा और समृद्धि की याचना की गई है। सब प्राणियों को निरंतर सुख प्रदान करने का जिन प्रभु का सहज स्वभाव है, उनकी उपासना निरंतर करनी चाहिए। दायें-बायें सर्वत्र हम उनकी उपस्थिति का अनुभव करें, प्रार्थना करें। सुखी होने का यही सुपथ है। १९

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

गिरिष्ठाः	पर्वत में स्थित	यस्य	जिसके
कुचरः	कुत्सित आचार वाले	वीर्येण	अपने पराक्रम के द्वारा
भीमः	भयंकर	ऊरुषु त्रिषु	तीन महान
मृगो न	सिंह के समान	विक्रमणेषु	स्थानों में
विष्णुः	वह सर्वव्यापी परमात्मा	विश्वा	सब प्राणी
स्तवते	स्तवन योग्य है,	अधिक्षियन्ति	निवास करते हैं ॥ २० ॥

सदा ईड्य[1] है विष्णु ! तुम्हारा परम पराक्रम।
वीर्य तुम्हारा महत उसी की स्तुति करते हम ॥
कुचर भयंकर सिंह सदा गिरि में जो संस्थित।
अपने अतुल पराक्रम से होता अभिनंदित ॥
उसी भांति हे विष्णु ! तुम्हारा कर्म-पराक्रम।
रक्षक है लोकत्रय का, हैं विगत-भीति[2] हम ॥
हे सबके आधार विश्व - व्यापक जगदीश्वर।
स्थान तुम्हारे तीन, उन्हीं में रहा विश्व भर ॥ २० ॥

टि०—'कुचर' का अर्थ है कुत्सित आचारवाला, निंद्य आचारवाला। सिंह अपने पराक्रम के कारण पूजा जाता है। परमात्मा ने परम पराक्रम किया है। तीन लोक बनाये है, जिनमें सब प्राणी निवास करते हैं। सर्वव्यापी परमेश्वर विष्णु का यह पराक्रम सदा वंदनीय है। वे सबको रक्षा प्रदान करते है। २०

---

१ प्रशंसनीय; २ निर्भय;

वे ही हैं उरुगाय[1], प्रशस्य[2] निरंतर नव नित।
दिव में हैं सर्वोच्च धाम में प्रभु वे संस्थित ॥ १८ ॥

टि०—भक्ति-भावना से भरे हुए इस मंत्र में भगवान विष्णु के अनंत गुणों को अवर्णनीय कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है, धरती के रजकणों की गणना कोई भले ही कर ले, किंतु भगवान के गुणों का वर्णन असंभव है। 'उरुगाय' शब्द इस मंत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'उरुगाय' शब्द का अर्थ है- बहुत प्रकार से प्रशंसनीय। विष्णु जगदीश्वर हैं, वे सबके लिए उपास्य हैं। १८

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्र यच्छ
दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १९ ॥

विष्णो	हे सर्वव्यापी परमेश्वर !	अन्तरिक्षात् हि	अन्तरिक्ष से (द्रव्य और सुखों से) पूर्ण कर दो।
दिवः	अन्तरिक्ष से	विष्णो	हे सर्वव्यापक ईश्वर !
वसुना	धन से	दक्षिणात् उत	दक्षिण और
आपृणस्व	(हमें) परिपूर्ण कर दो।	सव्यात्	वाम पार्श्व से (हमें)सुख दो।
पृथिव्या	पृथ्वी से	त्वा	तुम
उत वा	उत्पन्न हुए पदार्थ	विष्णवे	सर्वव्यापी परमेश्वर की (हम यज्ञ द्वारा पूजा करते है) ॥१९॥
महः	महान,		
उत उरोः	विस्तीर्ण		

हे परमेश्वर विष्णु ! सहज अनुकंपा से भर।
बरसो दिव की निखिल संपदा अविरत हमहम ॥
पृथ्वी के धन से हमको परिपूर्ण करो नित।
विस्तृत अंतरिक्ष के धन से करो प्रपूरित ॥
सर्वव्यापक विष्णु व्याप्त हो तुम बहिरंतर[3]।
दायें-बायें करता मैं प्रार्थना निरंतर ॥

१ अत्यधिक कीर्तनीय; २ प्रशंसनीय; ३ बाहर और भीतर।

सवितुः	सविता
देवस्य प्रसवे	देवता की प्रसन्नता के लिए
अश्विनोः	अश्विनी की
बाहुभ्याम्	बाँहों से,
पूष्णः	पूषा देवता के
हस्ताभ्याम्	हाथों से
आददे	तुमको (मैं) ग्रहण करता हूँ।
नारी	(तुम न+अरि) शत्रु-सदृश न हो, स्त्री
असि	हो।
इदं	मैं इस कार्य को (करता हूँ)।
अहं	मैं
रक्षसां	राक्षसों की
ग्रीवा	गर्दन
अपि	भी
कृन्तामि	काटता हूँ।
बृहत्	(तुम) महान
बृहद्रवा असि	बड़ा शब्द करनेवाले
इन्द्राय	इन्द्र के लिए
बृहतीम्	जोर से
वाचं	स्तुति
वद	करो ॥ २२ ॥

विश्व-प्रसविता[1] सविता! हमपर रहो प्रसन्न निरंतर।
करें वही हम ग्रहण सदा संग्राह्य और जो शुचितर ॥
करें अश्विनी की बाँहों से प्राप्त वस्तुएँ उत्तम।
पूषा के हाथों से पावें हम पोषण सर्वोत्तम ॥
विश्व-प्रसविता सविता! तुम हो सदा सहाय हमारे।
करें प्रवेश राष्ट्र में वे जो मित्रभाव हों धारे ॥
करें राक्षसों की ग्रीवा का छेदन हम निज बल से।
कभी प्रवंचित हो न सकें हम उनके छल-कौशल से ॥
करें उदात्त उच्च स्वर में हम भाषण जन-संसद में।
ओज-तेज-वर्चस्व-विवर्धित[2] रहें राष्ट्र-जीवन में ॥
बृहद्रवा[3] हो करें इन्द्र का स्तवन उच्च स्वर से हम।
विश्व-प्रसविता सविता! हमपर रहो प्रसन्न सदा तुम ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के योगक्षेम का विधान करनेवाले कई तत्त्वों का निर्देश है। राष्ट्र की उन्नति के लिए नागरिकों के स्वास्थ्य का महत्त्व सर्वाधिक है। अश्विनीकुमार वैद्य हैं। उनके हाथों से जो वस्तु ग्रहण की जायगी, वह स्वास्थ्य की दृष्टि से सुपरीक्षित अतएव हितकर होगी। पूषा पोषण के देवता हैं, उनके द्वारा उत्तम पोषणयुक्त पदार्थ ही ग्रहण किये जा सकते हैं। 'नारी' शब्द 'न+अरिः' से बना है।

१ विश्व को उत्पन्न करनेवाले; २ बढ़ा हुआ तेज; ३ ऊँचे रव या आवाज़वाले।

विष्णो॑ ररा॒टम॑सि॒[1] विष्णो॑: श्नप्त्रे॑ स्थो॒[2]
विष्णो॒: स्यूर॑सि॒[3] विष्णो॑र्ध्रु॒वो॑ऽसि॒[4] ।
वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॑ ॥ २१ ॥

विष्णोः	उस सर्वव्यापक परमात्मा का	वैष्णवम् असि	यह विष्णु से व्याप्त है।
राटम् असि	प्रकाश फैल रहा है।	विष्णोः	विष्णु के द्वारा
विष्णोः	विष्णु के द्वारा	श्नप्त्रे स्थः	जगत् जड़-चेतन में विभक्त है।
ध्रुवो असि	यह विश्व स्थिर हुआ है।	त्वा	तुम
विष्णोः	विष्णु के द्वारा	विष्णवे	सर्वव्यापक परमात्मा के लिए (हम) अनुष्ठान करते हैं ॥२१॥
स्युः असि	यह विश्व विस्तृत हुआ है।		

सर्वव्यापक विष्णु ! तुम्हारा ही प्रकाश यह।
फैल रहा सब ओर अये परमात्मन् ! अहरह ॥
उससे ही उत्पन्न हुआ यह विश्व चराचर।
उससे ही उद्भासित हैं सब धरती - अंबर ॥
विस्तृत की है उन्हीं विष्णु ने जड़-चेतन सृति[1] ।
ध्रुव है उनसे व्याप्त निरंतर यह जग की कृति ॥
आश्रय करके ग्रहण तुम्हारा हे परमेश्वर ! ।
यज्ञ अनुष्ठित करें, सिद्धि का दो हमको वर ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि यह जगत् विष्णु कहे जानेवाले सर्वव्यापक परमेश्वर से प्रकाशित और विस्तारित हुआ है। हम उनका आश्रय लेकर यज्ञों का अनुष्ठान करें और सब कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करें। इस मंत्र में 'रराटम्' शब्द महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ है प्रकाश फैल रहा है, इस प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित है। २१

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
आ द॑दे॒[1] नार्य॑सी॒[2]—द॒मह॑ꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑ कृन्तामि॒[3] ।
बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृह॒तीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद ॥२२॥

---

१ संसार या सृष्टि ।

मे सबन्धुः	मेरा मित्र (या)	उत्किरामि	करता हूँ,
असबधु	अमित्र	तम्	उसको तू भी कर।
यम्	जिस	मे	मेरे
निचखान	कर्म को करता है,	सजातः	साथ उत्पन्न हुआ (वा)
तम्	उस कर्म को तेरा मित्र भी करे।	असजातः	अलग उत्पन्न हुआ
		यम्	जिन
अहम् यम्	मैं जो	कृत्याम्	कर्मों को
बलगम् इदम्	बल प्राप्त कराने-वाला यह कर्म	निचखान	करता है
		उत्किरामि	(वैसे कर्म में) संपादन करता हूँ ॥ २३ ॥

ज्ञानी मानव ! ले ऊर्जित वैष्णवी शक्ति का अपनी आश्रय।
जैसे करता सदा राक्षसों का हूँ मैं क्षय॥
दैवी बल जिनके द्वारा हो सतत विवर्धित।
ऐसे यज्ञों में तुमको करता मैं योजित॥
वैसे ही तुम करो स्वीय[1] बल का संवर्धन।
दुरित-मूर्ति राक्षस-समाज का करो प्रमापण[2]॥
मेरा निष्ठावान सहायक सतत कर्म निज।
करते हैं जो, करो वही तुम भी संशय तज॥
श्रेय पंथ का करते मेरे जन अवलंबन।
करो अनुकरण मेरा तुम भी सहज सपरिजन॥
जो बलवर्धक श्रेष्ठ कर्म करता मैं प्रतिक्षण।
ऊर्जा-वर्धक[3] कर्म करें वैसे ही सब जन॥
हैं मेरे असमान-समान मनुष्य कर्मरत।
वैसे ही तुम रहो सदा कल्याणकर्मकृत[4]॥
मै करता जिस भाँति आत्मबल का संवर्धन।
वैसे ही तुम करो शक्ति का सतत विवर्धन॥
मेरे मित्र-अमित्र कर्म करते जैसे नित।
वैसे ही तुम करो मित्र सह नित्य अनुष्ठित॥
जो सजात-असजात[5] हमारे सतत कर्मपर।
वैसे संशयहीन कर्म सब करें निरंतर॥

---

१ अपने; २ वध; ३ शक्ति बढ़ानेवाले; ४ शुभ कर्म करनेवाले;
५ सजातीय अथवा विजातीय।

जो शत्रु नहीं है, मित्र-भाव रखता है, उसी को राष्ट्र में प्रवेश मिलना चाहिए। शत्रु-भाव रखनेवालों का प्रवेश राष्ट्र में सजगतापूर्वक वर्जित रहना चाहिए। राष्ट्र-द्रोही, बलात्कारी, व्यभिचारी, हिंसारत मनुष्य ही राक्षस है। वेद उनका शिर काट देने का आदेश देता है। जनसभाओं में उच्च स्वर से हमको ऐसे भाषण करने चाहिए, जिनसे राष्ट्र के वर्चस्व की वृद्धि हो। हम उच्च स्वर से इन्द्र की स्तुति करें, जिससे वे राष्ट्र के शत्रुओं को विनष्ट करें। २२

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवी[1]मिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[2] यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[3] यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[4] यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि[5] ॥२३॥

अहम्	मैं	तम्	उसको तेरा भृत्य भी करे।
वलगहनम्	बलों से शक्तिमान हुए	अहम्	मैं
रक्षोहणम्	राक्षसों का नाश करनेवाले	यम् वलगम्	जिस बल प्राप्त करानेवाले
वैष्णवीं	व्यापक परमेश्वर विष्णु(की प्रीति) के लिए,	इदम्	इस कर्म को
		उत्किरामि	संपादित करता हूँ,
		तम्	उस कर्म को तू भी कर।
यं बलगम्	जो बल को प्राप्त करानेवाले	मे समानः	मेरे सदृश (वा)
तम् उत्किरामि	वह कर्म करता हूँ, (वैसे ही तू)	असमानः	असदृश (व्यक्ति)
		यम्	जिस कर्म को
इदं	इसी कार्य को कर।	निचखान	करता है,
मे	मेरा	तम्	वैसा तू भी कर।
निष्ट्यः	कर्मकुशल	अहम् यम्	मैं जो
अमात्यः	सहायक विद्वान	बलगम्	बल प्राप्त करानेवाले
यम्	जिस	इदम्	इस कर्म को
इदम्	कर्म को	उत्किरामि	संपन्न करता हूँ,
निचखान	निःसंदेह करता है,	तम्	वह तू भी कर।

बाहर-भीतर के राष्ट्र-शत्रु कर विधमित[1]।
इन्द्रिय-जेता बन करो स्वराज्य प्रतिष्ठित ॥
इस विश्व-सृष्टि में रवि से रहो प्रकाशित।
बनकर अमित्रहा[2] करो स्वराज्य प्रतिष्ठित ॥ २४ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के उत्तम शासक के गुणों का वर्णन किया गया है। राष्ट्र का उत्तम शासक वही हो सकता है, जो शत्रुओं का नाश करनेवाला हो, जो दुष्टों को धर्षित करनेवाला हो, जो राक्षसों का विनाश कर सके और अपने जीवन को यज्ञ का रूप देकर श्रेष्ठ कर्म संपादित करता रहे और जो विना किसी भेदभाव के संपूर्ण जनता का पालन करता रहे। वही सर्वराट् हो सकता है। वही राष्ट्र पर शासन करने का अधिकारी है। जिसका अपने 'स्व' पर नियंत्रण है, जो इन्द्रियजयी है, वही स्वराज्य का संस्थापन और रक्षण कर सकता है। २४

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्[2] रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्[3] रक्षोहणौ वां वलगहना उप दधामि वैष्णवी[4] रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी[5] वैष्णवमसि[6] वैष्णवा स्थ[7] ॥२५॥

रक्षोहणः	(तुम) राक्षसों का नाश करनेवाले हो,
वलगहनः	बलवान (तथा)
वैष्णवान्	विष्णु के उपासक हो।
वः	तुमको
प्रोक्षामि	(मैं) शुद्ध करता हूँ।
रक्षोहणः	(तुम) राक्षसो को मारनेवाले हो।
वलगहनः	मैं बलवान बनकर
वैष्णवान्	विष्णु-भक्त
वः	तुमको
अवनयामि	(ऊपर उठाकर दुष्टों को) दूर करता हूँ।
वलगहनः	बलवान बनकर
रक्षोहणः	दुष्टों का नाश करता हूँ।
वैष्णवान् वः	हे सर्वव्यापक विष्णु की भक्ति करनेवालो ! तुम सबको
अवस्तृणामि	सुख से युक्त करता हूँ।

१ दलित; २ शत्रुनाशक।

करता रहता श्रेष्ठ कर्म मैं जैसे अविरत।
सुधीजनो! शुभ कर्म करो वैसे ही तुम नित ॥ २३ ॥

टि०—इस मंत्र में विष्णु भगवान परमेश्वर रूप में मनुष्यों को सतत कर्मरत रहने की प्रेरणा देते हैं। गीता में भी भगवान ने कहा है, मैं एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रहता। मनुष्य को मेरे इस कर्मपथ का अनुसरण करना चाहिए—'महाजनो येन गत: स पंथ:'। यही श्रेय का मार्ग है। २३

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥२४॥

स्वराट् असि	(हे मनुष्य!) तू प्रकाशमान है,	जनराट्	धार्मिक विद्वानों में प्रकाशमान
सपत्नहा	शत्रुओं का हनन करनेवाला है,	असि	है।
सत्रराट्	यज्ञ कर्ता	रक्षोहा	राक्षसों का वध करनेवाला है,
असि	है,	सर्वराट्	सबमें प्रकाशित
अभिमातिहा	अभिमानी पुरुषों को मारनेवाला हुआ है।	असि	है,
		अमित्रहा	शत्रुओं को दण्ड देनेवाला है ॥२४॥

सब शत्रु नाश कर करो स्वराज्य प्रतिष्ठित।
हो इसीलिए तुम मानव! पूर्ण प्रकाशित ॥
तुम 'सत्रराट्' हो करते यज्ञ अनुष्ठित।
अभिमानी जनगण हों सब तुमसे धर्षित ॥
धार्मिक जन-संसद् में रह सतत प्रकाशित।
तुम करो राक्षसों को नि:शेष प्रमापित ॥
हे सर्वराट्! तुम करो राष्ट्र पर शासन।
सौभाग्य-भरित सुखपूरित हो जन-जीवन ॥
तुम शत्रु नष्ट कर करो स्वराज्य प्रतिष्ठित।
हे सर्वराट्[1]! हे सत्रराट[2]! मानव नित ॥

---

१ सबमे प्रकाशमान और सबपर शासन करनेवाला, २ यज्ञकर्ता।

सर्वव्यापक परमात्मा के उपासक बनकर रहो, वैष्णव बनकर रहो। वैष्णव का आचरण और व्यवहार सदा शुद्ध रहना चाहिए। २५

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आ ददे[1] नार्यसी[2]—दमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि[3]। यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीः[4]—दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि[6] ॥२६॥

सवितुः देवस्य	सविता देवता की
प्रसवे	प्रीति के लिए
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों की
बाहुभ्यां	भुजाओं से,
पूष्णः हस्ताभ्यां	पूषा के हाथों से
आददे	मैं तुमको (उत्तम कार्य करके) उन्नत करता हूँ।
नारी	तुम हमारी उपकारिणी
असि	हो।
इदं	इस शुभ कार्य को करते हुए
अहं	मैं
रक्षसाम्	राक्षसों की
ग्रीवा अपि	गर्दन भी
कृन्तामि	काटता हूँ।
यवः असि	तुम युवा हो;
द्वेषः	शत्रु को
अस्मत्	हमसे
यवय	दूर करो।
अरातीः	दुष्टों को
यवय	हमसे दूर करो।
दिवे	द्युलोक के हित के लिए
त्वा	तुमको (मै शुद्ध करता हूँ),
अन्तरिक्षाय	अन्तरिक्ष के हित के निमित्त
त्वा	तुमको मै शुद्ध करता हूँ;
पृथिव्यै त्वा	पृथ्वी के हित के निमित्त तुमको (मैं शुद्ध करता हूँ)।
पितृषदनाः	पितरों के निवास के
लोकाः	सब लोक
शुन्धन्ताम्	शुद्ध हों।
पितृषदनम्	तुम पितृगण के आसनरूप
असि	हो ॥ २६ ॥

सर्वप्रसविता सविता रहो प्रसन्न निरंतर।
हमें शरण दो, वरण करो हम हैं ज्ञानी नर॥
अपना लो प्रभु! बढ़ा अश्विनी के प्रचंड-भुज।
स्वीकारो! फैला पूषा की बाँहें हे प्रभु!॥

रक्षोहणौ	राक्षसों को मारने वाले,	वलगहनौ	बल बढ़ानेवाले
वलगहनौ	बल को बढ़ानेवाले विद्वान् को (जैसे)	वाम्	तुम दोनों
वां	तुम (धारण करते हो),	वैष्णवी	विष्णु सम्बन्धी ज्ञान,
उपदधामि	वैसे मैं भी धारण करता हूँ।	वैष्णवम्	विष्णु सम्बन्धी कर्म (जानते हो)
रक्षोहणौ	राक्षसों का नाश करनेवाले,	पर्यूहामि	उन्हें मैं सब प्रकार से जानूँ।
		वैष्णवा: स्थ	तुम सबकी तरह मैं भी विष्णु का उपासक होऊँ ॥२५॥

हे सभाध्यक्ष ! हे हे मानव ! तुम हो रक्षोहण[1] वैष्णव जन।
तुमको मैं शुद्ध सदा करता, तुम रक्षोहण हो दुष्ट-दलन ॥
अवनयन[2] तुम्हारा मैं करता, मै दुष्ट-विनाशक परमेश्वर।
ईश्वर-भक्तों को उन्नत कर, वैष्णव जन-जन को सुगठित कर ॥
सुख से परिपूरित हूँ करता, बलगहन सदा मैं बलवत्तर।
राक्षसहंता मैं परमेश्वर, रक्षोहण तुम सब वैष्णव जन ॥
तुम सबको धारण मैं करता, बलगहन परम तुम रक्षोहण।
तुम राक्षसहंता वैष्णवजन, बलवान परम तुम वैष्णवजन ॥
तुम भक्त उपासक मेरे नित, जो हेतु तुम्हारी उन्नति के।
उनका संयोजन मैं करता, मैं विष्णु सर्वव्यापी ईश्वर ॥
वैष्णवी ज्ञान के साधक तुम ! उस तर्कशुद्ध, उस शास्त्रशुद्ध।
वैष्णवी ज्ञान के धारक तुम ! मैं योगक्षेम तुम्हारा नित ॥
हे मानव ! सजग वहन करता ! मै सर्वव्यापक विष्णु परम।
मेरी उपासना धर्म चरम, आचरण शुद्ध व्यवहार शुद्ध ॥
तुम रहो उपासक बन मेरे, तुमको मै शुद्ध सदा करता।
तुमको एकत्रित मैं करता ! संगठित सदा तुमको करता ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में यह आदेश दिया गया है कि मनुष्यों को सर्वव्यापी परमेश्वर का उपासक बनकर वैष्णव-अभिधान प्राप्त करना चाहिए। 'वेवेष्टि इति विष्णु:' जो सर्वत्र व्यापक रहता है, विष्णु है, उसके उपासक वैष्णव हैं। 'वैष्णव जन जे तातें कहिए, पीर पराई जाने रे।' यह वैष्णव जन का लक्षण है। वैष्णव जन भगवान के बल से बली और दुष्टों, राक्षसों का विनाशक होता है। भगवान स्वयं उसको धारण करते है, उसके योगक्षेम का वहन करते हैं। मंत्र का आदेश है, 'वैष्णवा:स्थ'—अर्थात्

1 राक्षसों को मारनेवाले; 2 संगठित कर ऊपर उठाना।

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥२७॥

दिवम्	द्युलोक को	ब्रह्मवनि	ज्ञान से युक्त,
स्तभान	ऊंचा करो।	क्षत्रवनि	क्षात्रबल से युक्त,
अन्तरिक्षं पृण	अन्तरिक्ष को पूर्ण करो।	रायस्पोषवनि	धनपोषक वैश्यवर्ण से (तुम) युक्त रहो।
पृथिव्या	पृथ्वी को	त्वा पर्यूहामि	तुमको मैं सुदृढ़ करता हूं।
दृंहस्व	दृढ़ करो।		
द्युतानः मारुतः	द्युतिमान मरुद्गण	ब्रह्म दृंह	ज्ञान को बढ़ाओ।
ध्रुवेण धर्मणा	स्थिर धर्म से	क्षत्रं दृंह	क्षात्रबल को बढ़ाओ।
त्वा मिनोतु	तुमको संयुक्त करें।	आयुः दृंह	आयु को बढ़ाओ।
मित्रावरुणौ	मित्र और वरुण (तुम्हारी रक्षा करें)।	प्रजां दृंह	प्रजाओं को बढ़ाओ ॥ २७ ॥

राष्ट्रजनो हे ! दुष्ट कृत्य तज करो निरंतर कर्म श्रेष्ठतम।
दिव जैसा तुम प्राप्त करो ध्रुव-स्थान उच्चतम ॥
अंतरिक्ष-से पूर्ण बनो पृथिवी से दृढ़ अति।
ज्योतिर्विग्रह[1] मरुत धर्म दें तुमको सुस्थिति ॥
मित्र-वरुण द्वय देव रहें रक्षा में तत्पर।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शक्तियां हों उन्नततर ॥
सेनायें सब रहें मरुत् से सम्यक् रक्षित।
करें श्रेष्ठतम कर्म, धर्म से हों हम प्रेरित ॥
करता रहता सतत तुम्हें मैं दृढ़ से दृढ़तर।
ज्ञान-साधना में ब्राह्मण रत रहें निरंतर ॥
क्षात्रशक्ति को करो देश में अविरत ऊर्जित।
आयु तुम्हारी देशवासियो ! हो वर्धित नित ॥
प्रजाजनों की वृद्धि हेतु तुम करो उपक्रम[2]।
ज्ञान, शक्ति, आयुष्य बढ़ें, नित बढ़ें पराक्रम ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में देशवासियों का आह्वान कर उनसे ज्ञान, सैनिक शक्ति और

१ प्रकाश-रूप विग्रहवाले; २ प्रयत्न।

करें निरंतर श्रेष्ठ कर्म ये पुष्ट भुजायें।
वह हम सबके यज्ञकर्म को सृति सरसायें॥
अरि न रहें अब शेष, सहायक हों नारीगण[1]।
शुभ कर्मो में रहें सदा वे सहयोगी बन॥
करते हो तुम देव! जगत् की अविरत रक्षा।
दनुजों का कर शिरच्छेद देते हो शिक्षा॥
उसी भाँति हम दुष्टमुक्त सब करें धरा यह।
ग्रीवाकर्तन[2] करें राक्षसों की हम अहरह॥
रहें शक्ति-सामर्थ्ययुक्त चिरकाल युवा हम।
दुष्टों का कर दलन रचें सुखमय समाज हम॥
करें शत्रु सब नष्ट अजेय अयुध्य[3] रहें हम।
दानशील हम बने निरंतर शुद्ध रहें हम॥
हो द्युलोक में शान्ति सदा शुभ कर्म करें हम।
अंतरिक्ष की शान्ति-हेतु शुभ कर्म करें हम॥
होकर शुद्ध प्रबुद्ध करें पृथ्वी का हित नित।
पितरों के हित करें सदा शुभ कर्म अनुष्ठित॥
करो शुद्ध प्रभु! पितृलोक सब शुद्ध करें हम।
शुद्ध करो प्रभु! पितृ-षदन[4] बने रहें सदा हम॥ २६॥

टि०—इस मंत्र में वाचक लुप्तोपमा और श्लेष दोनों अलंकार है। इसमें मनुष्यों को सदा शुद्ध रहने का उपदेश दिया गया है। अश्विनी की भुजाओं और पूषा के हाथों के प्रतीक का प्रयोग करते हुए यह बताया गया है कि जैसी विलक्षण शक्ति अश्विनीकुमारों की भुजाओं में रहती है, वैसी ही हमें भी प्राप्त हो। हमारे हाथ पूषा के हाथों-जैसे बलिष्ठ हों। इस मंत्र में 'नारी' और 'अरातीः' जैसे शब्द द्वयर्थक है। नारी का अर्थ स्त्री तो है ही, दूसरा अर्थ न+अरि अर्थात शत्रु-रहित है। हम शत्रु-रहित हों और स्त्रियाँ हमारी सहकर्मिणी हों। वे भी हमारे-जैसे शुभ कर्म करें, यज्ञों में सहयोग दें और महान पुरुषार्थ से मंडित हों। 'अरातीः' का अर्थ शत्रु भी है और अदानशील भी। समाज में शत्रु न रहें, अदानशील और कृपण मनुष्य न रहें, यह भावना इस मंत्र में भरी गई है। जो दानशील नहीं, अकृपण नहीं, वह भी समाज का शत्रु किंवा असामाजिक प्राणी है। मनुष्य को मन, वाणी, आचार-व्यवहार, शरीर और धन आदि से शुद्ध रहना चाहिए। मनुष्य के शुद्ध और शुभ कर्मों से ही पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक और पितृ-लोकों का मंगल होता है। २६

---

१ इसमें श्लेष है—(क) स्त्रीजन, (ख) न+अरि गण अर्थात जो शत्रु नहीं है, मित्र है, वे सब, २ गर्दन काटना; ३ जिससे युद्ध करनेवाला कोई न हो; ४ पितरों के आसन-रूप।

पति - पत्नी तुम बनो विश्व - छाया सुखद ।
जग के सुख - सौभाग्य हेतु बन सिद्धिप्रद ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में यजमान की भार्या का एक उदात्त व्यक्तित्व-चित्र अंकित है। यजमान की भार्या को इन्द्र की 'छदि' अर्थात् आवरण कहा गया है। इस शरीर में इन्द्र नाम से अभिहित परमात्मा निवास करता है। सब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ उसी परमेश्वर की शक्ति से सचेतन और क्रियाशील है। इन्द्रियों का स्वामी और शक्ति-स्रोत होने के कारण ही वह इन्द्र है। दंपति को 'विश्वस्य छाया' भी कहा गया है। गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों और वर्णों का आश्रय-स्थान है। वह समस्त जगत् के लिए सुखद छाया-रूप है। इस मंत्र में गृहस्थाश्रम के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है। २८

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑।
वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः ॥२९॥

गिर्वणः	हे स्तवनीय इन्द्र !	वृद्धायुं	(ज्ञान-) वृद्धों की
इमाः	ये	अनु	तरह
विश्वतः	सब	वृद्धयः जुष्टयः	बढ़ते क्रम से
गिरः	वाणियाँ (स्तुतियाँ)		वृद्धि करनेवाली
त्वा	तुमको		(ये स्तुतियाँ)
परिभवन्तु	प्राप्त हों।	जुष्टाः	प्रिय
		भवन्तु	हों ॥ २९ ॥

इन्द्र सतत स्तवनीय, इन्द्र की शक्ति स्तुत्य नित।
है प्रशस्यता[1] प्रथित इन्द्र की अमित अपरिमित ॥
करते स्तुतियाँ इन्द्र तुम्हारी हम विगलित उर।
होती तुमको रहें प्राप्त वे नित्य निरंतर ॥
शक्ति तुम्हारी करती है विश्व के कार्य सब।
वृद्धों - सदृश प्रशंसित होते हो नित नव-नव ॥
तुम हो सबसे वृद्ध इन्द्र! सर्वत्र प्रशंसित।
तुम-सा वृद्ध न अन्य स्तवन सब तुमको अर्पित ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र की प्रशंसा की गई है। उन परमेश्वर के गुण अनंत हैं। स्तुतियों से इन्द्र प्रसन्न हों। इन्द्र वृद्धों-जैसा आचरण करते हैं। वृद्ध का विशेष आशय यहाँ ज्ञान-वृद्ध है। ज्ञान-वृद्ध का आचरण अनुकरणीय होता है। वैसे ही आचरण सब मनुष्यों को करना चाहिए। यही इस मंत्र का निर्देश है। २९

१ प्रशंसनीयता।

राष्ट्रीय कोष बढ़ाते रहने का आदेश दिया गया है। समाज में ज्ञान की वृद्धि हो, सैन्य-शक्ति बढ़ती रहे और व्यापारादि के विकास से राष्ट्र की सम्पदा बढ़ती रहे। राष्ट्र का ज्ञान, शक्ति और वैभव को बढ़ाते रहना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। सब प्राणियों में सद्भावना हो, सब सुखी हों, मरुत् और मित्रावरुण की कृपा हमपर सदैव रहे। २७

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य
छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥२८॥

प्रजया	अपनी संतानों से,	द्यावापृथिवी	आकाश और पृथ्वी को
पशुभिः	अपने पशुओं से	पूर्येथाम्	(तुम दोनो) पूर्ण करो।
अस्मिन्	इस	इन्द्रस्य	(हे पत्नी !) इन्द्र की
आयतने	सत्कार योग्य यज्ञ में	छदिः	आवरण
ध्रुवा असि	(तुम) सुदृढ़ हो।	असि	हो।
अयम्	यह	विश्वजनस्य	संसार के लोगों के लिए (तुम)
यजमानः	यजमान	छाया	सुख बढ़ानेवाली
ध्रुवः	दृढ़ संकल्पवान है।	भूयात्	बनो ॥ २८ ॥
घृतेन	घृत से		

भार्या[1] हो शुचि शीलवती यजमान की।
शोभा हो, श्री हो इस यज्ञस्थान की॥
ध्रुव हो तुम इस वंदनीय ऋतु में सदा।
संतति से पशुओं से मंडित मुदप्रदा[2]॥
भर्ता है यजमान तुम्हारा दृढ़व्रती।
घृतक्रतु से भर दो भू-नभ दोनों कृती॥
यज्ञव्रती तुम हो आच्छादन इन्द्र का।
प्रति इन्द्रिय में अंश बसा है इन्द्र का॥
परमेश्वर हैं इन्द्र प्राणियों में बसे।
बनकर इन्द्रिय-शक्ति वही विलसे-लसे॥
इसी शक्ति में निखिल शक्ति का सुख निहित।
पहचानो वह शक्ति अतुल निज में पिहित[3]॥

---

१ पत्नी; २ आनंद प्रदान करनेवाली; ३ छिपी।

श्वात्रः असि	मित्र है।	तुथः	ज्ञान बढ़ानेवाला,
प्रचेताः	प्रकृष्ट ज्ञानवाला,	विश्ववेदाः असि	सब जानने-वाला है ॥ ३१ ॥

विभु हैं, व्यापक हैं बहिरंतर अग्नि निरंतर।
प्रमुख कार्य-निर्वाहक हैं वे ही जगदीश्वर॥
गति का करते सृजन, उष्णता का संयोजन।
करते वे ही निखिल चराचर का संचालन॥
वे ही सबके मित्र हव्यवाहन[1] हैं वंदित।
पहुंचाते अर्पित हवियां वे यथास्थान नित॥
ज्ञानवान हैं और प्रचेता[2] हैं परमेश्वर।
बुद्धि-ज्ञान की वृद्धि उन्हीं से होती शुचितर॥
है उनको कर-बदर[3] ज्ञान-विज्ञान अनुत्तम।
इसीलिए हैं प्रथित विश्ववेदा[4] देवोत्तम॥ ३१॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की महिमा का वर्णन है। बाहर-भीतर सर्वत्र परमात्मा ही अग्नि के रूप में व्याप्त है। उन्हीं के द्वारा गति का सृजन होता है, ऊष्मा की घट-बढ़ का संयोजन होता है। उनके लिए समस्त ज्ञान-विज्ञान हाथ में रखे हुए आँवले या बेर के समान है। ३१

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऋतधामाऽसि स्वर्ज्योतिः ॥३२॥

उशिक् असि	(तुम) तेजस्वी हो,	अवस्यूः	उत्तम रीति से शत्रु से रक्षा करनेवाले
अंघारिः	पापहारी,	असि	हो;
कविः	अतीन्द्रिय ज्ञानवान	दुवस्वान्	प्रशंसनीय (तथा)
असि	हो;	शुन्ध्यूः असि	शुद्ध हो;
बम्भारिः	पालक हो,		

१ हवि वहन करनेवाले; २ उत्कृष्ट चेतना से संपन्न; ३ हाथ में रखे बेर जैसा; ४ सब ज्ञान जाननेवाले।

इन्द्र॑स्य स्यूर॒सी[1]न्द्र॑स्य ध्रु॒वो॑ऽसि[2] ।

ऐ॒न्द्रम॑सि[3] वैश्वदे॒वम॑सि[4] ॥३०॥

इन्द्रस्य	इन्द्र की	असि	कारण हो।
स्यूः असि	सीवन हो।	वैश्वदेवम्	समस्त देवताओं
इन्द्रस्य	इन्द्र के संबंध में		के प्रतिनिधि
ध्रुवः असि	स्थिर हो।	असि	हो ॥ ३० ॥
ऐन्द्रम्	इन्द्र के संबंध के		

मानव ! देह तुम्हारा यह देवों का मंदिर।
देव-शक्तियों का निवास है इसमें नित स्थिर॥
तुमसे ही संबंध इन्द्र का जुड़ता उत्तम।
परमेश्वर के हो वरेण्य संबंध-सूत्र तुम॥
इन्द्र तुम्हारे सखा, वास करते तुममें नित।
इन्द्र-शक्ति तुम, देव-शक्तियाँ तुममें संस्थित॥
ऐन्द्र[1] तुम्हीं, तुम वैश्वदेव दोनों के प्रतिनिधि।
परमेश्वर की प्राप्त तुम्हें ऐश्वर्यों की निधि॥ ३० ॥

टि०—महाभारत में कहा गया है—'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि कश्चित्'। वस्तुतः महाभारत का यह कथन वेद-वाणी की ही प्रतिध्वनि है, उसकी अनुगूँज है। मंत्र में कहा गया है, मनुष्य की देह देव-मंदिर है। उसमें सब देव-शक्तियों का निवास है। मनुष्य इस देह के माध्यम से परमेश्वर से अपना संबंध जोड़ता है। सब मनुष्य ऐन्द्र है, इन्द्र के समस्त ऐश्वर्यों का अधिष्ठान इसमें है। वह सब देवताओं का प्रतिनिधि और समष्टिगत शक्ति है। मनुष्य अपने इस स्वरूप को पहचाने। परवर्ती श्रेष्ठ काव्य में श्रुति का यह उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है। "ब्रह्म हो सदा ही तुम, पदरज भर भी तो नहीं है पूरा यह विश्व-भार।" (निराला)। ३०

वि॒भूर॑सि प्र॒वाह॑णो[1] वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः[2] ।

श्वा॒त्रो॑ऽसि॒ प्रचे॑ता[3]स्तु॒थो॑ऽसि वि॒श्ववे॑दाः ॥३१॥

विभूः असि	(यह अग्नि) व्यापक है,	वह्निः असि	अग्नि है।
प्रवाहणः	प्रधान कार्य निर्वाहक	हव्यवाहनः	हवियों को वहन
			करनेवाला

---

१ इन्द्र की शक्ति।

और परिषदों में उत्तम कार्य-संचालन की क्षमता उसमें है। ऐसे अनंत गुण मनुष्य में हैं। उन्हें सक्रिय करना मनुष्य का परम धर्म है। ३२

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो३
वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनाम
ध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात् ॥३३॥

समुद्रः	(हे परमेश्वर !) तुम समुद्र (के समान विशाल),
विश्वव्यचाः	सर्वव्यापक (और)
अजः असि	अजन्मा हो।
एकपात्	विश्व तुम्हारा एक चरण है;
अहिः	(तुम) क्षीणता-रहित (तथा)
बुध्न्यः	सबके आदि या मूल
असि	हो।
वाक् असि	वाणीरूप हो।
ऐन्द्रं सदः	परम ऐश्वर्य के स्थान (हो)।
ऋतस्य द्वारौ	सत्य के द्वार में स्थित रहकर
मा	मुझको
मा	मत
सन्तप्तम्	संतापित करो।
अध्वपते	हे शुद्ध मार्ग के पालक!
अध्वनाम्	मार्गों के मध्य में
मा	मुझको
प्रतिर	संवर्धित करो।
अस्मिन्	इस
देवयाने पथि	देवयान-मार्ग में
मे	मेरा
स्वस्ति	कल्याण
भूयात्	हो ॥ ३३ ॥

सिंधु-सदृश विस्तृत अनंत अज हो परमेश्वर।
निखिल विश्व है देव! तुम्हारे एक चरण-भर॥
तुम्हीं विश्व के आदि तुम्हीं से रचित विश्व यह।
अविनश्वर है और प्रकाशित तुमसे अहरह[1]॥
वाणी के प्रसविता और प्रेरक हो हे प्रभु!।
परमैश्वर्य-स्वरूप ऐन्द्र सद[2] हो तुम हे विभु!॥
ऋत-ऋतु[3] के तुम द्वार-देश सत्य में सहज स्थित।
त्राहि! पाहि जगदीश रहें हम असंतप्त नित॥

---

१ प्रतिदिन; २ परमैश्वर्य के स्थान; ३ सत्य रूपी यज्ञ।

मार्जालीयः	सबका शोधन करनेवाले,
सम्राट् असि	प्रकाशमान करनेवाले हो।
कृशानुः	अनुष्ठान से कृशतनु साधक को
पवमानः	पवित्र करनेवाले तथा
परिषद्यः असि	स्वयं पवित्र हो;
प्रतक्वानभः असि	स्वयं प्रसन्न तथा शत्रुनाशक हो;
हव्यसूदनः	हव्य को यथायोग्य व्यवहार में लानेवाले हो;
मृष्टः असि	पवित्र हो,
स्वर्ज्योतिः	स्वयंप्रकाशी (तथा)
ऋतधामा	सत्य को आश्रय देनेवाले
असि	हो।। ३२ ।।

हे मानव ! हो उशिक्[1] परम तेजस्वी हो तुम।
ऊर्जित तुममें रहें तेज आत्मा का शुचितम ।।
तुम अघारि हो, पापमुक्त हो नित्य निरंतर।
त्रिकालज्ञ कवि और अतीन्द्रिय ज्ञानसिद्ध नर ।।
स्वीय शक्ति से सतत शत्रु से रक्षित हो तुम।
पालन करते और सुरक्षा करते उत्तम ।।
तेजोमंडित और परम परिशुद्ध सदा तुम।
करते रहते नित्य नवल उद्योग - उपक्रम ।।
दुवस्थान[2] तुम, शुद्ध सदा तुम, उद्योगी तुम।
शोधक परम अनन्य, प्रकाशित नित्य नवल तुम ।।
पावन ज्यों पवमान, तेजमय हो कृशानु तुम।
परम सभ्य परिषद्य कार्य - संवाहक उत्तम ।।
चिर प्रसन्न अपहर्ताओं के हंता हो तुम।
होमद्रव्य के सम्यक कुशल प्रयोक्ता हो तुम ।।
स्वर्ग-ज्योति, ऋतधाम, सत्य के अधिष्ठान तुम।
मृष्ट श्रेष्ठ अतिशय तितिक्षु, दुख-सुख में तुम सम ।। ३२ ।।

टि०—इस मंत्र में मनुष्य की आत्मविस्मृति भंग कर उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करवाया गया है। मनुष्य में प्रकट, प्रच्छन्न एवं अंतर्निहित जितनी शक्तियाँ हैं, यह मंत्र उनको जाग्रत और सक्रिय बनानेवाला है। मनुष्य आत्मा के तेज से मंडित है। इसलिए वह परम तेजस्वी है, त्रिकालज्ञ कवि है, समस्त ज्ञान-विज्ञान उसके लिए हाथ में रखे बेर के समान है। वह दुवस्वान अर्थात् प्रशंसनीय है, सत्य का अधिष्ठान है। दुःख-सुख में सम बने रहने की क्षमता है। वह सभ्य और परिषद्य है अर्थात् सभाओं

१ तेजस्वी; २ प्रशंसनीय और तेजस्वी ।

करो उग्र-मुख से अपने मेरा संरक्षण।
पूर्ण बनाओ हमें करो हम सबका पोषण ।।
हिंसा से तुम करो निरंतर रक्षा मेरी।
बार-बार है प्रणति समर्पित तुमको मेरी ।। ३४ ।।

टि०—इस मंत्र में अग्नि को नित्य स्तवनीय कहा गया है। अग्नि हमें पूर्ण बनावें, अपनी उग्रता से हमें सुरक्षित रखें। इस उग्र शक्ति से हम शत्रु का नाश करें। ३४

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानांᳫं समित्। त्वᳫं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथᳫं स्वाहा[2] जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा[3] ॥३५॥

सोम	हे सोम! (तुम)	यन्ता	नियामक या
विश्वेषां देवानां	सब देवों के		दण्डदाता हो।
विश्वरूपं	संपूर्ण रूपयुक्त	उरु वरूथम्	अत्यंत बलयुक्त
ज्योतिः समित्	सम्यक् प्रकाशक	असि	हो।
असि	हो।	स्वाहा	तुमको यह हवि
त्वं	तुम		अर्पित है।
अन्यकृतेभ्यः	विरोधियों से प्रेरित	जुषाणः	प्रीयमाण
द्वेषोभ्यः	द्वेष करनेवालों	अप्तुः	सोमदेवता (मेरे दिये)
	शत्रुओं के तथा	आज्यस्य वेतु	घृत का पान करें
तनूकृद्भ्यः	शरीर-छेदकों के	स्वाहा	(तुम्हें) यह आहुति
			अर्पित है ।। ३५ ।।

अये सोम! तुम सब देवों के परम प्रकाशक।
द्वेषकृतों[1] के शत्रुगणों के प्रथित[2] विनाशक ।।
परम प्रकाश विमर्श रूप हो दीप देव! तुम।
तेजस्वी हो परम दंडदायक अरि के क्षम[3] ।।
शक्तिमान हो परम हमारे हेतु सदा तुम।
अर्पित करते सोम! तुम्हें हम हवि यह उत्तम ।।
पान करो यह शुचि घृत तुमको अर्पित स्वाहा।
सम्यक् अर्पित तुम्हें सुहवि यह स्वाहा! स्वाहा ।। ३५ ।।

---

१ द्वेष करनेवालों; २ प्रसिद्ध; ३ शक्तिशाली।

अध्वपते[1]! तुम सत्य मार्ग के हो प्रतिपालक।
सत्य मार्ग पर रहो निरंतर शुभ फलप्रापक[2]॥
शुद्ध सत्य के दिव्य मार्ग पर प्रगति करें हम।
मंगलभागी रहें सदा हम कृपा करो तुम॥ ३३॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर-महिमा का प्रतिपादन करते हुए उनकी अहैतुकी कृपा की याचना की गई है। भगवान् 'समुद्रः विश्वव्यचा' अर्थात् समुद्र की तरह विस्तृत और सर्वव्यापक है। वे 'ऐन्द्रं सदः' है अर्थात ऐश्वर्य के सदन है। वे अश्वपति अर्थात् सत्यमार्ग के पालक हैं। उनकी कृपा से ही मानव सदा मंगलभाजन बनता है और सत्य के मार्ग पर प्रगति करता है। ३३

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माऽग्नयः पिपृत माऽग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट ॥३४॥

मित्रस्य	मित्र की	मा पातम्	मेरी रक्षा करो।
चक्षुषा	दृष्टि से	अग्नयः	हे अग्नियो!
मा	मुझको	मा	मुझको
ईक्षध्वम्	देखो।	पिपृत	पूर्ण करो;
स-गराः अग्नयः	स्तवन करने के योग्य हे अग्नियो!	मा गोपायत	मेरा पालन करो।
		वः	तुमको
सगरेण नाम्ना	(तुम) स्तुतियुक्त नामवाली	नमः	नमस्कार
		अस्तु	हो।
सगराः स्थ	स्तुति के योग्य हो।	मा	मुझको
अग्नयः	हे अग्नियो!	मा	मत
रौद्रेण	अपने रुद्र (उग्र)	हिंसिष्ट	मारो॥ ३४॥
अनीकेन	मुख से		

अये अग्नि! मित्र की दृष्टि से मुझे निहारो।
तुम हो चिर स्तवनीय, हमारी स्तुति स्वीकारो॥
ग्रहण करो यह स्तुति-कुसुमांजलि देव! हमारी।
स्तवन-तुष्ट हो बढ़ो, बनो नित मंगलकारी॥

---

१ हे यज्ञ के स्वामी; २ फल प्राप्त करानेवाले।

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयᳪ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः
स्वाहा[1] ॥३७॥

अयं अग्निः	यह अग्नि	वाजसातौ	अन्नों का विभाग करने में
नः	हमें	वाजान्	अन्नों को
वरिवः	धन	जयतु	जीते;
कृणोतु	प्रदान करे,	जर्हृषाणः अयं	अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह
अयं	यह	शत्रून्	शत्रुओं को
मृधः	संग्राम में	जयतु	जीते।
अभिन्दन्	(शत्रुओं को) छिन्न-भिन्न करता हुआ	स्वाहा	उसे हवि समर्पित है ॥ ३७ ॥
पुरः एतु	अग्रसर हो;		
अयं	यह		

अग्निदेव धन दें, प्रभूत धन दें हम सबको।
रण में रिपुदल छिन्न-भिन्न कर जय दें हमको ॥
पथ-दर्शक बन बढ़ें अन्न को करें विभाजित।
प्रचुर अन्न दें, रहें अन्न से हम परिपूरित ॥
चिर प्रसन्न वे अग्नि शत्रुओं पर जय पावें।
नष्ट-भ्रष्ट कर शत्रु-संघ नित सुयश कमावें ॥
घृत आहुति हो प्राप्त हमारी उनको स्वाहा।
साज्य[1] सुहवि हो ग्राह्य हमारी उनको स्वाहा ॥ ३७ ॥

टि०—इस मंत्र में प्रार्थना की गई है, हमें प्रभूत अन्न मिले। उसका हम दान करें, यज्ञ में उपयोग करें। हमारे शत्रु नष्ट हों। समुचित कृषि-फल प्राप्त करने के मार्ग के सब अंतराय दूर हों। ३७

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥३८

---

१ घृतसहित।

टि०—महर्षि दयानन्द ने सोम का अर्थ ऐश्वर्य देनेवाला जगदीश्वर किया है। सोम देवता चन्द्रमा का भी नाम है। चन्द्रमा भगवान के मन से उत्पन्न हुआ, यह श्रुति-वाक्य है। भगवान के मन से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रमा या सोम मानवों के मन के यंता हैं, नियंत्रक हैं। उनकी कृपा से मन शिव-संकल्प-प्रयुक्त बनता है, व्यक्तित्व सौम्य हो जाता है। ३५

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥३६॥

अग्ने	हे विश्व-ज्योति परमात्मन्!	अस्मत्	हम लोगों के
देव	दिव्य गुणयुक्त	जुहुराणम्	अभिलषित क्रिया के प्रतिबंधक
विश्वानि	संपूर्ण	एनः	पाप को
वयुनानि विद्वान्	मार्गों को जानने वाले अनुष्ठानकर्ता	युयोधि	अलग करो।
		ते भूयिष्ठां	(हम) तुम्हारे निमित्त
अस्मान्	हम लोगों को	नम	नमस्कारयुक्त
राये	यज्ञ वा धन के लिए	उक्तिम्	वाणी
सुपथा नय	सन्मार्ग पर ले चलो।	विधेम	बोलते हैं ॥ ३६ ॥

हे अग्ने! हे विश्वज्योति! हे हे परमेश्वर!।
निखिल जगत के कर्मपथों के ज्ञाता प्रभुवर!॥
चलें सुपथ पर तुमसे प्रेरित याजकजन हम।
प्राप्त यज्ञफल कर और ऋद्धियाँ अनुत्तम॥
जिन पापों से यज्ञसिद्धि होती प्रतिबंधित[1]।
करते उनका रहो निवारण देव-देव! नित॥
बार-बार हम तुम्हें नमन-वाणी अर्पित कर।
माँग रहे आशीष तुम्हारी विगलित-अंतर[2] ॥ ३६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि-रूप परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि हम उत्तम मार्गों से धन प्राप्त कराओ। इस मंत्र में धनोपार्जन की वैदिक विधि का निर्देश है। श्रुति का आदेश है कि धन पवित्र साधनों से ही प्राप्त किया जाए। अन्यत्र कहा गया है, 'यः अर्थशुचिः सः शुचिः' अर्थात् जिसके धनोपार्जन के साधन पवित्र हैं, वही पवित्र है। यदि असत् मार्ग और अपवित्र साधनों से धनोपार्जन किया गया है, तो वह अपवित्रता तीर्थ-स्नानादि से दूर नहीं की जा सकती। ३६

---

१ बाधायुक्त; २ भक्तिभाव से भरे हृदय में।

त्वं देवः	तुम दिव्यगुण-सम्पन्न हो;	सह	सहायता से
देवान्	देवताओं को	मनुष्यान्	मनुष्यों की सहायता के लिए आया हूँ।
एतत्	यहाँ	स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
उपागाः	प्राप्त कराओ।	वरुणस्य	(मैं) वरुण के
इदं	यह	पाशान्	पाशों से
अहं	मैं	निर्मुच्ये	मुक्त हो जाऊँ ॥ ३९ ॥
रायस्पोषेण	धन और पुष्टि की		

विश्वप्रसविता सविता सबके प्रेरक हे प्रभु!।
अर्पित तुमको सोम, करो रक्षा इसकी विभु॥
सोम! तुम्हे कर सके नष्ट कोई न कभी कर।
दिव्य गुणों से युक्त प्राप्त हों तुमको सुरवर॥
सुनो, सुनो मैं सोम धरा पर हुआ अवतरित।
दिव्य गुणों से युक्त मानवों का करने हित॥
पुष्टि और धन दे उनका करता संवर्धन।
वरुण-पाश से मुक्त बनाता उनका जीवन॥
दुःख-क्लेश के तिरस्कार के दुःसह बंधन।
कर सकते हैं छिन्न सदाचारी मानव-जन॥ ३९ ॥

टि०—इस मंत्र में पहले सविता देव को सोम अर्पित किये जाने का वर्णन है। प्रार्थना की गई है, सोम श्रेष्ठ देवताओं को प्राप्त करें। श्रेष्ठ देवताओं को प्राप्त कर सोम प्रसन्न होकर कहता है- मैं पृथ्वी पर के मानवों के कल्याण के लिए आया हूँ। मैं मनुष्यों को धन और पुष्टि प्रदान करता हूँ। सदाचारी मनुष्यों को मैं वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ। महर्षि दयानंद के अनुसार वरुण के पाश का अर्थ है दु.ख और तिरस्कार के पाश। ३९

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः ॥४०॥

अग्ने	हे अग्नि!	व्रतपाः	मैं व्रतपालक हूँ।
व्रतपाः	तुम व्रतों का पालन करनेवाले हो।	तव या	तुम्हारा जो
		तनूः	शरीर
त्वे	तुम्हारे सामने	मयि	मुझमें

विष्णो	हे विष्णु !	कृधि	करो।
उरु वि क्रमस्य	हमारे शत्रुओं (बाहरी तथा भीतरी दोनों) पर प्रचंड आक्रमण करो।	घृतयोने	घृत से वृद्धि पानेवाले!
क्षयाय	(हमारे) निवास के लिए	घृतं प्रपिब	घी का पान करो।
नः	हमको	यज्ञपतिं प्र तिर	यजमान की अतिशय वृद्धि (उन्नति) करो।
उरु	विस्तीर्ण (बलवान)	स्वाहा	यह आहुति तुमको अर्पित है ॥ ३८ ॥

हे विष्णो ! सर्वव्यापक ईश्वर ! परमात्मन् ! ।
करो पराक्रम देवदेव ! कामादि शत्रुहन[1] ॥
पराभूत हों शत्रु उन्हें आक्रान्त करो प्रभु ।
विस्तृत करो निवास-भूमियों में हमको विभु ॥
घृतयोने[2] ! घृत पियो हमारे द्वारा अर्पित ।
यजमानों को वर्द्धित करो समृद्धि परम नित ॥
अर्पित करते हैं हवि यह तुमको हम स्वाहा ।
परमात्मन् ! स्वीकार करो यह आहुति स्वाहा ॥ ३८ ॥

टि०—जो सर्वव्यापक परमेश्वर हैं, वे ही विष्णु हैं। उनका पराक्रम तीनों लोकों का अतिक्रमण कर गया है, इसलिए वे त्रिविक्रम हैं। वे दैत्यों, राक्षसों को नष्ट करते हैं, देवों, गायों और सज्जनों की रक्षा करते हैं। वे काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्य के आंतरिक शत्रुओं का भी निवारण करते हैं। हमारी निवास-भूमियों का विस्तार हो, यह विशेष प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। ३८

देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् । एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ उपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥३९॥

सवितः देव	सबके प्रेरक देव,	तम्	उसकी
एषः	यह	रक्षस्व	रक्षा करो;
सोम ते	सोम तुमको अर्पित है;	त्वा	तुमको (कोई)
		मा दभन्	नष्ट न करे।

१ काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को नष्ट करनेवाले, २ घी से वृद्धि करनेवाले ।

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा[1] ॥४१

विष्णो	हे सर्वव्यापक परमात्मन् !	घृतं	घृत को
उरु वि क्रमस्व	(हमारे) बाहरी-भीतरी शत्रुओं के लिए प्रबल पराक्रम करो।	प्र पिब	विशेष उत्कृष्ट रीति से पियो।
नः	हमको	यज्ञपतिम्	यजमान को
क्षयाथ	अपने निवास के लिए	प्र तिर	अतिशय वृद्धि प्राप्त कराओ।
उरु कृधि	प्रबल करो।	स्वाहा	यह आहुति तुमको अर्पित है ॥ ४१ ॥
घृतयोने	घृत से वृद्धि पानेवाले (तुम)		

व्यापक आहवनीय अग्निरूपी परमेश्वर।
करो नष्ट कामादि शत्रु रहते जो भीतर॥
करो पराक्रम, नष्ट करो सब शत्रु हमारे।
वासभूमि विस्तार[1] व्रत रहें नित हम धारे॥
घृतयोने ! यह परम पूत घृत पान करो तुम।
पाकर कृपाप्रसाद करें यजमान वृद्धि हम॥
करते अर्पित देव ! तुम्हें गो-घृत यह स्वाहा।
ऋतुपति का उद्धार करो, अर्पित हवि स्वाहा॥ ४१ ॥

टि०—इस मंत्र में बाहरी और भीतरी सभी शत्रुओं को नष्ट करने का आदेश दिया गया है। साथ ही निवास-भूमि को निरंतर विस्तृत करने का निर्देश भी इस मंत्र में है। निवास-भूमि को विस्तृत करने का अर्थ ब्रह्म-गृह में निवास या ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना भी हो सकता है। मनुष्य अपनी सीमाओं को तोड़कर, शान्त स्थिति छोड़कर असीम और अनंत भी बन सकता है। ४१

अत्यन्याँ२ अगां नान्याँ२ उपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥४२॥

---

१ निवास करने के स्थान की वृद्धि।

अभूत्	स्थित है,	व्रतानि	व्रतों को
सा	वह	यथायथम्	यथायोग्य सम्पादन करो।
एषा	यह (शरीर)		
त्वयि	तुम्हारा है।	दीक्षापतिः	दीक्षापालक देव ने
या उ तनूः	जो यह शरीर	मे	मेरी
त्वयि अभूत	तुममें है।	दीक्षाम्	दीक्षा का
सा इदं मयि	वह शरीर मुझमें स्थिर हो।	अन्वमस्त	अनुमोदन किया है।
		तपस्पतिः	तप का पालक
व्रतपते	हे व्रतपालक अग्नि !	तपः अनु	मेरे तप को अंगीकार करें ॥ ४० ॥
नौ	हमारे		

जगदीश्वर हे अग्नि ! अये व्रतपा[1] परमात्मन् ।
सम्मुख रहता देव ! तुम्हारे व्रतपालक बन ॥
व्रतपालन से बनता उन्नत मानव - जीवन ।
करता मैं संकल्प, करूँगा नित व्रतपालन ।
धर्माचरण - युक्त हो मेरा जीवन प्रतिक्षण ॥
यथायोग्य मैं करूँ धर्म का सम्यक पालन ।
तुम हो मुझमें और सदा मैं तुममें संस्थित ।
स्मरण करूँ यह सतत पाप से मुक्त रहूँ नित ॥
दीक्षापालक[2] देव ! करूँ मैं दीक्षा - पालन ।
करूँ तुम्हारे उपदेशों पर सदा आचरण ॥
तप के अधिपति देव ! रहो अनुकूल सदा तुम ।
यथायोग्य कर सकें अनुष्ठित तपश्चरण[3] हम ॥ ४० ॥

टि०—इस मंत्र में सर्वप्रथम व्रतपालन का महत्त्व बताया गया है। परमेश्वर व्रतपालक हैं, धर्म-नियमों का यथायोग्य पालन करते है। मनुष्य धर्म-नियमों का पालन करके ही उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को भगवान के सामने यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं जीवन में प्रतिक्षण धर्माचरण करूँगा। यदि मनुष्य यह स्मरण रखे कि मैं भगवान में हूँ और भगवान मुझमें है और उनकी दृष्टि निरंतर मुझ पर है, तो वह पाप नहीं करेगा। दीक्षा का अर्थ है सत्य का उपदेश। तप का अर्थ है किसी महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्वेच्छा से दुःखों और कष्टों को अंगीकार करना। महर्षि दयानंद के अनुसार तप का अर्थ है अखंड ब्रह्मचर्य। ४०

---

१ व्रत पालन करनेवाले;　२ सत्यनिष्ठ;　३ तपस्या का अनुष्ठान।

सर्वव्यापक विष्णुदेव का वरण करें हम।
जीवन शोभन बने, विष्णु का वरण करें हम॥
यज्ञसिद्धि के हेतु कर रहे हम आराधन।
रोग-क्लेशहर यज्ञ रहें अक्षत हे भगवन्॥ ४२॥

टि०—इस मंत्र में वनस्पतियों के निर्माता परमात्मा की भक्तिपूर्ण वाणी में स्तुति की गई है। परमात्मा का सर्वव्यापक पूर्णरक्षक-रूप विष्णु है। इन्हीं के द्वारा प्राण-रक्षक ओषधियों का निर्माण किया गया है। ये ओषधियाँ यज्ञ-सिद्ध होकर और भी प्राणदायिनी और चिर-अभीष्ट हो जाती है। हम लोग सर्वांत.करण से भगवान से प्रेम करें। साथ ही इस मंत्र में यह भी कहा गया है कि मनुष्यों को नीच पुरुषों को छोड़कर उत्तम विद्वज्जनों का सेवन करना चाहिए। ४२

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव। हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम॥४३॥

[अध्यायः ५, कण्डिकाः४३, मंत्र-संख्या १५०]

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्यां	द्युलोक को
मा	मत
लेखीः	नष्ट करो।
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष का
मा हिंसीः	विनाश न करो।
पृथिव्याः	पृथ्वी के साथ
सम्भव	मित्रता के साथ रहो।
हि	निश्चय ही
हेतिजानः	अत्यन्त तीक्ष्ण
अयं स्वधीतिः	यह कुठार
महते सौभगाय	महान सौभाग्य-प्रदाता यज्ञ के लिए
त्वा प्रणिनाय	तुम्हारे पास आया है।
वनस्पते देव	हे वनस्पति देव !
अतः त्वम्	इसलिए तुम
शतवल्शः विरोह	सौ वर्षों तक बढ़ते रहो।
वयं सहस्रवल्शः	हम हजारों वर्षों तक बढ़ते रहेंगे, हजारों प्रकार के धनों से संपन्न होंगे॥ ४३॥

आता है द्युलोक से सूर्य-प्रकाश निरंतर।
विश्वात्मा वह, प्राप्त करो उसकी ऊर्जा नर॥

अन्यान्	दुष्टों	त्वा	तुमको चाहते हैं।
अन्यान्	पापियों को छोड़कर	त्वा जुषामहे	तुमको वैसे ही हम भी चाहते हैं।
उप अगाम्	हम सज्जनों के पास जायँगे।	देवयज्ञाये त्वा	देवयज्ञ के लिए तुमको चाहते हैं।
परेभ्यः परः	उत्तमों से भी उत्तम, जो कोई दूर-से-दूर हो,	विष्णवे	सर्वव्यापक परमेश्वर की
अवरेभ्यः अर्वाक्	निकट-से-निकट हो,	स्वधिते	उपासना के लिए
तं त्वां	उन तुमको	त्वा स्वधिते	हम तुमको स्वीकार करते हैं।
अविदम्	मैं पाऊँ।		
देवाः	देवगण या विद्वज्जन	एनं	इस ज्ञानयज्ञ को
देवयज्यायै	देवयज्ञ के लिए	मा हिंसीः	नष्ट मत करो॥४२॥

वनस्पते हे देव! त्याग कर जैसे दुर्जन।
करते हो तुम वरण सज्जनों का हे चिद्घन॥
वैसे ही मैं त्याग खलों, दुष्टों का संगम।
विद्वानों का संतजनों का करूँ समागम॥
दूर दूर अति, निकट अति निकट जो विद्वज्जन।
जाऊँ उनके निकट, करूँ मैं प्राप्त ज्ञान-धन॥
उत्तम में उत्तम, समीप में अति समीप हम।
पाते तुमको रहें सदा ही हे देवोत्तम॥
गुणवत्ता की प्राप्ति हेतु तुमको विद्वज्जन।
अर्पित करते प्रीति भक्ति-विगलित मन प्रतिक्षण॥
वैसे ही हम करें प्रेम तुमसे नव नव नित।
अंतःकरण चतुष्टय[1] तुमको रहें समर्पित॥
देवयज्ञ के हेतु प्रीति करते जैसे जन।
वैसे ही हम करें प्रेम तुमसे परमात्मन्॥
औषधिचय है इष्ट यथा जन-जीवन के हित।
यज्ञसिद्ध जो रोग-क्लेशहर सदा अभिलषित॥
रोग-क्लेश के नाश हेतु हम सब विद्वज्जन।
यज्ञसिद्धि के हेतु कर रहे हैं आवाहन॥

---

१ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददे[1] नार्यसी[2]दमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि[3]।
यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीं[4]र्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा
पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तांल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि[7] ॥ १ ॥

सवितुः	(हे राजा !) सविता	अपि	भी
देवस्य	देवता की	कृन्तामि	काटता हूँ।
प्रसवे	प्रसन्नता के लिए	यवः असि	तुम शत्रुओं को दूर करनेवाले हो।
अश्विनोः	अश्विनीकुमारों की	अस्मत्	हमसे
बाहुभ्यां	दोनों भुजाओं से (और)	द्वेषः यवय	शत्रुओं को दूर करो।
पूष्णः	पूषा देवता के	अरातीः	अदानदाताओं को
हस्ताभ्याम्	दोनों हाथों से	यवय	दूर करो।
त्वा	तुमको	पितृषदनाः	पिता के समान पालक
आ ददे	(मैं) ग्रहण करता हूँ।	लोकाः	सभी प्रजाजन
नारी	तुम (न+अपि) नारी, अर्थात् मित्र	त्वा	तुम्हें
असि	हो।	दिवे	द्युलोक में
अहं	मैं उसका	अन्तरिक्षाय	अन्तरिक्ष में,
इदम्	इन	पृथिव्यै	पृथ्वी के लिए
रक्षसां	राक्षसों की	शुन्धताम्	शुद्ध रखें।
ग्रीवाः	गर्दन	पितृषदनम्	(तुम) पिता के घर के समान पालक
		असि	हो ॥ १ ॥

षष्ठ अध्याय

हैं उदय हो रहे विश्व - प्रसविता सविता।
है विश्व प्रकाशित और प्रकृति है मुदिता ॥

अंतरिक्ष की वस्तु तनिक भी हो न कभी क्षत[1]।
है द्युलोक की वायु प्राणदायक जग के हित॥
इस पृथ्वी के मित्र रहो मानव तुम संतत।
भूतदया[2] की विश्वप्रेम की वृद्धि करो नित॥
शत्रु-विनाशक यह कुठार यह वज्र निशिततम[3]।
प्राप्त तुम्हें सौभाग्य-वृद्धि के हेतु अनुत्तम॥
वनस्पते! हे देव! बढ़ो शत अयुत वर्ष तुम।
अयुत वर्ष तक करें यज्ञ हों ऋद्धिपूर्ण हम॥
अयुत-अयुत युग राष्ट्र प्रगति-पथ पर हो धावित।
रहे अवध्य[4] अदीन, पराक्रम से परिपूरित॥ ४३॥

टि०—इस मंत्र में सूर्य के तेज को धारण करने का निर्देश किया गया है। यह भी कहा गया है कि हम द्युलोक की वायु-जैसी वस्तु को क्षत या प्रदूषित न करें। आज वायु के प्रदूषण की समस्या मनुष्य के सामने है। वैदिक ऋषि ने हजारों-लाखों वर्ष पूर्व वायु आदि को प्रदूषण से मुक्त रखने का निर्देश दिया था। कठोर और वज्र-जैसे तीक्ष्ण शस्त्र मनुष्य को प्राप्त हैं। उनका दुरुपयोग हमें वनस्पति को नष्ट करने में नहीं करना चाहिए। हम ऐसे कर्म करें जिनसे हमारा राष्ट्र हजारों वर्षों तक मृत्युंजय रहे। ४३

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

---

१ हानि को प्राप्त; २ प्राणिमात्र के प्रति करुणा का भाव; ३ अत्यंत तीक्ष्ण। ४ अपराधीन।

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृंहीः ॥२॥

अग्रेणीः	(तुम) सबको आगे ले जानेवाले
असि	हो।
उत्	ऊँचे मार्ग से ले चलनेवाले
नेतृणां	नेताओं को
स्वावेशः	सन्मार्ग पर स्थापित करनेवाले हो।
एतस्य	इसको
वित्तात्	अच्छी तरह जानकर
देवः	दिव्य गुणोंवाला
सविता	सबका प्रेरक उत्पादक, सविता
त्वा	तुमपर
अधि स्थास्यति	अधिष्ठाता के रूप में स्थित रहेगा।
त्वा	तुमको
सुपिप्पलाभ्यः	अच्छे-अच्छे फलों-वाली
ओषधीभ्यः	ओषधियों से
मध्वा	मधुर गुणों से
आनक्तु	सिंचित करे
अग्रेण	अग्रणी श्रेष्ठ गुणों से
द्याम्	स्वर्ग को
अस्पृक्षः	(तुम) स्पर्श करो
मध्येन	मध्य के साधारण कार्यों से
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष का
अप्राः	पालन करो।
उपरेण	अपने श्रेष्ठ नीचे के भाग से
पृथिवीम्	इस पृथ्वी को
अदृंहीः	दृढ़ करो॥ २ ॥

अभिषिक्त हुए तुम, हो सबके अग्रणी सतत।
उत्पथगामी[1] नेताओं के सत्पथ-दर्शक॥
कर्तव्य-कर्म की करो प्राप्त अपने अवगति।
कर्तव्य-मार्ग पर चरण तुम्हारे जायँ न रुक॥
सत्पथ पर जन-नेता को करो प्रतिष्ठित तुम।
अन्यथा भरेगा जनता में घातक भ्रम-तम॥
अनुयायी होंगे उनके अकल्याण-भाजन।
बन जायेगा उन सबका श्रेयहीन जीवन॥
प्रसविता विश्व के सविता दिव्य विभूतिमान।
हैं सबके ऊपर वे ही नित्य विराजमान॥

१ असत् मार्ग पर चलनेवाले

शुभ कर्म-हेतु है प्राप्त काल यह उत्तम।
अभिषेक तुम्हारा करते हैं अब सब हम॥
पूषा के पोषणकारी कर फैलाकर।
अश्विनीकुमारों की बाँहें विस्तृत कर॥
कर रहे ग्रहण हम सादर वरण तुम्हारा।
तुममें सुन्यस्त रक्षा का भार हमारा॥
यह नारी जो है अर्द्धांगिनी तुम्हारी।
यह शक्ति-स्वरूपा रक्षक बने हमारी॥
दुर्जन-खल पास न फटकें कभी तुम्हारे।
हैं शिरच्छेद के योग्य निशाचर सारे॥
हैं नहीं दया के पात्र आततायी वे।
ग्रीवा-कर्तन के योग्य दण्डदायी हे!॥
राष्ट्र के अनामय-हेतु शत्रु संहारो।
हम सबकी रक्षा-हेतु शत्रु सब मारो॥
द्वेषी, अराति, दुर्जन सब दूर हटाओ।
निज प्रजाजनों में पितृषदन[1] यश पाओ॥
तुम पितृकल्प[2] बन करो राष्ट्र का पालन।
हम प्रजाजनों के पालक बनो पितर बन॥
पवमान गगन में दिन में है जैसे रवि।
धरती पर पाओ वैसी ही अनुपम छवि॥
तुम पावनता के मानदंड बन जाओ।
धरती पर पावनता की ज्योति जगाओ॥ १ ॥

टिप्पणी—महर्षि दयानंद के अनुसार यह राज्याभिषेक के अवसर का उद्बोधन मंत्र है। प्रजाजन अभिषेक के अवसर पर सम्मिलित रूप से मूर्धाभिषिक्त सम्राट् को इस प्रकार अभिनंदित और संबोधित करते है। मूर्धाभिषिक्त शासक राष्ट्रों के शत्रुओं का शिरच्छेदन करे। वह पिता के समान प्रजाजनों को प्रिय हो। उसकी पत्नी भी समान गुणशीलवाली शक्तिस्वरूपा हो। द्युलोक में सूर्य के समान और अंतरिक्ष में पवमान के समान मूर्धाभिषिक्त शासक धरती को पवित्र बनाकर शोभित हो। प्रजा का रक्षण-पोषण-पालन उसके जीवन का व्रत हो। शासक धरती पर पवित्र आचरण का मानदंड स्थापित करे। १

१ पिता के घर के समान; २ पिता-तुल्य।

भूरि अव भारि	शोभा पाता है।
त्वा	(मैं) तुमको
ब्रह्मवनि	ब्राह्मणों,
क्षत्रवनि	क्षत्रियों (तथा)
रायस्पोषवनि	सम्पत्तिवान वैश्यों को
पर्यूहामि	(ऐश्वर्य का वितरण करनेवाला) समझता हूँ।
ब्रह्म दृंह	ब्राह्मण-बल को बढ़ाओ।
क्षत्रं दृंह	क्षात्र-बल को बढ़ाओ।
आयुः दृंह	प्रजा की आयु को बढ़ाओ।
प्रजां दृंह	प्रजाओं को बढ़ाओ ॥ ३ ॥

जिन भवनों में तेरे प्रवेश के हम इच्छुक।
वे हों उत्तम, धारें रवि-कर का ज्योतिर्स्तक् ॥
आती हैं जहां भूरिश्रृंगा रवि की किरणें।
चैतन्य कलाएँ परमेश्वर की दुख हरने ॥
हो वास तुम्हारा जहाँ प्रकट हैं परमेश्वर।
वे विष्णु सर्वरक्षक, व्यापक उरुगाय-प्रवर[1] ॥
शासन की करो व्यवस्था ऐसी न्यायोचित।
प्रत्येक वर्ण को भाग मिले उसमें समुचित ॥
हो वेद-ज्ञान की वृद्धि, बढ़ाओ ब्राह्मण-बल।
हो वृद्धि क्षात्र-बल की सेना हो अप्रतिबल ॥
धनवान वैश्य हों, करें राष्ट्र की आय-वृद्धि।
हो प्रजाजनों की आयुवृद्धि स्थिर स्वास्थ्य-सिद्धि ॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, प्रजाजनों के द्वारा मनोनीत सम्राट अथवा राष्ट्राध्यक्ष का निवास ऐसा हो जो भूरिश्रृंगा रविकिरणों से उद्भासित हो और जो जनसाधारण को विश्वपालक सर्वव्यापक विष्णु के सबको शरण प्रदान करनेवाले धाम जैसा प्रतीत हो। राष्ट्राध्यक्ष द्वारा शासन की ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे राष्ट्र की ज्ञानशक्ति, आंतरिक सुरक्षा करनेवाली क्षात्रशक्ति और राष्ट्र की आय की वृद्धि करनेवाली धन-व्यवसाय की शक्ति बढ़े। शासन को प्रजाजनों के स्वास्थ्य की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि रोग और व्याधि के कारण प्रजाजनों का आयुर्बल खंडित न हो। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र की उन्नति के आधार है— ज्ञान-विज्ञान, सैन्यशक्ति और आर्थिक विकास। ३

१ बहुत अधिक गेय कीर्तिवाले यशस्वियों में श्रेष्ठतम।

यह स्मरण रहे, कोई न कुपथ पर धरे चरण।
माधुर्य-प्रपूरित रहे तुम्हारा प्रति पल-क्षण ॥
निज दिव्य गुणों से तुम द्युलोक के बनो पात्र।
प्रभु गुणगण से भर दो नभ का निःसीम गात्र[1] ॥
जो अंतरिक्ष में मध्यवर्ग के रहते जन।
उनका नित पालन करो, करो उनका पोषण ॥
नीचे है पृथ्वी, पृथ्वी का है निम्न वर्ग।
उसको तुम अति दृढ़ करो, बनाओ उसे स्वर्ग ॥ २ ॥

टि०—छठे अध्याय के प्रथम मंत्र में अभिषिक्त शासक के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। यह मंत्र भी उसी आदेश-निर्देश की अगली कड़ी है। इस मंत्र में मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् अथवा राजा के उत्तरदायित्व का निर्देश है। उसको यह जानना चाहिए कि उसके शास्ता के रूप में जगत् का उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर है। वह सबको देखता है। यह स्मरण रखते हुए शासक कभी असत्कर्म न करे। इनमें एक बड़ी प्रासंगिक बात यह कही गई है कि शासक जननेताओं पर दृष्टि रखे। उन्हें सन्मार्ग पर चलने को विवश करे। नेता के पथभ्रष्ट होने से जनता का विपथगामी होना अनिवार्य है। इस मंत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि शासक की दृष्टि में वर्गभेद से प्रेरित पक्षपात नहीं होना चाहिए। प्रथम, मध्यम एवं तृतीय श्रेणी के लोग शासन की दृष्टि में समान होने चाहिए। २

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि[1] ।
ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि[2] ।
ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह[3] ॥३॥

ते	तेरे	गावः	किरणें
या	जिन	अयासः	होती हों
धामानि	धामों में	उरुगायस्य	बहुत प्रशंसनीय
गमध्यै	(हम) जाने की इच्छा करते हैं,	विष्णोः	विष्णु का
		तत्	वह
उश्मसि	वे ऐसे हों।	परमं पदम्	उत्कृष्ट स्थान
यत्र	जहाँ	अत्र	यहाँ
भूरि शृङ्गाः	बहुत प्रकाशमान	अह	ही

१ आकाश का अनंत शरीर।

वह है द्युलोक तक वितत विष्णु का पद उच्छ्रित[1]।
ज्ञानी जन करते हैं उसका अवलोकन नित ॥
सर्वत्र उसी का करते दर्शन ज्ञानी जन।
फैला प्रकाश उनका द्युलोक तक है शोभन ! ॥
प्रति अणु - कण में बाहर - भीतर वे विद्यमान।
मानव ! यह धारण-योग्य विष्णु का परम ज्ञान ॥ ५ ॥

टि०—इस मंत्र में विष्णु की सर्वव्यापकता का निर्देश है। संसार की एक पाद-विभूति से लेकर त्रिपाद-विभूति तक उनका प्रकाश फैला है। ज्ञानी जन उसी का ध्यान करते हैं। सब मनुष्यों को भी उसका अनुभव करना चाहिए। ५

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां
परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम्[1]।
दिवः सूनुरस्ये[2]—ष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः[3] ॥६॥

त्वं	तुम
परिवीः	सर्वव्यापक(ईश्वर के समान)
असि	हो;
त्वा	तुम्हें
दैवीः	विद्वान
विशः	प्रजाजन
परि व्ययन्ताम्	सर्वत्र व्याप्त समझें।
इमं	इस
यजमानम्	यजमान को
मनुष्याणां	मनुष्यों के लिए
रायः	उपयोगी ऐश्वर्य
परि व्ययन्ताम्	(चारों ओर से प्राप्त हो।)
दिवः	हे यज्ञकर्ता ! द्युलोक के प्रकाश-वाले पुत्र के समान
सूनुः असि	पुत्र हो।
एषः	इस
पृथिव्यां	पृथ्वी पर के
लोकः	समस्त लोक
ते	तुम्हारे (मित्र हैं)
आरण्यः	अरण्यवासी
पशुः ते	पशु भी तुम्हारे हैं ॥६॥

---

१ समुन्नत।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥

विष्णोः	विष्णु के	पस्पशे	देखा जाता है।
कर्माणि	कार्यों को	इन्द्रस्य	इन्द्र अथवा आत्मा
पश्यत्	देखो		का
यतः	जिनके अन्दर	युज्यः	(वह)योग्य
व्रतानि	बहुत से नियमों को	सखा	मित्र है ॥ ४ ॥

मानवो ! विष्णु हैं सर्वव्यापक परमेश्वर ।
देखो, सर्जन, रक्षण, संहार रहे वे कर ॥
उनके अनंत कार्यो का सतत करो ईक्षण[1] ।
उनका अनंत सामर्थ्य करो अनुभव प्रतिक्षण ॥
अवबोध विष्णु के नियमों का तुम करो प्राप्त ।
उन नियमों के अनुकूल आचरण करो आप्त ॥
यह आत्मा ही है इन्द्र, सखा हैं परमेश्वर ।
सायुज्य सदा ही सुलभ, सतत साक्षी प्रभुवर ! ॥ ४ ॥

टि०—इन्द्र का अर्थ आत्मा किया गया है। परमेश्वर इस जीव के साथ है। वे आत्मा या जीव से नित्य जुड़े हैं। विष्णु प्रत्येक कर्म के साक्षी है, भगवान विष्णु के सर्जक, रक्षक और संहार के कार्यों को देखकर उनके नियमों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य को उन नियमों के अनुकूल आचरण करना चाहिए। धर्माचार से रहित जन भगवान की कृपा से वंचित रह जाते हैं। ४

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥

सूरयः	विद्वज्जन	आततम्	व्याप्त
विष्णोः	विष्णु के	चक्षुः	तेज या दृष्टि के
परमम्	परम	इव	समान
पदम्	पद को	सदा पश्यन्ति	सदा देखते हैं।
दिवि	द्युलोक में	तत्	उनको तुम लोग भी देखो ॥ ५ ॥

१ दर्शन।

देव	हे दिव्य पुरुष !	हव्या	नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ
त्वष्टः	हे निर्माण करनेवाले कारीगर !	ते	तुमको
वसु रम	धन में रममाण रहो।	स्वदन्ताम्	आस्वाद प्रदान कर दें ॥ ७ ॥

हे शासन के कर्णधार मूर्द्धाभिषिक्त नृप।
रह समीप पालते प्रजा पुत्र-सी प्रजाधिप ॥
कहते तुमको सदा उपावी[1] दिव्य प्रजाजन।
गुणगण - मंडित उन्हें काम्य तुम-सा विद्वज्जन ॥
चलते हैं जो परम धर्म के पथ पर अविरत।
उसी मार्ग पर करते अन्यों को जो प्रेरित ॥
वैसे ही तुम प्रजाप्राण शासक स्वधर्म - रत।
प्राप्त हुए हो उन्हें, हरो सब संकट संतत ॥
त्वष्टा हो हे देव ! दुःखछेत्ता[2] हो वंदित।
जीवन - स्रष्टा कलाकार हो प्रथित समादृत ॥
प्रजाजनों से मिली तुम्हें संपत्ति अपरिमित।
उसमें रह रममाण[3] प्रजा को सुखी करो नित ॥
न्यायार्जित निज भाग प्रजाजन भोगें पावन।
असत् और अन्याय-प्रलोभित हो न कभी मन ॥ ७ ॥

टि०—यजुर्वेद का यह अध्याय मूर्द्धाभिषिक्त शासक के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोध करानेवाले मंत्रों से आरम्भ होता है। शासक को आदेश दिया जाता है कि वह प्रजा का उसी तरह पालन करे—जैसे पिता अपने औरस पुत्रों का करता है। यह मंत्र भी वैसा ही है। इसमें शासक को उप+आवीः=उपावीः अर्थात् पास रहकर रक्षा करनेवाला कहा गया है। प्रजाजनों को दिव्य गुणों से मंडित विद्वान और परमोत्तम धर्म-मार्ग पर चलनेवाला शासक ही काम्य होता है। ऐसे शासक को त्वष्टा कहा गया है। त्वष्टा के दो अर्थ है— (१) सब दुःखों का छेदन करनेवाला; (२) निर्माण करनेवाला कारीगर। शासक प्रजाओं के दुःख दूर करता है और उन्हें धर्ममार्ग पर प्रेरित कर कुशलता के साथ उनके जीवन का नवनिर्माण करता है। राजा प्रजाजनों से ऐश्वर्य पाता है। उसका कर्तव्य है, वह प्रजाओं को अपने ही जैसा ऐश्वर्यवान बनावे। ७

रेव॑ती॒ रम॑ध्वं॒ बृह॑स्पते धा॒रया॒ वसू॑नि ।
ऋ॒तस्य॑ त्वा देवहवि॒ः पाशे॑न॒ प्रति॑ मुञ्चा॒मि॒ धर्षा॒ मानु॑षः ॥८॥

१ उप+आवी अर्थात् पास रहकर संरक्षण करनेवाला; २ दुःख का छेदन करनेवाले; ३ रमण करते हुए।

तुम परिवी[1] हो, सर्वव्यापक जगदीश्वर।
देखें तुमको सर्वत्र सतत ज्ञानी नर॥
जो यज्ञ तुम्हारे हेतु करें समनुष्ठित।
ऐश्वर्य-प्राप्ति उन यजमानों को हो नित॥
उनको अभीष्ट धन मिलता रहे निरंतर।
राजन्य प्रजा की रक्षा में हों तत्पर॥
हे यज्ञ-कर्म के कर्ता! कृती अनुत्तम।
दिव के प्रकाश की संतति अभिनंदित तुम॥
है कार्य-क्षेत्र बहु वितत[2] तुम्हारा धरती।
दिव-ज्योति रहे इसपर नित नवल बरसती॥
सब मित्र तुम्हारे धरती के अधिवासी।
ऋतुकर्त्ता! ये सब हैं तेरे विश्वासी॥
आरण्यक[3]-जंतु-सृष्टि यह सदा तुम्हारी।
पा मित्र-दृष्टि होगी चिर चेरी सारी॥
सब हिंस्र वन्य-पशु वश में रहें तुम्हारे।
हों बुद्धि और बल से सुनियंत्रित सारे॥ ६॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञकर्ता को यह आदेश दिया गया है कि वह ईश्वर को प्रत्येक क्षण सर्वत्र विद्यमान देखे! यही महान ज्ञानयज्ञ है। ईश्वर को इस मंत्र में 'परिवीः' कहा गया है। 'परिवीः' का अर्थ है सर्वव्यापक। जिस यज्ञकर्ता में यह ज्ञान है, वह द्युलोक के प्रकाश का पुल है। संपूर्ण धरती उसका कार्यक्षेत्र है। उसका आदेश है, वह पृथ्वी के सब प्राणियों को मित्र-दृष्टि से देखे। यहाँ तक कि जंगल के पशुओं पर भी उसकी मित्रदृष्टि रहे। मित्रदृष्टि अथवा अहिंसा-भावना से वे भी वश में लाये जा सकते हैं—अहिंसा सन्निधौ वैरत्यागः। यदि वे उच्छृंखल होने लगें तो बुद्धिबल से उन्हें वशीभूत और नियंत्रित करने के उचित उपाय किये जाएँ। ६

उ॒पा॒वी॒र॒स्युप॑ दे॒वान्दैवी॒र्विशः॒ प्रागु॑रु॒शिजो॒ वह्नि॑तमान्।
देव॑ त्वष्ट॒र्वसु॑ रम ह॒व्या ते॑ स्वदन्ताम्॥७॥

उपावीः	प्रजा के निकट रहकर उसके रक्षक	उशिजः	कान्तिमान एवं कामना योग्य
असि	हो।	वह्नितमान्	तेजस्वी
दैवीः	दिव्यगुणवाली	देवान्	विद्वानों को
विशः	प्रजाएँ	उप प्र अगुः	प्राप्त हों।

१ सर्वव्यापक; २ फैला हुआ; ३ वन को।

त्वा	तुमको
देवस्य	सर्वोत्पादक
सवितुः	परमेश्वर के
प्रसवे	प्रशासन में
अश्विनोः	अश्विनी देवों की
बाहुभ्यां	बाँहों से (और)
पूष्णः	पूषा के
हस्ताभ्याम्	हाथों से (स्वीकार करता हूँ)।
त्वा	तुमको
अग्नीषोमाभ्याम्	अग्नि और सोम के
जुष्टं	तेज से युक्त कार्य में
नि युनज्मि	लगाता हूँ।
त्वा	तुमको
अद्भ्यः	जलों द्वारा,
ओषधीभ्यः	ओषधियों के द्वारा
प्रोक्षामि	शुद्ध करता हूँ।
त्वा	तुमको
माता	(तुम्हारी) माता
अनुमन्यताम्	अनुमति दे।
पिता	पिता
अनु मन्यताम्	अनुमति दे।
भ्राता सगर्भ्यः	सहोदर भाई
अनु (मन्यताम्)	अनुमति दे।
सयूथ्यः	साथ रहनेवाला
सखा	मित्र
अनु (मन्यताम्)	अनुमति दे।
अग्नीषोमाभ्यां	अग्नि और सोम के तेज एवं शान्ति के गुणों से
त्वा	तुमको
जुष्टं	प्रीति करते हुए
प्रोक्षामि	मैं उन्हीं गुणों से अभिषिक्त करता हूँ ॥ ९ ॥

विद्यादान महान यज्ञ है यहाँ अनुष्ठित।
अये शिष्य! देता प्रवेश की तुमको स्वीकृति ॥
विश्व-प्रसविता सविता वेदों के उत्पादक।
ब्रह्मचर्य-व्रतनिष्ठ बनो उनके आराधक ॥
करता तुमको ग्रहण अश्विनी की बाँहों से।
आयुर्विद[1] की विहित स्वास्थ्य-साधक राहों से ॥
वरण कर रहा तुमको फैला पूषा के कर।
संपोषण के हेतु तुम्हारे हूँ मैं तत्पर! ॥
अग्निसोममय जगत तत्त्व इसका तुम जानो।
अग्नि तेजमय सोम शान्तिमय, यह पहचानो ॥
इन दोनों का तत्त्वज्ञान तुम प्राप्त करो नित।
ज्ञानयज्ञ में तुम्हें कर रहा सम्यक् योजित ॥
ब्रह्मचर्य-व्रत का हो जिससे समुचित पालन।
केवल वे जल अन्न करो निष्ठा से सेवन ॥

१ आयुर्विज्ञान का जाननेवाला

रेवतीः	ऐश्वर्य से सम्पन्न प्रजाजनो !	वसूनि	(और) श्रेष्ठ धनों को
रमध्वम्	(तुम) आनन्द में रहो।	आ धारय	धारण करो।
बृहस्पते	हे विद्वान पुरुष !	मानुषः	(हे राजा !) मनुष्य के
ऋतस्य	सत्य व्यवहार द्वारा प्राप्त	पाशेन	पाशों से
देवहविः	दिव्य हवि	त्वा	तुमको
		प्रति मुञ्चामि	(मैं) छुड़ाता हूँ।
		आ धर्ष	तुम सब अज्ञान का धर्षण करो॥ ८ ॥

अये अतुल ऐश्वर्यपूर्ण रेवती[1] प्रजाजन !।
पूर्ण करो शिक्षा, विद्या, धन से निज जीवन॥
करो सत्य - व्यवहार - प्राप्त धन ही तुम धारण।
भोग करो हविभाग दिव्य न्यायार्जित प्रतिक्षण॥
मानव - बंधन - मुक्त तुम्हें करता मैं राजन् !।
प्रज्ञापुरुष ! निरस्त करो अज्ञान - तिमिर घन॥
दलित करो निःशेष अविद्याजनित क्लेश-भ्रम।
परम ज्ञान, ऋत और सत्य के सूर्य सदा तुम॥ ८॥

टि०—इस मंत्र के पूर्व भाग में प्रजाजनों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वे ऐश्वर्यवान बनें और सच्छिक्षा एवं विद्या प्राप्त कर अपने जीवन को सुसंस्कृत और समुन्नत बनावें। प्रजाजन धनी और ऐश्वर्यवान तो बने, किन्तु वे सत्य और न्याय के मार्ग पर चलकर ही धन अर्जित करें। समाज में प्रजाजन अपने न्यायानुमोदित भाग का ही भोग करें, दूसरे का भाग अन्याय से हड़पने का प्रयत्न न करें। राजा किंवा शासक का कर्तव्य है कि वह अटल और सत्य का सूर्य बनकर रहे। अपनी प्रजा के लिए उच्चकोटि की शिक्षा की व्यवस्था करे श्रेष्ठतम विद्यायें सिखाने के लिए प्रयत्न करता रहे; अपने राज्य से अविद्या और अज्ञान को सदैव के लिए निःशेष कर दे। ८

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि युनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[2] ॥९॥

---

१ धनयुक्त।

संचित रखो निकट दिव्य जल नित्य निरंतर।
सम्यक् संग्रह करो हव्य के द्रव्य दिव्यतर॥
देवों का आशीष प्राप्त तुम करो अनुत्तम!।
सकल अंग-प्रत्यंग तुम्हारे रहें कार्य-क्षम!॥
प्राणवायु पवमान परम पावन यह प्रवहित!।
तुम उसमें रममाण रहो हे उत्तम क्रतुकृत[1]!॥
यज्ञकृतों को रहे प्राप्त सहयोग तुम्हारा।
रहे समर्पित यज्ञ-कर्म हित जीवन सारा॥ १०॥

टि०—इस मंत्र में यजमान को संबोधित करते हुए उसके कर्तव्य का अवबोध करवाया गया है। यज्ञकर्ता के पास दिव्य जल का सागर जैसा विशाल संचय रहना चाहिए। दिव्य-जल का अर्थ है गंगा जैसी पवित्र नदियों का जल, किंवा मेघों से बरसा हुआ जल। ऐसे पवित्र जल का उपयोग ही यज्ञों में विहित है। यज्ञ में प्रयुक्त की जानेवाली सामग्री पवित्र होनी चाहिए। यह पवित्रता दो प्रकार से संभव है—(१) वह स्पर्श-दोष से दूषित न हो; (२) वह न्याय से अर्जित की गई हो। १०

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳬं रेवति यजमाने प्रियं धा आ विशं।
उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य
हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भवं।
वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः
स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥११॥

घृतेन	(तुम दोनों) घृत से	धाः	आचरण करो;
अक्तौ	युक्त होकर	आ विश	उसके साथ एकचित्त हो जाओ।
पशून्	पशुओं का		
त्रायेथाम्	पालन करो।	देवेन	दिव्य
रेवति	हे धनवती,	वातेन	प्राण के
	भाग्यवती स्त्री!	सजूः	साथ
यजमाने	यजमान के साथ	उरोः	विशाल
प्रियं	प्रिय	अन्तरिक्षात्	अन्तरिक्ष से

१ यज्ञ करनेवाले।

माता, पिता, सगोत्र भाइयों की पा अनुमति।
अंतेवासीरूप[1]! तुम्हें मैं करता दीक्षित॥
अंतेवासीरूप शिष्य! अभिषिक्त हुए तुम।
ब्रह्मचर्य-व्रत में तुमको दीक्षित करते हम॥ ९॥

टि०—इस मंत्र का काव्यानुवाद महर्षि दयानन्द के भाष्य के अर्थसूत्र का ग्रहण कर किया गया है। पूर्ववर्ती मंत्र में यह बताया गया है कि राजा पर ही प्रजाजनों की सम्यक् शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व है। राजा का यह प्रमुख कर्तव्य है। इस मंत्र में आचार्य और शिष्य के कर्तव्य, उत्तरदायित्व और पारस्परिक संबंध का निर्देश है। विद्यादान एक महान यज्ञ है। गुरु शिष्य को इस यज्ञ में दीक्षित करता है और उसे अखंड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने का निर्देश देता है। ब्रह्मचर्य के अनुकूल शिष्य का खान-पान हो, यह भी इस मंत्र में संकेतित है। यह जगत् 'अग्नीषोमात्मकं' कहा गया है। जगत् के भौतिक और आध्यात्मिक सब तत्त्वों का ज्ञान शिष्य को प्राप्त करना है, यह भी बताया गया है। मंत्र यह भी निर्देश करता है कि शिष्य की नीरोगता और पोषण का पूरा उत्तरदायित्व भी गुरु पर है। माता, पिता, भाई आदि कुटुंबियों की अनुमति से ही शिष्यों को प्रवेश दिया जाता था। ९

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
सं ते प्राणो वातेन गच्छताᳬ समङ्गानि यजत्रैः सं
यज्ञपतिराशिषा ॥१०॥

अपां	(तुम) जलों के	ते	तुम्हारे
पेरुः असि	रक्षक हो;	अङ्गानि	अवयव
देवीः	अतः दिव्य	यजत्रैः	यज्ञ करानेवाले के
आपः	जलों को	सम्	सहायक हों।
चित्	उत्तम रीति से	प्राणः वातेन	प्राणवायु के साथ
स्वात्तम्	अपने पास रखो।	सं गच्छताम्	उत्तमता से
देवहविः	दैवी हवि को		मिलकर रहो।
सं स्वदन्तु	योग्य रीति से रखो।	यज्ञपतिः	(तुम) यज्ञपति
आशिषा	आशीर्वाद से		हो जाओ ॥ १० ॥

अये यज्ञपति! तुम हो पावन जल के सागर।
करते हो रक्षा उसकी ऋतुकर्म पूर्ण कर!॥

१ शिष्य के रूप में।

के साथ रहे। यजमान के साथ उसके मन-प्राण एक हो जाएँ। यज्ञकर्मों में वह धर्मचारिणी बनकर पति के साथ रहकर सहयोग करती रहे। वह श्रेष्ठ पुत्र की माता बने, यह उसका परम कर्तव्य है। ११

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥१२॥

अहिः	सर्प-से क्रोधी	प्रेहि	तुम आओ।
मा भूः	मत बनो;	घृतस्य	जल की
पृदाकुः	मूर्ख अथवा हिंसक	कुल्या	धारा को
मा (भूः)	मत (बनो)	उप	स्वीकार करो।
आतान	हे यज्ञसंपादक पुरुष!	ऋतस्य	सत्य के
ते नमः	तुम्हें नमस्कार है।	पथ्या	मार्ग से
अनर्वा	निर्विघ्न रूप से	अनु	आचरण करो॥१२॥

हे मानव! मत बनो सर्प-से क्रुद्ध-क्षुब्ध तुम।
विषमय हिंसक जंतु-सदृश मत बनो क्रुद्ध तुम॥
सुनो, क्रोध है परम प्राणनाशक दुर्गुण यह!।
कालकूट शत कोटि-सदृश दाहक-मारक वह!॥
प्राण-नाश मत करो क्रोध से वशीभूत तुम!।
सर्प-सदृश मत बनो कुटिल पथ अनुगामी तुम!॥
तुम पृदाकु[1]-से मूर्ख-सदृश अभिमान करो मत!।
व्याघ्र-सिंह से बनो न मानव! तुम हिंसारत॥
हे क्रतुकर्ता पुरुष! यहाँ निर्विघ्न पधारो!।
नमस्कार है तुम्हें, सत्य-पथ पर पग धारो॥
सत्य मार्ग पर रहे प्रवर्तित संतत जीवन।
ऋत का पथ जो प्रथित उसी का करो तुम वरण॥
अन्न आदि सुख-सुविधा की वस्तुएँ निरंतर।
प्राप्त तुम्हें सब हैं कितने कृपालु जगदीश्वर॥
सत्य और ऋत के प्रशस्त ऋजु धर्म-मार्ग पर।
बढ़ते ही तुम रहो सदा मानव! उन्नत शिर!॥ १२॥

१ बुद्धिहीन

अस्य	इस	यज्ञे	इस यज्ञ में
हविषः	हवि से	यज्ञपति	समर्थ गृहपति को
त्मना	स्वयं भी	धाः	स्थापित करो।
यज	यज्ञ करो।	देवेभ्यः स्वाहा	(यज्ञ में पहले आये) देवों को हवि अर्पित हो।
अस्य	इसके	देवेभ्यः स्वाहा	(यज्ञ में बाद को आये) देवताओं को हवि अर्पित हो ॥११॥
तन्वा	शरीर से		
सम्	प्रेम से		
भव	पुत्र की प्राप्ति करो।		
वर्षो	सब सुखों की दात्री!		
वर्षीयसि	अति विस्तीर्ण महान,		

प्रचुर आज्य से रहो पूर्ण दोनों पत्नी-पति ! ।
गो आदिक पशुओं को पालो तुम घर में नित ! ॥
भाग्यवती धनवती रेवती हो, हे नारी ! ।
पति है यह यजमान तुम्हारा शुचि सहकारी ॥
प्रेमपूर्ण आचरण करो बन एक प्राण - मन ।
अर्द्धांगिनि ! बन धर्मचारिणी करो समर्पण ! ॥
अंतरिक्ष निःसीम - पवन इसमें ज्यों प्रवहित ।
रक्षा करता सदा सभी की सम्यक् संस्थित ॥
उसी भाँति तुम करो स्वीय पति का संरक्षण ।
शुचि द्रव्यों से स्वयं यज्ञ का करो प्रवर्तन ॥
हे वर्षो[1] ! हे यज्ञकर्म से सब सुखदात्री ! ।
पति के तन से बनो पुत्र-प्रसवा हे धात्री ! ॥
सब सुखवर्षक यज्ञ महत् यह यहाँ अनुष्ठित ।
करो यज्ञपति निज पति को इसमें सुप्रतिष्ठित ! ॥
आये हैं जो देव यहाँ उनके हित स्वाहा ! ।
अब आयें जो देव, उन्हें अर्पित हवि स्वाहा ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में यजमान की पत्नी के कर्तव्यों के निर्देश के व्याज से वैदिक नारी का बड़ा उदात्त चित्र अंकित किया गया है। यजमान की पत्नी को गो आदि पशुओं के पालन का आदेश दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वह घृत पीकर स्वयं स्वस्थ और वलिष्ठ रहे तथा परिवार-जनों को भी वैसा ही बनावे। उससे यह भी कहा गया है, जब तक उसके शरीर में दिव्य प्राण है, तब तक वह यजमान

१ सभी सुखों की देनेवाली।

विवाह करें। अशुद्ध मनुष्य विवाह के अयोग्य हैं। इस मंत्र में कुमारियों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि वे पवित्र आचरण और उत्तम से उत्तम विद्याओं के अर्जन करने की साधना पूर्ण करें और नारियाँ चरित्रवती विदुषी बनें। फिर अपने अनुरूप विद्वान और सदाचारी युवक से विवाह करें। मंत्र के अंतिम भाग में पुरुषों से भी कहा गया है कि वे अपने अनुरूप विदुषी शुचि शीलवती कुमारियों का पत्नी-रूप में वरण करें। इस मंत्र में स्त्रियों की उच्चतम शिक्षा की अनिवार्यता भी संकेतित है। १३

वाचं ते शुन्धामि[१] प्राणं ते शुन्धामि[२]
चक्षुस्ते शुन्धामि[३] श्रोत्रं ते शुन्धामि[४]
नाभिं ते शुन्धामि[५] मेढ्रं ते शुन्धामि[६]
पायुं ते शुन्धामि[७] चरित्राँस्ते शुन्धामि[८] ॥१४॥

ते वाचं	(हे मानव !) तुम्हारी वाणी को	नाभिम्	नाभि को
शुन्धामि	(मैं) शुद्ध करता हूँ;	शुन्धामि	शुद्ध करता हूँ;
ते	तुम्हारे	ते	तुम्हारे
प्राणं	प्राणों को	मेढ्रं	प्रजननांग को
शुन्धामि	शुद्ध करता हूँ;	शुन्धामि	पवित्र करता हूँ;
ते	तुम्हारे	ते	तुम्हारी
चक्षुः	नेत्रों को	पायुं	गुदेन्द्रिय को
शुन्धामि	शुद्ध करता हूँ;	शुन्धामि	शुद्ध करता हूँ;
ते श्रोत्रं	तुम्हारे कानों को	ते	तुम्हारे
शुन्धामि	शुद्ध करता हूँ;	चरित्रान्	चरित्र को
ते	तुम्हारी	शुन्धामि	पवित्र बनाता हूँ ॥ १४ ॥

मानव ! करता हूँ शुद्ध तुम्हारी वाणी।
वह रहे निरंतर पूत परम कल्याणी॥
मैं प्राणों को करता हूँ शुद्ध तुम्हारे।
धर्मानुकूल हों कर्म प्राण के सारे॥
ये नेत्र तुम्हारे दोनों शुद्ध बनाता।
मैं नाभि - देश की हूँ मलिनता मिटाता॥
ये मेढ्र[१], पायु[२] सब करता शुद्ध निरंतर।
तुम सजग रहो, ये रहें शुद्ध बहिरंतर॥

१ पुरुष की जननेन्द्रिय; २ मलद्वार।

टि०—इस मंत्र में 'पृदाकु' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है मूर्ख। मूर्ख ही अभिमानी होता है, यह बताया गया है। दूसरा 'आतान' शब्द ध्यान देने योग्य है, जिसका अर्थ है यज्ञकर्ता। 'अनर्वा' का अर्थ है निर्विघ्नता के साथ। इस मंत्र में क्रोध न करने का आदेश दिया गया है। क्रोध हिंसा में प्रवृत्त करता है। ये दुर्गुण सर्वथा त्याज्य हैं। मनुष्य अकुटिल ऋजु-भाव से धर्म के मार्ग पर चलता रहे, यही उसका विहित कर्तव्य-मार्ग है। १२

देवी॑राप॒: शुद्धा वो॑ढ्व॒ꣳ सुप॑रिविष्टा दे॒वेषु॒
सुप॑रिविष्टा व॒यं प॑रिवे॒ष्टारो॑ भूयास्म ॥१३॥

आपः	जलरूप	वयं	हम (स्त्रियाँ)
देवीः	देवताओ!	सुपरिविष्टाः	विद्वानों के हाथों दी जावें।
शुद्धा	(हम) शुद्ध आचरण वाली	वयं	हम (पुरुष)
वोढ्वम्	होकर विवाह करें।	परिवेष्टारः	उन स्त्रियों का पाणिग्रहण करनेवाले
देवेषु	दिव्य जनों के साथ		
सुपरिविष्टाः	उत्तम रीति से रहें	भूयास्म	हों ॥ १३ ॥

हे कुमारियो! श्रेष्ठ गुणों में तुम करती हो रमण निरंतर।
दैवी आप[1]-समान तुम्हारा जीवन शुचितर॥
सब विद्यायें तुम्हें सहज अधिगत ज्योतिर्मय।
विदुषी हो अच्छिद्र[2] शीलमंडिता पुण्यमय॥
शुद्ध आचरण की सम्यक् साधना पूर्ण कर।
वरण करो वैवाहिक जीवन पूत पूर्णतर॥
प्राप्त करो अपने समान पति तुम विद्वज्जन।
सेवा, सुख-सहयोग, मधुरतामय हो प्रतिक्षण॥
दिव्य जनों का रहे प्राप्त सान्निध्य तुम्हें नित।
तुम-सी पत्नी प्राप्त करें सब पुरुष विपश्चित॥
हम सब ऐसी शुद्धशील विदुषियाँ प्राप्त कर।
करें सफल गार्हस्थ्य बनें नित संशितव्रत[3] नर॥ १३॥

टि०—इस मंत्र में वेद ने यह आदेश दिया है कि शुद्धाचारयुक्त स्त्री-पुरुष ही

---

१ पवित्र जल; २ निर्दोष; ३ यम-नियमादिक व्रतों का पालन करनेवाले सदाचारी।

सत्कर्म - निरत मानव ! मन रहे तुम्हारा ।
हो वृद्धिगत मन, उन्नत - जीवन - धारा ! ॥
हों प्राण सदा बल से पूरित आप्यायित[1] ।
हों चक्षु निरंतर निर्मल कलुष - विवर्जित ।
आप्यायित रहें भद्र वाणी से श्रुति नित ॥
वे रहें निरंतर दिव्य गुणों से प्लावित ।
क्रूरता करो सब अंतर की निष्कासित ॥
संकल्प सिद्ध हो, निश्चय हो आप्यायित ! ।
व्यवहार शुद्ध आजीवन रहे तुम्हारा ॥
सुख से हो दिन-दिन पूरित जीवन सारा ।
ओषधियो ! रक्षा करती रहो सदा तुम ॥
हिंसा से हो क्षतिग्रस्त न जीवन का क्रम ।
हे स्वधिति ! करो मानव की तुम नित रक्षा ॥
आचार्य - श्रेष्ठ दें उसको उत्तम शिक्षा ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में भी यही प्रार्थना की गई है कि मनुष्य की सब इन्द्रियाँ बलवान बनें और उन्नति को प्राप्त हो। मनुष्य के अंदर की सब क्रूरता निकल जाए, हृदय दैवी गुणों से परिपूर्ण हो जाए। मनुष्य आजीवन शुद्ध रहे। ओषधियाँ रोगों से उसकी रक्षा करें। मंत्र के अंतिम भाग में 'स्वधिति' शब्द का प्रयोग है। इसके दो अर्थ है— (१) अस्त्र; (२) उत्तम आचार्य। मनुष्य अस्त्रों की चोरी से सुरक्षित रहे। उत्तम आचार्य उसको श्रेष्ठ शिक्षा देकर सब ओर से सुरक्षित करें। १५

रक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि॒ निर॑स्त॒ꣳ रक्ष॑ इ॒दम॒हꣳ रक्षो॒ऽभि तिष्ठामी॒दम॒हꣳ रक्षो॒ऽव॑ बा॒ध इ॒दम॒हꣳ रक्षो॑ऽध॒मं तमो॑ नयामि । घृ॒तेन॑ द्यावापृथिवी॒ प्रोर्णु॑वाथां॒ वायो॒ वे स्तो॒काना॑म॒ग्निराज्य॑स्य वे॒तु स्वाहा॒ स्वाहा॑कृते॒ ऊ॒र्ध्वन॑भसं मारु॒तं ग॑च्छतम् ॥१६॥

रक्षसां	(हे दुष्ट कर्मा तू) राक्षसों का	निरस्तम्	दूर हो।
भागः	भाग	अहं	मैं
असि	है;	इदं	इस
रक्षः	राक्षस-स्वभाव-वाला	रक्षः	राक्षस-स्वभाव-वाले को
		अभि तिष्ठामि	दूर करता हूँ।

[1] तृप्त और संवर्द्धित।

यदि रहें शुद्ध, निष्कलुष सदा इन्द्रियगण।
तो सुरसरि-सा होगा चरित्र भी पावन!॥
इसलिए शुद्ध करता हूँ शील तुम्हारा।
पावनता से प्लावित हो जीवन-धारा॥ १४॥

टि०—इस मंत्र में मानवों को निर्देश दिया गया है कि वे अपनी कर्मेन्द्रियों को निरंतर सत्कर्म में प्रवृत्त रखें। उनके द्वारा कोई असत्कर्म न करें। इन्द्रियों की शुद्धि से मन और अंतःकरण शुद्ध होते हैं, तभी चरित्र भी शुद्ध बनता है। दुराचार से कोई अवयव अशुद्ध न हों, तभी चरित्र शुद्ध बनता है। वेद चरित्र की शुद्धि पर सर्वाधिक बल देते हैं। १४

मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ प्यायतां प्राणस्त आ प्यायतां चक्षुस्त आ प्यायताᳪं श्रोत्रं त आ प्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳪं हिᳪंसीः॥१५॥

ते	तुम्हारा
मनः	मन
आ प्यायताम्	सत्कर्म के अनुष्ठान से उन्नति करे।
ते वाक्	तुम्हारी वाणी
आ प्यायताम्	उन्नत, शुद्ध हो।
ते	तुम्हारे
प्राणः	प्राण
आ प्यायताम्	शक्तिसम्पन्न हों।
ते चक्षुः	तुम्हारी दृष्टि
आ प्यायताम्	निर्मल हो।
ते	तुम्हारे
श्रोत्रं	कान
आ प्यायताम्	सद्गुणसंपन्न हों।
ते	तुममें
यत्	जो
क्रूरं	क्रूरता है।
निष्ट्यायताम्	वह दूर हो।
यत्	जो
ते	तुम्हारा
आस्थितम्	निश्चय है,
आ प्यायताम्	वह पूरा हो।
ते तत्	तुम्हारा सब (व्यवहार)
शुध्यतु	शुद्ध हो।
अहोभ्यः	सब दिन
शम्	(तुम्हें) सुख प्राप्त हो।
ओषधे	हे ओषधियो!
एनम्	इसकी
त्रायस्व	रक्षा करो;
स्वधिते	हे शस्त्र!
मा (एनं) हिंसीः	इसका नाश न करो॥ १५॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहारों के ज्ञाता तुम ! ।
ऋतु-शोधित जल से भर दो दिव धरती तुम ॥
घृत आदि द्रव्य जो सम्यक् हुए समर्पित ।
ये अग्निदेव जानें वह सब स्वाहाकृत ! ॥
स्वाहा, स्वाहा कह, करे द्रव्य जो अर्पित ।
धरती को दिव को करें सदा वे पूरित ॥
ऋतुशुद्ध आप वह मिले पवन में अविरत ।
हो धरा-गगन ऋतुशुद्ध आप से प्लावित ॥ १६ ॥

टि०—इस मंत्र में ऐसा यज्ञ करने का उपदेश दिया गया है, जिससे जल शुद्ध होकर पवन में मिल जाए और द्युलोक तथा धरती को परिप्लावित कर दे। इससे धरती पर सुवृष्टि और सुभिक्ष होगा। देवता प्रसन्न होगे, लोक का मंगल होगा। किंतु यज्ञ के अनुष्ठान के पूर्व राक्षसों को निर्वासित और निःशेष करना अनिवार्य है। जो स्वार्थी हैं, दूसरे का अहित करने में तत्पर रहते है, समाजविरोधी है, वे ही राक्षस हैं। कोई यज्ञ तभी सफल हो सकता है, जब ये राक्षस नष्ट कर दिये जायँ। राक्षसों के रहते शुभ कर्मों का अनुष्ठान संभव नहीं। यह वैदिक ऋषियों का यथार्थवाद है। १६

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

आपः	हे जल !	इदम्	इसको
च अवद्यं यत् च	निंदनीय और	प्र वहत	बहाकर दूर करो।
यत् मलं	मलिन है	आपः च	जल और
यत् च	और जिसके प्रति	पवमानः	पवित्र करनेवाला पवन
अभिदुद्रोह	मैं द्रोह या द्वेष करूँ,	मा	मुझको
यत् च	और जो	तस्मात्	उस
अनृतम्	असत्य-भाषण मैं करूँ,	एनसः	पाप से
अभीरुणम् शेपे	निंदाजनक अभिशाप शब्द कहूँ,	मुञ्चतु	मुक्त करे ॥१७॥

जो निंदनीय हैं, मलिन कार्य है मेरे ।
जो द्वेष, घात, शत्रुता-कर्म तम-घेरे ॥

अहं	मैं
इदं	इस
रक्षः	राक्षस-स्वभाव-वाले को
अव बाधे	प्रतिबंधित करता हूँ।
अहं इदं	मैं इस
रक्षः अधमं	अधम राक्षस को
तमं	अंधकारपूर्ण नीच स्थान में
नयामि	पहुँचाता हूँ।
वायो	हे वायु !
स्तोकानां वेः	तुम सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यवहारों के ज्ञाता हो।
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथिवी
प्रोर्णुवाथाम्	(यज्ञ शोधित जल से) अच्छी तरह भर जाएँ।
अग्निः आज्यस्य	अग्निदेव
घृतेन	घृत के द्वारा
स्वाहा	तुम्हारी हवियों को
वेतु	जाने;
स्वाहा कृते	हवन किये हुए घृतादि को
ऊर्ध्वे	पूर्वोक्त सूर्य(और) भूमि (तथा)
नभसं	आकाश में एवं
मारुतं	पवन में
गच्छतम्	ले जायें ।। १६ ।।

हे दुष्टकर्म करनेवाले अघराशी !।
परहित - हर्ता ! स्वार्थी ! ओ राक्षसवंशी[1] ! ।।
हे दुष्टकर्म करनेवाले अघशंसी !।
परहित - हर्ता ! स्वार्थी ! खल ! दुर्जन - अंशी ! ।।
राक्षस - स्वभाव - वाला है राक्षस ही तू।
है निष्कासन के योग्य नृशंस अधम तू ! ।।
तू है समाज - कंटक, जा निकल यहाँ से।
अवबंधित करता तुझको यहाँ - वहाँ से ।।
लांछित, अपमानित, ताड़ित कर मैं अविरत।
दुःसह दुख - भोग कराता तुझको संतत ! ।।
मैं प्राप्त कराता तुझको अधम अवस्था।
राक्षस निरस्त हों करता सदा व्यवस्था ।।
हे श्रेष्ठ गुणी ! राक्षसहंता, हे मानव !।
सत् - असत् - विवेक ज्वलंत तुम्हारा नवनव ! ।।

---

१ राक्षस के वंशवाले।

तुम द्वेषपरायण शत्रु-संघ के छत्ता।
अंतर के कामादिक रिपुओं के जेता॥
घे अग्नि! तुझे परिपक्व करें हे मानव!।
तू कोटि-कोटि अरियों पर पा जय नव नव॥
शुचि जल-संचय तुममें विश्वास बढ़ावे।
उत्साह बढ़े, प्रेरणा विजय की पावे!॥
गति मरुत महत् की तुझमें रहे प्रवर्तित।
ऊष्मा अनंत पूषण की प्राप्त रहे नित॥
रवि-अनल-अनिल-सी वहे पराक्रम-धारा।
द्वेषी अरियों का संघ विजित हो सारा!॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के शत्रुओं के साथ-साथ भीतर के काम-क्रोध आदि शत्रुओं को भी नष्ट करने की प्रेरणा दी गई है। जिसने भीतर के कामादि शत्रुओं को जीत लिया, अंतर के पशु-भाव को निकाल दिया वही सच्चा वीर है। वीर में पवन का वेग, सूर्य का तेज और अग्नि का दाहकता का समन्वय होना चाहिए। शत्रु पराजित हों, इसलिए जल-अन्न आदि का समुचित संग्रह भी रहना चाहिए। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के भावार्थ में लिखा है, मनुष्यों को चाहिए कि अपने बल के बढ़ाने वाले अन्न-जल और अस्त्र-शस्त्र आदि पदार्थों को इकट्ठा करके शत्रु को मारकर संग्राम जीते। १८

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः
पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा[1]।
दिशः[2] प्रदिश[3] आदिशो[4] विदिश[5]
उद्दिशो[6] दिग्भ्यः स्वाहा[7] ॥१९॥

घृतपावानः	हे घृत के पास रहनेवाले पुरुषों!	अन्तरिक्षस्य	यह अंतरिक्ष की
घृतं	घृत का	हविः असि	हवि है।
पिबत	पान करो।	स्वाहा	यह तुम्हे अर्पित है।
वसापावानः	नीति का पालन करनेवाले वीरों!	दिशः	चार दिशाएँ,
वसां	वीर रस की वाणी को	प्रदिशः	उपदिशाएँ (आग्नेय, नैर्ऋत्य, ईशान्य, वायव्य)
पिबत	स्वीकार करो।	आदिशः	मुंह के सामने वाली दिशा (ऊर्ध्व),
		विदिशः	पीछे की दिशा (अधः)

मैं अनृत वचन कहता अनिष्ट निरत मन।
अपशब्दों से आहत करता सज्जन-मन॥
हे आप! हरो वे पाप-दोष सब मेरे।
पवमान! हरण सब करो दुरित ये मेरे॥
पावनताकारक हो पवमान सदा तुम।
जल! होते हैं मलमुक्त तुम्हीं से सब हम!॥
हे आप! अये पवमान पूतताकारी!।
तुम हरण करो देवो! मलिनता हमारी॥ १७॥

टि०—इस मंत्र में जल के देवता और पवन देवता से सब प्रकार के पापों से जीवन-मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। १७

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा
ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत् प्रयुतं द्वेषः॥१८॥

ते मनः	तुम्हारा मन	त्वा	तुम्हें
सं मनसा	अच्छी तरह मननशक्ति- युक्त हो;	सम्	अच्छी तरह
		अरिणन्	प्रेरित करें।
प्राणः प्राणेन	प्राण प्राणशक्ति से	त्वा	तुमको
सं गच्छताम्	युक्त हो जाय।	वातस्य	वायु की
रेट् असि	(तुम) शत्रुओं को मारनेवाले हो।	ध्राज्यै	तीव्र गति से
		पूष्णः	(तथा) सूर्य की
त्वा	तुम्हें	रह्यै उष्मणः	प्रचंड गर्मी में
अग्निः	अग्नि	व्यथिषत्	तपाया जाता है,
श्रीणातु	परिपक्व करें।	द्वेषः प्रयुतं	(इससे तेरे तेज से) शत्रु पीड़ित हों॥ १८॥
आपः	जल		

हो मननशक्ति-संपन्न तुम्हारा मानस!।
प्राणों में वर्द्धित रहे प्राण-ऊर्जा-रस॥
हो मनन-शक्ति की वाग्यशक्ति[1] सहकारी।
वे रहें परस्पर सदा पूर्णताकारी।

१ मुख की अर्थात् वाणी की शक्ति।

त्वष्टः देव	शत्रुहंता दिव्य गुणयुक्त देव !
अवसे	अपनी रक्षा के लिए
अङ्गे अङ्गे	प्रत्येक अंग में
ऐन्द्रः प्राणः	इन्द्र-शक्ति
नि दीध्यत्	रहती है।
अङ्गे अङ्गे	तुम्हारे प्रत्येक अंग में
उदानः	उदान वायु
निधीतः	कार्य करता है।
ते यत्	तुम्हारा जो
सलक्ष्म	एक चिह्नयुक्त
विषुरूपम्	एक-सी पोशाक-वाला
भूरि	बहुसंख्य सेनाबल
सम् एतु	एकत्र हो जाए,
देवत्रा यन्तम्	(उसके) दिव्य पुरुषों के बीच गमन करते हुए
त्वा	तुम्हारे
अनु	पीछे चलनेवाले
सखायः	वीर सुहृद्गण
अवसे	तुम्हारी रक्षा के लिए चलें।
माता पितरौ	माता और पिता
त्वा	तुम्हारा
अनु मदन्तु	अनुमोदन करें ॥ २० ॥

हे त्वष्टा ! तुम हो कर्म-कुशल अति अनुपम ! ।
हो शत्रु - संघ - छेदक सेनापति उत्तम ॥
मानव ! तुम भी त्वष्टा - से हो कार्यक्षम ।
है शत्रुनाशिनी शक्ति तुम्हारी दुर्दम ॥
है शक्ति इंद्र की अंग - अंग में संचित ।
उसको अपने जीवन में करो प्रकाशित ॥
इसको विकसित कर निज सामर्थ्य बढ़ाओ ।
हो राष्ट्र सुरक्षित, निज शक्तियाँ जगाओ ॥
प्रत्येक अंग में है उदान - निधि संचित ।
उससे शरीर रहता है सदा सुरक्षित ॥
पहचानो उसको, करो आत्म - संरक्षण ।
सामर्थ्य - प्रपूरित रहे निरंतर जीवन ॥
सम - विषम शक्तियाँ अपनी करो सुयोजित ।
इसके द्वारा ही सम्भव है उन्नति नित ॥
गणवेश[1] एक सेनाएँ करके धारण ।
हों एकप्राण, अनुशासित बन जीतें रण ॥

---

१ एक जैसी पोशाक, वर्दी ।

उद्दिशः	शत्रु के आने की दिशा आदि	दिग्भ्यः स्वाहा	दिशाओं से हम हवन करते हैं ॥ १९ ॥

हे वीरव्रती सेनापतियो ! हे शूरो ! ।
यह अमृतात्मक घृत पियो, अये रणधीरो ! ॥
हे न्याय - नीति के पालनकर्ता वीरो ! ।
निज युद्धनाद से अरि के अंतर चीरो ॥
गूंजे दिशि - दिशि में वीर-रसात्मक वाणी ।
शत्रुस्तंभनकारिणी परम कल्याणी ! ॥
ये प्राची और प्रतीची, दक्षिण, उत्तर ।
नैर्ऋत्य आदि विदिशायें सब जायें भर ॥
आगे की पीछे की ये सकल दिशायें ।
उद्दिशा[1] जिधर से शत्रु - संघ चढ़ धायें ॥
इन सबको हवन - धूम से कर दो पूरित ।
हविदान करो तुम ज्वलित अग्नि में नव नित ॥
तुम यथायोग्य सेना के व्यूह बनाओ ।
शत्रु को दलित कर नव - नव जय - यश पाओ ॥ १९ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के सेनाध्यक्षों और वीर सैनिकों को उनके कर्तव्य का बोध कराया गया है। ये सैनिक घृत पीकर परिपुष्ट हों। साथ ही वे 'वसापावानः' भी हों। 'वसापावानः' का अर्थ है नीति और न्याय के मार्ग पर चलनेवाले। सेनापतियों को यह आदेश दिया गया है कि वे अपनी सेना को परिपुष्ट रखें, युद्धकाल में उसे चक्रव्यूह, श्येनव्यूह, शकटव्यूह आदि में सम्यक् विभाजित कर युद्ध-कौशल द्वारा शत्रुओं को जीतें और न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करें। १९

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेअङ्गे नि दीध्यदैन्द्र
उदानो अङ्गेअङ्गे निधीतः ।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति ।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥२०॥

---

१ (शत्रु के आने की) उपदिशाएँ।

सोमं गच्छ	ओषधियों का ज्ञान प्राप्त करो।
स्वाहा	उत्तम विद्या द्वारा
दिव्यं नभं	दिव्यगुणयुक्त आकाश का
गच्छ	ज्ञान प्राप्त करो।
स्वाहा	उत्तम विद्या अर्जित करो।
अग्नि वैश्वानरं	वैश्वानर अग्नि का
गच्छ	ज्ञान प्राप्त करो।
मे हार्दि	मेरे हृदय में प्राप्त होने योग्य

मनः यच्छ	उत्तम ज्ञान प्रदान करो।
ते धूमः	तुम्हारा धूआँ
दिवं गच्छतु	तुम द्यूलोक के प्रति जाए।
ज्योतिः स्वः	ज्योति अंतरिक्ष को प्राप्त होओ।
पृथिवीम्	पृथ्वी को
भस्मना	अपने तेज से
स्वाहा आ पृण	शत्रु को जलाने-वाली शक्ति से परिपूर्ण कर दो॥ २१ ॥

सागर - यात्रा के साधन कर आविष्कृत।
तुम करो सिंधु - संतरण सुरक्षित स्वाहा॥
तुम कर नभचारी संसाधन आविष्कृत।
यह अंतरिक्ष विस्तीर्ण तरो नित स्वाहा॥
ये विश्व-प्रसविता सविता ये परमेश्वर।
गंतव्य और प्राप्तव्य तत्त्व अविनश्वर[1]॥
इनके हित अर्पित करो सदा हवि, स्वाहा।
उत्तम - से - उत्तम साधन कर संयोजित॥
तुम मित्र वरुण को जानो - पहचानो नित।
तुम प्रबल पराक्रम करो, करो हवि अर्पित॥
जाओ, जाओ, नित मित्र वरुण तक स्वाहा।
ज्योतिष् - विद्या का परम ज्ञान कर अर्जित॥
यह अहोरात्र का ज्ञान करो तुम अधिकृत।
इस ज्ञान - साधना हेतु करो हवि अर्पित॥
उन अहोरात्र के अधिदैवत हित स्वाहा।
है वेद - चतुष्टय का जो ज्ञान - गहन अति॥
साधना करो उसकी, उसके हित स्वाहा।
द्यावा - पृथिवी की विद्या गूढ़, गहन अति !॥

---

१ गमन करने और पाने योग्य अविनाशी तत्त्व।

तू देवकल्प पुरुषों के बीच निरंतर।
अनुयायी सुहृदों से रक्षित विचरण कर॥
तू धर्मयुद्ध के हित सन्नद्ध सदा रह।
अनुमति दे तुझको जननी - जनक शुभावह॥ २०॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्रशक्ति संवर्द्धित करनेवाले साधनों का निर्देश है। प्रत्येक व्यक्ति त्वष्टा जैसा कार्यक्षम हो। सब लोग मिलकर एक गणवेश और एक राष्ट्रध्वज वाली सेना का संगठन करें। राष्ट्र के लिए किया गया युद्ध धर्मयुद्ध माना जाए। माता-पिता, सुहृद्गण उसका अनुमोदन करें। सेनापति सेना और प्रजापुरुषों को हर्षित करता हुआ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे। २०

समुद्रं गच्छ स्वाहा[1] ऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा[2] देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा[3] मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा[4] ऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा[5] छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा[6] द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा[7] यज्ञं गच्छ स्वाहा[8] सोमं गच्छ स्वाहा[9] दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा[10] ऽग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा[11] मनो मे हार्दि यच्छ[12] दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनाऽऽपृण स्वाहा[13]।२१

स्वाहा	(तुम) उत्तम साधनों से	अहोरात्रे गच्छ	दिन और रात का ज्ञान प्राप्त करो;
समुद्रं	समुद्र की	स्वाहा	उत्तम रीति से
गच्छ	यात्रा करो;	छन्दांसि गच्छ	वेदों का ज्ञान प्राप्त करो।
स्वाहा	उत्तम विमान से	स्वाहा	उत्तम प्रकार से
अन्तरिक्षं	आकाश में	द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी का ज्ञान
गच्छ	विचरण करो;	गच्छ	प्राप्त करो।
सवितारं देवं	सबके उत्पादक परमेश्वर को	स्वाहा	उत्तम रीति से
गच्छ स्वाहा	प्राप्त करो।	यज्ञं गच्छ	यज्ञ के विधान को जानो।
स्वाहा	उत्तम साधन से	स्वाहा	उत्तम मार्ग स्वरूप उपदेश द्वारा
मित्रावरुणौ	मित्र और वरुण को		
गच्छ	प्राप्त करो।		
स्वाहा	उत्तम साधन से		

माऽपो मौषधीर्हिंᳪसी —र्धाम्नो
धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च ।
यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै
सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२२

आपः	(तुम) जल (तथा)
ओषधीः	ओषधियों को
मा	मत
हिंसीः	नष्ट करो।
ततः	उस
धाम्नः धाम्नः	स्थान-स्थान से
नः	मुझको
मा	मत
मुञ्च	त्यागो (हटाओ)।
वरुण	हे वरुण !
अघ्न्यः	अवध्य गो आदि (न मारने योग्य) को
इति शपामहे	न मारने की शपथ हम लेते हैं।
राजन् वरुणः	हे राजा वरुण !
यत्	जो ऐसा
आहुः	कहा है (कि)
नः	हम (लोगों के लिए)
आपः	जलप्रवाह
सुमित्रियाः	श्रेष्ठ मित्र के समान
सन्तु	हों;
ततो	इसलिए
वरुण	हे वरुण !
नो	हमको
मुञ्च	न त्यागो।
यः	जो
अस्मान्	हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करता है,
च वयम्	और हम
यम् द्विष्मः	जिससे द्वेष करते हैं
तस्मै	उनके लिए वे
ओषधयः	ओषधियाँ
दुर्मित्रियाः सन्तु	शत्रु के समान हों ॥ २२ ॥

जल को, ओषधि को नष्ट करो मत मानव ! ।
ओषधियों के हित बनो न तुम दाहक दव ! ॥
है धाम हमारे जहाँ, न उन्हें उजाड़ो ।
सुख से रहने दो हमें, न मूल उखाड़ो ॥
हे वरुण ! अवध्या हैं गायें हम सबकी ॥
गो - पशु अवध्य हों शपथ सत्य हम सबकी ।
जल के प्रवाह हों, मित्रों - से सुखदायक ॥
हे आप ! रहो हम सबके सदा सहायक ।
जो द्वेष - वैर है संतत हमसे रखता ॥

उसके अर्जन हित अध्यवसाय करो नित।
हो सिद्ध पराक्रम, हवि यह अर्पित, स्वाहा ॥
ये यज्ञ अग्निहोत्रादि कला-कौशल ये।
सब राजनीति के अंग ज्ञेय बहुविध ये ॥
जीवन समग्र यह यज्ञ शुद्ध विधि जानो।
हवि अर्पित उसके हेतु करो नित स्वाहा ॥
ओषधियों के अधिपति ये सोम सनातन।
इनके अमृत-रस से पाते सब पोषण ॥
स्वायत्त करो यह सोमतत्त्व तुम स्वाहा!।
आकाश दिव्य यह जो दिगन्त तक विस्तृत ॥
इसके अनंत भागों का ज्ञान अपरिमित।
इस ज्ञान-सिद्धि के हित हवि अर्पित स्वाहा ॥
ये अग्निदेव हैं वैश्वानर हे मानव!।
तुम प्राप्त करो इनका प्रज्ञान[1] सदा नव ॥
इनको हवि अर्पित करो निरंतर स्वाहा।
मन सत्य धर्म में प्रीति-सहित हो संस्थित ॥
परमेश्वर! हमपर ऐसी कृपा करो नित।
प्राप्तव्य ज्ञान सब दान करो प्रभु! हमको ॥
विद्यायें सब हों स्वयं प्रकाशित हमको।
हो यज्ञधूम से अंतरिक्ष परिपूरित ॥
हो दिव्य गंध से देवलोक आप्लावित!।
हो यज्ञ भस्म से छादित[2] पग-पग धरती ॥
प्रभु! कृपा निरंतर हमपर रहे बरसती ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र के पूर्व भाग में मानव को संबोधित करते हुए कहा गया है कि वह जलयान, अतरिक्षयान, भूमियान आदि अनेकानेक कलायंत्रों का आविष्कार कर प्रकृति पर अपनी विजय स्थापित करे। भूगोल, खगोल आदि की जितनी लौकिक और पारलौकिक विद्याएँ हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनंत अध्यवसाय करे। भगवान की यह वाणी जब मानव के हृदय में प्रविष्ट हो जाती है, तो वह प्रार्थना करता है, 'हे जगदीश्वर! ये विद्याएँ कृपापूर्वक हमारे अंतर में प्रकाशित करो।' वस्तुतः यह मंत्र प्रकृति पर मानव के कल्याणकारी विजय-अभियान का उदात्त गान है। २१

---

१ परिपूर्ण ज्ञान; २ ढकी हुई।

टि०—इस मंत्र में जल की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। जल यज्ञ में हवन करने योग्य पदार्थों जैसा पवित्र और शुद्ध रखा जाना चाहिए। प्रतिदिन सूर्योदय के समय से ही यज्ञ आरंभ कर दिये जायँ, जिससे सूर्यलोक तक वायु सुगंध से भर जाए। यह भी संकेत किया गया है कि वायु और जल के संयोग से अनेक सुख सिद्ध किये जा सकते हैं। २३

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामी॑न्द्राग्न्योर्भागधेयी॑ स्थ॒ मि॒त्रावरु॑णयोर्भाग॒धेयी॑ स्थ॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ भाग॒धेयी॑ स्थ॒। अ॒मूर्या उप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः॑ स॒ह। ता नो॑ हिन्वन्त्वध्व॒रम् ॥२४॥

अमूः	ये	अपन्न	अप्राप्त-
याः	जो (ब्रह्मचारिणी कन्याएँ)	गृहस्थ	गृहस्थाश्रमी हो।
इन्द्राग्न्योः	इन्द्र और अग्नि को	अग्नेः	(उन ब्रह्मचारिणी कन्याओं को मैं) अग्नि की
भागधेयीः	(उनका देय) भाग देनेवाली	सदसि	सभा में
स्थः	हैं;	सादयामि	मै स्थापित करता हूँ।
मित्रावरुणयोः	मित्र और वरुण को	सूर्ये	सूर्य के उदय होने पर
भागधेयीः	हवनीय भाग	उप वा	जो उपस्थित होती हैं,
स्थः	देनेवाली हैं,	याभिः सह	(वा) जिनके साथ
विश्वेषाम्	सब	सूर्यः	सूर्य रहता है,
देवानाम्	देवों को (उनका)	ताः	वे सब
भागधेयीः	भाग देनेवाली	नः	हमारे
स्थ	हैं,	अध्वरम्	यज्ञ को
वः	वे तुम (कन्याएँ)	हिन्वन्तु	बढ़ावें ॥ २४ ॥

जो इन्द्र-अग्नि का भाग उन्हें हैं देती।
जो मित्र-वरुण को हव्य समर्पित करतीं॥
देवों को सेतीं भाग सदा दे उनका।
विश्वेदेवों को प्राप्त सदा हवि जिनका॥
वे ब्रह्मचर्य-व्रतनिष्ठ चारुशीलाएँ।
वे अनुपपन्न-गार्हस्थ्य कृती कन्याएँ॥
इस ब्रह्मचारि-संसद् में वे सब आएँ।
ऋतुकृतिशीला वे आर्यें शोभा पावें!॥
सब यज्ञसदन में हों वे सम्यक् संस्थित।
सूर्योदय-वेला में हो वहाँ उपस्थित॥

जिसके प्रति द्वेष-वैर अंतर में पलता।
ये ओषधि-जल उनके दुर्मित्र रहें नित॥
ये जल, ओषधियाँ उनका अहित करें नित॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में यह आदेश दिया गया है कि जल और अन्नादि ओषधियों को नष्ट न होने दिया जाए। उन्हें प्राणरक्षक राष्ट्रीय संपत्ति माना जाए। ओषधि की परिभाषा में प्रमुख रूप से अन्नों का स्थान है। कारण, जो फलों के पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं जैसे गेहूँ, चना आदि, उन्हें ही मुख्य रूप से ओषधि कहा गया है। वनस्पति, लता, वीरुध, त्वक्सार द्रुम आदि भी ओषधियों के वर्ग में आते हैं। यह भी आदेश दिया गया है कि मनुष्य गो आदि पशुओं को न मारने का शपथ ग्रहण करे। मंत्र के अंतिम भाग में यह कहा गया है कि जल और ओषधि आदि कुमार्गगामियों के लिए अहितकर हों। अन्यायियों और कुमार्गगामियों को सदैव दंडनीय माना जाए। २२

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ२ आ विवासति।
हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्माँ२ अस्तु सूर्यः॥२३॥

इमाः	ये	देवः	दिव्य
आपः	जलप्रवाह	अध्वरः	अहिंसामय यज्ञ
हविष्मतीः	हवि के समान शुद्ध हों।	हविष्मान्	हविसंयुक्त हो।
हविष्मान्	ज्ञानीजन	सूर्यः	सूर्य
आविवासति	हवि के रूप में (उनका) प्रयोग करे	हविष्मान्	यजमान को फ़लदायक
		अस्तु	हो॥ २३॥

विद्वानो! तुम वे कर्म करो शुभ सुखकर।
ये जलप्रवाह हों जिनसे नित मंगलकर॥
ये जल उत्तम हवनीयों-से हों शोभित।
हवि के स्वरूप में हों प्रयोज्य वे नव नित॥
गुरु-युक्त दिव्य हिंसा-विहीन क्रतुकृति सब।
पावन हवि से संयुक्त रहे संतत अब॥
आदान-दानमय योग अनिल का जल का।
हो सिद्धि-प्रदाता अभिमत जीवन-फल का॥
अरुणोदय-बेला से हों यज्ञ प्रवर्तित।
उत्तम हवि उनमें होता रहे समर्पित॥
भर जाये रवि का लोक दिव्य सौरभ से।
सौभाग्य और सुख बरसे अविरत नभ से॥ २३॥

मानव - जीवन है बहुविध यज्ञों का समुदय[1]।
यज्ञों से ही बनता जीवन संतत जयमय ॥ २५ ॥

टि०—महर्षि दयानंद के अनुसार इस मंत्र में गुरुपत्नी आदि के द्वारा नवविवाहिता ब्रह्मचारिणी को उपदेश दिया गया है। वह गृहस्थाश्रम को यज्ञ समझे और अपने जीवन को सूर्य के समान विद्या, बुद्धि और ज्ञान से प्रकाशमान बनावे। २५

सोमं राजन् विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु ।
शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः ।
श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञꣳ शृणोतु
देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥२६॥

सोम राजन्	हे सोम राजा !	धिषणाः	बुद्धि से की गई
त्वम्	तुम	मे हवम्	मेरी प्रार्थना
विश्वाः	समस्त	शृण्वन्तु	सुनें।
प्रजाः	प्रजाओं के	ग्रावाणः विदुषः 'विद्वांसः'	पाषाण जैसे सुदृढ़ विद्वानो ! बुद्धिमानो !
उप अवरोह	अनुकूल होकर रहो।	यज्ञं	यज्ञ में (किया हुआ)
विश्वाः	समस्त	नः आ श्रोत	मेरा निवेदन सुनो।
प्रजाः	प्रजाजन	सविता देवः	सविता देवता
त्वा	तुम्हारे	मे	मेरी
उप	अनुकूल	हवम्	प्रार्थना
अवरोहन्तु	होकर रहें।	शृणोतु	सुने।
समिधा	उत्तम समिधाओं से	स्वाहा	यह उत्तम कथन है ॥ २६ ॥
अग्निः	प्रदीप्त अग्नि		
मे हवम्	मेरी प्रार्थना		
शृणोतु	सुने।		
आपः देवीः	दिव्य जल		

सोम राजन् ! तुम प्रजाओं के रहो अनुकूल।
सब प्रजाएँ भी रहें संतत तुम्हें अनुकूल ॥
निकट रहकर प्रजाओं के करो रक्षा नित्य।
प्रजाएँ आश्रित तुम्हारे रहें यथा अपत्य[2] ॥

१ समूह; २ संतान।

सूर्य के साथ रह करें यज्ञ संपादित।
वे ब्रह्मचारिणी व्रतनिष्ठा बालाएँ॥
नित नव संवर्द्धित करें यज्ञ-ज्वालाएँ॥ २४॥

टि०—इस मंत्र में ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित कन्याओं का यज्ञकार्य के लिए विशेष रूप से आवाहन किया गया है। वे सूर्य के साथ रहकर यज्ञ करें, यह निर्देश है। तात्पर्य यह कि सूर्य के आकाश में रहते समय ही यज्ञों का उचित काल होता है। महर्षि दयानंद का कहना है, इस मंत्र में ब्रह्मचारिणी विदुषी कन्याओं को अपने अनुरूप विद्वान ब्रह्मचारी को पतिरूप में वरण करने का आदेश दिया गया है। २४

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥२५॥

देवेषु:	(तुम) देवताओं की प्रीति के लिए	सूर्याय	सूर्य की प्रीति (की प्राप्ति) के हेतु
होत्राः	यज्ञ की अनुष्ठात हो।	त्वा	तुम्हारे लिए यज्ञ किया जाता है, वैसे ही
हृदे	(जैसे) अंतःकरण से	दिवि ऊर्ध्वम्	द्युलोक के देवों के लिए
त्वा	तुम्हारे लिए,		
मनसे	मन से		
त्वा	तुम्हारे लिए,	इमम्	इस
दिवे	द्युलोक की प्रीति (की प्राप्ति) के हेतु	अध्वरम्	यज्ञ को
		यच्छ	तुम संपादित करो॥२५॥
त्वा	तुम्हारे लिए,		

संपादन करने को देवों की प्रीति शुभद।
हम अनुष्ठान करतीं यज्ञों का मंगलप्रद॥
वैसे ही तुम भी अंतःकरण-वृत्तियाँ निज।
संकलित करो, मन-प्राण बने श्रद्धा के स्रज॥
गार्हस्थ्य-धर्म है यज्ञों-सा ही पावनतम।
स्वीकार करो इसको, यह जीवनफल उत्तम॥
होगी द्युलोक की प्रीति प्राप्त इसके द्वारा।
बन जायेगी शुचि यज्ञमयी जीवन-धारा॥
सूर्य की प्रीति की प्राप्ति-हेतु तुम करो यज्ञ।
सूर्य के सदृश तेजस्वी जीवन बने यज्ञ॥

येषाम् भागः	उनमें से तुम्हीं एक भाग	स्थ	हो।
		स्वाहा	यह उत्तम कथन अर्पित है ॥ २७ ॥

हे दिव्य जलो! हे प्रजाजनो! शुभ गुण-मंडित।
तुम अपने शुभ कर्मों से रहो प्रकाशित नित॥
हे दिव्य जलो! तुम हो इन्द्रियगण के पोषक।
आनंद-वृद्धि करते उनकी, उनके रक्षक!॥
जलराशि-मध्य जो हैं तरंग-जैसे उन्नत।
जिनके द्वारा जल हुआ कभी यह नहीं पतित॥
जिनके द्वारा है रक्षित नित चारित्र्य-मान।
हे दिव्य जलो! तुम-सा है जिनका विमल ज्ञान॥
विद्वानों के हित जो करते हैं आत्म-दान।
देवादर्शों के रक्षक हैं जो महाप्राण॥
उनका सब मिल शासक के पद पर करें वरण।
अधिकार समर्पित करें उन्हें अपने सब जन॥
यह है स्वराज्य-संस्थापन की प्रक्रिया महत।
हो इसमें उत्तम भाग तुम्हारा नित स्वाहा॥ २७॥

टि०—इस मंत्र में स्वराज्य और सुराज्य के संस्थापन की प्रक्रिया का संक्षेप में निर्देश किया गया है। प्रजाजनों का यह कर्त्तव्य है कि वे सब मिलकर उत्कृष्ट गुण और उत्तम चरित्रवाले व्यक्ति को अपना राजा या शासक चुनें। राज्य की स्थापना न्याय के पक्षपातमुक्त और सर्वजनसुलभ प्रयत्नों को दृढ़ करने के लिए हुई है। न्याय का सम्यक् वितरण तब संभव है, जब उच्च चारित्र्ययुक्त और शुभगुणगणमंडित व्यक्ति को ही प्रजा का प्रतिनिधि चुना जाए। २७

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि।
समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥२८॥

कार्षिः	तुम कृषि-कर्मा	अद्भिः	जलों स
असि	हो।	आपः सम्	जलों के साथ,
त्वा	तुमको	औषधीः	औषधियाँ
समुद्रस्य	समुद्र तक	औषधीभिः	औषधियों से
आ क्षित्यै	जितनी भूमि है,	सम्	भली-भाँति
उत् नयामि	मै (उसकी उन्नति करने के लिए) उसे ऊपर उठाता हूँ।	अग्मत	उन्नत हो जाएँ ॥ २८ ॥

ज्वलित होती शुद्ध समिधा प्राप्त कर ज्यों अग्नि।
न्याय के हित ज्वलित वाणी बने मेरी अग्नि!॥
सुनें मेरी प्रार्थना ये अग्निदेव महान।
सुनें मेरी प्रार्थना ये आप शुचि सज्ञान॥
अये ग्रावाण:[1]! तुम्हारा सत्-असत् का ज्ञान।
सुदृढ़ है, तुम हो मनीषी विमल विद्यावान॥
यज्ञ में मेरा निवेदन सुनो, हे मतिमान!।
न्याय का प्रति कंठ से हो उच्चरित जय-गान॥
विश्व के प्रसविता सविता दिव्य गुणसंपन्न।
सुनो मेरी प्रार्थना, हम यज्ञ हेतु प्रपन्न॥ २६॥

टि०—इस मंत्र में सोम को राजा के रूप में संबोधित किया गया है। आदर्श राजा और शासक वही है, जो प्रजा का अपत्य की तरह पालन करे। श्रेष्ठ शासन की पहचान यह है कि उसमें न्याय की वाणी अग्नि की तरह प्रज्वलित रहे। यज्ञों के द्वारा समाज में समता एवं न्याय की भावना दृढ़ हो। सत् और असत् के विवेक से संपन्न विद्वज्जन समाज का मार्गदर्शन करते रहें। इस मंत्र में 'ग्रावाण:' शब्द का प्रयोग है। 'ग्रावाण:' का अर्थ दो प्रकार से किया गया है। एक अर्थ है सत्-असत् का विवेक करने वाले; दूसरा अर्थ है ग्रावा अर्थात् पाषाण की तरह सुदृढ़। २६

देवीरापो अपां नपाद्यो वं ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावान् मदिन्तमः।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा[2] ॥२७॥

देवी: आप:	हे दिव्य जलो!	मदिन्तम:	सबको हर्षित करने में सर्वाधिक समर्थ है,
य:	जो		
व:	तुममें	तं	उसको (वह)
अपां	जलों को	देवेभ्य:	समस्त देवकल्प विद्वानों के हितार्थ,
नपात्	न गिरानेवाला है,		
ऊर्मि:	जलों के बीच तरंग के समान उत्तम है,	शुक्रपेभ्य:	वीर्य-रक्षा करने वालों के हितार्थ,
हविष्य:	हवन से सत्कार करने योग्य है,	देवत्रा	देवत्व के रक्षकों के हितार्थ,
इन्द्रियावान्	इन्द्रियों को बल से संपन्न करनेवाला है	दत्त	प्रदान करो।

१ हे सुदृढ़ अर्थात् दृढ़व्रती लोगों।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे[1] रावाऽसि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं[2]
निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥३०॥

सवितुः देवस्य	सर्वोत्पादक परमेश्वर के	उत्तमेन पविना	उत्कृष्ट पवित्र शस्त्र वज्र आदि के बल से तथा
प्रसवे	यज्ञ में	ऊर्जस्वन्तं	उत्तम बलयुक्त
अश्विनोः बाहुभ्यां	अश्विनी की बाहुओं से (तथा)	मधुमन्तं	मधुर पदार्थों से समृद्ध (एवं)
पूष्णः हस्ताभ्याः	पोषा देव के हाथों से	पयस्वन्तं	दूध आदि पदार्थों से संपन्न
त्वा आददे	(मैं) तुम्हें ग्रहण करता हूं।	कृधि	कर दो।
रावा	तुम उत्तम दाता	निग्राभ्या स्थ	(तुम) निरन्तर स्वीकार करने योग्य हो।
असि	हो।		
इदम् गभीरम्	इस गंभीर		
अध्वरम्	अहिंसक यज्ञ को	देवश्रुतः	श्रेष्ठ दिव्य गुणों को सुननेवाले तुम
इन्द्राय	ऐश्वर्यवान प्रभु इन्द्र के लिए	मा	मुझे
सुषूतमम्	बल बढ़ानेवाले	तर्पयत	तृप्त करो ॥ ३० ॥

सर्वोत्पावक परमेश्वर का यह यज्ञ अनुष्ठित है मानव ! ।
सर्वोत्पादक जगदीश्वर के हित यज्ञ अनुष्ठित यह मानव ! ॥
सर्वोत्पादक प्रभु का प्रसाद हो प्राप्त सदा ।
बल-पौरुष से मैं रवि-शशि के तुमको करता स्वीकार सदा ॥
अश्विद्वय की बाँहों को, पूषा के पोषक कर को फैला ।
हे प्रजाजनो ! मैं तुम सबको करता सादर स्वीकार सदा ! ॥
यह राज्य - व्यवस्था यज्ञ महत् ।
कल्याण - राज्य है यह सुविहित ! ॥
इस महायज्ञ में तुम सबका हो योगदान ॥
तुम उत्तम दाता पुण्यवान ।
इन्द्र के लिए, ऐश्वर्य - सिद्ध हो तुम सबको ॥

कृषिकर्म-निरत हो प्रथित कार्षि[1], तुम हे मानव ! ।
आसिंधु धरित्री की विस्तृति देखो नव नव ॥
मैं इसकी उन्नति हेतु तुम्हें करता उन्नत ।
उत्पन्न करो इसपर बहुविध ओषधियाँ नित ॥
हों यज्ञशुद्ध जलचय से ओषधियाँ सिंचित ! ।
ओषधियों की, धान्यों की हो उत्पत्ति अमित ॥
आसिंधु धरित्री को कर दो शस्यश्यामा ! ।
हे कार्षि ! मिलें ओषधियाँ तुमको अभिरामा ! ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में मानवों को कृषिकर्म करने के लिए उद्‌बोधित किया गया है । समुद्र तक फैली हुई धरती पर मानव कृषिकर्म करता हुआ अन्नोत्पादन करे, यह इस मंत्र का आदेश है । इस मंत्र का यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यज्ञ के शुद्ध जल से ओषधियाँ सींची जाएँ । एक पूर्ववर्ती मंत्र की टिप्पणी में बताया जा चुका है कि गेहूँ, चना, जौ आदि जो फलों के पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं, उन्हें ही ओषधि कहते हैं । ये अन्न आदि यज्ञों के धूमसमूह से उत्पन्न मेघों के दिव्य जल से यथाकाल सिंचित होते रहें । यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है । २८

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥२९॥

अग्ने	हे अग्नि !	**जुनाः**	भेजते हो,
यम् मर्त्यम्	जिस मनुष्य की	**सः**	वह पुरुष ही
पृत्सु अव	तुम संग्राम में रक्षा करते हो,	**शश्वतीः**	निरंतर
वाजेषु	संग्राम में	**इषः यन्ता स्वाहा**	अन्नादि पदार्थों को उत्तम प्रकार से प्राप्त होते रहें ॥ २९ ॥
यम्	जिसको		

संग्रामों में जो वीर पुरुष होते योजित ।
हे अग्निदेव ! तुम इनकी रक्षा करते नित ॥
संग्रामों में तुम जिसको करते हो प्रेषित ।
अन्नादि पदार्थों से वह रहता परिपूरित ! ॥
संग्रामों में जो करते रहते विजय वरण ।
हे अग्नि ! रहे धनधान्यपूर्ण उनका जीवन ! ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव से यह प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र के सैनिक संग्रामों में विजय प्राप्त करें, उनके जीवन में किसी प्रकार का अभाव न हो । वे सदैव धन-धान्य से पूरित रहें । समाज और राष्ट्र उनके योगक्षेम का वहन करे । २९

---

१ कृषि-कर्म करनेवाला ।

मे गणान्	मेरे गणों को	मे गणाः	मेरे गण अर्थात् सेवकादि
तर्पयत	तृप्त करो।	मा वितृषन्	उदास न हो ॥३१॥

तुम अपने शुभ गुणगण से मुझको तृप्त करो।
निज गुणगण से मेरा मन मानव! तृप्त करो ॥
तुम तृप्त करो, मेरी वाणी को तृप्त करो।
तुम तृप्त करो, मेरे प्राणों को तृप्त करो ॥
तुम तृप्त करो, मेरे नेत्रों को तृप्त करो।
तुम तृप्त करो, मेरे प्राणों को तृप्त करो ॥
तुम तृप्त करो, मेरी आत्मा को तृप्त करो।
तुम तृप्त करो, मेरी संतति को तृप्त करो ॥
तुम तृप्त करो, सब पशु-समूह को तृप्त करो।
इन हस्ति, अश्व, गो आदिक को तुम तृप्त करो! ॥
मेरे सेवक अनुयायीगण को तृप्त करो।
कोई अतृप्त रह जाय न, सबको तृप्त करो ॥
तुम सर्वभूतहित करो यज्ञ का वह विधान।
हो जायं तृप्त जिससे मेरे मन, नेत्र, कान ॥
मेरे प्राणों में, आत्मा में भर जाय तृप्ति।
सब प्राणिवर्ग को, पशुओं की हो जाय तृप्ति ॥
मेरे सेवक अनुयायी हों सब तृप्त पुष्ट।
मिट जाय विरोध-विषाद, न कोई हो अतुष्ट ॥ ३१ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करने का उपदेश दिया गया है जिससे भगवान तृप्त हो, प्रसन्न हों। भगवान का मन प्रसन्न होने से सबके मन प्रसन्न होते हैं, उनके प्राणों की तृप्ति सबके प्राणों की तृप्ति का निमित्त बन जाती है। उनके नेत्रों और कानों की तृप्ति से सबके नेत्र और कान तृप्त होते हैं। वस्तुतः भगवान कोटि-कोटि शीर्षवाले पुरुष है, सब प्राणियों के कोटि-कोटि मन, प्राण, नेत्र, कान आदि उन्हीं के मन, प्राण, नेत्र, कान आदि हैं। इसलिए इस मंत्र में ऐसे सर्वभूतों के हित का सवर्धन करनेवाले परम चरम लोकहितकारी यज्ञ का अनुष्ठान करने को कहा गया है, जिससे सब जीवधारी तृप्त हों, परितुष्ट और पुष्ट हों। कोई एक भी कही वंचित, अतृप्त, अभावग्रस्त या उदास न रह जाय। वह लोककल्याणकारी यज्ञ ऐसा हो, जिसमें पशुओं तक की तुष्टि-पुष्टि का सम्यक् विधान हो। भगवान के सेवकों और अनुयायियों अर्थात् लोकहित के लिए जीवन समर्पित करनेवाले संतजनों के लिए वह यज्ञ परम आनंद प्रदान करनेवाला हो। ऐसे यज्ञ से ही भगवान् के मन, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि तृप्त किये जा सकते है। तात्पर्य यह है कि वैदिक यज्ञ वही है जिससे सबका कल्याण हो। ऐसा यज्ञ सब विरोधों का परिहार कर समन्वय स्थापित करता है, और सच्चे साम्य और सख्य का प्रवर्तन करता है। ३१

इसलिए करो शुचि हवि अर्पित, उत्तम हवनीय करो प्रदान।
इस राष्ट्र-यज्ञ के द्वारा तुम सब बनो सतत सामर्थ्यवान ॥
मधु का उत्पादन करो प्रचुर, पय का प्रभूत हो उत्पादन।
राष्ट्र की सुरक्षा हेतु करो शस्त्रों का संचय संपादन ! ॥
अर्पित कर दो सब राष्ट्र हेतु अपने उत्तम साधन अनंत।
शुचि पय से परम पूत मधु से यह यज्ञवेदिका हो ज्वलंत ॥
इस महायज्ञ में बलवर्द्धक मधुरातिमधुर अन्नादि सकल।
अपनी समृद्धि के हेतु करो अर्पित जीवन-साधन-संबल ॥
हे प्रजाजनो ! कल्याण-राज्य[1] यह महत् यज्ञ है समनुष्ठित।
दे अंशदान अपना इसको तुम करो निरंतर संवर्द्धित ॥ ३० ॥

टि०—इस मंत्र में आदर्श राज्य के स्वरूप का प्रतीकात्मक निर्देश है। राजा प्रजा को संबोधित करता हुआ कहता है, मैंने तुम्हारी सर्वांगीण उन्नति के लिए इस कल्याण-राज्य रूपी महान यज्ञ का अनुष्ठान किया है। तुम अपना अंशदान देकर इसे पुष्ट और संवर्द्धित करो। कल्याण-राज्य को पुष्ट और संवर्द्धित करने के लिए अन्न, दूध, मधु आदि का प्रभूत उत्पादन होना चाहिए। राष्ट्र की सुरक्षा के लिए शस्त्रों का निर्माण और संचय भी होता रहना चाहिए। राष्ट्र के सभी नागरिकों का इसमें योगदान होना चाहिए। तभी यह राज्य सफल हो सकता है। राष्ट्र में किसी वस्तु का, किसी प्रकार का अभाव न हो, यह कल्याण राज्य की आधारभूत आवश्यकता है। यही रामराज्य है। आज के राजनीति-शास्त्र की शब्दावली में इसे 'वेल्फेयर स्टेट' कहते हैं, उसकी रूपरेखा इसमें निर्धारित की गई है। ३०

मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑ मे तर्पयत प्रा॒णं मे॑ तर्पयत॒ चक्षु॑र्मे तर्पयत॒ श्रोत्रं॑ मे तर्पयता॒त्मानं॑ मे तर्पयत प्र॒जां मे॑ तर्पयत प॒शून्मे॑ तर्पयत ग॒णान्मे॑ तर्पयत ग॒णा मे॒ मा वि तृ॑षन् ॥३१॥

मे	मेरे	मे श्रोत्रं	मेरे कानों को
मनः तर्पयत	मन को तृप्त करो;	तर्पयत	तृप्त करो;
मे वाचं	मेरी वाणी को	मे आत्मानं	मेरी आत्मा को
तर्पयत	तृप्त करो;	तर्पयत	तृप्त करो;
मे	मेरे	मे प्रजां	मेरी सन्तान को
प्राणं तर्पयत	प्राण को तृप्त करो;	तर्पयत	तृप्त करो;
मे चक्षुः	मेरे नेत्रों को	मे पशून्	मेरे पशुओं को
तर्पयत	तृप्त करो;	तर्पयत	तृप्त करो;

[1] लोक में प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण करनेवाली शासन-व्यवस्था। आजकल इसे ही 'वेल्फ़ेयर स्टेट' कहते है।

हवनीयों को नियुक्त करता हूँ। मैं सोम के वहनकर्ता श्येन के लिए हवनीय नियुक्त करता हूँ। मैं अग्नि के लिए यह हवनीय नियोजित करता हूँ। इन्द्र, अग्नि आदि सब एक ही परमात्मा के नाम हैं, यह भी श्रुति का कथन है। उपनिषदों और पुराणों में यह परंपरा प्रवर्तमान रही है। इससे देवताओं के अस्तित्व का निषेध नहीं होता। अपितु यह सिद्ध होता है कि भगवान सर्वदेवमय है। ३२

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒रावन्तरि॑क्षे ।
तेना॒स्मै यज॑माना॒योरु रा॒ये कृ॒ध्यधि॑ दा॒त्रे वो॑चः ॥३३॥

सोम	हे सोम !	तेन	उसके द्वारा
ते	तुम्हारा	अस्मै	इस
यत्	जो	दात्रे यजमानाय	दानी यजमान की
दिवि	द्युलोक में,		
यत् पृथिव्याम्	जो पृथ्वी में,	उरु कृधि	बहुत सहायता करो।
यत्	जो	राये	ऐश्वर्यवृद्धि के लिए
उरौ अन्तरिक्षे	विस्तृत अंतरिक्ष में	अधि वोचः	आज्ञा प्रदान करो॥ ३३ ॥
ज्योतिः	प्रकाश है,		

हे सोम ! तुम्हारा फैला है चेतन प्रकाश।
परिप्लावित है दिव, पूरित हैं सब दिशाकाश॥
उस महत् ज्योति से अंतरिक्ष है परिपूरित।
उस महत् ज्योति से ही यह धरती परिप्लावित॥
सिरजा तुमने यह महाज्योति का अकूपार[1]।
यजमान मानते हैं अनंत उपकार-भार।
इस हेतु विनत वे देते हैं दक्षिणा-दान॥
हे देव ! करो तुम उनपर अनुकंपा महान।
तुम करो निरंतर उन सबको ऐश्वर्य-वृद्धि।
आज्ञा दो, उनको प्राप्त रहे ऐश्वर्य-सिद्धि॥ ३३॥

टि०—सोम ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए प्रेरणा देनेवाले देवता हैं। वे शान्ति के भी प्रतीक हैं। उनका अनंत चेतन प्रकाश तीनों लोकों में व्याप्त है। सब यज्ञकर्ता इसके लिए उनके ऋणी हैं। वे इसके उपलक्ष्य में कृतज्ञता से प्रेरित होकर उदारतापूर्वक दान करते हैं। ऐसे कृतज्ञ यजमानों को सोम देवता ऐश्वर्य और शान्ति प्रदान करें, यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। सोम भगवान का ऐश्वर्य और शान्ति प्रदान करनेवाला स्वरूप है। उनके लिए कृतज्ञ होना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

१ समुद्र।

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वा[1]
ऽऽदित्यवत इन्द्राय त्वा[2] ऽभिमातिघ्ने[3] ।
श्येनाय त्वा सोमभृते[4] ऽग्नये त्वा रायस्पोषदे[5] ॥३२॥

त्वा	तुमको	इन्द्राय त्वा	इन्द्र के लिए तुम्हें नियुक्त करता हूँ।
वसुमते	ऐश्वर्यवान	सोमभृते	सोम का भरण-पोषण करनेवाले
रुद्रवते	शत्रुओं को रुलानेवाले वीर पुरुषों से सेवित	श्येनाय त्वा	बाज के समान शत्रु पर आक्रमण करने के लिए तुम्हें नियुक्त करता हूँ।
इन्द्राय	इन्द्र के लिए(मैं) नियुक्त करता हूँ	रायस्पोषदे	ऐश्वर्य की पुष्टि करनेवाले
आदित्यवते	आदित्यों के सहित	अग्नये त्वा	अग्रणी पद के लिए तुम्हें नियुक्त करता हूँ ॥ ३२ ॥
इन्द्राय त्वा	ऐश्वर्यवान पुरुष के लिए तुम्हें (मैं)नियुक्त करता हूँ।		
अभिमातिघ्ने	शत्रुघाती		

ऐश्वर्यवान जो परम चरम, अरि - विद्रावण जिनका विक्रम।
जो अप्रतिभट संग्रामजयी, जिनकी सेनाएँ अप्रतिम।
उन इन्द्र हेतु हवनीय सकल, संचित नियुक्त करता हूँ मैं॥
द्वादश आदित्यों से सेवित, जिनका ऐश्वर्य अनंत - अमित।
उन इन्द्रदेव को श्रद्धाश्रित, हवनीय समर्पित करता मैं॥
है सदा शत्रुघाती प्रसिद्ध, जिनका पौरुष - दव है प्रसिद्ध।
उन इन्द्रदेव हित श्रद्धानत, हवनीय समर्पित करता मैं॥
सोमभृत सदा जो श्येन प्रथित, पालक - पोषक सोम का सतत।
हवनीय यहाँ जो है संचित, उसके हित अर्पित करता मैं॥
सोम का भरण - पोषण - कर्ता, जो है रिपुओं का संहर्ता।
उस श्येन - सदृश अप्रतिभट हित, हवनीय नियोजित करता मैं॥
ऐश्वर्य - वृद्धि करते जो नित, ज्वालामय जिनका भर्ग अमित।
उन अग्निदेव के हित नव नित, हवनीय नियोजित करता मैं॥ ३२॥

टि०—पवित्र हवनीय द्रव्यों का संचय किसके लिए किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में दिया गया है। इस मंत्र में यजमान-यज्ञकर्ता के महनीय प्रश्न का उत्तर देता है। वह कहता है, मैं शत्रुविद्रावण परम ऐश्वर्यशाली इन्द्र के लिए संचित

अङ्ग	हे अंग !	प्रशंसिषः	उत्तम शिक्षा प्रदान करो।
शविष्ठ	हे शक्तिमान !		
मघवन्	हे धनवान !	त्वत् अन्यः	तुम्हारे अतिरिक्त
इन्द्र	हे परम ऐश्वर्यवान परमात्मन् !	मर्डिता	सुख देनेवाला।
		न अस्ति	(कोई) नहीं है।
देवः त्वम्	देवगुणयुक्त तुम	ते वचः	तुम्हारे वचनों को ही
मर्त्यम्	इस मनुष्य को	ब्रवीमि	मैं कहता हूँ ॥ ३७ ॥

बलयुक्त अंग[1] ! धनवान परम हे मघवन्।
हे परम परम ऐश्वर्यवान परमात्मन् ! ॥
हे दिव्य गुणों से मंडित शत्रुंजय प्रभु !।
मानव को दो परमोत्तम शिक्षा हे विभु ! ॥
इस शिक्षा से ही मनुज प्रशंसा पाता।
तुमसे न भिन्न कोई सुख - शर्म - प्रदाता ॥
अनुकूल तुम्हारे है प्रभु ! मेरी वाणी।
यह कथन तुम्हारी ही वाणी कल्याणी[2] ! ॥ ३७ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर से मनुष्य को उत्तम से उत्तम शिक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। उत्तम शिक्षा प्राप्त करके ही मनुष्य प्रशंनीय बनता है। भगवान से भिन्न ऐसा कोई नहीं है जो मनुष्य को सुख-शान्ति प्रदान कर सके। इस मंत्र में 'मर्डिता' शब्द प्रयोग में आया है, जिसका अर्थ है सुख प्रदान करनेवाला। इस मंत्र में देव शब्द के दो प्रकार के अर्थ किये गये हैं—(१) दिव्य गुणों से मंडित और (२) शत्रुओं को जीतनेवाला। 'शविष्ठ' शब्द का अर्थ है 'शक्तिमान'। ३७

॥ षष्ठम अध्याय समाप्त ॥

---

१ परम अभिन्न मित्र-रूप; २ मैं तुम्हारे वचनों को ही कहता हूँ।

कृतज्ञता महान मानवीय सद्‌गुण है। यह मंत्र मानव-समाज को प्रमादरहित और पुरुषार्थी बनकर उन्नति करते रहने की प्रेरणा देता है। ३३

श्वा॒त्रा स्थ॑ वृत्र॒तुरो॒ राधो॑गूर्ता अ॒मृत॑स्य॒ पत्नीः॑।
ता दे॑वीर्दे॒वत्रे॒मं य॒ज्ञं न॑य॒तोप॑हूता॒: सोम॑स्य पिबत ॥३४॥

देवीः	हे दिव्य गुणों से युक्त स्त्रियो !	ताः देवत्रा	देवकल्प गुणों के साथ भक्ति से रहनेवाली हो।
वृत्रतुरः	तुम शत्रु का नाश करनेवाली,	इमम्	इस
राधोगूर्ताः	धन की वृद्धि करनेवाली,	यज्ञं	यज्ञ को
		नयत	पूर्ण कराओ।
पत्नीः	पति की सहायिका (तथा)	उपहूताः	बुलाई हुई तुम
		अमृतस्य	अतिस्वादयुक्त
श्वात्राः स्थ	शत्रु पर आक्रमण करनेवाली (एवं)	सोमस्य	सोमरस का
		पिबत	पान करो ॥ ३४ ॥

नारियो! दिव्य गुणगण - मंडित।
तुम शत्रुनाशिनी हो संतत ॥
विद्युत्‌शोभी वर्षित घन - सी।
वर्षा करती हो तुम धन की ॥
पति की सहायता हित उद्यत।
गृह में लक्ष्मी - सी सदा उदित ॥
देवता - सदृश निज - निज पति की।
तुम रहो अनंत प्रीति - भाजन ॥
आक्रान्त शत्रु रहते तुमसे, तुमसे यह यज्ञभूमि शोभित।
देवियो ! यज्ञ यह समनुष्ठित ॥
तुम पूर्ण करो यह क्रतु महान।
तुम यहाँ निमंत्रित हो सादर ॥
सुस्वादु सोमरस करो पान ! ॥ ३४ ॥

टि०—इस मंत्र में वैदिक युग की नारियों की सामाजिक प्रतिष्ठा का बड़ा उदात्त रूप अंकित मिलता है। स्त्रियों को 'देवी' अर्थात् दिव्य गुणों से मंडित कहा गया है। इन दिव्य गुणों का विकास यज्ञों के माध्यम से होता है। इसलिए यज्ञों में आदरपूर्वक उनका आवाहन किया जाता है। इस मंत्र का फलितार्थ यह है कि स्त्री और पुरुष

इस मंत्र में यह स्पष्ट निर्देश है कि पवित्र आचरणवाला व्यक्ति ही कवि-कर्म का अधिकारी होता है। जिनका आचरण शुद्ध नहीं, वे लोककल्याणकारी कवि नहीं हो सकते। भ्रष्टाचारी कवि की वाणी समाज को भ्रष्ट करती है। १

मधुमतीर्न इषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥२॥

सोम	हे सोम !	तस्मै	उसके लिए
नः	हमारे	ते	तुम्हें
इषः	अन्न	स्वाहा	(हम) हवि प्रदान करते हैं।
मधुमतीः	मधुर रसयुक्त		
कृधि	करो।	सोम	हे सोम !
ते	तुम्हारा	ते सोमाय	तुम्हारे सोम के लिए
यत्	जो	स्वाहा	यह हवि अर्पित है।
अदाभ्यम्	हिंसारहित शांति-दाता	उरु अन्तरिक्षम्	विशाल अंतरिक्ष में व्याप्त
जागृवि	सबको जाग्रत करनेवाला	अनु एमि	ईश्वर को (मैं) प्राप्त होता हूँ॥ २ ॥
नाम	नाम है,		

हे सोम ! हमारे कृषि-फल मधु रसमय कर दो !।
सब अन्नों को रसमय कर दो, मधुमय कर दो ! ॥
है नाम तुम्हारा हिंसारहित जागरणकृत[१] !।
अर्पित करता हूँ मैं तुमको यह हवि, स्वाहा ॥
तुम उमा-सहित संरक्षण-शक्ति युक्त ईश्वर !।
मैं आत्मसमर्पण करता भावभरित अंतर ॥
यह अंतरिक्ष सोमाविहीन इसमें तुम व्याप्त और व्यापृत।
इसमें मैं पाता हूँ तुमको, इसमें मैं ध्याता तुमको नित ॥
हे सोम ! तुम्हारा सत्य धर्म, हे सोम ! तुम्हारी क्रिया सत्य।
है सत्य तुम्हारी ही वाणी, तुमको अर्पित यह हवि स्वाहा ॥ २ ॥

टि०—जो 'स+उमा' है, वह सोम है। उमा का अर्थ है जगदीश्वर की संरक्षण-शक्ति उनकी लोकपालिनी शक्ति। भगवान का यह सोम अहिंसा और शान्ति की लोक-पालिनी शक्ति, का प्रतीक है। भगवान का नाम सब मल-विक्षेपादि दूर कर

१ सबको जाग्रत करनेवाला।

अथ सप्तमोऽध्यायः

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व, येषां भागोऽसि ॥१॥

वाचः पतये	(हे मनुष्य! तुम) वाणी के पति के लिए	देवः	दिव्य गुणवाले तुम
पवस्व	पवित्र बनो।	येषां	जिन देवों के
वृष्णः अंशुभ्यां	समस्त सुखों के देनेवाले सूर्य की	भागः	अंश
गभस्तिपूतः	किरणों से पवित्र होकर	असि	हो,
		देवेभ्यः	उन देवों के लिए
		पवस्व	पवित्र हो जाओ॥ १ ॥

सप्तम अध्याय

वाणी के पति के लिए पूत बन हे मानव!।
पावन बन, वाणी के पालक के हित मानव!॥
यदि तुझे इष्ट है वाणी का उत्तम प्रयोग।
तो साधन कर मानव! पावन चारित्र्य-योग॥
पति है, पालक भी हैं वाणी के परमेश्वर।
आचरण-शुद्ध को देते वे वाणी का वर!॥
यदि तुझे इष्ट है देवों के सन्निकट गमन।
तप रवि-किरणों में बाहर-भीतर पावन बन॥
तू है देवों का अंश दिव्य गुणगण-मंडित।
उनके समीप जाना हो, तो पावन रह नित॥
पावन बन, बहिरंतर पावन बन तू मानव!।
वाणी का वैभव अर्जित कर तू नित नव-नव॥ १ ॥

टिप्पणी—वाणी का ऐश्वर्य मानव-जीवन की अन्यतम सिद्धि है। यदि यह सिद्धि प्राप्त करना अभीष्ट है, तो मनुष्य को बाहर और भीतर की आत्यंतिक शुद्धि की साधना करनी चाहिए। पावन चरित्रवाले व्यक्ति को ही वाणी का उत्तम प्रयोग सिद्ध होता है। वाणी का ऐश्वर्य उसे सहज ही प्राप्त हो जाता है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने लिखी है— 'भगत हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई'।

करने को दिव्य जनों का हित-संपादन।
करने को प्राणिमात्र का हित-संवर्धन॥
हे सुभव[1]! हुआ है तेरा जग में उद्भव!।
तेरे उत्कर्ष हेतु अर्पित हवि स्वाहा!॥
सामर्थ्य-शक्ति से अपनी स्वयं प्रकाशित।
निज विद्या और ज्ञान से विश्रुत वंदित॥
हो प्राप्त तुझे शुद्धातिशुद्ध मन की निधि।
उत्तम कर्मों से हो प्रशस्त जीवन-विधि॥
सर्वप्रेरक आत्मा जो सचराचर के।
तू प्रीतियोग्य संतत उन परमेश्वर के॥
वे सूर्यरूप में रहते सदा प्रकाशित।
आयुर्वर्धन हित उनका सेवन कर नित॥
रवि-किरणों से ही जो रहते नित पावन।
उन दिव्य जनों का कर तू संतत सेवन॥
अज्ञान-शत्रु का है तू मर्दनकारी!।
उत्कर्ष-सिद्धि का बना पूर्ण अधिकारी॥
हे दिव्य मनुज! हे अंशु! ज्योतिधर मानव!।
रचता हूँ मैं तेरे जो नित नव संस्तव॥
वे सब हैं तेरे सदाचरण से प्रेरित।
मर्यादा तुझसे सत्य-शील की रक्षित॥
यह सदाचरण होता जिनसे हत लंघित।
वे सब समाज के शत्रु रहें उत्पाटित॥
प्राण के लिए मैं तुझे नियोजित करता।
काल के लिए मैं तुझे नियोजित करता॥ ३ ॥

टि०—इस मंत्र के कई अर्थ किये गये हैं। सातवलेकरजी के अनुसार इसमें 'सुभव' अर्थात् प्रशंसित जन्मवाले मानव के व्यक्तित्व का बड़ा उदात्त चित्र अंकित किया गया है। मनुष्य अपने सदाचरण से कितना महान बन सकता है, यह भी इस मंत्र में बताया गया है। मनुष्य सदाचरण की जो मर्यादाएँ स्थापित करता है, उनके कारण वह प्रशंसनीय बनता है। जो इन मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, वह समाज का शत्रु है, उसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए। यह भी बताया गया है कि प्राण और व्यान के नियमन से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करनी चाहिए। मनुष्य अपनी सामर्थ्य से स्वयं प्रकाशित है। उसके जीवन का उद्देश्य प्राणिमात्र का हित करना है। महर्षि

१ उत्तम जीवन प्राप्त करनेवाला।

अज्ञानान्धकार में ढकी हुई सत्, चित्, आनंदमयी आत्मा की शक्ति को जाग्रत करता है। उस शक्ति के जाग्रत होने पर सत्य और धर्म का साक्षात्कार होता है, प्रत्येक क्रिया सत्प्रयुक्त हो जाती है— वाणी में सत्य का प्रकाश होता है। 'सत्यं परं धीमहि' की स्थायी मनःस्थिति निर्मित हो जाती है। २

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो[2] देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ[3] फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥३॥

इन्द्रियेभ्यः	इन्द्रियों के हित के लिए,
दिवेभ्यः	दिव्य जनों के हित के लिए,
पार्थिवेभ्यः	पृथ्वी पर रहनेवाले
विश्वेभ्यः	सभी प्राणियों के हित के लिए
स्वाङ्कृतः असि	(तुम) अपने सामर्थ्य से प्रकाशित हो।
त्वा	तुम्हे
मनः	शुद्ध मन
अष्टु	प्राप्त हो।
सुभव	प्रशंसित जन्म-वाले मानव !
त्वा	तुमको
सूर्याय	सूर्य के प्रकाश में कार्य के लिए (मैं नियुक्त करता हूँ)।
मरीचिपेभ्यः	किरणों के समान पवित्र करनेवाले
देवेभ्यः	दिव्य जनों के लिए
त्वा	तुम्हें (नियुक्त करता हूँ)।
देव	हे दिव्य मानव !
अंशो	हे प्रकाशमान !
यस्मै	जिस कारण से
त्वा	तुम्हारी
ईडे	(मैं) स्तुति करता हूँ,
तत्	वह
सत्यम्	तुम्हारा सत्याचरण है।
उपरिप्रुता भङ्गेन	सत्य की मर्यादा को भंग करनेवाला
हतः	जो निहत-सा है,
असौ फट्	वह शत्रु नष्ट हो जाए।
त्वा प्राणाय	तुम्हें प्राण के लिए,
व्यानाय त्वा	तुम्हे व्यान के लिए (मै नियुक्त करता हूं) ॥ ३ ॥

हे सुभव ! प्रशंसित जन्मप्राप्त हे मानव !।
इन्द्रियगण का हित करने के हित नित नव ॥

स+उमा अर्थात् उमा-सहित। उमा ही आंतरिक संरक्षण-शक्ति है। इस आंतरिक शक्ति के जाग्रत होने पर प्रभूत धन-पुत्रादि प्राप्त होते हैं। ऋद्धि की वृद्धि और इष्ट की सिद्धि होती है। किंतु इस ऋद्धि और समृद्धि की सार्थकता दान में ही है। दान में नियोजित धन ही धन्य माना गया है— 'सोइ धन धन्य प्रथम गति जाकी।' इस मंत्र में 'उरुष्य' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ है-क्लेशों को दूर करो। क्लेश पांच हैं-राग, द्वेष, मोह, अस्मिता और अविद्या। ४

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥५॥

मघवन्	हे धनवान् (परमेश्वर)!	दधामि	यह मेरी धारणा है।
ते अन्तः	तुम्हारे अधिकार में	अवरैः देवेभिः	अपने पास रहे देवों के
द्यावा पृथिवी	आकाश और पृथ्वी दोनों हैं,	सजूः	साथ
दधामि	यह मेरी धारणा है।	च परैः	और दूसरे देवों के साथ रहकर
ते अन्तः	तुम्हारे अधिकार में	अन्तर्यामे	समस्त प्रजाओं को
उरु अन्तरिक्षम्	विशाल अंतरिक्ष हैं,	मादयस्व	(तुम) सुखी करो॥ ५ ॥

मघवन् हे! हे धनपति! हे जगदीश्वर!।
अधिकार आपका अंतरिक्ष पर धरती पर॥
है ज्ञात मुझे, हे परमेश्वर! यह ज्ञात मुझे।
आप में समाये हैं ये सब द्यावा-पृथ्वी॥
आप में समाया है अनंत यह अंतरिक्ष।
है ज्ञात मुझे, हे परमेश्वर! यह ज्ञात मुझे॥
दूर के पास के देवों के रहकर समीप।
मित्रवत् करो उर-उर ज्योतित आनंद-दीप॥
जितने पदार्थ हैं इस विराट ब्रह्माण्ड बीच।
हैं वर्तमान, वे सभी आपके ज्ञान बीच॥
पर नहीं योगविद्या का जिसको सविधि ज्ञान।
अर्चन-उपासना से है जिसका विमुख प्राण॥
वह नहीं देख सकता है तुमको यथारूप।
वह नहीं जान सकता है तुमको विश्वरूप॥ ५ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान के उस विराट् रूप का अभिनंदन है, जिसमें ये सब, धरती,

दयानंद के अनुसार जीव आप ही स्वयंसिद्ध अनादि-रूप है। उसे चाहिए, वह प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण को निर्मल बनाकर धर्मयुक्त व्यवहार करे। दुर्जनों को मारकर सज्जनों की रक्षा करे एवं लोक को आनंदित करे। महर्षि दयानंद के अनुसार प्राण का अर्थ है-जीवन और व्यान का अर्थ है-विविध प्रकार के सुख। प्राण और व्यान पंच प्राणों किंवा वायुओं में है, यह प्रसिद्ध है। ३

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्।
उरुष्य राय एषो यजस्व ॥४॥

उपयामगृहीतः	(तुम) यम-नियमों का पालन करनेवाले	पाहि	रक्षा करो।
असि	हो।	उरुष्य	क्लेशों को बल से नष्ट करो,
अन्तः यचछ	आन्तरिक शक्ति को अपने वश में करो;	रायः	(जिससे तुम्हें) सब प्रकार के धन (तथा)
मघवन्	हे ऐश्वर्यसंपन्न।	इषः	अन्न
सोमं	अपनी संरक्षण-शक्ति की	आ यजस्व	प्राप्त हों ॥ ४ ॥

हे योगव्रती! उपयाम-गृहीत सदा तुम।
यम-नियमों के पालक हो संशित-व्रत तुम॥
आन्तरिक शुद्धि से आन्तर शक्ति जगाओ।
जाओ जाओ, सोम की शरण में जाओ॥
वे उमा - सहित संरक्षण - शक्ति - प्रदाता।
तुम उस संरक्षण - ऊर्जा के हो धाता॥
सब दुरित-दोष सब क्लेश दलो निज बल से।
अर्जित धन-अन्न करो पुरुषार्थ विमल से॥
धन-अन्न प्राप्त तुम करो दान हित मानव।
ऋद्धि की वृद्धि हो, इष्ट-सिद्धि हो नव-नव॥ ४ ॥

टि०—इस मंत्र में मानव को योगसाधना द्वारा अपना जीवन सफल और महान बनाने का आदेश दिया गया है। मनुष्य को इस मंत्र में 'उपयामगृहीतः असि' कहा गया है। 'उप+याम' का अर्थ है यम-नियमों के पास रहनेवाला, उनका पालन करनेवाला। यम हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम हैं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति। इन दस यम-नियमो का सम्यक पालन करनेवाला ही 'उपयाम-गृहीतः' है। इनके पालन से आन्तरिक शुद्धि संभव होती है। आन्तरिक शुद्धि से आन्तरिक संरक्षण-शक्ति की वृद्धि होती है। 'सोम' का अर्थ ही है

सूर्य-से तेज से अपने भर दो दिशाकाश ॥
इस धरती के सब सज्जन तुमसे हों उपकृत ।
उत्कर्ष, आत्मबल नवल करो नित संपादित ॥
ये हैं उदान आदिक जितने भी प्राण विदित ।
बन योगसिद्ध उनसे हो तुम लाभान्वित नित ॥
हो प्राप्त तुम्हें उत्तम, उदात्त जीवन, शुचि मन ।
करना समाधि-संभूत सत्य का तुम्हें वरण ॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र के कुछ शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और वे अनेक मंगलमय अर्थ-दिशाओं का प्रसार करते हैं । जैसे 'स्वांकृतः' शब्द का अर्थ आदिकाल से 'स्वयंसिद्ध' है और 'सतत प्रयत्नशील बना रह' भी है । इस मंत्र में यह बताया गया है कि जब तक मनुष्य श्रेष्ठ और सत्य आचरण नहीं करता, तब तक भगवान उसे स्वीकार नहीं करते । मनुष्य 'सुभव' है; एवं जन्म से ही उत्तम ऐश्वर्यवान और योगयुक्त है । विश्व के विद्वज्जनों, सज्जनों, सब प्राणिमात्र का हित करना उसका परम धर्म है । इसीलिए भगवान स्वयं इस मंत्र में उससे कहते हैं, 'तू उत्तम उदात्त योगयुक्त जीवन बिताता हुआ समाधि-संभूत सत्य का साक्षात्कार कर !' ६

आ वा॑यो भूष शुचिपा उप॑ नः स॒हस्रं॑ ते नि॒युतो॑ विश्ववार ।
उपो॑ ते॒ अन्धो॒ मद्य॑मयामि॒ यस्य॑ देव
द॒धि॒षे पू॑र्व॒पेय॑ं वा॒यवे॑ त्वा॑ ॥७॥

शुचिपाः	शुद्धता को पालनेवाले	अन्धः	अन्न है (वह)
वायो	हे पवन !	उपो	तुम्हारे निकट
नः	हमें	अयामि	मैं पहुँचाता हूँ ।
सहस्रं	हजारों	देव	हे दिव्य गुणयुक्त !
नियुत उप आ भूष	गुणों से भूषित करो ।	यस्य	जो
विश्ववार	समस्त गुणों के स्वीकार करने वाले !	ते	तुम्हारा
ते	तुम्हारा	पूर्व	अपूर्व
मद्यं	(जो) तृप्ति करनेवाला	पेयं दधिषे	पेय रूपी अन्न है, जिसे तुम धारण करते हो ।
		वायवे त्वा	(उसके लिए मैं) तुम्हें स्वीकार करता हूँ ॥ ७ ॥

अंतरिक्ष, द्युलोक आदि समाये हुए हैं। विश्व-ब्रह्मांड में जितने पदार्थ हैं, वे सब भगवान के ज्ञान में वर्तमान हैं। योगविद्या का अभ्यासी और साधनावान् उपासक ही भगवान को सम्यक् जान सकता है। अन्यों के लिए उनका ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। ५

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य उदानाय त्वा ॥६॥

सुभव	हे उत्तम जीवन व्यतीत करनेवाले !	पार्थिवेभ्यः	पृथ्वी पर से सबके हितकारी
स्वाङ्कृतः असि	(तुम) स्वय प्रयत्नशील हो।	त्वा	तुम हो।
इन्द्रियेभ्यः	इन्द्रियों का	सूर्याय	सूर्य की तरह
दिव्येभ्यः	उन दिव्य गुणों से	उदानाय	उत्कृष्ट जीवन के लिए (मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ जिससे),
विश्वेभ्यः	सब उत्तम		
देवेभ्यः	विद्वानों एवं	त्वा	तुमको
मरीचिपेभ्यः	तेजस्वियों का हित करनेवाले	मनः	उत्तम मन
त्वा	तुम हो।	स्वाहा अष्टु	और सत्यानुष्ठान की क्रिया प्राप्त हो ॥ ६ ॥

हे मानव ! तुम हो सुभव, जन्म से ही उत्तम।
ऐश्वर्यवान् हो योगयुक्त चिर पावनतम ॥
उन्नतिकामी है सिद्ध तुम्हारा मन अविरत।
विगत-प्रमाद तुम रहो श्रेष्ठतम कर्म-निरत ॥
उत्पन्न हुआ है, तू बन सबका हितकारी।
जानता तुम्हें मैं इन्द्रियगण - मंगलकारी ॥
उत्तम प्रशस्त गुणगण से मंडित जो महान।
उनके हित के हित तेरा उद्भव महाप्राण ॥
सब विद्वानों का योगिजनों का हितसाधक।
हो सब तेजस्वी जनगण के तुम आराधक ॥
जानता तुम्हें मैं मानव ! निखिल विश्व-हित-रत।
मैं उसी रूप में करता तुमको वरण संतत ॥
तुम सूर्य-सदृश निज योगशक्ति का कर प्रकाश।

ते	तुम्हारा	त्वा	तुम्हारे लिए
योनिः	स्थान है।		सोमरस (रखा है)
इन्द्रवायुभ्यां	इन्द्र और वायु के लिए	संजोषोभ्यां त्वा	यह तुमको चाहता है ॥ ८ ॥

हे इन्द्रवायु !
'इन्दवः सुताः' ये विविध सोमनिर्मित पदार्थ।
ये विविध सोम-निष्पेषित रस ॥
सब तुमको पाने को आतुर।
अर्पित होने को उत्कंठित ॥
हे देव-युगल ! आओ, आओ।
हे इन्द्रवायु ! आओ समीप ॥
हे वायु ! तुम्हारी प्राप्ति-हेतु।
हैं वरण यम-नियम किये सकल ॥
यम-नियम तुम्हारी योनि प्रथित।
ये योगसिद्धि के हेतु विमल ॥
हे इन्द्रवायु !
यम-नियम तुम्हारे वास-स्थल ॥
सब दुःख-निवारक ये प्रतिपल।
इनसे ही होता योग सफल ॥
ये विविध सोम-निर्मित पदार्थ।
ये विविध सोम-निष्पेषित रस ॥
तुमको अर्पित है देव युगल।
ऋतुकर्म सकल तुम करो सफल ॥
यह योग-साधना करो सफल ॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र और वायु से यह प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में पधार कर सोमरस का ग्रहण करें। सोमरस फिर 'इन्दवः सुताः' कहा गया है। इस मंत्र में योगसिद्धि के आधारभूत उपादानों का निर्देश भी किया है। 'उपयामगृहीतः' शब्द उसका बोधक है। योग के यम-नियमों को सविधि स्वीकार करनेवाला 'उपयामगृहीतः' होता है। यम-नियम की साधना पर आधारित योगसिद्धि द्वारा इन्द्र और वायु की अनंत शक्तियाँ स्वायत्त की जा सकती है, चराचर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अंततः इसी से सब प्रकार की समाधि-सिद्धि प्राप्त होती है। निर्विकल्प समाधि, सविकल्प-समाधि, भाव-समाधि, सहज समाधि आदि के प्राप्त करने का यही मार्ग है। ८

अ॒यं वां᳚ मित्रावरुणा सु॒तः सोम॑ ऋतावृधा। ममेदि॒ह श्रु॑तꣳ हव᳚म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि मि॒त्राव॑रुणाभ्यां त्वा ॥९॥

हे वायु ! तुम्हीं हो परम शुद्धता के कारक।
योगी की योग-क्रियाओं के प्रेरक धारक॥
हैं लक्ष-लक्ष ये शम-दम आदिक जो शुभ गुण।
उनसे तुम हमको भूषित करो पवन पावन॥
हे विश्ववार ! शुभ गुणगण की स्वीकार-मूर्ति।
हे देव ! भरो मेरे जीवन में पुण्य-स्फूर्ति॥
यह अन्न तृप्तिदाता है तुमको जो संतत।
मैं निकट तुम्हारे पहुँचाता रहता हूँ नित॥
दिव्यातिदिव्य गुणगण से मंडित तुम सदैव।
सब पेय, अन्न तुम धारण करते देवदेव॥
निज योगशक्ति से आत्मा को करते भास्वर।
तुम श्रेष्ठ योगियों की रक्षा में हो तत्पर॥
हो प्राप्त हमें वह महत् तुम्हारी योगशक्ति।
हैं वरण तुम्हारा करते हम मानव समक्ति॥ ७॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि वायु शुचिपा है, शुद्धि करता है। इसलिए मनुष्य को शुद्ध वायु का सदा सेवन करना चाहिए। वायु का प्राणायामादि के द्वारा साधन कर योगी योगक्रिया में प्रवृत्त होते हैं। वे शम-दम आदि शुभ गुणों को ग्रहण और धारण करने का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार की साधना द्वारा ही योग सिद्ध होता है। योग सिद्ध हो जाने पर मनुष्य ईश्वर के तुल्य सब शुभ गुणों से भूषित हो जाता है। उसमें सबके रक्षा करने की शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसलिए इस मंत्र में वायु देवता से योगबल प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। ७

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि। उपयामगृहीतोऽसि वायवे इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥८॥

इन्द्रवायू	हे इन्द्र और वायो !	उशन्ति	(पाने के) इच्छुक हैं
हि	निश्चय ही	प्रयोभिः	(इसलिए) उनके पास
इमे	ये	आगतम्	आओ।
इन्दवः	उत्पन्न	वायवे	(हे सोमरस) वायु के लिए
सुताः	सोम से उत्पन्न पदार्थ	उपयामगृहीतः असि	तुम उपयाम-पात्र में गृहीत हो।
वाम्	तुम दोनों को	एषः	यही

वयम्	हम
राया	धन से
ससवांसः	सम्पन्न होकर
मदेम	प्रसन्न होते हैं,
देवाः	जैसे देवगण
हव्येन	हवि प्राप्त करके
गावः	(तथा) गायें
यवसेन	घास आदि से (प्रसन्न होती हैं)।
मित्रावरुणा	हे मित्र-वरुण !
युवम्	तुम
ताम्	दोनों
अनपस्फुरन्तीम्	न भागनेवाली
धेनुं	गाय को
नः	हमारे
विश्वाहा	सर्वदा समीप
धत्तम्	रखो।
एषः	यह
ते	तुम्हारा
योनिः	स्थान है।
ऋतायुभ्याम् त्वा	सत्य और यज्ञ के लिए इस गाय को (मैं यहाँ रखता हूँ) ॥ १० ॥

जैसे हवि पाकर सुरगण होते हैं प्रमुदित।
जैसे होतीं पाकर दूर्वा धेनुएँ मुदित॥
वैसे ही हम सब धन पाकर होते प्रसन्न।
लोकहित सभी होते हैं उससे समापन्न॥
हे मित्र-वरुण ! वह धेनु सर्वदा रहे निकट।
जो नहीं पलायित होती है तज यह ऋतु-तट॥
है योनि तुम्हारी वही धेनु हे देवोत्तम।
वह वाणीरूपी धेनु करो नित धारण तुम॥
वह वाणी रूपी धेनु ज्ञान देती सम्यक।
ऋत की ऋतु की भी धेनु वही है संवर्धक्॥
संस्थापित करता हूँ वाणी की धेनु यहाँ।
वह रहे कामदा और सिद्धिदा देव महा॥ १० ॥

टि०—इस मंत्र मे मित्र और वरुण देवता से यह प्रार्थना की गई है कि वाणी की निखिल कल्याणविधायिनी शक्ति सदैव हमें प्राप्त रहे। यह वाणी ही कामदा और सिद्धि-प्रदायी गो है। सब पुरुषार्थ इसके अधीन है। यही वह गो है, जो कभी पलायन नहीं करती। १०

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥११॥

मित्रावरुणा	हे मित्र-वरुण !
ऋतावृधा	हे सत्य वा यज्ञ की वृद्धि करनेवाले (देवताओ) !
वाम्	तुम्हारी (प्रीति के लिए)
अयम् सुतः सोम	यह सोमरस तैयार किया है।
इह	इस (यज्ञ में)
ममेत्	हमारे
हवम्	आवाहन को
श्रुतम्	सुनो
उपयामगृहीतः	(हे सोमरस तुम) उपयामपात्र में
गृहीतः असि	गृहीत हो।
मित्रावरुणाभ्यां	मित्र और वरुण (देवताओं की प्रीति) के लिए
त्वा	मै तुमको (समर्पित करता हूँ ।। ९ ।।

हे मित्रवरुण !
करते हो वृद्धि सत्य की तुम।
ऋतु की सृति के संवर्धक तुम ।।
हे देवयुगल !
भक्ति से तुम्हारी हो प्रेरित।
सोमरस यहाँ यह है प्रस्तुत ।।
आह्वान हमारा श्रवण करो हे देवोत्तम।
इस यज्ञभाग में आमंत्रित करते हैं हम ।।
सोमरस ! तुम्हें उपयाम-पात्र में रखकर हम।
अर्पित करते देवद्वय को सह प्रीति परम ।। ९ ।।

टि०—इस मंत्र में मित्र और वरुण नामक देवताओं को यज्ञ में सोमरस ग्रहण करने के लिए आहूत किया गया है। मित्र और वरुण ऋत और सत्य के संवर्धक हैं। सोम योग की ऐश्वर्य-सिद्धि का प्रतीक है। वह जीवन का चरम परम अतीन्द्रिय आनंद है। यह सोम 'उपयाम' पात्र में ही ग्रहण किया जा सकता है, उसी में वह रक्षित रह सकता है। 'उपयाम' शब्द का प्रयोग पूर्ववर्ती मंत्रों में भी हुआ है। 'उपयाम' का अर्थात् यम-नियम के पालन का वह व्रती, जो यम-नियमों को दृढ़ता से धारण करता है। वही सोमरस का अधिकारी है। ९

राया वयꣳ संसवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। ता धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा ॥१०॥

उपयामगृहीतः	यम-नियमों के योगांगों को तुम ग्रहण करनेवाले
असि	तुम हो।
ते	तुम्हारा
एषः	यह (स्वभाव)
योनिः	(सुख का) हेतु है
अपमृष्टः	यह अविद्यादि दोषों से मुक्त (है),
शण्डः	शमादि गुणयुक्त है।
यासु	जिन योग-क्रियाओं से
वर्द्धसे	तुम वृद्धि को प्राप्त होते हो,
विश्वथा	(और) समस्त
प्रत्नथा	प्राचीन महर्षि,
पूर्वथा	पूर्वकाल के योगी,
इमथा	वर्तमान योगियों के समान
ज्येष्ठतातिम्	प्रशंनीय
बर्हिषदम्	हृदयाकाश में स्थिर
स्वर्विदम्	सुख-लाभ करने,
प्रतीचीनम्	अविद्यादि दोषों के प्रतिकूल होने,
आशुम्	शीघ्र सिद्धि देने,
जनयन्तम्	उत्कर्ष को पहुँचाने,
धुनिम्	इन्द्रियों को संयमित करनेवाले
वृजनम्	योग-बल को
दोहसे	परिपूर्ण करते हैं,
तम् शुक्रपाः	वे योगबल की रक्षा करनेवाले
देवाः	दिव्य गुणयुक्त योगीजन
त्वा	तुमको
प्रणयन्तु	अच्छी तरह वहाँ पहुँचावें।
शण्डाय	शम-दमादि गुणयुक्त
अनाधृष्टा	दृढ़ वीरता को
असि	तुम प्राप्त हो।
वीरताम्	(तुम उस) वीरता को
पाहि	रक्षा करो।
अनु	वह तुम्हारे अनुकूल होकर
त्वा	तुमको पावे ॥ १२ ॥

उपयामगृहीत नित्य योगी हो तुम मानव !।
है योगनिष्ठता सुख का हेतु सदा नव-नव ॥
शम आदि गुणों से युक्त अविद्या से विमुक्त।
हों प्राप्त तुम्हें वह शुद्ध बुद्धि जो नित्ययुक्त ॥
योगी महर्षि जो पुराकाल के है प्रसिद्ध।
सांप्रतिक योगियों जैसे ही थे परम सिद्ध ॥
वे हृदय-व्योम में करते थे सुख-लाभ परम।
वे सदा अविद्यादिक दोषों से मुक्त चरम ॥
वे आशु सिद्धिप्रद इन्द्रिय-संयम में रत नित।
परिपूर्ण योगबल से करते उत्कर्ष अंगित ॥

अश्विना	हे अश्विनीकुमारो !
वा	जो
वाम्	तुम्हारी
मधुमती	मधुर
सूनृतावती	प्रशंसनीय सत्ययुक्त
कशा	वाणी है,
तया	उससे
यज्ञम्	इस यज्ञ को
मिमिक्षतम्	सिद्ध करो।
उपयामगृहीतः	(हमने)यमनियमादि स्वीकार किया है।
ते	तुम्हारा
एषः	यह
योनिः	जन्म-स्थान है।
अश्विभ्यां	अश्विदेवों के साथ
त्वा	तुम्हारे लिए,
माध्वीभ्यां	मधुरता से युक्त
त्वा	तुम्हारे लिए (इसे हम आश्रयस्थान मानते हैं) ॥ ११ ॥

हे अश्विदेवद्वय ! मधुर तुम्हारी वाणी।
यह सत्यशुद्ध, यह है प्रशस्त कल्याणी॥
ऋतु सिद्ध करो यह देव ! उसी के द्वारा।
वह चले सत्य वाणी की मधुमय धारा॥
ऋतु वरण किया उपयामगृहीत सदा हम।
है स्थान तुम्हारा यही, पधारो अब तुम॥
कर वरण यम-नियम शरण ग्रहण करते हम।
हो अश्विदेव ! मधुरता-युक्त संतत तुम॥
यह योग-यज्ञ हो देवो ! सफल हमारा।
मधु-भरित सत्यमय जीवन बने हमारा॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में सूर्य और चन्द्र के समान प्रकाशमान अश्विनीकुमारों से जीवन-यज्ञ और योग-यज्ञ को सत्याचरणपूर्ण और मधुरतायुक्त बनाने की प्रार्थना की गई है। पूर्ववर्ती मंत्रों में ये निर्देश मिलते है कि जीवन ही एक महान यज्ञ है और योग-साधना भी यज्ञ है। ये यज्ञ यम-नियम के पालन से ही सफल हो सकते हैं। जीवन-यज्ञ का व्यावर्तक गुण-धर्म यह है कि उसकी साधना सत्याचरणयुक्त रहे। सत्य-भाषण की शोभा मधुरता में है। मनुष्य सदा सत्य और मधुर भाषण करे, यह वेद का आदेश है। योगीजन मधुर वाणी से योगविद्या का उपदेश करें। 'उपयामगृहीतः' का अर्थ है यम-नियम वरण करनेवाला, यह पहले भी कहा जा चुका है। ११

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे[१]।
उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वै[२]ष ते योनिर्वीरतां पाह्य[३]पमृष्टः
शण्डो[४] देवास्त्वा शुक्रपाः प णयन्त्व[५]नाधृष्टाऽसि[६] ॥१२॥

सर्वत्र देश में करो भ्रमण।
संगठित वीर सब आप्त करो॥
योगी बनकर प्रव्रजन - निरत।
तुम योगेश्वर्य करो वितरण॥
सब दानशील यजमानों को।
क्रतुकर्म हेतु दो संप्रेरण॥
सूर्य के सदृश तम कर विदलित।
धरती से अचल अटल रह नित॥
तुम शुक्र-शोचिषा वीर्यवान।
बन विषय-वासना करो दमित॥
दुष्टों को करो निरस्त ध्वस्त।
विक्रम के अधिष्ठान हो तुम॥
जागरित योगबल करो सतत।
यम, शम, दम मूर्तिमान हो तुम॥ १३॥

टि०—इस मंत्र में वीर पुरुषों को संबोधित करते हुए उन्हें देश में घूम-घूमकर वीर पुरुषों को संगठित करने का आह्वान किया गया है। वीर पुरुषों का यह धर्म है कि वे अपने समान आप्त वीरों का राष्ट्र के हित के लिए संग्रह करें। वीर पुरुषों को पराक्रम प्रकट कर दुष्टों का दमन करना चाहिए। किंतु इस मंत्र में यह संकेत भी है कि श्रेष्ठ वीर वही है जो योगी है, जिसने यम, नियम, शम, दम आदि गुणों को धारण कर अविद्या का अंधकार नष्ट कर दिया है। ऐसा वीर ही राष्ट्र के बाहरी और भीतरी शत्रुओं को नष्ट कर सकता है। १३

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा
स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः[२] ॥१४॥

देवः सोम	हे दिव्य गुणयुक्त सोम !	पोषस्य	पोषकता
		ददितारः	देनेवाले
सुवीर्यस्य	उत्तम शक्तिमान	स्याम	हैं या हों।
ते	तुम्हारे	सा	वह
अच्छिन्नस्य	अक्षय	विश्ववारा	सबकी वरणीय
रायः	धन-ऐश्वर्य	प्रथमा	पहली

शुक्रपा ऊर्ध्वरेता वे योगी दिव्यरूप।
संप्राप्त करावें तुम्हें स्वीय सुस्थिति अनूप॥
तुम करो योगबल प्राप्त वही दिव्यातिदिव्य।
शम-दम, यम-नियमादिक से पूरित नित्य भव्य॥
यह योगसिद्ध वीरता तुम्हारी हो दृढ़ नित।
तुम उसकी रक्षा करो, रहो उससे रक्षित॥
वीरता रहे अनुकूल तुम्हारी वह संतत।
यम-नियमादिक से रहे वीरता वह पालित॥ १२॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य की स्वरूप-स्थिति का आभास दिया गया है। मनुष्य वस्तुतः 'उपयामगृहीतः' योगी है। यम-नियम के पालन का व्रत धारण करनेवाले को वेद में 'उपयामगृहीतः' कहा गया है। योगसिद्धि के लिए यम-नियम का पालन अनिवार्य है। इस मंत्र में अपने समय के पूर्व के योगियों और प्राचीन काल के महर्षियों का भी उल्लेख है। यह भी संकेत किया गया है कि योगबल की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। १२

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्[1]
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा[2]
निरस्तः शण्डः[3] शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥१३॥

सुवीरः	(हे वीर पुरुष! तुम) श्रेष्ठ वीर बनकर	संजग्मानः	सदा संगीत-लाभ करते हुए
वीरान्	वीरों को	शुक्रः	तेजस्वी एवं बलवान
प्रजनयन्	तैयार करते हुए	शुक्रशोचिषा	शुद्ध क्रान्ति से युक्त होकर तुम शोभित हो जाओ।
परि	सब जगह		
इहि	भ्रमण करो।	शण्डः	बलवान दुष्ट को
रायः पोषेण	धन ऐश्वर्य की पुष्टि से	निरस्तः	देश से बाहर निकाला जाय।
यजमानम्	यज्ञ करनेवालों को		
अभि इहि	प्राप्त हो।	शुक्रस्य	(हे राजन्!) शौर्य और पराक्रम के
दिवा	सूर्य		
पृथिव्या	और पृथ्वी से	अधिष्ठानम्	(तुम) आश्रय-स्थान
		असि	हो॥ १३॥

हे वीर पुरुष!
बन कर तुम उत्तम वीर स्वयं।
उत्तम वीरों को प्राप्त करो॥

सः	वह	तृम्पन्तु	(उसे) तृप्त करें।
प्रथमः	सर्व-प्रथम	यत्	जो
चिकित्वान्	विज्ञानवान और	याः स्विष्टाः	जो उत्तम रीति से अपना इष्ट भाग प्राप्त करते हैं (और)
बृहस्पतिः	महान वेदवाणी का रक्षक है।	याः सुप्रीताः	जो सुप्रसन्न होकर
तस्मै	उस	सुहुताः	हवन-कार्य में
इन्द्राय	ऐश्वर्यवान इन्द्र। को	स्वाहा	आहुतियाँ अर्पित करते हैं।
सुतम्	सोमरस का	अग्नीत् अयाड्	वे अग्नि के समीप जायें ॥ १५ ॥
स्वाहा आ जुहोत	अर्पण करो।		
होत्राः	हवन करनेवाले		
मध्वा	मधुर भोगों से		

विज्ञानवान वह प्रथम वेदवाणी बृहती का है रक्षक।
ऐश्वर्यवान वह इन्द्र, सोमरस करो उसी को तुम अर्पित ॥
होतागण उसको तृप्त करें मधुरातिमधुर हवि कर अर्पण।
विज्ञानवान् वह प्रथम वेदवाणी विराट उससे रक्षित ॥
करते हैं अपना प्राप्त यहाँ उत्तम विधि से जो इष्ट भाग।
है लगे हुए जो हवन-कार्य में इस क्रतु-कृति में सानुराग ॥
वे रहें सत्यवाणी से सत्कृत विद्वज्जन वे योगीजन।
वे जायँ अग्नि के निकट शक्ति से प्रेरित पूरित हो तन-मन ॥ १५ ॥

टि०—कुछ विद्वान इसे पूर्ववर्ती मंत्र का ही उपबृंहण मानते हैं। उनके अनुसार यह प्रजा के द्वारा वरण किये गये और कर देकर ऐश्वर्यवान बनाये गये पहले राजा का स्तवन है। वही पहला विज्ञानी है, वही बृहती वेदवाणी का रक्षक है। वह इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान और अग्नि के समान तेजस्वी है। कुछ विद्वानों के मत में यह परमेश्वर का स्तुति-सूक्त है। सत्याचरण करनेवाले विद्वान और योगी ही उसका नैकट्य प्राप्त कर सकते हैं। सत्याचरण से ही मनुष्य में परमेश्वर के निकट जाने की पात्रता उत्पन्न होती है। १५

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाᳪं सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति।
उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥१६॥

संस्कृतिः	संस्कृति है।	वरुणः	राजा
सः	वह	मित्रः	प्रजा का मित्र (एवं)
प्रथमः	सर्व-प्रथम बनाया गया	प्रथमः अग्निः	सर्व-प्रथम अग्रणी है ॥ १४ ॥

हे दिव्य गुणों से युक्त सोम ! हे राजन् ।
करते अक्षय ऐश्वर्य तुम्हें हम अर्पण ॥
बल, वीर्य, पराक्रम देव ! तुम्हारा उत्तम ।
वर दे संवर्धित करते उसे प्रजा हम ॥
विद्या प्रदान कर करो योग में दीक्षित ।
आत्मा के बल से रहें प्रजा हम पूरित ॥
यह राज्य लोक-मंगल के हित संस्थापित ।
वरणीय विश्व को यह ही प्रथमा संस्कृति ॥
तुम प्रथम मित्र हो प्रथित हमारे राजन् ।
मानकर वरुण हम करते वरण प्रजाजन ॥
अग्नि से सभी विद्याओं से उद्भासित ।
अग्रणी प्रथम हम प्रजाजनों के हो स्थित ॥
कररूप तुम्हें अर्पित ऐश्वर्य हमारा ।
हमने पहला राजा तुमको स्वीकारा ॥ १४ ॥

टि०—इस मंत्र में बड़ी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक घटना का संकेत है। इसमें मानव-जाति के प्रथम राजा के चयन का निर्देश है। मानव-जाति के पहले राजा का प्रतीक सोम है। प्रजाजन उत्तम बल-पराक्रम से मंडित और नक्षत्रमालाओं से सज्जित व्योम पर शासन करनेवाले सोम के शान्ति और सौम्यता आदि गुणों से युक्त व्यक्ति को पहला राजा चुनकर विश्व में पहली वरेण्य संस्कृति की स्थापना करते हैं। प्रजाजन कर देकर उस राजा के ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। यह राजा ही प्रजा का अग्रणी होता है। राजा का यह धर्म भी है कि वह प्रजाजनों में आत्मबल की वृद्धि करे। प्रजा द्वारा राजा का यह चयन ही भारत की भूमि पर विश्व के प्रथम लोकतंत्र का उदय है। १४

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा
इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा ।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः
सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहाऽयाडग्नीत् ॥१५॥

येषु	जिन
हवनेषु	यज्ञों में
मनः न तिग्मं	मन के समान तीव्रगामी
विपः शच्या	कार्यकुशल पुरुष को,
द्रवन्तौ	अपनी शक्ति से प्रगति करते हुए
वनुथः	प्राप्त करता है
तुविनृम्णः	और जो बहुत ऐश्वर्यवान
अस्य	ऐसे तुम्हारे लिए
आदिशं	प्रत्येक दिशा में
गभस्तौ	अंगुलि-निर्देश से
शर्याभिः	अपने बल पर शत्रुओं से रक्षा करके प्रहार करनेवाले
आश्रीणीत	तुम्हारा ही आश्रय लेते हैं,
एषः	यह (पुरुष)
ते योनिः	तुम्हारा उत्पत्ति-स्थान है।
प्रजाः	प्रजाओं की
पाहि	तुम रक्षा करो।
मर्कः	दुःख देनेवालों को
अपमृष्टः	दूर करो।
त्वा	तुमको
मन्थिपाः	शत्रुओं का मंथन करनेवालों के रक्षक
देवाः	देवगण
प्रणयन्तु	विजयमार्ग पर ले चलें।
अनाधृष्टा	तुम (उस पुरुष के होने से) अपराजेय
असि	हो ॥ १७ ॥

मन के समान गतिवाले दक्ष पुरुष जो,
करते रहते स्वशक्ति से प्रगति निरंतर।
वे यज्ञों में निज दृढ़ मति करते योजित,
टूटते वज्र से प्रहरणशील शत्रु पर ॥
ऐश्वर्यवान हे प्रजाजनो ! करते हैं,
वे वीर पुरुष ही सदा तुम्हारा रक्षण।
हैं राजधर्म के प्रभवस्थल भी वे ही,
उनसे ही होता रहता इसका पोषण ॥

हे देव ! करो तुम प्रजाजनों की रक्षा,
सब शत्रु करें विध्वस्त प्रजाजन अपने।
सब देव करें उस वीर पुरुष की रक्षा,
जो शत्रुसंघ को मथता बल से अपने ॥
उस वीर पुरुष को विजय-मार्ग पर संतत,
ले जायँ देवगण सब संकट - भयहर्ता।

अयं	यह
वेनः	कान्तिमान देव
रजसः विमाने	अंतरिक्ष के मध्य में
ज्योतिर्जरायुः	तेज से युक्त होकर
पृश्निगर्भाः	वर्षा के रूप में जलों को
चोदयत्	प्रेरित करता है।
इमम्	इन
अपां	जलों को
संगमे	प्राप्त हो जाने पर
विप्राः	विद्वज्जन
सूर्यस्य शिशुं न	सूर्य के पुत्र के समान
मतिभिः	अपनी बुद्धियों से
रिहन्ति	उसका स्तवन-अर्चन करते हैं।
उपयामगृहीतः	(तुम) यज्ञ के यम-नियम द्वारा ग्रहण किये गये
असि	हो।
मर्काय	दुष्टों को दमन करने के लिए
त्वा	तुमको (यहाँ स्थापित किया गया है) ॥ १६ ॥

हैं अंतरिक्ष के मध्य विराजित देव परम ये कान्तिमान।
जल राशि राशि परिणत करते वर्षास्वरूप में ये महान ॥
ये जल पाकर सब विद्वज्जन इन सूर्यदेव को पिता मान।
निज शुद्ध बुद्धि से हो प्रेरित करते शुचि स्तव-अर्चा प्रदान ॥
तुम हो उपयामगृहीत देव! यज्ञ में तुम्हारा हुआ वरण।
पूजित हो अंतरिक्ष में प्रभु! सब शत्रुगणों का करो क्षरण ॥
रवि-शशि से ज्योतिर्मय सद्‌गुणगण से हो यह धरती ज्योतित।
सब खल-दुर्जन हों दमित-शमित सज्जन हों नित नव आह्लादित ॥ १६ ॥

टि०—इस मंत्र में अंतरिक्ष में स्थित उस देवता को स्तुति-कुसुमांजलि अर्पित की गई है, जो जलराशि को मेघों में परिणत कर उन्हे वर्षा करने के लिए प्रेरित करता है। हमारी शुद्ध बुद्धि कृतज्ञता से भरकर अपने को सूर्य का पुत्र मानकर उनकी उपासना करती है। इस मंत्र मे आये 'वन' शब्द का अर्थ चन्द्रमा भी किया गया है और कान्तिमान भी। 'उपयामगृहीत' का अर्थ पहले लिखा गया है। यहाँ उसका अर्थ है-यज्ञ मे वरण किया गया। १६

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ[1] एष ते
योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को[2] देवास्त्वा मन्थिपाः प्र
णयन्त्व[3] नाधृष्टासि[4] ॥१७॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः ।
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण
पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि ॥२०॥

त्वम्	तुम	पाहि	रक्षा करो।
उपयामगृहीतः	यम-नियम, वेदादि शास्त्रों के बोध से संपन्न	विष्णुः	सर्वव्यापक भगवान विष्णु
असि	हो।	इन्द्रियेण	अपनी सामर्थ्य से
यज्ञं पाहि	(तुम) यज्ञ की रक्षा करो।	त्वाम् पातु	तुम्हारी रक्षा करें।
स्वाग्रयणः	तुम विज्ञान-युक्त कर्मों का संपादन करनेवाले हो,	विष्णुं	इन परमेश्वर विष्णु को
आग्रयण	आगे बढ़नेवाले	पाहि	अपने हृदय में सुरक्षित रखो।
असि	हो,	सवनानि	यज्ञ के तीनों सवनों (भागों) की
यज्ञपतिम्	(अतः) यजमान की	अभि	सब ओर से
		पाहि	रक्षा करो ॥२०॥

इस यज्ञ हेतु तुम हो उपयामगृहीत सतत।
तुम रहो यज्ञ की रक्षा हेतु सदा उद्यत॥
तुम अपने पथ के अग्रभाग में हो संस्थित।
बढ़ते जाओ, आगे ही बढ़ते जाओ नित॥
यजमान यज्ञपति की रक्षा तुम करो सतत।
निज इन्द्रियबल से विष्णु रहें रक्षा में रत॥
इन्द्रियां तुम्हारी रहें कार्यक्षम मानव! नित।
इनसे तुम उत्तम कर्म करो नित संपादित॥
उत्तम कर्मों से रहें विष्णु तुमसे अर्चित।
सर्वव्यापक विभु विष्णु रहें तुमसे रक्षित॥
ऐश्वर्यप्रदायक विदित यज्ञ के तीन सवन।
उनकी रक्षा तुम करो सजग रहकर प्रतिक्षण॥ २०॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि हे मानव! तुमने जिस यज्ञ के लिए उत्तम यम-नियमों का वरण किया है, उसकी रक्षा करो। उसमें कोई विघ्न न हो, कोई दोष न रह जाय। सर्वव्यापक भगवान विष्णु अपनी इन्द्रियों की शक्ति से तुम्हारी रक्षा

उस वीर पुरुष से रक्षित सकल प्रजाजन,
हो अनाधृष्ट निर्भय रिपुदलसंहर्ता ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि वीर एवं दक्ष पुरुषों के द्वारा ही राजधर्म और प्रजाजनों की रक्षा होती है। ऐसे वीर पुरुष ही शत्रुओं को नष्ट कर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। ऐसे वीर पुरुषों को देवगण विजय-मार्ग पर ले चलें। १७

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्[1]।
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा[2] निरस्तो मर्को[3]
मन्थिनोऽधिष्ठानमसि[4] ॥१८॥

सुप्रजाः	उत्तम प्रजायुक्त तुम	दिवा	सूर्य (तथा)
प्रजाः	प्रजाओं को	पृथिव्या	पृथ्वी के समान
प्रजनयन्	उत्पन्न करते हुए	संजग्मानः	शुभ गुणों से युक्त
रायः पोषेण	धन और पुष्टि द्वारा	मन्थिनः	(तुम) योग्य गुणों के
यजमानम्	यज्ञकर्ता को	अधिष्ठानम्	आश्रय
अभि परि इहि	धन की वृद्धि से युक्त करो।	असि	हो।
मन्थी	सद्विचारों का मंथन करनेवाले एवं	मन्थि शोचिषा	तुम्हारे सूर्य के-से तेज से
		मर्कः	दु:खदाता अन्यायी
		निरस्तः	(तुमसे) दूर हो ॥ १८ ॥

निर्माण करो तुम उत्तम प्रजाजनों का।
धन दे प्रभूत हित साधो यजमानों का॥
धन पा संतत ऋतुकर्म करें वे उत्तम।
वैचारिक मंथन से प्रकटे कृति शुचितम॥
तुम सद्विचार के अधिष्ठान बन जाओ।
सूर्य-सी ज्वलित निज जीवन-ज्योति जगाओ॥
पृथिवी से रहो सदा शुभ गुणगणमंडित।
अन्यायी दुर्जन रहें तेज से विधमित ॥ १८ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि मानव-समाज उत्तम संतति प्राप्त करे। यजमानों को प्रभूत धन मिले, जिससे वे श्रेष्ठ यज्ञकर्म का संपादन करें। मनुष्यों में वे सद्विचारपूर्ण मंत्रों द्वारा सदसद्विवेक जाग्रत करें जो पवित्र कर्म करने का प्रेरक हो। मानव पृथ्वी के क्षमा आदि गुण धारण करे और सूर्य के समान तेजस्वी बनकर दुर्जनों को निरस्त करे। १८

करें। तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ निरंतर कार्यशील बनी रहें। उनमें किसी प्रकार की असमर्थता न आने पावे। अपनी इन्द्रियों से उत्तमोत्तम कर्मों द्वारा भगवान विष्णु की अर्चना करते रहो। 'भगवान' विष्णु सर्वव्यापक है। हे मानव! उनका चिदंश तुम्हारे भीतर विद्यमान है। उत्तम कर्मों द्वारा उसकी रक्षा करते रहो। यज्ञ के तीन सवन अर्थात् भाग होते हैं। उनके अनुष्ठान में कोई त्रुटि न रहने पावे। इस मंत्र में मनुष्य को निरंतर प्रगति करने और आगे बढ़ते रहने का आदेश दिया गया है। २०

सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥२१॥

सोमः	सोमरस
अस्मै	इस ब्राह्मण के लिए
पवते	निकाला जाता है।
सोमः	सोमरस
अस्मै क्षत्राय	इस क्षत्रिय (वर्ण) के लिए
पवते	निकाला जाता है।
अस्मै सुन्वते	इस सोमपान करनेवाले
यजमानाय	यजमान के लिए
पवते	(वह) निकाला जाता है।
इषे ऊर्जे	अन्न और बल की प्राप्ति कराने के लिए (वह)
पवते	निकाला जाता है।
द्यावापृथिवीभ्याम्	द्युलोक और पृथ्वी के लिए (वह)
पवते	निकाला जाता है।
सुभूताय	सुन्दर जीवन के लिए (वह)
पवते	निकाला जाता है।
विश्वेभ्यः	सब
देवेभ्यः त्वा	देवताओं को देने के लिए (मैं इस) सोम को ग्रहण करता हूँ।
एषः	यह यज्ञ
ते	तुम्हारा
योनिः	आश्रयस्थान है।
विश्वेभ्यः देवेभ्यः	संपूर्ण देवताओं के
त्वा	लिए (मैं) तुम्हें ग्रहण करता हूँ॥ २१ ॥

निष्काम ज्ञान-साधना निरत जो ब्राह्मण।
यह सोम निकाला जाता है उनके हित॥
सबकी रक्षा हित अर्पित जो क्षत्रियगण।
यह सोम निकाला जाता है उनके हित॥

जिसके द्वारा है सोमयाग समनुष्ठित।
यह सोम निकाला जाता है उसके हित॥
अन्न की वृद्धि हो, राष्ट्र बने बलवत्तर।
यह सोम निकाला जाता है उसके हित॥
द्यावा-पृथिवी हो पुष्ट-तुष्ट मंगलमय।
है इसीलिए यह सोमयाग समनुष्ठित॥
प्रतिजन का जीवन हो सुखमय मंगलमय।
सोमरस निकाला जाता है इसके हित॥
सब देव रहें अनुकूल प्रसन्न निरंतर।
यह सोम ग्रहण करता हूँ मैं इसके हित॥
कल्याण विश्व का हो, सब रहें अनामय।
यह सोम ग्रहण करता हूँ मैं इसके हित॥
संगठित रहें जन-जन, सत्कृत विद्वज्जन।
है इसीलिए यह सोमयाग समनुष्ठित॥
कोई न दुःखी हो, दीन नहीं हो कोई।
यह सोमयाग है इसीलिए समनुष्ठित॥
हे सोम! यज्ञ यह प्रभव-स्थान तुम्हारा।
स्वीकार तुम्हें करता सब देवों के हित॥ २१॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि यज्ञों का अनुष्ठान विश्व के कल्याण के लिए किया जाता है। यज्ञों के द्वारा जन-जीवन संगठित होता है और विद्वान सम्मान पाते हैं। यज्ञों का प्रमुख लक्ष्य यह है कि समाज में कोई दुःखी न हो। यज्ञ की सफलता की कसौटी है सुखी-संपन्न समाज, जिसमें किसी व्यक्ति को अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। २१

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥२२॥

उपयामगृहीतः	(तुम) उत्तम यम-नियमों द्वारा बँधे हुए	त्वा	तुमको
		इन्द्राय	ऐश्वर्ययुक्त (तथा)
		बृहद्वते	बहुत विस्तृत कार्य से युक्त
असि	हो।		
उक्थाव्यम्	स्तुति के द्वारा रक्षा करनेवाले	वयस्वते	दीर्घ जीवनवाले (प्रभु के लिए)

गृह्णामि	मैं ग्रहण करता हूँ।	एषः योनिः	यह तरा आश्रय-स्थान है।
इन्द्र	परम ऐश्वर्यवान देव!	देवाव्यम्	देवों का रक्षण करने के कार्य के लिए
यत्	जो	त्वा गृह्णामि	मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ।
ते बृहत्	तुम्हारा महान	यज्ञस्य	इस यज्ञ के
वयः	दीर्घ जीवन है,	आयुषे	दीर्घ जीवन के लिए
तस्मै	उसके लिए	गृह्णामि	मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ॥ २२ ॥
त्वा	तुमको (मैं) (ग्रहण करता हूँ)		
विष्णवे	सर्वव्यापक विष्णु भगवान के लिए		
त्वा	तुम्हें (स्वीकार करता हूँ)।		

तुम धर्म - नियम से यज्ञ-नियम से युक्त सदा।
मानव ! तुम हो उपयामगृहीत पुनीत सदा॥
अपनी स्तुतियों से हो तुम प्रभु से रक्षित।
तुम महत् कर्म के हेतु हुए सम्यक् दीक्षित॥
ऐश्वर्यवान तुम बनो करो दीर्घायु प्राप्त।
जगदीश्वर के हित करो महत्तम कर्म आप्त॥
ऐश्वर्यवान ये इन्द्र प्रथित देवता महत्।
इनके द्वारा सत्कर्मों में नियुक्त तुम नित॥
वे करें तुम्हारी इन्द्रियगण को बल प्रदान।
तुम प्राप्त करो आयुष्य-साध्य गौरव महान्॥
ये विष्णु विश्वव्यापी परमेश्वर हैं शरण्य।
ये ही तेरे प्रभव-स्थल, ये आश्रय वरेण्य॥
हों सकल देवगण ये तेरे द्वारा रक्षित।
यह यज्ञ दीर्घजीवी हो नित नव संवर्धित॥
दीर्घायु यज्ञ के हेतु कर रहा तुम्हें वरण।
तुम करो देवगण का क्रतुकर्मों से रक्षण॥ २२ ॥

टि०—मनुष्य का आदर्श रूप इस मंत्र में प्रस्तुत किया गया है। आदर्श मनुष्य वही है, जिसने धर्म के नियमों से और यज्ञ के नियमों से अपने को संयम की मर्यादा में बाँध रखा है। मनुष्य को परमेश्वर ने महान कर्म संपादित करने के लिए उत्पन्न किया है। इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करनेवाले इन्द्र मनुष्य को उत्तरोत्तर बल और ऐश्वर्य प्रदान करते रहते हैं। परमेश्वर विष्णु मनुष्य की महिमा के स्रोत हैं, उसके आश्रय-स्थल है। उन्होंने ही यज्ञीय जीवन चलाने के लिए मनुष्य के इस आदर्श रूप का निर्माण किया है। २२

जिसके द्वारा है सोमयाग समनुष्ठित।
यह सोम निकाला जाता है उसके हित॥
अन्न की वृद्धि हो, राष्ट्र बने बलवत्तर।
यह सोम निकाला जाता है उसके हित॥
द्यावा-पृथिवी हो पुष्ट-तुष्ट मंगलमय।
है इसीलिए यह सोमयाग समनुष्ठित॥
प्रतिजन का जीवन हो सुखमय मंगलमय।
सोमरस निकाला जाता है इसके हित॥
सब देव रहें अनुकूल प्रसन्न निरंतर।
यह सोम ग्रहण करता हूँ मैं इसके हित॥
कल्याण विश्व का हो, सब रहें अनामय।
यह सोम ग्रहण करता हूँ मैं इसके हित॥
संगठित रहें जन-जन, सत्कृत विद्वज्जन।
है इसीलिए यह सोमयाग समनुष्ठित॥
कोई न दुःखी हो, दीन नहीं हो कोई।
यह सोमयाग है इसीलिए समनुष्ठित॥
हे सोम! यज्ञ यह प्रभव-स्थान तुम्हारा।
स्वीकार तुम्हें करता सब देवों के हित॥ २१॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि यज्ञों का अनुष्ठान विश्व के कल्याण के लिए किया जाता है। यज्ञों के द्वारा जन-जीवन संगठित होता है और विद्वान सम्मान पाते हैं। यज्ञों का प्रमुख लक्ष्य यह है कि समाज में कोई दुःखी न हो। यज्ञ की सफलता की कसौटी है सुखी-संपन्न समाज, जिसमें किसी व्यक्ति को अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। २१

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥२२॥

उपयामगृहीतः	(तुम) उत्तम यम-नियमों द्वारा बँधे हुए	त्वा	तुमको
असि	हो।	इन्द्राय	ऐश्वर्ययुक्त (तथा)
उक्थाव्यम्	स्तुति के द्वारा रक्षा करनेवाले	बृहद्वते	बहुत विस्तृत कार्य से युक्त
		वयस्वते	दीर्घ जीवनवाले (प्रभु के लिए)

मित्र के वरुण के हेतु समर्पित हो तुम।
है इसीलिए मैंने तुमको स्वीकारा॥
विद्वानों की रक्षा के हेतु समर्पित।
इन्द्र की प्रीति की प्राप्ति हेतु उद्यत नित॥
यज्ञमय हो गया सकल तुम्हारा जीवन।
है इसीलिए मैंने तुमको स्वीकारा॥
यज्ञमय तुम्हारे जीवन का है प्रति क्षण।
इन्द्राग्नि तुम्हारा करते रहते रक्षण॥
इन्द्र के अग्नि के प्रकट करो गुणगण तुम।
है इसीलिए मैंने तुमको स्वीकारा॥
आयुष्य यज्ञ का बढ़ता रहे निरंतर।
ये इंद्र बृहस्पति रहें सदा मंगल कर॥
सबके उपकार हेतु तुम रहो समर्पित।
है इसीलिए मैंने तुमको स्वीकारा॥
यह यज्ञ कर्म दीर्घायु बने हे मानव!।
इन्द्र को विष्णु की कृपा प्राप्त हो नित नव॥
ब्रह्मज्ञानी परितुष्ट रहें तुमसे नित।
है इसीलिए मैंने तुमको स्वीकारा॥ २३॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि मनुष्य 'देवाव्य' है, अर्थात् देवताओं के लिए रक्षणीय है। तात्पर्य यह कि मनुष्य ऐसा आदर्श जीवन बिताये, जिससे देवगण उसकी रक्षा में तत्पर रहा करें। मनुष्य की आयु यज्ञमय हो जाय, अर्थात् मनुष्य का जीवन परोपकार के लिए अर्पित रहे। २३

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥२४॥

देवाः	दिव्य गुणोंवाले विद्वान	जनानां अतिथिं	सत्पुरुषों के अतिथियों जैसे
दिवः मूर्द्धानं	प्रकाशमान सूर्य के सिर के समान,	आसन् पात्रं	सत्कार करने योग्य
पृथिव्याः अरतिं	पृथ्वी के गुणों को प्राप्त करनेवाले,	कविं	(तथा) अलौकिक ज्ञानी
ऋते आजातं	सत्यमार्ग में प्रसिद्ध,	अग्निं	अग्रणी अग्निदेव
वैश्वानरं	समस्त मनुष्यों को आनंद देनेवाले तथा	सम्राजं	शुभगुणों से प्रकाशित
		आ जनयन्त	होते हैं॥ २४॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[1]न्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[2]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[3]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[4]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[5]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि[6] ॥ २३ ॥

यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन प्राप्त करने के लिए (तथा)
मित्रावरुणाभ्याम्	मित्र और वरुण के लिए
देवाव्यम्	विद्वानों की रक्षा करनेवाले
त्वा गृह्णामि	तुमको मैं स्वीकार करता हूँ।
यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन के लिए (तथा)
इन्द्राय	परमैश्वर्यवान परमेश्वर के लिए
देवाव्यं	विद्वानों की रक्षा करनेवाले
त्वा गृह्णामि	तुमको मै स्वीकार करता हूँ।
यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन के लिए (तथा)
इन्द्राग्निभ्यां	इन्द्र और अग्नि के लिए
देवाव्यं	विद्वानों के रक्षक
त्वा गृह्णामि	तुम्हें मैं स्वीकार करता हूँ।
यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन के लिए (तथा)
इन्द्रावरुणाभ्यां	इन्द्र और वरुण के लिए,
देवाव्यं	विद्वानों की रक्षा के लिए
त्वा गृह्णामि	तुमको मै स्वीकार करता हूँ।
यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन के लिए (तथा)
इन्द्रा बृहस्पतिभ्यां	इन्द्र और बृहस्पति के लिए,
देवाव्यं	विद्वानों के रक्षक
त्वा	तुम्हे
गृह्णामि	मै वरण करता हूँ।
यज्ञस्य आयुषे	यज्ञमय जीवन के लिए (तथा)
इन्द्राविष्णुभ्याम्	इन्द्र और विष्णु के लिए,
देवाव्यं	ब्रह्मज्ञानियों को संतुष्ट करनेवाले
त्वा गृह्णामि	तुम्हे मै स्वीकार करता हूँ ॥ २३ ॥

यज्ञ के लिए अर्पित आयुष्य तुम्हारा।
विद्वज्जन रक्षा का व्रत तुमने धारा ॥

मनसा वाचा	मन और वाणी से	इन्द्रः	ऐश्वर्यवान प्रभु
सोमं अव यामि	(मैं) सोम प्रदान करता हूँ।		(के रूप में)
अथ	अब	इत् विशः	सब प्रजाजनों को
नः	हम सबके	असपत्नाः	शत्रुरहित (तथा)
		समनसः	समान चित्तवाले
		करत्	बना दो ॥ २५ ॥

यम-नियम-बद्ध है पावन! तेरा जीवन।
ध्रुव है तू मानव! ध्रुवक्षिति बन, ध्रुवक्षिति[1] बन ॥
जितने ध्रुव हैं, उन सबमें है तू ध्रुवतम।
च्युत हो न कभी निज पद से अच्युतक्षित्तम[2] ॥
तेरा प्रभव-स्थल भी अच्युत है, ध्रुव है।
इस सचराचर जग का तू ही प्रभु ध्रुव है ॥
करके अपने मन को वाणी को सुस्थिर।
करता हूँ सोम प्रदान तुझे यह शुचितर ॥
तू इन्द्र-सदृश ऐश्वर्यवान् स्वामी बन।
कर निखिल सृष्टि का मंगलमय अनुशासन ॥
सब प्रजाजनों के अरि कर तू उन्मूलित।
वे एकचित्त हो प्राप्त करें ध्रुव सुख नित ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह मनुष्य की महिमा का उद्घोष है। मनुष्य का प्रभवस्थान सच्चिदानंद परब्रह्म परमेश्वर है। इसलिए उसे ध्रुवता-स्थिरता उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। मनुष्य को अपने अच्युत अविनाशी ध्रुवस्वरूप का ज्ञान स्थायी रूप से होना चाहिए। तभी वह समझेगा कि संसार में जितने ध्रुव माने जानेवाले हैं, उनमें मनुष्य ध्रुवतम है। मनुष्य की इस स्थिति को ध्रुवक्षिति कहा गया है। कारण, मनुष्य में आत्मा का तत्त्व-सत्, चित् और आनंदमय स्वरूप स्थायी रूप से स्थित है। मनुष्य की सत्ता की यह भूमि स्थायी है, अच्युत है और ध्रुव है। इसीलिए उसे 'अच्युतक्षित्तम' कहा गया है। यही गीता की 'ब्राह्मी स्थिति' है। इसका अर्थ है, अच्युतों में वह सर्वाधिक अच्युत है। परमेश्वर ने उसे सब प्राणियों का नेता मनोनीत किया है। वह सबका शासक है। सब बाहरी-भीतरी शत्रुओं को उन्मूलित कर उनमें सौमनस्य और शान्ति-भावना का प्रसार करना उसका धर्म है। विश्व में शान्ति हो यह उत्तरदायित्व मनुष्य का ही है। मनुष्य विश्व का सिरमौर है। २५

यस्ते॑ द्रप्स स्कन्द॑ति यस्ते॑ अ॒ꣳशुर्ग्रा॒वच्यु॑तो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्।
अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳ स्वाहा॑
दे॒वाना॑मु॒त्क्रम॑णमसि[2] ॥२६॥

---

१ स्थिर निवासवाला; २ अपने स्थान से च्युत न होनेवाला।

विद्वज्जन दिव्य गुणों से हैं जो मंडित।
मूर्द्धा से दिव[1] के जो भास्वर[2] रहते नित॥
पृथ्वी के गुणगण सिद्ध सदा हैं जिनको।
जो सत्यमार्ग से नहीं डिगाते मन को॥
जो प्रतिजन को आनन्द सदा हैं देते।
सत्पुरुषों का सत्कार अतिथि-सा करते॥
निज शुचि मुख से करते सन्मार्ग प्रकाशित।
शुभ गुणगण से रहते हैं जो उद्भासित[3]॥
कवि को प्रतिभा है तेज अग्नि का जिनमें।
सद्गुणगण का साम्राज्य प्रकट है जिनमें॥
मानवो! चलो तुम उनके पदचिह्नों पर।
आचरित करो उनके आदर्श निरंतर॥ २४॥

टि०—इस मंत्र में धर्म, जाति, देश, काल-निरपेक्ष विश्वमानव के लिए बड़ी उदात्त प्रेरणा प्रदान की गई है। वेदों में अनेक बार ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं, जैसे हम किस देवता को हवि प्रदान करें— 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। उसी तरह से इसमें भी इस मंत्र का उत्तर दिया गया है कि मानव किनके आदर्शों का पालन करें, किनके पदचिह्नों पर चलें? इसमें अनुकरणीय आदर्शों का बड़ा विशद निरूपण है। दिव की मूर्द्धा अर्थात् भूलोक का शीर्ष है यह सूर्य। २४

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमो-ऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममव नयामि[3]। अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥२५॥

उपयामगृहीतः	(तुम) नियमों से बद्ध	अच्युत-क्षित्तमः	अपने स्थान से च्युत होनेवाला नहीं हो।
असि	हो,	एषः	यह
ध्रुवः असि	स्थिर हो।	ते योनिः	तुम्हारा स्थान है।
ध्रुवक्षितिः	तुम स्थिर निवास वाले बनो।	त्वा	तुमको
		वैश्वानराय	समस्त प्रजाओं के नेता-पद के पद पर
ध्रुवाणां ध्रुवतमः	सब स्थिरों में तुम स्थिरतम हो जाओ।	ध्रुवेण	स्थिर चित्त से

१ जो द्युलोक का शीर्ष है वह सूर्य; २ प्रकाशमान; ३ प्रकाशित।

प्राणायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वो—दानायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२७॥

वर्चोदाः	हे बल के प्रदाता!
मे	मेरे (शरीर में)
प्राणाय वर्चसे	प्राण के बल को बढ़ाने का
पवस्व	उद्योग करो।
वर्चोदाः	हे बल प्रदान करनेवाले !
मे	मेरे
व्यानाय	शरीर में व्यान के
वर्चसे	बल को
पवस्व	बढ़ाने का प्रयत्न करो।
वर्चोदाः	हे बल-प्रदाता पुरुष !
मे	मेरे (शरीर में)
उदानाय वर्चसे	उदान वायु के बल की वृद्धि के लिए
पवस्व	उद्योग करो।
वर्चोदाः	हे तेज को बढ़ाने-वाले पुरुष !
मे वाचे	मेरी वाणी के
वर्चसे	तेज की वृद्धि के लिए
पवस्व	प्रयत्न करो।
वर्चोदाः	हे तेज और बल को बढ़ानेवाले पुरुष !
मे	मेरे
क्रतुदक्षाभ्याम्	यज्ञवृद्धि और ज्ञानवृद्धि (तथा)
वर्चसे	तेजवृद्धि के लिए
पवस्व	उद्योग करो।
वर्चोदाः	हे बल बढ़ाने वाले !
मे	मेरे
श्रोत्राय वर्चसे	कानों के बल की वृद्धि के लिए
पवस्व	उद्योग करो।
वर्चोदसौ	तेज के देनेवालो (तुम) दोनों !
मे	मेरी
चक्षुर्भ्याम् वर्चसे	आँखों के तेज की वृद्धि के लिए
पवेथाम्	उद्योग करो ॥२७॥

हे वर्चोदा ! तेज के प्रदाता परमेश्वर।
तुम प्राण वायु के बल की वृद्धि करो प्रभुवर॥
हे वर्चोदा ! बल के दाता हे परमेश्वर।
इस तन में करते रहो व्यान को बलवत्तर॥

याः	जो	वा	अथवा
ते	तुम्हारे पास	यः अध्वर्य्योः	जो अध्वर्यु के
द्रप्सः	रस, यज्ञीय पदार्थों का समूह	वा परि	पास रहता है,
		तम्	उसको
स्कन्दति	आता है या गिरता है,	ते	तुम्हारे लिए
		स्वाहा	सत्य गुणों से
यः	जो	मनसा वषट्	मन से किये
ते	तुम्हारे	कृतम्	हुए संकल्प के साथ
ग्रावच्युतः	यज्ञ के पत्थर से निकाला हुआ	जुहोमि	(मैं)अर्पण करता हूँ।
		देवानाम्	(वह) देवताओं और विद्वानों के लिए
अंशुः	खंड		
धिषणयोः	भूमि की गोद के स्थान को	उत्क्रमणम्	उन्नति प्राप्त करावेवाला
पवित्रात् उपस्थात्	प्राप्त करता है,	असि	है ।। २६ ।।

यज्ञीय पदार्थों का संचय यह पावन।
हवि हेतु प्राप्त होता है, मुझको अनुदिन ।।
यज्ञपति ! उसे ही पवन वहन करता है।
दिशि-दिशि को वह आरोग्य-वान करता है ।।
है अंतरिक्ष में बना मेघमाला वह।
फिर गिर धरती की गोद बीच ठहरा यह ।।
यज्ञीय शिलाओं से निष्पेषित होकर।
याजक जन को है प्राप्त सोमरस शुचितर ।।
संकल्प सत्य का मैं मन में कर धारण।
स्वाहा कह करता हूं मैं तुमको अर्पण ।।
है यह ही देवों की उन्नति का साधन।
उत्कर्ष इसी से पाते है विद्वज्जन ।। २६ ।।

टि०—इस मंत्र में यज्ञपति को संबोधित किया गया है। भगवान विष्णु यज्ञपति कहे गये हैं। यज्ञ से ही देवताओं और विद्वानों की उन्नति होती है। यज्ञ के लिए संगृहीत द्रव्यों को जब हविरूप में यज्ञाग्नि को अर्पित किया जाता है, तो पवन उसे सभी दिशाओं में वहन कर वायुमंडल को शुद्ध और आरोग्यप्रद बना देता है। यज्ञधूम आकाश में मेघमाला बनता है और वर्षा द्वारा धरती की गोद में जल बनकर शोभा पाता है। हे यज्ञपति ! यज्ञीय शिलाओं द्वारा पीसकर निकाला गया सोमरस तुमको अर्पित है। २६

हे वर्चोदा ! वर्चस्व[1]-विवर्धक पुरुषोत्तम ! ।
उद्योग करो हम प्राप्त करें दीर्घायु परम ॥
हे वर्चोदा[2] ! बल, ओज, तेज के दाता तुम ।
बलवत्तर ओज-तेज से नित मंडित हों हम ॥
सब प्रजाजनों में करो प्रदर्शित सद्‌गुणगण ।
हो योगशक्ति से वर्चस्वी जग का जन-जन ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को निरंतर आत्मशक्ति के संवर्धन का आदेश दिया गया है। मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करना चाहिए। ओज और तेज की निरंतर वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। मंत्र में यह कामना व्यक्त की गई है कि विश्व के सब प्रजाजन तेजस्वी बनें, उनमें सद्‌गुणों का प्रकाश हो। २८

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳫं सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः ॥२९॥

यस्य	जिस	भूः भुवः स्वः	भूमि, अंतरिक्ष और द्यु इन तीनों की (शक्ति को प्राप्त करके)
ते	तेरे		
नाम	नाम को		
अमन्महि	हम जानें,		
यं त्वा	जिस तुझको	प्रजाभिः	सब प्रजाओं के साथ
सोमेन	सोम के द्वारा	सुप्रजाः स्याम्	मैं उत्तम प्रजाजन होकर रहूँगा;
अतीतृपाम	तृप्त करते हैं,		
कः असि	(वह) तू कौन है ?	वीरैः सुवीरः	वीरों में उत्तम वीर होऊँगा;
कतमः असि	किस क्रम में है ?		
कस्य असि	तू किसका है ?	पोषैः सुपोषः	उत्तम पोषणकर्ताओं के साथ उत्तम पोषक बनूँगा ।।२९।।
कः नाम असि	तेरा क्या नाम है ?		

तुम कहो कौन हो और कहाँ हो संस्थित ? ।
किस वर्ग बीच किस श्रेणी में हो स्थित नित ? ॥

१ वीर्य, बल, शक्ति; २ वीर्य, बल और शक्ति को देनेवाला ।

हे वर्चोदा ! मेरे शरीर में वायु उदान सदा संस्थित ।
उद्योग करो उसके बल के वर्धन का नित ॥
हे वर्चोदा ! हे तेजप्रदाता परमेश्वर ! ।
मेरी वाणी का तेज-ओज हो बलवत्तर ॥
हे वर्चोदा ! यज्ञ की वृद्धि तुम करो सतत ।
ज्ञान की वृद्धि, तेज की वृद्धि हो नव-नव नित ॥
हे वर्चोदा ! बल-वृद्धि-प्रदाता परमेश्वर ! ।
श्रोत्रेन्द्रिय मेरी करो निरंतर बलवत्तर ॥
हे वर्चोदा ! हे तेजप्रदाता परमेश्वर ! ।
मेरी आँखों का तेज करो प्रभु ! अविनश्वर ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान से यह प्रार्थना की गई है कि शरीर में प्राण, उदान, व्यान आदि वायु बलवान बनें । साथ ही साथ कान, आँख आदि इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती रहे । यज्ञों की परंपरा बढ़ती रहे, ज्ञान की वृद्धि हो और तेज बढ़ता रहे । मनुष्य को इन्द्रिय-शक्ति, प्राण-शक्ति, ज्ञान-शक्ति आदि बढ़ाने का उद्योग निरंतर करते रहना चाहिए । २७

—आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौ—जसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वा—युषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥२८॥

वर्चोदाः	तेज का बल देनेवाले !	**आयुषे मे**	मेरे शरीर में दीर्घ जीवन की
मे आत्मने	मेरी आत्मा के	**वर्चसे**	वृद्धि के लिए
वर्चसे पवस्व	बल की वृद्धि के लिए उद्योग करो।	**पवस्व**	प्रयत्न करो।
		वर्चोदसौ	तेज के बढ़ानेवाले (तुम दोनों) !
वर्चोदाः	हे तेज देनेवाले !		
ओजसे मे	मेरा आत्मबल बढ़ाने के लिए (और)	**मे**	मेरे
		विश्वाभ्यः	समस्त
वर्चसे	तेज की वृद्धि के लिए	**प्रजाभ्यः**	प्रजाओं के
पवस्व	प्रयत्न करो।	**वर्चसे**	तेज को बढ़ाने का
वर्चोदाः	हे तेज की वृद्धि करनेवाले पुरुष !	**पवेथाम्**	उद्योग करो ।।२८।।

हे वर्चोदा ! उद्योग करो आत्मा के बल के वर्धन का ।
हे वर्चोदा ! उद्योग करो आत्मा के तेज-विवर्धन का ॥

उपयामगृहीतः	(हे श्रेष्ठ पुरुष! तू) नियमों द्वारा गृहीत
असि	है;
त्वा	(अतः) तुझे
मधवे	(मैं) मधुमास के लिए लेता हूँ।
उपयामगृहीतः	(तू) नियमों के द्वारा गृहीत
असि	है; (अतः)
माधवाय त्वा	मैं वैशाख मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों के द्वारा बँधा हुआ
असि	है; (अतः)
शुक्राय त्वा	मैं ज्येष्ठ मास के लिए तुझे स्वीकार करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बँधा
असि	है; (अतः)
शुचये त्वा	मैं आषाढ़ मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू यम-नियमों से बँधा
असि	है; (अतः)
नभसे त्वा	मैं श्रावण मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बँधा
असि	है; (अतः)
नभस्याय त्वा	मै भाद्रपद मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू यम-नियमों से बँधा
असि	है, (अतः)
इषे त्वा	मैं आश्विन मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बँधा
असि	है; (अतः)
ऊर्जे त्वा	मैं कार्तिक मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बँधा
असि	है, (अतः)
सहसे त्वा	मैं अगहन मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बँधा
असि	है, (अतः)
सहस्याय त्वा	मैं पौष मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू यम-नियमों से बंधा
असि	है; (अतः)
तपसे त्वा	मैं माघ मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू यम-नियमों से बँधा
असि	है। (अतः)
तपस्याय त्वा	मैं फाल्गुन मास के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ

तुम किसके हो, क्या है अभिधान तुम्हारा ? ।
जानना चाहते हैं हम नाम तुम्हारा ॥
हम तृप्त करेंगे तुम्हें सोमरस देकर ।
सच्चिदानंद रस-चषक तुम्हें अर्पित कर ॥
इन प्रश्नों का उत्तर दो निज को जानो ।
निज आत्मरूप अक्षर अव्यय पहचानो ॥
अस्तित्व तुम्हारा अच्युत अजर अनामय ।
है ज्ञान अखंड अनंत एकरस चिन्मय ॥
हो आत्मा के आनंदरूप तुम शाश्वत ।
भू, अंतरिक्ष, दिव शक्तियुक्त हो तुम नित ॥
यह ज्ञान प्राप्त कर प्रजा बनें हम उत्तम ।
हम प्रज्ञामंडित प्रजाजनों में शुचितम ॥
वीरों में हों उत्तम अग्रणी वीर हम ।
उत्तम पोषकगण में प्रवुष्ट सर्वोत्तम ॥ २९ ॥

टि०—यह मंत्र मनुष्य को अपना वास्तविक स्वरूप जानने की प्रेरणा देता है। वेदान्त विद्या की परम्परा ऐसे ही मंत्रों से आरंभ होती है। 'कस्त्वं, कोऽहं, कुतः आयातः' आदि प्रश्नों से आत्मतत्त्व के जिज्ञासु परिचित हैं। इन प्रश्नों का उत्तर है, हम आत्मरूप हैं, अनात्म नहीं। सच्चिदानंदस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के अंश हैं। अज, अव्यय, नित्य, शाश्वत और सनातन है। यज्ञ में सोमरस के चषक द्वारा हम इसी ज्ञानामृत का पान करते हैं। यह ज्ञानप्राप्त जन सब वीरों में परम वीर और सब पोषणकर्ताओं में सर्वोत्तम पोषणकर्ता बन जाते हैं। उसी स्थिति में सब प्रजाजनों के मध्य जीवन के एकत्व की अनुभूति होती है। २९

उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वो[1]—पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो[2]—पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो[3]—पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो[4]—पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो[5]—पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो[6]—पयामगृहीतोऽसीषे त्वो[7]—पयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वो[8]—पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो[9]—पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो[10]—पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो[11]—पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो[12]—पयामगृहीतोऽस्यंहसस्पतये त्वा[13] ॥३०॥

सब श्रेयप्रेयमय बनता उसका जीवन।
उन्नति के पथ पर बढ़ता वह अप्रतिहत ॥
पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं उसके संतत ॥ ३० ॥

टि०—साहित्य में बारहमासा की परंपरा प्रसिद्ध है। इसमें बारह मासों के अनुक्रम से किसी विरहिणी की वियोग-वेदना का वर्णन किया जाता है। इस मंत्र को आध्यात्मिक या धार्मिक बारहमासा कहा जा सकता है। इसमें चैत्र मास से आरंभ कर मलमास तक प्रतिमास यम-नियमों के धारण करने और धर्मनियमों के पालन करने का उपदेश दिया गया है। कारण धर्म-नियमों का पालन करने और उनके अनुसार चलने से ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। वेद का आदेश है, यम-नियम का पालन मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इस मंत्र से यह भी सिद्ध है कि बारहमासा की साहित्यिक परंपरा वेद से ही आरंभ हुई। अवश्य वैदिक बारहमासा का स्वरूप आध्यात्मिक है। आगे चलकर इसी ने लौकिक स्वरूप ग्रहण किया। इस मंत्र में हमारे संवत्सर के तेरहों महीनों के वैदिक नाम भी दिये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं:— मधुमास—चैत्र; माधव—वैशाख; शुक्र—ज्येष्ठ; शुचि—आषाढ़; नभस्—श्रावण; नभस्य—भाद्रपद; इषः—आश्विन; ऊर्जः—कार्तिक; सहस्—मार्गशीर्ष; सहस्यः—पौष; तपस्—माघ; तपस्य—फाल्गुन; अंहस्पति—मलमास। ३०

इन्द्राग्नी आ गतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्।
अस्य पातं धियेषिता।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष
ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥३१॥

इन्द्राग्नी	हे इन्द्र और अग्नि !	उपयामगृहीतः	(तुम्हें) यज्ञ के यम-नियमों के द्वारा ग्रहण किया गया
आगतम्	तुम दोनों आओ		
गीर्भिः	हमारी उत्तम	असि	है।(अतः)
वरेण्यम्	वाणियों से की (तुम्हारी) स्तुतियो से प्रसन्न होकर (हमारे लिए)	त्वा	तुम्हें
		इन्द्राग्निभ्याम्	इन्द्र-अग्नि के लिए यह (हवि) समर्पित करते है।
नभः सुतम्	श्रेष्ठ सुख उत्पन्न करो।	एषः ते योनिः	यह तुम्हारा स्थान है।
इषिता	हमारी प्रार्थना सुनकर	इन्द्राग्निभ्याम्	इन्द्र और अग्नि के लिए हम
धिया	अपनी बुद्धि से	त्वा	तुमको (यहाँ रखते
अस्य पातम्	इसकी रक्षा करो।		हैं) ॥ ३१ ॥

उपयामगृहीतः	तू नियमों से बंधा	अंहस्पतये त्वा	मैं मलमास के लिए
असि	है (अत:)		तुझे नियुक्त करता हूँ ॥ ३० ॥

उपयामगृहीत रहे हे मानव ! जीवन।
यम-नियम चैत्र में तू कर सम्यक् पालन॥
उपयामगृहीत पुनीत सदा तू मानव।
वैशाख मास में पाल यम-नियम नित नव॥
मानव ! उपयामगृहीत विनीत श्रेष्ठ बन।
यम-नियम ज्येष्ठ में कर तू सम्यक् पालन॥
आषाढ़ मास घिर आये हैं दल - बादल।
उपयामगृहीत तुम्हें रहना है प्रतिपल॥
है तू उपयामगृहीत आ गया सावन।
सब पालन कर यम-नियम धन्य कर जीवन॥
हे राजपुरुष ! यम-नियम-बद्ध तू संतत।
कर भाद्रमास में पालन धर्म-नियम नित॥
आश्विन में सब यम-नियम अटल कर धारण।
उपयामगृहीत रहो जीवन में प्रति क्षण॥
इस कार्तिक में उपयामगृहीत सदा रह।
कर धर्म-नियम का पालन अविरत अहरह॥
यह मार्गशीर्ष है इसका प्रतिदिन पावन।
उपयामगृहीत समुन्नत कर तू जीवन॥
यह पौष मास कर रहा ग्रहण मैं तेरा।
तू विरच चतुर्दिक् यम-नियमों का घेरा॥
है माघ मास तप के हित नियत विहित यह॥
कर धर्म-नियम का पालन तू निष्ठा-सह॥
देखो तपस्य - निधियाँ जीवन की जागीं।
आया यह फाल्गुन मास धर्म का रागी॥
तू रह उपयामगृहीत दिवस ये पावन।
यम-नियमों से कर उन्नत अपना जीवन।
दृढ़ता से पालन कर यम-नियम अनुत्तम॥
आराधन का धन मास प्रथित पुरुषोत्तम[1]।
जो करता रहता धर्म-नियम का पालन॥

१ मलमास को पुरुषोत्तम मास भी कहते हैं।

येषाम्	जिनका	ते	(हे यज्ञ!) तुम्हारा
युवा इन्द्रः	तरुण इन्द्र	एषः योनिः	यह स्थान है।
सखा	सखा है, (उनके द्वारा)	त्वा	तुमको (प्राप्त कर हम सब)
अग्नीन्द्राभ्याम्	अग्नि और इन्द्र के लिए	अग्नीन्द्राभ्याम्	अग्नि और इन्द्र के लिए
उपयामगृहीतः	उस यज्ञ को स्वीकार किया	त्वा	तुम्हें हवि अर्पण करते हैं ॥ ३२ ॥
असि	है।		

यज्ञाग्नि दीप्त करते हैं जो विद्वज्जन।
निज आनुकूल्य से हवि करते हैं अर्पण॥
ये तरुण इन्द्र हैं उनके सखा सनातन।
इन्द्राग्नि हेतु यम-नियम किये जो धारण॥
यज्ञाग्नि ज्वलित यह है उनका आश्रय-स्थल।
इन्द्राग्नि हेतु करते अर्पित हवि निश्छल॥ ३२॥

टि०—इस मंत्र में उन विद्वानों का वर्णन है, जो इन्द्र और अग्नि की कृपा प्राप्त करने के लिए यज्ञाग्नि में हवि अर्पित करते हैं। इन्द्र आत्मा है; अज, अव्यय, नित्य और सनातन आत्मतत्त्व के जाननेवाले विद्वानों का वह सनातन सखा है। योनि का अर्थ घर या आश्रयस्थान भी किया गया है। ३२

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ आ ग॑त।
दा॒श्वाꣳसो॑ दा॒शुष॑ः सु॒तम्॑।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑[2]
ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑[3]ः ॥३३॥

विश्वे देवासः	हे सब देवताओ!	असि	है।
ओमासः	(तुम) सबके रक्षक तथा	त्वा	तुमको
चर्षणी धृतः	प्रजा के धारण करनेवाले हो;	विश्वेभ्यः देवेभ्यः	सब देवों के लिए (यह आहुति समर्पित करते हैं।)
दाशुषः	दान देनेवाले को	ते एषः योनिः	तेरा यह स्थान है।
दाश्वांसः	ऐश्वर्य के प्रदाता हो।	विश्वेभ्यः देवेभ्यः	सब देवों के लिए
सुतम् आगत	(अतः) इस यज्ञ में आओ।	त्वा	तुझको (ग्रहण करता हूँ) ॥ ३३ ॥
उपयामगृहीतः	सुनियमों से गृहीत		

हे इन्द्र अग्नि! इस ऋतु में आओ, आओ।
यह हवि अर्पित है तुम्हें, देवद्वय आओ॥
हो तन में जब तक[1], तब तक यह रक्षित है।
उत्तम वाणी से स्तवन तुम्हें अर्पित है॥
स्वीकार करो यह मेरी स्तुति-कुसुमांजलि।
सुख-सौरभ पूरित रहे सदा जीवन-कलि॥
होकर स्तुति से द्रवित स्वधा से प्रेरित।
रक्षा तुम करते रहो देव! मेरी नित॥
याजक! उपयामगृहीत पुनीत सदा तुम।
इस यज्ञ हेतु करते हैं वरण तुम्हें हम॥
हो इन्द्र-अग्नि की प्रीति हेतु तुम अर्पित।
यह ऋतु उनका है प्रभव-स्थान[2] समर्चित॥
इस यज्ञ हेतु यजमान! हुए तुम दीक्षित।
आपूर्ति करो तुम यज्ञभूमि में संस्थित॥ ३१॥

टि०—इस मंत्र के दो भाग हैं। पहले भाग में इन्द्र और अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में पधारें। याजक-जन अपनी उत्तम वाणी से स्तवनों की रचना कर उनको प्रसन्न करना चाहते हैं, जिससे वे मानवमात्र को सुख-सौभाग्य से परिपूरित कर दें। स्तुतियों से प्रसन्न होकर अपनी इच्छा से प्रेरित होकर ये देवता मानव-शरीर की रक्षा करते हैं। अग्नि जब तक शरीर में है, तभी तक वह जीवित रहता है। मंत्र के दूसरे भाग में यज्ञ के लिए अनिवार्य यम-नियमादि से अनुशासित यजमान से यह कहा गया है, वह इन्द्र और अग्नि के लिए समर्पित-चित्त से हवि अर्पित कर उनका पद एवं उनकी प्रसन्नता प्राप्त करें। ३१

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
येषामिन्द्रो युवा सखा।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां
त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा॥३२॥

ये अग्निम्	जो (विद्वान) अग्नि को	आनुषक्	अनुकूलता से (उसमें)
घा इन्धते	प्रदीप्त करते है,	बर्हिः आ स्तृणन्ति	हवि समर्पित करते हैं,

१ जब तक शरीर मे अग्नि है; २ जन्म का स्थान। इसमें 'एष व योनिः' का आभास होता है।

सब देवो ! तुम यहाँ पधारो। प्रस्तुत यह आसन, स्वीकारो॥
मेरी स्तुति यह श्रवण करो तुम। स्तवन सुनो देवो ! प्रपन्न हम॥
हे उपयामगृहीत सुयाजक ! देवकार्य के हो सम्पादक॥
सुधीजनों से हो गृहीत तुम। पहुँचाते उनके समीप हम॥
यह ऋतुकर्म यहाँ समनुष्ठित। यही तुम्हारा घर है निश्चित॥
विद्वज्जन हैं सदा सहायक। सब सुरगण हैं सिद्धि-प्रदायक॥ ३४।

टि०—इस मंत्र में भी मानव के उपयामगृहीत-स्वरूप पर बल दिया गया है। देवताओं की प्रसन्नता के लिए उपयामगृहीत होना अनिवार्य है। उपयामगृहीतों के यज्ञ में ही देवता पधारते हैं। विद्वानों का नैकट्य यम-नियमों का सम्यक् साधन करनेवाले मानव को प्राप्त होता है। ३४

इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्याते अपिबः सुतस्य।
तव प्रणीती तव शूर शर्मन्ना विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते[3] ॥३५॥

मरुत्वः इन्द्र	मरुद्गणों के साथ रहनेवाले हे इन्द्र !
यथा	जैसे
शार्यातेः	शर्याति के यज्ञ में तुमने
सुतस्य अपिबः	सोमरस पिया था,
इह	(उसी प्रकार) यहाँ
सोमं पाहि	हमारे यज्ञ मे सोम की रक्षा करो (और पियो)।
शूरः	हे वीर !
तव प्रणीती	तुम्हारी उत्कृष्ट नीति से
सुयज्ञाः	श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले
कवयः	दूरदर्शी कवि (विद्वान)
तव शर्मन्	तुम्हारे सुखदायक स्थान में
आ विवासन्ति	दीर्घकाल तक तुम्हारी उपासना करते हैं।
उपयामगृहीतः	तुम धर्म-नियमो को स्वीकार किये हुए
असि	हो।
मरुत्वते	मरुद्गणों से शोभित
इन्द्राय त्वा	इन्द्र की प्रीति के निमित्त मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ।
ते	तुम्हारा
एषः	यह
योनिः	स्थान है।
त्वा	तुम
इन्द्राय मरुत्वते	मरुतों के साथ रहनेवाले ऐश्वर्यवान इन्द्र की हम उपासना करते हैं॥ ३५॥

अये विश्व के सकल देवगण ! रक्षक हो सबके तुम।
धारण करते तुम्हीं प्रजा का, विनय कर रहे हैं हम॥
दाता के ऐश्वर्य-प्रदाता ! इस ऋतु में तुम आओ।
धर्म-नियम से बँधे यहाँ हैं दाशुष[1], देवो ! आओ॥
ये उपयामगृहीत मनुज हैं यहाँ यज्ञ में दीक्षित।
इनका जीवन सफल देव-कार्यों के हेतु समर्पित॥
यह उपयामग्रहण यह ऋतु हैं देवों का प्रभवस्थल।
तुम गृहीत हो तुम वृणीत[2] हो देवकार्य हित अविकल॥ ३३॥

टि०—इस मंत्र में सब देवताओं से अनुरोध किया गया है कि वे यज्ञ में पधारें और यज्ञ के नियम वरण करनेवाले यम-नियमों को स्वीकार करनेवाले मानवों को अपना कृपा-प्रसाद प्रदान करें। जो दाता और उदार हैं उन्हें ही देवता ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। देवगण उत्तम रीति से प्रजा का धारण और रक्षण करते हैं। देवकार्यों के लिए मनुष्य का जीवन अर्पित होना चाहिए। देवों का मुख्य कार्य है-मनुष्यों को श्रेष्ठतम कर्म करने की प्रेरणा देते रहना, जीवन को यज्ञमय बना देना। ३३

विश्वे॑ देवास॒ आ ग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मꣳ हव॑म् ।
एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑
ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ः ॥३४॥

विश्वे देवासः	समस्त देवो !
आगत	आओ।
इदम्	इस
बर्हिः	आसन पर
आ निषीदत	बैठो।
मे इमम्	मेरी यह
हवम् शृणुत	स्तुति सुनो।
उपयामगृहीतः	विद्वज्जनों द्वारा (यह यज्ञ कर्म) गृहीत
असि	है।
त्वा	तुमको
विश्वेभ्यः देवेभ्यः	समस्त देवताओं के पास (हम) पहुँचाते हैं।
एषः	यह
ते योनिः	तुम्हारा स्थान है।
त्वा	(अतः) तुझे
विश्वेभ्यः देवेभ्यः	सब देवताओं की सहायता प्राप्त होगी॥ ३४॥

१ 'दाशुष' वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ है दान देनेवाले; २ वरण किये गये।

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् ।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते[3] ।
उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे[4] ॥३६॥

कवयः	विद्वज्जन	असि	हो। (अतः)
नूतनाय अवसे	नवीन-नवीन रक्षा आदि गुणों के लिए	त्वा	तुम्हारे
मरुत्वन्तम्	मरुद्गणों-सहित	मरुत्वते	मरुद्गण जैसे वीरो के साथ रहने के कारण,
वृषभम्	सबसे उत्तम,		
वावृधानम्	अत्यन्त शुभ गुणों और कर्मों में उन्नति को प्राप्त,	इन्द्राय	(तुम) इन्द्र को हम स्वीकार करते हैं।
		एषः	यह स्थान
अकवारिं	दुखों का निवारण करनेवाले,	ते योनिः	तुम्हारा घर है।
		त्वा	तुम
दिव्यं	दिव्य गुणयुक्त,	मरुत्वते	मरुतों के साथ रहनेवाले
शासं	शासनकारी,		
विश्वासाहं	सर्वसहनशील,	इन्द्राय	इन्द्र को (हम स्वीकार करते है)।
उग्रं	परम पराक्रमयुक्त		
सहोदां	बल से शत्रु को दमन करने में समर्थ,	उपयामगृहीतः	तुम नियमों के पालक
		असि	हो।
तं इन्द्रं	उस इन्द्र को	मरुताम् ओजसे	मरुतों के पराक्रम के कार्य के लिए (हम)
इह	यहां		
हुवेम	(हम) बुलाते हैं।		
उपयामगृहीतः	(हे इन्द्र तुम) नियमों के पालक	त्वा	तुम्हें ग्रहण करते है ॥ ३६ ॥

जो श्लाघ्य प्रजाओं से सेवित हैं मरुत्वंत[1] ।
जो हैं उत्तम, जो शुभ गुणगणमंडित अनंत ॥

१ मरुतों के साथ रहनेवाले ।

हे इन्द्र! मरुत के साथ यहाँ आओ तुम।
इस यज्ञस्थल में करते आवाहन हम।
शर्याति-यज्ञ में सोम पिया था जैसे।
हे देव! पियो तुम सोम यहाँ भी वैसे॥
तुम करो सोम की रक्षा आओ, आओ।
मरुतों को लेकर वीर! यहाँ तुम आओ॥
उत्कृष्ट नीति-पथ पर जो चलनेवाले।
उत्तम ऋतु-कृति[1] का व्रत जो संतत पाले॥
जो हैं त्रिकालदर्शी कवि और मनीषी।
चिरकाल तुम्हारे आराधक अन्वेषी[2]॥
हैं जो उपयामगृहीत तुम्हारे कारण।
यम-नियम-बद्ध जीवन करते नित धारण॥
वे हम सब करते स्तवन तुम्हारा अनुदिन[3]।
हो प्रीति तुम्हारी प्राप्त धन्य हो जीवन॥
ऐश्वर्यवान मरुतों के साथ पधारो।
वैभव अनंत अपना सब ओर पसारो॥ ३५॥

टि०—इस मंत्र में सोमयज्ञ में मरुतों के साथ इन्द्र का आवाहन किया गया है। मरुतों का अर्थ कुछ वेदविदों ने प्रजा भी किया है। इन्द्र राजा होने के कारण सदैव प्रजा से युक्त हैं। इन्द्र का आवाहन करनेवाले उपयामगृहीत जन वे हैं, जो श्रेष्ठ नीति के मार्ग पर चलते हैं, उत्तम यज्ञों का अनुष्ठान करते है और कविर्मनीषी हैं और इन्द्र की प्रीति की प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक साधन-आराधन करते हैं। इस मंत्र में यह भी कहा गया है कि हे इन्द्र! जिस प्रकार शर्याति के यज्ञ में तुमने सोम पिया था, उसी प्रकार हमारे इस यज्ञ में भी सोमपान करो। शर्याति का चरित्र पुराणों में विस्तार से वर्णित है। शर्याति मनु के पुत्र थे। उनकी पुत्री सुकन्या का विवाह च्यवन ऋषि के साथ हुआ था। च्यवन ऋषि अंधे हो गये थे, अश्विनीकुमारों ने उन्हें अपनी चिकित्सा द्वारा दृष्टि प्रदान की। शर्याति ने महर्षि च्यवन के आदेश से सोमयज्ञ का अनुष्ठान किया। इन्द्र ने इसमें सोमपान किया, किंतु जब उन्होंने यह देखा कि इस यज्ञ में अधिकारी न होने पर भी अश्विनीकुमारों को ऋषि ने सोम प्रदान किया है, तो उन्होंने महर्षि च्यवन को मारने के लिए वज्र उठाया। महर्षि ने इन्द्र का वह हाथ स्तंभित कर दिया, वह उठा-का-उठा ही रह गया। उसी समय से देवताओं ने अश्विनीकुमारों को यज्ञभाग देना स्वीकार कर लिया। ३५

---

१ यज्ञकर्म; २ खोज करनेवाले; ३ प्रतिदिन।

विश्वतः	सब ओर से
अभयं कृणुहि	अभय करो।
उपयामगृहीतः	(तुम) नियमों से गृहीत किये गये
असि	हो।
इन्द्राय मरुत्वते	मरुत् जैसे सैनिको के स्वामी इन्द्र
त्वा	तुम्हें (नियुक्त करता हूं)
एषः	यह
ते योनिः	तुम्हारा आश्रय-स्थल है।
इन्द्राय मरुत्वते	इन्द्र और वीर मरुतों के लिए
त्वा	तुम्हें (नियुक्त करता हूँ) ॥ ३७ ॥

सबको समान वितरित करते निज प्रेम सदा।
मरुतों की सेना से परिवृत हो विजयप्रदा॥
हे इन्द्र! वृत्रहंता! वरेण्य हे वीर विदित।
विद्वानों में भी हो तुम अग्रगण्य वंदित॥
आओ इस मख[1] में करो तुष्ट हो सोमपान।
कर शत्रु ध्वस्त अरिदल को करो पलायमान[2]॥
देवेन्द्र! अनुग्रह करो, करो सब भांति अभय।
हम शत्रुहीन होकर विचरें जग में निर्भय॥
उपयामगृहीत पुनीत सदा तुम देवराज।
यम-नियम-पाल तुम-सा न विश्व में और आज॥
मरुतों की सेना के स्वामी हो तुम महान।
है यही तुम्हारा परम प्रथित आश्रयस्थान॥
हे इन्द्र-मरुत्! इस क्रतु में रहो प्रतिष्ठित नित।
हम करते तुमको वरण प्रजा के मंगल हित॥ ३७॥

टि०—इस मंत्र में सोमपान करने के लिए इन्द्र का आह्वान किया गया है। इन्द्र मरुतों की सेना के स्वामी है। वेद के इन्द्र उपयामगृहीत हैं, सब यम-नियमों का पालन करनेवाले हैं। धर्म-नियमों से परिचालित इन्द्र आदर्श शासक हैं। वे प्रजाजनों को अभय-दान देकर उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकते है। ३७

मरुत्वाँ२ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वꣳ राजाऽसि प्रतिपत्सुतानाम्[1]।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते[3] ॥३८॥

१ यज्ञ; २ भागे हुए।

जो निज कर्मों से उन्नति को हैं प्राप्त आप्त।
जो दुःख-निवारण हेतु सृष्टि में हुए व्याप्त॥
जिनका व्यक्तित्व सदैव दिव्यता से मंडित।
इस निखिल सृष्टि के जो शासनकर्ता हैं नित॥
जो सर्वसहा है और पराक्रमयुक्त प्रबल।
जो शत्रुदमन के हेतु सदैव समर्थ सबल॥
उन इन्द्रदेव का करते हैं हम आवाहन।
वे शुभगुण करें प्रदान, करें नित नव रक्षण॥
तुम हो उपयामगृहीत यम-नियम के पालक।
वीरों से शोभित मरुत सैन्य के संचालक॥
हैं वरण तुम्हारा करते पावन मख में हम।
यह यज्ञ तुम्हारे घर-सा इसमें निवसो तुम॥
ये सकल मरुद्गण इन्द्र! तुम्हारे हैं सहचर।
हम वरण तुम्हारा करते उर में श्रद्धा भर॥
उपयामगृहीत यम-नियम के परिपालक तुम।
हे मरुत्पराक्रम! तुम्हें ग्रहण करते हैं हम॥
बलशाली शासक हो अपना इन्द्र-सा प्रथित।
हो सतत अभ्युदयशील दुःखहारक वह नित॥ ३६॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के अनेक गुणगणों का वर्णन है। मरुद्गण उनके सहचर हैं, वे मारुत-विक्रम हैं। यज्ञ में उनका वरण किया जाता है। जिससे वे शुभ गुण प्रदान कर सदैव हमारी रक्षा करें। ३६

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ२रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः[1]।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते[3] ॥३७॥

सजोषाः	सबसे समान भाव से प्रेम करनेवाले,	वृत्रहा	घेरनेवाले शत्रुओं को मारनेवाले!
मरुद्भिः सगणः	मरुत्रूप सैनिकों के गणों से युक्त होकर	सोमं पिब	(तुम) सोम का पान करो;
		शत्रून् जहि	शत्रुओं को मारो;
इन्द्र	हे इन्द्र!	मृधः अपनुद	शत्रु-सेनाओं को दूर हटाओ;
शूर	हे वीर!		
विद्वान्	ज्ञानसम्पन्न तथा	नः	हमको

वीरों के अधिपति! सेनापति यह पियो सोम।
युद्ध में गमन के पूर्व देव! तुम पियो सोम ।। ३८ ।।

टि०—इस मंत्र के दो भाग हैं। पहले भाग में इन्द्र के गुणों का वर्णन कर उन्हें सोमपान के लिए आहूत किया जा रहा है। दूसरे भाग में इन्द्र के समान शौर्यवान और गुणवान् वीर पुरुष के सेनापति-पद पर वरण किये जाने के संकेत हैं। इस मंत्र में यह भी कहा गया है कि धर्मयुद्ध ही सेनापतियों के परमैश्वर्य का कारण होता है, वस्तुतः वही उनका घर होता है, आश्रयस्थान होता है। इस मंत्र में यह संकेत भी है कि सेनापतियों और सैनिकों को बढ़िया से बढ़िया पुष्टि-तुष्टि प्रदान करनेवाला उत्तमोत्तम सुस्वादु भोजन करवाकर युद्ध के लिए सदैव तैयार रखा जाए। ३८

महाँ२ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय
त्वै२ष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥३९॥

उपयामगृहीतः	(तुम) नियमों से ग्रहण किये गये	चर्षणिप्राः	सब मनुष्यों को सुख से युक्त करनेवाले,
असि	हो।	द्विबर्हा	लोक और परमार्थ का ज्ञान बढ़ानेवाले,
महेन्द्राय	अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त होने के लिए (हम)	अस्मद्र्यक्	हम सबको अपनी सर्वज्ञता से जानने वाले,
त्वा	तुम्हारी (उपासना करते हैं)।	अमिनः	अतुल पराक्रमी (तथा)
उत ते एषः	तुम्हारी यह उपासना	उरुः पृथुः	विस्तार करनेवाले महान वीर, (तुम इन्द्र हो)।
योनिः	हमारा कल्याण-स्थान है। (अतः)	कर्तृभिः	अच्छे कर्म करनेवाले,
त्वा	तुम जैसे	सुकृतः	शुभ कर्म करनेवाले के समान (तुम)
महेन्द्राय	परम ऐश्वर्ययुक्त होने के लिए हम तुम्हारा पूजन करते हैं	इन्द्रः भूत्	अत्यन्त ऐश्वर्यवाले इन्द्र हो।
महान्	उत्तम		
नृवत्	नेता के समान		
आ	भली भाँती		

इन्द्र	हे इन्द्र !
मरुत्वान्	मरुतों के समान पराक्रमी सेनाओं के साथी,
वृषभः	श्रेष्ठ बल वाला
अनुस्वधम्	अपनी धारणा के अनुसार
मदाय	सबको हर्षित करने के लिए
रणाय	युद्ध के लिए पहले
सोमं पिब	सोमपान करो।
जठरे	अपने उदर में
मध्वः	मधुर रस की
ऊर्मिम्	लहरों को
आसिञ्चस्व	प्रवाहित करो।
त्वं	तुम
सुतानाम्	सोमरसों के
प्रतिपत्	मुख्य
राजा असि	राजा हो।
उपयामगृहीतः	नियमों के अनुसार नियुक्त किये गये
असि	हो।
इन्द्राय त्वा	सैनिकों के स्वामी के लिए तुम्हें
मरुत्वते	वरण किया जाता है।
एषः	यह
ते योनिः	तुम्हारा आश्रय स्थल है।
इन्द्राय त्वा	इन्द्र के पद के लिए
मरुत्वते	वीरों के साथी के पद पर (तुम्हे स्थापित करते हैं) ॥ ३८ ॥

हे मरुत्वान् ! हे इन्द्रदेव बलवान् परम।
मरुतों की सेनाओं के अधिपति हो दुर्दम[1] ॥
आओ, आओ, इस यज्ञस्थल में सोम पियो।
जाने के पहले धर्मयुद्ध में सोम पियो ॥
निज शक्ति देखकर युद्ध हेतु तुम सोम पियो।
आनंद-प्राप्ति के हेतु पियो, यह सोम पियो ॥
तुम सोमलताओं के रस के हो अधिप प्रथित[2]।
निज जठर बीच मधु-रस की ऊर्मि[3] करो प्रवहित ॥
ऐश्वर्य-शौर्य इन्द्र का तुम्हें है सहज प्राप्त।
सेनापति-पद पर वरण किया जा रहा आप्त[4] ॥
तुम हो उपयामगृहीत यम-नियम के पालक।
तुम बनो राष्ट्र की सेनाओं के संचालक ॥
इस महत इन्द्र के पद पर तुम हो संस्थापित।
यह धर्मयुद्ध है स्थान तुम्हारा विश्व-विदित ॥

---

१ जिसका दमन करना बहुत कठिन हो; २ प्रसिद्ध; ३ लहर; ४ प्रामाणिक।

उपयामगृहीतः	तुम सुनियमों से ग्रहण किये गये	यः	जो
असि	हो। (अतः)	महान् वृष्टिमान्	बड़े और बरसनेवाले
त्वा महेन्द्राय	श्रेष्ठ ऐश्वर्य के लिए (हम) तुम्हारा आश्रय कर लेते हैं।	पर्जन्य इव	मेघ के समान
ते एषः	तुम्हारा यह उपासना-कार्य	वत्सस्य	स्तुतिकर्ता की
योनिः	कल्याण का कारण है।	स्तोमैः	स्तुतियों से
त्वा	(हम) तुम्हारा	ओजसा	उन्नत बल के साथ सुख की वर्षा करता है,
महेन्द्राय	महान ऐश्वर्य के लिए (ध्यान करते हैं)।	इन्द्रः वावृधे	उस परमेश्वर इन्द्र को जानकर मनुष्य उन्नति करता है॥ ४० ॥

हे उपयामगृहीत! धर्मनियमों के धारक।
ऋत के विग्रह, यम-नियमों के पुण्यप्रसारक॥
परम श्रेष्ठ ऐश्वर्य-प्राप्ति के हेतु निरंतर।
करते हम अर्चना तुम्हारी हे परमेश्वर॥
परम श्रेय का है निमित्त यह अर्चन-वंदन।
योगसिद्धि का हेतु तुम्हारा यह आराधन॥
हे महेन्द्र! हो प्राप्त हमें ऐश्वर्य महत्तम।
करते रहते ध्यान तुम्हारा इसीलिए हम॥
वृष्टिमान[1] पर्जन्य[2] सदृश हैं वे परमेश्वर।
करते धारासार[3] वृष्टि करुणा की जग पर॥
स्तुतिकर्ता के स्तवनों से हो द्रवित-स्रवित नित।
ओज, तेज, सुख बरसाते रहते प्रभु अविरत॥
उन्हें जानकर ही कृतार्थ होते हैं मानव।
निःश्रेयस्[4]-अभ्युदय प्राप्त करते हैं नित नव॥ ४० ॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि परमेश्वर ने स्वेच्छा से यम-नियमों का बंधन स्वीकार किया है। वे चाहते हैं, मनुष्य भी यम-नियम का साधक बने। भगवान की आराधना परमश्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली है। परमश्रेष्ठ ऐश्वर्य केवल लौकिक ऐश्वर्य नहीं है। योग-साधना से प्राप्त होनेवाला ऐश्वर्य ही परमश्रेष्ठ ऐश्वर्य

---

१ बरसनेवाले; २ मेघ; ३ भारी वर्षा, मूसलाधार वर्षा; ४ मोक्ष।

सहोभिः	अनेक बलों के साथ	वावृधे	हम उत्साह-युक्त हो जाते हैं ॥ ३९ ।'
वीर्याय	पराक्रम बढ़ाने के लिए		

जो उपयामगृहीत यम-नियम करते पालन ।
हे परमेश्वर! प्राप्त तुम्हें करते वे ही जन ॥
चरम परम ऐश्वर्य-प्राप्ति के हेतु निरंतर ।
करते हैं अर्चना तुम्हारी हम परमेश्वर ॥
यह उपासना ही है परम श्रेय का कारण ।
हे महेन्द्र! ऐश्वर्य करें हम तुम-सा धारण ॥
तुम महान हो, नेता हो पथदर्शक अनुपम ।
प्राप्त कराओ सुख मानव को सदा अनुत्तम ॥
ऐहिक और पारमार्थिक सब ज्ञानयुक्त नित ।
अतुल पराक्रमबलित विपुल विस्तार-सहित स्थित ॥
अये तज्ज्ञ सर्वज्ञ! जानते हमको सम्यक् ।
कीर्ति तुम्हारे शुभ कर्मों की प्रसरित प्रतिदिक् ॥
चरम परम ऐश्वर्यवान् शत इन्द्र-सदृश तुम ।
हे महेन्द्र! बल-वीर्य तुम्हारा प्राप्त करें हम ॥
अचल अटल उत्साहपूर्ण हो अपना जीवन ।
हे शरण्य[1]! बल, वीर्य, तेज हो वर्द्धित प्रतिक्षण ॥ ३९ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान के प्रति भक्ति-भावना की व्यंजना की गई है। परमेश्वर को यहाँ महेन्द्र नाम से संबोधित किया गया है। उनसे इन्द्र का लोकमंगलकारी ऐश्वर्य बल, वीर्य, विद्या, बुद्धि आदि की याचना की गई है। भगवान को इस मंत्र में 'द्विबर्हा' कहा गया है, क्योंकि वे लौकिक पारलौकिक दोनों प्रकार के ज्ञान को अबाधित रूप से धारण करते हैं। ३९

महाँ२ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२ इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय
त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥४०॥

---

१ शरण ग्रहण करने योग्य ।

देवानाम्	देवताओं का
चित्रं	विचित्र
अनीकं	बल,
मित्रस्य	मित्र की,
वरुणस्य	वरुण की (और)
अग्नेः चक्षुः	अग्नि की आँख,
द्यावा	आकाश,
पृथिवी	पृथ्वी (तथा)
अन्तरिक्षम्	अन्तरिक्ष का धारक
सूर्यः	सूर्य
जगतः च	जंगम और
तस्थुषः	स्थावर का
आत्मा उदगात्	आत्मा है।
स्वाहा	उसके लिए हवि अर्पित है ॥ ४२ ॥

अति विचित्र देवों की सेना-सदृश अपरिमित[1]।
फहराते ये किरण-केतु रवि हुए हैं उदित ॥
मित्र, वरुण के और अग्नि के दृग ये भास्वर।
दिव, भू, नभ के धारक ये ही देव तिमिरहर[2] ॥
यही विश्व के चक्षु, विश्व-आत्मा हैं सुविदित।
अर्पित रवि को करो पूत[3] हवि कह स्वाहा नित ॥ ४२ ।

टि०—यह भी दैनिक संध्या के अंतर्गत सूर्योपस्थान के निमित्त प्रयुक्त होनेवाला मंत्र है। मंत्र बड़ा कवित्वपूर्ण है। असंख्य किरणशलाकाओं से मंडित सूर्यदेव देवों की विचित्र सेना जैसे प्रतीत होते है। त्रिभुवन को धारण करनेवाले देवता ये सूर्य ही हैं। ४२

अग्ने नय॑ सुपथा॑ राये अस्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां
ते॒ नम॑ उक्तिं विधेम स्वाहा॑ ॥४३॥

अग्ने	हे सर्व प्रकाशक अग्नि!
देव	हे दिव्य गुणयुक्त परमेश्वर!
अस्मान्	हमें
राये	ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिए
सुपथा नय	उत्तम मार्ग से ले चलो।
विश्वानि	तुम सब
वयुनानि विद्वान्	मार्गों को जाननेवाले हो।
जुहुराणम् एनः	इस कुटिलता रूपी पाप को (हमारे द्वारा)
अस्मत् युयोधि	युद्ध कराकर दूर करो।

---

१ असंख्य; २ अन्धकार को दूर करनेवाले; ३ पवित्र।

है। भगवान बरसनेवाले मेघ की तरह करुणामय हैं। जो उनकी स्तुति करते हैं वे उस पर परम ऐश्वर्य और सुख की धारासार वृष्टि करते रहते हैं। ४०

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यं स्वाहा ॥४१॥

उ त्यम्	निश्चय ही	विश्वाय दृशे	सबको दर्शन प्राप्त कराने के लिए
जातवेदसं	वेदों के प्रकट करनेवाले, सबके उत्पादक	केतवः	किरणें
सूर्य देवं	सूर्यदेव का	उत् वहन्ति	फैल रही हैं।
		स्वाहा	उसके लिए(आहुति) समर्पित है ॥ ४१ ॥

केतुमाल[1]-सा किरणजाल[2] फहरा है नभ पर।
उदित हुए सर्वज्ञ वेदधाता[3] ये दिनकर॥
देख सकें इस निखिल जगत को यथारूप हम।
लहर रही है किरण-पताकाएँ अपहृत-तम॥
करता हूँ इन सूर्यदेव के हेतु समर्पण।
करता हूँ मैं उन्हें समर्पित हवि यह अनुदिन[4]॥
सूर्यदेव के हेतु समर्पित हवि यह स्वाहा।
तिमिरहरण रवि को अर्पित है हवि यह स्वाहा॥ ४१ ॥

टि०—इस मंत्र का प्रयोग दैनिक संध्या में सूर्योपस्थान मंत्र के रूप में होता है। इस मंत्र में सूर्य को 'जातवेदस्' और 'विश्वाय दृशे' कहा गया है। 'जातवेदस्' का अर्थ है, जो भी कुछ जगत् में उत्पन्न हुआ है, उन सबको जाननेवाला; दूसरा अर्थ है वेद को जाननेवाला। 'विश्वाय दृशे' विश्व को, जैसा वह है वैसा, दिखानेवाला। ४१

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य
आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥४२॥

---

१ पताकाओं का समूह; २ किरणों का समूह; ३ वेद को जाननेवाले और रक्षा करनेवाले; ४ प्रतिदिन।

मृधः	संग्राम में	वाजान् जयतु	अन्नों को जीते।
प्रभिन्दन्	शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न करता हुआ	जर्हृषाणः	प्रसन्न होता हुआ
		अयं	यह
पुरः एतु	आगे चले।	शत्रून् जयतु	शत्रुओं को जीते।
अयं वाजसातौ	यह अन्न का विभाग करने के लिए	स्वाहा	इसके लिए आहुति अर्पित है ॥ ४४ ॥

अग्रणी अग्नि यह करे हमें धन-संप्रदान[1]।
विदलित कर रिपुदल आगे हो इसका प्रयाण[2] ॥
वितरण[3] करने को अन्न जीत कर लाये यह।
सानंद शत्रुओं को सब विजित बनाये यह ॥
अग्नि के हेतु अर्पित यह घृत-आहुति स्वाहा।
रिपुहंता हित अर्पित यह घृत-आहुति स्वाहा ॥ ४४ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमें ऐश्वर्य प्रदान करे, युद्ध में हमारा सैन्य अग्रणी रहे। उस अग्नि के नेतृत्व में हम अन्न को सबको वितरित करके उसका स्वयं उपयोग करें। सबके अंतःकरणों को प्रकाशित करनेवाला परमेश्वर ही अग्नि है। इस मंत्र में 'वाज' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ 'अन्न' है और 'युद्ध' भी। ४४

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा वि भजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा[1]
वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं[2] यतस्व सदस्यैः[3] ॥४५॥

रूपेण	अपनी छाया या रूपाकार के अनुरूप		
वः रूप	(मैं) तुम्हारे स्वरूप को	तुथः	सबसे अधिक ज्ञानी तुम
अभि आ अगाम्	देखता हूं।	स्वः	सूर्य के समान
विश्ववेदाः	सबको जाननेवाले ज्ञानी	ऋतस्य पथा	सत्य के मार्ग से
वः	तुम लोगो को	अन्तरिक्षम्	अन्तरिक्ष को
वि भजतु	अलग-अलग कार्यों में विभक्त करें।	वि पश्य	उत्तम रीति से देखो।
		सदस्यः	सभासदों के साथ
		प्र यतस्व	विशेष प्रयत्न करो।

१ देना; २ आगे चलना; ३ बांटना।

ते	तुम्हें	उक्ति विधेम	और यह वचन कहते हैं।
भूयिष्ठाम् नमः	हम बहुत आदर-पूर्ण नमस्कार है	स्वाहा	तुम्हें यह आहुति अर्पित है ॥ ४३ ॥

हे अग्ने ! हे सर्वप्रकाशक ! हे परमेश्वर।
दिव्य गुणों के अधिष्ठान[1] तुम नित्य निरंतर ॥
सत्पथ से ले चलो हमें ऐश्वर्य-प्राप्ति हित।
हो समस्त मार्गों के ज्ञाता तुम्हीं देव ! नित ॥
अंतर के सब पाप-दुरित कौटिल्य हरो तुम।
अंतर्यामिन् ! योगसिद्धियाँ प्राप्त करें हम ॥
भक्ति तुम्हारी रहे सदा अन्तर में ऊर्जित।
द्रवित-चित्त हे देव ! तुम्हारा स्मरण करें नित ॥
हों सब पापी कुटिल युद्ध हित हमसे प्रेरित।
पापी दुर्जन करें युद्ध में हम उन्मूलित[2] ॥
अतिशय नत हो सूक्ति-सुमन[3] करते अर्पित हम।
स्वाहा कह दे रहे पूत हवि करो वरण तुम ॥ ४३ ॥

टि०—अनेकानेक वैदिक मंत्रों में भगवान से ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। किंतु उसके साथ यह शर्त लगी हुई है कि ऐश्वर्य सन्मार्ग पर चलकर ही प्राप्त किया जाय। इस मंत्र की दूसरी विशेषता है, भगवान से यह प्रार्थना की गयी है कि दुष्टों और पापियों को सत्पुरुषों के साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित करो। सज्जनों से युद्ध करके ही पापी उन्मूलित हो सकते हैं, नष्ट हो सकते है। रावण राम के साथ युद्ध करके ही विनष्ट हुआ। कंस को भी नारद ने वसुदेव के बालकों का वध करने की प्रेरणा दी, तभी वह नष्ट हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। महर्षि दयानंद के अनुसार इस मंत्र में परमात्मा की प्रेमलक्षणा-भक्ति का उपदेश किया गया है। उसके बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती। ४३

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ
शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥४४॥

अयं अग्निः	यह अग्नि	वरिवः कृणोतु	धन प्रदान करे।
नः	हम लोगों को	अयं	यह

१ आधार; २ जड़ से उखड़े हुए; ३ सुन्दर-सुन्दर उक्तियों से युक्त।

अस्मद् राताः	हमारे द्वारा दी गई सम्पूर्ण दक्षिणा	गच्छत	जाये।
देवत्रा	देवताओं के द्वारा अधिष्ठित ऋत्विजों के पास	प्रदातारम्	उत्कृष्ट दानशील यजमान में
		आ विशत	(इस यज्ञ का फल) प्रवेश करे ॥ ४६ ॥

हों प्राप्त हमें वे ब्रह्मतत्त्व-ज्ञाता ब्राह्मण।
हो रहे पिता जिनके संतत शुभ-कर्मप्रवण[1] ॥
ज्ञानी, मंत्रज्ञ, परावरविद् का जो अपत्य॥
कर्मों से मान्य पितामह जिसके रहे नित्य।
अनवद्य[2] कर्म में निरत[3] रहे हों आजीवन[4]।
ऐसे ब्राह्मण पा करें दक्षिणा हम अर्पण॥
जो करता हो उत्तम दानव्रत का पालन।
देते सुधातु[5] दक्षिणा रहे हों जो अनुदिन॥
जो करे सदा शुभ गुणकर्मों का संप्रेरण।
हों प्राप्त हमें प्रभु! ऐसे पुण्यव्रती ब्राह्मण॥
ऐसे ब्राह्मण विद्वज्जन को हम करें दान।
देवता तृप्त हों, ऋत्विज्गण[6] का बढ़े मान॥
पावे दाता यजमान यज्ञ का फल उत्तम।
गुण कर्मवान् शुचि प्राप्त करें प्रभु! ब्राह्मण हम॥ ४६॥

टि०—इस मंत्र में ब्राह्मण के जीवन की परिभाषा की गई है। ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मतत्त्व का ज्ञाता है, मंत्रज्ञ है, इस लोक और परलोक के सब विषयों का जिसको ज्ञान है, और जिसकी परंपरा सदैव अनिद्य रही है और जिसके गुण, कर्म और स्वभाव नितान्त पवित्र हैं। इतना ही नहीं, ब्राह्मण की पैतृक परंपरा का उत्कृष्ट होना भी आवश्यक है। जिसके पिता और पितामह विद्वान होने के साथ अपने गुण और कर्मों से मान्य रहे हों, वही व्यक्ति ब्राह्मण कहे जाने का अधिकारी है। ब्राह्मण के लिए दानी होना भी आवश्यक है। ऐसे ब्राह्मण को पाकर यज्ञकर्म सिद्ध होता है। ऐसे ब्राह्मण को दान देने से देवता प्रसन्न होते हैं। समाज को ऐसे ब्राह्मणों की आवश्यकता है। ऐसे ब्राह्मणों को पाकर ही समाज की उन्नति होती है, विश्व का कल्याण होता है। इस मंत्र में ब्राह्मणत्व के देश-काल-जाति-संप्रदाय-निरपेक्ष शाश्वत लोक-कल्याणकारी आदर्श की व्याख्या की गई है। ४६

---

१ मंगलकारी कर्मों में लगा हुआ; २ जो निंदनीय न हो; ३ लगा हुआ; ४ जीवन-भर; ५ धातु के अनेक अर्थ हैं। पंचतत्त्वों को भी धातु कहते हैं। पंचतत्त्वों के सम्यक् ज्ञान का दान जो करे, आत्म-अनात्म का विवेक जो दे, वह 'सुधाता' दक्षिणा देनेवाला कहा जा सकता है। साधारण अर्थ में सुधातु-दक्षिणा का अर्थ सोने-चाँदी का दान है; ६ यज्ञ के पुरोहित के रूप में कार्य करनेवाला।

चन्द्रदक्षिणाः	हे सुवर्ण का दान करनेवाले !	वि इत	धर्म को विशेष रूप से प्राप्त करो ॥ ४५ ॥

उत्तम हो अपनी दृष्टि और दर्शन उत्तम।
उत्तम स्वदृष्टि से ही हैं तुम्हें देखते हम॥
सर्वज्ञ तुम्हारा कार्य-विभाजन करें उचित।
ऋतपंथी[1] रवि से अंतरिक्ष को देखो नित॥
सब सभासदों के साथ रहो तुम यत्नवान।
सत्पथ पर चलते हुए करो उन्नति महान॥
तुम चन्द्रदक्षिणा विदित, स्वर्णदानी अविरत।
सेवन स्वधर्म का करो विशेष अशेष[2] सतत॥ ४५॥

टि०—इस मंत्र में कई संदर्भ जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। पहला संदर्भ है, अपनी दृष्टि उत्तम और निष्पक्ष रहने पर ही दूसरों को उत्तम दृष्टि से देखा जा सकता है। इसलिए अपनी दृष्टि, अपना दृष्टिकोण शुद्ध रहना चाहिए। दूसरा संदर्भ है, सब कुछ जाननेवाले ज्ञानीजन समाज में कार्य-विभाजन करें। वे ही पात्रता देखकर कार्य और अधिकार का विभाजन कर सकते हैं। तीसरा संदर्भ सत्य के मार्ग से चलकर अंतरिक्ष को देखने का है। अंतरिक्ष अनंतता का बोधक है, उसकी व्यापकता की सीमा नहीं। सत्य के मार्ग पर चलकर ही यह अनंत ज्ञान—ब्रह्मज्ञान—प्राप्त किया जा सकता है। हमारी अन्य सब विद्याएँ—राजनीति, अर्थनीति आदि उसी व्यापक दृष्टिकोण से प्रेरित हों। ऋत का मार्ग, सत्य का मार्ग सबका आधार हो। अंत में सुवर्ण का दान करनेवालों को संबोधित किया गया है। सुवर्ण के दान का अर्थ सबसे महान दान हो सकता है। ऐसा महान दान करनेवाले धर्म के अशेष रूप को अपने विशेष तप आदि के द्वारा प्राप्त करें। ४५

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं
पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमा विशत ॥४६॥

अद्य	(मैं) आज	आर्षेयम्	ज्ञान से विख्यात,
पितृमन्तम्	यशस्वी पिता के पुत्र,	सुधातु दक्षिणम्	जिनके पास स्वर्ण-दक्षिणा का संचय होता रहता है,
पैतृमत्यम्	जनमान्य पितामह वाले	ब्राह्मणम्	ऐसे ब्राह्मण को
ऋषिम्	मन्त्रद्रष्टा,	विदेयम	मैं प्राप्त करूँ।

१ सत्य के मार्ग पर चलनेवाला; २ सम्पूर्ण।

प्रतिग्रहीत्रे	विद्या का ग्रहण करनेवाले	अशीय	प्राप्त करूँ।
मह्यम्	मुझ शिष्य के लिए	दात्रे	उस ब्रह्मविद्या के देनेवाले विद्वान के
मयः	सुख दो।		
यमाय	जिस यम के लिए	हयः एधि	ब्रह्मज्ञाने की वृद्धि करो।
मह्यम्	मुझे		
त्वा	तुम्हें	प्रतिग्रहीत्रे	मोक्ष-विद्या के ग्रहण करनेवाले
वरुणः	वरुण		
ददातु	दे दे,	मह्यम्	मेरे लिए
सः	वह मैं	वयः	दीर्घायु प्राप्त कराओ ॥ ४७ ॥
अमृतत्वम्	मुक्ति के सुख को		

चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत कर धारण।
अग्नि-सा तेज तप से है मैंने किया वरण॥
विद्वान वरेण्य मिले गुरु मुझको शास्त्रसिद्ध।
अमृतत्व प्राप्त मैं करूँ सतत बन कर्म-शुद्ध॥
मेरे गुरुवर हैं दानशील विद्या-निधान।
हे वरुणदेव! उनको दीर्घायु करो प्रदान॥
मुझ अंतेवासी का भी हो सुखमय जीवन।
तुम करो निरंतर मेरे सुख का संवर्धन॥
चालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत कर पालन।
मैं रुद्ररूप आचार्य! तुम्हारा करूँ वरण॥
शुचि कर्मयोग-साधना-निरत मैं रहूँ आप्त।
हे वरुण! करूँ मैं इस तप से अमरत्व प्राप्त॥
विद्यादानी गुरु-प्राणों को दो शक्तिदान।
मुझ अंतेवासी को दीर्घायु करो प्रदान॥
संवत्सर अड़तालीस करूँ दृढ़ तप-साधन।
मैं करूँ ब्रह्मचारी बन नित ज्ञानाराधन॥
मैं रहूँ बृहस्पति-सदृश सतत स्वाध्याय-निरत।
हों प्राप्त मुझे गुरुरूप वरुण! विद्वान सुव्रत॥
मैं अपने तप से करूँ परम अमृतत्व वरण।
प्रति ऋतु में हो मेरे गुरु का सुख-संवर्धन॥
मैं प्रतिग्रहीता शिष्य प्राप्त कर पूर्ण ज्ञान।
निष्णात बनूँ सब विद्याओं में मैं महान॥

अ॒ग्नये॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॑ऽमृ॒त॒त्त्वम॑शी॒यायु॑र्दा॒त्र ए॑धि॒ मयो॒ मह्यं॑ प्रति॒ग्र॒ही॒त्रे॑[1] रु॒द्राय॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॑ऽमृ॒त॒त्त्वम॑शीय प्रा॒णो दा॒त्र ए॑धि॒ वयो॒ मह्यं॑ प्रति॒ग्र॒ही॒त्रे॑[2] बृह॒स्पत॑ये त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॑ऽमृ॒त॒त्त्वम॑शीय॒ त्वग्दा॒त्र ए॑धि॒ मयो॒ मह्यं॑ प्रति॒ग्र॒ही॒त्रे॑[3] य॒माय॑ त्वा॒ मह्यं॒ वरु॑णो ददातु॒ सो॑ऽमृ॒त॒त्त्वम॑शीय॒ हयो॑ दा॒त्र ए॑धि॒ वयो॒ मह्यं॑ प्रति॒ग्र॒ही॒त्रे॑[4] ॥ ४७ ॥

अग्नये	अग्नि के समान (तेजस्वी होने के हेतु)
मह्यम्	मुझको,
त्वा	तुमको
वरुणः	सर्वोत्तम विद्वान वरुण
ददातु	दे दे,
सः	वह मैं
अमृतत्त्वम्	अमृतत्व को
अशीय	प्राप्त होऊँ।
दात्रे	दानी को
आयुः एधि	दीर्घायु प्रदान करो।
प्रतिग्रहीत्रे	विद्या ग्रहण करनेवाले
मह्यम्	मुझको
मयः	सुख दो।
रुद्राय	चालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करके रुद्र के गुण धारण करने की इच्छा करनेवाले
मह्यम्	मुझको
त्वा वरुणः	तुम श्रेष्ठ वरणीय विद्वान के हाथ
ददातु	प्रदान करो।
सः	वह मैं
अमृतत्वम्	अमृतत्व को
आशीय	प्राप्त होऊँ।
दात्रे	विद्यादाता विद्वान् को
प्राणः एधि	प्राण का बल दो।
प्रतिग्रहीत्रे	विद्या ग्रहण करनेवाले
मह्यम्	मेरे लिए
वयः	दीर्घायु प्रदान करो।
बृहस्पतये	जिस मुझ बृहस्पति
मह्यम्	के लिए
त्वा	तुमको
वरुणः ददातु	उत्तम वरणीय विद्वान देवे
सः	वह मैं
अमृतत्त्वम् अशीय	अमृतत्व का भोग करूं।
दात्रे	पूर्ण विद्या प्रदान करनेवाले। विद्वान के लिए
त्वक् एधि	स्पर्श का सुख बढाओ।

निखिल चराचर जगत काम का ही है सर्जन[1]।
हैं जितने व्यापार काम ही सबका कारण ॥ ४८ ॥

टि०—इस मंत्र में जो दो प्रश्न उठाये गये हैं, उनके विभिन्न अर्थ कुछ भाष्यकारों ने किये हैं। उनका कहना है, जिस परमेश्वर की कामना सब करते हैं, वह परमेश्वर ही होता है। वह परमेश्वर जीव के लिए देता है। जिसकी ऋषि, मुनि और योगी कामना करते हैं, वह परमेश्वर दाता है। कामना करनेवाला जीव लेनेवाला है। हे परमेश्वर ! हे परम चरम काम्य ! यह सब कुछ तुम्हारा ही है, तुम सबके कारण हो। कुछ विद्वानों का कहना है, इसमें कामदेवता के मूल वैदिक रूप का निर्देश है। आगे चलकर काम के उस व्यापक रूप का अपकर्ष हुआ और वह मात्र रूप और आसक्ति का देवता बन गया। ४८

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

---

१ रचना।

हे वरुण करो आचार्य मुझे यम-सा प्रदान।
ब्रह्मज्ञ करें वे मुझे मोक्षविद्या प्रदान॥
ब्रह्मज्ञ मनीषी गुरु का करो ज्ञान-वर्धन।
आनंद मोक्ष का जीवन में मैं करूँ वरण॥
आजीवन करता रहूँ मोक्षसुख-आस्वादन।
हे वरुण! निरंतर करो आयु का संवर्धन॥ ४७॥

टि०—इस मंत्र में चौबीस वर्ष, चालीस वर्ष और अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेवाले तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों का वर्णन है। ये ब्रह्मचारी अपने अनुरूप विद्यादाता गुरु को प्राप्त करने के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं। वे ब्रह्मचारी अपने गुरु की दीर्घायु की कामना करते हैं और अपने लिए अमृतत्व-सिद्धि की याचना करते है। इस मंत्र में गुरु और शिष्य के संबंध का बड़ा उदात्त रूप निर्दिष्ट है। हमारे देश के साधना-परायण विद्यार्थियों का जो आदर्श इस मंत्र में निरूपित है, वह हमारे कालजयी इतिहास का अंग है। ४७

कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥ ४८॥

[अध्याय: ७, कण्डिका: ४८, मंत्र-संख्या १४०]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः॥

कः	कौन	अदात्	देता है।
अदात्	देता है ?	कामः दाता	काम ही दाता है।
कस्मै	किसके लिए	कामः प्रतिग्रहीता	काम ही लेने वाला है।
अदात्	देता है ?	काम	हे काम!
कामः	काम (ही)	ते एतत्	तुम्हारे लिए यह सब है॥ ४८॥
अदात्	देता है।		
कामाय	काम को ही		

देनेवाला कौन? और किसको देता वह?।
देनेवाला काम, काम को ही देता वह॥
दाता अविरत काम, काम है प्रतिग्रहीता[1]।
अये काम! तेरे द्वारा यह सृष्टि प्रणोता[2]॥

[1] लेनेवाला, [2] बनायी गयी।

इन्द्र	हे इन्द्र !	इन्नु भूयः	यजमान के द्वारा अर्पित हवि के बदले में
कदाचन	(तुम) कभी भी	ते देवस्य दानम्	तुम देव का दान
स्तरीः	हिंसक	उपपृच्यते	बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है।
न असि	नहीं हो।	आदित्येभ्यः	आदित्यों की प्रीति के लिए (मैं)
दाशुषे	दाता के लिए	त्वा	तुम्हारी उपासना करता हूँ ॥ २ ॥
उप नु उप	अत्यन्त समीप के		
इत्	स्थान में		
सश्चसि	रहते हो।		
मघवन्	हे धनैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र !		

हे इन्द्र ! कभी भी तुम न रहे हो हिंसापर[1] ।
दाता के अतिशय निकट वास तुमको प्रियतर ॥
हे मघवन् ! उत्तम धन-वैभव से तुम मंडित ।
याजक को हवि या देते हो तुम दान अमित ॥
आहुति पा देते हो याजक को श्री विशेष ।
करते रहते हो हम सबका मंगल अशेष[2] ॥
आदित्यों की हो प्रीति प्राप्त हम सबको नित ।
हे इन्द्र ! दान दो हम सबको सविशेष[3] अमित ॥ २ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह निर्देश है कि इन्द्रियों की शक्ति के परम चरम स्रोत इन्द्र को दानी मनुष्य प्रिय हैं। वेद में इन्द्र प्रायः परमेश्वरवाची है। वे ही हृषीकेश हैं। वे दानशील व्यक्ति के निकट रहकर उसका योगक्षेम वहन करते हैं। जो यज्ञ-कर्ता उन्हें आहुति देते हैं, उनको वे अपना विशेष कृपा-प्रसाद प्रदान करते हैं। आदित्यों जैसा तेज, ओज और अविद्या के अन्धकार को दूर करनेवाला दिव्य ज्ञान मि॰१, इसलिए इन्द्र की उपासना की जाती है। इन्द्र को हिंसा प्रिय नहीं। २

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं
दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

आदित्य	हे प्रकाशमान आदित्य !	प्र युच्छसि	प्रमाद नहीं करता है।
कदाचन	कभी भी (तू)	उभे जन्मनी	दोनों जन्मों के

१ हिंसा में लगे हुए; २ पूर्ण; ३ विशेषतायुक्त ।

अथ अष्टमोऽध्यायः

उपयामगृहीतोऽस्या—दित्येभ्यस्त्वा[२]।
विष्णो उरुगायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्[३] ॥१॥

उपयामगृहीतः	(तू) नियमों से बँधा	उरुगाय	हे महान् कीर्ति वाले !
असि	है ।	एष सोमः	यह सोम
त्वा	तुझे	ते	तेरे लिए है।
आदित्येभ्यः	सूर्य के समान तेजस्वियों को (देता हूँ)	तम्	उसकी
		रक्षस्व	रक्षा करो।
		त्वा	तुझको
		मा दभन्	(शत्रु) पीड़ा न दें ॥ १ ॥
विष्णोः	हे व्यापक ईश्वर !		

अष्टम अध्याय

उपयामगृहीत पुनीत यम - नियम कर धारण ! ।
ये रवि-से तेजस्वी विद्वज्जन, करो वरण ॥
जिनके यश का जग में होता है विपुल गान ।
सर्वव्यापी वे विष्णु करें यह सोमपान ! ॥
हे देव ! रहे यह सोम सदा तुमसे रक्षित ।
कर सकें शत्रुगण तुमको नहीं दमित विधमित[१] ! ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में यह निर्देश है कि यम-नियमादि सम्यक पालन करते हुए यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। यज्ञ की सफलता के लिए सूर्य जैसे तेजस्वी विद्वानों का वरण किया जाना चाहिए। सर्वव्यापक परमेश्वर विष्णु ही यज्ञपति है। सोमपान करने के लिए उनका आह्वान किया जाना चाहिए। विष्णु की कृपा से शत्रु तुझे दबा नहीं सकेंगे। इस मंत्र में विष्णु के लिए 'उरुगाय' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'उरुगाय' का अर्थ है महान कीर्तिवाले। १

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं
देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

---

१ पराजित, प्रताड़ित ।

यज्ञः	यज्ञ	अंहुः चित्	पापकारी की मति
देवानाम्	देवों के	या	जो
सुम्नम्	सुख के लिए	वरिवोवित्तरा	केवल धन प्राप्त करने में लगी रहती है,
प्रत्येति	आता है।		
आदित्यासः	हे आदित्यगणो !		
आमृडयन्तः	सबके लिए सुखकारी	असत्	(वह हमारे साथ) मिलकर रहे।
भवत	होकर रहो।	आदित्येभ्यः	आदित्यों की प्रीति के निमित्त
वः	तुम्हारी जो		
सुमतिः	उत्तम बुद्धि है (वह)	त्वा	तुमको (ग्रहण करता हूँ)॥ ४ ॥
अर्वाची आववृत्यात्	हमारे पास आकर रहे।		

देवों के सुख के हेतु यज्ञ आता है।
सबके हित नित वह पुष्टि-तुष्टिदाता है॥
आदित्यगणो ! तुम हो सबको सुखकारी।
सद्बुद्धि प्राप्त हो हमको देव ! तुम्हारी॥
पापी की मति रहती धन में रत अविरत।
वह असत् पंथ तज बने सत्य-सेवन-रत॥
आदित्यगणों का आप्त[1] ज्ञान सब पावें।
वह ज्ञान वरण कर जीवन सफल बनावें॥ ४॥

टि०—यज्ञ का महोत्सव देवों को सुख प्रदान करने के लिए होता है। बारहों आदित्य यज्ञ से परितुष्ट होकर सद्बुद्धि प्रदान करते हैं। पापियों की पापबुद्धि भी यज्ञीय वातावरण में बदल जाती है। पापी मनुष्य येनकेनप्रकारेण धनार्जन को जीवन का लक्ष्य मानता है। उसकी बुद्धि शुद्ध हो, यह प्रार्थना इस मन्त्र में की गई है। आदित्य ज्ञान देता है, उनका ज्ञान सबको प्राप्त हो। ४

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।
अदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ ५ ॥

विवस्वन् आदित्य	सबका निवास करानेवाले आदित्य !	ते	तुम्हारा
एषः	यह	सोमपीथः	सोमरस पीने का स्थान है।

१ प्रामाणिक।

निपासि	कर्त्तव्य का पालन उत्तम रीति से (तू) करता है।	दिवि	(तेरा) प्रकाशमय ज्ञान
तुरीय	सबसे अधिक उच्च बनकर रहनेवाला	अमृतम्	अविनाशी होकर
ते सवनम्	तेरा यज्ञीय जीवन	आतस्थौ	स्थिर रहा है।
इन्द्रियम्	इन्द्र की शक्ति से युक्त होकर,	त्वा	तू
		आदित्येभ्यः	ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

तुम ब्रह्मचर्य-व्रत निरत रहे हो दीर्घकाल।
संवत्सर अड़तालीस किया है तप विशाल॥
आदित्य सदृश तुम हो आदित्य! प्रकाशमान।
आश्रमद्वय के नियमों के पालक तुम महान्॥
की प्राप्त स्वीय[1] तप से तुमने यह स्थिति तुरीय[2]।
है ज्ञान तुम्हारा ज्योतिर्मय अक्षर वरीय[3]॥
वह अमर अखंड अनंत पुण्य-प्रेरणावान।
यज्ञमय तुम्हारा जीवन है स्वर्गीय गान॥
है ब्रह्मचारियों में तुम-सा कोई न अन्य।
ऐश्वर्यवान सविता[4] को तुम अर्पित अनन्य॥ ३ ॥

टि०—इस मन्त्र में उस ब्रह्मचारी के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, जिसने अड़तालीस वर्षों तक अखंड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है। अड़तालीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करनेवाला सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है, इसलिए उसे आदित्य कहते हैं। वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दोनों आश्रमों के नियमों का सम्यक निर्वाह करता है। उसका ज्ञान, अमर, अखंड और अविनश्वर होता है और सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय बन जाता है। उसकी इन्द्रियों में अन्तर्निहित इन्द्र की शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। उसका जीवन दूसरों के लिए आदर्श होता है। स्वर्गीय संगीत उसके जीवन में बाहर-भीतर ओतप्रोत रहता है। ३

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या
वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

---

१ अपनी; २ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय —ये चार अवस्थाएँ होती हैं। तुरीय का अर्थ है सबसे, श्रेष्ठ; ३ वरण करने योग्य, परमोत्तम; ४ सबको उत्पन्न करनेवाले देवता सूर्य, सृष्टिकर्ता परमेश्वर।

सवितः	हे सबके उत्पादक !	देव	हे दिव्य गुणयुक्त !
अद्य	आज	हि	निश्चय ही
वामम्	उत्तम सुख	वामस्य भूरेः	बहुत उत्तम ऐश्वर्य से युक्त
सावीः	उत्पन्न करो।	क्षयस्य	घर में रहनेवाले
उं श्वः	आनेवाले दिन के लिए सुख दो;	अया धिया	हम लोग उत्तम बुद्धि से
अस्मभ्यं	हमारे लिए	वामभाजः	उत्तम सुखों का भोग करनेवाले
दिवे दिवे	प्रतिदिन	स्याम	हों ॥ ६ ॥
वामम्	उत्तम सुख उत्पन्न करो।		

हे सविता ! निखिल चराचर के उत्पादक।
तुम आज बनो अतिउत्तम सुख के साधक ॥
कल भी परमोत्तम सुख-साधन विस्तारो।
प्रतिदिन जीवन में अक्षय सुख संचारो ॥
हे देव ! दिव्य गुणगान अनंत सदा तुम।
सर्वोत्तम ऐश्वर्यों से हों मंडित हम ॥
हे देवदेव ! तुम भूरि-भूरि सुखदाता।
इस गृह के हम सबके सद्बुद्धिप्रदाता ॥
सद्बुद्धि यही है सकल सुखों का कारण।
भोगें सुख हम शुद्ध बुद्धि कर धारण ॥ ६ ॥

टि०—इस मन्त्र का मूल स्वर है, सविता देवता सद्बुद्धि प्रदान करें। सद्बुद्धि द्वारा ही सब सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। सद्बुद्धि से ही जीवन का प्रत्येक दिन सुखमय बनता है और अनंत ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र में भी सविता देवता से सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। मनुष्य जब तक सद्बुद्धि से प्रेरित रहता है, तभी तक सुखी रहता है। विशेष रूप से यह गृहस्थों का प्रार्थना-मन्त्र है। ६

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि
चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतः असि	(तू) नियमों से बँधा है।	चनोधाः	उपासक और अन्न-समृद्धि को धारण करनेवाला
सावित्रः	सविता का		

तस्मिन्	उसमें
विश्वाहा	सब दिन
मत्स्व	आनन्दित होकर रहो।
नरः	हे मनुष्यो !
अस्मै	इस
वचंसे	भाषण के लिए
अत् दधातन	सत्यबल ही धारण करो।
यत्	जब
गृहे	गृहस्थाश्रम में
दम्पती वामं	पति-पत्नी धर्म का
अश्नुतः	पालन करते हैं,(तब)
आशीर्दा अरपः	आशीर्वाद देने में समर्थ
पुमान् पुत्रः	पुरुषार्थी पुत्र
जायते	उत्पन्न होता है;
वसु	(वह) धन
विन्दते	प्राप्त करता है;
अधः एधते	तदनन्तर वह विद्या और धन से बढ़ता है।। ५ ।।

आदित्य विवस्वन् ! आओ, आओ, आओ।
यह सोमपीठ[1] है सोम पियो, सुख पाओ।।
तुममें सबके संवासन[2] की है क्षमता।
चिरकाल मन यहाँ रहे तुम्हारा रमता।।
मानवो ! करो तुम सत्य पूत[3] निज भाषण।
मेरी यह वाणी करो हृदय में धारण।।
जब श्लाघ्य धर्मव्रत करते दम्पति पालन।
तब जाता वह गार्हस्थ्य दिव्य नंदन बन।।
तब पाते दम्पति पुत्र अपाप अनुत्तम[4]।
पुरुषार्थी अशीर्दा[5] अमोघ अति सक्षम।।
करता रहता है प्राप्त पुत्र वह वैभव।
विद्या, धन बढ़ते रहते उसके नित नव।। ५ ।।

टि०—इस मंत्र में आदित्य को विवस्वन् कहकर संबोधित किया गया है। कारण उनमें सबको बसाने की क्षमता है। यज्ञभूमि में उनका आवाहन किया गया है। वे वहाँ सोम पियें और सब दिन निवास करें। इस मन्त्र में यह भी कहा गया है, जिस घर में पति-पत्नी धर्म-नियमों का पालन करते है, वह स्वर्ग का प्रतिरूप बन जाता है। ऐसे दम्पति को निष्पाप, अमोघवाक् परमपुरुषार्थी पुत्र की प्राप्ति होती है। ५

वाममद्य संवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यंꣳ सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

---

१ सोमरस पीने का स्थान; २ बसाना; ३ सत्य भाषण से पवित्र; ४ जिससे उत्तम और नहीं है; ५ अमोघ आशीर्वाद देने में समर्थ।

उपयामगृहीतः	(तू) सुनियमों से बद्ध
असि	है,
सुशर्मा	उत्तम सुखकारी
सुप्रतिष्ठानः असि	घरवाला है।
बृहद् उक्षाय	बड़े कार्य-भार को वहन करनेवाले को (मेरा)
नमः	नमस्कार है।
त्वा	तुझको
विश्वेभ्यः देवेभ्यः	समस्त देवकल्प विद्वानों के लिए नियुक्त करता हूँ।
एषः	यह
ते योनिः	तेरा जन्मस्थान है।
विश्वेभ्यः देवेभ्यः	समस्त देवताओं के लिए
त्वा	तुझे (स्थापित करता हूँ) ॥ ८ ॥

उपयामगृहीत पुनीत गृहीजन हो तुम।
शुचि, सुखकारक गृह के अधिवासी हो तुम॥
कार्य का भार है अतिशय बृहत् तुम्हारा।
तुमने समाज के पोषण का व्रत धारा॥
सब वर्ण और आश्रम तुमसे ही पालित।
सब देव तुम्हीं से यज्ञों द्वारा लालित[1]॥
गार्हस्थ्य! तुम्हें हम करते नमन निरंतर।
कृतकृत्य बनो विद्वज्जन की सेवा कर॥
तुम हो नियुक्त विद्वानों की सेवा हित।
तुम हो नियुक्त देवों के हित-साधन हित॥ ८॥

टि०—इस मन्त्र में भी गृहस्थाश्रम की महिमा बताई गई है। गृहस्थ के सब कर्म, सब भोग धर्म के नियमों से बंधे होते हैं। तुम्हारे धर्माचरण ने तुम्हारे आवास को सुखमय बनाया है। गृहस्थ ही समाज के सब घटकों-वर्णो और आश्रमों के भरण-पोषण का निमित्त होता है। इसलिए उसका भार, उसका उत्तरदायित्व महान से महान् होता है। विद्वानों और देवताओं की पुष्टि-तुष्टि भी गृहस्थों के द्वारा होती है। ८

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त
इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२ ऋध्यासम्।
अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत्।
अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ ९ ॥

---

१ परितुष्ट।

असि	है।	जिन्व	सम्पूर्ण कर।
चनोधाः	अन्न-समृद्धि को धारण करनेवाला	यज्ञपतिं	यज्ञपति को।
		जिन्व	परिपूर्ण कर।
असि	है।	भगाय	ऐश्वर्य के लिए,
मयि	मुझे	देवाय	देवता के लिए
चनः	अन्न	सवित्रे	सविता के लिए
धेहि	प्रदान कर।	त्वा	तुझको नियुक्त
यज्ञं	यज्ञ को		करता हूँ ॥ ७ ॥

हे गृहीजनो! उपयामगृहीत सदा तुम।
यम-नियम-बद्ध जीवन-पथ यह सर्वोत्तम॥
तुम विश्वप्रसविता[1] सविता के आराधक।
अन्नोत्पादन की वृद्धि-ऋद्धि के साधक॥
अन्नादि वस्तुओं के तुम संग्रहकर्ता।
दे अन्नदान हम सबके पोषणकर्त्ता॥
यह यज्ञ करो तुम पूर्ण अन्न दे हमको।
कृतकृत्य करो यजमान, श्रेय सब तुमको॥
तुम हो नियुक्त सविता के आराधन हित।
अन्नोत्पादन की वृद्धि करो, तुम नव नित॥ ७ ॥

टि०—इस मंत्र में गृहीजनों अर्थात् गृहस्थों को सम्बोधित किया गया है। गृहस्थ जन यम-नियमों का पालन करते हुए विश्व को उत्पन्न करनेवाले सविता की आराधना करते हैं। सविता ही गृहीजनों के इष्टदेव हैं। कारण, जिस प्रकार सविता विश्व का उत्पादन करते है, उसी तरह गृहस्थ भी अन्नादि का उत्पादन कर समाज का भरण-पोषण करते हैं। वे जो अन्न पैदा करते हैं, उसी के द्वारा यजमानों के यज्ञ पूर्ण होते हैं। इस प्रकार अन्न-वस्त्र आदि को उत्पन्न करनेवाले गृहस्थ चराचर जगत को उत्पन्न करनेवाले, निरंतर श्रम करनेवाले सविता देवता के आदर्श का अनुसरण करते हैं। गृहस्थ अन्न का संग्रह कर शुभ कर्मों के लिए उसका दान करते है। ७

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्माऽसि
सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते
योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

---

१ चराचर जगत् को उत्पन्न करनेवाले।

विद्वानों ने है परमतत्त्व जो पाया ॥
मैंने वह पाने का संकल्प जगाया ।
विद्वज्जन द्वारा दहर-देश[1] में संस्थित ॥
वह परम सत्य का तत्त्व रहे अधिगत[2] नित ॥ ९ ॥

टि०—यह मन्त्र परम चरम सत्यतत्त्व को प्राप्त करने के मानव-संकल्प को जाग्रत् करता है। सोम को सम्बोधित करता हुआ मानव कहता है, तुम मूर्तिमान आह्लाद तत्त्व हो। तुम्हारी आह्लाद प्रदान करनेवाली शक्ति ही तुम्हारी सहधर्मिणी है—वही सुख का उत्पादन करती है। मैं तुम्हारी उस आह्लादिनी शक्ति के प्रसाद को अपने अंग-अंग में धारण कर तुम्हारे भीतर निहित परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार का संकल्प ग्रहण करता हूँ। वह परम तत्त्व दूर से दूर है, निकट से निकट है, वह अन्तरिक्ष में व्याप्त है, सूर्य के इस पार और उस पार भी वही है। "तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।" वही सत्यद्रष्टा विद्वान दहर-देश में विद्यमान है। यही दहर-विद्या है। वह मुझे प्राप्त हो। ९

अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा।
प्रजापतिर्वृषाऽसि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते
वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥१०॥

अग्ने	हे तेजस्वी देव !
सजूः	समान प्रीति करने वाले तुम
देवेन	दिव्य सुख देनेवाले,
त्वष्ट्रा	समस्त दुःख का नाश करनेवाले
स्वाहा	सत्य वाणी के द्वारा बनाये
सोमम्	सोम को
पिब	पियो।
पत्नीवन्	हे पत्नी से युक्त !
वृषा	वीर्यवान,
रेतोधाः	वीर्य धारण करनेवाले,
प्रजापतिः	सन्तान के पालने वाले
असि	(तुम) हो।
मयि	मुझमें
रेतः धेहि	वीर्य धारण करो।
वृष्णः	(मैं) बलवान,
रेतोधसः	वीर्यवान,
प्रजापतेः	संतानादि की रक्षा करनेवाले
ते	तुम्हारे (अनुग्रह से)
रेतोधां	अति वीर्यवान् पराक्रमी पुत्र को
अशीय	प्राप्त होऊं ॥१०॥

१ हृदय-गुंफा; २ प्राप्त, अधिकार में।

उपयामगृहीतः	(तू) यम-नियमों से बँधा
असि	है।
देव सोम	हे देव सोम !
इन्द्रियावतः	ऐश्वर्यवान
इन्द्रोः	सबके आह्लादक,
पत्नीवतः	अपनी पालक-शक्ति से युक्त
बृहस्पतिसुतस्य	बड़ी वेदवाणी के पालक बृहस्पति के पुत्र
ते	तेरे निमित्त
ग्रहान्	अंगों को
ऋध्यासम्	समृद्ध करता हूँ।
अहं	मैं
परस्तात्	दूर से
अवस्तात्	समीप से (वृद्धि प्राप्त करूं)।
यद् अन्तरिक्षं	जो अन्तरिक्ष है,
तत् उमे	वह मेरा
पिता अभूत्	पालक ही है।
अहं	मैं
सूर्यम्	सूर्य को
उभयतः	दोनों ओर
ददर्श	देखूं,
देवानां	विद्वानों के
गुहा	हृदय में
यत्	जो
परमं	परम ज्ञान है (उसका दर्शन करूँ) ॥ ९ ॥

हे देव सोम ! उपयामगृहीत सदा तुम।
प्रेरणा तुम्हारी मिले, चाहते हैं हम॥
ऐश्वर्यवान हो तुम सबके आह्लादक।
हो पत्नी-सह तुम परम शक्ति-उत्पादक॥
हैं वेदगिरा के पालक जो विद्वज्जन।
उनसे पाकर मैंने सम्यक् संप्रेरण॥
मैंने अपना प्रति अंग समृद्ध बनाया।
मैं प्राप्त करूँ तुमको, संकल्प जगाया॥
जो तत्त्व दूरतम है, जो परम समीपी।
वह बने सुखों को मुक्ता की शुचि सीपी[1]॥
आगे-पीछे सब ओर वृद्धि हो मेरी।
इस अन्तरिक्ष से बरसे करुणा तेरी॥
यह अंतरिक्ष है सदा हमारा पालक।
मैं हूँ इस दिव का लालित अतिप्रिय बालक॥
मैं सूर्यदेव को उभयदिशा से देखूँ॥
पर अपर[2] तत्त्व उनके दोनों अवरेखूँ।

---

१ उस पवित्र तत्त्व की सीपी से हमको आनन्द का मोती मिले;　२ लौकिक और पारलौकिक;

त्वा	तुझको	सह सोमाः	सोम के साथ (तुम सब लोग)
हरिभ्यां	दुःख दूर करनेवाले और उसके संचालन के लिए (नियुक्त करता हूँ)।	इन्द्राय हर्योः धानाः स्थ	परमैश्वर्य पद के धारण करनेवाले हो ॥ ११ ॥

तुम धर्म-नियम से बंधे हुए हो मानव!।
तुम हर लो जग के दुख का यह दानव-दव[1] ॥
दुखहर्ता दुखहवि[2] के आयोजनकर्ता।
दोनों कार्यों के हो संचालनकर्ता ॥
तुम हो नियुक्त इन दोनों कार्यों के हित।
यह है मेरा ही काम, करो इसको नित ॥ ११ ॥

टि०—इस मन्त्र में मनुष्य के प्रति भगवान का संबोधन है। इसमें मनुष्य के लिए हरि शब्द का प्रयोग है। मनुष्य हरि है, क्योंकि उसमें सारे संसार का दुःख दूर करने की शक्ति है। भगवान ने कृपा कर मनुष्य को यह देह दी है तो दूसरों का दुःख दूर करने में ही उसका उपयोग करना चाहिए। मनुष्य दुःख तो दूर करे ही, जग के दुःख दूर करने की योजना भी बनावे। यह दुहरी ज़िम्मेदारी भगवान ने मनुष्य को सौंपी है। यह वेद का मानवतावाद है। वेद में जो 'हरि' शब्द मनुष्य के लिए आया है, वह आगे चलकर भगवान के लिए रूढ़ हो गया। ११

यस्ते॑ अश्व॒सनि॑र्भ॒क्षो यो गो॒स॒नि॒स्तस्य॑
त इ॒ष्टय॑जुष स्तु॒तस्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒-
स्योप॑हूत॒स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥१२॥

यः	जो	स्तुतस्तोमस्य	प्रशस्त स्तुति करनेवाले
ते	तेरा		
अश्वसनिः	घोड़ों से युक्त,	शस्तोक्थस्य	श्रेष्ठ विद्वान के साथ
यः गोसनिः	जो गायों से युक्त,	उपहूतस्य	आदरपूर्वक आमन्त्रित,
भक्षुः	अन्न का भोक्ता है,		
तस्य	उस	उपहूतः	बुलाया गया
इष्टयजुषः	यज्ञ करनेवाले,	भक्षयामि	(मैं) अन्न का भोग करता हूँ ॥ १२ ॥

---

१ दुःखों की दैत्य जैसी विकराल आग। यही संसार को जला रही है; २ दुःख हरण करने का कार्य।

हे अग्निदेव ! हे तेजस्वी परमात्मन् ।
करते हो प्रीति-समान सदा तुम धारण ॥
देखो, प्रस्तुत है सोम दिव्य सुखदाता ।
है सत्यवाक् ही इसका विदित विधाता ॥
यह सत्य सभी का करता है उत्पादन ।
तुम पियो सोम हे अग्निदेव पत्नीवन्[1] ॥
तुम वीर्यवान हो ओज-तेज के धारक ।
संतति-परम्परा के तुम पुण्य-प्रसारक[2] ॥
इस यज्ञकुण्ड में शुक्राधान[3] करो तुम ।
स्वाहा में अनुपम तेज-विधान करो तुम ॥
उपजाते हो तुम जैसी ज्वलित शिखायें ।
तेजस्वी वैसी ही संतति हम पायें ॥
हों पराक्रमी तुम जैसे पुत्र हमारे ।
नित वरद कृपा की छाया रहो पसारे ॥ १० ॥

टि०—इस मन्त्र में उत्तम तेजस्वी, परम पराक्रमी सन्तान देने की प्रार्थना अग्नि से की गई है। अग्नि परमात्मा है। वे मनुष्य पर समान प्रीति रखते हैं। जितना प्रेम उनसे मनुष्य कर सकता है, उतना प्रेम तो वे करते ही हैं, अपितु इससे अनंतगुना अहैतुक प्रेम करते हैं। 'स्वाहा' उनकी पत्नी है, इसीलिए यज्ञ में वे पत्नीवान् कहे गये है। स्वाहा कह कर जब यज्ञकुण्ड में आहुति दी जाती है तो उससे लोकमंगल-रूप अग्निशिखाओं-सी तेजस्वी संतति-परम्परा का विकास होता है। याजक जन यह प्रार्थना करते हैं, राष्ट्र को ऐसी ही तेजस्वी सन्तानें प्राप्त हों। जीवन-रूपी शत-सांवत्सरिक यज्ञ में जो अमृततत्त्व साधक प्राप्त करते है, वही सोम है। सत्य से ही यह सोम उपजता है। देवता इसी को पाकर प्रसन्न होते हैं। १०

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा[1] ।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय[2] ॥११॥

उपयामगृहीतः	(तू) यम-नियमों से बद्ध		वाला है,
असि	है,	हरियोजनः	दुःखों को दूर करने की योजना बनाने वाला है।
हरिः असि	दुःखों को दूर करने		

१ अग्नि पत्नीवान है, स्वाहा उनकी पत्नी है। स्वाहा का अर्थ पहले लिखा जा चुका है, २ फैलानेवाले; ३ वीर्य की स्थापना, अग्नि यज्ञकुण्ड मे अपनी पत्नी स्वाहा मे अपने वीर्य की स्थापना करते है।

अवयजनम् असि	दूर करनेवाला है,	चकार	किया हो
एनसः एनसः	एक पाप से उत्पन्न दूसरे पाप को	यत् च	और जो
अवयजनम् असि	दूर करनेवाला है।	अविद्वान्	बिना जाने हुए
यत् च	और जो	(चकार)	(किया हो),
एनः	पाप	तस्य सर्वस्य	उस सब प्रकार के
अहं	मैंने	एनसः	अपराधों को
विद्वान्	जान-बूझकर	अवयजनम् असि	तू दूर करने में समर्थ है ॥ १३ ॥

देवों के तुम अपराध दूर करते हो।
हम मनुजों के अपराध क्षमा करते हो॥
पितरों के तुम सब पाप हरण कर लेते।
आत्मा के भी दुःख-दोष क्षरण कर देते॥
कर देते क्षमा पिता के अपराधों को।
हर लेते पापजन्य अगणित पापों को॥
अपराध सचेत भाव से जो हो जाते।
अथवा जो पाप भूल से हैं घट जाते॥
वे क्षमा करो अपराध सकल हे स्वामी !।
मैं हूँ प्रपन्न करुणामय अंतर्यामी॥ १३ ॥

टि०—इस कंडिका में भगवान के परम करुणामय चरम क्षमाशील स्वरूप का निरूपण है। भगवान के शील-स्वभाव को जाननेवाले भक्तों ने कहा है, भगवान की क्षमा-शीलता अनंत है। उनमें दया और कृपा का विशेष गुण है। 'भगवद्गुणदर्पण' नामक ग्रन्थ में भगवान के कृपा-गुण की विशेषता इस प्रकार वर्णित है:—रक्षणे सर्वभूतानां अहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्य-संधाने कृपा सा परमेश्वरी ॥ भूतमात्र की रक्षा करने में मैं ही समर्थ हूँ, भगवान का यह भाव ही उनकी कृपा है। जिस भाव-विशेष से प्रेरित होकर भगवान जीवमात्र का कलुष नष्ट कर देते हैं, वही उनकी कृपा है:—यद्वा स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीन-कालुष्यनाशनः। हार्दो भाव-विशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी ॥ इसी कृपा का स्वरूप इस कंडिका में दिखाया गया है। इससे यह भी सिद्ध है कि आगे चलकर भक्तों और सन्तों ने भगवान के जिन गुणों का अनुसंधान किया, उनका मूल वेद में है। १३

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१४॥

वर्चसा	(हम) तेज,	शिवेन	कल्याण करनेवाले
पयसा	जल,	मनसा	मन से
तनूभिः	उत्तम शरीरों और	सम् अगन्महि	सदा संयुक्त हों।

हे अभ्यागत ! आओ हे अश्वारोही[1]।
उपहूत पधारे तुम हे अनुपम स्नेही ॥
उपहार गव्य[2] द्रव्यों का लाये हो तुम।
तुम आये तो कृतकृत्य हो गये हैं हम ॥
यह यज्ञशेष भक्ष्यान्न कर रहा प्रस्तुत।
स्वीकार करो तुम इसको परम कृपायुत ॥
आये हैं ये ऋग्वेद-सूक्त के ज्ञाता।
ये आये सामवेद के हैं उद्गाता[3] ॥
ये इष्टयजुष[4] भी साथ तुम्हारे आये।
सौभाग्य और सुख हैं हो गये सवाये ॥
यह यज्ञशेष भोक्ष्यान्न सभी स्वीकारें।
हम पा प्रसाद वह सदा धन्यता धारें ॥ १२ ॥

टि०—इस कंडिका में यज्ञोत्सव में पधारे हुए अभ्यागतों का यजमान की ओर से स्वागत किया गया है। यज्ञोत्सव में सम्मानित अभ्यागतों के साथ वेदों के सिद्ध गायक और विद्वान भी आते हैं। वे अश्व आदि वाहनों से आते है। अपने साथ गोरस के बने पदार्थ उपहार के रूप में लाते हैं। यजमान उन्हें धन्यवाद देता है और यज्ञशेष अन्न ग्रहण करने का अनुरोध उनसे करता है। वे जब उसे ग्रहण कर लेते हैं, तो शेष स्वयं ग्रहण कर अपने को धन्य मानता है। यह यज्ञोत्सव की परम्परा है। १२

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस एनसोऽवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥१३॥

देवकृतस्य	विद्वानों अथवा दानदाता के किये	**अवयजनम् असि**	दूर करनेवाला है,
एनसः	अपराध को	**पितृकृतस्य**	पिता के किये हुए
अवयजनम्	(तू) दूर करनेवाला	**एनसः**	अपराध
असि	है,	**अवयजनम्**	दूर करनेवाला
मनुष्यकृतस्य	मनुष्यों के किये	**असि**	है।
एनसः	पाप या अपराध को	**आत्मकृतस्य**	स्वयंकृत
		एनसः	पापों को (तू)

१ घोड़े पर सवार होकर आये हुए मेहमान; २ गाय से प्राप्त दूध, दही, घी आदि पदार्थ; ३ ऋत्विज् आदि; ४ इष्ट सुखकर्ता, यजुर्वेद का तत्त्व जाननेवाले।

सुमतौ	शुभ मति के साथ (हमें)	स्वस्त्या	सुखपूर्वक
स्वाहा	उत्तम वाणी द्वारा	सं नेषि	सब कुछ प्राप्त करा दो ॥ १५ ॥

ऐश्वर्यवान हे इन्द्र और संपत्तिवान हे परमात्मन् ।
मेरे मन से संयुक्त रहे संतत गोगण सब विद्वज्जन ॥
ब्रह्मविद दिव्यजन करते हैं जो कर्म ज्ञानवर्धक उत्तम ।
संयुक्त रहें मन से तन से उनसे भी श्रद्धापूर्वक हम ॥
सत्संग-योग्य उत्तम विद्वानों की मति उनकी शुभवाणी ।
मेरी मति में संक्रान्त करो, मेरी गति-सृति हो कल्याणी ॥
इस शुभ मति से इस वाणी से हो हमको प्राप्त अभीष्ट सकल ।
यज्ञीय सुधीजन[1] की सुबुद्धि हो मेरे जीवन का संबल ।
मैं ऐसे विद्वानों के हित अर्पित करता हूं हवि स्वाहा ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र को ऐश्वर्यवान परमात्मा कहकर सम्बोधित किया गया है। उनसे प्रार्थना की गई है कि मेरे मन में सेवा और विद्वानों के सत्संग की कामना सदा रहे। ब्रह्मतत्त्व को जाननेवाले विद्वान् जो उत्तमोत्तम कर्म करते हैं, वे मुझे शुद्धाचरण करने की प्रेरणा प्रदान करें। सत्संग करने योग्य जो विद्वान् हैं, उनकी जैसी बुद्धि और वाणी हमें प्राप्त हों। अपने जीवन को यज्ञमय वनानेवाले विद्वान मेरे जीवन के प्रेरक रहें। १५

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१६॥

वर्चसा	(हम सब) तेज,	त्वष्टा	सर्वोत्पादक परमेश्वर
पयसा	जल,	रायः विदधातु	समस्त ऐश्वर्य प्रदान करें।
तनूभिः	दृढ़ शरीरों (और)	तन्वः	हमारे शरीर में
शिवेन मनसा	कल्याणकारी शुद्ध मन से	यत्	जो
सं अगन्महि	भली प्रकार संयुक्त रहें।	विलिष्टम्	अनिष्टकारक है
सुदत्रः	उत्तम पदार्थों का दाता	अनुमार्ष्टु	उसको दूर करें ॥ १६ ॥

१ अपने जीवन को यज्ञमय वनानेवाले विद्वान ।

सुदत्रः त्वष्टा	उत्तम दान के देनेवाले त्वष्टा	तन्वः	शरीर में
रायः	ऐश्वर्य	विलिष्टम्	पीड़ित भाग है
वि दधातु	(हमें) प्रदान करें,	अनुमार्ष्टु	उसे अच्छी तरह ठीक करें॥ १४ ॥
यत्	जो		

हे दयावान दाता अनन्य जगदीश्वर ! ।
हम हैं प्रपन्न, हमको दो करुणामय ! वर ॥
वर्चस्वी हों हम, करें पूत जल सेवन ।
मन शुभ विचार-संयुक्त रहे नीरुज्[1] तन ॥
दाता विद्वान रहे ऐश्वर्य - प्रदाता ।
हम हों अपने जीवन के नव-निर्माता ॥
मेरे शरीर के अंग रोग से पीड़ित ।
हो जायें स्वस्थ, जैसे होवे नवनिर्मित ॥ १४ ॥

टि०—यह प्रार्थनापरक मंत्र है। इसमें मनुष्य के लिए आवश्यक तेज, प्रभूत पवित्र जल, स्वस्थ शरीर और सद्विचारों से परिपूर्ण मन प्रदान करने की प्रार्थना भगवान से की गई है। रोग से पीड़ित अंगों के स्वस्थ होने की कामना भी इस मंत्र में की गई है। वे इतने स्वस्थ हो जाएँ कि नये बनाये हुए-से लगें। १४

समि॑न्द्र णो॒ मन॑सा नेषि॒ गोभि॒:
सꣳ सू॒रिभि॑र्मघवुन्त्सꣳ स्व॒स्त्या ।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वकृ॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वाना॑ꣳ
सुम॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒ꣳ स्वाहा॑ ॥१५॥

इन्द्र	ऐश्वर्यवान परमात्मन् !	सं नेषि	संयुक्त करो।
मघवन्	धनयुक्त परमेश्वर !	ब्रह्मणा	ज्ञानपूर्वक
नः	हमें	देवकृतम्	दिव्य मनुष्यों द्वारा
मनसा	मन से	यत्	जो उत्तम कर्म
गोभिः	गो आदि पशुओं	अस्ति	किया जाता है,
सूरिभिः	और विद्वान् पुरुषों के साथ	सं नेषि	उससे हमें संयुक्त करो।
		यज्ञियानां	सत्संग करने योग्य
		देवानां	विद्वानों की

१ रोगहीन ।

द्योतक हैं। भगवान धारण करते हैं, इसलिए धाता या विधाता हैं। वे दाता हैं, इसलिए राति हैं। सबको उत्पन्न करने के कारण सविता हैं। प्रजा का पालन करने के कारण प्रजापति हैं। सबके अग्रणी होने के कारण अग्नि हैं। वे निर्माण करते हैं, इसलिए त्वष्टा हैं और सर्वव्यापक होने के कारण विष्णु हैं। इन नामों को धारण करनेवाले अलग-अलग देवता भी हैं, जो श्री भगवान के द्वारा अपने-अपने कार्यों के द्वारा सूचित कर्मों में नियुक्त किये गये हैं। इस मंत्र में सबसे हवि ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की गई है। १७

सुगा वो देवाः सदना अकर्म
य आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे
धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१८॥

देवाः	हे देवताओ !	वसवः	सबको बसानेवाले, देवो !
ये	जो तुम	हवींषि	हवियों का
इदम् सवनम्	इस यज्ञ के सवनों को	भरमाणाः	भोग करते हुए
जुषाणा	सेवन करते हुए	वहमाना	और वहन करते हुए
आजग्म	आये हो,	अस्मे	हमको
वः सदना	वे तुम्हारे स्थान	वसूनि	विपुल धन।
सुगाः	सुख से प्राप्त होने योग्य	धत्त	प्रदान करो।
अकर्म	कर दिये हैं।	स्वाहा	यह सत्य कथन है ॥ १८ ॥

सेवन करते हुए यज्ञ यह आये हो हे सुनो यहाँ।
सुख से सहज प्राप्य हैं तुमको अब हैं जितने स्थान यहाँ॥
सबको वास दान करते हो वसुओ, वास प्रदान करो।
मेरे द्वारा अर्पित हवि कर ग्रहण प्रचुर धन दान करो॥
वासप्रदाता धन के दाता अर्पित है यह हवि स्वाहा।
सभी स्थान हो गये सुगम देवो ! स्वीकारो हवि स्वाहा॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि इस यज्ञ में तुम्हारे आने के सब रास्ते सुगम बना दिये गये हैं। सब देवता पधारें और हमारे द्वारा अर्पित हवि ग्रहण करें। १८

परमात्मन् ! हम तेज, दुग्ध, जल, दृढ़ शरीर से युक्त रहें।
मन, हे शिव-संकल्प-पूर्ण शुभ जीवन का पथ सदा गहें॥
उत्तम वस्तु मात्र के दाता सर्वोत्पादक परमेश्वर।
सब ऐश्वर्य प्रदान करें हमको दें सकल अभीप्सित-वर[1]॥
यदि मेरे शरीर में कोई तत्त्व हानिकर हो लक्षित।
उनको दूर समूल करो हे जगदीश्वर करुणामय नित॥ १६॥

टि०—इस मंत्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि तेज, शुद्ध जीवन, स्वस्थ शरीर और कल्याणकारी संकल्प करनेवाले मन के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध रहे। शरीर में जो अनिष्टकारक तत्त्व हों, वे हमसे दूर हो जायँ। १६

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां
प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा
यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥१७॥

धाता	विधाता,	जुषन्ताम्	सेवन करें।
रातिः	दाता,	प्रजया	संतति के साथ
सविता	सबके उत्पादक देव,	संरराणाः	भली प्रकार रमण
प्रजापतिः	प्रजापति,		करनेवाले
निधिपाः	निधि के रक्षक	यजमानाय	यजमान के लिए
अग्निः देवः	अग्निदेव,	द्रविणं	धन
त्वष्टा	निर्माण करनेवाले	दधात	प्रदान करें।
विष्णुः	व्यापक देव	स्वाहा	यह आहुति स्वीकृत
इदं	इस हवि का		हो॥ १७॥

धाता, राति, प्रजापति, सविता जो सबके उत्पादक।
त्वष्टा, अग्नि, विष्णु सब सुरगण हों सतत शुभदायक॥
आवें सब सुर ग्रहण करें हवि मेरी श्रद्धार्पित यह।
प्रजासहित धन प्राप्त करें यजमान सुखी रह अहरह[2]॥
देवगणो ! अर्पित है हवि यह तुमको सम्यक्[3] स्वाहा।
परम पूत हवि ग्रहण करो अर्पित यह तुमको स्वाहा !॥ १७॥

टि०—इस मंत्र में परमात्मा के अनेक नाम आये हैं, जो उनकी विशिष्टताओं के

---

१ चाहे हुए वरदान; २ प्रतिदिन; ३ अच्छी तरह शास्त्र-विधि से।

होतारम् त्वा	होम करनेवाले तुमको
वयम्	हमने
अवृणीमहि	वरण किया है।
ऋधक् अयाः उत्	यज्ञ की वृद्धि करते हुए तुमने यज्ञ सम्पन्न करवाया,
ऋधक् अशमिष्ठाः	यज्ञ की वृद्धि में आये हुए बाधा-विघ्नों को शान्त किया।
विद्वान्	ज्ञानवान तुम
यज्ञम् प्रजानन्	यज्ञ को पूर्ण जानकर
उपयाहि	अपने स्थान के प्रति गमन करो।
स्वाहा	यह आहुति अर्पित हैं ॥ २० ॥

हे अग्ने ! तुमने ही आकर किया यहाँ यह यज्ञ प्रर्वातत।
होम-क्रिया के निष्पादक तुम वरण किया है तुम्हें भक्तियुत ॥
वृद्धि यज्ञ की की है तुमने सविधि यज्ञ यह पूर्ण कराया।
विघ्न यज्ञ के दूर किये सब, हम सबको कृतकृत्य बनाया ॥
ज्ञानरूप हे अग्नि ! पूर्ण है यज्ञ सविधि निज गृह को जाओ।
स्वीकारो यह हवि पुनीत अति अर्पित है तुमको यह स्वाहा ! ॥ २० ॥

टि०—यह यज्ञ में अग्नि के विसर्जन का मंत्र है। अग्नि ही हवन-कर्म के निष्पादक हैं, उन्हीं के द्वारा यज्ञ पूरा होता है। उनको कृतज्ञता के साथ अंतिम आहुति अर्पित की गई है। २०

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥

गातुविदः देवाः	धर्ममार्ग के जानने वाले विद्वानो !
गातुम्	धर्ममार्गों को
वित्त्वा	जानकर
गातुम् इत	धर्ममार्ग से चलो।
मनसस्पते देव	मन के अधिपति विद्वान !
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
इमं यज्ञं	इस यज्ञ से
वाते धाः	वायु को शुद्ध करो ॥ २१ ॥

हे धर्ममार्ग के सम्यक् ज्ञाता देवोपम सब विद्वज्जन ! ।
जानकर धर्म के मार्गों को आचरण करो उनपर प्रतिक्षण ॥
तुम योग्य मार्ग को प्राप्त करो, तुम योग्य मार्ग पर धरो चरण।
मन पर जिसका अधिकार सदा, वह ही सच्चा है ज्ञानीजन ॥
यह यज्ञ करो संपूर्ण सुगंधित द्रव्यों की दे हवि उत्तम।
हो वायु शुद्ध, जीवन समृद्ध करते हैं हम स्वाहा-स्वाहा ॥ २१ ॥

याँ२ आऽवह उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे। जक्षिवाᳪंसः पपिवाᳪंसश्च विश्वेऽसुं घर्मᳪं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥१९॥

अग्ने	हे अग्नि !	प्रेरय	प्रेरित करो।
देव	प्रकाशमान !	विश्वे	तुम सब लोग
उशतः	यज्ञ की इच्छा करनेवाले	जक्षिवांसः	अन्न भक्षण करते हुए
यान्	जिन	पपिवांसः च	और सोमरस पीते हुए भी
देवान्	देवताओं को	असुम् घर्मम्	प्राणरक्षक वायु में
आवहः	बुलाकर लाये हो,	स्वः	आदित्यमंडल में
तान् देवान्	उन देवताओं को	अन्वातिष्ठत	आश्रय ग्रहण करो।
स्वे सधस्थे	अपने-अपने स्थानों की ओर	स्वाहा	(तुम्हें) आहुति अर्पित है ॥ १९ ॥

ज्योतिमान हे देव ! अग्नि हे ! करके सम्यक् आवाहन।
लाये यज्ञेच्छुक देवों को तुम करने को सफल सवन[1] ॥
करो उन्हें प्रेरित सब कर ले अपना-अपना स्थान ग्रहण।
यज्ञशेष यह पूत अन्न है प्रस्तुत इसको करो ग्रहण ॥
पियो सोमरस, यज्ञ हमारा शीघ्र पूर्ण होनेवाला।
रहो वायुमंडल में जो है प्राण-त्राण देनेवाला ॥
अथवा तेजस्वी रवि-मंडल का तुम ग्रहण करो आश्रय।
सम्यक् ग्रहण करो यह आहुति है तुमको अर्पित स्वाहा ॥ १९ ॥

टि०—अग्नि ही यज्ञ में देवताओं को बुलाकर लाते है और उनको अपने-अपने नियत स्थान पर बैठाते है। उनसे सोमरस पीने की प्रार्थना की गई है। यज्ञ पूर्ण होनेवाला है, इसलिए विसर्जन-क्रम में उनसे कहा गया है कि वे वायुमंडल अथवा आदित्य-मंडल का आश्रय लें। १९

वयᳪं हि त्वा प्रयति यज्ञे
अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्
यज्ञमुप याहि विद्वान्त्स्वाहा ॥२०॥

अग्ने	हे अग्नि !	अस्मिन् यज्ञे	इस यज्ञ के
हि इह	इस स्थान में ही	प्रयति	प्रवृत्त होने पर

१ यज्ञ।

सम्पन्न करो यह क्रतु उत्तम।
हो प्रजा सुखी, कोई न दुखी।
रक्षाकारक यह यज्ञ परम ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में विशेष रूप से गृहीजनों को यज्ञ में सहयोग करने के लिए आमंत्रित किया जा रहा है। गृहीजन विद्वानों के सहयोग से यज्ञ सम्पन्न करें। विद्वज्जन सहसूक्तवाक् यज्ञ करें। २२

माहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरुꣳ हि राजा
वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्।
नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः[३] ॥२३॥

अहिः	सर्प	प्रतिधावते	दौड़ने के लिए
मा	मत	अकः	मार्ग बना दिया है।
भूः	बन।	हृदयाविधः	हृदय को दुःख देने वाले पिशुन का
मा पृदाकुः	अजगर-जैसा हिंसक मत बन।	चित्	भी (मैं)
वरुणः राजा	वरुण नामधारी परमेश्वर ने	अपवक्ता	निग्रह करता हूँ।
सूर्याय अनु एतेवे	सूर्य के जाने के लिए	वरुणाय	सर्वश्रेष्ठ वरणीय परमेश्वर को
उ उरुं पन्थां	विशाल मार्ग	नमः	नमस्कार है।
चकार	बना दिया है।	वरुणस्य पाशः	ऐसे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर का पाश
अपदे	जहाँ पैर न रखा जा सके ऐसे	अभिष्ठितः	सर्वत्र स्थिरता से प्रसरित है॥ २३ ॥
पादा	स्थान में		

तू सर्प-सदृश मत बन दुर्जन।
अजगर-सा तू मत हिंसक बन ॥
वरणीय[१] वरुण ये जगदीश्वर।
अन्यतम[२] श्रेष्ठतम परमेश्वर हैं ॥
इनका सामर्थ्य अनंत महत्[३]।
इनका कर्तृत्व विराट् बृहत्[४] ॥

१ श्रेष्ठ; २ जैसा कोई दूसरा न हो; ३ बड़ा; ४ विशाल।

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि धर्म-मार्ग को जानकर उस पर चलने वाले ज्ञानीजन ही सच्चे देवता हैं। ज्ञानी वही है जिसका अपने मन पर अधिकार है। सुगंधित द्रव्यों की हवि अर्पित करना योग्य है, जिससे वायु शुद्ध हो। वायु-मंडल शुद्ध रहे, यह भी मनुष्य का उत्तरदायित्व है। २१

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ
स्वां योनिं गच्छ स्वाहा। ।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः
सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ॥२२॥

यज्ञ	हे यज्ञ करनेवाले !	**एषः यज्ञः**	यह यज्ञ
यज्ञं गच्छ	यज्ञ के पास जाओ,	**सहसूक्त वाकः**	वेद के सूक्तों का मनन करनेवाले विद्वानों तथा
यज्ञपतिं गच्छ	यज्ञकर्ता के पास जाओ,	**सर्ववीरः**	अनेक वीर पुरुषों से युक्त है।
स्वां योनिं	अपने आश्रय-स्थान के प्रति	**तं**	उसको (तुम)
गच्छ	जाओ।	**स्वाहा**	स्वाहाकार-सहित
स्वाहा	आहुति अर्पित है।	**जुषस्व**	सम्पन्न करो ॥२२॥
यज्ञपते	हे यजमान !		
ते	तुम्हारा		

याजको ! यज्ञ के पास चलो।
यजमान के निकट चलो, चलो ॥
तुम प्राप्त करो निज आश्रय-स्थल।
हवि अर्पित करता हूँ स्वाहा ॥
स्वीकार समर्पण हो स्वाहा।
यजमान ! तुम्हारा ऋतु-विधान ॥
विद्वानों से सेवित महान।
वीरों से मंडित है महान ॥
करते विद्वज्जन सूक्तगान।
सम्पन्न करो यह ऋतु उत्तम ॥
हो स्वाहाकार पुनीत परम।
हे गृहीजनो ! सहसूक्तवाक्[1] ॥

---

१ ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के सूक्तों और अनुवाकों के साथ। तात्पर्य यह कि चारों वेदों का ज्ञाता विद्वान यज्ञकार्य में सहयोग करे।

अग्ने ! तुममें जल न गिरानेवाली है जो शक्ति।
करो प्रविष्ट[1] जलों में उसको, है अनुरोध सभक्ति ॥
घर-घर में करते रहते हैं असुर विघ्न - उत्पात।
ध्वस्त करो उनको, निरस्त[2] हों दुष्कृतियों[3] के व्रात[4] ! ॥
समिधायें प्रज्वलित करो, हों यज्ञकार्य संपन्न।
रसनायें[5] घृत पियें तुम्हारी, हम हैं देव ! प्रपन्न ॥
अग्ने ! सम्यक् ग्रहण करो यह आहुति मेरी स्वाहा।
घृत पीने को रहो समुद्यत[6], यह हवि अर्पित स्वाहा ! ॥ २४ ॥

टि०—अग्नि में जल की अवरोधक शक्ति है, वह जलों में प्रविष्ट हो जाए। इससे सुवृष्टि होगी। अग्नि असुरों के द्वारा किये गये विघ्न दूर करें। समिधाओं को प्रज्वलित कर यज्ञकार्य सम्पन्न करायें। २४

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥२५॥

ते	तुम्हारा	यज्ञपते	हे यज्ञ के पालक !
हृदयम्	हृदय	यज्ञस्य	जिस यज्ञ में
अप्सु	जलाशय में,	सूक्तोक्तौ	वेद-सूक्त कहे जायँ
अन्तः समुद्रे	कार्यों के महासागर में लगे।	नमोवाके	नमस्कार-वाक्यों-सहित
त्वाम्	तुम्हारे लिए	यत् स्वाहा	जहाँ स्वाहाकार से युक्त हवनीय पदार्थ हैं,
ओषधीः	ओषधियाँ		
उत् आपः	और जलप्रवाह	त्वा विधेम	तुम्हें हम वे अर्पण करें ॥ २५ ॥
आ विशन्तु	चलते रहें।		

हृदय तुम्हारा सत्संकल्पों का हो सिंधु महान।
सत्कर्मों के हेतु प्रेरणा करें सदा वे दान ॥
यज्ञपते ! ये सब ओषधियाँ जल के सकल प्रवाह।
यज्ञ हेतु हों प्राप्त तुम्हें सब हो सम्यक् निर्वाह ॥
वेदसूक्त हों उक्त, उच्चरित हों श्रुति-वचन ललाम[7]।
ऐसे क्रतु में करें समर्पित हम हवनीय प्रकाम[8] ॥

---

१ अच्छी तरह प्रवेश किया हुआ; २ समाप्त; ३ कुकर्मों अथवा कुकर्म करनेवालों; ४ समूह; ५ जीभें, अग्नि की ज्वालायें ही उसकी जीभें हैं; ६ तैयार; ७ सुन्दर; ८ इच्छानुकूल मन भर।

रवि के आने-जाने के हित।
रच दिया राजपथ नभ विस्तृत॥
पद रखना शक्य[5] नहीं किंचित्।
है धावनीय[6] पथ वहाँ रचित॥
सबके उर के पीड़क खलजन।
उनका निग्रह करता सब दिन॥
वह सर्वश्रेष्ठ वैसा न अन्य।
वह पापनिवारक परम धन्य॥
हैं वरुण-पाश सर्वत्र वितत[7]।
खलजन के निग्रह हेतु सतत॥
हम करते हैं उनको प्रणाम।
उन पापनिवारक को प्रणाम॥ २३॥

टि०—श्री भगवान सबसे श्रेष्ठ हैं, सबसे वरेण्य हैं। इसलिए वे वरुण हैं। दुष्टों का निग्रह करने के लिए उनके पाश (फाँसियाँ) सब जगह फैले हैं। इसलिए मनुष्य को सावधान रहना चाहिए। उसे साँप की तरह अकारण दूसरे को पीड़ा नहीं देनी चाहिए। अजगर की तरह हिंसा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य को जानना चाहिए कि भगवान सर्वशक्तिमान हैं। वे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु-समर्थ हैं। उनके लिए कुछ असंभव या अशक्य नहीं। जहाँ पैर रखना संभव नहीं, वहाँ वह दौड़ने योग्य रास्ता बना देते हैं। सूर्य के आने-जाने के लिए उन्होंने ही आकाश जैसा लंबा-चौड़ा राजमार्ग बना दिया। भगवान की दुष्टों का निग्रह करनेवाली दृष्टि अचूक है, दुष्टों को यह स्मरण रखना चाहिए। २३

अ॒ग्नेरनी॑कम॒प आ वि॑वेशा॒पां नपा॑त् प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म्।
दमे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त् स्वाहा॑॥२४॥

अग्ने	हे अग्नि !	समिध यक्षि	समिधाओं से यज्ञ करो।
अपान्नपात्	जलों को न गिरानेवाला	अग्ने	हे अग्नि !
अनीकम्	सामर्थ्य (तुममें) है,	ते जिह्वा	तुम्हारी ज्वालायें
अपः आविवेश	जलों में प्रवेश करो।	घृतम्	घृत के लिए
दमे दमे	प्रत्येक	प्रति उच्चरण्यत्	उद्यत हों।
असुर्यम्	असुरकृत विघ्न से	स्वाहा	यह आहुति अर्पित है॥ २४॥
प्रतिक्षन्	रक्षा करते हुए		

५ संभव; ६ दौड़ने योग्य; ७ फैले।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं
पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ।
देवानाᳬ समिदसि ॥२७॥

अवभृथ	हे स्नातक !
निचुम्पुण	हे सोम !
निचेरुः असि	तू नित्य संचार करनेवाला है।
निचुम्पुणः	तू गति बढ़ानेवाला है।
देव	दिव्य गुणवाले !
देवकृतं एनः	विद्वानों के द्वारा किये गये अपराध को
देवैः	दिव्य पुरुषों द्वारा
अव यासिषम्	मैं दूर करूँगा।
मर्त्यकृतम् एनः	मनुष्यों के द्वारा किये अपराध को
मर्त्यैः	साधारण जनों के द्वारा ही
अव यासिषम्	मैं दूर करूँगा।
देव	हे दिव्य जन !
पुरुराव्णः	(तुम) अनेक प्रकार से कष्ट देकर रुलानेवाले
रिषः	हिंसक पुरुषों से
पाहि	हमारी रक्षा करो।
देवानाम्	विद्वानों की
समित्	सभा (के समान)
असि	तुम हो ॥ २७ ॥

हे स्नातक ! हे सोम ! निरंतर हो संचरणशील तुम ।
नित्य संचरणशील इसलिए गति-संवर्द्धक[1] हो तुम ॥
विद्वज्जनकृत अथवा इन्द्रियकृत जो पाप हमारे ।
तपोशुद्ध कर इन्द्रियगण को दूर करूँगा सारे ॥
मानवकृत जो पाप दूर कर सकते हैं उनको मानव ।
सच्छील मानव ही करते शमित पाप का वह दव ॥
कष्टप्रदाता हिंसक अरि से रक्षा करो हमारी ।
करे राष्ट्र का संरक्षण विद्वानो ! सभा तुम्हारी ॥
विद्वानों की परिषद हो तुम राष्ट्र तुम्हीं से रक्षित ।
ज्ञानचक्षु[2] से जाग्रत् रहकर करो राष्ट्र का हित नित ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में विद्वानों से यह कहा गया है कि विद्वज्जन ज्ञान-चक्षुओं से निरंतर जाग्रत् रहकर राष्ट्र का हित-चिंतन करें। यह भी निर्देश किया गया है कि इन्द्रियों के द्वारा किये गये पाप इन्द्रियों को तपस्या में तपाकर सम्यक् शुद्ध करके ही दूर

१ गति को वढ़ानेवाले; २ ज्ञान की आँख। विद्वानों की ज्ञान की आँख खुली रहे, तो सबकी संकटों से रक्षा हो जाती है। वस्तुतः राष्ट्र के रक्षक ज्ञानी जन ही हैं।

वेद-सूक्त के पाठ-सहित अर्पित है यह हवि स्वाहा।
श्रुति के शुभ उच्चार-सहित अर्पित है यह हवि स्वाहा ॥ २५ ॥

टि०—यह कंडिका यज्ञपति के प्रति कही गई है। यज्ञपति का अर्थ यजमान है और यज्ञ का स्वामी अग्नि या विष्णु भी। मंत्र में यह शुभ कामना की गई है कि यज्ञ-कर्म के ठीक-ठीक निर्वाह के लिए अन्न-जल आदि आवश्यक पदार्थ मिलते रहें। यज्ञपति का हृदय शिवसंकल्पों का समुद्र बन जाय, वे संकल्पों-सत्कर्मों की प्रेरणा देते रहें। यज्ञ में वेदों के सूक्त पढ़कर आहुतियाँ दी जानी चाहिए। २५

देवीराप एष वो गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृत।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥२६॥

देवीः आपः	हे दिव्य जलो !	देव सोम	हे देव सोम !
वः	तुम्हारा	ते	तुम्हारा
एषः	यह	एषः लोकः	यह लोक है
गर्भः	उत्पत्तिस्थान है	च	और
तम्	उसका	तस्मिन्	उसमें रहकर
सुप्रीतम्	उत्तम रीति से,	शम् वक्ष्व	सुख प्राप्त करो
सुभृत	प्रीति से पोषण करो	परि वक्ष्व च	और हमारी रक्षा
बिभृत	धारण करो		करो ॥ २६ ॥

दिव्य जलो ! यह यज्ञभूमि यह जन्मस्थान तुम्हारा।
इनका पोषण करो प्रीति से, है अनुरोध हमारा ॥
इनका धारण भरण करो तुम वृष्टिदान कर अभिमत[1]।
मनुज-देह भी तुम यह धारण करते हो जल ! संतत ॥
सुखी रहो हे सोम ! तुम्हारा है ऋतु स्थान सनातन।
दूर करो सब दुःख हमारे, करो सदा संरक्षण ॥ २६ ॥

टि०—इस मन्त्र में पहले जल का आवाहन किया गया है। दिव्य जल अर्थात् मेघों से बरसे हुए जल से ही पृथ्वी का भरण-पोषण और धारण होता है। वेदों में जल की महिमा का बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। जल रोग दूर करता है, वह महान औषधि है। जलवर्षा से ही सोमलता उगती है, फूलती-फलती है। सोमलता के स्वामी सोम हैं। यह यज्ञ उनका सनातन स्थान है। वे प्रसन्न हों और हमारी रक्षा करें। यज्ञ से और धरती से दिव्य जल बरसनेवाले मेघ उत्पन्न होते है। २६

१ इच्छा के अनुसार आवश्यक वर्षा करके।

यस्यै	जिसकी	यस्य	जिसके
योनिः हिरण्मयी	योनि स्वर्ण के समान निर्दोष है,	अङ्गानि अह्रुता	अंग कुटिल नहीं हैं
मात्रा	उस माता के साथ	सम्	संग हो ।
तम्	उस पुरुष का,	अजीगमं स्वाहा	यह उत्तम प्रजनन-आहुति है ॥ २९ ॥

यज्ञसदृश निर्दोष गर्भ कर सकती धारण।
तप्त स्वर्ण[1]-सी पूत[2] योनि हो दोष - निवारण ॥
जिस नारी की, वही मातृपद की अधिकारी।
वरे उसे सत्पुरुष अंग जिसके अविकारी[3] ॥
करें समागम, प्रजनन - ऋतु वे करें अनुष्ठित।
करें राष्ट्र के हेतु श्रेष्ठ संतति उत्पादित ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में प्रजनन-यज्ञ का पवित्र विधान बताया गया है। पवित्र चरित्रवाले स्त्री-पुरुषों के समागम से ही अच्छी सन्तानें प्राप्त की जा सकती हैं। वेद ने मातृत्व को-बड़ा आदरणीय स्थान प्रदान किया है। २९

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं
भुवनानु प्रथन्ताᳬ स्वाहा ॥ ३० ॥

पुरुदस्मः	अधिक दानशील,	आनञ्ज	प्रकट करता है।
विषुरूपः	अनेक रूपों में कार्य करनेवाला,	एकपदीम्	एक गुनी,
इन्दुः	ऐश्वर्यवान (व्यक्ति)	द्विपदीम्	दो गुनी,
धीरः	धीर होकर	त्रिपदीम्	तीन गुनी,
अन्तः	राष्ट्र में	चतुष्पदीम्	चार गुनी,
महिमानम्	अपनी महिमा को	अष्टपदीम् स्वाहा	आठ गुनी अनुकूलता
		भुवना	लोक में (सब लोग)
		अनु प्रथन्ताम्	प्रकट करें ॥ ३० ॥

दानशील जो सतत और जो विपुल कार्यक्षम।
वैभववर्द्धक धीर[4] विषमताओं में जो सम ॥
करता है वह पुरुष राष्ट्र में प्रकट पराक्रम।
हिमगिरि-सा गौरव करता है प्राप्त महत्तम ॥

१ तपाया सोना; २ पवित्र; ३ जिसमें कोई दोष या विकार न हो; ४ जो सब प्रकार की विषम परिस्थितियों में सम और संतुलित रहे।

किये जा सकते हैं। मनुष्य जो अपराध करते हैं, उनको मनुष्य ही दूर कर सकते हैं। संतशील मनुष्य ही मनुष्य के पाप दूर करने में समर्थ हैं। २७

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह[1] ॥२८॥

दशमास्यः	दस महीने होने पर
गर्भः	गर्भ-स्थानीय बालक
जरायुणा	गर्भवेष्टन के
सह	साथ (जैसे)
एजतु	कंपित हो या बाहर आये,
यथा	जैसे
अयम्	यह
वायुः एजति	वायु कंपित होता है,
यथा	जैसे
समुद्रः एजति	समुद्र लहरों में कांपता है,
एवम्	वैसे ही
अयम्	यह
दशमास्यः	दस महीने का पूर्ण गर्भ
जरायुणा	गर्भवेष्टन के
सह	साथ
अस्रत्	उदर से बाहर निकले ॥ २८ ॥

दशमासिक[1] यह गर्भ तुम्हारा है जरायु से वेष्टित।
कम्पित हों ज्यों वायु-तरंगें होती रहतीं कंपित॥
जैसे होता सिंधु तरंगों के द्वारा नित स्पन्दित।
दशमासिक यह गर्भ तुम्हारा हो वैसे ही कंपित॥
आवे, आवे शिशु जरायु के साथ उदर के बाहर।
सकल देवगण हों मंगलकर सुख के सहित प्रसव कर॥ २८॥

टि०—यह गर्भरक्षा और सुख से प्रसव करानेवाला मंत्र है। गर्भस्थ शिशु के स्पंदनों की तुलना वायु की तरंगों के कंपन और समुद्र की तरंगों के कंपन के साथ की गई है। इस मंत्र से सिद्ध है कि वेद में संतानोत्पत्ति को बड़ा महत्त्व दिया गया है। २८

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा[1] २९

यस्यै	जिसके शरीर में
यज्ञियः गर्भः	यज्ञ के समान पवित्र गर्भ है,

1 दस महीने का, अर्थात् पूर्ण।

महीं द्यौः पृ॑थिवी चं न इमं य॒ज्ञं मिमिक्षताम् ।
पि॒पृतां नो॒ भरींमभिः ॥ ३२ ॥

मही द्यौः	यह विशाल द्युलोक,	च	और (अर्थात् अधिकाधिक)
पृथिवी	यह विशाल पृथ्वी	इमम् यज्ञम्	इस यज्ञ को
भरीमभिः	हिरण्य धन-धान्य आदि से	मिमिक्षताम्	पूर्ण करें
नः	हमारे	पिपृतां	उसकी सुरक्षा करें ॥ ३२ ॥

हमने है जो महत् यज्ञ यह किया अनुष्ठित[1] ।
महिमामय दिव[2] और धरित्री[3] हों सहाय नित ॥
करते रहें प्रदान स्वर्ण, धन, धान्य निरंतर ।
पूर्ण करेंगे यज्ञ सदा रक्षा प्रदान कर ॥ ३२ ॥

टि०—इसमें गृहस्थाश्रम में स्थित यजमान द्युलोक और धरती के निर्माता एवं शासनकर्ता श्री भगवान से यह प्रार्थना करता है कि हमारे द्वारा जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया गया है वह पूरा हो। इस यज्ञ के लिए अपेक्षित सोना, अन्न, धन आदि हमको मिलते रहें। द्युलोक और पृथ्वी के सब देवगण सदा अनुकूल रहें। ३२

आ तिष्ठ वृत्रहुन्रथं॑ यु॒क्ता ते॒ ब्रह्म॑णा॒ हरी॑ ।
अ॒र्वा॒चीन॑ꣳ सु ते॒ मनो॒ ग्रावा॑ कृणोतु व॒ग्नुना॑ ।
उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा षो॒ड॒शिन॑
ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा षो॒ड॒शिने॑ ॥ ३३ ॥

वृत्रहन्	शत्रुहंता इन्द्र !(तू)	वग्नुना अर्वाचीनम्	शब्द मात्र से
रथं आ तिष्ठ	रथ पर विराजमान हो।	ते मनः	तेरे चित्त को
ते हरी	तेरे हरे रंग के दोनों घोड़े	सु कृणोतु	इधर लावे।
ब्रह्मणा युक्ता	कहने मात्र से चलने वाले हैं।	उपयामगृहीतः	तू नियमों से बद्ध
ग्रावा	यह यज्ञ	असि	है।
		त्वा	तुझे (मैं)
		षोडशिने	सोलह कलाओं से सम्पन्न

१ आरम्भ किया गया; २ द्युलोक, स्वर्ग; ३ धरती।

अद्वैती विद्वान करें उसका अभिनंदन।
भोग-योगरत गृही करें उसका अनुमोदन॥
वाणी से, तन से, मन से हो उसका वंदन।
सिद्ध चार पुरुषार्थयुक्त हो उसका जीवन॥
चारों आश्रम वर्ण चार ये आठ निरंतर।
रहें सदा अनुकूल प्रशंसानिरत सभी घर॥
पा उससे प्रेरणा करें मानव उन्नति नित।
कर शुभगुण स्वायत्त[1] रहे जन-जन आनंदित॥ ३०॥

टि०—इस मंत्र में ऐसे व्यक्ति के गुणों का वर्णन है, जो राष्ट्र में बड़े से बड़ा गौरव प्राप्त कर सकता है। उसे सभी दिशाओं से एक गुना, दो गुना, तीन गुना, चार गुना, आठ गुना अनुमोदन प्राप्त होता है। उसके आदर्श का अनुसरण कर प्रत्येक जन सुखी होता है। ३०

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः।
स सुगोपातमो जनः॥ ३१॥

दिवः	द्युलोक-सम्बन्धी	हि	निश्चय ही
विमहसः	विशिष्ट तेज से युक्त	सः	वह
मरुतः	मरुद्गण ने	जनः	(तुम्हारे द्वारा) मनुष्य
यस्य क्षये	जिस यजमान के घर में	सुगोपातमः	बहुत काल तक रक्षित
पाथा	सोमपान किया,		होता है॥ ३१॥

दिव[2] के परम विशिष्ट तेज से युक्त मरुद्गण[3]।
जिसके क्रतु में सोमपान करते प्रतुष्ट मन॥
दीर्घकाल तक रहता वह यजमान सुरक्षित।
वह उपयामगृहीत[4] प्रगति करता है नव नित॥ ३१॥

टि०—जिस गृहस्थ यजमान के यज्ञ में मरुद्गण संतुष्ट चित्त होकर सोमपान करते हैं। वह यम-नियम पालन करते हुए जीवन वितानेवाला दीर्घकाल तक सब प्रकार की आपदाओं से सुरक्षित रहता है। यम-नियमों का पालन करनेवाले यजमान से ही मरुद्गण प्रसन्न होते हैं। ३१

---

१ अपने अधीन; २ द्युलोक, स्वर्ग; ३ मरुत देवता जिनकी संख्या उनचास है। वे द्युलोक का विशेष तेज धारण करते हैं; ४ इसका अर्थ पहले भी लिखा जा चुका है। अहिंसा, सत्य आदि यम-नियमों का पाठ करनेवाला ही उपयामगृहीत कहा जाता है।

उपयामगृहीतः	तुम नियमों से बँधे
असि	हो।
षोडशिने इन्द्राय	सोलह कलाओं से परिपूर्ण ऐश्वर्य के लिए
त्वा	तुमसे प्रार्थना करता हूँ।
एषः	यह
ते योनिः	तेरा आश्रयस्थान है।
षोडशिने	सोलह कलाओं से परिपूर्ण
इन्द्राय	परम ऐश्वर्य देनेवाले
त्वा	तेरी मैं उपासना करता हूँ ॥ ३४ ॥

सोमपा[1] इन्द्र ! हय - द्वय निज रथ में जोड़ो।
रथवाहक हय - द्वय जोड़ो, रथ में जोड़ो ॥
वे हय जोड़ो जो हैं सुकेश, बलवत्तम।
गन्तव्य[2] देश तक पहुँचाने में सक्षम ॥
फिर सुनो और समझो प्रार्थना हमारी।
यम - नियम - बद्ध है गति - सृति सदा तुम्हारी ॥
सोलह परिपूर्ण कलाओं से जो शोभित।
ऐश्वर्य - दान वह करो देव ! हमको नित ॥
वृत्रहन्[3] ! तुम्हारा यह आश्रय - स्थल पावन।
ऐश्वर्यप्रदाता सफल करो यह जीवन ॥
सोलह परिपूर्ण कलाओं वाला वैभव।
हम भक्त तुम्हारे, प्राप्त हमें हो नित नव ॥ ३४ ॥

टि०—इस कंडिका में भी परिपूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है। इन्द्र ही परिपूर्ण ऐश्वर्य का दान कर सकते हैं। ३४

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम[1] ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने[3] ॥३५॥

सोमपाः	हे सोम का पान करनेवाले !
इन्द्र	(शत्रुओं के नाशक) इन्द्र !
षोडशिने	सोलह कलाओं से परिपूर्ण

१ सोम पीनेवाले; २ यात्रा में जहाँ तक पहुँचना उद्देश्य है; ३ वृत्र नामक असुर को मारनेवाले ।

इन्द्राय	ऐश्वर्यवान के स्थान पर रखता हूँ।	एषः योनिः	यह आश्रयस्थान है ॥ ३३ ॥
ते	तेरा		

ये हरित[1] वर्ण के हय[2] स्यंदन[3] में साजो।
वृत्रहन् इन्द्र! इस रथ पर आज विराजो॥
संकेतमात्र से चलते अश्व तुम्हारे।
सुन यज्ञ शब्द द्रवता[4] हो उर में धारे॥
हय हरित तुम्हें मेरे क्रतु में ले आवें।
यम-नियम-बद्ध तुमसे अभीष्ट हम पावें॥
सोलहों कलाओं से संपन्न सुरेश्वर।
ऐश्वर्यवान जितने हो तुम सर्वोपरि॥
यह यज्ञ तुम्हारा आश्रय-स्थल है पावन।
हे देव! पधारो इसमें तुम पाहुन बन॥ ३३॥

टि०—इस कंडिका में यज्ञ में पधारने के लिए वृत्रहंता इन्द्र का बड़ा भावभीना आवाहन किया गया है। वे अपने रथ में हरे रंग के घोड़े जोतकर यज्ञ में आवें। उनके घोड़े इशारे से चल पड़ते हैं। यज्ञ इन्द्र को इतना प्रिय है कि उसका नाम सुनते ही उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता है। इन्द्र सोलहों कलाओं से संपन्न हैं, परिपूर्ण हैं, वैसा ऐश्वर्यवान कोई दूसरा नहीं। यज्ञभूमि में पधारकर वे विश्राम पाते हैं, इसीलिए इसको उनका आश्रयस्थान कहा गया है। ३३

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर[1]।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने[3] ॥३४॥

सोमपाः इन्द्र	हे सोमरस पीनेवाले इन्द्र!	हरी	दो घोड़े
		रथम् युक्ष्व	अपने रथ में जोतो।
केशिना	अच्छे बाल वाले	अथ	तदनन्तर
वृषणा	बलवान	नः	हम लोगों की
कक्ष्यप्रा	इष्टस्थान तक पहुँचानेवाले	गिरां उपश्रुति	प्रार्थना को
		हि चर	समझो।

१ हरे; २ घोड़ा; ३ रथ; ४ मन की द्रवीभूत स्थिति, दया और कृपा से आर्द्र बना मन।

यस्मात् परः	जिस परमात्मा से उत्तम (कोई)	प्रजया	प्रजा से
अन्यः न	दूसरा नहीं	संरराणः	भली-भाँति रमण करता हुआ
जातः अस्ति	उत्पन्न हुआ है।	त्रीणि ज्योतींषि	सूर्य, विद्युत् अग्नि नामक तीन ज्योतियों को
यः	जो		
विश्वा	समस्त		
भुवनानि	भुवनों में	सचते	धारण करता है।
आविवेश	व्याप्त है,	षोडशी	सोलह कलाओं से वह युक्त है ॥ ३६ ॥
सः	वह		
प्रजापतिः	प्रजापति परमेश्वर		

जिस परमेश्वर से कोई और न उत्तम।
जो सब भुवनों में है परिव्याप्त परम क्षम॥
वह निखिल प्रजा का पालक अन्तर्यामी।
अतिवर्ती[1] है सबका वह सबका स्वामी॥
रवि, विद्युत, अग्नि सभी को अपने भीतर।
धारण करता है वह विराट् जगदीश्वर॥
षोडशी कलाओं[2] से है वह मंडित नित।
उसका विग्रह है तेज - निधान अपरिमित॥
सच्चिदानन्द अविनश्वर शुद्ध सनातन।
उसके श्रीचरणों में अर्पित हो जीवन॥ ३६॥

टि०—इस कंडिका मे अत्यंत भाव-विभोर होकर ऋषि ने श्रीभगवान का स्तवन किया है। भगवान् के समान अथवा उनसे उत्तम और कोई नहीं। वे सब भुवनों के अंतर्वर्ती और अतिवर्ती है। उस आनंदमय शुद्ध बुद्ध परमात्मा के श्रीचरणों में हम अपने को समर्पित करें। वे भगवान सोलह कलाओं के स्वामी हैं। ३६

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम्।
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा
सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥३७॥

---

१ सबमे व्यापक होते हुए भी सबके परे; २ इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दश इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम।

इन्द्राय	ऐश्वर्य के लिए
अप्रतिधृष्टशवसं	जिन्होंने अपनी शक्ति की पूर्ण-वृद्धि कर रखी है
इन्द्रं	ऐसे इन्द्र को तुझ
हरी	दो घोड़े
इत वहतः	ले जाते हैं
ऋषीणां च स्तुतीः	और ऋषियों की स्तुतियों (तथा)
मानुषाणां	मनुष्यों के
यज्ञन्	यज्ञ की रक्षा के लिए
च उप	उनके समीप जाते हैं।
ते	तेरा
एषः योनिः	यह आश्रय-स्थान है।
उपयामगृहीतः	तू नियमों से बद्ध
असि	है।
षोडशिने	सोलह कलायुक्त
इन्द्राय	ऐश्वर्य के लिए
त्वा	तेरा (प्रजा आश्रय ले।)
त्वा	हम भी तुम्हारा आश्रय लेते हैं ॥ ३५ ॥

हे इन्द्र! सोमपा तुम हो शत्रुविनाशक।
षोडश - परिपूर्ण - कला ऐश्वर्य - प्रकाशक ॥
बल और शक्ति जिनका पूरा विकसित।
ऐसे दो हय रथ उनका करते वाहित ॥
शोभित उनसे हे ऋषियो होओ संस्तुत।
मानवता क्रतु की रक्षा को रहते उद्यत ॥
जाते याजक के निकट अनुग्रह करते।
आश्रय - स्थल क्रतु को मान मोद उर भरते ॥
यम - नियम - पाल हो तुम ऐश्वर्यप्रदाता।
तुम सकल प्रजाओं के हो आश्रयदाता ॥
वैभव - परिपूर्ण प्रजाजन तुमसे पावें।
हम भी हे देव! तुम्हारा आश्रय पावें ॥ ३५ ॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे शक्तिसंपन्न हरे रंग के दो घोड़ों से जुते रथ पर यज्ञस्थल में पधारें। इन्द्र जब अपने रथ पर सवार होकर चलते हैं, तो ऋषिगण उनका स्तवन करते हैं। इस रूप में वे मनुष्यों के किये हुए यज्ञ की रक्षा करने के लिए तैयार रहते हैं। वे सब प्रजाजनों को पूर्ण ऐश्वर्य और आश्रय प्रदान करते है। ३५

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि
ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥३६॥

पवस्व	प्रदान करो।
मयि	मुझमें
पोषम् रयिं	पुष्टिकारक ऐश्वर्य
दधत्	स्थापन करो।
उपयामगृहीतः	उत्तम व्यवस्था से तुम परिचालित
असि	हो।
अग्नये	अग्रणी पद के लिए,
वर्चसे त्वा	तेजस्विता के लिए तुम्हें वरण करता हूँ।
ते	तुम्हारा
एषः योनिः	यह आश्रयस्थान है।
अग्नये	तेजस्वी देव अग्नि के
वर्चसे त्वा	तेज की प्राप्ति के लिए तुम्हें वरण करता हूँ।
वर्चस्विन् अग्ने	हे तेजस्वी अग्नि !
देवेषु त्वं	देवताओं में तुम
वर्चस्वान् असि	अति प्रकाशमान हो।
अहं	मैं
मनुष्येषु	मनुष्यों में
वर्चस्वान्	तेजस्वी
भूयासम्	होऊँ ॥ ३८ ॥

हे अग्ने ! हो श्रेष्ठ कर्म करनेवाले तुम।
श्रेष्ठ पराक्रम तेज परम तुमसे पावें हम ॥
करो पुष्टिकारक वैभव तुम मुझमें स्थापित।
यम-नियमों से देव ! सदा तुम हो अनुशासित ॥
करता हूँ मैं वरण तुम्हारा, दो मुझको वर।
रहूँ अग्रणी[1] तेजवान मैं नित्य निरंतर ॥
यज्ञ यही है स्थान तुम्हारा प्रथित सनातन।
करता हूँ मैं वरण, करो बल वर्चस् अर्पण ॥
हे वर्चस्वी अग्नि ! सुरों में चरम दीप्तिमत्।
बनूँ मानवों में मैं भी तुमसे ज्योतिर्धृत्[2] ॥ ३८ ॥

टि०—इस कंडिका में प्रार्थना की गई है कि अग्निदेव हमको श्रेष्ठ पराक्रम और तेज प्रदान करें। अग्नि स्वयं यम-नियमों की व्यवस्था का पालन करते हैं, इसलिए जहाँ उनके प्रति आदर और भक्ति है, वहाँ यम-नियमों का पालन किया जाना अनिवार्य है। यम-नियमों का पालन करनेवाले धर्मप्राण मानवों के यज्ञ में ही अग्नि अवतरित होते हैं। बल और वर्चस्व प्रदान करते हैं। ३८

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसे एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे। इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥

१ अगुआ, प्रमुख; २ प्रकाश धारण करनेवाले।

इन्द्रः च वरुणः	इन्द्र और वरुण	**अहम्**	मैं
सम्राड् च राजा	सम्राट् और राजा हैं।	**भक्षं भक्षयामि**	भोग्य पदार्थ का भोग करता हूँ।
तौ	वे दोनों	**वाग् प्राणेन**	वाणी प्राण से मिलकर
अग्रे	सबसे पहले		
ते	तेरे	**स्वाहा जुषाणा**	सोम से संतुष्ट होती है।
एतं	इस		
भक्षं	भोग्य पदार्थ को	**देवी सोमस्य सह**	उसी प्रकार सोम से मिलकर
चक्रतुः	पैदा करते हैं।		
तयोः अनु	उन दोनों के पश्चात्	**तृप्यतु**	सब तृप्त हों ॥३७॥

इन्द्र - वरुण सम्राट् और राजा हैं दोनों।
उपजाते सब भोग्य वस्तुएँ पहले दोनों॥
करके अर्पित उन्हें ग्रहण करते हैं वह हम।
यज्ञशेष[1] कर भोग यही उत्तम जीवन - क्रम[2]॥
वाक् प्राण मिल तुष्ट हो रहे सोमपान कर।
राजा हैं ये सोम तृप्त सब इनसे मिलकर॥
श्रुतिवाणी से सभी तृप्त हों, लें हवि स्वाहा !॥ ३७॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र और वरुण को क्रमशः सम्राट और राजा कहा गया है। सम्राट् का अर्थ है चक्रवर्ती और राजा का अर्थ है उसका मांडलिक। इनके न्यायपूर्ण विधान के द्वारा पहले सब वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं। धर्माचरण करनेवाले प्रजाजन पहले ये सब वस्तुएँ उनके उत्पादक परमेश्वर को अर्पित कर तदनंतर यज्ञावशिष्ट के रूप में उनका उपभोग करते हैं। वाक् और प्राण दोनों सोम से तृप्त होते हैं। सब देवता और मनुष्य संतुष्ट हों, यह शुभ कामना अंत में व्यक्त की गई है। ३७

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्[1]। उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसे[2] एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे[3]। अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्[4] ॥ ३८ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	**अस्मे**	हमें
स्वपाः	अच्छे कर्म करने-वाले तुम	**सुवीर्यम् वर्चः**	उत्तम पराक्रम-युक्त तेज

१ यज्ञ करके बचा हुआ; २ जीवन की व्यवस्था।

अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒२ अनु॑ । भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॒ यथा॑ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒षते॒ योनि॒ः सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑ । सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठस्त्वं दे॒वेष्व॑सि भ्राजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॒षु भूयासम् ॥ ४० ॥

यथा	जिस प्रकार	एषः	यह
अस्य केतवः	इस सूर्य की तेजस्वी	ते योनिः	तेरा उद्गम-स्थान है।
रश्मयः	केतु-जैसी किरणें	भ्राजाय	तेजस्वी
जनान्	मनुष्यों को	सूर्याय	सूर्य-पद के लिए
अनु वि अदृश्रं	विशेष रीति से दृष्टिगोचर होती हैं	त्वा	तुझे वरण करता हूँ।
		भ्राजिष्ठ सूर्य	अत्यंत तेजस्वी सूर्य !
अग्नयः	अग्नि की तरह	देवेषु	देवों में
भ्राजन्तः	दीप्यमान	भ्राजिष्ठः	सबसे अधिक प्रकाशमान
उपयामगृहीतः	(तू) नियमों से बद्ध		
असि	है।	असि	तू है।
भ्राजाय	तेजस्वी	मनुष्येषु अहं	मनुष्यों में मैं
सूर्याय	सूर्य के लिए	भ्राजिष्ठः भूयासम्	तेरे तेज से तेजस्वी होऊँ ॥ ४० ॥
त्वा	तुझे (स्वीकारता हूँ)		

ये केतु-सदृश रवि की किरणें होतीं जन-जन को दृष्टिगता[1] ।
हैं अग्नि और विद्युत जैसी सविशेष[2] अनंत प्रकाशरता ॥
वैसे ही हैं ये देवदेव ऋत - सत्य यम-नियम-संचालक ।
इन सूर्यदेव के हेतु बना मैं दृढ़ यम-नियमों का पालक ॥
हे तेजोमय ! हे सूर्यदेव ! है यहाँ तुम्हारा आश्रय-स्थल ।
भ्राजिष्णु[3] सूर्यपद मिले मुझे है वरण किये यम-नियम सकल ॥
भ्राजिष्ठ[4] सूर्य ! सब देवों में तुम सबसे अधिक प्रकाशमान ।
मैं भी सब मानव - जाति मध्य सर्वाधिक होऊँ भ्राजमान ॥ ४० ॥

टि०—इसमें भगवान सूर्य से यह प्रार्थना की गई है कि वे मुझे मानव-जाति में सर्वाधिक तेजस्वी बनावें। सूर्य भगवान के स्वरूप का इस कंडिका में बड़ा मनोहारी वर्णन किया गया है। सूर्य की किरणें आकाश में प्रत्येक व्यक्ति को पताकाओं की तरह फहराती हुई दिखाई पड़ती हैं। वे अग्निगर्भा और विद्युद्गर्भा हैं। सूर्यदेव ऋत, सत्य, यम-नियम आदि के पालक और संचालक हैं। मनुष्य को भी इन सूर्यदेव का कृपा-प्रसाद प्राप्त करने के लिए यम-नियमों का पालन करना चाहिए। सूर्य की सम्यक् उपासना से मनुष्य महान तेजस्वी बन सकता है। ४०

१ दिखाई पड़ती हुई; २ विशेष प्रकार से; ३ प्रकाशमान; ४ सबसे अधिक प्रकाशमान।

इन्द्र	हे ऐश्वर्यवान इन्द्र !
चमू सुतम्	पात्र में गृहीत
सोमं पीत्वी	सोम का पान करके
ओजसा सह	पराक्रम से
उत्तिष्ठन्	उन्नति को प्राप्त करो,
शिप्रे	हनु और नासिका को
अवेपयः	हिलाओ।
उपयामगृहीतः असि	तुम नियमों से बँधे हो।
एषः	यह
ते योनिः	तेरा प्रभव-स्थान है।
त्वा	तुम्हारे
ओजसे इन्द्राय	पराक्रम और ऐश्वर्य के लिए (हम तुम्हारी सेवा करते हैं)।
ओजसे इन्द्राय त्वा	अत्यन्त पराक्रम के लिए तुमको प्राप्त करते हैं।
ओजिष्ठ इन्द्र	परम बलवान इन्द्र
त्वं देवेषु	तुम सब देवों में
ओजिष्ठः असि	सबसे पराक्रम-संपन्न हो।
अहं	मैं
मानुष्येषु	मनुष्यों में
ओजिष्ठः	अधिक पराक्रमी
भूयासम्	हो जाऊँ ॥ ३६ ॥

ऐश्वर्यवान हे इन्द्र ! पियो, यह सोम पियो।
इस सोमपात्र में प्रस्तुत है यह सोम, पियो ॥
तुम प्रबल पराक्रम से अपने, उन्नति को प्राप्त करो नित नव।
हनु[1] और नासिका कंपित कर प्रज्वलित करो पौरुष का दव ॥
यम-नियमों से हो बद्ध सदा यह यज्ञ तुम्हारा आश्रय-स्थल।
विक्रम निज हममें प्रकटाओ हम सेवा करते हैं प्रतिपल ॥
हम परम पराक्रमवान बनें इस भाँति तुम्हें हम करें प्राप्त।
हे इन्द्र ! सभी देवों में हो तुम चरम पराक्रमवान आप्त[2] ॥
हम भी इस मानव - जाति बीच हों सबसे तेजस्वी महान।
ऐश्वर्यवान हे इन्द्र ! करो मेरे इस मख में सोमपान ॥ ३६ ॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र से सोमपात्र में रखे हुए साम को पीने की प्रार्थना की गई है। सोम पीकर इन्द्र अपनी नासिका और हनु को कंपित कर अपना पौरुष प्रकट करें। इन्द्र हम सबको पराक्रमी और तेजस्वी बनावें। ३६

---

१ चिवुक, ठुड्ढी; २ प्रामाणिक।

आ जिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः ।
पुनरूर्जा नि वर्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा
पयस्वती पुनर्मा विशताद्रयिः ॥ ४२ ॥

महि	हे गौ !
कलशम् आजिघ्र	इस सोमरस के कलश को सूँघो।
इन्दवः	सोम के रस
त्वा	तुम्हारे भीतर
आ विशन्तु	प्रवेश करें।
सा	वह तुम
ऊर्जा	तेजस्वी दूध के साथ
पुनः	फिर
नि वर्तस्व	हमारे पास आओ।
नः	हमको
सहस्रं	सहस्र प्रकार के
धुक्ष्व	धन दो।
उरुधारा	बहुत दूध देनेवाली
पयस्वती	दुधारी गायों का
रयिः	धन
पुनः	फिर
मा आ विशतात्	मुझको प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

हे पूजनीय[1] गो ! सूँघो यह सोमरस-कलश ।
कर जाय प्रवेश तुम्हारे भीतर यह शुचिरस[2] ॥
तेजस्वी और श्रेष्ठ ऊर्जा[3] से मंडित तुम ।
फिर पास हमारे आओ दो धन परमोत्तम ॥
बरसो सहस्र धाराओं में धन - धान्य महत् ।
हो पयस्वती[4]-पुरुधार[5] धेनु-धन[6] प्राप्त सतत ॥ ४२ ॥

टि०—इस मंत्र में गो से यह प्रार्थना की गई है कि वह सोमरस के कलश को सूँघे। सोमरस सूँघने मात्र से गाय के रोम-रोम में प्रवेश कर जायेगा। वह सोमरस परम श्रेष्ठ तेजस्वी दूध बनकर लौटेगा और हमें परमोत्तम धन-धान्य प्रदान करेगा। हे सोम ! हजारों धाराओं में तुम हम पर धन-धान्य की वर्षा करो। हमें मोटी, अक्षीण और अक्षय धाराओंवाली सैकड़ों गायों का समूह प्रदान करो। ४२

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

इडे	हे सबकी स्तुत्य !
रन्ते	हे रमणीय !
हव्ये	हे हवनीय दुग्ध और घृत देनेवाली!
काम्ये	हे कामना करने योग्य !
चन्द्रे	हे आह्लाद-कारिणी !

१ पूजा के योग्य; २ पवित्र सोमरस; ३ शक्ति; ४ दुधारी; ५ मोटी अथवा बहुसंख्यक धाराओं- वाली; ६ समूह ।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम्[1] ।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायै[2]—ष
ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय[3] ॥ ४१ ॥

उ त्यं	निश्चय ही
जातवेदसं	वेदों के प्रकाश करनेवाले, जाग्रत
सूर्यं देवं	सूर्यदेव को
विश्वाय दृशे	समस्त संसार को दृष्टि देने के लिए
केतवः	किरणें
उत् वहन्ति	उदयाचल से प्रकट करती हैं।
उपयामगृहीतः	तुम नियमों से स्वीकार किये गये
असि	हो।
त्वा भ्राजाय	तुम प्रकाशमान
सूर्याय	सूर्य को (हम स्वीकार करते हैं)।
ते	तुम्हारा
एषः	यह
योनिः	आश्रय-स्थान है।
त्वा	तुम
भ्राजाय सूर्याय	प्रकाशमान सूर्य के लिए यह यज्ञ है ॥ ४१ ॥

निश्चय ही वेदों के जो परम प्रकाशक।
जो हैं हिरण्यमय[1] जग के तिमिर-विनाशक ॥
किरणें करतीं उन रवि को परम प्रकाशित।
वे निखिल सृष्टि को दृष्टिदान[2] देते नित ॥
हैं किये तुम्हारे लिए यम-नियम धारण।
यह यज्ञ अनुष्ठित किया तुम्हारे कारण ॥
यह यज्ञ-स्थान है पूत अर्चना का स्थल।
भ्राजिष्णु सूर्य आराध्यमान हैं प्रतिपल ॥ ४१ ॥

टि०—यह सूर्ययाग के अनुष्ठान के अवसर पर सूर्यदेव का स्तुति-मंत्र हैं। सूर्यदेव वेदों को प्रकाशित करनेवाले हैं। वे तप्त कांचन के समान प्रकाशमान होकर संसार का अंधकार दूर करते हैं। यम-नियमों का पालन करते हुए उनके लिए जो यज्ञ किया जाता है, वह सफल होता है। सम्भव है, इस कंडिका में जिस यज्ञ का संकेत है, वह गायत्री-यज्ञ हो। गायत्री यज्ञ के आराध्य सूर्य हैं। ४१

---

१ तपते कुंदन जैसा; २ देखने की शक्ति का दान।

अस्मान्	हमको	विमृधे	शत्रु-नाशक
अभि दासति	दास बनाना चाहता है,	इन्द्राय	इन्द्र के पद के लिए (मैं स्वीकारता हूँ।)
अधरं	(उसे) निकृष्ट	ते	तेरा
तमः	अंधकारपूर्ण नरक के प्रति	एषः योनिः	यह उद्गम-स्थान है।
गमय	ले जाओ।	विमृधः	विशेष संग्राम करनेवाले
उपयामगृहीतः	तुम सुनियमों से बद्ध	इन्द्राय त्वा	इन्द्र के लिए तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ४४ ॥
असि	हो।		
त्वा	तुमको		

हे इन्द्र ! करो सब शत्रु विजित।
आक्रान्ता हों सब पद - मर्दित ॥
रिपु की सेनायें हों विदलित।
हों छिन्न - भिन्न वे अधोशयित[1] ॥
चाहते हमें करना अधीन।
वे शत्रु सकल हों तिमिरलीन ॥
तुम यम - नियमों के हो पालक।
हे इन्द्र ! शत्रुकुल के घातक ॥
हे देव ! इन्द्र - पद करो ग्रहण।
करते हैं हम सब तुम्हें वरण ॥
यह यज्ञ तुम्हारा बल - संबल[2]।
है तुष्टि तुम्हारी इसका फल ॥
है धर्म - युद्ध यह हुआ प्राप्त।
तुम शत्रु - विनाशक परम आप्त ॥
हे इन्द्र ! करो सब शत्रु विजित।
आक्रान्ता[3] हों सब पदमर्दित ॥ ४४ ॥

टि०—धर्मयुद्ध का अवसर प्राप्त होने पर शत्रुओं के नाश के लिए इस कंडिका में इन्द्र का आवाहन किया गया। सेनाओं के संचालन के लिए किसी वरेण्य वीर को इन्द्रपद प्रदान किया जा रहा है। उसे यह दायित्व सौंपा गया है कि हमारी स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए जिन शत्रुओं ने सेना लेकर आक्रमण किया है, उन्हें नष्ट कर दिया जाय। ४४

१ मरकर नीचे धरती पर सोई हुई; २ शक्ति और पाथेय अर्थात् शक्ति के स्रोत; ३ हमला करनेवाले।

ज्योते	हे तेजस्विनी !	अघ्न्या:	हे अवध्य धेनु !
अदिते	हे अदीन और अखंडनीय !	ते	तुम्हारे
		एता	ये
सरस्वति	हे दूध का प्रवाह देनेवाली !	नामानि	नाम हैं।
		देवेभ्य:	देवताओं से
महि	हे माननीय !	सुकृतम्	हमारे सुन्दर कर्म
विश्रुति	बहुत प्रकार से प्रसिद्ध	मा	और मेरी (कृति)
		ब्रूतात्	कहो ॥ ४३ ॥

हे इड़े ! परम रमणीय, हव्य घृत-दुग्ध-प्रदात्री।
काम्ये ! चन्द्रे ! ज्योतिर्मय पूजापात्री ॥
तुम अदिति अदीना सरस्वती महनीया।
हे धेनु ! अवध्या विश्रुत चिर - वरणीया ॥
ये नाम तुम्हारे प्रकट कर रहे गुणगण।
तुम करो हमारे हेतु इन्हीं का प्रवचन ॥
मानवी - सृष्टि यह निखिल तुम्हीं से पालित।
घृत - दुग्ध - प्रदात्री देवि ! अवध्या हो नित ॥ ४३ ॥

टि०—इस कंडिका में गाय की महिमा का वर्णन है। गाय के ग्यारह नाम इस मंत्र में दिये गये हैं। इन नामों से गो के विशिष्ट गुण-समूह जाने जा सकते हैं। ये मंत्र सूचित करते हैं कि गाय में देवताओं का अंश रहता है। इसलिए वह प्रत्येक देश और काल में अवध्य है। गो के ग्यारह नाम हैं—इड़ा-स्तुतियोग्य, रन्ता-रमणीय, हव्या-यज्ञ के लिए हवनीय घी-दूध देनेवाली, काम्या-इच्छा करने योग्य, चन्द्रा-आह्लादकारक, ज्योती-तेजस्विनी, अदिती-अदीन, सरस्वती-दूध का प्रवाह बहानेवाली, मही-महान्, विश्रुती-सुप्रसिद्ध, अघ्न्या-अवध्या। ४३

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः।
यो अ॒स्माँ२ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑[1]।
उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑[2]
ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑[3] ॥४४॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	पृतन्यत:	हमपर सेना भेजनेवालों को
न:	हमारे शत्रुओं को		
मृध:	संग्रामों में	नीचा यच्छ	नीचे रखो।
वि जहि	पराभूत करो।	य:	जो

का करनेवाला है और सबका कल्याण करने की इच्छा जिसके मन में रहती है, उसी का यज्ञ में आवाहन किया जाना चाहिए। इन्द्र ऐसे ही हैं। इसलिए उनका आवाहन किया गया है। वे आकर यज्ञ को सफल बनायें। वे मन के समान वेगवान हैं। बुलाने पर तुरंत आते हैं। ४५

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथाऽसत्[1]।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे[3] ॥४६॥

विश्वकर्मन्	समस्त श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुष!
वर्धनेन	तू वृद्धि करनेवाले
हविषा	हवि-रूप उपकरणों से
त्रातारम्	संरक्षक को
अवध्यम्	अवध्य
अकृणोत्	बना देता है।
तस्मै	उसके आगे
पूर्वी विशः	सब प्रजाएँ
सम् अनमन्त	अच्छी प्रकार नत होती हैं।
अयम्	यह
विहव्यः	विशेष रूप से बुलाने योग्य हो,
यथा असत्	वैसा प्रयत्न कर।
उपयामगृहीतः असि	तू यम-नियमों से बंधा है।
त्वा	तुझको
इन्द्राय विश्वकर्मणे	विश्वकर्मा इन्द्र के पद पर (नियुक्त करता हूं)।
एषः	यह
ते योनिः	तेरा स्थान है।
त्वा	तुझको
इन्द्राय विश्वकर्मणे	विश्वकर्मा इन्द्र के पद पर (नियुक्त करता हूं)॥ ४६ ॥

अये विश्वकर्मन्! तुम करते श्रेष्ठ कर्म निःशेष[1] अनुष्ठित[2]।
वर्धक हवि के साधन से कर देते रक्षक को अवध्य[3] नित॥
सकल प्रजाएं सदा तुम्हारे सम्मुख रहती हैं श्रद्धानत।
अति आदर के साथ यज्ञ में तुम आह्वान-योग्य हो संतत॥
इन्द्र विश्वकर्मा का पद यह ग्रहण करो यम-नियम-बद्ध तुम।
यज्ञ तुम्हारा स्थान कर रहे स्थापित इसपर तुमको हम॥ ४६॥

---

१ सब; २ संपन्न; ३ जो मारे जाने के योग्य न हो।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा[1] ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण[2]
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे[3] ॥४५॥

वाचस्पतिं	महान वाणी के पति अर्थात् विद्वान,
विश्वकर्माणं	सब सर्वश्रेष्ठ कर्मों के करनेवाले,
मनोजुवं	मन के समान वेगवान पुरुष को
अद्या	आज के
वाजे	यज्ञ में
हुवेम	हम बुलाते हैं।
सः	वह
साधुकर्मा	श्रेष्ठ कर्म करनेवाला,
विश्वशम्भूः	विश्व का कल्याण करनेवाला
नः	हमारे
विश्वानि	सब
हवनानि	हवनीय पदार्थों को
जोषत्	स्वीकार करे।
उपयामगृहीतः	(तू) सुनियमों का पालक
असि	हो।
त्वा	तू
इन्द्राय विश्वकर्मणे	विश्वकर्मा इन्द्र है।
एषः	यह
ते योनिः	तेरा स्थान है।
त्वा	तुझको
इन्द्राय विश्वकर्मणे	विश्वकर्मा इन्द्र कहा जाता है ॥४५॥

अये परम विद्वान्! विदित हो तुम वाचस्पति[1] ।
वेगवान मन के समान अद्भुत अकुंठ गति ॥
ऋतु में करते आज तुम्हारा हम आवाहन ।
करो हव्य स्वीकार तुम्हें करते जो अर्पण ॥
प्रथित साधुकर्मा[2] सबके कल्याण - विधायक ।
वही हव्य के पात्र वही है सिद्धिप्रदायक ॥
ऐसे हैं वे इन्द्रदेव यम - नियम - बद्ध नित ।
यज्ञभूमि यह स्थान उन्हीं का है चिर - वंदित ॥
करते रहते वे समस्त शुभ कर्म निरंतर ।
सफल करें वे इन्द्र विश्वकर्मा यह अध्वर[3] ॥ ४५ ॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र के गुण बताये गये हैं। वे महान विद्वान हैं और जितने प्रकार के शुभ कर्म हैं उनका अनुष्ठान करते रहते हैं। जो साधु अर्थात् सत्कर्मो

१ वाणी का स्वामी, परम विद्वान; २ साधुओं के-से कर्म करनेवाला; ३ यज्ञ।

ब्रेशीनां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[१] कुकूननानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[२] भन्दनानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[३] मदिन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[४] मधुन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[५] शुक्रं त्वा शुक्र आ धूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु[६] ॥४८॥

ब्रेशीनाम्	मेघों के उदर में स्थित जल को
पत्मन्	बरसने के लिए
त्वा	तुझको
आधूनोमि	कंपित करता हूँ।
कुकूननानाम्	शब्द करते हुए मेघ के गर्भ में रहनेवाले जल को
पत्मन्	बरसने के लिए
त्वा आधूनोमि	तुझे कंपित करता हूँ।
भन्दनाम्	प्रसन्न करनेवाले मेघों में स्थित जल को
पत्मन्	बरसने के लिए
त्वा आधूनोमि	कंपित करता हूँ।
मदिन्तमानां	अत्यंत तृप्तिकारी मेघों के उदर में स्थित जल को
पत्मन्	बरसने के लिए
त्वा आधूनोमि	तुझे कंपित करता हूँ।
मधुन्तमानां	अमृत-स्वरूप मेघ के जल को
पत्मन्	बरसने के लिए
त्वा आधूनोमि	तुझे कंपित करता हूँ।
शुक्रम् त्वा	बलयुक्त शुद्ध तुझको
शुक्रे आधूनोमि	शुद्ध जल के रूप में कंपित करता हूँ।
अह्नः रूपे	दिन के रूप में
सूर्यस्य रश्मेषु	सूर्य की किरणों से कंपित करता हूँ ॥ ४८ ॥

बरसाने को मेघों के भीतर का जल
मैं ही कंपित करता उनको ज्यों चलदल[१] ॥
गर्जित घन के उदर बीच जो सचित।
बरसाने को वह जल करता मैं कंपित ॥
अति आनंदन[२] घन जिस जल से है पूरित।
उसको बरसाने को मैं करता कंपित ॥
अत्यंत तृप्तिकर[३] जल जो घन में संस्थित[४]।
बरसाने को वह करता हूँ मैं वेपित[५] ॥
अमृतोपम[६] मेघोदक[७] जीवनदायक नित।

---

१ पीपल का पत्ता; २ आनन्द देनेवाले; ३ प्यास बुझाकर तृप्त करनेवाला; ४ इकट्ठा है; ५ कंपित; ६ अमृत के समान गुणकारी; ७ बादल का जल।

टि०—विनियोग में इस मंत्र के देवता 'विश्वकर्मेन्द्र' कहे गये है। यज्ञ में विश्वकर्मा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह इस मंत्र से स्पष्ट है। ४६

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं
गृह्णामी[1]—न्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि[2]
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं
गृह्णाम्य[3]—नुष्टुप्तेऽभिगरः[4] ॥४७॥

उपयामगृहीतः	(तू) नियमों से बद्ध	जगत् छन्दसं	जगती छन्द के द्वारा
असि	है।	त्वा	तुझको
अग्नये	अग्नि के लिए	विश्वेभ्यः देवेभ्यः	समस्त देवों के लिए
गायत्रछन्दसं	गायत्री छंद से	गृह्णामि	स्वीकार करता हूँ।
त्वा गृह्णामि	तुझको स्वीकार करता हूँ।	ते अभिगरः	तेरा वर्णन करने-वाला
त्रिष्टुप् छन्दसं	त्रिष्टुप् छंद से	अनुष्टुप्	अनुष्टुप् छंद है ॥ ४७ ॥
त्वा	तुझको		
इन्द्राय गृह्णामि	इन्द्र के लिए स्वीकार करता हूं।		

स्वीकार किये शुचितम[1] तुमने यम-नियम सकल।
गायत्र छंद में गेय[2] अग्नि का यश निर्मल॥
त्रिष्टुप् में वर्णन-योग्य इन्द्र का बल-विक्रम।
जगती में विश्वेदेवा हैं कथनीय[3] परम॥
देवों के वर्णन हेतु अनुष्टुप् छंद विहित[4]।
है ज्ञेय-ध्येय[5] यह राजन्! छंद-विधान प्रथित॥ ४७॥

टि०—इस मंत्र में वैदिक छंदों का महत्त्व बताया गया है। किस छंद का प्रयोग किस विषय के वर्णन के लिए किया जाए, यह जानकारी इस मंत्र में दी गई है। इससे सिद्ध है कि पिंगलशास्त्र की भूमिका का निर्माण भी वेदों ने किया है। अग्नि के यश का वर्णन करने के लिए गायत्र छद सर्वोत्तम है। इन्द्र के पराक्रम का वर्णन त्रिष्टुप् छंद में होना चाहिए। जगती में विश्वेदेवों का वर्णन करना योग्य है। दिव्य पुरुषों अथवा देवताओं का वर्णन अनुष्टुप् में होता है। ४७

---

१ सबसे पवित्र;　२ गाने योग्य;　३ कथन करने के योग्य;　४ उपयुक्त;
५ जानने योग्य और ध्यान देने योग्य।

है नाम तुम्हारा चिर-प्रशस्य[1] बहु कीर्तित[2]।
मैं हेतु उसी के तुम्हें वरण करता नित॥
हवि पूत सोम के हेतु समर्पित स्वाहा।
हे सोम। सोम के हित अर्पित हवि, स्वाहा॥ ४९॥

टि०—इस कंडिका में 'वृषभ' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है। इसका अर्थ है बैल तथा बरसनेवाला। सोम देवता जब चन्द्रमा के रूप में आकाश में उदित होते हैं, तो वे सृष्टि रूपी बैल के ककुद (कंधे) के उभार-जैसे प्रतीत होते हैं। वे अमृतमयी किरणों की वर्षा कर दिशाओं का अँधेरा दूर कर देते हैं। उनका सोम नाम उनके उत्तम गुणों को सूचित करता है। उनके प्रसाद-रूप यज्ञ में सोमरस प्राप्त होता है। उनके लिए यज्ञ में स्वाहाकार के साथ हवि अर्पित की जाती है। ४९

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि
वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा
त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥५०॥

देव सोम	हे दिव्य सोम !
उशिक् अग्नेः	कान्तिमान अग्नि के
प्रियं पाथः	प्रिय मार्ग को
अपीहि	जान।
देव सोम	हे दिव्य सोम !
त्वं	तू
वशी इन्द्रस्य	जितेन्द्रिय इन्द्र के
प्रियम् पाथः	प्रिय मार्ग को
अपीहि	निश्चय ही प्राप्त कर।
देवसोम	हे दिव्य गुण वाले सोम !
अस्मत् सखा	हमारे मित्र होकर
विश्वेषां देवानाम्	सब देवों के
प्रियं पाथः	प्रिय मार्ग को प्राप्त कर ॥ ५० ॥

हे दिव्य सोम ! अनुकूल अग्नि के प्रिय पथ को तुम जानो।
हे कान्तिमान ! अग्रणी अग्नि के प्रिय पथ को पहचानो॥
इन्द्र हैं जितेन्द्रिय उनका पथ तुम जानो।
उनके प्रिय पथ को प्राप्त करो, पहचानो॥
हे सोम ! दिव्य गुण-युक्त सखा मेरे तुम।
सब कर्म-मार्ग देवों के प्राप्त करो तुम॥ ५०॥

टि०—सोम शान्ति के अधिदेवता हैं। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अग्नि के अनुकूल मार्ग को जानें। वे जितेन्द्रिय इन्द्र के पथ पर चलें। वे सब देवताओं के कर्ममार्ग का अनुसरण करें। चाहे राष्ट्र का जीवन हो और चाहे व्यक्ति का। उसके

१ दीर्घ-काल से प्रशंसा योग्य; २ बहुत प्रसिद्ध।

बरसे धरती पर, करता उसको कंपित ।।
बलयुक्त शुद्ध तुम जलरूप में अवस्थित ।
प्रतिदिन तुमको रविकर से करता कंपित ।। ४८ ।।

टि०—इस मंत्र का फलितार्थ यह है कि भगवान् की सत्ता के विना सृष्टि का पत्ता भी नहीं हिलता। मेघों के उदर में रहनेवाला जल भी उन परमेश्वर की इच्छा से कंपित होकर बरसता है-। कबीर ने कहा है—'चींटी के पग नेउर बाजे सो भी साहब सुनता है।' चींटी जैसे छोटे-से-छोटे जीव की पद-गति को वे जगदीश्वर सुन लेते है। वह स्वयं नहीं काँपता, सबको कँपाता है। स्वयं नहीं चलता, सबको चलाता है। ४८

ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः
शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः ।
यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि
तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा² ।।४९।।

सोम	हे सोम ! (तेरा)	यत् ते	जो तेरा
वृषभस्य	बलवान तेजस्वी	अदाभ्यम् नाम	प्रशंसा करने योग्य नाम
ककुभं	सर्वश्रेष्ठ	जागृवि	प्रसिद्ध हो रहा है,
बृहत्	महान	तस्मै	उसके लिए (मैं)
रूपं	स्वरूप	त्वा गृह्णामि	तुझको ग्रहण करता हूँ।
रोचते	प्रकाशमान है।	सोम	हे सोम !
शुक्रस्य	(ऐसा तू) शुद्ध	तस्मै सोमाय ते	उस सोम के लिए (प्रवृत्त) तुझे
पुरोगाः	अग्रगामी	स्वाहा	मैं (स्तुति) अर्पित करता हूँ ।।४९।।
शुक्रः	तथा ऐश्वर्यमय		
सोमस्य	सोम का		
पुरोगाः	अग्रगामी		
सोमः	सोम के गुणों से युक्त हो जा।		

जग-रूप वृषभ के ककुद-रूप तुम शोभित ।
हे सोम ! दिशाओं को करते उद्भासित[1] ।।
बरसाते हो किरणों से अमृत निरंतर ।
सब दिशाकाश[2] देते प्रकाश से हो भर ।।
अग्रणी[3], शुद्ध, वैभवमय हैं जो गुणगण ।
हे सोम ! वही हों सदा तुम्हारे मंडन[4] ।।

१ प्रकाशित; २ दिशायें और आकाश; ३ अगुआ; ४ अलंकार ।

माता के प्रति हो उसका सदा समर्पण।
हो मातृ-भक्ति-साधना-यज्ञ यह जीवन॥
कर्तव्य-कर्म की हवि हो अर्पित स्वाहा।
निज पुत्र धर्म की हवि हो अर्पित स्वाहा॥ ५१॥

टि०—इस मंत्र में गृहस्थाश्रम के एक बड़े महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य-कर्म का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ को पुत्रोत्पादन करना चाहिए। यह पितृयज्ञ है। गृहस्थ ऐसी श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करे जो माता की भक्त हो। माता का जो दूध उसने पिया है, उसके ऋण को जीवन भर स्मरण रखे। धन और ऐश्वर्य से, परम भक्ति से माता की सेवा करे। पुत्र का यह अपरिहार्य कर्तव्य है कि बड़ा होने पर वह माता की सेवा में निरंतर लगा रहे। माता के लिए उसे धन और ऐश्वर्य धारण करना चाहिए। उसका जीवन माता की भक्ति की साधना का यज्ञ बन जाय। ५१

स॒त्रस्य॒ ऋद्धि॑र॒स्यग॑न्म॒ ज्योति॑र॒मृता॑ अभूम।
दिवं॑ पृथि॒व्या अध्याऽरु॑हा॒मावि॑दाम दे॒वान्त्स्व॒र्ज्योतिः॑॥ ५२॥

सत्रस्य	(तू) यज्ञ की	दिवम्	स्वर्ग पर
ऋद्धिः	समृद्धि-रूप	पृथिव्याः	पृथ्वी से
असि	है।	अधि आरुहाम	हम आरोहण करें।
ज्योतिः अगन्म	(तेरे संग से हम) विज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें,	देवान् ज्योतिः	विद्वानों को विज्ञान-विषयक ज्योति
अमृता अभूम	अमरता प्राप्त करे।	स्वः आविदाम	(तथा) अत्यंत सुख को प्राप्त करानेवाले होवें॥ ५२॥

तुमने की ऋद्धि-समृद्धि यज्ञ की सम्यक्।
तुम आत्मानन्द-स्वरूप सहज प्रत्यक्-दृक्[1]॥
कृतकृत्य हुए हम पा सत्संग तुम्हारा।
तुमने उर में विज्ञान-प्रकाश पसारा[2]॥
अमरत्व प्राप्त हो गया हमें जीवन में।
हम हैं समर्थ अब दिव तक आरोहण में॥
भू से दिव[3] के आरोहण[4] में हम सक्षम।
विद्वानों को विज्ञान दान देंगे हम॥

---

१ वह मनुष्य जिसकी दृष्टि उलटकर अंतर्मुखी हो गई है;। योगी को इसीलिए मीनमार्गी कहते हैं, क्योंकि मछली धारा के विरुद्ध, उलटी चलती है;। २ फैलाया; ३ स्वर्ग; ४ चढना।

विकास के लिए शान्ति आवश्यक है। किंतु यह शान्ति तभी सुरक्षित रह सकती है, जब उसमें अग्नि का तेज, इन्द्र की शक्ति और देवों का कर्मयोग हो। ५०

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा[1]।
उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्।
रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा[2] ॥५१॥

इह रतिः	तुम्हें यहाँ प्रीति हो।	धरुणः	बालक
इह रमध्वम्	यहाँ आनंदपूर्वक रहो।	मातरम्	उस माता का
		धयन्	दूध पीकर
इह धृतिः	यहाँ धैर्यपूर्वक रहो।	अस्मासु	हममें रहकर
स्व धृतिः	अपने स्वयं के धैर्य से रहो,	स्वाहा	उत्तम समर्पण के आधार और संस्कार प्राप्त करे,
स्वाहा	समर्पणपूर्वक रहो।		
धरुणं	आधार देने के लिए	रायः पोषं	धन और पोषण
मात्रे	माता के		(माता को)
उप असृजन्	संतान उत्पन्न करो।	दीधरत्	देता रहे ॥ ५१ ॥

सानंद रहो रममाण[1] गृहस्थाश्रम में।
आनंदित होकर रहो गृहस्थाश्रम में॥
संतुलित धृति[2]-सहित करो धर्म यह पालन॥
श्रमसीकर[3] सिंचित रहो स्वावलम्बी बन।
निज श्रम से अर्जित विहित[4] हवि करो अर्पित।
गृह-जीवन क्रतुमय[5] हो गूँजे स्वाहा नित॥
माता के हित तुम करो पुत्र-उत्पादन।
जो स्तन्य-पान कर करे मातृ-आराधन॥
जननी के प्रति सुत संतत रहे समर्पित।
धन-वैभव द्वारा माता हो चिर सेवित॥
आधार पुत्र ही है होता माता का।
पालन करता है वह समक्ति माता का॥

---

१ प्रसन्नतापूर्वक लगे हुए; २ धैर्य (गृहस्थाश्रम में विषम स्थितियाँ आती हैं, उनमें संतुलन बनाये रखना आवश्यक होता है); ३ पसीने की बूंद (गृहस्थ की जीविका अपने पसीने की कमाई हो); ४ नीतिसम्मत, कानूनसम्मत; ५ यज्ञमय।

हे इन्द्र और पर्वत ! आगे बढ़ जाओ।
आक्रामक को मर्दित कर मार भगाओ॥
आक्रमण करें जो उन्हें वज्र से मारो।
आवे समीप अरि-सैन्य, उसे संहारो॥
हे परम पराक्रमवान वीर तुम वंदित।
अरिदल के धर्षण[1] में समर्थ हो तुम नित॥
सब ओर हमारे शत्रु-सैन्य है गर्जित[2]।
निज मन्यु-अनल[3] में करो उसे तुम भर्जित[4]॥
संतानें हमें प्रदान करो ऐसी तुम।
भू, अंतरिक्ष, दिव में हों जो प्रशस्ततम[5]॥
हों वीर सुतों से हम सब वीर अनुत्तम।
हम बनें पुष्ट संतति से सदा पुष्टतम॥ ५३॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र और पर्वत से यह प्रार्थना की गई है कि युद्ध करने के लिए जो शत्रु सेना लेकर चढ़ाई करे, उसको नष्ट कर दो। उसमें कोई बचे नहीं। हमको ऐसी सन्तानें प्रदान करो, जो तीनों लोकों में प्रशंसित हों। उत्तम सन्तानों से हम उत्तम सन्तानवाले कहे जायें। उत्तम पुष्ट सन्तानों से हम उत्तम और पुष्ट बनें। कुछ भाष्यकारों के अनुसार इन्द्र सेनापति का प्रतीक है और पर्वत अचल, अडिग सेनाओं का। ५३

परमेष्ठ्यभिधीतः[1] प्रजापतिर्वाचि
व्याहृतायाम्[2]—अन्धो अच्छेतः[3]।
सविता सन्यां[4] विश्वकर्मा दीक्षायाम्[5]
पूषा सोमक्रयण्याम्[6]— ॥५४॥

व्याहृतायां	कहे हुए	दीक्षायाम्	दीक्षा मे वर्णन किया।
वाचि	वचन में (तुमने)		
परमेष्ठी	प्रजापति	सोमक्रयण्यां पूषा	सोमादि ओषधियों के ग्रहण करनेवाले पूषा को जाना।
प्रजापतिः	परमेश्वर को		
अच्छेतः	अच्छी प्रकार व्यक्त किया।	सविता	सर्वप्रसविता का
विश्वकर्मा	विश्व-निर्माता का		

१ पराभव; २ गरजती हुई; ३ क्रोध की आग; ४ भुने हुए, दग्ध; ५ सबसे अधिक प्रशंसित।

देवों के परम तेज के हम अधिकारी।
चिर निर्वृतिमय[1] हो गईं वृत्तियाँ सारी॥ ५२॥

टि०—यज्ञ में किसी शुकदेव जैसे परम आत्मज्ञानलीन महापुरुष का आगमन हुआ है। वह जीवन्मुक्त है, उसकी दृष्टि अन्तर में विराजमान ईश्वर को ही देखती है। ऐसे महापुरुष का सत्संग प्राप्त कर जीवन आध्यात्मिक विज्ञान के प्रकाश से भर गया है। जीवन में मुक्ति का अनुभव होने लगा है। अमरत्व का तत्त्व प्राप्त हो गया है, इसलिए मनुष्य में स्वर्ग तक सदेह जाने की शक्ति उत्पन्न हो गई है। सारी वृत्तियाँ परमानंदमय हो गई हैं। इस प्रकार महापुरुष के सत्संग का फल इस कंडिका में निरूपित है। ५२

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम्[1]। दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत्। अस्माकꣳ शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः[2]। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः[3]॥५३॥

इन्द्रपर्वता	हे इन्द्र और पर्वत !
युवाम्	तुम दोनों,
पुरायुधा	आगे बढ़कर
यः नः	जो हम पर
पृतन्यात्	सेना लेकर चढ़ाई
तं तं	उस उसको
इत् अप हतम्	मार भगाओ।
तं तं	उनको
इत् वज्रेण हतम्	वज्र से मार डालो।
यत् गहनम्	यदि वह शत्रुदल
इनक्षत्	हमारे समीप आ जाय, (तो उसे)
दूरे	दूर
चत्ताय छन्त्सत्	भगाने का प्रयत्न करो।
शूर	हे पराक्रमी वीर !
दर्मा	शत्रुदल के फाड़ने में समर्थ होकर
अस्माकं	हमारे
विश्वतः शत्रून्	सब शत्रुओं का
विश्वतः दर्षीष्ट	सब ओर से नाश कर दो।
भूः	पृथ्वी,
भुवः	अंतरिक्ष,
स्वः	स्वर्ग
प्रजाभिः	उत्तम संतानों से
सुप्रजाः स्याम	प्रशंसित संतानों वाले होवें।
वीरः सुवीराः	वीरों से अच्छे वीरों वाले
पोषैः	धनादि पोषक ऐश्वर्यों से
सुपोषाः स्याम	उत्तम ऐश्वर्यवान बनें॥ ५३॥

१ परमानंद, मोक्षसुख।

हे मानव ! इन्द्र मरुत को सम्यक् जानो।
व्यवहार चलाते हैं ये ही इस जग का॥
असु के रक्षक हैं इन्द्र उन्हें पहचानो।
है ज्ञान उन्हीं को सब मेघों के मग का॥
स्तवनीय[१] मित्र उनको तुम अपने मानो।
शिपिविष्ट[२] विष्णु परमात्मा सर्वव्यापक॥
इनकी किरणों से पूरित[३] है अग-जग[४] सब।
वे ही हैं पालक और सभी के रक्षक॥
वे ध्येय सभी के हैं इसको जानें सब।
सन्निकट सभी के कला ईश की जगमग[५]॥
जाने-पहचाने उस आत्मा को जन सब॥ ५५॥

टि०—इस मंत्र में ज्ञेय परमात्म-तत्त्व का निर्देश है। मनुष्य को इन्द्र और मरुत् को अच्छी तरह जानना चाहिए। कारण, वे जगत् का व्यवहार चलाते हैं। वे असु अर्थात् प्राण के रक्षक हैं, मेघों के संचालक और सबके प्रशंसनीय मित्र हैं। किरण-मालाओं से मंडित सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु मानवों के ज्ञेय और ध्येय हैं। अंततः परमात्मा की अंशकला आत्मा को हमें जानना चाहिए जो हमारे सबसे निकट है। ५५

प्रोह्यमाणः सोम आगतो[१]
वरुण आसन्द्यामासन्नो[२]
ऽग्निराग्नीध्र[३] इन्द्रो हविर्धाने[४]
ऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥५६॥

प्र उह्यमाणः	अत्यंत मान के साथ	वरुणः	वरुण है।
उह्यमाणः	रथ द्वारा लाया गया (सोम)	आग्नीध्रे	यज्ञ-पद पर स्थित
आगतः	आया है।	अग्निः	अग्नि है।
सोमः	सोम	हविर्धाने	अन्न के स्थान पर
आसन्द्यां	मंचिका या सिंहासन पर	इन्द्रः	इन्द्र है।
		उपावह्रियमाणः	रक्षा करने के लिए सदा निकट
आसन्नः	विराजमान हुआ।	अथर्वा	अथर्वा है॥ ५६॥

१ स्तुति या प्रशंसा करने के योग्य; २ किरणों से मंडित; ३ भरा हुआ; ४ जड़-चेतन; ५ प्रकाशमान।

सन्याम् अभिधीतः	अच्छी प्रकार ध्यान करके	अन्धः	सुसंस्कृत अन्न का (तुमने) सेवन किया ॥५४॥

परमेष्ठी[1] प्रजापाल है जो परमेश्वर।
वाणी से मानव! उनका अभिव्यंजन कर॥
वे सबके पोषक पूषा हैं यह जानो।
उन सर्वकर्मक्षम[2] को सम्यक् पहचानो॥
यम-नियमों के धारक वे सदा अन्यतम।
सोमादिक, ओषधियों के ग्राहक उत्तम॥
वे विश्वप्रसविता सविता सबके ईश्वर।
हैं ज्ञेय-ध्येय वे ही जन-जन के हे नर॥
शुचि संस्कृत सात्त्विक अन्न करो तुम सेवन।
सुख से परिपूर्ण रहेगा सतत जीवन॥ ५४॥

टि०—इस मंत्र में भक्ति के सब तत्त्व बीज-रूप में विद्यमान हैं। 'हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते'; सब इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के स्वामी भगवान की सेवा ही भक्ति है। मंत्र में कहा गया है कि जिह्वा से भगवान की महिमा का प्रवचन करो। वे सबके पोषण करनेवाले सर्वशक्तिमान हैं, यह बोध मन में निरंतर जगाये रखो। वे सबका उत्पादन करनेवाले है, यह मत भूलो। पवित्र संस्कारित सात्त्विक भोजन करो। संस्कारित अन्न का अर्थ है, भगवान को निवेदित अन्न। मानस में भगवान स्वयं कहते हैं— 'हमहि निवेदित भोजन करहीं।' ऐसा करनेवाले सदा सुखी रहते हैं, यह वेद-वचन है। ५४

—इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितो[1]
ऽसुरः पण्यमानो[2] मित्रः क्रीतो[3] विष्णुः
शिपिविष्ट ऊरावासन्नो[4] विष्णुर्नरन्धिषः[5] ॥५५॥

क्रयाय	क्रय-विक्रय के लिए	नरन्धिषः विष्णुः	सर्वव्याप्त परमात्मा विष्णु को
इन्द्रः च मरुतः	इन्द्र और मरुत	ऊरौ आसन्न	समीप में प्रकाशित
च असुरः	और असुर या मेघ	उपोत्थितः क्रीतः	आत्मा को जानो॥ ५५॥
पण्यमानः मित्रः	स्तुति के योग्य मित्र		
शिपिविष्टः विष्णुः	तेजस्वी व्यापक विष्णु भगवान (और)		

१ सर्वोपरि; २ सब काम करने में समर्थ।

जो सिद्धि - प्राप्ति तक ऋतुरत रहता अविच्छिन्न[1] ।
है वह समुद्र - जल जो समुद्र से नहीं भिन्न ॥
जो निज शुभ कर्मों से व्यापक बनता रहता ।
उसको ही सलिल नाम से है यह जग कहता ॥
है सिंधु, समुद्र, सलिल नामों से प्रथित सोम ।
ये नामान्तर सोम के, गूँजता निखिल व्योम ॥
जिसके विक्रम से सकल लोक ये हैं संस्थित ।
अपने ही बल से अति बलवान बने जो नित ॥
निज शक्तिसंघ से जो अप्रतिम हैं महीयान[2] ।
जो शत्रु - सैन्य पर गिरते है पवि[3] के समान ॥
वे विष्णु[4] और वे वरुण[5] प्रथम होते वंदित[6] ।
विष्णु - से वरुण - से वीर प्रथम है सम्मानित ॥ ५९ ॥

टि०—यह मंत्र अत्यंत विशिष्ट है। इसमें यज्ञ के संदर्भ में 'सिन्धु', 'समुद्र' और 'सलिल' की परिभाषा बताई गई है। जो यज्ञान्त अवभृथ स्नान का पात्र बना वह सिंधु है। जो अविक्षत यज्ञ करता हुआ सिद्धि प्राप्त कर लेता है, वह समुद्र है। जो श्रेष्ठ कर्म करता हुआ व्यापक बन गया है, वह सलिल है। जिनके पराक्रम से यह विश्व टिका हुआ है, जिनका अपना बल महान है और जिनकी शक्तियाँ अप्रतिम है और जो शत्रुओं पर वज्र की तरह टूटते है, वे अग्र पूजा के अधिकारी देवता विष्णु और वरुण हैं। जिन महान वीरों ने अपने जीवन में विष्णु और वरुण जैसा पौरुष प्रदर्शित किया है, वे भी यज्ञ और समाज में सबसे पहले पूज्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है, यज्ञ में अग्र-पूज्य होने की समस्या बहुत प्राचीनकाल से उठती रही है। युधिष्ठिर के यज्ञ मे यह समस्या द्वापरयुग के अन्तिम चरण में उठी थी। भगवान कृष्ण प्रचण्ड साधुमत से अग्रपूज्य माने गये। शिशुपाल ने इसका विरोध किया और मारा गया। ५९

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं
च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्[1] ॥६०॥

यज्ञः	यज्ञ	अगन्	प्राप्त होता है।
देवान् दिवम्	देवों को और	ततः	उससे
	द्युलोक को	मा	मुझको

१ विना क्रम भंग हुए, अटूट; २ सबसे महान; ३ वज्र; ४ सर्वव्यापक परमेश्वर; ५ शत्रुओं का वारण करनेवाले देवता; ६ आदर पाये हुए।

है लाया गया सोम सादर। यह आया है उत्तम रथ पर॥
सिंहासन पर आसीन वरुण। है ज्वलित-कुंड में अग्नि अरुण॥
है हविर्धान[1] में स्वयं इन्द्र। शोभित मंगल हित चिर अतन्द्र[2]॥
अति निकट अथर्वा है सतत। रक्षा के हेतु सतत उद्यत॥ ५६॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ की व्यवस्था का विवरण है। यज्ञ में सोम श्रेष्ठ रथ पर लाया गया है। सिंहासन पर वरुण समासीन है, इन्द्र अन्न की रक्षा में अप्रमाद भाव से तत्पर हैं। यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित है, अथर्वा बहुत निकट से रक्षा कर रहे हैं। ५६

विश्वे देवा अꣳशुषु न्युप्तो[1] विष्णुराप्रीतपा
आप्याय्यमानो[2] यमः सूयमानो[3] विष्णुः
सम्भ्रियमाणो[4] वायुः पूयमानः[5] शुक्रः पूतः[6]
शुक्रः क्षीरश्रीर्[7]—मन्थी सक्तुश्रीः[8] ॥५७॥

विश्वेदेवाः	समस्त देवो !	विष्णुः	विष्णु,
अंशुषु	किरणों में (तुम)	सम्भ्रियमाणाः	सम्यक् पुष्ट
न्युप्तः	स्थापित हुए।	वायुः	प्राण वायु
आप्रीतपाः	प्रीतिमान	पूयमानः शुक्रः	पवित्र पराक्रम,
विष्णुः	विष्णु भगवान	पूतः शुक्रः	शुद्ध वीर्य (और)
आप्यायमानः	वृद्धि को प्राप्त हुए।	मन्थी क्षीरश्रीः	शत्रु को मथन करनेवाला शौर्य
यमः	यम,	सक्तुश्रीः	ये तुम्हारा आश्रय लेते है॥ ५७॥
सूयमानः	व्यापक		

है किया तुम्हारा किरणों में संस्थापन।
विश्वेदेवो ! तुम हो मंगल-विग्रह चिद्घन॥
मिलते हैं विष्णु अनन्य भक्ति के द्वारा।
अन्यथा न कोई साधन और सहारा॥
यम सबको नियमों में रहते हैं बाँधे।
यम-नियमों से वे जाते हैं आराधे॥
हैं वायु सर्वव्यापक प्राणों के पोषक।
है उनसे ही परिव्याप्त अशेष[3] काल-दिक्[4]॥

१ अन्न; २ निद्रा-आलस्य-रहित; ३ सम्पूर्ण; ४ देशकाल; सब जगह वायु है।

ये स्वधमा	ये उत्तम हवनीय पदार्थों से	**एतत् स्वाहा सं दधामि**	उसके स्वाहाकार से मैं करता हूँ।
इमं ददन्ते	इस यज्ञ को देते हैं।	**उ धर्म्मः**	वही यज्ञ
तेषाम् छिन्नं	उनके द्वारा किये यज्ञ को	**देवान् अपि एतु**	देवों को निश्चय ही प्राप्त हो ॥ ६१ ॥

जो चौंतीस तंतु करते हैं यज्ञों का विस्तार।
वे वसु अष्ट, रुद्र ग्यारह, बारह आदित्य ज्योति के द्वार ॥
इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति मिल करते सदा यज्ञ निष्पन्न[1]।
उत्तम हवनीयों को अर्पित कर करते उसको संपन्न ॥
उसी यज्ञ को मैं करता हूँ, स्वाहा-स्वाहा कर उच्चार[2]।
देवों को हो प्राप्त यज्ञ यह, बरसे मंगल धारासार[3] ॥ ६१ ॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ के चौंतीस तंतु या विधायक हेतु बताये गये हैं। वे हैं आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति। ये सब मिलकर चौंतीस होते हैं। ये सब देवगण सृष्टि के सृजन, भरण-पोषण आदि यज्ञ निरंतर करते रहते हैं। उत्तम कर्मों का हवनीय प्रदान कर ये यज्ञ की परंपरा चलाते हैं। उसी परंपरा का यज्ञ उत्तम हवनीयों से मनुष्य करे, जिससे देवता प्रसन्न हों और विश्व का कल्याण हो। ६१

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा
सो अ॒ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान ।
स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॑ᳪं
रा॒यस्पोष॑ं विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑ ॥६२॥

यज्ञस्य दोहः	यज्ञ का फल	**मे प्रजायां**	मेरी प्रजाओं को
पुरुत्रा विततः	अनेक प्रकार से फैला है।	**महि रायः**	महान् धनैश्वर्य
सः	वह	**पोषं धुक्ष्व**	और पुष्टि प्रदान करो।
अष्टधा	आठों दिशाओं में	**स्वाहा**	इस यज्ञ-क्रिया से
दिवम्	आकाश में	**विश्वम् आयुः**	संपूर्ण आयु को
अनु आततान	फैला है।	**अशीय**	मैं प्राप्त करूँ ॥ ६२ ॥
यज्ञ	हे यज्ञ !		

१ कार्यान्वित; २ उच्चारण करने की क्रिया; ३ बिना रुके मूसलाधार मंगल-वर्षा हो।

द्रविणम् अष्टु	ऐश्वर्य प्राप्त हो।	अगन्	प्राप्त कराता है।
यज्ञः	यज्ञ	ततः	उससे
मनुष्यान्	मनुष्यों को,	मा	मुझे
अन्तरिक्षं	अंतरिक्ष को	द्रविणम् अष्टु	ऐश्वर्य प्राप्त होता है।
अगन्	प्राप्त कराता है।	यज्ञः	यज्ञ
ततः	उससे	यं कं	जिस किसी
मा	मुझको	च लोकम् अगन्	लोक को प्राप्त हो,
द्रविणम् अष्टु	ऐश्वर्य प्राप्त हो।	ततः	उससे
यज्ञः	यज्ञ	मे	मेरा
पितॄन्	पितरों को	भद्रम्	कल्याण
पृथिवीम्	पृथ्वी को	अभूत्	हो ॥ ६० ॥

देवों को दिव को यज्ञ प्राप्त होता है नित।
मुझको भी उससे मिले सदा ऐश्वर्य अमित[1] ॥
जो अंतरिक्ष को मनुजो को है प्राप्त सदा।
वह यज्ञ बने मुझको अविरत अतिशय धनदा[2] ॥
पितरों को धरती को होता है यज्ञ सुलभ।
वह मुझे प्रदान करे धन श्रेष्ठ विपुल दुर्लभ[3]।
जिस किसी लोक को प्राप्त करे यह यज्ञ महित।
मेरा कल्याण-विधान रहे करता संतत ॥ ६० ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि जो यज्ञ देवों को, पितरों को, दानवों को प्राप्त होता है, उससे मुझे अपरिमित ऐश्वर्य मिले और मेरा कल्याण हो। ६०

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञꣳ स्वधया ददन्ते।
तेषां छिन्नꣳ सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मो अप्येतु देवान् ॥६१॥

ये	जो		इन्द्र, प्रजापति
चतुस्त्रिशत्	चौतीस तन्तु (आठ		और प्रकृति)
तन्तवः	वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य,	यज्ञम् वितत्निरे	यज्ञ का विस्तार करते हैं,

१ जिसकी कोई सीमा या गणना नहीं; २ धन देनेवाला; ३ ऐसा धन जो बहुत अधिक हो और जो लोगों को कठिनाई से मिलनेवाला हो।

टि०—इस मंत्र में सोम की महिमा का बखान है। वीर पुरुष सोम की रक्षा में नियुक्त रहते हैं। पूर्ववर्ती एक मंत्र में बताया गया है, सोम राजा घोड़ों के द्वारा खींचे जाते हुए रथ पर बैठकर आते हैं। वैसा ही संकेत यहाँ भी है, सोम हीरे-जवाहरात, सोने आदि से प्रकाशित रहता है। हे सोम! यज्ञ के सब फल तुम्हारे अधीन हैं। ऐसी कृपा करो, हम ज्ञान और कर्म के द्वारा अभीष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करें। ६३

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

है वितत[1] यज्ञफल यहाँ विविध-विध बहु प्रकार।
है आठ दिशाओं में नभ तक प्रसरित अपार॥
हे यज्ञ! प्रजाओं को धन आदिक दो महान।
अतुलित समृद्धि पूर्णायु करो तुम हमें दान॥
हे यज्ञ! तुम्हारे हित अर्पित हवियाँ स्वाहा।
यज्ञफल करो तुम दान विपुल स्वाहा, स्वाहा॥ ६२॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ की महिमा का वर्णन है। सृष्टि में सर्वत्र यज्ञ के फल का विस्तार है। आठों दिशाओं और आकाश तक उसका प्रसार है। यह यज्ञ हमें ऐश्वर्य देता है, पूर्णायु प्रदान करता है। ६२

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्।
वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा॥६३॥

[अध्यायः ८, कण्डिकाः ६३, मंत्र-संख्या १५०]

॥ इति अष्टमोऽध्यायः॥

सोम	हे सोम!	आ पवस्व	प्राप्त करो।
वीरवत्	(तू) वीर पुरुषों से युक्त,	गोमन्तम्	धेनुओं से युक्त
		वाजम्	अन्न को
अश्ववत्	अश्वों से युक्त,	स्वाहा	उत्तम ज्ञान और कर्म द्वारा
हिरण्यवत्	सोने और रत्नों से युक्त आयु	आ भर	प्राप्त कराओ॥६३॥

हे सोम! वीर पुरुषों से तुम हो सेवित नित।
हे सोम! सदा तुम अश्वों से होते वाहित[2]॥
तुम रत्न, हिरण्य, परम वैभव से भ्राजमान[3]।
धेनुएँ श्रेष्ठ, उत्तम धन-धान्य करो प्रदान॥
हों ज्ञान, कर्म से अधिगत[4] ये प्राप्तव्य[5] सकल।
हे सोम! तुम्हारे ही आश्रित हैं सब ऋतुफल॥ ६३॥

---

१ फैला हुआ; २ खींचे जाते हुए; ३ प्रकाशमान; ४ प्राप्त; ५ अभीष्ट।

ध्रुवसदं॑ त्वा नृषदं॑ मनःसद॑[1]मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒[2]ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्[3]। अप्सुषदं॑ त्वा घृतसदं॑ व्योमसद॑[4]मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒[5]ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्[6]। पृथिविसदं॑ त्वाऽन्तरिक्षसदं॑ दिविसदं॑ देवसदं॑ नाकसद॑[7]मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒[8]ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्[9] ॥२॥

उपयामगृहीतः	(हे राजन् !) तू नियमों के में आवद्ध
असि	है।
त्वा	तुझको
इन्द्राय जुष्टं	इन्द्रपद के योग्य जानकर (मैं)
गृह्णामि	स्वीकार करता हूँ।
ते	तेरा
एषः योनिः	यह आश्रय-स्थान है।
जुष्टतमं	सवसे अधिक योग्य,
ध्रुवसदं	स्थिर रूप से विराजनेवाले,
नृषदं	सब मनुष्यों में प्रतिष्ठित,
मनः सदं त्वा	सबके मनों को आकर्षित करनेवाले तुझको स्वीकार करता हूँ।
अप्सुषद	जलों में रहनेवाले,
घृतसदं	घी आदि पदार्थों को प्राप्त हुए,
व्योमसदं	आकाश मे चलते हुए
त्वा	तू
उपयामगृहीतः	यम-नियमों से आवद्ध
असि	है।
त्वा	तुझे
इन्द्राय	इन्द्रपद के योग्य,
जुष्टम्	सबके प्रिय जानकर
गृह्णामि	स्थापित करता हूं।
ते एषः योनिः	तेरा यह रहने का स्थान है।
त्वा	तुझको
इन्द्राय	इन्द्रपद के योग्य जानकर
जुष्टतमम्	स्वीकारता हूँ।
पृथिविसदं	पृथ्वी पर स्थिर रूप से शोभित,
अन्तरिक्षसदं	अन्तरिक्ष में वायु के समान व्यापक,
दिविसदं	द्युलोक में प्रकाशित,
देवसदं	विद्वानों में प्रतिष्ठित,
नाकसदं	सब दुःखों से रहित
त्वा	तू
उपयामगृहीतः	यम-नियमों का पालन करनेवाला
असि	है।
त्वा	तुझे

सोम की रक्षा में
...के द्वारा खींचे
हीरे-जवाहरात,
अधीन हैं। ऐसी

अथ नवमोऽध्यायः

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतँ नः पुनातु
वाचस्पतिर्वाजँ नः स्वदतु स्वाहा ॥१॥

देव सवितः	हे सबके उत्पादक तेजस्वी सविता !
यज्ञं प्रसुव	यज्ञ को प्रकृष्ट रीति से संपन्न करो।
यज्ञपतिम्	यजमान को
भगाय	ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए
प्रसुव	प्रेरित करो।
दिव्य: केतपूः	तेजस्वी अन्न को पवित्र करनेवाला,
गन्धर्वः	रश्मियों का धारक
नः केतं पुनातु	हमारे अन्न को पवित्र करे ।
वाचस्पतिः	वाणी के अधिपति
नः	हमारे
वाजम् स्वदतु	अन्न को स्वादिष्ट करें ।
स्वाहा	यह आहुति स्वीकृत हो ॥ १ ॥

नवम अध्याय

हे विश्वप्रसविता सविता ! परमात्मन् हे ! ।
उत्तम विधि से संपन्न करो यह यज्ञदेव ॥
यजमान करे ऐश्वर्य - लाभ, प्रेरणा करो।
परिपूत[1] हमारा अन्न[2] करो हे देवदेव ! ॥
रश्मियाँ तुम्हारी करती दीपित अन्न पूत।
वाणीपति ! मेरी वाणी हो मधुमय सदैव ॥
स्वीकार करो मेरी आहुति सविता, स्वाहा ! ।
हे विश्वप्रसवित! अर्पित है यह हवि स्वाहा ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में विश्व के उत्पादक परमात्मा की महिमा का वर्णन है। ...उनसे यह प्रार्थना की गई है कि यह यज्ञ उत्तम रीति से सम्पन्न हो। हमारा अन्न पावन ...अर्थात् हमारी आमदनी के स्रोत पवित्र हों। हमारी वाणी में मिठास भरी हुई हो। १

१ सब प्रकार से पवित्र; २ जीवन के साधनों का प्रतीक।

वेन, कराल, जनक आदि के ऐसे अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रंथों में है जो अपने निंदित आचरण के कारण पदच्युत किये गये। किस पुरुष को राज्याधिकार प्राप्त हो, इसका वर्णन इस मंत्र में है। २

अपाꣳ रसमुद्वयसꣳ सूर्ये सन्तꣳ समाहितम्।
अपाꣳ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तम-
—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये²—ष
ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥३॥

इन्द्राय	इन्द्र के लिए,
वः	तुम्हारे लिए
सूर्ये सन्तं	सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले
समाहितं उद्वयसं	सब प्रकार से ऊपर धारण करने योग्य
अपां रसं	जलों के रस को
गृह्णामि	ग्रहण करता हूँ।
यः	जो
अपाम् रसस्य रसः	जलों के सार का सार है,
तं उत्तमं	उस उत्तम रस को
गृह्णामि	मैं स्वीकार करता हूँ।
उपयामगृहीतः	तू यम-नियमों से
असि	आबद्ध है
इन्द्राय	परमेश्वर की प्राप्ति के लिए
जुष्टं त्वा	प्रीतिपूर्वक बरतने वाले तुझको (मैं स्वीकार करता हूँ)
ते	तेरा
एषः योनिः	यह स्थान है।
जुष्टतमं	अत्यंत सेवनीय
त्वा	तुझको परम सुख की प्राप्ति के लिए वरण करता हूँ ॥३॥

जिसका जीवन जन-जन के मंगल-हित अर्पित।
सबके सुख के हित जो है उद्यम करता नित॥
सबकी ऐश्वर्य-वृद्धि हित जो यतमान[1] सतत।
रवि के प्रकाश-सा जीवन जिसका कलुष-विरत[2]॥
ऐसे तुमको है वरण किया शासक - पद पर।
हो प्रगतिमान हम सबका जीवन हे नरवर!॥
यम - नियम किये हैं तुमने जीवन - भर धारण।
ईश्वर की भक्ति - भावना में भीगा है मन॥
इसलिए तुम्हारा शासक - पद पर किया वरण।
हम प्रजाजनों का करो सदा मंगल - साधन॥

१ प्रयत्नशील; २ निष्पाप।

इन्द्राय जुष्टं	इन्द्रपद के योग्य जानकर	त्वा	तुझे
गृह्णामि	वरण करता हूँ।	इन्द्राय	इन्द्र के योग्य समझकर
ते एषः योनिः	यह तेरा निवास-स्थान है।	जुष्टतमम्	स्वीकारता हूँ ॥२॥

हे राजन्! हो उपयामगृहीत सदा तुम।
यम-नियमों के धारक तुम सदा अनुत्तम॥
स्वीकार्य इन्द्र के पद के हेतु योग्यतम।
कर रहे वरण हैं तुमको आदरयुत हम॥
यह पद शासन का आश्रय-स्थान तुम्हारा।
लोक में विराजो, बनो अचल ध्रुवतारा॥
योग्यतम, अचल, जन-जन के हो प्रिय चिर वंदित।
महनीय राजपद पर इसलिए प्रतिष्ठित॥
यह शासन का पद तप का सदन तुम्हारा।
जन-मंगल के हित है तुमको स्वीकारा॥
हो सकल जलों के तुम तेजोमय स्वामी[1]।
स्वीकृत हो सबके द्वारा, हम अनुगामी॥
इस पृथ्वी पर सबके द्वारा सम्मानित।
अपने गौरव पर अटल अचल हो तुम नित॥
देवों के गुण-गण सदा तुम्हारे मंडन।
है अंतरिक्ष दिव तक होता अभिनन्दन॥
अनवद्य और अभिवंद्य तुम्हारा जीवन।
जन-जन के हित में करो सतत तुम शासन॥ २॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि जनता जब किसी को अपने शासक-पद पर स्थापित करती है, तो उसको कुछ उत्तरदायित्व सौंपती है। पहला उत्तरदायित्व जो उसे सौंपा जाता है, वह है यह बोध कि तुम धरती पर इन्द्र के प्रतिनिधि हो। (तुमको बहुमत इसलिए नहीं मिला है कि तुम वोट बटोरने की कला जानते हो।) तुम्हें इस पद पर यह जानकर बैठाया गया है कि तुम सबसे अधिक योग्य हो, और सत्य, पवित्रता, अस्तेय, अहिंसा, शौर्य, प्रचंड पराक्रम आदि अनेक गुण तुममें है। तुमसे यह आशा है कि तुम शासन को जनता का कल्याण-राज्य बनाओगे। तुमसे यह आशा की जाती है कि तुम्हारा चरित्र सदा अनवद्य अर्थात् निर्दोष रहेगा। तुम अपने को लोकहित के लिए अर्पित करोगे। जब तक ये गुण तुममें रहेंगे, तभी तक तुम शासक के पद पर स्थिर रह सकोगे।

---

१ राष्ट्र के जल-समूह पर शासक का अधिकार होता है। इन जलों का उसे जनता के कल्याण के लिए उपयोग करना चाहिए।

सम् पृचौ स्थः	परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो।	**विपृचो स्थः**	पृथक् रहनेवाले हो,
मा	मुझको	**मा**	मुझको
भद्रेण सं पृंक्तम्	कल्याण और सुख से युक्त करो।	**पाप्मना**	पाप से
		वि पृङ्क्तं	दूर रखो ॥ ४ ॥

हे शक्तिमान पुरुषो! बल का तुम करते ग्रहण और वर्धन।
मेधावी हैं जो जन उनको तुम करो ज्ञान बहुविध अर्पण॥
जो प्रजाप्राण[1] उनके हित में जल और अन्न संचय करता।
यम-नियम तुम्हें स्वीकार, वरण इसलिए तुम्हारा मैं करता॥
तुम हो परमेश्वर के प्रेमी ईश्वरमय दोनों का जीवन।
यह स्थान तुम्हारा सुखदायक तुमको मैं करता यहाँ ग्रहण॥
तुम दोनों मिलकर रहो यहाँ कल्याण और सुख दो मुझको।
जैसे तुम दोनों पृथक्[2], पृथक् पापों से रखो तुम मुझको॥ ४॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ की एक विशेष क्रिया के अवसर पर देवताद्वय का आह्वान किया गया है। प्रार्थना की गई है कि वे मेधावी जनों को अनेक प्रकार से ज्ञान प्रदान करें। देवगण यम-नियम को स्वीकार करनेवाले हैं, उच्च-नैतिक मर्यादाओं की रक्षा में सचेष्ट हैं, इसलिए यज्ञ में उनका वरण किया जा रहा है। वे हमें कल्याण और सुख प्रदान करें, और हमको सदैव पाप से दूर रखें। ४

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ᳬं सेत्।
वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑
नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥५॥

इन्द्रस्य	(तू) इन्द्र का	**नु**	निश्चय ही
वज्रः असि	वज्र है।	**वाजस्य**	युद्ध के
वाजसाः	युद्धों का अनुभवी है।	**प्रसवे**	ऐश्वर्यजनक कार्य में
त्वया	तेरे साथ	**महीं**	बड़ी
अयं	यह राजा	**अदितिं मातरं**	अखंडित भूमि-माता को (हम)
वाजं सेत्	युद्ध में विजय प्राप्त करे।		

१ प्रजा को प्राण के समान प्रिय अथवा प्रजा जिनके प्राण के समान है; २ ये दोनो देवता पृथक् भी रहते है और मिलकर भी।

जो सकल जलों का सार, सार का सार इष्ट।
जो सूर्य-किरण से पूत यज्ञ हित जो अभीष्ट॥
ऐसा जल तुमको यज्ञ हेतु देते हैं हम।
ऐश्वर्य-सिद्धि दो, योग-सिद्धि दो हमको तुम॥
तुम सेवनीय[1] हम परमानंद-पात्र[2] उत्तम।
तन का, आत्मा का सुख तुमसे नित पावें हम॥ ३॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि प्रजाजन किस प्रकार के शासक की अपेक्षा रखते हैं। शासक ऐसा हो जो यम-नियमों का पालन करनेवाला हो, जो प्रजाजनों के कल्याण के लिए निरंतर प्रयत्नशील हो। जिसका हृदय ईश्वर की भक्ति से भीगा हुआ हो, जो प्रजाजनों के स्वार्थ-साधन को ही अपना पुरुषार्थ मानता हो, जिसके शासन-काल में कोई दीन-हीन न रहे और जो प्रजाजनों के शरीर, मन और आत्मा का विकास करनेवाले शिक्षातन्त्र का प्रवर्तक हो, वही प्रजा का सच्चा प्रतिनिधि है, वही आदर्श शासक है। ३

ग्रहा॑ ऊर्जाहुतयो॒ व्यन्तो॒ विप्रा॑य म॒तिम्। तेषां॒ विशि॑प्रियाणां॒ वो॒ऽहमिष॒मूर्ज॑ꣳ सम॑ग्रभ[1]मुपया॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्राय त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒[2]ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम्[3]। स॒म्पृचौ॑ स्थ॒: सं मा॑ भ॒द्रेण॑ पृङ्क्तं वि॒पृचौ॑ स्थो॒ वि मा॑ पा॒प्मना॑ पृङ्क्तम्[4] ॥४॥

ऊर्जाहुतयः ग्रहाः	बल को ग्रहण करने में समर्थ जनो!
विप्राय	बुद्धिमान पुरुष के लिए
मतिम्	मनन योग्य ज्ञान
व्यन्तः	विविध प्रकार से देते रहो।
विशि प्रियाणां	जो प्रजाजनों के प्रिय हैं, (मैं)
तेषां	उनके लिए
इषं ऊर्जं	अन्न और बल का
सं अग्रभम्	संग्रह करता हूँ।
उपयामगृहीतः	यम-नियमों से (तुम) आबद्ध
असि	हो।
इन्द्राय जुष्टं	परमेश्वर की प्राप्ति के लिए भक्ति करनेवाले
त्वा	तुमको (मैं स्वीकार करता हूँ)
ते	तुम्हारा
एषः योनिः	यह स्थान है।
त्वा जुष्टतमम्	अत्यंत प्रसन्नता के लिए तुम्हें वरण करता हूँ।

१ सेवा के योग्य; २ परमानन्द की प्राप्ति के अधिकारी प्रजाजन होते हैं। यही शासन की सफलता की कसौटी है।

अप्सु अन्तः	जलों के अंदर	देवीः आपः	दिव्य जलो !
अमृतम्	अमृत है	वः	तुम्हारी
उत्	और	यः	जो
अप्सु	जलों में	प्रतूर्तिः	शीघ्र चलनेवाली,
भेषजम्	औषध है।	ककुन्मान्	ऊँची (और)
अश्वाः	हे अश्वो ! (तुम)	वाजसाः	अन्न को देनेवाली
वाजिनः	बलवान	ऊर्मिः	तरंगें हैं,
भवत	हो।	तेन	उनसे युक्त (तुम)
अपाम्	जलों के	अयं	यह
प्रशस्तिषु	प्रशस्त मार्गों में	वाजं सेत्	अभीष्ट अन्न प्रदान
भवत	रहो।		करनेवाले हो ॥६॥

जल के भीतर है अमृत, जलों में है भेषज[1]।
अश्वो ! तुम हो बलवान, रहो जल जहाँ अरुज[2] ॥
हे दिव्यजलो ! हैं तुंग-तरंगें सदा तुम्हारी ककुद्मती[3]।
उनसे ही बनती अन्न-प्रदात्री यह धरती ॥
जल से पोंछित[4] हों अश्व अन्न के भार-धरण[5]।
जल से सिंच धरती करे विपुल अन्नोत्पादन ॥ ६ ॥

टि०—इस कंडिका में जल के रोग-निवारक रूप का निर्देश है। आरंभ के मंत्र में उसे अमृत कहा गया है। घोड़े वैदिक समाज के बहुत महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। युद्ध में उनका सर्वाधिक योगदान होता था, वे अन्नोत्पादन में (विशेष रूप से उसके ढोने आदि में) किसी न किसी रूप में सहायक रहे होंगे। 'वाज' अन्न को कहते हैं। जो अन्नोत्पादन से जुड़ा है, उसका 'वाजि' होना स्वाभाविक है। यज्ञ में भी सोम घोड़ों से जुते हुए रथ पर लाया जाता था। इसलिए यज्ञ में उनका प्रोक्षण होता था। युद्ध में भी उनका प्रोक्षण होता था। इसका अर्थ है, घोड़ों की थकावट दूर करने के लिए उन्हें पोंछा या नहलाया जाता था। महाभारत में प्रसिद्ध है—भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के रथ के घोड़ों को युद्ध के बीचोबीच नहलाया था। अर्जुन ने उनके चारों ओर शर-यंत्र बनाया था और बाण से धरती फोड़कर जल निकाला था। इसीलिए इस मंत्र में कहा गया है कि जल अमृत है उसमें सब रोगों को नष्ट करनेवाले औषधीय गुण हैं। घोड़ों को ऐसे स्थान पर रखा जाना चाहिए, जहाँ रोगों के कीटाणु से मुक्त शुद्ध जल हो। जल से ही सींची जाकर धरती प्रभूत अन्न प्रदान करती है। ६

---

१ दवा; २ शुद्ध, जिसमें रोग के कीटाणु न हों; ३ ककुद् बैल के कंधे के ऊँचे भाग को कहते हैं, समुद्र आदि में जहाँ-जहाँ जल का बड़ा संग्रह रहता है, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठती है, उन्हें भी बैल के कंधे जैसी कहा गया ; ४ पोंछा हुआ; ५ बोझ ढोनेवाले।

वाचसा	उत्तम भाषण द्वारा	आविवेश	स्थित है,
नाम	यशस्वी	तस्यां	उसमें
करामहे	करें।	सविता देवः	सबका उत्पादक सविता देवता
यस्यां	जिसमें	नः	हमारे
इदं	यह	धर्म साविषत्	धर्म की सुव्यवस्था करे ॥ ५ ॥
विश्वं भुवनं	समस्त संसार		

(हे वीर पुरुष !) इन्द्र के वज्र से सकल शत्रुनाशक हो तुम।
अनुभवी अनेकानेक महायुद्धों के अरिजेता[1] हो तुम॥
राजा के बनो सहायक, वह ऐश्वर्य और जय करे प्राप्त।
उससे मिलकर इस रण में तुम सब सैन्य-व्यवस्था करो आप्त[2] ॥
अपने ओजस्वी भाषण से सबके उर में उत्साह भरो।
यह राष्ट्र-भूमि अविभाज्य सदा इसको अनन्त यश-दान करो॥
यह मातृभूमि जगनिर्मात्री महती है अदिति[3] अदीन सदा।
है सकल विश्व इसमें प्रविष्ट, आधार धर्म की यह वरदा॥
सबके उत्पादक परमेश्वर कण-कण में हैं रममाण यहाँ।
अभ्युदय और निःश्रेयस की दात्री धरती है और कहाँ॥
इस धरती के हित युद्धों में ऐश्वर्य-क्रिया नित करो वरण।
अविभाज्य, अखण्ड, अदीन रहे यह मातृभूमि हे शत्रुदलन ! ॥ ५ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के वीर पुरुषों को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि हमारी यह राष्ट्र-भूमि सौभाग्यप्रदायिनी है, माता के समान सबकी रक्षा करती है और धर्म को धारण करनेवाली है। यह खंडित न हो, दीन न हो, इसके लिए राष्ट्र के वीर पुरुषों और युवकों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। न्याय और धर्म के अनुसार शासन करते हुए प्रजा के प्रतिनिधि शासकगण इसकी महत्ता और अस्मिता को सुरक्षित रखें। इसको खंडित करने के शत्रुओं के षड्यन्त्र सफल न होने पावें। ५

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत
प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः[1] ।
देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः
ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥६॥

---

१ शत्रु को जीतनेवाले; २ विश्वास योग्य; ३ जिसका खडन न हो।

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥८॥

वाजिन्	हे घोड़े !	मरुतः	मरुद्गण
युज्यमानः	रथ में जोते जाकर	त्वा	तुमको
वातरंहाः भव	वायु के समान वेगवान बनो।	युञ्जन्तु	रथ में जोतें।
दक्षिणः	दक्ष रहकर	त्वष्टा	त्वष्टा देवता
इन्द्रस्य इव	इन्द्र की जैसी	ते पत्सु	तुम्हारे पैरों में
श्रिया एधि	शोभा की वृद्धि करो।	जवम्	वेग
विश्ववेदसः	समस्त ज्ञान से युक्त	आदधातु	स्थापित करें ॥८॥

इन्द्र के रथ में योजित अश्व बनो पवमान[1]-सदृश जवमान[2]।
दक्ष रहकर तुम सतत करो इन्द्र की शोभा-वृद्धि महान् ॥
मरुद्गण जिनका ज्ञान अनंत करें स्यंदन में योजित नित्य।
देव त्वष्टा नित रक्षा करें और दें वेग पदों को नव्य[3] ॥ ८ ॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र के रथ में जुते हुए अश्वों का स्तवन है। वे मरुद्गणों के द्वारा रथ में जोते गये हैं। इन घोड़ों से इन्द्र के रथ की शोभा की वृद्धि होती है। इस रथ के सारथी मरुद्गण हैं जो परमज्ञानी हैं। त्वष्टा शिल्प कौशल के देवता हैं। रथ के रचना-शिल्प को जाननेवाला उसकी देखभाल करता रहे, तभी वह रथ क्रियाशील और सतत वेगवान बना रह सकता है। ८

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो अचरच्च वाते। तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः। वाजिनो वाजजितो वाजंᳬ सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥९॥

वाजिन्	हे घोड़े !	श्येने परीतः	बाज पक्षी में व्याप्त है
यः	जो		
ते	तेरा	च वाते अचरत्	और वायु में है,
जवः	वेग	तेन बलेन	उस के बल से
गुहा निहितः	हृदय में है,	बलवान्	बलवान होते हुए
यः	जो	वाजिन्	हे वेगवान् घोड़े !

१ वायु; २ वेगवान; ३ नया।

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा गन्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः ।
ते अग्रे॑ऽश्व॑मयुञ्जँ॒स्ते अ॒स्मिञ्ज॒वमा द॑धुः ॥७॥

वातः वा	वायु और	अश्वं	घोड़ों को
मनः	मन (का)	आयुञ्जन्	जोतते हैं।
वा सप्तविंशतिः	और सत्ताईस	ते	वे
गन्धर्वाः	गंधर्वों का-सा वेग धारण करते हैं।	अस्मिन् अश्वं	उन अश्वों में
ते	वे	जवं	वेग
अग्रे	अपने रथों के आगे	आवधुः	धारण करते हैं ॥ ७ ॥

तुम वायु और मन जैसा वेग करो धारण।
तुम सप्तविंश[1] गंधर्वों का जव[2] करो ग्रहण ॥
अश्विनी आदि नक्षत्र प्रथित जो सप्तविंश।
वे ही हैं सब गंधर्व परिगणित[3] ज्योतिरंश[4] ॥
ये निज-निज रथ में करते हैं सब हय योजित[5]।
निज वेग हयों में करते हैं वे संस्थापित ॥
वैसा ही तू भी वेगवान बन हे मानव!।
उद्घाटित[6] कर आयाम[7] वेग के तू नित नव ॥ ७ ॥

टि०—इस कंडिका में मानव को वेग धारण करनेवाले पवन और मन के विषय में बतलाया गया है और वेगवानों में अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि नक्षत्रों का भी उल्लेख किया गया है। सत्ताईस नक्षत्रों को सत्ताईस गंधर्व कहा गया है। ये सत्ताईस नक्षत्र ज्योति के अंश हैं, ये आकाश में भ्रमण करते रहते हैं। ये सब मानों अपने-अपने रथों में वेगवान घोड़ों को जोतकर उनमें अपना वेग नियुक्त कर देते है। इस कंडिका का ऋषि कहता है, हे मानव! तुझे वेग के स्रोतों का अनुसंधान करना चाहिए। वेग के नये-नये क्षितिज दृष्टि के सामने लाने चाहिए। वैदिक ऋषि ने मनुष्य को वेग के नये-नये आयामों को उदघाटित करने का संदेश दिया है। मनुष्य के भीतर जब यह संकल्प जगा, तभी उसने वायुयान आदि का आविष्कार किया। वैदिक ऋषि ने यह आह्वान सुदूर अतीत में किया था, यह सोचकर आश्चर्य होता है। ७

---

१ सत्ताईस; २ वेग; ३ गिने गये; ४ प्रकाश के भाग; ५ जोते हुए; ६ खोल; ७ विस्तार के क्षेत्र और साधन।

रुहेयम्	आरोहण करूँ।
सत्यसवसः	सत्य के प्रेरक
सवितुः देवस्य	सविता देवता के
सवे	यज्ञ में
इन्द्रस्य	इन्द्र के
उत्तमं नाकं	उत्तम स्वर्ग में
रुहेयम्	आरोहण करूँ।
सत्यसवसः	सत्य के प्रेरक
सवितुः देवस्य	सविता देवता के
सवे	यज्ञ में
अहम्	मैं
बृहस्पतेः	बृहस्पति के
उत्तमं नाकं	उत्कृष्ट स्वर्ग में
अरुहम्	आरूढ़ हुआ।
सत्यसवसः	सत्य के प्रेरक
सवितुः देवस्य	सविता देवता के
सवे	यज्ञ में
अहम्	मैं
इन्द्रस्य	इन्द्र के
उत्तमम् नाकम्	श्रेष्ठ स्वर्ग को
आरुहम्	प्राप्त हुआ ॥१०॥

सत्य प्रेरणा देनेवाले सविता के यज्ञ में महान।
प्राप्त करूँ मैं स्वर्ग बृहस्पति का सत्-चित्-आनंद निधान॥
सत्य-न्याय से युक्त देव सविता को जीवन-यज्ञ प्रकाम।
इसके द्वारा प्राप्त करूँ मैं स्वर्ग इन्द्र का चिर सुखधाम॥
सत्य प्रेरणा देनेवाले सविता की प्रेरणा महत्।
प्राप्त हो गया स्वर्ग बृहस्पति का मुझको अतिश्रेष्ठ बृहत्॥
अनुल्लंघ्य[1] सविता का मुझको प्राप्त हुआ यह यज्ञ परम।
आरोहण कर सका यहाँ से इन्द्र-स्वर्ग तक मैं शुचितम॥ १०॥

टि०—इस कंडिका में सविता और बृहस्पति के स्वर्ग को प्राप्त करने का निर्देश है। सविता सबके उत्पादक हैं और बृहस्पति बड़े-बड़े प्रकृत्यादि पदार्थों के रक्षक और पालक हैं। इस प्रकार ये दोनों भगवान के ही नामान्तर भी हैं। इस कंडिका में पहले बृहस्पति के स्वर्ग तक आरोहण की कामना की गई है। बृहस्पति का स्वर्ग ज्ञानी का स्वर्ग है, जो एकरस सच्चिदानन्दमय है। इन्द्र का स्वर्ग सब ऐश्वर्यों की पूर्णता का स्वर्ग है। मनुष्य सत्यरूपी यज्ञ का जीवनव्यापी अनुष्ठान कर स्वर्ग की इन दोनों स्थितियों को प्राप्त करना चाहता है। १०

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत।
इन्द्र॒ वाजं॑ ज॒येन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत ॥११॥

बृहस्पते	हे बृहस्पति !
वाजं	संग्राम को
जय	जीतो।
बृहस्पतये	बृहस्पति के लिए
वाचं	स्तुति-वाणी
वदत	बोलो।

१ जो उल्लघन करने के योग्य नहीं।

नः वाजजित् भव	हमारे लिए युद्धजयी बन
च	और
समने	संग्राम में
पारयिष्णुः	संकट से पार करानेवाले हो जा।
वाजजित्	अन्न को जीतनेवाले,
वाजं	अन्न के प्रति
सरिष्यन्तः	जाते हुए
वाजिनः	हे अश्वो !
बृहस्पतेः	बृहस्पति के
भागं	अन्न भाग को
अवजिघ्रत	सूंघो ॥ ९ ॥

हे अश्व ! तुम्हारे अंतर में है वेग अमित।
जो वेग सदा गतिराट्[1] श्येन[2] में है व्यापृत ॥
जो वेग प्रभंजन[3] में प्रतिक्षण है वर्तमान।
उस महावेग से रहो सदा तुम शक्तिमान ॥
तुम मेरे लिए बनो संग्रामों के जेता।
शत्रु को पराजित करो, बनो संकट-छेत्ता ॥
संग्रामजयी वाजियो ! युद्ध के हित प्रस्थित[4]।
चरु[5] भाग बृहस्पति का जो वह तुमको अर्पित ॥
तुम इसको सूंघों और करो परितृप्ति प्राप्त।
तुम प्राप्त कराओ हमें अन्न-धन विपुल आप्त ॥ ९ ॥

टि०—इस कंडिका में अश्व की स्तुति है। उसमें त्रिविध-वेग होता है। पहला है हृदय-गुहा में छिपा हुआ वेग—आत्मा का वेग जो सब वेगों और बलों का स्रोत है। दूसरा है बाज पक्षी का वेग। तीसरा प्रभंजन का वेग। यहाँ तीनों प्रकार के वेग वाले अश्व प्राप्त हों, यह प्रार्थना की गई है। घोड़ा जब युद्ध के लिए चलता था तो उसे बृहस्पति का यज्ञभाग चरु सुंघाया जाता था। विश्वास था, इस प्रकार वह विजयी होकर लौटेगा। ९

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम्[1]। देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम्[2]। देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्[3]। देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्[4] ॥१०॥

सत्यसवसः	सत्य के प्रेरक
सवितुः देवस्य	सविता देवता के
सवे	यज्ञ में
अहम्	मैं
बृहस्पतेः	बृहस्पति के
उत्तमं नाकं	श्रेष्ठ स्वर्ग में

१ गतिमानों के राजा; २ बाज पक्षी; ३ वायु; ४ रवाना; ५ खीर।

वः	तुम लोगों को
एषा	यह
सा सत्या	सत्य और
संवाक्	एक-दूसरे से मिलाने वाली वाणी (प्राप्त)
अभूत्	हो या होनी चाहिए,
यया	जिससे
बृहस्पतिं	बृहस्पति को
वाज	युद्ध को
अजीजपत	जिताने में समर्थ हो सको।
बृहस्पतिं	बृहस्पति
वाजं	युद्ध में
अजीजपत	विजयी हों।
वनस्पतयः	वनों के अधिकारियो !
विमुच्यध्वम्	(सैनिकों, अश्वों और बन्धनों को) खोल दो।

वः	तुम लोगों की
एषा	यह
सत्या	सच्ची
संवाक्	परस्पर मिलाने वाली वाणी
अभूत्	है,
यया	जिसके द्वारा (तुम सब)
इन्द्रम्	इन्द्र को
वाजम्	संग्राम में
अजीजपत	विजय प्राप्त कराते हो।
इन्द्रम्	इन्द्र को
वाजं	युद्ध में
अजीजपत	जिताओ।
वनस्पतयः	वनों के रक्षको !
विमुच्यध्वम्	बन्धनों से मुक्त कर दो ॥ १२ ॥

ऐक्य-साधिका[1] रहे परस्पर मंगल-वाणी।
बने तुम्हारी सत्य सम्मिलित यह जनवाणी॥
तभी बृहस्पति प्राप्त करेंगे जय इस रण में।
विजय कराओ प्राप्त बृहस्पति को इस क्षण में॥
जनपतियो ! छोड़ो-छोड़ो अपना सैनिक-बल।
युद्ध-सिद्धि[2] हित मुक्त करो अश्वारोही-दल॥
सत्य बने सम्मिलित तुम्हारी यह जन-वाणी।
प्राप्त कर सकें विजय इन्द्र जिससे कल्याणी॥
जनपतियो ! जय-प्राप्ति हेतु तोड़ो सब बंधन।
मुक्त करो जय-प्राप्ति हेतु तन, मन, सब जीवन॥

---

१ एक-दूसरे से मिलनेवाली; २ संग्राम में सिद्धि अर्थात् विजय।

बृहस्पति	बृहस्पति की (तथा)	इन्द्राय	इन्द्र के लिए
वाजं	अन्न की	वाचं	स्तुति-वाणी
जापयत	जय कराओ।	वदत	बोलो।
इन्द्र	हे इन्द्र !	इन्द्रं	इन्द्र को
वाजं	संग्राम को	वाजं	संग्राम में
जय	जीतो।	जापयत	विजय प्राप्त कराओ ॥ ११ ॥

अये बृहस्पति ! अये ज्ञान-विज्ञान-प्रसारक ! ।
जीतो यह संग्राम निखिल[1] विद्या के धारक[2] ! ॥
प्रति मुख में हो मुखर[3] बृहस्पति की स्तव-वाणी[4] ।
युद्धजयी हों अन्नजयी हों वे पर ज्ञानी ! ॥
अये इन्द्र ! है छिड़ा सुरासुर-युद्ध भयावह[5] ।
प्रति जन में प्रति मन में चलता है यह अहरह[6] ॥
प्राप्त करो इस महायुद्ध में जय कल्याणी ।
करे तुम्हारा स्तवन[7] सदा विद्वज्जन-वाणी[8] ॥
इन्द्र तुम्हारी जय से हो सुरता[9] सुप्रतिष्ठित[10] ।
हों आसुर वृत्तियां वासनायें उन्मूलित[11] ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में बृहस्पति और इन्द्र की विजय-कामना की गई है। बृहस्पति ज्ञान-विज्ञान विशेषतः आध्यात्मिक ज्ञान के देवता हैं। इसीलिए वे देवताओं के गुरु कहे गये हैं। युद्ध में उनकी जय हो, यह प्रार्थना सब करें। इसका तात्पर्य यह है कि युद्ध में केवल भौतिक शक्ति की नहीं, आध्यात्मिक शक्तियों की जय हो। इस संसार में दैवी और आसुरी शक्तियों का संग्राम सदा चलता है। दैवी शक्तियाँ विजयी हों, इन्द्र की जय हो, यह प्रार्थना सब लोग करें। बृहस्पति अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के पथ-प्रदर्शन में इन्द्र की ऐश्वर्यशक्ति विजयी हो। दैवी शक्तियाँ विजयी हों और आसुरी शक्तियाँ पराभूत हों। बृहस्पति और इन्द्र की विजय का यह आशय है। ११

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजप-
ताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्। एषा वः
सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं
वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥१२॥

१ सम्पूर्ण; २ धारण करनेवाले; ३ ध्वनित; ४ स्तुति की आवाज़; ५ भयंकर; ६ प्रतिदिन; ७ स्तुति; ८ विद्वानों की वाणी; ९ देवत्व, शुभ वृत्तियाँ और शक्तियाँ; १० अच्छी तरह हृदयों में स्थान प्राप्त करें; ११ जड़ से नष्ट।

हे मेरे संग्रामजयी अश्वो! बढ़ जाओ।
सीमाओं पर शत्रुमार्ग अवरुद्ध बनाओ॥
बढ़ो वेग से सभी दिशाओं में अप्रतिहत।
सीमाओं को करो पार हों शत्रु चरण नत[1] ॥ १३ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्रनीति और अध्यात्म दोनों का एक साथ निर्देश है। राष्ट्र का नायक वही हो सकता है जो बृहस्पति की तरह महान ज्ञानी हो। ऐसे ज्ञानी राष्ट्रनायक की प्रत्येक गतिविधि सत्यमय होती है। वही राष्ट्र को विजय दिलाता है। इस मंत्र में यह कामना की गई है कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विजय का संकल्प जाग्रत् हो। हमारी सेनाएँ राष्ट्र की सीमाओं के पार जाकर शत्रुओं को पददलित करती रहें, जिससे वे सिर न उठा सकें। आध्यात्मिक निर्देश यह है कि हम मनुष्य के जीवन में निरंतर चलनेवाले देवासुर-संग्राम में आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों के संघर्ष में विजय प्राप्त करें। १३

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति
ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत्पथा-
मङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा ॥१४॥

यः एषः	जो यह	क्रतुं	यज्ञ के उद्देश्य से
वाजी	अश्व	अनु संसनिष्यत्	और आगे चलता हुआ,
ग्रीवायां	गर्दन में,	पथां अङ्कासि	मार्गों के सब विघ्नों को
कक्षे	पुट्ठों पर (तथा)		
असनि	मुख में		
अपि	भी	अन्वापनिफणत्	दूर करता है।
बद्धः	बंधा हुआ है,	क्षिपणि	अस्त्र-शस्त्रों को
सः	वह	तुरण्यति	शीघ्रता से शत्रु पर फेंकता है।
दधिक्रा	शब्द करता हुआ, धारण करनेवालों को चलानेवाला,	स्वाहा	यह उत्तम कथन है ॥ १४ ॥

है यज्ञपूर्ति के हेतु चला यह घोड़ा।
बढ़ उसने पथ का विघ्नजाल सब तोड़ा[2] ॥

१ पैरों में झुके हुए; २ रास्ते के सब विघ्न दूर कर दिये।

यही सम्मिलित शक्ति बृहस्पति की जयदायक।
यही सम्मिलित शक्ति इन्द्र को विजय-प्रदायक॥ १२॥

टि०—इस मंत्र में जन-जीवन को संगठित होकर सम्मिलित स्वर में विजयशंख फूंकने का आह्वान किया गया है। तभी सत्य की असत्य पर, ज्ञान की अज्ञान पर और दैवी शक्तियों की आसुरी शक्तियों पर विजय हो सकेगी। बृहस्पति ज्ञान के देवता है और इन्द्र दैवी शक्तियों के नेता हैं। इनको विजय सत्य, ज्ञान और दैवी शक्तियों के संगठन से ही प्राप्त कराई जा सकती है। बृहस्पति शाश्वत ब्राह्मणत्व के प्रतीक हैं, इन्द्र शाश्वत क्षात्रधर्म के। इनका जन्मगत वर्ण से कोई संबंध नहीं। महाभारत में भी लिखा है, जब ब्राह्मणत्व और क्षात्रधर्म का सहयोग होता है, तभी लोक सुखी होता है— "ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टि क्षात्रमप्रतिमं बलम्। यदा तौ चरतः सार्द्धं ततः लोकः प्रसीदति।" इसीलिए इस मंत्र में बृहस्पति और इन्द्र की जय की कामना की गई है। १२

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो
बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्।
वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो
योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत॥१३॥

अहं	मैं	जेषम्	जय प्राप्त करूँ।
सवितुः	सबके प्रसविता और प्रेरयिता,	वाजजितः	हे संग्रामजयी
		वाजिनः	वेगवान अश्वो!
सत्य प्रसवसः	सत्य आज्ञा के प्रदाता,	अध्वनः	शत्रु के मार्ग को रोकते हुए,
देवस्य	सबके प्रकाशक	स्कभ्नुवन्तः	अपने वेग से
बृहस्पतेः सवे	बृहस्पति के शासन में रहकर	काष्ठां	दिशाओं को लाँघते हुए
वाजजितः	उन संग्रामविजयी से	योजना मिमानाः	परली सीमा तक
वाजं	संग्राम में	गच्छत	बढ़ जाओ॥१३॥

विजय-कामना से प्रेरित हो मेरा अन्तर।
सबके प्रेरक देव बृहस्पति! दो मुझको वर॥
पालन करता सदा तुम्हारा मैं हूँ शासन।
सत्य तुम्हारे वचन, सत्यमय है अनुशासन॥
युद्धजयी विख्यात सदा तुम देव बृहस्पति!।
मुझको भी हो प्राप्त तुम्हारी युद्धजयी गति[1]॥

[1] युद्ध में विजय प्राप्त करने का तौर-तरीका।

है प्रबल पराक्रम और अनुत्तम[1] वाणी।
है त्वरावान[2] अति धावमान[3] जो प्राणी॥
उड़ता सुपर्ण[4]-सा जवमय अम्बर-पथ पर।
किंवा धावित जो अश्व-सदृश धरती पर॥
वह ही करता है प्रगति विश्व-जीवन में।
दावा[5] बनता है वही शत्रु के वन में[6]॥ १५॥

टि०—इस कंडिका में यह बताया गया है कि जो इस जीवन में सतत गतिमान है, जिसमें प्रबल पराक्रम करने का संकल्प है और जो उत्तम भाषण कर सकता है, जो गरुड़ अथवा श्येन पक्षी की तरह अपने वेग से आकाश को चीर सकता है और धरती पर जिसकी कार्य की गति घोड़े की चाल के समान है, वही संसार में उन्नति करता है और शत्रुओं को नष्ट कर सकता है। १५

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः।
ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ꣳ रक्षा॑ꣳसि॒ सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः[7] ॥१६॥

हवेषु	संग्राम में	अर्काः	प्रकाशित हों।
वाजिनः	वेगवान घोड़े	अहिं	सर्प को,
नः	हमारे लिए	वृकं	भेड़िये को,
शं भवन्तु	कल्याण करनेवाले हों,	रक्षांसि	राक्षसों को
देवताता	देवताओं के कार्य के लिए	जम्भयन्तः	हाथ-पैर तोड़कर पंगु बनाते हुए,
मितद्रवः	योग्य गति से चलनेवाले	अमीवाः	रोग-व्याधियों को
		सनेमि	शीघ्र ही
		अस्मद्	हमसे
सु	अच्छी तरह	युवयन्	(वे) दूर करें॥ १६॥

कल्याण हमारा करें अश्व ये रण में।
ये त्वरापूर्ण[7] हय विजय दिलावें रण में॥
अश्वों का यज्ञों में होता आवाहन।
करने को सब शुभ देवकार्य-संपादन॥
हय कलापूर्ण सुखकारक गति[8] से आवें।

१ सर्वोत्तम; २ तेजी; ३ दौड़ता हुआ; ४ गरुड़; ५ आग; ६ शत्रुओं के जंगल को वह अग्नि की तरह जला देता है; ७ तेजी से चलनेवाले; ८ घोड़े योग्य गति से दौड़ें, उनकी गति उचित, सुखकारक एवं भव्य हो।

है बँधी रज्जु[1] से उसकी ग्रीवा[2] उन्नत[3]।
है बँधे कक्ष[4], वल्गित है मुख[5] हेषारत[6]॥
उसका सवार है महाबली अप्रतिभट[7]।
क्षिप्रकर चलाता अश्व गिरे अरि कट-कट॥
उसकी वाणी सुन बढ़ा, बढ़ चला घोड़ा।
अरिदल पर जैसे वज्र इन्द्र ने छोड़ा॥
संग्रामजयी हय हित अर्पित हवि स्वाहा।
सेनापति के हित अर्पित हवि यह स्वाहा!॥ १४॥

टि०—दिग्विजय के लिए निकले अश्व की स्तुति इस कंडिका में की गई है। यह अश्व रास्ते के विघ्नों को पैरों से रौंदता हुआ चलता है। उसका सवार अपना शस्त्र चलाने के लाघव से शत्रुओं को नष्ट कर रहा है। ऐसे विजयी वीर और ऐसे घोड़े दोनों के लिए कंडिका में विशेष हवि अर्पित की गई है। १४

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः
पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः
सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥१५॥

ऊर्जा	जो पराक्रम एवं	इव	समान
स्वाहा	उत्तम भाषण के	ध्रजतः	चलते हुए,
सह	साथ	तरित्रतः	अतिशीघ्र चलते हुए
अस्य	इस	दधिक्राव्णः	दिव्य घोड़े के सदृश,
द्रवतः	दौड़नेवाले,	अङ्कसं	अच्छे लक्षणयुक्त मार्ग में
तुरण्यतः	शीघ्र उड़नेवाले	परि अनु वाति	सब प्रकार अनुकूल चलता है,
वेः	पक्षी के	स्म	(वही शत्रु को जीत सकता) है॥ १५॥
पर्णं न	पंखों के समान		
उत	और		
प्रगर्धिनः	बड़े वेग से जानेवाले		
श्येनस्य	बाज पक्षी के		

१ रस्सी; २ गरदन; ३ ऊँची; ४ पुट्ठे; ५ लगाम से बँधा मुंह; ६ हीसता हुआ; ७ जि[illegible]नेवाला कोई दूसरा वीर नहीं।

कर यज्ञ अनुष्ठित हवनश्रुत बनते हैं,
अन्नोत्पादन कर करते उसको संचित,
ऐश्वर्य युद्ध में मिलता उन्हें अपरिमित,
वे वीर सुनें आह्वान-वचन यह मेरा ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक शर्तें बताई गई हैं, वीरों से कहा गया है, वे घोड़ों पर सवार होकर शोभन गति से यज्ञ में आवें। उनसे यह कहा गया है, उनकी सेना के सब अंग पुष्ट होने चाहिए, सब प्रकार की आन्तरिक शक्ति भी उनमें होनी चाहिए। वे हवनश्रुत हों अर्थात् यज्ञों के अनुष्ठान के लिए प्रसिद्ध हों। वे प्रभूत अन्न का उत्पादन करें और उसका समुचित संचय भी करें। ये ही युद्ध में ऐश्वर्य के भागी होते हैं। १७

वाजे॑-वाजेऽवत वाजिनो नो धने॑षु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अ॒स्य मध्वः॑ पिबत मा॒दय॑ध्वं तृ॒प्ता या॑त प॒थिभि॑र्दे॒व॒यानैः॑ ॥१८॥

वाजिनः	बल और वेगयुक्त वीरो !	नः अवत	हमारा पालन करो।
विप्राः	प्रज्ञावान	अस्य	इस
अमृताः	अमर और	मध्वः पिबत	मधुर रस को पीकर
ऋतज्ञाः	सत्य के जानने वाले तुम	मादयध्वम्	तृप्त हो जाओ।
वाजे वाजे	संपूर्ण अन्नों जैसे	तृप्ता देवयानैः	तृप्त होकर देवयान के
धनेषु	धनों में	पथिभिः	मार्ग से
		यात	गमन करो ॥१८॥

विद्वान वरेण्य वीर हो राजपुरुष तुम।
तुम हो ऋतज्ञ, सत्यज्ञ, जानते हैं हम ॥
तुम अमृत-तत्त्व को प्राप्त कर चुके सम्यक्।
प्रसरित है वीरो! कीर्ति तुम्हारी प्रति दिक्[1] ॥
पालो हमको ऐश्वर्य और धन देकर।
कृतकृत्य हो रहे हम मधु-रस[2] अर्पित कर ॥
है देवयान[3]-देवों का मार्ग प्रथित यह ॥
है मार्ग सत्य का ऋत का सेव्य सदा यह।
आस्वादन इसका करो बनो आनंदित।
पथ महाजनों का हमको दिखलाओ नित ॥ १८ ॥

---

१ प्रत्येक दिशा में, २ आयुर्वेदिक बलदायिनी ओषधियों का रस; ३ देवताओं का किंवा विद्वान महापुरुषों का मार्ग।

यज्ञस्थल में उत्तम प्रकाश फैलावें ॥
सब सर्प, भेड़िये, राक्षस हों उन्मूलित।
आयुष्यपूर्ण हों सुखमय रोग-विवर्जित[1] ॥ १६ ॥

टि०—इस कंडिका में यह बताया गया है कि यज्ञों में देवकार्य संपादन के लिए घोड़े का आवाहन किया जाता है। वे यज्ञस्थल में कलापूर्ण गति से दौड़कर आते हैं और यज्ञभूमि की शोभा बढ़ाते हैं। इन घोड़ों पर सवार होकर राष्ट्र के वीर सांपों, भेड़ियों जैसे शत्रुओं को नष्ट करें, राक्षसों को जड़ से उखाड़ फेंकें। यज्ञ में देवता प्रसन्न हों, सज्जनों के समाज में सबको पूर्णायु प्राप्त हो, सब रोगहीन हों। १६

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं
विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो
महो ये धनꣳ समिथेषु जभ्रिरे ॥१७॥

ते	वे	सहस्रसाः	जो अनेक जनों को तृप्त करनेवाले,
अर्वन्तः	अश्वारोही		
हवनश्रुतः	यज्ञ में हवन करने के लिए प्रसिद्ध	मेधसाता	यज्ञ करनेवाले,
		सनिष्यवः	अन्नों को प्राप्त करनेवाले हैं,
विश्वे वाजिनः	सब प्रकार के बलों से युक्त,	ये	वे
मितद्रवः	अपरिमित गति वाले वीर	समिथेषु	संग्राम में
		महः	महान
नः हवं	हमारा आवाहन	धनं	ऐश्वर्य को
शृण्वन्तु	सुनें।	जभ्रिरे	प्राप्त करते हैं ॥ १७ ॥

आह्वान सुनें अश्वारोही वे मेरा!।
हवनश्रुत[2] शोभन गति सब वीर हमारे,
जो सेना के सब अंगों से हों परिवृत[3],
है जिनकी सब प्रकार की शक्ति अपरिमित,
वे वचन सुनें यह सावधान हो मेरा ॥
जो शत-शत जन को तृप्त सदा करते हैं,

१ नीरोग; २ हवन करने के लिए प्रसिद्ध; ३ घिरे-घिरे हुए।

टि०—इस कंडिका में दो संदर्भ हैं। पहले संदर्भ में भगवान से प्रार्थना की गई है, हमें अन्नोत्पादन का विज्ञान प्राप्त हो। ये द्यावापृथिवी ही विश्व हैं, इनका संपूर्ण ज्ञान हमको मिले। तीसरी महत्त्वपूर्ण प्रार्थना यह है कि हमें धर्मात्मा भगवद्‌भक्त माता-पिता प्राप्त हों। हमारे शास्त्रों में भगवद्‌भक्त माता-पिता की प्राप्ति महान ईश्वरीय अनुग्रह माना गया है। दूसरे संदर्भ में राष्ट्र के वीर पुरुषों से यह कहा गया है कि उन्होंने युद्धकला का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है, उन्हें राष्ट्र की सेना में भरती होकर मोर्चों पर अपने लिए उचित स्थान प्राप्त करना चाहिए तथा पवित्र चित्त से अपने सेनापति के आदेश का पालन करना चाहिए। १९

आप॑ये स्वाहा॑[1] स्वा॒प॑ये स्वाहा॑[2] ऽपि॒जाय॑ स्वाहा॑[3] क्रत॑वे॒ स्वाहा॑[4] वस॑वे॒ स्वाहा॑[5] ऽहु॒र्पत॑ये॒ स्वाहा॑[6] ऽह्ने॑ मु॒ग्धाय॑ स्वाहा॑[7] मु॒ग्धाय॑ वैनꣳशि॒नाय॑ स्वाहा॑[8] वि॒नꣳशिन॑ आन्त्याय॒नाय॑ स्वाहा॑[9] ऽन्त्या॑य भौव॒नाय॑ स्वाहा॑[10] भुव॑नस्य॒ पत॑ये॒ स्वाहा॑[11] ऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑[12] ॥२०॥

आपये	व्यापक जल के देवता के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
स्वापये स्वाहा	सर्वव्यापी के लिए यह आहुति अर्पित है।
अपिजाय	पुनः पुनः प्रकट होनेवाले देव के लिए
स्वाहा	यह आहुति समर्पित है।
क्रतवे स्वाहा	यज्ञरूप भगवान के लिए यह आहुति समर्पित है।
वसवे स्वाहा	जगत की उत्पत्ति-कर्ता के लिए यह आहुति दी जाती है।
अहर्पतये स्वाहा	दिन के स्वामी के लिए यह आहुति अर्पित है।
मुग्धाय अह्ने	सुन्दर दिन के लिए
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
वैनंशिनाय	अविनाशी
मुग्धाय	दिन के लिए
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
आन्त्यायनाय	अंत तक पहुँचनेवाले
विनंशिने	अविनाशी के लिए
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
भौवनाय अन्त्याय	भुवन की सीमा के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
भुवनस्य पतये	संपूर्ण भुवन के स्वामी के लिए
स्वाहा	यह आहुति है।
अधिपतये	सबके अधिपति के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है ॥ २० ॥

टि०—गीता में कहा गया है, महान पुरुष जिस पथ पर चलते हैं, वही अनुसरण करने योग्य मार्ग है। यहाँ इस कंडिका में कहा गया है। समाज में प्रज्ञावान पुरुषों का समुचित आदर होना चाहिए। १८

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्। वाजिनो वाजजितो वाजꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः[२] ॥१९॥

मा	मुझे	आ गम्यात्	प्राप्त हो।
वाजस्य प्रसवः	अन्नोत्पादन का ज्ञान	वाजजितः	हे संग्रामजयी
आ जगम्यात्	प्राप्त हो।	वाजिनः	वीरो !
इमें विश्वरूपे	ये दोनों विश्वरूप	वाजं ससृवांसः	संग्राम करनेवाले बनो।
द्यावापृथिवी	आकाश और पृथ्वी		
आगन्ताम्	मेरे पास आवें।	निमृजानः	निःशेष भाव से पवित्रचित्त होकर
मा	मेरे		
पितरा च मातरा	पिता और माता	बृहस्पतेः	बहुत विशाल सेना के स्वामी के योग्य
आगन्ताम्	मुझे प्राप्त हों।		
मा सोमः	मुझे सोम	भागं	भाग को
अमृतत्वेन	अमृततत्त्व के साथ	अवजिघ्रत	प्राप्त करो ॥१९॥

अन्नोत्पादन का ज्ञान प्राप्त हो हमको।
ये यथारूप[१] आ मिलें निकट हो हमको॥
धर्मात्मा माता-पिता मिले प्रभु ! हमको।
अमृतत्व-प्रदायक[२] सोम प्राप्त हो हमको॥
संग्रामजयी बलवान अन्यतम वीरो।
रणरंगी[३] युद्धकला-कोविद हे धीरो !॥
सेना महान यह हुई राष्ट्र की प्रस्थित[४]।
सोत्साह करो निज अयन-भाग[५] को अधिकृत[६]॥
है सेवनीय नित इस सेना का स्वामी।
अनुशासित होकर रहो सदा अनुगामी॥ १९ ॥

१ जैसे वे है; २ अमरता प्रदान करनेवाला; ३ युद्ध में रस लेनेवाले; ४ रवाना; ५ मोर्चे का विभाजन; ६ अधिकार करो।

यज्ञेन	यज्ञ द्वारा	अभूम	बनकर रहें।
पृष्ठं	पीठ का बल	देवाः	(हम लोग) देवता
कल्पताम्	वृद्धि को प्राप्त हो।		बनकर
यज्ञेन	यज्ञ द्वारा	स्वः	सुखमय स्थिति को
यज्ञः	यज्ञ की	अगन्म	प्राप्त हों।
कल्पताम्	वृद्धि हो।	अमृताः	(हम) दीर्घायु
प्रजापतेः	हम परमेश्वर की		और अमर
प्रजाः	प्रजा	अभूम	होवें ॥ २१ ॥

यज्ञ से हमारी आयु बढ़े परमेश्वर !।
ये प्राण यज्ञ से बढ़ते रहें निरंतर॥
यज्ञ से नेत्र की शक्ति रहे वर्द्धित नित।
यज्ञ से श्रवण की शक्ति रहे संवर्द्धित॥
यज्ञ से हमारी पीठ बने बलवत्तर।
यज्ञ हो यज्ञ के हेतु सदा वर्द्धिकर॥
हम रहें प्रजा बनकर हे ईश ! तुम्हारी।
हो दिव्य सुखमयी संस्थिति सदा हमारी॥
दीर्घायु प्राप्त कर अमृत-तत्त्व हम पावें।
संग्रामजयी हों शुभ गुणगण सरसावें॥ २१ ॥

टि०—इस कंडिका में यज्ञ की महिमा का वर्णन है। यह जीवन शतसांवत्सरिक यज्ञ है। इसलिए इन्द्रियों की शक्ति को निरंतर संवर्द्धित रखना यह हमारा कर्तव्य है। यज्ञ द्वारा आँख, कान, मेरुदंड की शक्ति बढ़ती है। मेरुदंड में ही कुंडलिनी का निवास है। यज्ञ द्वारा यज्ञ की परंपरा को अखंड बनाये रखना हमारा कर्तव्य है। यज्ञ द्वारा हम अमरता भी प्राप्त कर सकते है। यज्ञ द्वारा अमरत्व भी प्राप्त किया जा सकता है। २१

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांᳬसि सन्तु वः[1]। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याः[2] इयं ते राड्[3] यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा[4] ॥२२॥

दिशः	हे दिशाओ !	उत	और
वः	तुम्हारा	क्रतुः	कर्म-सामर्थ्य
इन्द्रियं	ऐश्वर्य	अस्मे (अस्तु)	हमें प्राप्त हो।
अस्मे अस्तु	हमें प्राप्त हो।	वः	तुम्हारा
नृम्णम्	धन	वर्चांसि	तेज

व्यापक जगदीश्वर को हवि अर्पित स्वाहा।
सर्वव्यापी के हित अर्पित हवि, स्वाहा॥
जो होता रहता प्रकट और अंतर्हित बन संवत्सर।
उस काल-देवता को अर्पित हवि, स्वाहा॥
हैं यज्ञरूप जो विश्ववास परमेश्वर।
उनको सभक्ति अर्पित है हवि यह स्वाहा॥
उनके उत्पादक को अर्पित हवि, स्वाहा।
दिन के स्वामी को अर्पित हवि यह स्वाहा॥
अविनाशी दिवसों का है अतिमोहक क्रम।
उनके हित अर्पित भक्तिसहित हवि, स्वाहा॥
अविनाशी जो कल्पान्त के परे संस्थित।
आहुति सभक्ति अर्पित है, उसको स्वाहा॥
भुवनों की सीमा तक जो प्रसरित[1] व्यापृत[2]।
उसको सभक्ति अर्पित आहुति यह स्वाहा॥
सब अधिपतियों के अधिपति जो जगदीश्वर।
उनको सभक्ति अर्पित आहुति यह स्वाहा!॥ २०॥

टि०—इस कंडिका में बारह मंत्र हैं। उनके द्वारा आहुति देने का विधान अंत में 'स्वाहा' द्वारा किया गया है। कुछ भाष्यकारों का मत है, कालदेवता का प्रतिनिधि संवत्सर बारह महीनों के रूप में प्रकट है। इसलिए उसी को ये बारह आहुतियाँ अर्पित की गई हैं। कुछ हो, यह कंडिका गीता के इस श्लोकार्ध का स्मरण कराती है—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः।' गोस्वामीजी भी कहते हैं— "लव, निमेष, परमानु, जुग, बरष, कलप, सर चंड। भजसि न मन तेहि राम को काल जासु कोदंड"। २०

आयुर्यज्ञेन कल्पतां[1] प्राणो यज्ञेन कल्पतां[2] चक्षुर्यज्ञेन कल्पतांᳬ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां[4] पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां[5] यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्[6]। प्रजापतेः प्रजा अभूम[7] स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम ॥२१॥

यज्ञेन	यज्ञ द्वारा	यज्ञेन	यज्ञ द्वारा
आयुः	आयु की	चक्षुः	नेत्रेन्द्रिय
कल्पताम्	वृद्धि हो।	कल्पताम्	शक्तिमान बने।
यज्ञेन	यज्ञ द्वारा	यज्ञेन	यज्ञ द्वारा
प्राणः	प्राण	श्रोत्रं	कर्णेन्द्रिय
कल्पताम्	वृद्धि को प्राप्त हों।	कल्पताम्	बलवान बने।

फैला हुआ; २ कार्यशील।

वाजस्य	अन्न के
प्रसवः	उत्पन्न करनेवाले ने
अग्रे	सबसे प्रथम
ओषधीषु अप्सु	ओषधियों और जलों के मध्य में
इमं सोमं	इस सोमवल्ली (नामक)
राजानं	दीप्तिमान पदार्थ को
सुषुवे	उत्पन्न किया।
ताः	वे
अस्मभ्यम्	हमारे लिए
मधुमतीः	मधुर जल से युक्त
भवन्तु	हों।
पुरोहिताः	अग्रेसर या अग्रगामी
वयं	हम
राष्ट्रे	राष्ट्र में
जागृयाम	जाग्रत रहें।
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है ॥ २३ ॥

हैं अन्न जिन्होंने ये अनंत उपजाये।
ओषधिगण अगणित जलचय बहु निर्माये॥
है रचित उन्हीं को सोमलता यह प्रथमा[1]।
यह आदिसृष्टि है ज्योतिर्मयी निरुपमा[2]॥
मधुरस-सिंचित हम पावें सोम निरंतर।
जागें हम सदा राष्ट्र में बन अग्रेसर[3]॥
अग्रेसर का है धर्म जागरित रहना।
अनवरत राष्ट्र-हित-साधन में रत रहना॥ २३॥

टि०—इस कंडिका में यह बताया गया है कि परमेश्वर ने मनुष्यों के भरण-पोषण के लिए अनंत अन्न की सृष्टि की। उसने जल बनाया और असंख्य रोगहारी ओषधियों की रचना की। इनमें सोमलता प्रथमा है, अर्थात् प्रमुख है। उसकी रचना भगवान ने सबसे पहले की। सोमलता सर्वत्र मधुर प्राणदायक रस की वर्षा करे। जो धरती हमें यह सब देती है, हम आलस्य छोड़कर उस भूमि की, उस राष्ट्र की सेवा करें। राष्ट्र के योगक्षेम का उत्तरदायित्व वहन करना ही अग्रेसरों अर्थात् नेताओं का कर्तव्य है। २३

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा
च विश्वा भुवनानि सम्राट्।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो
रयिꣳ सर्ववीरं नि यच्छतु स्वाहा ॥२४॥

---

१ प्रमुख या पहली; २ अद्वितीय; ३ आगे चलनेवाला नेता, इसी को वेद मे पुरोहित कहा गया है।

अस्मे सन्तु	हमें प्राप्त हो
मात्रे पृथिव्यै	माता पृथ्वी को
नमः	नमस्कार है।
मात्रे	माता
पृथिव्या	पृथ्वी के प्रति
नमः	नमस्कार है।
इयं ते राड्	यह तेरी शासन-शक्ति है।
यन्ता असि	तू संचालक है।
यमनः	सब प्रकार से निमग्न करनेवाला
ध्रुवः	स्थिर (और)
धरुणः असि	सबका ही आश्रय-स्थान है।
त्वा कृष्यै	तुझे खेती के लिए,
त्वा क्षेमाय	योगक्षेम के लिए,
त्वा रय्यै	राष्ट्र के कल्याण और ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए,
त्वा पोषाय	प्रजा के पोषण के लिए मैं वरण करता हूँ ॥ २२ ॥

हे विशः! मिले ऐश्वर्य अशेष तुम्हारा।
धन और कर्मसामर्थ्य प्राप्त हो सारा॥
मिल जाय हमें पुंजीकृत तेज तुम्हारा।
स्वायत्त तुम्हारा करें अनंत पसारा॥
है मातृभूमि के हेतु प्रणाम समर्पित।
माता पृथिवी को नमस्कार नित अर्पित॥
सब ओर प्रकट है शासन-शक्ति तुम्हारी।
हे ईश! प्रकट संचालन-शक्ति तुम्हारी॥
हो तुम्हीं नियामक ध्रुव सबके आश्रय-स्थल।
जगदीश्वर! करते वरण तुम्हारा प्रतिपल॥
कृषि के द्वारा हम करें अन्न-उत्पादन।
नित योग-क्षेम का करो वहन-संवर्धन॥
कल्याण विश्व का हो, हो राष्ट्र-ऋद्धिमय।
हम प्रजा तुम्हारी रहें सुरक्षित गत-भय॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर की स्तुति की गयी है। इसमें कहा गया है कि हे प्रभु! हमें आपका तेज प्राप्त हो हम आपको ही कृषि आदि उन्नति और जग-कल्याण के लिए स्वीकारते हैं। २२

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ
राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥२३॥

अस्मै	हमारे लिए	परि याति	सर्वोपरि
प्रजां	प्रजा (धन और पशुओं) की		विराजता है।
पुष्टिं	समृद्धि को	स्वाहा	उसको यह आहुति अर्पित है ॥ २५ ॥
वर्धमानः	बढ़ाता हुआ		

उपजाया अन्न प्रजापति ने आश्चर्य परम।
उपजाया विश्व, अशेष भुवन, आश्चर्य परम॥
प्रति स्तम्ब[1] हिरण्यगर्भ[2] तक उसकी सृष्टि निखिल।
सर्वज्ञ, पुरातन[3] अधिपति है सबका वह किल॥
गोधन, धन, पुत्र-पौत्र उससे ही सर्वधित।
सर्वोपरि दिव की मूर्धा[4] पर वह सस्थित नित॥
उसको हम अर्पित करते हैं यह हवि स्वाहा॥ २५॥

टि०—श्रीभगवान ने अन्न की सृष्टि की, यह विश्व बनाया, सब भुवन रचे, यह कैसे आश्चर्य की बात है। मंत्र में प्रयुक्त 'नु' विस्मयार्थक है। घास से लेकर ब्रह्मा तक सब कुछ उन्हीं की सृष्टि है। वे सब कुछ जानते हैं, चिरंतन राजा है। वही धन, गोधन, पुत्र-पौत्र आदि की वृद्धि करते हैं। वे नित्य-निरंतर सेवनीय हैं। वे सबके ऊपर, स्वर्ग के भी बहुत ऊपर विराजते हैं। २५

सोम॑ᳬ राजा॑न॒मव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे।
आ॒दि॒त्यान्विष्णु॑ᳬ॒ सूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॑ᳬ॒ स्वाहा॑॥२६॥

अवसे	पालन के लिए	ब्रह्माणं	ब्रह्मा को
राजानं	राजा को,	च बृहस्पतिं	और बृहस्पति को (जिसने उत्पन्न किया है।)
सोमं	सोम को,		
अग्निं	अग्नि को,		
आदित्यान्	बारहों आदित्यों को,	अन्वारभामहे	उसकी हम आराधना करते हैं।
विष्णुं	व्यापक प्रभु विष्णु को,	स्वाहा	उसको हवि अर्पित है ॥ २६ ॥
सूर्यं	सबके प्रसविता सूर्य को,		

जो करता हम सबका सम्यक् प्रतिपालन।
उन परमेश्वर का करते हम आवाहन॥

१ घास या तिनका; २ ब्रह्मा; ३ पुराना; ४ शिर।

वाजस्य प्रसवः	अन्न के उत्पन्न करनेवाले परमात्मा ने	प्रजानन्	मुझे जानता हुआ
इमां दिवं	इस द्युलोक को,	दापयति	मुझसे आहुति दिलाता है।
इमा विश्वा	इन संपूर्ण	नः	(वह) हम लोगों को
भुवनानि	भुवनों को	सर्ववीरं	सब प्रकार के वीर पुत्र (तथा)
शिश्रिये	आश्रय दिया है।	रयिं	धनैश्वर्य
सः सम्राट्	वह सबका अधिपति	नियच्छतु	प्रदान करे।
अदित्सन्तं	हवि देने की इच्छावाले	स्वाहा	यह आहुति उसे अर्पित है ॥ २४ ॥

उपजाया जगदीश्वर ने अन्न अपरिमित।
हैं दिव, ये निखिल भुवन सब उनपर आश्रित ॥
हवि देने की मेरी इच्छा का ज्ञाता।
सम्राट् वही हवि मुझसे सदा दिलाता ॥
दें पुत्र, पौत्र, भृत्यादियुक्त धन हमको।
अर्पित करते हम उनको हवि यह स्वाहा ! ॥ २४ ॥

टि०—अन्न के उत्पादक ईश्वर पर यह द्युलोक और सब भुवन आश्रित हैं। वे जगदीश्वर सम्राट् हैं, सबके स्वामी हैं। वे ही हमारी बुद्धियों को हविदान करने की प्रेरणा देते हैं। २४

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒व आ ब॑भूवे॒मा
च॒ विश्वा॒ भुव॑नानि स॒र्वतः॑ ।
सने॑मि॒ राजा॒ परि॑ याति वि॒द्वान् प्र॒जां
पुष्टिं॑ व॒र्धय॑मानो अ॒स्मे स्वाहा॑ ॥२५॥

नु	आश्चर्य है कि	सर्वतः आ बभूव	सब ओर से उत्पन्न किया है
वाजस्य प्रसवः	अन्नोत्पादक प्रजापति ने	च	और
इमा	इन	सनेमि	वह पुरातन,
विश्वा भुवनानि	संपूर्ण भुवनों को	विद्वान् राजा	सब कुछ जानने वाला राजा

टि०—इस कंडिका में यह प्रार्थना की गई है कि परमेश्वर बृहस्पति, इन्द्र, सरस्वती, विष्णु, सूर्य आदि सब बलशाली देवताओं को धन देने की प्रेरणा प्रदान करें। धन का अर्थ केवल भौतिक ऐश्वर्य नहीं। विद्या, धर्म, ज्ञान ये दैवी धन हैं। भगवान् ये सब प्रदान करें। भगवान् विद्या-धर्मादि की वृद्धि की प्रेरणा निरंतर देते रहें। २७

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वं हि धनदा असि स्वाहा ॥२८॥

अग्ने	हे अग्नि !
इह	इस यज्ञ में
नः	हमारे लिए
अच्छा वद	उत्तम उपदेश करो।
नः प्रति	हमारे लिए
सुमना भव	अच्छे मन और विचारवाले बनो।
सहस्रजित्	सहस्रों के जीतने-वाले !
हि	जिस कारण
त्वम्	तुम
धनदाः असि	धन के देनेवाले हो,
नः प्रयच्छ	हमको (वह) धन प्रदान करो।
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है ॥ २८ ॥

हे अग्नि ! पधारो ऋतु में यहाँ विराजो।
करुणार्द्रचित्त[1] तुम आओ यहाँ विराजो ॥
उपदेश धर्म का करो अनुत्तम हमको।
शोभनमन[2] ! आओ बुला रहे हम तुमको ॥
तुमने सहस्रजित् ! जीते युद्ध हजारों।
हैं सुलभ तुम्हें वैभव के स्रोत हजारों ॥
तुम हो उदार धन के दाता चिर विश्रुत[3]।
धनदान करो अभिमत, है शुचि हवि अर्पित ॥
अग्ने ! धनदाता ! हवि है अर्पित यह स्वाहा ! ॥ २८ ॥

टि०—इस कंडिका में यज्ञ में अग्नि का आवाहन किया गया है। अग्नि 'सुमना' हों, अर्थात् करुणार्द्रचित्त होकर पधारें। हमारे लिए उनके मन में उत्तम विचार आवें। वे सहस्रजित् हैं। हज़ारों युद्ध उनकी शक्ति से जीते गये हैं। धन-प्राप्ति के हजारों मार्ग उन्होंने दिखाये हैं। वे अग्नि हमारी हवि स्वीकार करें। २८

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः।
प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥ २९ ॥

---

१ करुणा से भरा हृदय; २ सुन्दर विचारोंवाले; ३ प्रसिद्ध।

हम सबके पालन हेतु रचा है राजा।
सोम का, अग्नि का सर्जक वही विराजा॥
द्वादश आदित्य उसी की सृष्टि अनुत्तम।
सबके प्रसविता सूर्य उसकी कृति निरुपम॥
हैं विष्णु उसी को कला-पालिका चिन्मय।
विधि और बृहस्पति कृति उसकी महिमामय॥
आराध्य प्रजापति है वह ही हम सबका।
है उसी प्रजापति को अर्पित हवि स्वाहा!॥ २६॥

टि०—इस कंडिका में सोम, अग्नि, बारहों आदित्य, सूर्य देवता, विष्णु, ब्राह्मण, बृहस्पति आदि की हमारी रक्षा के लिए आवाहन किया गया है तथा उन्हें हवि अर्पित की गई है। कुछ भाष्यकारों ने इस कंडिका का यह अर्थ भी किया है कि जिस राजा या शासक में सोम भी शीतलता, सूर्य का तेज, विष्णु की पालन-शक्ति, बृहस्पति का ज्ञान हो, उसे राष्ट्र का शासक चुना जाए, दूसरे को नहीं। २६

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वाचं विष्णुंᳬं सरस्वतीᳬं सवितारं च वाजिनंᳬं स्वाहा[१] ॥२७॥

अर्यमणं	(तुम) अर्यमा को,	वाजिनं	बलशाली देवों को
बृहस्पतिं	बृहस्पति को,	दानाय	धन प्रदान करने की
इन्द्रं	इन्द्र को,	चोदय	प्रेरणा प्रदान करो।
वाचं सरस्वतीम्	वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती को,	स्वाहा	यह आहुति तुम्हारे लिए दी जाती है॥ २७॥
विष्णुं	सर्वव्यापक प्रभु विष्णु को,		
सवितारं	सर्वप्रसविता सविता को,		

अर्यमा बृहस्पति को प्रेरणा करो तुम।
दो इन्द्र और वाणी को संप्रेरण तुम॥
हे ईश! प्रेरणा विष्णु-सूर्य ये पावें।
बलशाली सुर सब कृपा परम दरसावें॥
धन देते रहें प्रभूत[१] सभी ये हमको।
परमेश्वर! प्रेरित करो सदा तुम इनको॥
हम प्राप्त करें धन, अर्पित शुचि हवि स्वाहा!॥ २७॥

---

१ बहुत अधिक।

हो सारस्वत-वैभव[1] के तुम अधिकारी।
दैवी संपदा प्राप्त है तुमको सारी॥
अश्विनीदेवयुग की बाँहें फैलाकर।
पूषा के पोषणदाता कर प्रसरित कर॥
स्वीकार तुम्हारा करते हैं इस पद पर।
सम्राट्-रूप में तुमको रहे वरण कर॥
तुम रहो बृहस्पति के द्वारा अनुशासित।
विद्वानों की मंत्रणा करे नित प्रेरित॥
साम्राज्य धर्म का प्रसरित रहे निरन्तर।
अभिषेक कर रहे हम सब पुलकित अन्तर॥
अभिषिक्त हुए इस पद पर श्रुति के द्वारा[2]।
ऋत - सत्य - युक्त हो यह साम्राज्य तुम्हारा॥ ३०॥

टि०—इस प्रकार की कंडिकाओं से यह सिद्ध है कि शासक की पात्रता के विषय में वैदिक मनीषा कितनी जागरूक है। इस मंत्र में सम्राट् पद पर अभिषिक्त होने योग्य मनुष्य की पात्रता का विवेचन किया गया है। जो मनुष्य ईश्वरभक्त हो, बलपराक्रम-संपन्न हो, बृहस्पति जैसे विद्वानों की मेधा का उपयोग करने की क्षमता जिसमें हो, जिसको सब दैवी संपदाएँ प्राप्त हों, जो नैतिक नियमों का पालन करते हुए न्यायपूर्ण व्यवस्था का विधान कर सके, उसी को शासक के पद पर प्रतिष्ठित् किया जाना चाहिए। पूर्ववर्ती अनेक मंत्रों की तरह इसमें भी अश्विनी की बाँहों और पूषा के करों की चर्चा है। इसका यह अर्थ है कि प्रजा की स्वास्थ्य-रक्षा और उसका भरण-पोषण शासक का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है। ३०

अ॒ग्निरेका॑क्षरेण प्रा॒णमुद॑जय॒त्तमुज्जे॑षम॒श्विनौ॒
द्व्य॑क्षरेण द्वि॒पदो॑ मनु॒ष्या॒नुद॑जयतां॒ तानुज्जे॑षं॒
विष्णु॒स्त्र्य॑क्षरेण॒ त्रीँल्लो॒कानुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षं॒
सोम॒श्चतु॑रक्षरेण॒ चतु॑ष्पदः प॒शूनुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षम्॥३१

अग्निः	अग्नि ने	उज्जेषम्	(एकाक्षर के प्रभाव से) जीत लूँ।
एकाक्षरेण	एकाक्षर के प्रभाव से	अश्विनौ	अश्विनीकुमारों ने
प्राणं	प्राण को	द्व्यक्षरेण	दो अक्षरोंवाले छंद के प्रभाव से
उदजयत्	जीत लिया।	द्विपदः मनुष्यान्	दो पैरों-वाले मनुष्यों को
तं	(मैं भी) उसको		

१ ज्ञान का ऐश्वर्य; २ वेदमंत्रों से तुम्हारा अभिषेक हुआ है।

अर्यमा	अर्यमा देव	देवी वाक्	वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी
नः	हमें	नः ददातु	हमें (अभीष्ट ऋद्धि-सिद्धि) प्रदान करें।
प्र यच्छतु	धन प्रदान करें,	स्वाहा	हमारी यह आहुति अर्पित है ॥ २९ ॥
पूषा	पूषा देवता		
प्र (यच्छतु)	(हमें) धन प्रदान करें,		
बृहस्पतिः प्र (यच्छतु)	बृहस्पति धन दें।		

हे ईश! अर्यमा सब अभीष्ट दें हमको।
अभिमत फलदाता हों पूषा नित हमको॥
ये वाणी की स्वामिनी परा[1] वरदात्री।
हों सरस्वती हमको सब इष्ट-प्रदात्री॥
जगदीश्वर! तुमको हवि अर्पित यह स्वाहा! ॥ २९ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान् से यह प्रार्थना की गई है कि न्याय के देवता अर्यमा हमें न्यायप्रिय बनावें, पोषणकर्ता देवता पूषा हमारा सम्यक् पोषण करें और विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हमें विद्या-कला-कौशल आदि का ज्ञान प्रदान करें। २९

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियें दधामि बृहस्पतेष्ट्वा
साम्राज्येनाभि षिञ्चाम्यसौ[1] ॥ ३० ॥

असौ	यह मैं	पूष्णः	पूषा देवता के
सवितुः देवस्य	सर्वोत्पादक प्रकाशमान परमेश्वर के	हस्ताभ्याम्	हाथों से
प्रसवे	उत्पन्न किये संसार में	त्वा दधामि	तुझे धारण करता हूँ।
सरस्वत्यै वाचः	वेदवाणी के मध्य में	यन्तुः	नियमन करनेवाले
अश्विनोः	अश्विनी की	बृहस्पतेः	बृहस्पति के
बाहुभ्याम्	भुजाओं से,	यन्त्रिये	उत्तम नियन्त्रण में
		साम्राज्येन	इस साम्राज्य के अधिष्ठाता पद पर
		त्वा अभि सिञ्चामि	तुझको स्थापित करता हूँ ॥ ३० ॥

विश्व के प्रसविता सविता की संसृति यह।
श्रुति का तुमने स्वाध्याय किया है अहरह॥

१ परे-से-परे, अनन्या।

जीते जा सकते हैं। चतुरक्षर गायत्री की सिद्धि से चतुष्पदों पर जय प्राप्त की जानी चाहिए। इस कंडिका में छंद के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है। ३१

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषं
सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः
सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं
बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्॥३२॥

पूषा	पूषा देवता ने
पञ्चाक्षरेण	पंचाक्षर छंद की शक्ति से
पञ्च दिशः	पाँच दिशाओं को
उदजयत्	जीता।
ताः उज्जेषम्	मैं भी उसी शक्ति से उनको जीत लूं।
सविता	सविता देवता ने
षडक्षरेण	षडाक्षर छंद की शक्ति से
षड ऋतून्	छः ऋतुओं को
उदजयत्	जीता।
तान् उज्जेषम्	मैं भी उसी शक्ति से उन ऋतुओं पर विजय प्राप्त करूँ।
मरुतः	मरुत् देवता ने
सप्ताक्षरेण	सप्ताक्षर छंद के प्रभाव से
सप्त ग्राम्यान्	सात ग्राम्य-गवादि
पशून्	पशुओं को
उदजयन्	जीत लिया।
तान् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उनपर विजय प्राप्त करूँ।
बृहस्पतिः	बृहस्पति ने
अष्टाक्षरेण	आठ अक्षरोंवाले छंद के प्रभाव से
गायत्रीम्	गायत्री को
उदजयत्	जीत लिया
ताम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसे वशीभूत करूँ॥ ३२॥

पंचाक्षर छंद के अमोघ प्रभाव से।
पाँच दिशाएँ पूषा ने कर लीं विजित॥
मैं भी सिद्ध करूँ पंचाक्षर मंत्र वह।
और प्राप्त जय पाँच दिशाओं पर करूँ॥
सविता ने छः अक्षर - वाले छंद से।
विजय प्रात की छः ऋतुओं पर ऋतमयी॥
उसी तरह मैं छः अक्षर के छंद से।
प्राप्त करूँ इन सब छः ऋतुओं पर विजय॥

उदजयताम्	उत्कृष्ट रूप से जीत लिया।	सोमः	सोम ने
तान् उज्जेषम्	मैं भी उनको उसी प्रकार जीत सकूँ।	चतुरक्षरेण	चतुराक्षर मन्त्र की शक्ति से
विष्णुः	विष्णु ने	चतुष्पदः पशून्	चौपाये पशुओं को
त्र्यक्षरेण	तीन अक्षर के छंद से	उदजयत्	जीत लिया।
त्रीन् लोकान्	तीनों लोकों को	तान् उज्जेषम्	मैं भी उसी तरह उनको जीत लूँ॥३१॥
उदजयत्	जीत लिया।		
तान् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार लोकों को जीत लूँ।		

दैवी एकाक्षर गायत्री को सिद्ध कर।
पायी है जय पंचप्राण पर अग्नि ने॥
मैं भी एकाक्षर गायत्री सिद्ध कर।
उसी तरह प्राणों पर प्राप्त करूँ विजय॥
देवयुग्म अश्विनीकुमारों ने प्रथित।
द्व्यक्षर उष्णिक् गायत्री को सिद्ध कर॥
पायी है जय द्विपद[1] मानवीय सृष्टि पर।
उसी भाँति मैं द्व्यक्षर छंद-प्रभाव से॥
विजित करूँ सब द्विपद मानवी सृष्टि यह।
त्र्यक्षर छन्द अनुष्टुप् गायत्री विहित॥
सिद्ध किया है सम्यक् उसको विष्णु ने।
और विजय पायी भुवन-त्रय पर अखिल॥
उसी तरह मैं भी त्रिभुवन को विजित करूँ।
त्र्यक्षर गायत्री की शक्ति विशिष्ट से।
चतुरक्षर गायत्री मंत्र - प्रभाव से।
चतुष्पदों[2] पर पाई है जय सोम ने॥
उसी तरह मैं भी चतुरक्षर सिद्ध कर।
प्राप्त करूँ जय चतुष्पदों की सृष्टि पर॥ ३१ ॥

टि०—इस कंडिका में संकलित मंत्रों को उज्जिति मंत्र भी कहा गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि एकाक्षर गायत्री अर्थात् ॐकार की सिद्धि से पंचप्राणों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार द्व्यक्षर गायत्री की सिद्धि से द्विपद् मनुष्यों पर जय प्राप्त की जा सकती है। त्र्यक्षर गायत्री की सिद्धि से तीनों लोक

१ दो पैरोंवाले मनुष्य; २ चार पैरोंवाले पशु।

जगतीम् उदजयन्	जगती छंद को जीता।	ताम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसको वश में करूँ ॥ ३३ ॥

मित्रदेव ने छंद नवाक्षर[1] सिद्ध कर।
त्रिवृत् स्तोम पर जय पायी है श्रेष्ठ अति॥
जिसके भीतर ज्ञान, कर्म की भक्ति की।
छिपी हुई हैं निखिल गुह्यतम शक्तियाँ॥
उसी भाँति मैं भी इस सोम त्रिवृत्त[2] पर।
छंद नवाक्षर से पाऊँ जय शुभप्रदा॥
वरुणदेव ने छंद दशाक्षर सिद्ध कर।
दश अक्षर-वाले विराट् को जय किया॥
उसी भाँति मैं भी दशाक्षरा छंद से।
प्राप्त करूँ श्रुतिप्रथित दशाक्षर याजुषी॥
है विराट् जिसका अभिमानी देवता।
इन्द्रदेव ने ग्यारह अक्षर छंद से॥
एकादश अक्षर त्रिष्टुप् को जय किया।
वश में कर उसका अभिमानी देवता॥
उसी भाँति मैं ग्यारह अक्षर छंद को।
सिद्ध करूँ, पाऊँ जय त्रिष्टुप् छंद पर॥
द्वादशाक्षरा छंद-शक्ति की सिद्धि से।
विश्वेदेवों ने जगती को जय किया॥
उसी भाँति कर सिद्ध छंद की शक्ति वह।
जीतूँ जगती के अभिमानी देव को॥ ३३॥

टि०—यह मंत्र भी छंद-सिद्धि का निरूपण करनेवाले पूर्ववर्ती दो मंत्रों के क्रम में है। इसमें यह बताया गया है कि नवाक्षर छंद की सिद्धि द्वारा कर्म, ज्ञान और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। दशाक्षरों की याजुषी सिद्धि की महिमा श्रुति में प्रसिद्ध है। एकादश अक्षरोंवाली गायत्री से आसुरी शक्तियाँ और संपत्तियाँ जीती जा सकती है। बारह अक्षरों की साम्नी गायत्री की सिद्धि से जीवन पूर्ण रूप से नैतिक बन जाता है। ३३

---

१ सम्भवतः आगे चलकर यही नवार्णमंत्र हुआ; २ कर्म, ज्ञान, उपासना या।

मरुत देवता ने सप्ताक्षर छंद से।
सात ग्राम्य पशुओं पर पायी है विजय॥
मैं भी सप्ताक्षर की शक्ति अनंत से।
सात ग्राम्य पशु गोआदिक को जीत लूं॥
देव बृहस्पति ने अष्टाक्षर छंद से।
गायत्री देवी को वश में है किया॥
उसी तरह मैं भी अष्टाक्षर सिद्ध कर।
कृपा प्राप्त गायत्री देवी की करूं॥ ३२॥

टि०—यह कंडिका भी पूर्ववर्ती की पूरक है। इसमें पंचाक्षर, षडक्षर, सप्ताक्षर और अष्टाक्षर छंद के महत्त्व का वर्णन किया गया है। पाँच अक्षरों के छंद से पाँच दिशाओं को जीतने की बात कही गई। ये पाँच दिशाएँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण और ऊपर-नीचे की दो दिशाओं के एक माना गया है। इस प्रकार सब मिलाकर पाँच दिशाएँ हुई। सप्ताक्षर छंद से सात ग्राम-पशुओं को जीतना कहा गया है। वे हैं—गाय, घोड़ा, भैंस, ऊँट, बकरी, भेड़ और गधा। ३२

मि॒त्रो नवा॑क्षरेण त्रि॒वृत॒ꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒त्तमुज्जे॑षं॒ वरु॑णो॒ दशा॑क्षरेण वि॒राज॒मुद॑जय॒त्तामुज्जे॑षं॒ मिन्द्र॒ एका॑दशाक्षरेण त्रि॒ष्टुभ॒मुद॑जय॒त्तामुज्जे॑षं॒ विश्वे॑ दे॒वा द्वाद॑शाक्षरेण॒ जग॑ती॒मुद॑जय॒ꣳस्ता॒मुज्जे॑षम् ॥ ३३ ॥

मित्रः	मित्र देवता ने
नवाक्षरेण	नवाक्षर छंद से
त्रिवृतम् स्तोमम्	त्रिवृत स्तोम को
उदजयत्	जीता
तम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसे जीत लूं।
वरुणः	वरुणदेव ने
दशाक्षरेण	दशाक्षर छंद से
विराजम्	विराट् के अभिमानी देवता को
उदजयत्	जीत लिया
तम्	मैं भी उसको
उज्जेषम्	उसी प्रकार जीत लूँ
इन्द्रः	इन्द्र ने
एकादशाक्षरेण	एकादश अक्षरों वाले छंद से
त्रिष्टुभम्	त्रिष्टुभ् छंद के अभिमानी देवता को
उदजयत्	जीत लिया।
ताम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसको जीत लूं।
विश्वेदेवाः	विश्वेदेवा देवता ने
द्वादशाक्षरेण	बारह अक्षर के मन्त्र से

ये तेरह हों वशीभूत मेरे सदा।
रुद्रदेव ने चतुर्दशाक्षर छंद से॥
स्तोम चतुर्दश पर उत्तम जय प्राप्त की।
उसी भाँति मैं चतुर्दशाक्षर छंद से॥
चतुर्दशाक्षर स्तोम शक्ति को जय करूँ।
अंतःकरण चतुष्टय-सह दश इन्द्रियाँ॥
ऊर्ध्वमुखी हों, वशीभूत मेरे रहें।
आदित्यों ने पंचदशाक्षर छंद से॥
पायी है जय पंचदशाक्षर सोम पर।
चार वेद, उपवेद और वेदाङ्ग सब॥
क्रिया-सहित सब मुझको सम्यक् सिद्ध हैं।
उसी तरह मैं पंचदशाक्षर छंद से॥
पंचदशाक्षर स्तोम सिद्ध सम्यक् करूँ।
षोडशाक्षर छंद सिद्ध कर अदिति ने॥
सोलह स्तोमों पर पायी उत्तम विजय।
उसी भाँति मैं षोडशाक्षरा शक्ति से॥
सब सोलह स्तोमों पर पाऊँ विजय।
सप्तदशाक्षर निचृद्वार्यो[1] छंद से॥
देव प्रजापति ने पायी उत्तम विजय।
सप्तदशाक्षर स्तोम सिद्धिप्रद पद परम॥
उसी भाँति मैं सप्तदशाक्षर छंद से।
सप्तदशाक्षर स्तोम सिद्ध सम्यक् करूँ॥ ३४॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों की परंपरा इस मंत्र में भी चल रही है। त्रयोदशाक्षरा गायत्री की सिद्धि से दशों प्राण, जीव, महत और अव्यक्त को वश में रखने का निर्देश दिया गया है। चतुर्दशाक्षरा गायत्री की सिद्धि से दसों इन्द्रियों और अंतःकरण-चतुष्टय का उन्नयन होता है। पंद्रह अक्षरों वाली गायत्री की सिद्धि से चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग और पंद्रहवीं इन सबकी क्रिया का ज्ञान प्राप्त होता है। सोलह अक्षरों वाली गायत्री से प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह इन सोलह का ज्ञान प्राप्त होता है। सत्रह अक्षरों वाली गायत्री से चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अवाप्त की इच्छा, प्राप्त का रक्षण, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए को उपयोग में लगाना, पुरुषार्थ और मोक्ष—ये सत्रह सिद्ध होते हैं। ३४

---

१ एक वैदिक छद का नाम।

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशᳬ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषᳬ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशᳬ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषᳬमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशᳬ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषᳬमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशᳬ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशᳬ स्तोम- मुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

वसवः	वसुओं ने
त्रयोदशाक्षरेण	तेरह अक्षरों के छंद की शक्ति से
त्रयोदशं स्तोमम्	त्रयोदशवें स्तोम को
उदजयन्	वश में किया।
तम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसको जीत लूं।
रुद्राः	रुद्रों ने
चतुर्दशाक्षरेण	चौदह अक्षरों के छंद से
चतुर्दशम् स्तोमम्	चौदहवें स्तोम को उत्कृष्ट रूप से
उदजयन्	जीता।
तम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उनपर जय प्राप्त करूँ।
आदित्याः	आदित्य देवताओं ने
पञ्चादशाक्षरेण	पन्द्रह अक्षरों के छंद से
पंचदशम् स्तोमम्	पन्द्रहवें स्तोम को
उदजयन्	जीता।
तम् उज्जेषम्	(मैं भी उसी प्रकार) उसको अच्छी तरह से जीत लूं।
अदितिः	अदिति ने
षोडशाक्षरेण	सोलह अक्षरों के छंद से
षोडशं स्तोमम्	सोलहवें स्तोम को
उदजयत्	जीता।
तम् उज्जेषम्	मैं भी उसी प्रकार उसको जीत लूँ।
प्रजापतिः	प्रजापति ने
सप्तदशाक्षरेण	सत्रह अक्षरों के छंद से
सप्तदशः स्तोमम्	सत्रहवें स्तोम को
उदजयत्	जीता।
तम् उज्जेषम्	मै भी उसी प्रकार उसको जीतूं ॥३४॥

वसुओं ने तेरह अक्षर के छंद को।
सिद्ध किया, जय मिली त्रयोदश स्तोम पर।
उत्कृष्ट रूप से उसे वशंवद है किया॥
उसी भाँति मैं त्रयोदशाक्षर छंद से।
स्तोम त्रयोदश पर पाऊँ सम्यक् विजय॥
दसों प्राण यह जीव, महत् अव्यक्त सब॥

स्वीकारो आहुति अर्पित स्वाहा सहित ! ।
पूर्व दिशा के अधिवासी सब देवगण ।
करते हैं नेतृत्व अग्नि जिनका प्रमन ।।
स्वीकारें आहुति वे सब यह प्रीतियुत ।
अर्पित करता हूँ हवि यह स्वाहा-सहित ।।
दिशा दक्षिणा के अधिवासी देवगण ।
किया जिन्होंने यम को निज नेता वरण ।।
उनके हित अर्पित यह आहुति प्रीतियुत ।
स्वीकारें मेरी हवि यह स्वाहा-सहित ! ।।
दिशा प्रतीची के अधिवासी देव नित ।
विश्वेदेवा हैं जिनके नेता प्रथित ।।
उनके हित अर्पित आहुति यह प्रीतियुत ।
ग्रहण करें उत्तम हवि यह स्वाहा-सहित ! ।।
दिशा उत्तरा के अधिवासी देवगण ।
जिनके नेता मरुत् या कि मित्रावरुण ।।
स्वीकारें मेरी आहुति यह प्रीति से ।।
अर्पित करता हूँ उनको स्वाहा-सहित ।
अंतरिक्ष किंवा द्युलोकवासी सदा ।।
नेता जिनके सोम रहे हैं सर्वदा ।
हविभोजी वे सभी देवगण हैं विदित ।।
आहुति अर्पित है उनको यह प्रीतियुत ।
स्वीकारें वे मेरी हवि स्वाहा-सहित ।। ३५ ।।

टि०—यह राजसूय यज्ञ का मंत्र है। इसमें पृथ्वी को निर्ऋति अभिधान से संबोधित किया गया है। राजसूय में इन मंत्रों के द्वारा सभी दिशाओं में रहनेवाले देवताओं को प्रीतिपूर्वक हवि अर्पित की जाती है। ३५

ये दे॒वा अ॒ग्निने॑त्राः पुरः॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ये दे॒वा य॒मने॑त्रा दक्षिणा॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ये दे॒वा विश्वदे॑वनेत्राः पश्चा॒त्सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ये दे॒वा मि॒त्रावरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्ने॑त्रा वोत्तरा॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ये दे॒वाः सोम॑नेत्रा उपरि॒सदो॒ दुव॑स्वन्त॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ।। ३६ ।।

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा ऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

निर्ऋते	हे पृथ्वी !
एषः	यह
ते भागः	तुम्हारा भाग है।
तम्	उसका
जुषस्व	प्रीतिपूर्वक सेवन करो।
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
अग्निनेत्रेभ्यः	अग्नि जिनका नेता है
पुरः सद्भ्यः	पूर्व दिशा में
सद्भ्मः देवेभ्यः	बसनेवाले देवताओं की प्रसन्नता के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
यमनेत्रेभ्यः	यम जिनका नेता है,
दक्षिणासद्भ्यः	दक्षिण दिशावासी उन
देवेभ्यः	देवताओं की प्रीति के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
विश्वदेवनेत्रेभ्यः	विश्वदेव जिनके नेता हैं,
पश्चात् सद्भ्यः	पश्चिम दिशा में रहनेवाले
देवेभ्यः	देवताओं की प्रसन्नता के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
वा	या
मित्रावरुणनेत्रेभ्यः	मित्र और वरुण जिनके नेता हैं
मरुन्नेत्रेभ्यः	अथवा मरुद्गण जिनके नेता हैं
उत्तरासद्भ्यः	उत्तर दिशा में निवास करनेवाले
देवेभ्यः	उन देवों के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
सोमनेत्रेभ्यः	सोम जिनके नेता हैं,
दुवस्वद्भ्यः	जो हवि स्वीकार करनेवाले हैं,
उपरिसद्भ्यः	अन्तरिक्ष या द्युलोक में निवास करनेवाले
देवेभ्यः	उन देवताओं के लिए
स्वाहा	यह हवि अर्पित हो ॥ ३५ ॥

अये निर्ऋत्ति ! हे पृथिवि ! तुम्हारा भाग यह।
प्रस्तुत है सप्रीति देवि ! सेवन करो ॥

द्वारा ज्ञान-विज्ञान और यश की वृद्धि करें। अपनी क्षुद्र सीमाओं को तोड़कर महान से महीयान बनने का संकल्प करें। ३६

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	अरातीः तरन्	शत्रुओं को दूर करते हुए
पृतनाः सहस्व	शत्रु-सेना को पराजित करो।	यज्ञवाहसि	यज्ञ करनेवाले यजमान को
अभिमातीः	उन शत्रुओं को		
अपास्य	विदारित करो।	वर्चः धाः	अन्न और तेज प्रदान करो ॥३७॥
दुष्टरः	दुर्निवार (तुम)		

हे अग्नि! शत्रुसेना का करो पराभव।
सब शत्रुगणों को दग्ध करो बनकर दव[1] ॥
तुम दुस्तर[2], तुममें शक्ति अनंत अपरिमित।
सब देवगणों को करो दलित-उन्मूलित ॥
यजमान को करो दान अन्न तुम संतत।
यजमान को करो दान वर्च[3] का अविरत ॥ ३७ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से काम, क्रोध आदि आंतरिक शत्रुओं और व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के बाहरी शत्रुओं को दूर करने की प्रार्थना की गई है। यह भी प्रार्थना की गई है कि अग्नि यजमान को अन्न और तेज प्रदान करें। ३७

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतꣳ रक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा
वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३८ ॥

स्वाहा	उत्तम आहुति अर्पित है।	उपांशो वीर्येण	समीपवाले की सामर्थ्य से,
सवितुः देवस्य	ऐश्वर्योत्पादक देव के	अश्विनोः	अश्विनीकुमारों की
		बाहुभ्यां	दोनों बाँहों से,
प्रसवे	राज्य में	पूष्णः हस्ताभ्यां	पूषा के हाथों से

१ आग। २ जिसका पार पाना कठिन है; ३ अन्न अथवा तेज।

ये देवाः	जो देवता
अग्निनेत्राः	नेता अग्नि से युक्त है
पुरः सदः	और जो पूर्व दिशा में निवास करते हैं
तेभ्यः स्वाहा	उन देवताओं के निमित्त यह आहुति अर्पित है।
ये देवा यमनेत्रा	जिन देवताओं के नेता यम हैं,
दक्षिणासदः	जो दक्षिण दिशा में निवास करते है
सदः	ऐसे निवासियों के सदनों को लक्ष्य कर
तेभ्यः स्वाहा	उनके लिए यह आहुति अर्पित है।
ये देवाः	जो देवगण
विश्वदेवनेत्राः	विश्वदेव नेता-वाले हैं,
पश्चात्सदः	पश्चिम दिशा के निवासी हैं
तेभ्यः स्वाहा	उनके लिए यह आहुति अर्पित है।
ये देवाः	जो देवता
मित्रावरुणनेत्राः	मित्रावरुण नेता-वाले हैं
वा मरुन्नेत्राः	अथवा मरुत् नेता-वाले हैं
वा उत्तरासदः	अथवा उत्तर दिशा-वासी हैं,
तेभ्यः स्वाहा	उनके लिए यह आहुति अर्पित है।
ये देवाः	जो देवगण
सोमनेत्राः	सोम नेता-वाले हैं
दुवस्वन्तः	हविग्राही है,
उपरिसदः	द्युलोकवासी हैं,
तेभ्यः स्वाहा	उनके लिए यह आहुति अर्पित है ॥ ३६ ॥

पूर्व दिशा के अधिवासी जो और अग्नि हैं जिनके नेता।
उन सब देवों को अर्पित करता हूँ प्रीतिसहित हवि, स्वाहा ! ॥
दक्षिण दिशि के अधिवासी जो और देव यम जिनके नेता।
उन सब देवों को सप्रीति अर्पित करता हूँ आहुति, स्वाहा ॥
पश्चिम दिशि के अधिवासी जो विश्वेदेवा जिनके नेता।
प्रीति-सहित उन देवगणों को अर्पित है आहुति यह, स्वाहा ! ॥
उत्तर दिशि के अधिवासी जो नेता मित्रावरुण या मरुत्।
उन सब देवों को अर्पित है प्रीतिसहित आहुति यह, स्वाहा ! ॥
अंतरिक्ष अथवा द्युलोक के अधिवासी हैं जो सब सुरगण।
नेता जिनके सोम, समर्पित है उनको आहुति यह, स्वाहा ॥ ३६ ॥

टि०—पूर्ववर्ती कंडिका में जिन देवताओं को आहुति दी गई है, उन्हीं को इस मंत्र में भी आहुति देने का विधान किया गया है। इसके द्वारा मनुष्यों को यह निर्देश दिया गया है कि वे सभी दिशाओं में अपनी कार्य-शक्ति का विस्तार करें। श्रम और साधना

बृहस्पतिः वाचे	बृहस्पति वाणी पर आधिपत्य में,	मित्रः सत्यः	मित्र देवता सत्य के व्यवहार में,
इन्द्रः ज्यैष्ठ्याय	इन्द्र श्रेष्ठ आधिपत्य में,	वरुणः	वरुण देवता
रुद्रः पशुभ्यः	रुद्र पशुओं के आधिपत्य में,	धर्मपतीनां	धर्म में (तुम्हें) प्रेरित करें ॥३९॥

शुचि यज्ञकर्म के लिए करें ईश्वर-प्रेरित।
वे जगन्नियंता करे तुम्हें ऋतु में योजित[1] ॥
नित सोमदेवता करें वनस्पतियाँ प्रदान।
वाणी का सब ऐश्वर्य बृहस्पति करें दान ॥
दें इन्द्र तुम्हें स्वामित्व सदा अति ज्येष्ठ श्रेष्ठ।
दें रुद्र तुम्हें गोधन, पशुधन को परम श्रेष्ठ ॥
रक्खें तुमको नित मित्र देवता सत्यनिरत।
वर वरुण धर्म में करें तुम्हारी धी[2] प्रेरित ॥
इस भाँति तुम्हारा बने यज्ञमय यह जीवन।
ऋतुमय हो जाए अपने जीवन का प्रतिक्षण ॥ ३९ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि यज्ञकर्ता का संपूर्ण जीवन यज्ञमय हो जाय। सब देवता उसको अभीष्ट सिद्धि प्रदान करते रहें। ३९

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी
राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

(अध्याय ९, कं० ४०, मं० सं० १७१)

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

महते क्षत्राय	महान क्षात्रशक्ति के लिए,	महते	महान
महते ज्यैष्ठ्याय	महान एवं श्रेष्ठ राजपद के लिए	जानराज्याय	जनसमूह पर राज्य करने के लिए,

१ प्रवृत्त, जुडे हुए; २ बुद्धि।

रक्षसां वधाय	राक्षसों के वध के लिए (मै)	अवधिष्म	वैसे हम उन्हें विनष्ट करें
त्वा जुहोमि	तुम्हारे लिए आहुति देता हूँ।	असौ	(तुमसे जैसे) यह
रक्षः हतम्	जैसे तुमने राक्षसों को नष्ट किया,	रक्षः हतः	दुष्ट राक्षस नष्ट हो गये (हम)
		अमुम् अवधिष्म	(वैसे ही) इनको नष्ट करें ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्योत्पादक सविता का यह है शासन।
तुमको करते हैं आहुति यह उत्तम अर्पण॥
स्वीकार करो हे देव! पूत आहुति स्वाहा!।
जो हैं समीप उनकी संचित कर शक्ति सकल॥
अश्विनीकुमारों की बाँहों का लेकर बल।
पूषा के पोषक हाथों का पाकर संबल॥
राक्षस विनष्ट हों, सकल ध्वस्त हों उन्मूलित।
हम तुमको करते हैं अर्पित आहुति स्वाहा!॥
जैसे तुमने ये सब राक्षसगण हैं मारे।
वैसे ही हम भी सकल दुष्टगण संहारें॥
जैसे तुमने इस राक्षस को है संहारा।
वैसे ही यह खल जायेगा हमसे मारा॥ ३८॥

टि०—इस कंडिका में यह बताया गया है कि यज्ञों का एक प्रमुख लक्ष्य दुष्टों का विनाश है। आततायी को ही राक्षस कहते है। आततायी का वध करना धर्म है, वध न करना अधर्म है। ३८

सविता त्वां सवानांᳬ सुवतामग्निर्गृहपतीनांᳬ
सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय
रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥३९॥

सविता	सर्वप्रसविता, प्रेरयिता परमेश्वर	गृहपतीनां	गृहपतियों अर्थात् गृहस्थों का उपकार करें।
सवानाम्	यज्ञ के लिए		
त्वा	तुमको	सोमः	सोम देवता
सुवताम्	प्रेरणा दें।	वनस्पतीनां	तुमको वनस्पतियाँ प्रदान करें।
अग्निः	अग्निदेव		

आर्त या दुःखी नहीं होगा। 'क्षत्रियैर्धार्यते चापैः नार्त्तिशब्दमवेदिति' क्षत्रिय धनुष इसलिए धारण करता है कि दुःख की आवाज राज्य के किसी कोने में न सुनाई पड़े। वेद पैतृक-परंपरा के महत्त्व को स्वीकार करता है। वेद का कथन है, शासक उसे बनाओ जिसका पिता महान चरित्रवाला, विद्वान, लोकसेवी और पराक्रमी रहा हो। राजा वह हो जिसकी माता अपने परम पवित्र शील के लिए प्रसिद्ध हो। राजा वह हो जिसके माता-पिता के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता पर राष्ट्र गर्व कर सके। प्रजा के योगक्षेम का उत्तरदायित्व वहन करना राजा का धर्म है। ४०

॥ नौवां अध्याय समाप्त ॥

इन्द्रस्य इन्द्रियाय	परम ऐश्वर्यवान राजा के ऐश्वर्य लाभ के लिए	**अमी**	हे अमुक-अमुक (राजाओ) !
देवाः	देवगण	**वः एषः**	तुम लोगों का यह
असपत्नम् इमम्	शत्रु-रहित इसको	**राजा सोमः**	राजा, सोम के समान आह्लादकारक है।
सुवध्वम्	अभिषिक्त करें।	**अस्माकम्**	हम लोगों के
इमं	इस	**ब्राह्मणानाम्**	वेदवेत्ता विद्वानों का भी (वह)
अमुष्य पुत्रं	अमुक के पुत्र को,	**राजा**	राजा है ॥ ४० ॥
अमुष्यै पुत्रं	अमुक माता के पुत्र को		
अस्यै विश	इस प्रजा के लिए अभिषिक्त किया जाता है।		

अप्रतिम क्षात्रबल है तुममें हे देव ! निहित[1]।
इस महत्[2] राजपद पर करते हम अभिषेकित ॥
अतिशय विशाल इन महत् जनों के ऊपर हम।
अभिषेकित करते हैं तुमको सम्राट् परम ॥
इन्द्र से परम ऐश्वर्यवान हो तुम राजन् !।
शत्रुगण-रहित हो सदा तुम्हारा यह शासन ॥
है जनक[3] तुम्हारे परम यशस्वी महाभाग[4]।
माता का शील पुनीत, कीर्ति नित रही जाग ॥
ऐसे तुमको अभिषिक्त कर रहे हम राजन् !।
तुम करो हमारे योग-क्षेम का प्रतिपालन ॥
हे माण्डलिको[5] ! हे राजाओ ! सब करो श्रवण।
सम्राट् तुम्हारा सोम-सदृश है आह्लादन[6] ॥
विद्वान और वेदज्ञ विदित हैं जो ब्राह्मण।
सम्राट् यही उन सबपर करता है शासन ॥ ४० ॥

टि०—यह अभिषेक-मंत्रों की कंडिका है। मूर्द्धाभिषिक्त चक्रवर्ती सम्राट् को शास्त्रविधि से सिंहासन पर अभिषिक्त करते हुए कहा जा रहा है, तुममें अप्रतिम क्षात्रबल है। इसलिए हम तुमको इस विशाल राज्य के सम्राट्-पद पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं। तुममें क्षात्रबल है, इसलिए तुमसे यह आशा की जाती है कि तुम्हारे राज्य मे कोई

१ छिपी हुआ या प्राप्त; २ महान; ३ पिता; ४ बड़े भाग्यशाली; ५ क्षेत्रीय राजागण; ६ आनन्द प्रदान करनेवाला।

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

वृष्णः	(तू) बलवर्धक
ऊर्मिः	ज्ञान को प्राप्त करानेवाला,
राष्ट्रदा	राष्ट्र का प्रदाता
असि	है।
मे	मुझको
स्वाहा	सत्य या समर्पण की रीति से
राष्ट्रं देहि	राष्ट्र को प्रदान कर।
वृष्णः	(तू) सुख की वृष्टि करनेवाला
ऊर्मिः	ऊर्मिसमूह है,
राष्ट्रदा असि	राष्ट्र को देनेवाला है।
अमुष्मै	उसको
राष्ट्रं देहि	राष्ट्र को प्रदान कर।
राष्ट्रदाः	राष्ट्र का देनेवाला,
वृषसेनः असि	बहुत बड़ी और शक्तिशाली सेनावाला है।
मे स्वाहा	मुझको सुन्दर वाणी के साथ
राष्ट्रं देहि	राष्ट्र को दे।
राष्ट्रदाः	(तू) राष्ट्र को देने वाला,
वृषसेनः असि	बलवान और बड़ी सेना से युक्त है।
अमुष्मै	उसको
राष्ट्रं	राष्ट्र
देहि	प्रदान कर ॥ २ ॥

वृष्णरूप तुम बलसंवर्धक हो सदा।
ज्ञान तुम्हीं हो प्राप्त कराते सर्वदा ॥
और राष्ट्र के दाता भी हो तुम विदित।
नीति-सहित यह राष्ट्र-दान हमको करो ॥
तुम सुख की वर्षा करते रहते सतत।
राष्ट्र-दान की शक्ति तुम्हीं में है प्रथित ॥
सत्यनीति का आश्रय लेकर देव! तुम।
योग्य पात्र जो, राष्ट्र उसे अर्पित करो ॥
वह हम दोनों ही शासक हैं राष्ट्र के।
भाग प्राप्त हो शासन में हमको विहित ॥
बलशाली सेना है मेरे साथ में।
राष्ट्र-दान है सदा तुम्हारे हाथ में ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः[1] ॥ १ ॥

देवाः	देवताओं ने	याभिः	जिन (जलों) से
मधुमतीः	मधुर स्वाद से युक्त,	मित्रावरुणौ	मित्रावरुण देवताओं को
ऊर्जस्वतीः	विशिष्ट अन्नरस-संपन्न,	अभ्यषिञ्चन्	अभिषिक्त किया,
राजस्वः	राजाओं के भी सेवन करने योग्य,	याभिः	जिनसे
चितानाः	चेतना देनेवाले ज्ञान को प्राप्त करानेवाले	अरातीः	शत्रुओं को दूर करनेवाले
		इन्द्रं	इन्द्र को
		अति अनयन्	अभिषिक्त
अपः अगृभ्णन्	उन जलों को ग्रहण किया,		किया ॥ १ ॥

हम ग्रहण कर रहे हैं वे जल अतिशय मधुमय।
जिनका देवों ने किया सदा आस्वादन॥
जो अन्नरसों के उत्पादक बलवर्धन।
राजाओं के हित जो सेव्य रहे हैं संतत॥
उत्कृष्ट चेतना देनेवाले जो नित।
वे ही जल हमने ग्रहण किये हैं मधुमय॥
जिस अपोराशि ने देवशत्रु विदलित कर।
अभिषिक्त इन्द्र को किया सुरेश्वर-पद पर॥
जिससे अभिषिक्त हुए थे मित्र-वरुणद्वय।
हम ग्रहण कर रहे उन्हीं जलों को चिन्मय॥
हम ग्रहण कर रहे उन्हीं जलों को मधुमय॥ १ ॥

टिप्पणी—इस कंडिका में आप देवता, अर्थात् जल की महिमा का वर्णन है। जल को सुरक्षित कर उसका उपयोग किया जाना चाहिए। जल के वैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर जितने महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं, उन सबका उल्लेख इन मंत्रों में है। १

मे	मुझको
राष्ट्रं दत्त	राष्ट्र प्रदान करो।
परिवाहिणीः	सब प्रकार की सेनाओं से युक्त
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य प्रदान करने में समर्थ हो।
अमुष्मै	उस योग्य शक्ति को
राष्ट्रं दत्त	राष्ट्र प्रदान करो।
अपां पतिः असि	समस्त जलों का (तुम)रक्षक हो।
राष्ट्रदाः	राष्ट्र प्रदान करने वाले हो।
राष्ट्रं	राष्ट्र
मे देहि	मुझको दो।
अपां पतिः असि	समस्त जलों के तुम रक्षक है,
राष्ट्रदाः	सबके नेता राष्ट्र प्रदान करने में समर्थ हो।
राष्ट्र	राष्ट्र
अमुष्मै देहि	अमुक योग्य पुरुष को दो।
अपां गर्भः	जलों को वश करने में समर्थ
राष्ट्रदाः असि	राष्ट्र प्राप्त करने-वाले हो।
राष्ट्रं	राष्ट्र या राज्य
मे	मुझे
देहि स्वाहा	अच्छी प्रकार प्राप्त करा दो।
अपां गर्भः	जल को वश में करनेवाले (तथा)
राष्ट्रदाः	राष्ट्र प्राप्त कराने-वाले
असि	हो।
राष्ट्रं	राष्ट्र के
अमुष्मै	अमुक योग्य व्यक्ति को
देहि	प्रदान करो ॥ ३ ॥

हे जलो! आप्त पुरुषो! कर रहा निवेदन।
यतमान[1] रहो तुम अर्थप्राप्ति-हित प्रतिक्षण ॥
तुम राष्ट्र-दान के हेतु पूर्ण कार्यक्षम।
तुम राष्ट्र समर्पित करो हमें यह स्वाहा ॥
हे वीरो! तुम ऐश्वर्य-शक्ति से मंडित।
तुम राष्ट्र दिलानेवाले हो यह सुविदित ॥
यह योग्य पुरुष है शासन का अधिकारी।
उसको दो शासन-शक्ति राष्ट्र की सारी ॥
ओजस्वी और पराक्रमशील सदा तुम।
हो तुम्हीं राष्ट्र के दान हेतु अति सक्षम ॥
हम पौरजानपद[2] हैं शासन के भागी।
दो राष्ट्र हमें हम शासन के सहभागी ॥

---

१ प्रयत्नशील; २ पुरों और जनपदों अर्थात् नगरों और ग्रामों के निवासी।

उत्तम सेनावान राष्ट्र-शासक बने।
यही योग्य है, है करणीय यही सदा ॥ २ ॥

टि०—इस कंडिका में शासन-तंत्र के कई महत्त्वपूर्ण बिंदु उठाये गये हैं। राष्ट्र का शासन राजा और प्रजा दोनों के सहयोग से चलता है। लोकतंत्र का यही आधार है। राजा और प्रजा दोनों का शासन में भाग होना चाहिए। राष्ट्र की रक्षा के लिए बलवती सेना आवश्यक है। २

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[1] ऽर्थेत स्थ राष्ट्रदा
राष्ट्रममुष्मै दत्तौ[2]—जस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौ[3]—जस्वती
स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता[4]—पः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त
स्वाहा[5] ऽपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता[6]—पां पतिरसि
राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा[7] ऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै
देह्य[8]—पां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा[9] ऽपां गर्भोऽसि
राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि[10] ॥ ३ ॥

आपः	हे जलो ! हे आप्त पुरुषो ! (तुम)
अर्थेतः	अर्थ प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।
स्थ	राष्ट्र को देनेवाले हो।
राष्ट्रदा	
मे	मुझको
राष्ट्रं	राष्ट्र
स्वाहा	उत्तम रीति से
दत्तं	प्रदान करो।
अर्थेतः	ऐश्वर्य के बल से संपन्न
राष्ट्रदाः	राष्ट्र दिलानेवाले
स्थ	हो।
अमुष्मै	उस योग्य पुरुष को
राष्ट्रं दत्त	राष्ट्र प्रदान करो।
ओजस्वतीः स्थ	ओजस्वी, विशेष पराक्रमशील हो।
स्थ	
राष्ट्रदाः	राष्ट्र को देने में समर्थ हो
राष्ट्रं मे दत्त	राष्ट्र मुझे प्रदान करो।
ओजस्वतीः	महान बल से युक्त
राष्ट्रदाः	राष्ट्र को देनेवाले
स्थ	हो।
अमुष्मै	उस योग्य पुरुष को
राष्ट्रं दत्त	राष्ट्र को प्रदान करो।
परिवाहिणीः	सब प्रकार की उत्तम सेनाओं से युक्त हो,
राष्ट्रदा स्थ	राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ हो।

तभी योग्य रीति से शासन चला सकते हैं, जब वे शासन में सहभागी हों। (यदि प्रजा केवल वोट देती है, शासन में उसका कोई भाग नहीं, तो कल्याणराज्य या रामराज्य की स्थापना संभव नहीं।) प्रजा सावधान रहे, वह अयोग्य, भ्रष्ट, आचारहीन शासकों को सहन न करे। ३

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[1] सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[2] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[3] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[4] मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[5] मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[6] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[7] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[8] वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[9] वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[10] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[11] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[12] शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[13] शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[14] जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[15] जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[16] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[17] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ताऽपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाः अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः[21] ॥ ४ ॥

सूर्यत्वचसः	(राजपुरुषो!) सूर्य के सदृश (तुम) अपने प्रकाश से सब तेज को प्रकाशित करनेवाले हो।	राष्ट्रं दत्त	राष्ट्र को प्रदान करो।
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।	सूर्यत्वचसः	सूर्य के समान तेजधारी हो,
राष्ट्रदाः स्थ	तुम राष्ट्र को देने वाले हो।	राष्ट्रदाः स्थ	राज्य देनेवाले हो।
मे	मुझको	अमुष्मै	उस पुरुष के लिए
		राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
		सूर्यवर्चसः	सूर्य से प्रकाशवान हो।

बलवान परम तुम राष्ट्र-दान हित सक्षम।
उस अधिकारी को करो राज्य अर्पण तुम॥
जैसे जल हैं रहते सर्वत्र प्रवाहित।
वैसी ही सेनाओं से तुम हो मंडित नित॥
इसलिए राष्ट्र के दाता हो तुम सक्षम।
तुम कर सकते हो स्थापित शासन उत्तम॥
यह व्यक्ति अनुत्तम शासन का अधिकारी।
शासन की शक्ति दान दो इसको सारी॥
हे वीरो! उत्तम सेनाओं से मंडित।
तुम कर सकते हो राष्ट्र हमें यह अर्पित॥
तुम हमको अर्पित करो राष्ट्र का शासन।
शासन के भागी पौरजानपद जन हम॥
सेनाओं से मंडित तुम राष्ट्रप्रदाता।
है पात्र प्राप्त यह बनो राष्ट्र के दाता॥
तुम अखिल राष्ट्र के निखिल जलों के पालक।
नेता तुम राष्ट्र प्रदान कराते सम्यक्॥
उस योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान करो तुम।
शासक-पद पर हैं वरण कर रहे सब हम॥
तुम अपांगर्भ[1]! जल निखिल अधीन तुम्हारे।
दो हमको शासन-सूत्र राष्ट्र के सारे॥
तुम निखिल जलों को वश करने में सक्षम।
तुम राष्ट्र-दान के अधिकारी हो उत्तम॥
उस योग्य व्यक्ति को राष्ट्र-प्रदान करो तुम।
इस महत् राष्ट्र के शासक हों सब उत्तम॥
शासक अयोग्य को कभी न सहन करो तुम॥ ३ ॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में राष्ट्र के शासन के कई महत्त्वपूर्ण संदर्भों का संकेत है। सबसे पहले राष्ट्र के जलों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। (आज भी पड़ोसी राष्ट्रों के साथ हमारे देश के जल-विवाद चल रहे हैं।) दूसरा प्रश्न है, राष्ट्र के शासन का अधिकारी कौन है? यद्यपि इस मंत्र में यह स्पष्ट संकेत है कि राष्ट्र की सत्ता को बदलने या उसका उलट-फेर करने में सेना समर्थ है, किंतु सेना का काम केवल यह देखना है कि शासन की बागडोर अयोग्य और अवैध लोगों के हाथों में न जाने पावे। राष्ट्र के शासन के दो ही अधिकारी हैं— प्रजा के द्वारा चुना गया उसका योग्यतम प्रतिनिधि एवं ग्रामों तथा नगरों में निवास करनेवाले प्रजाजन। जनता के प्रतिनिधि

१ जल जिसके अधीन है।

अमुष्मै	उसको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य दीजिए।
जनभृतः	मनुष्यों का पोषण करनेवाली हो।
स्वाहा	सत्यकर्मों के साथ
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य देनेवाली हो।
मे	मुझे
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
जनभृतः	श्रेष्ठ जनों को धारण करनेवाली,
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य देनेवाली हो।
अमुष्मै	उस सत्यप्रिय पुरुष को
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
विश्वभृतः	विश्व को धारण करनेवाले,
स्वाहा	सत्य वाणी के स्वयं
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य के देनेवाली हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
विश्वभृतः	विश्व के धारण करनेवाली
राष्ट्रदाः स्थ	राज्यदात्री हो।
अमुष्मै	उस धारण करने वाले को
राष्ट्रम् दत्त	राष्ट्र को प्रदान करो।
आपः	सब विद्या और धर्मों को जाननेवाली
स्वराजः	स्वयं प्रकाशमान
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य-प्रदात्री हो।
अमुष्मै	उस धर्मज्ञ पुरुष को
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
क्षत्रियाय	क्षत्रियों के लिए
महि	बड़ी
क्षत्रं	पूजा के योग्य राज्य को
वन्वानः	चाहती हुई
सहौजसः	बल-पराक्रम के सहित
क्षत्रियाय	क्षात्र-धर्म के पालन के लिए
महिक्षत्रम्	बड़े राज्य को
दधतिः	धारण करती हुई,
अनाधृष्टाः	शत्रुओं के वश में न आनेवाली,
मधुमतीः	मधुर रसों-वाली,
मधुमतीभिः	मधुरादि गुणों से युक्त वसंतादि ऋतुओं के
पृच्यन्ताम्	सुखों को सिद्ध करे।
सीदत	(हे श्रेष्ठ पुरुषो !) उनको प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

राजपुरुषो ! सूर्यवर्चस् हो सदा।
तेज सब तुमसे प्रकाशित सर्वदा ॥
राष्ट्रदाता हो तुम्हीं, यह है विदित।
राज्य मुझको दान दो, स्वाहा ! ॥

स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
राष्ट्रदाः स्थ	तुम राष्ट्रदाता हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
सूर्यवर्चसः	सूर्य के समान प्रकाशमान हो।
राष्ट्रदाः स्थ	तुम लोग राज्य देनेवाले हो।
अमुष्मै	उस पुरुष के लिए
राष्ट्रम् दत्त	राज्य को प्रदान करो।
मान्दाः स्वाहा	मनुष्यों को आनंद देनेवाले होते हुए तुम सत्य वचन के साथ
राष्ट्रदाः स्थ	राष्ट्र के देनेवाले हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
मान्दाः	मनुष्य को आनन्द देनेवाले
राष्ट्रदाः स्थ	राज्यदाता हो।
अमुष्मै	उस (सुखदाता) जन को
राष्ट्रम् दत्त	राज्य दो।
व्रजक्षितः	गो आदि पशुओं को बसाते हुए
स्वाहा	सत्य क्रिया के साथ
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य के देनेवाले हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
व्रजक्षितः	स्थानादि से पशुओं के रक्षक होते हुए
राष्ट्रदा स्थ	राज्य के देनेवाले हो।
अमुष्मै	गो आदि के रक्षक पुरुष के लिए

राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
वाशाः	कामना करते हुए
स्वाहा	सत्य नीति से
राष्ट्रदा स्थ	राष्ट्र के दाता हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राष्ट्र प्रदान करो।
वाशाः	इच्छुक होते हुए
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य के देनेवाले हो।
अमुष्मै	इस पुरुष को
राष्ट्रम् दत्त	राज्य को प्रदान करो।
शविष्ठाः	अत्यंत बलवान होते हुए
स्वाहा	सत्य पुरुषार्थ से
राष्ट्रदा स्थ	राज्यदाता हो।
मे	मुझको
राष्ट्रम् दत्त	राष्ट्र को प्रदान करो।
शविष्ठाः	अति पराक्रमी और
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य देनेवाले हो।
अमुष्मै	उसको
राष्ट्रम् दत्त	राज्य प्रदान करो।
शक्वरीः	रानियो ! तुम सामर्थ्यवान प्रजा होते हुए
स्वाहा	सत्य पुरुषार्थ से
राष्ट्रदाः स्थ	राज्य देनेवाली हो।
मे	मुझे
राष्ट्रम् दत्त	राज्य को प्रदान करो।
शक्वरीः राष्ट्रदाः	सामर्थ्ययुक्त राज्य देनेवाली
स्थ	हो।

प्राप्त है इस दान का सत्पात्र अधिकारी ॥
राज्य का वह दान पाना चाहता।
राज्य उसको दान दो, स्वाहा ! ॥
राष्ट्रदाता हो शविष्ठ प्रथित।
हो परम बलवान विश्वविदित ॥
अतः मुझ बलवान को दो राज्य।
राज्य मुझको दान दो स्वाहा ! ॥
अतिबली हो राष्ट्रदाता आप्त।
राज्य का सत्पात्र है वह प्राप्त ॥
राज्य उसको करो सुख से दान।
राज्य देकर करो उसका मान ॥
रानियो ! तुम राष्ट्रदान समर्थ।
दान दो तुम राज्य उसके अर्थ ॥
राष्ट्रदाता सत्य है पुरुषार्थ।
प्रजा हो तुम राज्यदान समर्थ ॥
प्राप्त हूँ मैं पात्र सक्षम पूर्ण।
राज्य मुझको दान दो, स्वाहा ॥
राष्ट्रदात्री हो सदैव समर्थ।
दान दो तुम उस पुरुष के अर्थ ॥
प्राप्त है वह पात्र पूर्ण समर्थ।
दान दो तुम राज्य उसके अर्थ ॥
पोषिका तुम श्रेष्ठ जनगण की।
धारिका शुचि सत्य जीवन की ॥
सत्यकर्मा राष्ट्रदा हो ज्ञात।
सत्यपालक व्यक्ति है वह प्राप्त ॥
राज्य का तुम करो उसको दान।
पात्रता का सत्य सदा प्रमाण ॥
राजपुरुषो ! हे सभाध्यक्षादि ! तुम।
विश्व-पोषण-भरण में सक्षम सदा तुम ॥
सत्य वाणी-सहित शुचितम राष्ट्रदा तुम।
सर्वभृत मैं पात्र हूँ सप्रमाण ॥
करो मुझको राष्ट्र का तुम दान, स्वाहा !।
विश्वभृत तुम राष्ट्रदाता हो प्रसिद्ध।

ज्ञान-से तुम सूर्य जैसे हो ज्वलित।
वर्च विद्या का भरा तुममें अमित॥
राष्ट्र देने में समर्थ तुम्हीं विदित।
राज्य दो उस व्यक्ति को सत्पात्र मित॥
सूर्यवर्चस् हो सदा तुम मूर्त्तिमान।
राष्ट्रवान समर्थ तुम हो ज्ञानवान।
राष्ट्र का, इस राज्य का दो मुझे दान।
पात्रता मुझमें, मुझे दो राज्य, स्वाहा॥
राजपुरुषो! सूर्य से तुम प्रज्वलित।
राष्ट्रदान समर्थ हो तुम पुण्यकृत॥
प्राप्त है सत्पात्र इसको राज्य दो।
है प्रकाशपुरुष, इसे दो दान स्वाहा!॥
मानवों को सदा करते मोदमान॥
सत्यवाणी-सहित करते राष्ट्रदान।
पात्र हूँ मैं, करो मुझको राज्यदान॥
राज्य मुझको दान दो, स्वाहा।
प्राणियों को मोद करते हो प्रदान।
यह विदित है राष्ट्रदाता हो महान॥
राष्ट्र दो उस व्यक्ति को, सत्पात्र वह।
योग्य ही शासन करें ध्रुव धर्म वह॥
तुम गवादिक प्राणियों के वासनिर्माता।
सत्क्रियासंपन्न हो तुम राष्ट्र के दाता॥
राज्य मुझको दान दो सत्पात्र मैं।
राज्य मेरा भाग है, स्वाहा!॥
पशुगणों के हित निवास-स्थान कर निर्मित।
सदा रखते हो उन्हें रक्षित॥
राष्ट्रदाता हो, करो तुम राष्ट्रवान।
व्यक्ति वह पशुपाल, राज्य करो प्रदान॥
राष्ट्र देने की तुम्हारी कामना।
सत्य से संयुक्त है यह भावना॥
अतः मुझको राज्य का तुम करो दान।
पात्र हूँ मैं सर्वथा, स्वाहा!॥
राष्ट्रदा तुम, है यही इच्छा तुम्हारी।

मे त्विषिः	मेरी भी कान्ति
भूयात्	होवे।
अग्नये स्वाहा	अग्नि के लिए यह आहुति अर्पित है।
सोमाय स्वाहा	सोम के लिए यह आहुति अर्पित है।
सवित्रे स्वाहा	सविता देवता के लिए यह आहुति अर्पित है।
सरस्वत्यै स्वाहा	सरस्वती के लिए यह आहुति अर्पित है।
पूष्णे स्वाहा	पूषा देवता के लिए यह आहुति अर्पित है।
बृहस्पतये	बृहस्पति के लिए
स्वाहा	यह आहुति है।
इन्द्राय	इन्द्र के लिए
स्वाहा	यह आहुति है।
घोषाय	शब्द करनेवाले देवता के लिए
स्वाहा	यह आहुति है।
श्लोकाय	जनों में कीर्तित परमयशस्वी के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित की जाती है।
अंशाय	पुण्य-पाप का विभाग करनेवाले के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित की जाती है।
भगाय	ऐश्वर्य के देवता भग के निमित्त
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।
अर्यम्णे	विश्व को व्याप्त करनेवाले अर्यमा देवता के लिए
स्वाहा	यह आहुति अर्पित है ॥ ५ ॥

जिस प्रकार ऐश्वर्यप्रकाशक हो तुम राजन्! ।
वैसे ही ऐश्वर्यप्रकाशक हम हों शोभन ॥
मेरी भी हो कान्ति तुम्हारी-सी आह्लादन ।
अग्नि-हेतु अर्पित करता हूँ आहुति, स्वाहा ॥
सोम के लिए अर्पित है यह आहुति, स्वाहा ।
विश्वप्रसविता सविता के हित आहुति, स्वाहा ॥
सरस्वती के लिए समर्पित आहुति, स्वाहा ।
यह पूषा के लिए समर्पित आहुति, स्वाहा ॥
देव बृहस्पति के हित अर्पित आहुति, स्वाहा ।
इन्द्र के लिए आहुति है यह अर्पित, स्वाहा ॥
घोष-देवता[1] के हित अर्पित आहुति, स्वाहा ।
श्लोक[2] - रूपी अंश हेतु यह आहुति स्वाहा ॥

१ शब्द करनेवाले देवता; २ लोगों में कीर्ति-प्राप्त या बहु-चर्चित ।

विश्वधारक मनुज हैं ये सकल सिद्ध ॥
करो इनके हेतु तुम यह राष्ट्र-दान ।
उन्हीं का है राष्ट्र, उनको करो दान ॥
सकल विद्याविद् परम धर्मज्ञ तुम ।
राष्ट्रदाता ख्यात स्वयंप्रकाश तुम ॥
प्राप्त है धर्मज्ञ पुरुष यहाँ महान ।
करो उस धर्मज्ञ को तुम राज्यवान ॥
श्रेष्ठ गुण संपत्तिवाली नारियो ! ।
करो निज कर्तव्य का निर्धार यों ॥
क्षत्रियों को मिले पूजा योग्य राज्य ।
बल-पराक्रम से सदा वह रहे साध्य ॥
राज्य की तुम करो महती भावना ।
करो विकसित लोकहित की कामना ॥
अनाधृष्ट रहो अराति-समूह में ।
और अपराजेय अरि के व्यूह में ॥
मधुर अतिशय मधुर गुणगणमंडिता ।
रहो तुम गार्हस्य-धर्मव्रती सदा ॥
ऋतुक्रमों में नित्य मोदप्रदा रहो ।
मधुरता की पुण्यगंगा बन बहो ॥
श्रेष्ठ पुरुषो ! करो ऐसी देवियों को प्राप्त ।
साधना गार्हस्थ्य की यह आप्त ॥ ४ ॥

टि०—इक्कीस मंत्रों की इस कंडिका में राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति आदि के अनेक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का निर्देश किया गया है । विशेष रूप से इन मंत्रों में यह निर्देश किया गया है कि शासन करने का अधिकारी कौन है । ४

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्[1] । अग्नये स्वाहा[2] सोमाय स्वाहा[3] सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा[5] पूष्णे स्वाहा[6] बृहस्पतये स्वाहे[7]न्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा[9] श्लोकाय स्वाहा[10] ऽꣳशाय स्वाहा[11] भगाय स्वाहा[12] ऽर्यम्णे स्वाहा[13] ॥ ५ ॥

सोमस्य त्विषिः	ऐश्वर्य के प्रकाश करनेवाले	**असि**	तुम हो ।
		तव इव	तुम्हारी जैसी

वाचः बन्धुः	वाणी द्वारा एक-दूसरे के बन्धु के समान बनकर रहो।	सोमस्य दात्रम् असि	राजा के पद के दान में समर्थ हो।
तपोजाः	ब्रह्मचर्य आदि तपों द्वारा अपने को बढ़ाओ।	स्वाहा राजस्वः	सत्य क्रिया से राज्य के ऐश्वर्य का संपादन करो ॥६॥

उभय वर्ग के प्रजाजनो ! पुरुषो ! महिलाओ ! ।
वैष्णव हो तुम, ईशभक्ति की ज्योति जगाओ ॥
परम पवित्र चरित्र निरंतर रहे तुम्हारा ।
प्रतिक्षण शुद्धाचरणमयी हो जीवन-धारा ॥
विश्वप्रसविता सविता ने विरचा है यह जग ।
हैं ऐश्वर्यप्रपूर्ण सभी पावन इसके मग ॥
हो अच्छिद्र पवित्र शुद्ध जीवन-पथ अविरत ।
रहो पवित्राचारवान सत्यव्रत-रत नित ॥
रविकिरणों से शुचि जल जैसे होता उन्नत ।
वैसे ही मैं करता तुमको सदा समुन्नत ॥
अये प्रजाओ ! करो भ्रष्टतारहित आचरण ।
वाणी से तुम रहो परस्पर सखा-बंधु बन ॥
ब्रह्मचर्य से, ज्ञान सिद्धि से, तप से वर्द्धित ।
करो सदा उन्नति के नव-नव पथ उद्घाटित ॥
राजा के पद के दाता तुम हो अति सक्षम ।
सत्यक्रिया से सदा राजवैभव भोगो तुम ॥ ६ ॥

टि०—इस कंडिका में प्रजाजनों को शुद्ध आचारवान बनकर रहने का आदेश दिया गया है। इसमें स्त्री-पुरुषों - दोनों को एक साथ संबोधित किया गया है। भगवान कहते हैं, जैसे सूर्य की किरणों से पवित्र होकर जल ऊपर उठता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे लिए निरंतर उन्नति के मार्ग प्रशस्त करता रहता हूँ। शर्त यह है कि तुम बराबर सत्य-व्यवहार करो, आचरण शुद्ध रखो। आचरण ऐसा शुद्ध हो कि उसमें कोई छिद्र या दोष न रहे। यदि अखंड राजसत्ता का भोग करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्यव्रती होकर रहो, ज्ञानसाधना करो और तपस्या करो,अर्थात् सत्य और न्याय के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहन करने के लिए तैयार रहो। यह भी आवश्यक है कि सब प्रजाजन आपस में बंधु और सखा की तरह रहें। मंत्र में 'वैष्णव्यो' शब्द आया है, जिसका अर्थ है स्त्री और पुरुष दोनों वैष्णव अर्थात् ईश्वर-भक्त बनकर रहें। ६

पुण्यचरित जो सदा निरंतर कीर्तित हैं जन।
उनके हित अर्पित यह मेरी आहुति, स्वाहा॥
पुण्य-पाप का अंश[1]-रूप जो युक्त विभाजन।
उनके हित अर्पित है मेरी आहुति, स्वाहा॥
अर्पित है ऐश्वर्य हेतु आहुति यह स्वाहा।
निखिल विश्व कर व्याप्त हो रहे हैं जो संस्थित॥
अर्पित है भगदेव हेतु आहुति यह स्वाहा।
उन्हीं अर्यमा को अर्पित यह आहुति, स्वाहा॥ ५॥

टि०—इस मंत्रसमूह में यह निर्देश दिया गया है कि धर्मात्मा राजा के गुण, कर्म और स्वभाव का अनुकरण और अनुसरण प्रजाजनों को भी करना चाहिए। मनुष्यों को चाहिए कि ओषधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सोम को आहुति अर्पित करें। विद्युत् आदि का ज्ञान और तेज प्राप्त करने के लिए अग्नि को आहुति अर्पित करें। वेद का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए सरस्वती को आहुति दी जानी चाहिए। इसी प्रकार विशिष्ट इष्टसिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं को आहुति देने का विधान इस मंत्र में किया गया है। ५

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ[1] सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व
उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑[2]।
अनि॑भृष्टमसि वा॒चो बन्धु॑स्तपो॒जाः
सोम॑स्य दा॒त्रम॑सि॒ स्वाहा॑ राज॒स्वः[3] ॥ ६ ॥

पवित्रे स्थः	(दोनों प्रकार की प्रजाओ !) पवित्र और शुद्ध आचरण वाली होकर रहो।	पवित्रेण	शुद्ध पवित्र व्यवहार द्वारा
वैष्णव्यौ	परमेश्वर के भक्त हो।	उत्पुनामि	पवित्र आचरण वाला बनाकर (मैं) उत्पन्न करता हूँ।
वः	तुमको	सूर्यस्य रश्मिभिः	सूर्य की किरणों से जल ऊपर जाता है।
सवितुः	सर्वोत्पादक परमेश्वर के	अनिभृष्टं	भ्रष्टता-रहित आचरण करनेवाले
प्रसवे	ऐश्वर्यमय संसार में	असि	हो।
अच्छिद्रेण	त्रुटिरहित		

१ पुण्य-पाप का विभाग करनेवाला अथवा परमाणुओं को जाननेवाला।

टि०— मंत्र के अंत में आनंदप्रदायक तेजोविधायक जलों की महिमा बताई गई है। इन्हीं जलों के निकट ऐसे आश्रम हैं जिनमें विदुषी स्त्रियाँ निवास करती हैं। ये स्त्रियाँ अवश्य तेजस्विनी हैं। शत्रुओं को उनकी ओर आँख उठाकर देखने का साहस नहीं। शील की दृष्टि से ये जल की तरह शीतल हैं। ये मातृत्व के गुणों का पूर्णतम निवास हैं वे परम शिशुवत्सला हैं। उनकी छाया में शिशु शिक्षा पा रहे हैं। ज्ञान-दान में वे समर्थ हैं, राजा को उनको संरक्षण प्रदान करना चाहिए। जल में जैसे अग्नि अलक्षित रूप में निवास करती है, उसी प्रकार राजा भी अपने प्रजाजनों में सर्वदा सर्वत्र निवास करे। ७

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायवसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयाऽयं वृत्रं वधेत्। दृवाऽसि रुजाऽसि क्षुमाऽसि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥८॥

क्षत्रस्य	(हे राजा ! तू) क्षात्रबल का
उल्बम्	रक्षक
असि	है।
क्षत्रस्य	क्षात्रबल का
जरायु	आवरण
असि	है।
क्षत्रस्य	क्षात्रबल का
योनिः	उत्पादक
असि	है।
क्षत्रस्य	क्षात्रबल का
नाभिः असि	केन्द्र है।
इन्द्रस्य	इन्द्र का
वार्तघ्नम्	शत्रुनाशक बल है।
मित्रस्य	मित्र का (और)
वरुणस्य	वरुण का
असि	योग्य अस्त्र है।
त्वया	तेरे साथ रहकर
अयं	यह शस्त्र
वृत्रं वधेत्	शत्रु का नाश करे।
दृवा असि	शत्रुओं के दुर्गों का यह ध्वंसक है।
रुजा असि	बाण के समान शत्रुओं को पीड़ा-दायक है।
क्षुमा असि	सत्य का उपदेश करनेवाला है।
प्राञ्चं	आगे बढ़कर (हे सैनिको !)
एनं	इस राजा की
पात	रक्षा करो।
एनं	इसकी
प्रत्यञ्चं पात	विमुख जाते हुए की पीछे से रक्षा करो
एनं	इसकी

सधमादो द्युम्निनीराप एता
अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः ।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳ
शिशुर्मातृतमास्वन्तः[1] ॥ ७ ॥

एताः आपः	ये जल
सधमादः	आनंद देनेवाले,
द्युम्निनीः	तेजस्वी हैं।
अपस्यः	उत्तम कर्म करने में कुशल,
अनाधृष्टाः	शत्रुओं से पीड़ित न होनेवाले,
वसानाः	एक स्थान के निवासी हैं।
पस्त्यासु	(उन) गृह बनाकर रहनेवाली

	प्रजाओं में
वरुणः	प्रजा द्वारा वरण करने योग्य सर्वोत्तम राजा,
अपां शिशुः	जलों में व्यापक अग्नि के समान,
मातृतमासु अन्तः	उत्तम प्रजाओं के भीतर रहता हुआ,
सधस्थं चक्रे	उनमें ही अपना स्थान बनाता है ॥ ७ ॥

यह जल है आनन्दप्रदायक, तेजविधायक।
कर्मकुशल रहती हैं यहाँ नारियाँ सम्यक् ॥
अनाधृष्ट[1] ये सदा शत्रुओं से अपराजित।
रहती हैं एकत्र यहाँ शुचिकर्म-निरत नित ॥
ये अदम्य[2] हैं और शील है जल-सा शीतल।
इनकी छाया में हैं सकते सब बालक पल ॥
मातृतमा[3] हैं परमवत्सला शिशुपालन-रत।
अतिशय शिक्षादान-दक्ष हैं ये सब संतत ॥
राजा का है धर्म करे इनका संरक्षण।
यही राष्ट्र के भावी की रचना का साधन ॥
जैसे जल में अग्नि सदा रहता है निवसित[4]।
प्रजाजनों में रहे उसी विधि राजा स्थित नित ॥ ७ ॥

---

१ जो शत्रुओं से पीड़ित न हों; २ जिनको दबाया न जा सके; ३ माता के सर्वश्रेष्ठ गुणों-वाली, सर्वोत्तम माता; ४ निवास करता है।

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपति॒रावित्त
इन्द्रो॑ वृद्धश्र॑वा आवित्तौ मि॒त्रावरु॑णौ धृतव्र॑ता-
वावित्तः पूषा वि॒श्ववे॑दा आवित्ते द्यावापृथि॒वी
वि॒श्वश॑म्भुवा॒वावित्तादि॑तिरु॒रुश॑र्मा ॥ ९ ॥

मर्य्याः	समस्त मनुष्य	आवित्तौ	इसको जानें।
आविः	इसका संरक्षण करें।	विश्ववेदाः पूषा	सब कुछ जानने वाले पूषा
गृहपतिः	गृहपालक		
अग्निः	अग्नि	आवित्तः	इसको जानें।
आवित्तः	इस यजमान को जानें।	विश्वशम्भुवौ	संसार का कल्याण करनेवाली
वृद्धश्रवाः	विख्यात कीर्तिमान	द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी
इन्द्रः	इन्द्र	अवित्ते	इसको जानें।
आवित्त	इसको जानें।	उरुशर्मा	सुख की आश्रय-रूप
धृतव्रतौ	व्रतनिष्ठ	अदितिः	देवमाता
मित्रावरुणौ	मित्र और वरुण	आवित्ता	इसको जाने ॥ ९ ॥

सब मानव ! इसका करें सतत संरक्षण।
ऋत्विज[1] का गृहपति अग्नि करें नित रक्षण ॥
विख्यात यशस्वी इन्द्र इसे पहचानें।
संशितव्रत[2] मित्र-वरुण ये इसको जानें ॥
सर्वज्ञ देवता पूषा इसको जानें।
कल्याणकरी धरती इसको पहचानें ॥
यह सर्वभूतहित-रत दिव इसको जानें।
सब सुख की आश्रय अदिति इसे पहचानें ॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में यजमान के लिए यह मंगल-कामना की गई है कि सब मनुष्य उसकी रक्षा करते रहें। गृहपति, अग्नि इसकी रक्षा करें। इन्द्र, मित्रवरुण, पूषा, कल्याणकारिणी यह धरती, देवताओं का निवास द्युलोक तथा देवमाता इसके यज्ञशील स्वभाव को स्वीकार करें और उसका संरक्षण करें ९

अवे॑ष्टा दन्दशू॒काः प्राचीमा रो॑ह गाय॒त्री त्वा॑ऽवतु
रथन्त॒रꣳ साम॑ त्रि॒वृत्स्तोमो॑ वस॒न्त ऋ॒तुर्ब्रह्म॒ द्रवि॑णम् ॥ १० ॥

---

१ यजमान; २ नियम में तत्पर।

तिर्यञ्चं	तिरछे जाते	दिग्भ्यः	सभी दिशाओं में
पात	रक्षा करो।	पात	रक्षा करो ॥ ८ ॥

हे राजन्! तुम हो क्षात्रशक्ति के रक्षक।
तुम हो जरायु[1] के पालक से क्षात्रशक्ति ॥
तुम क्षात्रशक्ति के उत्पादक बलवत्तम[2]।
तुम क्षात्रशक्ति के ऊर्जाकेन्द्र महत्तम[3] ॥
हो मूर्तरूप वृत्रघ्न इन्द्र के बल के।
हो अस्त्र-शस्त्र तुम मित्रावरुण प्रबल के ॥
वृत्र-से सबल रिपुओं को इनसे मारो।
बन इन्द्र वृत्र-से रिपु तुम सब संहारो ॥
तुम अरि-दुर्गों को त्रस्त-ध्वस्त करते हो।
बाणों से रिपु के तन में रुज्[4] भरते हो ॥
तुम सत्यतत्त्व के प्रवचनकर्ता विश्रुत।
धर्म के, सत्य के लिए युद्ध करते नित ॥
सैनिको! करो अपने राजा की रक्षा।
अग्रेसर इसकी करो निरंतर रक्षा ॥
यदि यह राजा हो पीछे को भी प्रस्थित।
वीरो! तुम रक्षा उसकी करो सजग नित ॥
तिरछी गति धारण करें कभी राजा वह।
रक्षा तुम उसकी करो सदा जाग्रत् रह ॥
प्रत्येक दिशा में रक्षा करो निरंतर।
राजा की रक्षा करो कवच तुम बनकर ॥ ८ ॥

टि०—इसमें राजा की महिमा का वर्णन है। कारण, वह क्षात्र-बल का उत्पादन-केन्द्र है, उसका रक्षक है। जैसे इन्द्र ने वृत्र का वध किया, वैसे ही वह राष्ट्र के शत्रुओं का वध करता है। राष्ट्र की सेना का भी कर्तव्य है, वह सदा सर्वत्र अपने राजा की रक्षा करे। इस कंडिका के एक मंत्र में 'रुजा' शब्द का प्रयोग है। 'रुज्' रोग को कहते हैं। राजा शत्रु पर अपने बाणों का प्रहार कर उनके शरीर को 'रुज्मय' अर्थात् पीड़ामय बना देता है। ८

---

१ गर्भ को घेरनेवाली थैली; २ सबसे बलवान; ३ सबसे महान; ४ रोग।

पंचदश स्तोम नित रक्षा करें तुम्हारी।
ऋतुओं में ग्रीष्म सदा हो रक्षाकारी॥
क्षात्रबल तुम्हारे धन को रखे रक्षित।
क्षात्रबल परम धन, इससे रहो सुरक्षित॥ ११॥

टि०—यह पूर्ववर्ती कंडिका की पूरक है। यज्ञक्रिया में यजमान पूर्व दिशा को चलता है, उस समय इन मंत्रों का पाठ होता है। पूर्व दिशा में चलते हुए यजमान की रक्षा त्रिष्टुप छंद करे। 'त्वामिद्धि हवामहे…' इस बृहत्साम द्वारा यजमान की रक्षा का विधान किया जाता है। ऋतुओं में वह ग्रीष्मऋतु द्वारा रक्षित रहे, यह कामना की गई है। अंत में क्षात्रबल द्वारा रक्षा की बात है। क्षात्रबल यजमान के धन की रक्षा करे, यह कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि क्षात्रबल स्वयं राष्ट्र या समाज का परम धन है। उसी के द्वारा सब धन रक्षित है। ११

प्रतीचीमा रोह जगती त्वाऽवतु वैरूपꣳ साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम्॥ १२॥

प्रतीचीम्	(तुम) पश्चिम दिशा में	वैरूपं साम	वैरूप साम,
आरोह	आगे चलो।	सप्तदश स्तोमः	सप्तदश स्तोम,
त्वा	तुम्हारी	वर्षाऋतुः	पावस ऋतु,
जगती	जगती छंद,	विड् द्रविणम्	वैश्यसंबंधी धनैश्वर्य
		अवतु	रक्षा करें॥ १२॥

यजमान! करो अब पश्चिम को आरोहण।
यह जगती-छंद रहे रक्षारत प्रतिक्षण॥
वैरूप साम से रक्षित रहो निरंतर।
सप्तदश स्तोम हों तुमको नित रक्षाकर॥
ऋतुओं में वर्षाऋतु हो रक्षणकारी।
वैश्यत्व सदा धन-रक्षा करे तुम्हारी॥ १२॥

टि०—इस कंडिका में पश्चिम दिशा में आरोहण करने पर यजमान के लिए रक्षा के आवश्यक सूत्र बतलाये गये हैं। वैश्यत्व अर्थात् वैश्यवर्ण-सुलभ चारित्रिक विशेषतायें धन के उत्पादन, संवर्धन और संरक्षण के लिए आवश्यक हैं। 'यद्याव इन्द्र ते……….' यह वैरूप साम है। राजपुरुष या यज्ञकर्ता वैश्य-शक्ति की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे, तभी राष्ट्र समृद्ध हो सकता है। १२

उदीचीमा रोहानुष्टुप् त्वाऽवतु वैराजꣳ
सामैकविꣳश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम्॥ १३॥

दन्दशूकाः	काटनेवाले सर्प	रथन्तरं साम	रथंतर साम,
अवेष्टाः	नष्ट हुए।	त्रिवृत् स्तोमः	त्रिवृत् स्तोम,
प्राचीं आरोह	(तुम) प्राची दिशा की ओर आरोहण करो।	वसन्तऋतुः	वसंत ऋतु,
		ब्रह्मद्रविणम्	ज्ञान-रूप धन
		त्वा अवतु	तुम्हारी रक्षा करें ॥ १० ॥
गायत्री	गायत्री छंद,		

ये दंशनशील सर्प हैं नष्ट हुए सब।
यजमान करो प्राची को आरोहण[1] अब॥
छंदों में गायत्री हो सतत रक्षक।
सामों में करे रथंतर, रक्षा सम्यक्॥
तुम रहो त्रिवृत स्तोम से सदा संरक्षित।
ऋतुओं में ऋतुपति द्वारा रहो सुरक्षित॥
ब्राह्मण नित रक्षा करें तुम्हारे धन की।
यह ज्ञानरूप धन बने वर्म[2] रक्षण की॥ १० ॥

टि०— इस कंडिका में यजमान के रक्षा-मंत्रों का विधान किया गया है। दंदशूक अत्यंत विषैले सांप को कहते हैं। यहाँ यज्ञविघ्नकारी राक्षसादि के अर्थ में दंदशूक का प्रयोग किया गया है। १०

दक्षिणामा रोह त्रिष्टुप् त्वाऽवतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥

दक्षिणां	(तुम) दक्षिण दिशा के प्रति	पञ्चदश स्तोमः	पंचदश स्तोम,
		ग्रीष्मः ऋतु	ग्रीष्म ऋतु,
आरोह	चलो।	क्षत्रम् द्रविणम्	क्षात्र-बल-रूप धन
त्रिष्टुप्	त्रिष्टुप्,	त्वा	तुम्हारी
बृहत् साम	बृहत् साम,	अवतु	रक्षा करें ॥ ११ ॥

यजमान! करो प्रस्थान चलो दक्षिण को।
सब देव रहें सन्नद्ध सदा रक्षण को॥
छंदों में त्रिष्टुप् द्वारा हो तुम रक्षित।
हो बृहत्साम के द्वारा तुम संरक्षित॥

---

१ चढ़ाई; २ कवच।

शाक्वर, रैवत-सामद्वय रक्षा करें सतत।
हो त्रिनव और त्रयस्त्रिंश स्तोम नित रक्षारत॥
हेमन्त, शिशिर दोनों ऋतुएँ हों रक्षाकर।
यह तेजरूप धन रहे सदा रक्षण-तत्पर॥
हों नमुचि-सदृश यदि असुर प्रगति-पथ में बाधक।
शिर काटो उनका, बनो विजय के आराधक॥ १४॥

टि०—इस कंडिका में ऊर्ध्व दिशा में विजय प्राप्त करने का आवाहन किया गया है। इस अभियान में पंक्तिछंद द्वारा यश का गान हो। शाक्वर और रैवत सामद्वय के द्वारा रक्षा का विधान किया जाय, और त्रिनवत्रयस्त्रिंश स्तोमों के द्वारा रक्षा-कवच का निर्माण किया जाय। हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में उचित आहार-विहार द्वारा जय-कामी को अपने को स्वस्थ और सुरक्षित रखना चाहिए। नमुचि जैसे असुर यदि बाधा उत्पन्न करें, तो उनका शिरच्छेद करना ही धर्म है। 'नमुचि' का अर्थ कामदेव भी है। काम कभी बाधक न बने, यह जागरूकता रहनी चाहिए। १४

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्।
मृ॒त्योः पा॒ह्यो॒॑जो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि॑॥ १५॥

सोमस्य	(तू) सोम अथवा ऐश्वर्य का		से रहित है।
त्विषिः	प्रकाशक	**तवेव**	तुम्हारे जैसा ही
असि	है,	**मे**	मेरा
ओजः	पराक्रमयुक्त	**त्विषिः**	प्रकाश और बल-पराक्रम
असि	है,	**भूयात्**	होवे।
सहः असि	बलवान है,	**मृत्योः पाहि**	(मेरी) मृत्यु से रक्षा कर ॥ १५॥
अमृतं असि	जन्म-मरण आदि		

हे चरम-परम ऐश्वर्यप्रकाशक जगदीश्वर!।
हो सदा पराक्रमयुक्त और बलवान प्रवर॥
तुम जन्म-मरण से रहित अमृत अक्षर[1] अव्यय[2]।
वैसा ही मुझको करो अमृत, अविकार, अभय॥
पाऊँ बल, विक्रम और तुम्हारा मैं प्रकाश।
यह जीवन मेरा बने तुम्हारा चिद्विलास[3]॥

---

१ अविनाशी; २ जो घटता-बढ़ता नहीं, विकार-रहित, अच्युत; ३ चित्तत्त्व की आनंदमयी अभिव्यक्ति।

उदीचीम्	(तुम) उत्तर दिशा को	एकविंशः स्तोमः	इक्कीस स्तोम,
आरोह	गमन करो।	शरद् ऋतुः	शरद् ऋतु,
अनुष्टुप्	अनुष्टुप् छंद,	फलं द्रविणं	यज्ञफलरूप ऐश्वर्य
वैराजं साम	वैराज साम,	त्वा अवतु	तुम्हारी रक्षा करें ॥ १३ ॥

हे राजपुरुष यजमान ! बढ़ो उत्तर को।
रक्षित उससे हो सुनो अनुष्टुप् स्वर को ॥
वैराज, साम से रहो निरंतर रक्षित।
ये एकविंश शुचि स्तोम करें रक्षा नित ॥
ऋतुओं में शरद सतत हो रक्षाकारी।
यज्ञफलरूप धन रक्षा करे तुम्हारी ॥ १३ ॥

टि०—उत्तर दिशा में गमन करने पर रक्षा के साधनों में अनुष्टुप् छंद प्रथम है। संकेत यह है, निरंतर ऐसे शुभ एवं लोकहितकारी कर्म करो कि अनुष्टुप् छंद में चिरकाल तक तुम्हारे यश का गान होता रहे। शरद्ऋतु पुरुषार्थ आरंभ करने का काल है। पुरुषार्थ का अनुष्ठान करने से प्रभूत धन आदि विशिष्ट परिणाम प्राप्त होते हैं। १३

ऊर्ध्वामा रोह पङ्क्तिस्त्वाऽवतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वां	(तुम) ऊर्ध्व दिशा में	ऋतू	दो ऋतुएँ
आ रोह	आरोहण करो।	वर्चः द्रविणम्	तेजरूप धन से
पंक्ति	पंक्ति छंद,	त्वा	तुम्हारी
शाक्वररैवते	शाक्वर और रैवत	अवतु	रक्षा करें।
सामनी	साम,	नमुचेः	पापाचार न छोड़ने वाले का
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	त्रिनव और त्रयस्त्रिंश	शिरः	शिर
स्तोमौ	नामक स्तोम,	प्रति अस्तम्	काटकर फेंक दिया जाय ॥ १४ ॥
हेमन्तशिशिरौ	हेमन्त और शिशिर		

यजमान ! करो तुम ऊर्ध्व दिशा में आरोहण।
यह पंक्तिछंद नित करे तुम्हारा संरक्षण ॥

फिर अदिति और दिति को तुम दोनों पहचानो।
जो है अखंड जो खंडित है उसको जानो॥
है अदिति अखंड, अदीन पूर्ण दिति है खंडित।
दिति खंड-खंड अति दीन नास्तिवादी[1] है नित॥
है अदिति पुण्यरूपिणी और दिति पापरूप।
मानव! तुम पाप-पुण्य का जानो यह स्वरूप॥
हे मित्र! सदा ही हो तुम सबके मित्र परम।
हे वरुण! करो वारण तुम अरियों का दुवम॥ १६॥

टि०—इस कंडिका में बड़े ही उदात्त तत्त्व का उपदेश किया गया है। मित्र सूर्य का नाम है। वे विश्वमैत्री के प्रचारक हैं। वरुण विश्वमैत्री के बाधक तत्त्वों के निवारक हैं। ये दोनों मनुष्य के चितिस्वरूप चित्त रूपी रथ पर आरूढ़ हों, तभी अदिति और दिति का पाप और पुण्य का विवेक जाग्रत हो सकता है। अदिति अखंड है, पूर्ण है, अदीन है; इसके विपरीत दिति खंडित, दीन, अपूर्ण एवं नास्तिकता का मूर्तरूप है। अदिति पुण्य है, दिति पाप। हम पुण्य का वरण करें, पाप को छोड़ें। तभी हम अदिति के पुत्र आदित्य या देवता बन सकते हैं, अन्यथा हम दिति के पुत्र दैत्य बनकर रहने को बाध्य होंगे। १६

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भि षि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒
सूर्य॑स्य॒ वर्च॑से॒न्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑।
क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि॥ १७॥

त्वा	तुझको	इन्द्रियेण	बल से
सोमस्य	चन्द्रमा के समान	अभिषिञ्चामि	अभिषिक्त करता हूँ।
द्युम्नेन	प्रकाश से,	क्षत्राणाम्	(तू) क्षत्रियों का
अग्नेः	अग्नि के समान	क्षत्रपतिः	राजा होकर
भ्राजसा	तेज से,	एधि	रह (और)
सूर्यस्य वर्चसा	सूर्य के तेज से,	दिद्यून्	प्रजा के संकट को
इन्द्रस्य	इन्द्र के	अति	नष्ट करके (उसकी)
		पाहि	रक्षा कर॥ १७॥

सोम के द्युम्न[2] से करता हूँ अभिषिक्त तुम्हें।
शशि के प्रकाश से करता हूँ संसिक्त तुम्हें॥
अग्नि के भ्राज[3] से करता हूँ अभिषिक्त तुम्हें।
सूर्य के वर्च[4] से करता हूँ संसिक्त तुम्हें॥

---

१ नास्तिक भाव वाला; २ आभा, यश, कान्ति; ३ चमक-दमक; ४ प्रकाश।

रक्षा तुम मेरी करो मृत्यु से जगदीश्वर!।
मैं जन्म-मरण से रहित बनूं दो मुझको वर ॥ १५ ॥

टि०—मनुष्य के शरीर में जीवरूप में ईश्वर का अजर-अमर-अविनाशी अंश विद्यमान है। वह ईश्वर के सत्, चित्, आनंद तत्त्व से युक्त है। हम अपने उस स्वरूप को पहचानें। हम अपने भीतर विद्यमान उस सच्चिदानंद तत्त्व के प्रति सचेत बनें। तभी मृत्यु के भय से मुक्त हो सकते है। इसके लिए हमारे भीतर सत्य को असत्य से, दिव्य को अदिव्य से और अमर्त्य को मर्त्य से अलग करके जानने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए। यही इस मंत्र का निर्देश है। १५

हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्यश्च।
आ रोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं
दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ १६ ॥

उभौ	(हे मित्र! और हे वरुण!) तुम दोनों	वरुण मित्र	हे वरुण! हे मित्र!
हिरण्यरूपौ इन्द्रौ	स्वर्ण के समान तेजस्वी राजा के या इन्द्र के सदृश ऐश्वर्यवान	गर्त्तं आरोहतं	रथ पर सवार हो जाओ।
उषसः	उषाओं को	ततः अदितिं	तत्पश्चात् अखंड राज्यावस्था तथा
विरोके	विशेष प्रकाश द्वारा	दितिं चक्षाथां	खंड-खंड विभक्त व्यवस्था का उपदेश करो।
सूर्यः च उदिथः	सूर्य और चन्द्रमा के सदृश (नाना कार्यों को प्रकाशित करते हुए उदित होते हो)।	मित्रः असि	तू मित्र है,
		वरुणः असि	तू वरुण है ॥ १६ ॥

गत हुई निशा, उतरा ऊषा का ज्योतियान[1]।
हैं मित्र-वरुण दोनों हिरण्यवत्[2] भासमान ॥
ये इन्द्रसदृश हैं तेजस्वी ऐश्वर्यवान।
रवि-शशि से दोनों हैं एकत्र[3] उदित महान ॥
हे मित्र! हे वरुण! प्रस्तुत यह ज्योतिस्यंदन[4]।
तुम दोनों इस पर करो मन्युसह आरोहण ॥

---

१ प्रकाश का रथ; २ सोने-जैसा; ३ एक साथ; ४ प्रकाश का रथ।

यह करे महत्तम क्षात्रशक्ति का संपादन।
यह करे श्रेष्ठतम संघशक्ति का संयोजन॥
यह करे प्रतिष्ठित जनता का कल्याण राज्य।
प्रतिजन के प्रतिनिधित्व - वाला हो जानराज्य॥
यह प्राप्त करे इन्द्रासन का सामर्थ्य परम।
हो शत्रुध्वंस की शक्ति सदा उसकी निरुपम॥
यह श्रेष्ठ पिता का पुत्र श्रेष्ठ माता का सुत।
अभिषिक्त करो इसका, यह प्रजाप्राण अच्युत॥
हे प्रजाजनो! तुम सुनो तुम्हारा राजा यह।
सब ब्राह्मणगण का सोमशील है राजा यह॥ १८॥

टि०—इस कंडिका में बड़े अर्थगर्भित मंत्रों का विनियोग किया गया है। यह राजा के अभिषेक के अवसर पर पढ़े जानेवाले उद्बोधन मंत्र की कंडिका है। इसमें मूर्द्धाभिषिक्त राजा को जनराज्य अर्थात् जनता का कल्याण-राज्य स्थापित करने की प्रेरणा दी गई है। यह जनराज्य जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करनेवाला हो। १८

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः।
ता आऽववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः[1]।
विष्णोर्विक्रमणमसि[2] विष्णोर्विक्रान्तमसि[3]
विष्णोः क्रान्तमसि[4] ॥ १९॥

प्र	(जैसे) प्रकृष्ट	उदक्	ऊपर,
पर्वतस्य	पर्वत की	बुध्न्यं	सर्वत्र सबके आश्रय में स्थित
पृष्ठात्	पीठ से	अहिं	अहन्तव्य पुरुष को
इयानाः	निकलनेवाली	अनु रीयमाणः	पीछे-पीछे लाने से चलते हुए
नावः	जलधाराएँ बहती हैं,	ताः	उनको
वृषभस्य इयानाः	(वैसे ही) श्रेष्ठ राजा की पीठ पर से जाती हुई,	आववृत्रन्	घेरती हुई प्राप्त करती हैं।
स्वसिचः	शरीर को सींचती हुई	विष्णोः	(हे पृथ्वी! तू) व्यापक परमेश्वर अथवा व्यापक राजशक्ति के
नावः चरन्ति	जलधाराएँ अभिषेक-समय में बहती हैं।	विक्रमणं	विक्रम का स्थान
ता	वे		
अधराक्	नीचे और		

इन्द्र की शक्ति से करता हूँ अभिषिक्त तुम्हें।
सब क्षात्रगणों का करता हूँ अधिराज तुम्हें॥
क्षत से त्राता क्षत्रिय वीरों के अधिपति तुम।
अभिषेक तुम्हारा करते हैं सब मिलकर हम॥
राष्ट्र के विखंडनकर्ताओं[1] को करो नष्ट।
जनता के विघटनकर्ताओं को करो नष्ट॥ १७॥

टि०—यह मंत्र आधुनिक राष्ट्र-जीवन के संदर्भ में बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रदान करता है। यह राजा के अभिषेक का मंत्र है। राजा को विशेष रूप से यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह राष्ट्र को खंडित करनेवाली शक्तियों को नष्ट कर दे। राजा का यह कर्तव्य है कि प्रजाजनों में परस्पर फूट डालनेवालों को जड़ से उखाड़ फेंके। १७

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी
राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा[2] ॥१८॥

देवाः	हे दिव्य पुरुषो!
इमं	इस योग्य पुरुष को
महते क्षत्रायत	महान क्षात्रबल के संपादन के लिए,
महते ज्यैष्ठ्याय	परम उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिए,
महते जानराज्याय	विशाल जन-राज्य स्थापित करने के लिए,
इन्द्रस्य इन्द्रियाय	इन्द्रपद का प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए
असपत्नं	शत्रुरहित वीर पुरुष को
सुवध्वम्	अभिषिक्त करो।
अमुष्य पुत्रं	अमुक पिता के पुत्र,
अमुष्यै इमं पुत्रं	अमुक माता के पुत्र इस पुत्र को
अस्मै विशे	इस प्रजा के निमित्त अभिषिक्त करो।
अमी	अमुक प्रजाजनो!
एषः	यह
वः राजा	तुम्हारा राजा है,
एषः सोमः	यह सोम ही
अस्माकं	हमारे
ब्राह्मणानां राजा	ब्राह्मणों का राजा है॥ १८॥

हे दिव्यजनो! अभिषेक करो, अभिषेक करो।
इस योग्य पुरुष का सब मिलकर अभिषेक करो॥

---

१ राष्ट्र को खंडित करनेवाले।

शोभा पा रही हैं। मूर्द्धाभिषिक्त राजा को त्रिविक्रम विष्णु के उस पराक्रम का स्मरण दिलाया गया है जब उन्होंने धरती, अंतरिक्ष और स्वर्ग को एक-एक पैर में नाप लिया था। १९

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पितासावस्य पिता
वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वाहा[1]। रुद्र यत्ते क्रिवि
परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा[2] ॥ २० ॥

प्रजापते	हे प्रजा के पालक!	स्वाहा	उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण द्वारा
एतानि ता	इन समस्त		
विश्वा रूपाणि	नाना रूपाकारों-वाले पदार्थों का	रयीणाम्	ऐश्वर्यों के
परि त्वत्	तुम्हारे अतिरिक्त	पतयः स्याम	स्वामी बनें।
अन्यः न बभूव	दूसरा कोई स्वामी नही है।	रुद्र	हे रुद्र!
		ते	तुम्हारा
यत्	जिस	यत्	जो
कामाः	कामना से (हम)	परं नाम	उत्कृष्ट नाम
जुहुम	तुम्हारे लिए हवन करते हैं,	क्रिवि	सर्वहन्ता, सब दुःखों से छुड़ानेवाला है,
तत्	वह	तस्मिन्	उसपर
नः	हमारी कामना	हुतं असि	तुम रहे है। तुमने उसे स्वीकृत किया है।
अस्तु	पूर्ण हो।		
अयं	यह	अमा	घर-घर में (तुम)
अमुष्य पिता	अमुक का पिता है,	इष्टं	पूज्य
अस्य	इसका	असि	है।
असौ पिता	अमुक पिता है,	स्वाहा	यह आहुति अर्पित है ॥ २० ॥
वयम्	हम सब		

हे प्रजापते! ये नानारूप पदार्थ सकल।
चर और अचर जो प्राणी यहाँ रहे हैं पल॥
सबके स्वामी तुम एकमात्र कोई न अन्य।
सबके देहों पर शासनकर्ता तुम्हीं धन्य॥

असि	है।		स्थान है।
विष्णोः	(हे अंतरिक्ष !) तू व्यापक परमेश्वर या व्यापक वायु के समान बलवान राजा के	विष्णोः	(हे स्वर्लोक !) तू आदित्य के समान व्यापक परमेश्वर के
विक्रान्तम् असि	पराक्रम का	विक्रान्तम् असि	पराक्रम का स्थान है ॥ १९ ॥

गिरि-शिखरों पर ज्यों मेघ-घटायें घिरतीं।
उनके पृष्ठों पर धारासार[1] बरसतीं ॥
वैसे ही इस राजा के पृष्ठभाग पर।
अभिषेक-मेघ जल बरसाते हैं झरझर ॥
जल-धारायें जैसे पर्वत के तल पर।
देती हैं घेर घेरकर परिप्लावन[2] भर ॥
वैसे ही इस वर-पुरुष नृपति-पुंगव[3] पर।
हैं बरस रहे अभिषेक-मेघ बन निर्झर ॥
यह अर्हतब्य है, है सबका आश्रयस्थल।
यह सबका बल है, प्राप्त इसे सबका बल ॥
हो विष्णु-पराक्रम का तुम स्थान महत्तम।
तुम राजशक्ति के विक्रम का स्थल अनुपम ॥
हे पृथिवि ! करे यह राजा तुमपर विक्रम।
हो वंदनीय यह जैसे हुए त्रिविक्रम ॥
तुम विष्णु-चरण के विजय-लेख हो भास्वर।
हे अंतरिक्ष ! तुम उनकी कीर्ति अनश्वर ॥
हैं हुए वायु से जो राजा बलवत्तर।
तुम उनके विक्रम-स्थान रहे उन्नततर ॥
स्वर्लोक ! सतत रविमंडल-से उद्भासित।
है चरम विष्णु का विक्रम तुमपर अंकित ॥
राजा धरती पर करते प्रकट पराक्रम।
धरती ही उनका आश्रय-स्थान अनुत्तम[4] ॥ १९ ॥

टि०—इस कंडिका में अभिषिक्त होते हुए राजा का बड़ा कवित्वपूर्ण वर्णन है। जैसे पर्वत के पृष्ठभाग पर मेघ बरसते हैं और जलधाराएँ उनपर बहती हुई शोभा पाती हैं,। वैसे ही अभिषिक्त होते हुए राजा के पृष्ठ भाग पर अभिषेक-जल की धाराएँ

१ मूसलाधार; २ जल का प्रचंड प्रवाह; ३ राजा जो पुरुषरत्नों में श्रेष्ठ है; ४ सर्वोत्तम।

प्रसवेन	उत्कृष्ट बल से (तू)	इन्द्रियेण	बल से
जय	विजय प्राप्त कर ।	स	(तेरे) साथ
मनसा	(हम लोग) मन से	आवाम्	मिले हैं ॥ २१ ॥

इन्द्र के वज्र से हो तुम अरिहंता[1] नित ।
करता हूँ मित्र-वरुण के शासन में मैं योजित ॥
तुम स्वाधिकार को धारण करो निरंतर ।
मेरे द्वारा हो स्व[2] में नियुक्त अनश्वर ॥
परबल[3] से होना हिंसित कभी नहीं तुम ।
होकर प्रदीप्त तेजस्वी जीतो अरि तुम ॥
मन से तन से हम सब तेरे अनुगामी ।
राजन् ! तुम रहो निरंतर जय-यश-कामी ॥ २१ ॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह इन्द्र के वज्र की तरह समाज और राष्ट्र के शत्रुओं को ध्वस्त करता रहे। मित्र और वरुण का ऋत, सत्य और धर्म का शासन है। राजा उस सार्वभौम धर्म के अनुशासन का पालन करे। भगवान कहते हैं, तुमको मैं तुम्हारे 'स्व' अर्थात् आत्मतत्त्व के साथ जोड़ता हूँ, वह अनश्वर है। अपने इस अविनश्वर, आत्मरूप को सदा जानते रहो। परकीय शक्ति से कभी तुम्हारी हानि न हो। तुम निरंतर विजय और कीर्ति प्राप्त करते रहो। २१

मा त इन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम ।
तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वान् ॥ २२ ॥

तुराषाट्	शीघ्र शत्रु की पराजय करने में समर्थ,	रश्मीन्	लगाम को
वज्रहस्त	हाथ में वज्र धारण करनेवाले,	आयससे	थामते हो,
इन्द्र	हे इन्द्रदेवता !	ते वयं	तुम्हारे हम
देव	हे दिव्यगुणयुक्त !	ते अयुक्ताः	तुमसे पृथक् होकर
यं रथं	जिस रथ पर	मा विदसाम	हानि को न प्राप्त हों।
अधितिष्ठ	बैठकर	अब्रह्मता	ज्ञान से रहित होकर न रहें, अर्थात् हम नास्तिक न हों ॥ २२ ॥
स्वश्वान्	प्रशिक्षित घोड़ों की		

१ शत्रुनाशक; २ आत्मतत्त्व; ३ शत्रुशक्ति ।

हम जिस कामना-पूर्ति के हित देते आहुति।
वह पूर्ण करो हम अर्पित करते हैं नत[1] नुति[2]॥
है अमुक का पिता यह, उसका है अमुक पिता।
इस भाँति सिद्ध यह तुम सबके हो परम पिता॥
हम करें तुम्हारे ऋत-विधान का अनुपालन।
हम करें तुम्हारी धर्म-व्यवस्था को धारण॥
हम सब अनंत ऐश्वर्यों के हों अधिकारी।
स्वीकार करो मेरी यह शुचितम हवि स्वाहा॥
हे रुद्रदेव! क्रिवि[3] नाम तुम्हारा परमोत्तम।
हैं रूप नाम दोनों से ही प्रलयंकर तुम॥
अधिकार सर्वहंता[4] का तुमको प्राप्त परम।
स्वीकार करो सम्यक् मेरी आहुति स्वाहा॥ २०॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में यह बताया गया है कि परमेश्वर सबके स्वामी हैं, उनसे बड़ा कोई नहीं। उनके ऋत के विधान का पालन करनेवाले की सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। वे परम पिता हैं। किन्तु जो उनके धर्म-विधान का उल्लंघन करता है, उसको वे रुद्र बनकर दंड भी देते हैं। भगवान की उपासना से सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं। २०

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण २१

इन्द्रस्य	(तू) इन्द्र का	त्वा	तुझको
वज्रः असि	वज्र है।	स्वधायै	अपनी वस्तु धारण करने के लिए (नियुक्त करता हूँ)।
प्रशास्त्रोः	प्रशासनकारी		
मित्रावरुणयोः	मित्र और वरुण देवता के	अरिष्टः	अहिंसनीय,
प्रशिषा	प्रशासन से (मैं)	अर्जुनः	प्रशंसा के योग्य, तेजस्वी होकर
त्वा युनज्मि	तुझको युक्त करता हूँ।	मरुतां	शत्रुओं को मारने वाले वीरों के
अव्यथायै	व्यथाहीन होकर		

१ विनम्र होकर; २ प्रार्थना; ३ सर्वसंहारकर्ता; ४ सबका संहार करनेवाले।

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में अग्नि, सोम, मरुत्, इन्द्र आदि देवताओं के आहुति-मंत्र हैं। अंत में मातृभूमि से यह प्रार्थना की गई है कि तुम हमें ऐसा शक्तिशाली बनाओ कि हमारा नाश कभी न हो और हम लोगों के किसी व्यवहार से तुमको क्लेश न हो। २३

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता
वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २४ ॥

हंसः	(तू) शुद्ध प्रबुद्ध,
शुचिषत्	शुद्ध आचरण करनेवाला,
वसुः	प्रजाओं को बसाने-वाला,
अन्तरिक्षसत्	अन्तरिक्ष में रहकर सबका पालन करनेवाला,
होता	यज्ञ में आहुति देनेवाला
वेदिषत्	भूमिरूपी वेदी पर प्रतिष्ठित
अतिथिः	अतिथि के समान पूज्य है।
दुरोणसत्	(तू ही) बड़े-बड़े कष्टों को सहन कर राष्ट्र-रूप गृह में स्थित,
नृषत्	समस्त नेता पुरुषों में
वरिसत्	प्रतिष्ठित,
ऋतसत्	सत्य पर आश्रित,
व्योमसत्	विशेष रक्षाकारी,
अब्जा	जलों का उत्पादक,
गोजाः	पृथ्वी में विशेष सामर्थ्यवान,
ऋतजाः	सत्य विद्याओं का प्रसिद्ध कर्ता,
अद्रिजाः	न विदीर्ण होनेवाले अभेद्य बल से संपन्न
बृहत् ऋतम्	सबसे महान सत्यरूप बल-वीर्य को धारण करने वाला है ॥ २४ ॥

हो शुद्ध बुद्ध तुम हंस-रूप परमात्मन् ।
निःशेष तिमिरहंता हो अये दीप्तिमन्[1] ॥
शुचिता के कारण, करते उसको धारण ।
करते हो वास-व्यवस्था सबकी प्रतिक्षण ॥

१ हे प्रकाशमान।

तुम शीघ्र शत्रुओं का दल करते विचलित।
धारण करते हो वज्र हाथ में तुम नित॥
हे इन्द्र! दिव्य गुणगण से हो तुम मंडित।
हय-रज्जु[1] पकड़ रथ पर होते समधिष्ठित[2]॥
मन से भी तुमसे पृथक् न हों हम राजन्!।
तुमसे वियुक्त क्षतिग्रस्त न रहें कदाचन[3]॥
ज्ञान से रहित हो कभी न अपना जीवन।
नास्तिकता से अभिभूत[4] न बनें किसी क्षण॥ २२॥

टि०—इस कंडिका में इन्द्र की स्तुति है। इन्द्र वज्रहस्त हैं, शत्रुओं को शीघ्र से शीघ्र निरस्त कर डालते हैं। वे जब सुप्रशिक्षित घोड़ों की लगाम थामकर रथ पर सवार होते हैं, तब उनकी अदभुत शोभा होती है। उनसे प्रार्थना की गई है कि हम तुमसे सदा जुड़े रहें, अज्ञानी और नास्तिक न बनें। ईश्वर से अलग होने में ही हानि है। २२

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा
मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा।
पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम् ॥ २३ ॥

गृहपतये	गृहपालक	इन्द्रस्य	इन्द्र के
अग्नये	अग्नि के लिए	इन्द्रियाय	बल के लिए
स्वाहा	यह आहुति है।	स्वाहा	यह आहुति है।
वनस्पतये	वनस्पति-रूपी	मातः पृथिवि	हे मातृभूमि!
सोमाय	सोम के लिए	मा मा हिंसीः	तुम मुझे विनष्ट मत करो।
स्वाहा	यह आहुति है।		
मरुतां	मरुद्गणों के	अहं	मैं
ओजसे	बल के निमित्त	त्वां	तुमको
स्वाहा	यह आहुति है।	मा	क्लेश न दूँ॥ २३॥

गृहपालक अग्नि हेतु यह आहुति, स्वाहा।
वनपालक सोम-हेतु यह आहुति, स्वाहा॥
मरुतों के बल के हित यह आहुति, स्वाहा।
इन्द्र के महत् बल के हित आहुति, स्वाहा॥
माता पृथ्वी! तुम करो न नाश हमारा।
क्लेशप्रद न हो तुमको व्यवहार हमारा॥ २३॥

१ घोड़ों की रास; २ सवार; ३ किसी समय; ४ प्रभावित या पराजित।

वीर्यकृतः	सामर्थ्यवान	अभि उप	(तुम दोनों को)
इन्द्रस्य बाहू	इन्द्र की दो बाहों के समान हो।	आवहरामि	उसके समीप ले जाता हूँ ॥ २५ ॥

तुम हो महान, इतने महान परमात्मन् ।
कैसे कर पावें यथारूप[1] हम प्रवचन ॥
तुम आयुरूप हो, आयुदान दो मुझको ।
शुभकर्म-नियोजन वृत्तिदान दो मुझको ॥
तुम वर्च[2]-रूप हो, वर्चदान दो मुझको ।
तुम ऊर्क्[3]-रूप हो, ऊर्कदान दो मुझको ॥
हे मित्रवरुण ! तुम इन्द्र-बाहुद्वय सुविदित ।
ले जाता तुमको मैं उनके समीप नित ॥ २५ ॥

टि०—इन मंत्रों मे यह बताया गया है कि भगवान जितने महान् हैं, उनका यथारूप वर्णन करना असंभव है। मनुष्य आयु, शुभ कर्मशक्ति, तेज, शक्ति जो कुछ पाना चाहता है, उनको देनेवाले भगवान ही है। मित्र और वरुण जैसे देवता उनके बल और पराक्रम के प्रतीक या निदान हैं। विश्व में जो कुछ विभूतिमान या ऊर्जावान है, वह सब उन्हीं भगवान् के विराट् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। २५

स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य योनिरसि ।
स्योनामा सीद सुषदामा सीद क्षत्रस्य योनिमा सीद ॥ २६ ॥

स्योना असि	(तू) सुखकारिणी है।	सुषदाम् आसीद	सुख से बैठने योग्य राजगद्दी पर बैठो।
सुषदा असि	(तू) सुख से बैठने योग्य है।	क्षत्रस्य	क्षात्रबल के
क्षत्रस्य	(तू राष्ट्र के) रक्षाकारी क्षात्रबल का	योनि	आश्रयरूप इस राजगद्दी पर
योनिः असि	उत्पत्ति-स्थान है।	आसीद	बैठो ॥ २६ ॥
स्योनाम् आसीद	सुख से बैठने योग्य इस आसंदी पर बैठो		

अंबिके ! सकल सुख सदा तुम्हारे आश्रित ।
सुखदा हो, क्षात्रशक्ति की जनयित्री[4] नित ॥
रक्षाकारी बल-वीर्य राष्ट्र का अप्रतिम ।
केवल तुम उसका जनन-स्थान[5] महत्तम ॥

[1] जैसा उनका वास्तविक रूप है; [2] तेज [3] ऊर्जा; [4] जन्म देनेवाली; [5] जन्म देनेवाला स्थान ।

हे अंतरिक्षवासी सबके प्रतिपालक।
यज्ञों में होता तुम उनके संचालक॥
तुम भूमिरूप वेदी पर सदा प्रतिष्ठित।
हो अतिथि-सदृश तुम सबके द्वारा पूजित॥
गृह-गृह में आवहनीय-रूप तुम संस्थित।
तुम राष्ट्ररूप में कष्ट-सहित ईड़ित[1] नित॥
राष्ट्र के महापुरुषों में तुम्हीं अधिष्ठित।
तुम हो सर्वत्र सदैव सत्य पर आश्रित॥
रक्षाकारी तुम जल के जनक सनातन।
पृथ्वी पर सर्व-समर्थ तुम्हीं हो भगवन॥
ऋतजात[2] सभी विद्याओं के तुम कारक[3]।
तुम हो अभेद्य बल और वर्च[4] के धारक॥
सबसे महान तुम और अनंत अन्यतम।
ऋत और सत्य के बल से तुम बलवत्तम॥ २४॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में परमेश्वर की महिमा का बड़ा ओजस्वी और भावपूर्ण वर्णन किया गया है। सबसे पहले परमात्मा को हंस कहा गया है। हंस का अर्थ सूर्य भी है और शुद्ध, प्रबुद्ध आत्मरूप भी। संतों के साहित्य में हंस शब्द का प्रभूत प्रयोग किया गया है। भगवान की सबसे बड़ी विशेषता इन मंत्रों में यह बताई गई है कि वे ऋत और सत्य के बल से नित्य संपन्न हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह कही गई है कि वे राष्ट्र के रूप में घर-घर में विद्यमान है। यह राष्ट्रीयता की बड़ी ऊँची आध्यात्मिक भावना है। २४

इयदुस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि
वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि[2]॥
इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि[3]॥ २५॥

इयत् असि	(तू) इतना बड़ा है।	वर्चः असि	तेजस्वरूप है,
आयुः असि	जीवन स्वरूप है।	मयि वर्चः धेहि	मुझे तेज प्रदान कर।
मयि	मुझको	ऊर्क् असि	बलस्वरूप है,
आयुः धेहि	आयु प्रदान कर।	मयि ऊर्जं धेहि	मुझको बल प्रदान कर।
युङ् असि	सबको शुभ कर्मो मे जोड़नेवाला है,	वां	(हे मित्र और वरुण !) तुम दोनों

१ पूजित या प्रशंसित; २ ऋत से उत्पन्न; ३ कारण; ४ ओज, शक्ति, तेज।

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ताम्[1] ब्रह्मँ[2]स्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो[3] वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः[6] । बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करे[7]न्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

अभिभूः असि	(तू) शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ है।
एताः	ये
पञ्चदिशः	पांच दिशाएँ
ते	तेरे लिए
कल्पन्ताम्	सुखकारी हों।
ब्रह्मन्	हे महान शक्ति-शाली ! (तू)
ब्रह्मा असि	बड़ा ज्ञानी है,
सत्यप्रसवः	(तू) सत्य-व्यवहार का
सविता	उत्पादक देव
असि	है।
सत्यौजाः	(तू) सत्य पराक्रम-शील
वरुणः असि	वरुण है।
विशौजाः इन्द्रः	(तू) प्रजाओं के द्वारा पराक्रम करनेवाला इन्द्र
असि	है।
सुशेवः	(तू) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य
रुद्रः असि	रुद्र है।
बहुकार	बहुत से कार्यों को निभानेवाले !
श्रेयस्कर	हे कल्याण करने-वाले !
भूयस्कर	अत्यन्त समृद्धि के कर्ता !
इन्द्रस्य वज्रः	(तू) इन्द्र का वज्र है।
तेन मे रध्य	उसके द्वारा मुझे सिद्धि प्रदान कर ॥ २८ ॥

बाह्यान्तर सब शत्रु पराजित करने में समर्थ जगदीश्वर।
पाँच दिशाएँ[1] हों सुखकारी और सदा ही हों मंगलकर ॥
ब्रह्मन् ! महत् शक्तिवाले हो, तुम-सा कोई और न ज्ञानी।
सत्यप्रसविता सविता हो तुम सद्व्यवहारप्रवर्तक मानो ॥
सत्य पराक्रमशील वरुण तुम, और विशौजा[2] इन्द्र प्रथित तुम।
प्रजाजनों के बीच पराक्रम की ज्वाला जाग्रत् करते तुम ॥
रुद्र तुम्हीं हो सेवनीय सुख से हो सबके हित तुम संतत।
विपुल कार्यक्षम एक साथ तुम श्रेयस्कर[3] भूयस्कर[4] अविरत ॥

१ चार प्रसिद्ध दिशायें और ऊपर-नीचे की एक दिशा; २ विश् प्रजा को कहते हैं; जो प्रजाओं के द्वारा अपना पराक्रम प्रकट करे, वह विशौजा है; ३ कल्याणकर्ता; ४ अत्यंत समृद्धि के कर्ता।

आओ, आओ, तुम सुख से यहाँ विराजो।
प्रति उर के सिंहासन पर जननि! विराजो॥
यह क्षात्रशक्ति का आश्रय-स्थान सनातन[1]।
आद्ये[2]! तुम शोभित करो राजसिंहासन॥ २६॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में मातृशक्ति का आवाहन किया गया है। वे क्षात्रशक्ति की जनयित्री हैं। राष्ट्र की शक्ति की रक्षा वे ही करती हैं। राष्ट्र का राजसिंहासन भी उन्हीं की शक्ति से सुरक्षित रह पाता है। इन मंत्रों में उन्हीं की वंदना की गई है। २६

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः॥ २७॥

धृतव्रतः	प्रजापालन के शुभ-व्रत राज्य-व्यवस्था को धारण करने वाला,	पस्त्यासु	न्यायगृहों में
सुक्रतुः	उत्तम क्रियावान,	साम्राज्याय	साम्राज्य के स्थापन और संचालन के लिए
वरुणः	सर्वश्रेष्ठ राजा	आ नि ससाद	अधिष्ठाता-रूप से विराजमान हुआ॥ २७॥

यह प्रजापरायण राजा है संशितव्रत।
शुचि यज्ञपरायण राज्यव्यवस्था में रत॥
है क्रियावान[3] उत्तम राजा परमोत्तम।
है न्याय-व्यवस्था इसकी सदा अनुत्तम॥
वह करे न्याय का दान सदा अव्याहत[4]।
इस हेतु हुआ राजा यह यहाँ अधिष्ठित॥ २७॥

टि०—राजा सिंहासन पर बैठाया गया है। कारण, वह धर्माचरण करनेवाला है। वह यज्ञ करता है और राजव्यवस्था को ठीक-ठीक चलाता है। वह सद्धर्मशील होने के कारण सर्वोत्तम राजा है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह स्थान-स्थान पर अदालतें स्थापित कर जनता को शीघ्र से शीघ्र कम व्यय में न्याय प्राप्त करा दे। २७

---

१ शाश्वत; २ आदिशक्ति। ३ उत्तम धर्मकार्य करनेवाला; ४ बिना बाधा के।

पाकर उत्तम ऐश्वर्य बने अधिकारी॥
रवि-किरणों से तुम प्राप्त करो बल भारी।
निज राजा का अनुसरण करो सत्पथ पर॥
तुम रहो कार्य-संपादन में नित तत्पर॥ २९॥

टि०— इस कंडिका में मूर्द्धाभिषिक्त राजा के लिए मंगलकामना व्यक्त की गई है। राजा अग्नि के समान तेजस्वी और पुरुषार्थव्रती हो। वह सत्य पर आश्रित रहकर राजधर्म का पालन करे। राजा के अधिकारीगण भी सूर्यकिरणों से बल प्राप्त करें। और धर्ममार्ग पर चलनेवाले राजा का अनुसरण करें। २९

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः
पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणे-
नौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा
विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्र सर्पामि ॥ ३० ॥

प्रसवित्रा सवित्रा समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक सविता के दिव्य गुण से,
सरस्वत्या वाचा सरस्वती की अथवा विज्ञान की वाणी से,
रूपैः त्वष्ट्रा त्वष्ट्रा के रूप से,
पशुभिः पूष्णा पशुओं से युक्त पूषा से,
ब्रह्मणा वेद के ज्ञान से युक्त
बृहस्पतिना बृहस्पति से,
अस्मे इन्द्रेण अपने आप स्वयं राजा इन्द्र के रूप में
ओजसा वरुणेन पराक्रमयुक्त वरुण से,
तेजसा अग्निना तेजयुक्त अग्नि से,
राज्ञा सोमेन राजास्वरूप सोम से,
दशम्या विष्णुना दश गुणयुक्त विष्णु से,
देवतया देव अथवा देवकल्प विशेष गुणों द्वारा
प्रसूतः प्रेरित
प्रसर्पामि मैं उत्कृष्ट मार्ग पर आगे बढ़ता हूँ॥ ३०॥

सर्वैश्वर्यप्रसविता[1] सविता के मैंने गुण दिव्य प्राप्त कर।
सरस्वती से प्राप्त किया विज्ञानयुक्त वाणी का है वर॥
रूपों के अधिपति त्वष्टा से प्राप्त किया है रूप मनोहर।
पशुओं के अधिपति पूषा ने दिया मुझे है पशुधन से भर॥

१ सब ऐश्वर्यों के उत्पादक।

वज्र इन्द्र के हो तुम भगवन् ! बहिरंतर सब शत्रु-विनाशक ।
तुम्हीं कृपा कर बन जाते हो जन में इन्द्रैश्वर्यप्रकाशक ॥ २८ ॥

टि०—यह बड़ी उदात्त प्रार्थना-मंत्रों की कंडिका है । श्रीभगवान को ब्रह्मन् कहकर संबोधित किया गया है । ब्रह्म से बड़ा कोई नहीं । वे बाहर के तथा भीतर के काम, क्रोध आदि सब शत्रुओं के विनाशक हैं । वे एक साथ अनेकानेक कार्य करने में समर्थ हैं । सविता, वरुण, इन्द्र, रुद्र आदि सब देवताओं के रूप में वे ही क्रियाशील हैं । वे इन्द्र के वज्र है । वज्र का अर्थ कुछ टीकाकारों ने ऐश्वर्य भी किया है । वे इन्द्र के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं । २८

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जुषा॒णो अ॒ग्निः
पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॒राज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॑
स्वाहा॑कृता॒ः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ
स॒जा॒ताना॑ं मध्यमे॒ष्ठ्या॑य ॥ २९ ॥

अग्निः	अग्नि (जैसे)	आज्यस्य (जुषाणः)	पराक्रम को (सानन्द)
पृथुः	विस्तृत महान पुरुषार्थयुक्त,	वेतु	प्राप्त करे।
जुषाणः	आनन्द प्राप्त करनेवाला,	स्वाहा कृताः	उत्तम ऐश्वर्य आदि देकर अधिकारी बनाये गये पुरुषो !
धर्मणः पतिः	धर्म का पालक है।	सूर्यस्य रश्मिभिः	(तुम लोग) सूर्य की किरणों से बल प्राप्त करो।
अग्निः	वैसे ही सबका अग्रणी राजा	सजातानां	समर्थ राजाओं के
पृथुः	विशाल	मध्यमेष्ठाय	मध्य में रहकर
धर्मणः पतिः	राजधर्म का पालक होकर	यतध्वम्	यत्न करो ॥ २९ ॥
स्वाहा	उत्तम सत्य पर आश्रित होकर		

ये अग्नि प्रथम पुरुषार्थवान हैं जैसे ।
यह राजा भी पुरुषार्थव्रती हो वैसे ॥
अग्रणी रहे यह तेजस्वी हो अनुपम ।
हो परम शक्तिसंपन्न विपुल कार्यक्षम ॥
हो श्रेष्ठ सत्य पर आश्रित इसका विक्रम ।
हो राजधर्म का पालक यह पर परमोत्तम ॥

अध्यापक दें उपदेश शीलसंवर्द्धक[1]।
हो शुद्ध बुद्धि-प्रेरित समाज सब सम्यक्॥
सारस्वत-सिद्धि-हेतु[2] परिपक्व बनो तुम।
शिक्षा, आचार, विचार बने सब उत्तम॥
राष्ट्र की सुरक्षा-हित परिपक्व बनो तुम।
बलवान बनो राष्ट्र की सुरक्षा-हित तुम॥
वायु से करो तुम शुद्ध धर्म का पालन।
सोम-सा करो शुचि सौम्यशील तुम धारण॥
परमेश्वर का तुम सख्य करो संपादन।
तुम योगसिद्धि से पूर्ण करो निज जीवन॥ ३१॥

टि०—इस कंडिका में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य अपने जीवन को अनेक प्रकार से समृद्ध बनाकर भगवान का सखा बनकर रहे। सखा-भाव की भक्ति का वैष्णव साधना में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ३१

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम उक्तिं यजन्ति॥
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै
त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥ ३२॥

अङ्ग	हे ज्ञानी !	सुत्राम्णे	प्रजाओं की उत्तम रक्षा के लिए
कुवित्	वहुत ऐश्वर्यवाले	त्वा	तुमको (हम प्राप्त करते हैं)।
अश्विभ्याम्	तुम दोनों अश्विनी-कुमार	ये बर्हिषः	जो वृद्ध पुरुष
उपयामगृहीतः	यम-नियमों के द्वारा गृहीत	नम	अन्न के
असि	हो।	उक्ति यजन्ति	कथन को कहते हैं,
सरस्वत्यै	विद्यायुक्त वाणी के लिए	भोजनानि	उनको भोजनादि प्रदान करो।
त्वा	तुमको,	यथा	जैसे
इन्द्राय	ऐश्वर्य के लिए	यवमन्तः	प्रचुर जौ आदि का संग्रह रखनेवाले
त्वा	तुमको,		

१ चरित्र का विकास करनेवाले; २ वाणी की विभूतियाँ।

दिया बृहस्पति ने है मुझको ज्ञान वेद का महत् पूर्णतम।
और इन्द्र ने मुझे दिया है अपना राजारूप अन्यतम॥
ओज वरुण से, तेज अग्नि से, विभुती मिली सोम के द्वारा।
दशगुणयुक्त विष्णु में मैंने पाया रक्षा का गुण सारा॥
इन सब देवों की विभूतियाँ जो विशिष्ट उनसे मैं मंडित।
शक्तिमान होकर मैं मानव प्रगति-पथ पर बढ़ता हूँ नित॥ ३०॥

टि०—वेद की परंपरा को धारण करनेवाले श्रीमद्भागवतादि ग्रंथों में भी देवों की उपासना द्वारा विशिष्ट शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त करने की बात कही गई है। इस कंडिका के मंत्रों में मनुष्य अपनी सिद्धि के स्रोतों का निरूपण करता है और कहता है कि सूर्य से दिव्य गुण, सरस्वती से वाणी की शक्ति, त्वष्टा से रूप, पूषा से पशुधन और इन्द्र से राजैश्वर्य, सोम से शासन करने की प्रतिभा आदि प्राप्त कर मैं प्रगति के रास्ते पर बढ़ता जा रहा हूँ। इस कंडिका में मनुष्य की प्रगति के उपादानों का निर्देश किया गया है। ३०

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै
पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व॥
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ३१॥

अश्विभ्यां	सूर्य-चन्द्रमा के समान अध्यापक और उपदेश द्वारा	पच्यस्व	परिपक्व बलवान होने का प्रयत्न करो
पच्यस्व	परिपक्व शुद्ध बुद्धि प्राप्त करो।	पवित्रेण	शुद्ध धर्म के आचरण से
सरस्वत्यं पच्यस्व	सारस्वत विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए अपने को परिपक्व करो।	वायुः	वायु के समान
		पूतः	निर्दोष एवं पवित्र,
		प्रत्यङ् सोमः	पूजा को प्राप्त अच्छे गुणवाले ऐश्वर्यवान,
सुत्राम्णे	राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करनेवाले	अतिस्रुतः इन्द्रस्य	अत्यन्त ज्ञानवान परमेश्वर के
		युज्यः सखा	योगाभ्यासयुक्त मित्र होओ॥३१॥
इन्द्राय	राजा के लिए		

तुम शुद्ध बुद्धि से युक्त बनो हे मानव।
रवि-शशि-से ज्ञान-प्रकाश भरो, हे मानव॥

युवं	तुम दोनों	इन्द्रं आवतं	इन्द्र का पालन
कर्मसु	उन कर्मों में		करनेवाले हुए।।३३।।

जनहित में अर्पित हे अश्विनीकुमारो !।
मेरा यह स्तव[1] तुम दोनों स्वीकारो।।
यह नमुचि[2] दैत्य रमणीय रसों का आश्रय।
तुम इसके आकर्षण पर प्राप्त करो जय।।
तुम आत्मतत्त्व से रहकर एकीकृत[3] नित।
भोगों की आसुर-वृत्ति करो उन्मूलित।।
इन्द्रिय-भोगों से विरत इन्द्र होंगे जब।
शुभ कर्मों से ही वे रक्षित होंगे तब।।
शुभ कर्मो से तुम करो इन्द्र का पालन।
शुभकर्म निरत तुम करो जगत् का जीवन।। ३३ ।।

टि०—अश्विनीकुमार वैद्य हैं। वैद्यों का धर्म है, वे लोकहित में अपना जीवन अर्पित कर दें। इसमें नमुचि दैत्य का संदर्भ है, यह दैत्य पुराणों में भी प्रसिद्ध है। इन्द्र इसपर बड़ी कठिनाई से जय प्राप्त कर सके थे। दैत्यों के जीवन में ऐन्द्रिय भोगों की रमणीयता का रस है। उसके आकर्षण से युक्त होने के लिए उच्चतर आनंद अपेक्षित है। यह आनन्द आत्मतत्त्व से एकीभूत होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इन्द्र इन्द्रियों की पुंजीभूत शक्ति के प्रतीक हैं। वे इन्द्रियों के आकर्षण से विवश होकर भोगों के रमणीय रस को प्राप्त करने की इच्छा से विषयगामी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में अश्विनीकुमार उनकी रक्षा करते हैं। अश्विनीकुमार केवल तन के ही नहीं, मन के भी वैद्य हैं। उनके द्वारा मन के विकार दूर किये जा सकते हैं। ३३

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंᳬसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती
त्वा मघवन्नभिष्णक्॥ ३४ ॥

[अध्यायः १०, कण्डिका:३४, मन्त्र-संख्या १३६]

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

इन्द्र	हे इन्द्र !	काव्यै	काव्यों के
उभा अश्विना	दोनों अश्विनी-कुमारों ने	दंसनाभिः	कर्मों से वैसे ही

१ प्रार्थना; २ एक दैत्य का नाम, इस नाम का अर्थ है, न+मुचि अर्थात् जो अपनी भोगवृत्ति छोडना ही नही चाहता; ३ एकरूप।

इहेव	इस व्यवहार में		सुरक्षित करते हैं,
यवं	जौ आदि की फसलों को	एषां कृणुहि	ऐसा ही करो (सार का ग्रहण कर असार को त्यागो, श्रेष्ठ का संग्रह करो, निकृष्ट को त्यागो।) ॥३२॥
अनुपूर्वं दान्ति	क्रम से काटते है,		
चित् वियूय	भूसे से जौ आदि को पृथक करके		

हे अंग[1] ! ज्ञान - साधक - आराधक हो तुम।
स्ववैद्यों[2] के नियमों के संराधक हो तुम॥
ऐश्वर्यवान हो सारस्वत-साधक तुम।
विद्या के, संस्कृति के हो हित-साधक तुम॥
नित प्रजाजनों की रक्षा हो अति उत्तम।
हैं इसीलिए कर रहे प्राप्त तुमको हम॥
जो वृद्ध अन्न की आशा तुमसे करते।
क्या उनको सादर भोजन हो तुम देते ? ॥
यह धर्म तुम्हारा, रहे न कोई भूखा।
संवेदनविरहित[3] बने न जीवन रूखा॥
जैसे किसान यव आदि अन्न उपजाते।
फिर काटकूटकर उसको भोज्य बनाते॥
वैसे ही सत्य-असत्य विवेक करो तुम।
कर दुष्ट नष्ट, श्रेष्ठों की वृद्धि करो तुम॥ ३२॥

टि०—जिस प्रकार किसान खेतों से घास-फूस निकालकर फसलों के प्रतिरोधक तत्त्वों को नष्ट कर अन्न उपजाता है, उसी तरह शासकों का यह कर्तव्य है कि वे दुष्टों का दलन कर सज्जनों का संवर्द्धन करें। ३२

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ३३॥

अश्विना	हे सबके हितकारी अश्विनीकुमारो !	सुरामम्	रमणीय रस को
नमुचौ आसुरे	नमुचि नामक दैत्य में स्थित	सचा विपिपाना	मिले हुए विविध प्रकार से पीते हुए
		शुभः पती	शुभ-कर्म के पालक

१ इसका अर्थ मित्र भी है और ज्ञानीजन भी; २ देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार; ३ सहानुभूतिशून्य।

अथैकादशोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत् ॥ १ ॥

युञ्जानः सविता	सर्वोत्पादक प्रजापति परमेश्वर	अग्नेः	अग्नि से
प्रथमं	सबसे पहले	ज्योतिः	प्रकाश को
मनः धियः	मन और धारणा को	निचाय्य	उत्पन्न करके
तत्त्वाय	विस्तृत करके,	पृथिव्याः	पृथ्वी के ऊपर
		अधि आभरत्	फैलाता है ॥ १ ॥

एकादश अध्याय

विश्वप्रसविता सविता ने पहले मन और बुद्धि उपजायी।
फिर उनको विकसित कर उनमें निहित[1] शक्तियाँ हैं विकसायी॥
सृष्टि अग्नि की की, फिर ईश्वर ने उसमें प्रकाश उपजाया।
अग्नि आदि के शक्तिजाल[2] को है इस पृथ्वी पर फैलाया॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मंत्र में सृष्टितत्त्व के विकास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है। मन और बुद्धि की सृष्टि परमात्मा ने सबसे पहले की। तत्पश्चात् उनकी शक्तियों को विकसित और विस्तृत किया। मन और बुद्धि के पश्चात् अग्नि की सृष्टि की, फिर उसमे प्रकाश उत्पन्न किया। इस प्रकार अग्नि जैसी प्रकाश देनेवाली वस्तुओं की शक्ति का जाल धरती पर फैल गया। सृष्टि की छोटी-सी-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु के निर्माता भगवान हैं, यह सदैव स्मरण रखने की बात है। यह जानकर भागवत-सद्वस्तु में नि.शेष भाव से आत्मसमर्पण किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मोत्सर्ग द्वारा अपने आप को भगवान के हाथों में सौंप देना सरल हो जाता है। १

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

सवितुः	सर्वोत्पादक सविता	वयम्	हम
देवस्य	देवता के	युक्तेन मनसा	एकाग्र योगयुक्त मन से
सवे	इस विश्व में रहकर		

१ भीतर भरी हुई; २ शक्तियों का समूह।

त्वा आवथुः	तुम्हारी रक्षा की।	शचीभिः	अपनी बुद्धियों के बल से
इव	जैसे	सुरामं	सोम को
पितरौ	माता-पिता	व्यपिब	तुमने पिया,
पुत्रम्	पुत्र की रक्षा करते है,	सरस्वती	(तब) वाणी ने
मघवन्	इन्द्र !	अभिष्णक्	तुम्हारी सेवा की ।। ३४ ।।
यत्	जब		

हे इन्द्र ! काव्य-रस अशुचि पिया जब तुमने।
तब हों विपन्न खोई आशा सब तुमने ।।
जिस भाँति पुत्र पितरों से है रक्षित नित।
तुम उसी भाँति थे स्ववैद्यों से रक्षित ।।
वध किया नमुचि का तुमने पा जब रण में।
थे मोदमान[1] कर सोमपान उस क्षण में ।।
जीतकर नमुचि को पाया था यश अनुपम।
थे सरस्वती से सेवित, वंदित तब तुम ।। ३४ ।।

टि०—नमुचि दैत्य पर इन्द्र की विजय के अवसर का यह स्तवन-मंत्र है। जो नमुचि जैसे लोगों पर अर्थात् असुरों पर विजय प्राप्त करता है, आसुरी भोगों पर जय प्राप्त करता है, आसुरी संस्कृति को उन्मूलित करता है, वाणी के द्वारा उसकी वन्दना होती ही है। इस कंडिका में दूसरा महत्त्वपूर्ण संदर्भ है। इसमे कहा गया है, अशुचि काव्यरस का सेवन अथवा संवर्धन करने से इन्द्र का पतन हुआ। तात्पर्य यह कि साहित्य की परंपरा के दूषित और भोगपरायण बन जाने से इन्द्र का पतन हुआ, उन पर विपत्ति आयी। साहित्य प्रदूषित होकर राष्ट्र के जीवन को दूषित कर देता है। भोगपरक साहित्यिक प्रदूषण का विरोध और उन्मूलन सार्वभौम धर्म है। ३४

।। दशम अध्याय समाप्त ।।

---

१ प्रसन्न।

तम हरकर प्रकाश देने को की देवों की रचना।
उन ईश्वर के ही प्रकाश की करते देव सर्जना[1] ॥ ३ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र में मनुष्यों को यह बताया गया था कि भगवान ही उनके उत्पादक हैं। इस कंडिका में यह निर्देश किया गया है कि परमेश्वर ने ही सब देवताओं की सृष्टि की है। भगवान ने ही उनको प्रज्ञा से तेज प्रदान किया है और सृष्टि में उन्हें प्रकाश-वितरण के कार्य में नियुक्त किया है। देवताओं का कर्तव्य है, वे सृष्टि में भगवान के आनन्द और प्रकाश का वितरण करें। ३

युञ्जते मन॑ उत युंञ्जते धियो
विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑ ।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही
दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः॑ ॥ ४ ॥

बृहतः	बड़े	वयुनावित्	सब विज्ञानों का जाननेवाला
विपश्चितः	ज्ञानी	एकः इत्	वही अद्वितीय परमात्मा
विप्रस्य	यजमान के	विदधे	संसार को बनाता और धारण करता है।
होत्राः	हवनकार्य करनेवाले	सवितुः देवस्य	उस सबके उत्पादक देवता की
विप्राः	विद्वान	परिष्टुतिः	स्तुति
मनः	मन को (उस कार्य में)	मही	महान है ॥ ४ ॥
युञ्जते	लगाते हैं		
उत धियः युञ्जते	और अपनी बुद्धियों को लगाते हैं।		

करते सुकृती[2] यजमान यज्ञ[3] संपादन।
योजित करते ज्ञानीजन बुद्धि और मन ॥
मन और बुद्धि का योगयुक्त-संयोजन[4]।
उत्तम फल पाने का है उत्तम साधन ॥
वे परमेश्वर सब विज्ञानों के ज्ञाता।
धारणकर्ता वे, वे ही एक विधाता ॥
उन विश्वप्रसविता का है स्तवन महत्तम।
उन सविता को करते हैं संतत स्तुति हम ॥

१ निर्माण; २ पुण्यवान; ३ अनुष्ठान; ४ मन और बुद्धि का परमात्मा के प्रति पूर्ण रीति से समर्पण।

स्वर्ग्याय	स्वर्गीय परम सुख-लाभ के लिए	शक्त्या	शक्ति भर प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सर्वोत्पादक परमेश्वर ने है यह विश्व बनाया।
हम मानव उसकी रचना हैं, है यह ज्ञान कमाया ॥
योगयुक्त[1] हो बिखरी निज चेतना करें एकीकृत[2]।
तभी प्राप्त कर सकते हम निज जीवन में परनिर्वृति[3] ॥
इस एकीकृत मनःशक्ति से उन्नति करें निरंतर।
सृष्टि-कार्य में प्रतिक्षण देखें, व्यापृत[4] हैं परमेश्वर ॥ २ ॥

टि०—इस कडिका मे यह बताया गया है कि मानव भगवान् को इस सृष्टि का उत्पादक माने और इस चेतना को अपने अन्दर गहराई में उतार दे। योगयुक्त मन से ही यह संभव है। तभी चेतना के बिखरे तारों को एक कर जीवन में परम आनन्द प्राप्त किया जा सकता है और तभी यह अनुभव किया जा सकता है कि भगवान सृष्टि के प्रत्येक कार्य मे प्रत्येक क्षण क्रियाशील हैं। चेतना के तारों को एकीकृत करने की साधना की ओर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी संकेत किया है—'सब कै ममता ताग बटोरी, मम पद मनहिं बाँधि बटि डोरी'। २

युक्त्वाय॑ स॒वि॒ता दे॒वान्त्स्व॑र्य॒तो धि॒या दिव॑म्।
बृ॒हज्ज्योतिः॑ करि॒ष्य॒तः स॑वि॒ता प्र सु॑वाति॒ तान् ॥३॥

सविता	सबका उत्पादक परमेश्वर	बृहत् ज्योतिः	महान प्रकाश सर्वत्र फैलाने के लिए
स्वः यतः	सुख तथा प्रकाश के नियामक	करिष्यतः	उनको उत्पन्न करता है।
देवान्	देवताओं को	तान्	उन देवों को वही
धिया	अपनी बुद्धि से	प्र सु वाति	उत्तम रीति से प्रेरित करता है ॥ ३ ॥
दिवं युक्त्वाय	उनको तेज से युक्त करता है।		
सविता	वही परमेश्वर		

एकमात्र सबके उत्पादनकर्ता हैं परमेश्वर।
सुख प्रकाश का नियमन[5] करते हैं उनके प्रतिनिधि सुर ॥
ऋतंभरा[6] प्रज्ञा से अपनी तेज दिया देवों को।
प्रेरित करता शुभ कर्मों में वही सदा है उनको ॥

१ भगवान के प्रति समर्पित; २ एक करके; ३ परम आनंद, मोक्ष; ४ व्यापारशील, क्रियाशील; ५ व्यवस्थापन; ६ ऋतयुक्त बुद्धि।

हे पुत्रो! जो कर चुके प्राप्त पद उत्तम।
उनका उपदेश सुनो तुम सदा अनुत्तम[1]॥
आचरण करो उसके अनुकूल निरंतर।
जीवन जायेगा परम श्रेष्ठता से भर॥ ५ ॥

टि०—इस कंडिका में पहले यजमान-दंपति को संबोधित किया गया है। यज्ञकर्म के अवसर पर उपस्थित विद्वान उनसे कहते हैं, हमने प्राचीन ज्ञान के अनुसार उत्तम शास्त्रविधि से यह यज्ञ संपन्न कराया है। इसके द्वारा तुम्हें उत्तम पद प्राप्त होगा। फिर यज्ञस्थान पर उपस्थित तरुणों से यह कहा गया है कि तुम उत्तम उपदेश सुनो और उसके अनुकूल आचरण करो। इससे तुम्हारा जीवन श्रेष्ठ बनेगा। ५

यस्यं प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्यं महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि
देवः संविता महित्वना ॥ ६ ॥

अन्ये देवाः	सब दूसरे देवता
यस्य देवस्य	जिस एक देवता के
प्रयाणं महिमानं	कर्म की महिमा का
इत् ओजसा	और ओज का
अनुययुः	अनुसरण करते हैं,
यः सविता	जिस सर्वप्रसविता ने
रजांसि विममे	सब लोक बनाये हैं,
सः देवः	वह परमेश्वर
महित्वना एतशः	अपनी महिमा से सर्वत्र प्रविष्ट है॥ ६ ॥

जिस एक देव का कर्म और महिमा, बल।
कर रहे अनुसरण सकल देवगण प्रति पल॥
जो है सबका प्रसविता, लोकनिर्माता।
निज महिमा से प्रविष्ट जग में छवि पाता॥
वह अग-जग में सर्वत्र सदैव विराजित।
उसकी भा[2] से ही हैं सब सुर उद्भासित[3]॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र में वैदिक देववाद का तत्त्वज्ञान स्पष्ट रूप से निरूपित है। सबका उत्पादक, सबका नियामक, सर्वसमर्थ परमेश्वर एक ही है। वह विश्व में सर्वत्र सर्वदा विराजमान है। सब देवता उसी की शक्ति से कार्यरत हैं। उसी के प्रकाश से सब देवता प्रकाशित हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ६

---

१ जिससे उत्तम कुछ नहीं; २ प्रकाश; ३ प्रकाशमान।

वे हैं अनंत, उनको अनंत है स्तुति नुति[1]।
सर्वत्र सर्वदा हितकर वह कहती श्रुति[2] ॥ ४ ॥

टि०—पुण्यशील यजमानों के यज्ञ में विद्वज्जन जब मन और बुद्धि को योग्य रीति से कार्य में लगाते हैं, तो सब कार्य सफल हो जाते है। मन और बुद्धि की शक्तियाँ जब बिखरी हुई होती है, तब कार्य सिद्ध नहीं हो पाते। गीता में भी कहा गया है—'योगस्थ: कुरु कर्माणि'। विश्व को उत्पन्न करनेवाले भगवान महान से भी महान है। उनकी स्तुति भी उतनी ही महान है। उन भगवान का यथारूप वर्णन अशक्य है। फिर भी उनका स्तवन करणीय है, क्योंकि वह सदैव हितकर है। ४

यु॒जे वां॒ ब्रह्म॑ पू॒र्व्यं नमो॑भि॒र्वि श्लोक॑ एतु प॒थ्ये॑व सू॒रेः।
शृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ अ॒मृत॑स्य पु॒त्रा आ ये
धामा॑नि दि॒व्यानि॑ त॒स्थुः[1] ॥ ५ ॥

वां	तुम दोनों के कल्याण के लिए	पथ्या	कल्याणकारी स्थान
नमोभि:	अन्न की आहुतियों के द्वारा	इव वि एतु	तक पहुँचावे।
पूर्व्यं ब्रह्म	प्राचीन उत्तम ज्ञान से (मैं)	ये	जो
युजे	यह यज्ञकर्म करता हूँ।	दिव्यानि धामानि	दिव्य स्थानों को
सूर:	विद्वान का	आतस्थु:	प्राप्त हैं, (ऐसे)
श्लोक:	उत्तम उपदेश	विश्वेपुत्रा:	हे सब पुत्रो! अर्थात् बालको!
वां	तुम दोनों को	अमृतस्य शृण्वन्तु	उनसे अमृतोपदेश का श्रवण करो ॥ ५ ॥

तुम दोनों के हित अर्पित है अन्नाहुति।
सर्वोच्च ज्ञान से प्रेरित है यह क्रतुकृति[3] ॥
हम विद्वानों का ज्ञान और यह प्रवचन।
बन जाये उत्तम पद पाने का साधन ॥
याजकदंपति! प्राचीन ज्ञान जो उत्तम।
उसके द्वारा करते हैं यज्ञ सविधि हम ॥
यह ज्ञान तुम्हें पद उत्तम प्राप्त करावे।
उत्तम स्थान तक तुमको यह पहुँचावे ॥

१ प्रार्थना; २ वेद; ३ यज्ञकर्म।

सखिविदं	सख्य बढ़ानेवाले,	स्तोमं ऋचा	यज्ञ को ऋग्वेद के मंत्रों से
सत्राजितं	यज्ञकार्य को वश में करनेवाले,	समर्पय	समृद्ध करो।
धनजितं	धन को जीतनेवाले,	गायत्रेण रथन्तरं	गायत्री छंद से रथन्तर साम को,
स्वर्जितं	सुख को बढ़ानेवाले,	गायत्रवर्तनि बृहत्	गायत्र साम से बृहत साम को संपन्न करो,
नः	हमारे	स्वाहा	यह आहुति स्वीकार हो ॥ ८ ॥
इमं	इस		
यज्ञं प्रणय	यज्ञ को संपादित करो।		

हे दिव्य गुणों के आकर सर्वोत्पादक ईश्वर।
यह यज्ञ हमारा पूर्ण करो हे परमेश्वर॥
यह है देवों के हेतु सदैव तृप्तिकारक।
यह है देवों के साथ सदैव सख्यकारक॥
सत्य को वशंवद[1] करने का है यह साधन।
धन पर जय पाने के हित यह परमाराधन[2]॥
सुख का वर्धक यह, यज्ञ करो संपन्न सतत।
ऋग्वेदिक मंत्रों से है यह विधेय[3] अविरत॥
गायत्री छंद रथंतर साम करो योजित।
दो इस प्रकार इस यज्ञ-अनल में आहुति नित॥ ८॥

टि०—इस कंडिका में परमेश्वर से यज्ञ को सफल बनाने की प्रार्थना की गई है। यह यज्ञ ऐसा हो जिसमें ऋक्, साम आदि के मंत्रों का शास्त्रविहित प्रयोग हो। जीवन एक यज्ञ ही है, इस बात पर वेद बार-बार बल देता है। इस यज्ञ के द्वारा देवता परितुष्ट होते हैं, प्राणियों में मैत्री-भाव का संचार होता है। इसके द्वारा लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है। ८

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आ ददे गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदा भर त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ९ ॥

सवितुः देवस्य	सर्वप्रसविता सविता देवता की	गायत्रेण छन्दसा	गायत्री छन्द से,
प्रसवे	प्रेरणा से,	अश्विनोः बाहुभ्यां	अश्विनीकुमारों की दोनों भुजाओं से,

१ वशीभूत; २ आराधना का उपाय; ३ किया जाने योग्य।

देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य ।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु
वा॒चस्प॑ति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥ ७ ॥

देव सवितः	हे दिव्यगुणसम्पन्न सबके उत्पादक परमेश्वर !	गन्धर्वः	वाणी का रक्षक (वह देव)
यज्ञं प्रसुव	यज्ञ की प्रेरणा करो,	नः केतं	हमारे ज्ञान की
यज्ञपति	यजमान को	पुनातु	पवित्रता की रक्षा करे।
भगाय प्रसुव	ऐश्वर्य की प्राप्ति की प्रेरणा करो।	वाचस्पतिः	वाणी का वह रक्षक
		नः वाचं	हमारी वाणी को
दिव्यः केतपूः	दिव्य ज्ञान का रक्षण करनेवाला,	स्वदतु	मीठी बनावे ॥७॥

दिव्य गुणों से युक्त विश्व के उत्पादक परमेश्वर।
दो प्रशस्ततम यज्ञकर्म की संप्रेरणा निरंतर ॥
यह यजमान विभूति प्राप्ति-हित उत्तम कर्म करे अविरत।
दानी मानद विद्वानों का हो संमिलित कार्यकृत नित ॥
दिव्य ज्ञान के रक्षक, वाणी के आधार विश्वसर्जक।
ईश्वर! हमें ज्ञान दो पावन और पाप से करो पृथक् ॥
वाणी के पति देवदेव! नित मधुर रहे मेरी वाणी।
कटुतारहित सुस्वादु सतत हो मधुमिश्रित अति कल्याणी ॥ ७ ॥

टि०—इस कंडिका में भगवान से यह प्रार्थना की गई है कि वे यजमान को ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए यज्ञ करने की प्रेरणा प्रदान करें। प्रशस्ततम कर्मों के व्यवस्थित एवं सुनियोजित विधान का नाम यज्ञ है। यज्ञ के तीन सबसे महत्त्वपूर्ण कर्मबिंदु हैं— (१) विद्वानों का सत्कार; (२) संघबद्ध होकर कार्य करना; और (३) दान। भगवान से यह भी प्रार्थना की गई है कि हमारी वाणी परम मधुर हो। ७

इ॒मं नो॑ देव सवितर्य॒ज्ञं प्र ण॑य देवा॒व्यं॑
सखि॒विदं॑ सत्रा॒जितं॑ धन॒जितं॑ स्व॒र्जित॑म् ।
ऋ॒चा स्तोम॑ꣳ समर्धय गाय॒त्रेण॑
रथन्त॒रं बृ॒हद्गा॑यत्र॒वर्त्त॑नि॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

देव सवितः	हे दिव्यगुणयुक्त सविता देव !	देवाव्यं	देवताओं को तृप्त करनेवाले,

जगती-छन्द[1] की शक्ति को करके जाग्रत।
अग्नि की शक्ति को करो सदा संवर्धित॥
हम दम्पति का है धर्म पुनीत सनातन।
यज्ञ के लिए नित करें अग्नि-आराधन॥ १०॥

टि०—इस कंडिका में विवाहित स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य-धर्म का निरूपण किया गया है। पति-पत्नी परस्पर यज्ञ-सिद्धि का साधन हैं। अग्नि की आराधना करना गृहस्थों का धर्म है। १०

**हस्त॑ आ॒धाय॑ सवि॒ता बिभ्र॒दभ्रि॑ᳪं हिर॒ण्ययी॑म्।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याऽभ॑र॒दानु॑ष्टुभेन॒
छन्द॑साऽङ्गिर॒स्वत्॥ ११॥**

सविता	सबका उत्पादक सविता देव	अग्नेः	अग्नि की
हस्ते	अपने हाथ में	ज्योतिः	ज्योति को
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान	निचाय्य	विश्वासपूर्वक
हिरण्मयीं	सोने की	पृथिव्याः अधि	पृथ्वी के ऊपर बढ़ावे;
अभ्रि	अभ्रि को	आनुष्टुभेन छन्दसा	अनुष्टुप् छंद से
आधाय	लेकर,	आभरत्	उसका भरण-पोषण करे॥ ११॥
बिभ्रत्	उसको धारण करके		

ये विश्वप्रसविता सविता लें कर में निज अभ्रि-हिरण्यमयी[2]।
अंगिरा-सदृश[3] धारण कर वह बन जावें पावक-ज्योतिजयी॥
विश्वास-सहित वे ले आवें यह अग्नि धरित्री के ऊपर।
संवर्धित उसको करें अनुष्टुप्-छन्द-शक्ति से पोषित कर॥
इस भाँति पूत यज्ञानल यह धरती पर रहे प्रदीप्त सतत।
ये विश्वप्रसविता सविता उसको करते रहें प्रवर्द्धित नित॥ ११॥

टि०—ये बड़े ही गौरवशाली आध्यात्मिक सत्यों के प्रकाशक मंत्र हैं। आत्मा की शक्ति ही आध्यात्मिक अग्नि है। वह इस धरती पर कैसे प्रकट हो, इसका संकेत इस मंत्र में किया गया है। विश्व के उत्पन्न करनेवाले सविता अर्थात् परमेश्वर अपने हाथ में सोने की कुदाल या खनिका लेकर धरती पर अग्नि को बढ़ावें। सोने की कुदाल का अर्थ प्रज्वलित ज्ञान है जो अज्ञान के अन्धकार को

---

१ इसके द्वारा विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिए अग्नि की आराधना की जाती है;
२ सोने की बनी कुदाली; ३ अंगिरा की तरह।

पूष्णः हस्ताभ्याम्	पूषा देवता के हाथों से (मैं)	त्रैष्टुभेन छन्दसा	त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से
त्वा	तुझको	पृथिव्याः	पृथ्वी के
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान	सधस्थात्	एक स्थान से
आ ददे	ग्रहण करता हूँ।	पुरीष्य अग्नि	पोषक अग्नि को
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान ही
		आ भर	तू पूर्ण कर ॥ ९ ॥

मैं विश्वप्रसविता सविता से होकर प्रेरित।
गायत्री-छंद-शक्ति से हो ईरित पूरित॥
अश्विनीकुमारों की बाँहों की शक्ति परम।
ले रोगबीजहारक सुविदित निःशेष चरम॥
हाथों में ले पूषा की पोषक शक्ति महत्।
हे अभ्र! ग्रहण करता हूँ तुम्हें अंगिरावत्॥
जिस भाँति अंगिरा का किया तुम्हीं ने यज्ञ पूर्ण।
तुम उसी भाँति दो सिद्धि हमें हे ईश! तूर्ण॥ ९ ॥

टि०—इस कंडिका में अंगिरा के द्वारा यज्ञसिद्धि का संदर्भ निर्दिष्ट है। अंगिरा के तात्त्विक अर्थ का निरूपण पहले हो चुका है। प्रार्थना यह की गयी है कि हम ऐसे अन्न से यज्ञ करें, जिसमें रोग के बीज न हों और जो पोषक हो। अश्विनीकुमारों की बाँहों और पूषा के हाथों का यह प्रतीकार्थ है। ९

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ
सधस्थ आ। जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् १०

त्वया	तेरे साथ	जागतेन छन्दसा	जगती छंद से
सधस्थे	एक स्थान में रहनेवाले	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
वयं	हम लोगों के लिए	अग्नि	अग्नि को
अभ्रिः नारी	उत्तम ग्रहणीय स्त्री	खनितुं	बढ़ाने में (तू)
असि	(तू) है।	आशकेम	अच्छी तरह समर्थ है ॥ १० ॥

हम एक स्थान पर रहते साथ तुम्हारे।
उत्तम नारी हो सदा पात्रता धारे॥
तुम बनो हमारी यज्ञसिद्धि का साधन।
अंगिरा-सदृश हम करें अग्नि-आराधन॥

अन्तरिक्ष और स्वर्ग —तीनों का इस शरीर में निवास है। कहा भी है—'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'। १२

युञ्जाथाᳬं रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू।
अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

वृषण्वसू	वलयुक्त धनों की वृद्धि करनेवालो!	अस्मयुं अग्नि	हमारे हितकारी अग्नि को (उठाकर)
युवं	तुम दोनों	भरन्तं	ले जानेवाले
अस्मिन् यामे	इस कर्म में	रासभं	गर्दभ को
		युञ्जाथां	बांधो ॥ १३ ॥

यह रासभ[1] अग्निवहनकारी है अग्नि हमारा हितकारी।
रवकारक[2] नभ का शब्दरूप, है वायु-वेग इसमें अनूप।
इन दोनों के दो गुण लेकर, आया यह अग्निरूप भास्वर[3]।
आया यह रासभ यज्ञ-हेतु, अग्नि का लिये है विजय-केतु[4]।
यजमान और अध्वर्यु उभय, सम्पन्न करो यह यज्ञ, अभय।
इसमें इसका उपयोग करो, नित नव वल-वैभव वृद्धि करो।
यह रासभ अग्निवहनकारी[5] वल-धन का यह वर्षाकारी।
जल और अग्नि का वेग विपुल, स्वायत्त करो जीतो जल-थल।
नभ में विचरो अव्याहत तुम, सब तत्त्व करो निज वश में तुम ॥ १३ ॥

टि०—इस कंडिका में रासभ अर्थात् गधे को प्रतीक वनाकर यज्ञ की महिमा का प्रतिपादन किया गया है और अग्नि के अवतरण की प्रक्रिया वतलाई गई है। इस कंडिका में वर्णित रासभ की विशेषता यह है कि अग्नि को ढोकर लगानेवाला है। 'रास' शब्द का अर्थ है शब्द करना, चिल्लाना आदि। इसीलिए शब्द करनेवाले रासभ शब्द का प्रयोग यहां गधे के लिए किया गया है। इसमें वायु का वेग है। पंचभूतों की उत्पादन-प्रक्रिया में पहले आकाश का उत्पन्न होना वताया गया है, जिसका गुण शब्द है। आकाश से वायु तत्त्व उपजा, जिसमें आकाश का शब्द गुण भी है और उसका अपना गुण स्पर्श भी है। इसी वायु से अग्नि तत्त्व उत्पन्न हुआ जिसमें आकाश और वायु दोनों के गुण हैं। इसलिए रासभ को अग्नि का वहनकर्ता-प्रतीक इस मंत्र में कहा गया। अग्नि के विना यज्ञ संभव नहीं। इसलिए अध्वर्यु और यजमान-दंपति से यह कहा गया है कि तुम उस अग्निवाही रासभ को इस यज्ञ में नियुक्त करो। यह शक्ति और धन की वर्षा करनेवाला है। 'रासभ' का यह प्रतीकात्मक प्रयोग जितना

---

१ गधा, २ आवाज करनेवाला; ३ प्रकाशमान; ४ विजय-पताका (अग्नि का आविष्कार मानव-संस्कृति के विकास की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है); ५ आग ढोनेवाला।

खोदकर फेंक देता है। अंगिरा ने आत्मा के इसी ज्ञान को प्राप्त किया था और पृथ्वी पर उसका प्रचार किया था। ११

प्रतूर्त्त वाजिन्ना द्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः
पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

वाजिन्	हे विशेष ज्ञानी विद्वान !	अधि योनिः	तुम्हारा आश्रय-स्थान है।
ते दिवि	तुम्हारा द्युलोक में	प्रतूर्त्त	अतिशीघ्र
परमं जन्म	श्रेष्ठ जन्म है।	वरिष्ठां संवतं	अत्यन्त उत्तम सेवन करने योग्य
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष में		
तव	तुम्हारा	इत् अनु	स्थान को
नाभिः	नाभि या केन्द्र है।	आ द्रव	(तू) शीघ्र प्राप्त कर ॥ १२ ॥
पृथिव्याम्	पृथ्वी के ऊपर		

हे विद्वान ! विशिष्ट ज्ञान-विज्ञानयुक्त तुम।
है द्युलोक में हुआ तुम्हारा जन्म अनुत्तम ॥
अंतरिक्ष है नाभि-स्थान यह विदित तुम्हारा।
धरती ने आश्रय-स्थान बन तुमको धारा ॥
करो प्राप्त तुम शीघ्र स्थान उच्चतर श्रेष्ठतर।
सेवनीय शाश्वत, ध्रुव, अच्युत, अव्यय, निर्जर ॥
अश्व विराट्-रूप यह, इसपर आरोहण कर।
प्राप्त करो निज धाम त्रिपाद-विभूति[1] मनोहर ॥ १२ ॥

टि०—इस कंडिका में ज्ञानी मनुष्य से यह कहा गया है कि तुम ज्ञानी हो, इसलिए तुम यह जान लो कि तुम्हारा जन्म देवताओं के बीच उनके लोक में हुआ है। तात्पर्य यह कि मनुष्य तत्त्वतः देवकोटि का ही है। हे ज्ञानी मानव ! अन्तरिक्ष तुम्हारा नाभि-स्थान है और पृथ्वी आश्रय-स्थान। मानव की यह महिमा है कि उसके चरण पृथ्वी पर है, परंतु उसका प्रसार स्वर्ग तक है। किन्तु पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग से परे जो श्रेष्ठतर, अक्षय, अव्यय, अविनाशी शाश्वत लोक है, वह मनुष्य को प्राप्त करना है, वही उसका परम सेव्य है। पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग तक यह एकपाद-विभूति है। यह विराट् अश्वरूप है। इसपर आरोहण कर अपना स्थायी धाम त्रिपाद-विभूति पद प्राप्त करो। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का, अपने शरीर का महत्त्व समझे। उसका जीवन और शरीर विश्वजीवन और विश्वशरीर का अंश है। पृथ्वी,

१ लोकत्रय के परे शाश्वत विष्णुधाम या परमात्मपद।

रुद्रस्य	शत्रु को रुलानेवाले	सयुजा पूष्णा सह	अपने साथी पूषा के साथ
गाणपत्यं	गणपति-पद को	अभयानि कृण्वन्	भय-रहित करता हुआ (तू)
एहि	प्राप्त कर।	अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को
स्वस्ति गव्यूतिः	सुखपूर्वक निष्कंटक मार्ग से चलकर	वि इहि	विशेषरूप से प्राप्त कर ॥ १५ ॥

हे मानव! प्रगति करो तुम अतिशय वेगसहित[1]।
यह राष्ट्र बनाओ अपना दुष्टाचरण-रहित[2] ॥
कल्याण विश्व का करने की ले वृत्ति पूत।
चढ़ चलो शत्रुओं पर लेकर सेना अकूत ॥
शत्रु को रुलानेवाले बनो रुद्र से तुम।
रुद्र के गणों से बनो शत्रुसंहर्ता[3] तुम ॥
चल सुखद मार्ग से करो शत्रु को पादाक्रान्त।
पोषक पूषा का प्राप्त करो सहयोग शान्त ॥
हे वीर! करो अपना समाज यह राष्ट्र अभय।
तुम ऐसा करो प्रयत्न बने प्रतिजन गतभय ॥ १५ ॥

टि०—इस कंडिका मे मनुष्य की सामूहिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक निर्देश दिये गये है। मनुष्य तभी शीघ्र प्रगति कर सकता है, जब राष्ट्र में भ्रष्टाचारी व्यक्ति न रहें। विश्वशान्ति के लिए दुष्ट राष्ट्रों की अभिसंधि से अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए महती सैन्य-शक्ति को तैयार रखा जाए। प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की रक्षा के लिए रुद्र की और रुद्र के गणों की शक्ति प्राप्त हो। एक उन्नतिशील राष्ट्र की पहचान यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को पोषक खाद्य उचित माला में प्राप्त हो और प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकार से निर्भय हो। १५

पृथिव्याः सधस्थाद्ग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदा
भरा[1]ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमो[2]
ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः[3] ॥ १६ ॥

पृथिव्याः	पृथ्वी के	अङ्गिरस्वद्	अंगिरा के समान तेजस्वी
सधस्थात्	ऊपर	अग्नि	अग्निकल्प
पुरीष्यं	सबका पालन करने में समर्थ,		अग्रणी का

१ बड़ी तेजी से, २ दुष्टों का-सा व्यवहार करनेवाले से वियुक्त; ३ शत्रु का नाश करनेवाले।

तात्त्विक है, उतना ही कलात्मक भी है। अग्नितत्त्व को जीत कर, जल और भू तत्त्व पर भी अधिकार किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इस प्रकार वायुयान आदि का निर्माण किया जा सकता है। १३

योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

सखायः	परस्पर मित्रता की वृद्धि करनेवाले हम लोग	ऊतये	अपनी सुरक्षा के लिए,
योगे योगे	प्रत्येक कर्म में	वाजे वाजे	प्रत्येक युद्ध में
तवस्तरं	औरों से अधिक बलवान और वीर	हवामहे	अपनी सहायता के लिए बुलाते हैं ॥ १४ ॥
इन्द्रं	इन्द्र को		

मैत्री के बन्धन में हम रहें बँधे मानव !।
हम द्वेष-रहित हों सदा परस्पर सब मानव !॥
बलवान वीर हैं इन्द्र सदा रक्षाकारी।
युद्धों में उनका आवाहन है भयहारी॥
युद्धों में उनका आश्रय लेना परमोचित।
साहाय्य हेतु उनका आवाहन सदा उचित॥ १४॥

टि०—इन मंत्रों में यह आदेश दिया गया है कि मनुष्यों को परस्पर द्वेषरहित होकर मैत्री के बंधन में बँधे रहना चाहिए। ऐसा होने पर परमात्मा की सहायता निरंतर मिलती है। संकट आने पर भगवान का आश्रय लेना, सहायता के हेतु उनको पुकारना मनुष्य का कर्तव्य है। १४

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि
कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

तूर्वन्	(तू) अतिवेग से बढ़ता हुआ	प्र एहि	आगे बढ़।
अशस्तीः	दुष्ट आचरणों को	मयोभूः	सबके कल्याण की कामना मन में धारण करके
अवक्रामन्	दूर कर, (तथा)		

रश्मीन्	अपनी किरणों को	द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी
अन्वाततन्थ	फैलाता है, (तथा)		को प्रकाशित
			करता है ॥ १७ ॥

विद्यमान है अग्नि जातवेदस् जो सबमें।
उषःकाल से पूर्व प्रकट करता दिन जग में॥
उषःकाल से पूर्व प्रज्वलित करते हैं जन।
और अग्नि के प्रकटन से वे गिनते हैं दिन॥
सूर्योदय के पूर्व वही किरणें फैलाता॥
स्थान अनेकानेक ज्योति से स्नात बनाता॥
द्यावा-पृथिवी को वह करता है उद्भासित।
आध्यात्मिक प्रभात भी करता वही अवतरित॥
अपने अग्रभाग से रवि-किरणें बरसाकर।
धरती, अन्तरिक्ष, दिव सबको देता है भर॥
अग्नि लोकस्रष्टा है इसका स्तवन करें हम।
इसके ओज-तेज से पूरित हो जीवन-क्रम॥ १७॥

टि०—अग्नि उषा के अवतरित होने के पूर्व से ही दिनों को प्रकट करने लगता है। दिनों की गणना भी उसी से आरम्भ हो जाती है। इसी अग्नि के द्वारा आध्यात्मिक प्रभात का भी अवतरण होता है। इस मंत्र में सृष्टि-पूर्व की उस स्थिति का भी संकेत है जब विश्व में पहले प्रभात का उदय नहीं हुआ था। श्री अरविन्द ने लिखा है—"तभी उस चिदग्नि का अवतरण हुआ, जिसके उन्मीलन से सृष्टि की परंपरा चली"। १७

आगत्य वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो वि धूनुते।
अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा नि चिकीषते॥१८॥

वाजी	वेगवान घोड़ा	चक्षुषा	(गृहस्थ पुरुष)
अध्वानं	अपने मार्ग पर		नेत्रों से
आगत्य	आकर	महति सधस्थे	बड़ी पृथ्वी पर
सर्वाः	सब	अग्नि	यज्ञ को अग्नि को
मृधः	संग्रामों को	निचिकीषते	देखता है (वैसे तुम
विधूनुते	जीतता है।		भी करो) ॥ १८ ॥

वेगवान यह अश्व प्रधावित[1] अपने पथ पर।
शोभा पाता संग्रामों में विजय प्राप्त कर॥

१ दौड़ता हुआ।

आभर	पालन-पोषण कर।	अच्छेम	प्राप्त हों।
पुरीष्यं	पालन करने में समर्थ,	पुरीष्यं	पालन करनेवाले
अङ्गिरस्वद्	अंगिरा के समान तेजस्वी,	अङ्गिरस्वद्	अंगिरा के समान तेजस्वी नेता का
अग्नि	अग्निकल्प शत्रुहंता नेता को (हम लोग)	भरिष्यामः	हम पालन-पोषण करेंगे ॥ १६ ॥

जैसे करते हैं परमेश्वर सबका पालन।
अग्रणी समर्थ जनों का परिपोषण धारण॥
वैसा ही प्राप्त करें नेता हम शत्रुदलन।
अग्नि-सा परम तेजस्वी सबका कष्टहरण॥
अङ्गिरा-सदृश जो शत्रुविनाशक तेजवलित[1]।
ऐसे समर्थ नेता के हों अनुगत[2] हम नित॥
पृथ्वी पर जो करता है लोकों का पोषण।
तेजस्वी और अग्रणी बन करता रक्षण॥
उसको हम करें सहाय सर्वदा आराधन।
उसकी सेवा में ही सार्थक मानव-जीवन॥ १६॥

टि०—संसार में सच्चा नेता वही हो सकता है, जो परमेश्वर की तरह समर्थ हो और निःस्वार्थ भाव से सबका पालन-पोषण कर सकता हो। ऐसा नेता ही सबके कष्ट दूर कर सकता है। ऐसा नेता वही हो सकता है, जो परम भागवत है, सदाचारी है, स्वार्थहीन है, लोकसेवा के लिए समर्पित है। ऐसे भागवत पुरुष को पहचानकर मनुष्यों को उसे अपना नेता मानना चाहिए। ऐसा नेतृत्व ही मनुष्य-जीवन को सार्थक करता है। १६

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः।
अनु॒ सूर्य॑स्य पुरु॒त्रा च॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तन्थ ॥ १७ ॥

प्रथमः	सब में पहले से विद्यमान	अहानि	दिनों को
		अन्वख्यत्	प्रसिद्ध करता है
जातवेदाः	जातवेदस्	च	और
अग्निः	अग्निदेवता	सूर्यस्य अग्रं	सूर्य के पहले
उषसां अग्रं	उषःकाल के पहले	पुरुत्रा	बहुत स्थानों में

१ तेजयुक्त; २ अनुगामी।

प्रेरणा करो, आज्ञा दो हमको साधिकार।
हम धरती पर अधिकार करें॥
अग्रणी बनो, प्रेरणा भरो, हे राष्ट्रपुरुष।
हम इस धरती का खनन[1] करें॥
हम तत्त्व-प्राप्ति हित प्रेरित हो उत्खनन करें।
इस धरती का उत्खनन करें॥
उस परमपुरुष, अविनाशी का।
अपने भीतर उत्खनन करें॥ १६॥

टि०—इस कंडिका में शौर्य के बड़े ही उदात्त रूप की प्रतिष्ठा की गई है। वीर वह है जो अग्नि के समान तेजस्वी है और जिसमें संपूर्ण धरती पर विजय प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा है। ऐसे व्यक्ति के नेतृत्व में सारा राष्ट्र विजय-प्राप्ति के संकल्प से उद्वेलित हो उठता है। ऐसे महान पुरुष के नेतृत्व में लोग सगर के पुत्रों की तरह धरती को खोद डालते हैं। इस कंडिका में धरती खोदने का अर्थ है पृथ्वी पर सर्वत्र सत्य का शोधन करना। सत्य की यह शोधप्रक्रिया तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक हम उस अविनाशी, अजर-अमर, आत्मा का साक्षात्कार अपने ही भीतर न कर लें। महर्षि दयानंद के अनुसार धरती के खनन का अर्थ है भूगर्भ आदि विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर रत्नगर्भा वसुंधरा से रत्न आदि की अनंत अपरिमेय संपदा प्राप्त करना। इसका दूसरा अर्थ है जड़ को शोधकर उसमें से चित् तत्त्व प्राप्त करना। 'आत्मानं विद्धि' इस कंडिका का मूल स्वर है। अपने भीतर विद्यमान आत्मतत्त्व को जानो, यह वेद का आदेश है। १६

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्षꣳ समु॒द्रो योनि॑: ।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः ॥ २० ॥

द्यौः	स्वर्ग	त्वं	तुम
ते	तुम्हारी	चक्षुषा	आँखों से
पृष्ठं	पीठ है,	विख्याय	देखकर
पृथिवी सधस्थं	पृथ्वी पाँव है,	पृतन्यतः	युद्धोत्सुक शत्रु पर
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष	अभि तिष्ठ	आक्रमण
आत्मा	जीवात्मा है,		करो ॥ २० ॥
समुद्रः योनिः	समुद्र तुम्हारा उत्पत्ति-स्थान है।		

है स्वर्ग तुम्हारा पृष्ठदेश, पदतल में है पृथ्वी अशेष।
आत्मा है अन्तरिक्ष उच्छ्रित[2], सागर है जन्म-स्थान विदित॥

१ खोदना; २ ऊँचा।

सद्गृहस्थ जिस भाँति प्रज्वलित यज्ञ-अग्नि नित।
पृथ्वी पर अवतरित देखकर होते पुलकित॥
उसी भाँति तुम भी सभक्ति यज्ञाग्नि निहारो।
जेता-हय[1] से युद्धजयी बन यश विस्तारो॥
आग्नेयादि अस्त्र-शस्त्रों की सिद्धि प्राप्त कर।
अश्व-सदृश सर्वत्र रहो गतिमान निरंतर॥
राग-द्वेष तज अविरत अपनी शक्ति बढ़ाओ।
घर-घर में तुम सद्विद्या की ज्योति जगाओ॥ १८॥

टि०—जैसे वेग से चलनेवाला घोड़ा अपने मार्ग मे आनेवाले सब शत्रुओं को पराजित करता चलता है, उसी तरह तुम भी अधर्मी शत्रुओं को निर्मूल करते हुए राग-द्वेष से मुक्त होकर जीवन के पथ पर आगे बढ़ते जाओ। जिस प्रकार सद्गृहस्थ अपने घर में यज्ञाग्नि को प्रज्वलित देखकर प्रसन्नता का अनुभव करता है, उसी प्रकार तुम लोग भी यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए नित्य नवीन शक्ति अर्जित करो। विजयप्रदायक अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार करो। अधर्मी शत्रुओं को नष्ट कर घर-घर में सद्विद्या का प्रचार करो। १८

आक्रम्यं वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्यां वृत्वायं नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥१९॥

वाजिन्	हे वेगवान, बलवान शूर पुरुष!	भूम्या	(उस) भूमि पर
त्वं	तुम	वृत्वाय	पूर्ण अधिकार करने के लिए
पृथिवीं आक्रम्य	पृथ्वी पर आक्रमण करके	नः ब्रूहि	हमसे कहो,
रुचा	अपनी रुचि से	यतः	जहाँ से
अग्निं इच्छ	अग्नि के समान तेजस्वी बनने का संकल्प करो।	तं	उस ज्ञानवान तेजस्वी पुरुष को
		खनेम	हम प्राप्त कर सकें॥ १९॥

हे वीर पुरुष! अग्नि के सदृश तेजस्वी बन।
इस पृथ्वी पर आक्रमण करो॥
अग्रणी और वर्चस्वी बनकर रहने का।
अपने मन में संकल्प करो॥

---

१ विजयी घोड़ा।

इस पिंड-मध्य है ज्वलित सतत आत्मा का जो पावक निर्जर।
ज्ञान की अग्नि[1] लेकर उसको खोदें, ले आवें धरती पर॥
दैवी ऐश्वर्य-प्राप्ति के हित हम मिल-जुलकर यतमान[2] रहें।
ऊपर-ऊपर चढ़ते जावें, अच्युत अपना ध्रुव स्थान लहें॥ २१॥

टि०—इस कंडिका के मंत्र में मनुष्य को बड़ा सशक्त उद्बोधन किया गया है। भगवान ने उसे अप्रमेय बल प्रदान किया है। उसको निरंतर अनंत ऐश्वर्यवृद्धि करने के लिए उद्योग करते रहना चाहिए। किन्तु ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए दानी होना अनिवार्य है। मनुष्य को इस धरती के जड़-बंधनों को तोड़कर निरंतर ऊँचे-से-ऊँचे उठकर अविनाशी ध्रुव स्थान प्राप्त करना चाहिए। मनुष्य के इसी पिंड में आत्मा की अजर, अमर, अविनाशी अग्नि छिपी हुई है। उसको ज्ञान की कुदाली से खोदकर ऊपर लाना मनुष्य का कर्तव्य है। मनुष्य सुमति और सद्बुद्धि प्राप्त करने का संकल्प करे, ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त करे और अपने आचरण को देवताओं के जीवन जैसा प्रामाणिक बनाये। २१

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः
सुलोकꣳ सुकृतं पृथिव्याम्।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳ स्वो
रुहाणा अधि नाकमुत्तमम्॥ २२॥

अर्वा	चंचल (एवं)	ततः	उस देश से
द्रविणोदा	धन देनेवाला	नाकं	दुःखरहित
वाजो	घोडा	उत्तमं स्वः	उत्तम स्थान पर
पृथिव्यां	पृथ्वी पर	अधिरुहाणाः	आरोहण करने की इच्छावाले हम
उदक्रमीत्	उच्च स्थान पर चलकर आया है।	सुप्रतीकं	सुन्दर सुख देनेवाले
सुलोकं	सुन्दर लोकों को	अग्नि	अग्नि को
सुकृतं	(उसने) पुण्यवान	खनेम	प्रदीप्त करते हैं॥ २२॥
अकः	बनाया है।		

जैसे बलशाली अश्व उछलता ऊपर।
अप्रतिम वैसी हम करें प्रगति धरती पर॥
धनदाता हों, सुकृतों से दें पृथ्वी भर।
यह लोक सुलोक बनाते रहें निरंतर॥

१ अग्नि स्वरूप कुदाली; २ प्रयत्नशील।

स्वर्ग के पुण्य, धरती की धृति, तुम अन्तरिक्ष की ज्योति-प्रसृति[1]।
सागर से तुम गम्भीर महत्, अपना ऐश्वर्य करो प्रकटित ॥
अपनी आँखें खोलो देखो, बाहर का शत्रुव्यूह देखो।
भीतर है कामरूप अरिदल, निर्मूल करो ये शत्रु सकल।
इन अरियों पर आक्रमण करो, जीवन में जय नित वरण करो ॥ २० ॥

टि०—इस कंडिका में मनुष्य की उस स्थिति का स्वरूप-निर्देश किया गया है जो आत्म-साक्षात्कार के बाद उसे प्राप्त होती है। जब तक मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह क्षुद्र मानव मात्र है—केवल मुट्ठी भर मिट्टी। किन्तु आत्म-साक्षात्कार होते ही वह ईश्वर का अविनाशी अंश बन जाता है। उसका व्यक्तित्व स्वर्ग, अंतरिक्ष, धरती और महासमुद्र से अधिक विराट् हो जाता है। फिर उसके बाहर-भीतर के सब शत्रु निर्मूल हो जाते हैं। भीतर का शत्रु है काम। गीता में भगवान ने कहा है—'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'। २०

उत्क्रा॑म मह॒ते सौभ॑गाया॒स्मा-
दा॒स्थाना॑द् द्रविणो॒दा वा॑जिन्।
व॒यꣳ स्या॑म सुम॒तौ पृ॑थि॒व्या अ॒ग्निं
ख॑नन्त उ॒पस्थे॑ अस्याः ॥ २१ ॥

वाजिन्	हे बलवान !	पृथिव्याः	पृथ्वी के
द्रविणोदाः	धन देनेवाले होकर	उपस्थे	ऊपरी भाग में
महते सौभगाय	महान ऐश्वर्य के लिए	अग्निं	अग्नि को
अस्मात्	इस	खनन्ताः	प्रदीप्त करने का उद्योग करते हुए
आस्थानात्	स्थान से	वयं	हम
उत्क्राम	ऊपर उठो।	सुमतौ स्याम	उत्तम बुद्धि में स्थित हों ॥ २१ ॥
अस्याः	इस		

हे बलशाली! ऐश्वर्य-वृद्धि के हेतु सदा धन-दान करो।
इस धरती के ऊपर उठकर अविरत उत्क्रमण[2] महान् करो ॥
उच्चतर स्थान को प्राप्त करो, हो वास तुम्हारा वह शोभन।
उस ऊर्ध्वभाग[3] में धरती के, तुम करो प्रदीप्त अग्नि पावन ॥
संकल्प करो तुम हे मानव! सद्बुद्धि सुमति हो हमें प्राप्त।
हो ऋतंभरा[4] प्रज्ञा अपनी देवोपम जीवन बने आप्त ॥

---

१ प्रकाश का फैलावा (अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र, तारों आदि का प्रसार है); २ ऊँचे उठना; ३ ऊँचा हिस्सा; ४ ऋत से युक्त।

श्रद्धा से करते तुमको घृत-आहुति प्रदान।
होते हो मन्त्रयुक्त घृत-आहुति से दीपित।
वायु को बनाते हो तुम रोगनिवारक नित॥ २३॥

टि०—ऊपर की अनेक कंडिकाओं में जिस अग्नि की महिमा का वर्णन है, उसी अग्नि की स्तुति इस कंडिका में की गई है। अग्नि का निवास सब भुवनों में है, उसकी वक्र लपटों का प्रकाश सब ओर फैला है। आयु में तुम सबसे ज्येष्ठ हो, सबसे श्रेष्ठ हो। मंत्रों से तुमको जो घृत-आहुति दी जाती है, उससे तुम प्रसन्न होते हो। २३

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥ २४॥

अग्निः	हे अग्ने! (तुम)	मर्यश्रीः	मनुष्यों द्वारा सेवन करने योग्य,
विश्वतः	सब ओर पूर्ण रूप से	स्पृहयद्वर्णः	कान्तिमान,
प्रत्यञ्चं	व्याप्त हो।	तन्वा जर्भुराणः	अपने शरीर से इधर-उधर गमन करनेवाला
आ जिघर्मि	(मैं तुमको) घृत द्वारा प्रदीप्त करता हूँ।	अग्निः	अग्नि
अरक्षसा	क्रोध-रहित	अभिमृशे न	निन्दनीय नहीं है॥ २४॥
मनसा	मन से		
तत् जुषेत	घृत का सेवन करो।		

हे अग्नि! व्याप्त हो पूर्णरूप से सभी ओर।
करते प्रदीप्त घृत-आहुतियों में तुम्हें बोर[1]॥
तुम शान्तचित्त गत-क्रोध, करो यह घृत सेवन।
करते अर्पित तुमको हम श्रद्धाविगलित[2] मन॥
यह अग्नि मानवों के हित संतत सेवनीय।
यह कान्तिमान संपत्ति मानवों को वरीय[3]॥
अपने तन से है अनेकत्र[4] यह वर्तमान।
है प्रथित-कीर्ति अनवद्य[5] सदा ही यह महान॥ २४॥

टि०—इस कंडिका में भी अग्नि की महिमा का वर्णन और स्तवन है। अग्नि पूर्णरूप से सभी ओर व्याप्त है। समिधाओं को घृत में डुबोकर उसे प्रदीप्त किया

१ डुबोकर; २ श्रद्धा से संवेदनशील बने हुए; ३ श्रेष्ठ; ४ अनेक स्थानों पर; ५ निन्दा के अयोग्य।

उत्क्रमण करें, आरोहण करते जायें।
दुःख-रहित नाक[१] पद पर अधिकार जमावें॥
हम खनन करें वह अग्नि अभीष्टप्रदायक।
यज्ञों में होकर ज्वलित बने सुखदायक॥
हम सुप्रतीक[२] पावक धरती पर लावें।
अपने में उसकी सब शक्तियाँ जगावें॥ २२॥

टि०— जैसे बलशाली वेगवान अश्व उछलता हुआ अपने मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है, वैसे ही हम मनुष्यों को भी धरती पर निरंतर उन्नति करते रहना चाहिए। हमारे सत्कर्मों से यह लोक पुण्यवान बने, हमारे जीवन का यह लक्ष्य होना चाहिए। हममें यह संकल्प जाग्रत होना चाहिए कि हम अपनी स्थिति से ऊपर उठकर दु:ख-रहित स्वर्ग जैसी परिस्थितियों का निर्माण करें। हम अपने भीतर आत्मतत्त्व रूपी अग्नि का अनुसंधान करें। उसका चिन्मय प्रकाश धरती पर फैले। उसके द्वारा शतसांवत्सरिक जीवन-यज्ञों की परंपरा चले। अग्नि की सब शक्तियाँ हममें जागरित हों। २२

आ त्वा॑ जिघर्मि॒ मन॑सा घृ॒तेन॑ प्रतिक्षि॒यन्तं॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
पृ॒थुं ति॑र॒श्चा वय॑सा बृ॒हन्तं॒ व्यचि॑ष्ठ॒मन्नै॑ रभ॒सं दृशा॑नम्॥ २३॥

विश्वा भुवनानि	(हे अग्नि!) संपूर्ण भुवनों में	रभसं	बलवान
प्रतिक्षियन्तं	निवास करनेवाले	दृशानम् त्वा	प्रत्यक्ष दीखनेवाले तुमको
तिरश्चा	तिरछी ज्योति से	मनसा	श्रद्धा भरे मन से
पृथुं	विस्तीर्ण,	घृतेन	घृत द्वारा
वयसा	आयु से महान,	आ जिघर्मि	अच्छी तरह मैं प्रदीप्त करता हूँ॥ २३॥
बृहन्तं व्यचिष्ठं	सबसे अधिक सर्वत्र व्यापक,		
अन्नैः	अन्नादि पदार्थों से		

हे अग्नि! तुम्हारा सब भुवनों में है निवास।
सब ओर तुम्हारा तिरश्चीन[३] फैला प्रकाश॥
वय में तुमसे है ज्येष्ठ न कोई और अन्य।
सर्वव्यापक हो तुम, तुम हो सबसे वरेण्य[४]।
हवनीय अन्न-आहुतियों से तुम तेजवान॥

---

१ स्वर्ग, न+अकम अर्थात् जहाँ दुःख नहीं है; २ सुन्दर सुख देनेवाला अथवा सुन्दर प्रीति का विषय; ३ टेढ़ा, आग की लपटें टेढ़ी होती हैं; ४ श्रेष्ठ।

अग्ने ! तुम हो बलवान और साहसी महत् ।
बहुरूपों में स्थित, बुद्धिमान, वर वीर प्रथित ॥
जो हैं समाज के शत्रु धर्मद्वेषी राक्षस ।
प्रतिदिन उनको करते रहते हो ध्वस्त अवश[1] ॥
तुम हो विनाशकारी दुष्टों के क्षयकारी ।
सम्मान तुम्हारा करते हैं हम भयहारी ॥
अग्नि के सदृश रिपुदल-धर्षक[2] हो जो महान ।
हम करें उसे ही सेनापति का पद प्रदान ॥ २६ ॥

टि०—इस कंडिका में अग्नि के साहसी और बलवान् रूप का अभिनंदन किया गया है। अग्नि नित्य राक्षसों का नाश करता है। जो विनाशकारी दुष्ट हैं, अग्नि उनका विनाश करता है। महर्षि दयानंद अपने भाष्य में कहते हैं, अग्नि जैसे शत्रुदलन तेजस्वी पुरुष को ही राष्ट्र का सेनापति बनाया जाना चाहिए। २६

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः[1] ॥ २७ ॥

नृपते अग्ने	हे मनुष्यों के पालक अग्नि !	त्वं अश्मनः परि	तुम पाषाण से
त्वं शुचिः	तुम पवित्र (और)	(जायसे)	उत्पन्न होते हो,
आशुशुक्षणिः	शीघ्र ही अंधकार को दूर करनेवाले	त्वं वनेभ्यः	तुम वनों में उत्पन्न
द्युभिः	प्रतिदिन	(जायसे)	उत्पन्न होते हो,
जायसे	उदित होते हो,	त्वं ओषधीभ्यः	तुम ओषधियों से
त्वं अद्भ्यः	तुम जलों से उदित	(जायसे)	उत्पन्न होते हो।
(जायसे)	होते हो,	त्वं नृणां	तुम यज्ञकर्ता यजमानों के घर में
		(जायसे)	उत्पन्न होते हो ॥ २७ ॥

हे नृपति अग्नि ! तुम सदा मानवों के पालक ।
तुम चिर पवित्र, तमहरण तूर्ण, जग-प्रक्षालक[3] ॥
प्रतिदिन होते उत्पन्न तिमिरहारी हो तुम ।
जल से भी तुमको समुत्पन्न पाते हैं हम ॥
पाषाणों के घर्षण से होते समुद्भूत ।
वनराजि बीच होते हो तुम बहुधा प्रसूत ॥

---

१ वेवस; २ शत्रुसमूह को नष्ट करनेवाले; ३ संसार की कालिमा धो देनेवाला।

जाना चाहिए। अग्नि मानवों की महान संपत्ति है, यह सदैव सेवा करने के योग्य है। इसके यश का वर्णन सदैव होना चाहिए, यह निंदा और तिरस्कार के योग्य नहीं। २४

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्।
द॒ध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

वाजपतिः	अन्न का स्वामी,	रत्नानि दधत्	रत्नों को धारण करता हुआ
कविः अग्निः	क्रान्तदर्शी अग्नि	परि अक्रमीत्	सब ओर से प्राप्त होता है ॥ २५ ॥
हव्यानि दाशुषे	हवि देनेवाले यजमान के लिए		

यह अग्नि क्रान्तदर्शी[1] सब अन्नों का स्वामी।
यह अग्नि क्रान्तदर्शी[1] सब अन्नों का स्वामी।
दाता को करता रत्नदान यह यशकामी[2] ॥
याचक को करवाता अनेकविध धन प्रदान।
यह घूम-घूम सब ओर पा रहा नित्य मान ॥
दाता गृहस्थ भी करें अग्नि की भाँति दान।
विद्या प्रचार धर्म की वृद्धि होगी महान ॥ २५ ॥

टि०—इस कंडिका में भी अग्नि की महिमा का निरूपण है। अग्नि सब अन्नों का स्वामी है, अग्नि की दृष्टि त्रिकालाबाधित है। जो यजमान उदार और दानी हैं, उन्हें यह अग्नि रत्न प्रदान करता है। अग्नि की कृपा से यजमान गृहस्थ को अनेकानेक सूत्रों से धन मिलता रहता है। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के भाष्य में कहा है, दाता गृहस्थ को भी दान देकर विद्या-प्रचार और धर्म की वृद्धि में सहयोग करना चाहिए। २५

परि॑ त्वाऽग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳ सहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वे-दि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम् ॥ २६ ॥

सहस्य अग्ने	हे बल से युक्त अग्नि !	भंगुरावतां हन्तारं	खोटे स्वभाववाले, राक्षसों को मारनेवाले
पुरं	अनेक रूपों में स्थित,	त्वा	तुम्हारा
विप्रं	बुद्धिमान,	वयं	हम
धृषद्वर्ण	शत्रुनाशक वीर का	परि धीमहि	सब ओर से सम्मान करते हैं ॥ २६ ॥
दिवेदिवे	प्रतिदिन		

१ सर्वज्ञ; २ कीर्ति प्राप्त करने की इच्छावाला।

जो अग्नि व्याप्त सर्वत्र सदा ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर।
अंगिरा[1]-सदृश हम उसे प्रकट करते हैं धरती के ऊपर॥
हे अग्नि! सदा तुम हो ज्वालामय शोभावान प्रजा-हितकर।
अपनी ही किरणमालिका से रहते हो नित्य नवल भास्वर॥
शिव-रूप अहिंसाव्रती परम वैभव से मंडित हो अनुपम।
भूमि के गर्भ से धरती पर करते हैं तुमको दीपित हम॥
अंगिरा-सदृश इस धरती पर करते यज्ञों में दीपित हम।
अंगिरा-सदृश इस धरती पर करते हैं तुम्हें प्रज्वलित हम॥ २८॥

टि०—इस कंडिका में भी पूर्ववर्ती मंत्रों की तरह अग्नि के महत्त्व का वर्णन है। अग्नि के अवतरण से ही मानव-संस्कृति और सभ्यता का आरंभ हुआ था। पाश्चात्य साहित्य में भी अग्नि के अवतरण का बड़ा शक्तिशाली वर्णन है। प्रमथ्यु मानवों के कल्याण के लिए स्वर्ग से अग्नि चुरा लाया था। अग्नि तो धरती पर आ गयी, पर प्रमथ्यु को उसके लिए बड़ा कठोर दंड दिया गया। उसे जंजीरों से जकड़ दिया गया और मांसभोजी पक्षियों को उसका मांस नोच-नोचकर खाने के कार्य में लगा दिया गया। वेद अंगिरा या अंगिरस् के द्वारा धरती पर अग्नि के अवतरण का संकेत करते हैं। अंगिरा ऋग्वेद के भी अनेक सूक्तों के द्रष्टा ऋषि हैं। महर्षि दयानंद ने अंगिरा का अर्थ सूत्रात्मा वायु किया है। पहले कहा जा चुका है, आकाश से वायु और वायु से अग्नि तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। २८

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्करे दिवो
मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥ २९॥

अपां	(तुम) जलों की	महान् पुष्करे	बड़े जल में
पृष्ठं असि	पीठ हो।	आ प्रथस्व	सब प्रकार स्थित हो।
अग्नेः	अग्नि की	दिवः मात्रया	द्युलोक की तेज-शक्ति से
योनिः (असि)	उत्पत्ति का स्थान हो।	च	और
समुद्रं पिन्वमानं	समुद्र को बढ़ाते हो,	वरिम्णा (प्रथस्व)	पृथ्वी की विशालता से चारों ओर स्थित हो॥ २९॥
अभितः वर्धमानः	सब ओर वृद्धि को प्राप्त होते हुए		

हे पुष्करपर्ण![2] निवास सलिल का पृष्ठ भाग।
तुम हो उत्पादक विदित अग्नि के महाभाग॥

---

१ एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम; २ कमल का पत्ता।

ओषधियों से भी तुम होते उत्पन्न सदा।
तुम अग्निहोत्रियों के यज्ञों में प्रकट सदा॥ २७॥

टि०—इस कंडिका में भी यज्ञ की महिमा का वर्णन है। अग्नि ही मनुष्यों का पालन करता है। वह सदा पवित्र है, शीघ्र अंधकार दूर करता है और संसार का भी प्रक्षालन कर देता है, अंधकार धोकर बहा देता है। तुम प्रतिदिन अरणि-मंथन के द्वारा प्रकट होते हो, जल में विद्युत-रूप में वर्तमान हो। वनों में तुम्हारा दवाग्नि-रूप प्रकट होता है। सब ओषधियों में तुम हो और यज्ञ तुम्हारे प्रादुर्भाव से सम्पन्न होते हैं। मनुष्यों को अग्नि के गुण ग्रहण करने चाहिए। २७

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॒र॒स्वत्खना॑मि ।
ज्योति॑ष्मन्तं त्वाऽग्ने सु॒प्रती॑क॒मज॑स्रेण भा॒नुना॒ दीद्य॑तम् ।
शि॒वं प्र॒जाभ्यो॒ऽहिं॑सन्तं पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं
पु॒री॒ष्य॒मङ्गि॒र॒स्वत्खना॑मः ॥ २८ ॥

सवितुः देवस्य	(मैं) सबके उत्पादक सविता देवता की
प्रसवे	आज्ञा या प्रेरणा से
अश्विनोः बाहुभ्यां	अश्विनी की बाँहों और
पूष्णः हस्ताभ्यां	पूषा देवता के हाथों से
पुरीष्यं त्वा	सर्वत्र रहनेवाले तुम
अग्निं	अग्नि को,
पृथिव्याः सधस्थात्	पृथ्वी के ऊपर रहनेवाले अग्नि को
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
खनामि	उत्पन्न करता हूँ।
अग्ने	हे अग्नि !
ज्योतिष्मन्तं	ज्वालायुक्त,
सुप्रतीकं	सुन्दर शोभावान,
अजस्रेण भानुना	निरंतर कान्ति से
दीद्यतम्	चमकनेवाले,
प्रजाभ्यः	प्रजाओं का हित करने के लिए
शिवं	शान्तरूप,
अहिंसन्तं	हिंसा न करनेवाले, तुम
पुरीष्यं अग्निं त्वा	समृद्धि से युक्त तुम अग्नि को
पृथिव्याः	भूमि के
सधस्थात्	गर्भ से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
खनाम	हम प्रदीप्त करते हैं॥ २८॥

हम विश्वप्रसविता सविता के आज्ञाकारी।
अश्विनियों[1] के बल पूषा के पौरुष के सदा वहनकारी[2]॥

१ दोनों अश्विनीकुमारों; २ धारण या वहन करनेवाले।

सं वसाथाथं स्वर्विदा समीची उरसा त्मना ।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥३१॥

स्वर्विदा	(तुम दोनों) अपने आत्मतत्त्व को जाननेवाले,	उदरे अन्तः	उदर के भीतर
समीची	एकचित्त होकर	भरिष्यन्ती	धारण करते हुए
अजस्रमित्	निरंतर	उरसात्मना	अपने शरीर में (हृदय में) स्थित
ज्योतिष्मन्तं	ज्योतिर्मय	(अग्नि	अग्नि को)
अग्नि	अग्नि को	सं वसाथां	प्रदीप्त करके रखो ॥ ३१ ॥

हे स्त्री-पुरुषो ! तुम सब अपने को जानो ।
आत्मज्ञ बनो, अपना स्वरूप पहचानो ॥
तुम एकचित्त हो रहो सम्मिलित होकर ।
ज्योतिमत् अग्नि को धारण करो निरंतर ॥
निज उदर बीच तुम करो उसे नित धारण ।
अग्नि का करो उर में तन में आच्छादन ॥
आत्मा को, उर को भक्तिभाव से भरकर ।
प्रज्वलित करो यज्ञाग्नि सदा धरती पर ॥
जो भक्ति-रहित हैं कर्म विफल वे होते ।
भक्ति से सिद्ध पुरुषार्थ सभी हैं होते ॥ ३१ ॥

टि०—वेद का आदेश है सब स्त्री और पुरुष आत्मज्ञ बनें, आत्मा को जानें, अपने स्वरूप को पहचानें। वे ज्योतिर्मान अग्नि को सदैव धारण करें और आपस में मिल-जुलकर रहें। उदर में अग्नि वैश्वानर या जठराग्नि के रूप में सदा प्रदीप्त रहना चाहिए। यही आरोग्य का मूल है। शरीर में अग्नि कान्ति और तेज के रूप में रहे और हृदय में भक्ति-भावना की आग प्रज्वलित रहे। यज्ञकार्यों के मूल में भगवान की भक्ति की प्रेरणा रहनी चाहिए, तभी सब पुरुषार्थ सफल हो सकते है। ३१

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा
त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

करते हो वृद्धि सदा सागर को तुम अनंत।
वृद्धिगत जल में संस्थित हो तुम तेजवंत॥
दिव में है अग्नि श्रेष्ठ निज पद पर समासीन।
रहता है वहाँ, वृद्धि करता है नित नवीन॥
ज्ञानियो ! सदा जल में है विद्युत् विद्यमान।
खोजो, उपयोग करो, यह सुख-साधक महान॥ २९॥

टि०—महीधर के अनुसार इस कंडिका में पुष्करपर्ण को सम्बोधित किया गया है। पुष्करपर्ण का अर्थ है, कमल का पत्ता। कमल का पत्ता ऐसे ज्ञानी का प्रतीक है जो संसार में रहता हुआ भी उससे अलिप्त और अनासक्त है। गोस्वामी तुलसीदास ने जनक के लिए लिखा है, "जे विरंचि निर्लेप उपाये। पदमपत्र जिमि जग-जल छाये।" ऐसे योगीजन या ज्ञानीजन संसार में अग्नि और विद्युत् की अनंत शक्तियों का अन्वेषण कर उन्हें मनुष्य के लिए उपयोगी बना सकते हैं। महर्षि दयानन्द अग्नि-कंडिकाओं के मंत्रों में इसी बात पर विशेष बल देते हैं। २९

शर्म॑ च॒ स्थो वर्म॑ च॒ स्थोऽछिद्रे बहुले उ॒भे।
व्यच॑स्वती॒ सं व॑साथां भृ॒तम॒ग्निं पुरी॒ष्य॒म्॥ ३०॥

अच्छिद्रे	छिद्ररहित	पुरीष्यम्	समृद्धि करनेवाले
बहुले व्यचस्वती	बहुत विस्तृत	अग्नि	अग्नि को
उभे	तुम दोनों	सं वसाथां	आश्रय देनेवाले बनो
शर्म स्थः	सुखदायक हो	च भृतम्	और उसको धारण
च वर्म स्थः	और कवच के समान संरक्षक हो।		करो॥ ३०॥

तुम दोनों का हो छिद्ररहित[1] विस्तृत[2] जीवन।
सुखदायी हो तुमको इस जीवन का प्रतिक्षण॥
तुम बनो कवच से एक-दूसरे के रक्षक।
ऐश्वर्यप्रदायक अग्नि के बनो संवर्धक॥
बन अग्निहोत्र के व्रती करो उसको धारण।
आवास और आसन हों नित सुख के कारण॥ ३०॥

टि०—इस कंडिका में दंपति को यह उपदेश दिया गया है कि तुम दोनों अपने जीवन को निर्दोष और उदार बनाओ। तुम दोनों परस्पर कवच बनकर रहो। गृहस्थ के लिए अग्निहोत्र अनिवार्य है। तुम अग्निहोत्र द्वारा अग्नि की वृद्धि और संरक्षण करो। अग्नि ही श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करता है। तुम्हारे द्वारा आसन आदि सुखदायी होना चाहिए। ३०

---

१ निर्दोष; २ उदार।

हे अग्नि ! अथर्वासुत दध्यङ् के द्वारा।
प्रकटा प्रज्वलित हुआ था रूप तुम्हारा॥
वृत्रहन् विदित हो और पुरंदर हो तुम।
सब शत्रुविनाशक रिपुमद-गंजक हो तुम॥
हे पुत्र अथर्वा के दध्यङ् ऋषि मानी।
है अमर तुम्हारी रिपुध्वंसिका[1] कहानी॥
तुमने ही शत्रुंजय पावक प्रकटाया।
रिपुओं के गढ़ सब जिसने क्षार[2] बनाया॥ ३३॥

टि०—अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अग्नि को प्रकट किया। वह अग्नि ही वृत्रहन् और पुरंदर है। 'वृत्रहन्' और 'पुरंदर' भी इन्द्र के नाम हैं। वृत्र को मारने के कारण उनका नाम वृत्रहन् है और शत्रुओं के क़िले ध्वस्त करने के कारण पुरंदर। यह अग्नि ही इन्द्र के रूप में ये महान कार्य संपन्न करता है। यही रुद्र-रूप त्रिपुर में निवास करनेवाले असुर को मारता है, जिसके कारण उनका नाम त्रिपुरारि हुआ। ३३

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्।
धनञ्जयꣳ रणे-रणे॥ ३४॥

पाथ्यः वृषा	सत्पथ पर चलने वाले हे बलवान अग्नि !	रणे-रणे	प्रत्येक संग्राम में
तं उ	उस	धनञ्जयं	विजयी
दस्युहन्तमम्	शत्रुओं का नाश करनेवाले,	त्वा ईधे	तुम्हे मैं प्रज्वलित करता हूँ॥ ३४॥

सत्पथ पर ही चलनेवाले हो हे अग्ने!।
सबसे महान बलवान तुम्हीं हो हे अग्ने!॥
है दस्युविनाशक धरती पर तुम-सा न अन्य।
प्रत्येक युद्ध के जेता[3] हो तुम भट वरेण्य[4]॥
निधनंजय[5]! करते सदा शत्रु की श्री अपहृत[6]।
दीपित करते हम तुम्हें प्रजा-रक्षण हित नित॥ ३४॥

टि०—अग्नि के इस स्तवन में उन्हें सदैव सन्मार्ग पर चलनेवाला कहा गया है। अग्नि से बड़ा बलवान कोई नहीं। वे संसार में सबसे बड़े दस्युनाशक हैं। प्रत्येक युद्ध में वे विजयी होकर शत्रु की श्री का अपहरण करते हैं। प्रजा के हित के लिए इन्हीं अग्निदेव को यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है। ३४

---

१ शत्रु का नाश करनेवाली; २ राख; ३ जीतनेवाले; ४ श्रेष्ठ वीर;
५ मृत्यु को जीतनेवाले; ६ छीनी हुई।

अग्ने	हे अग्नि !
पुरीष्यः	(तुम) हितकारी,
विश्वभरा	विश्व का पालन करनेवाले
असि	हो।
प्रथमः	सबसे पहले
अथर्वा	अथर्वा ने
त्वा	तुमको
निरमन्थत्	अच्छी तरह मथ कर प्रकट किया।
अग्ने	हे अग्नि !
अथर्वा	अथर्वा ने
पुष्करात्	पुष्कर से
त्वां	तुमको
अधि निरमन्थत्	मथित किया।
विश्वस्य	संपूर्ण संसार के
वाघतः	ऋत्विजों ने
मूर्ध्नः	तुमको मथकर आदर के साथ
(निरमन्थत्)	प्रकट किया ॥३२॥

हे अग्निदेव ! तुम हो सबके हितकारी।
है विश्वपालिका सुविदित प्रकृति तुम्हारी॥
पहले था किया अथर्वा ऋषि ने मंथन।
तब प्रकट हुए थे तुम, अनंत तेजोघन॥
पुष्कर से तुमको मथा अथर्वा ने जब।
घर्षण[1] से उसके प्रकट हुए थे तुम तब॥
फिर हुए विश्व में जितने भी ऋत्विजगण।
आदर से करते रहे तुम्हारा मंथन॥
मंथन करके जो नित्य तुम्हें प्रकटाता।
ऐश्वर्य सभी वह है धरती पर पाता॥ ३२॥

टि०—इस मंत्र में घर्षण द्वारा अग्नि के प्रकट करने के इतिहास के संकेत-सूत्र दिये गये हैं। कहा गया है, अथर्वा ने सबसे पहले अग्नि को पुष्कर से मथकर प्रकट किया। महर्षि दयानन्द ने 'पुष्कर' का अर्थ अंतरिक्ष किया है। जो लोग घर्षण के द्वारा नित्य अग्नि को प्रकट कर यज्ञ करते है उन्हें सब ऐश्वर्य प्राप्त होते है। ३२

तमु॑ त्वा दु॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे अथ॑र्वणः।
वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥

अथर्वणः पुत्रः	अथर्वा के पुत्र
दध्यङ्	दध्यङ् ने
तं उ वृत्रहणं	उस शत्रुनाशक और
पुरन्दरं	शत्रु के किलों को तोड़नेवाले
त्वा	तुमको
ईधे	प्रज्वलित किया ॥ ३३ ॥

१ घिसना या मथना।

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो
दीदिवाँ२ असदत्सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः
शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ३६ ॥

होता	सब देवताओं को बुलानेवाला,
विदानः	सबको जाननेवाला,
त्वेषः	तेजस्वी,
दीदिवान्	गमन करनेवाला,
सुदक्षः	कुशल,
अदब्धव्रतप्रमतिः	अपराजेय, उत्कृष्ट बुद्धिसम्पन्न,
वसिष्ठः	उत्तम निवासी,
सहस्रम्भरः	सहस्रों का पोषण करनेवाला
शुचिजिह्वः	पवित्र जिह्वा-वाला
अग्निः	अग्नि
होतृ सदने	हवन-स्थान में
नि असदत्	भली प्रकार उपविष्ट हुआ है ॥ ३६ ॥

निज यज्ञस्थल में है यह याजक समासीन ।
है दीप्तिमान देवों का आह्वाता अदीन ॥
सर्वज्ञ और तेजस्वी है वह अग्नि-सदृश ।
है अप्रमाद गतिशील कार्य में रत अनिमिष[1] ॥
जिस भाँति अग्नि है क्षिप्र कर्मकारी प्रसिद्ध ।
उत्कृष्ट बुद्धिसंपन्न अनुपहत-व्रती[2] सिद्ध ॥
उत्तम अधिवासी है वसिष्ठ-सा जो महान ।
जो शत-सहस्र लोगों को करता वृत्तिदान[3] ॥
जो चिर पवित्र जो है अव्याहत तेजधाम ।
वह यज्ञकुंड में अग्नि प्रतिष्ठित है प्रकाम ॥
वैसे ही यज्ञस्थल में याजक समासीन ।
हो अग्नि-सदृश देवों का आह्वाता[4] अदीन ॥ ३६ ॥

टि०—यज्ञस्थल में बैठा हुआ यजमान या ऋत्विज् वैसी ही शोभा पा रहा है, जैसी शोभा यज्ञकुण्ड में प्रतिष्ठित अग्नि की है । अग्नि के विशिष्ट गुणों का विवरण इस कंडिका में है । वह सर्वज्ञ है, तेजस्वी है, बिना आलस्य के सर्वत्र गमन करता है, शीघ्रता से एवं कुशलता से सब कार्य करता है, उसके व्रत में कोई बाधा नहीं पड़ सकती ।

---

१ निरंतर, बिना पलक गिराये, २ जिसके व्रतपालन में कोई त्रुटि या क्षति न हो; ३ भरण-पोषण, रोजी की व्यवस्था; ४ बुलानेवाला, आवाहन करनेवाला ।

सीदं होतः स्व उं लोके
चिंकित्वान्त्सादयां यज्ञं सुकृतस्य योनौं।
देवावीर्देवान्हविषां यजास्यग्ने
बृहद्यजंमाने वयों धाः॥ ३५॥

होतः	हे बुलानेवाले	देवावीः	देवों को प्रसन्न करनेवाले तुम
अग्नि	अग्निदेव !	हविषा	हवि द्वारा
चिकित्वान्	सर्वज्ञ तुम	देवान् आ यजसि	देवों को तृप्त करो।
स्वे उ लोके	अपने लोक में	यजमाने	यजमान के लिए
सीद	स्थित होओ।	बृहत् वयः	बड़ी आयु या बहुत अन्न को
सुकृतस्य योनौ	पुण्य को जन्म देनेवाले	धाः	धारण करो ॥३५॥
यज्ञं आ सादय	यज्ञ को सिद्ध करो।		
अग्ने	हे अग्नि !		

हे अग्नि ! बुलानेवाले हो देवों के तुम।
सर्वत्र व्याप्त हे अग्नि ! सर्वज्ञाता हो तुम॥
है लोक तुम्हारा ज्ञानज्योतिमय जो प्रशस्त।
तुम उसमें रहो प्रतिष्ठित ले निज श्री समस्त॥
है सकल श्रेष्ठ कर्मों का साधक यज्ञ सिद्ध।
तुम करो इसे निज महत अर्चियों[1] से समिद्ध[2]॥
हवि देकर देवों को प्रसन्न करते हो तुम।
परितृप्त सदा देवों को करते रहते तुम॥
यजमान को रहो करते आयुष्मान सदा।
यजमान को करो अन्न प्रभूत प्रदान सदा॥ ३५॥

टि०—इस कंडिका में यह कहा गया है कि अग्नि ही देवों का आह्वान करता है। उन्हें प्रसन्नता और तृप्ति प्रदान करता है। अग्नि का लोक ज्ञानमय है। श्रेष्ठ कर्म-प्रधान जीवन-यज्ञ ज्ञान की अग्नि के प्रदीप्त होने पर ही सिद्ध होते है। गीता में भी कहा गया है, ज्ञान की अग्नि सब अशुभ कर्मों को दग्ध कर डालती है— "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" ज्ञान का यह लोक ही अग्नि का अपना निवास-स्थान है। ३५

---

१ ज्वालाओं; २ प्रज्वलित।

अपो देवीरुपं सृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

मधुमतीः	(तुम) माधुर्यपूर्ण	ओषधयः	ओषधियाँ
देवीः	दिव्य	प्रजाभ्यः	प्रजाओं को
अपः	जलों को	अयक्ष्माय	यक्ष्मा आदि रोगों से रहित करने के लिए
उपसृजः	उत्पन्न करो।		
तासां	उन सींचे जलों के		
आस्थानात्	स्थान से	उज्जिहताम्	उत्पन्न हों ॥ ३८ ॥
सुपिप्पलाः	सुन्दर फलों वाली		

मधुमती, रसवती नित आरोग्य-प्रदात्री[1] ।
जलधारा सिरजो अग्नि ! प्रजाजनधात्री, ॥
आरोग्य प्रजाओं का है तुमको अभिमत ।
यक्ष्मा जैसे रोगों से रहें मुक्त नित ॥
सींचो उस जल से पृथ्वी के उर्वर स्थल ।
उत्पन्न करो ओषधियाँ[2] विपुल फूल-फल ॥
यह सोमलता पिप्पल-सी जीवनदात्री ।
उपजाओ ओषधिचय[2] प्राणों की धात्री ॥ ३८ ॥

टि०—अग्नि यज्ञ का हेतु है। 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' यज्ञ से बादल बनते हैं, जिनकी वृष्टि से प्रजाओं का पालन होता है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे ऐसी वर्षा करें ताकि धरती पर सोमलता, पिप्पल जैसी प्राणदायी ओषधियाँ उत्पन्न हों। ये ओषधियाँ यक्ष्मा जैसे रोगों को निर्मूल करें और प्रजाओं के सुख-सौभाग्य का विधान करें। ३८

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

उत्तानायाः	ऊर्ध्वमुख रहनेवाले	देव	हे देव !
ते	तुम्हारा	यः देवानां	जो (तुम) देवों की
यत्	जो	प्राणथेन	प्राणशक्ति के साथ
हृदयं	हृदय	कस्मै	जिसके लिए
विकस्तं	दुखित हुआ है, उसे	चरसि	संचार करते हो।
मातरिश्वा	मातरिश्वा प्राणवायु	तुभ्यम्	(वह) तुम्हारे लिए
सं दधातु	ठीक करे।	वषट् अस्तु	सुखदायक हो ॥३९॥

१ (प्रजा के) स्वास्थ्य प्रदान करनेवाली; २ ओषधिसमूह ।

वह सहस्रंभर है, हजारों लोगों का भरण-पोषण करनेवाला है। वसिष्ठ जैसा श्रेष्ठ नागरिक है। वह सदा पवित्र है और उसमें अदम्य तेज है। मनुष्यों का यज्ञ-कर्म तभी सार्थक माना जा सकता है, जब उनके द्वारा अग्नि के उपरिवर्णित गुणों का ग्रहण और धारण किया जाए। ३६

सꣳसीदस्व महाँ२ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥ ३७

मियेध्य प्रशस्त	यज्ञ के उपयोगी और प्रशंसित	सं सीदस्व	यहाँ अच्छी प्रकार बैठो।
अग्ने	हे अग्नि! (तुम)	शोचस्व	प्रदीप्त होओ।
देववीतमः	देवों में अत्यंत प्रिय	दर्शतम्	दर्शनीय
महान्	महान	अरुषं	तेजस्वी
असि	हो।	धूमं विसृज	धुएँ को छोड़ो॥ ३७॥

हे अग्नि! यज्ञ के हित उपयोगी हो तुम।
अपने गुण-कर्मों से प्रशस्ततम[1] हो तुम॥
देवों को तुम-सा और नहीं प्रिय कोई।
है तृप्ति-प्रदाता तुम-सा और न कोई॥
तुम हो महान, आओ आसन है प्रसृत[2]।
हो समासीन, ज्वालायें करो समेधित[3]॥
आहुतियाँ अर्पित हैं उनको स्वीकारो।
सब ओर परम तेजस्वी धूम पसारो॥
विद्वज्जन हैं जो—तुमसे गुणगणमंडित।
शासन करने के योग्य वही हों स्वीकृत॥ ३७॥

टि०—यज्ञों में अग्नि सबसे अधिक उपयोगी है। उससे अधिक प्रशंसनीय और कोई नहीं। अपने दिव्य गुणों और कर्मों के कारण वह प्रशस्ततम है। अग्नि देवों को सबसे अधिक प्रिय है। कारण, वही यज्ञ में अर्पित की हुई आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाता है। इसमें अग्नि से प्रार्थना की गई है, इस यज्ञस्थल में पधारो। यह आसन तुम्हारे लिए बिछा है। इसपर विराजो। हमारी आहुतियाँ स्वीकार कर उन्हें देवताओं तक पहुँचाओ। तेजस्वी धूम से आकाशमण्डल भर जाए। हमारी प्रार्थना है, तुम जैसे परम तेजस्वी विद्वान ही हमपर शासन करें। हीनवीर्य, तेजहीन, अविद्वान शासक-पद पर प्रतिष्ठित न हों। ३७

---

१ सबसे प्रशसनीय; २ बिछा हुआ, फैला हुआ; ३ प्रज्वलित।

हे विभावसो[1] ! सब ज्ञान तुम्हारा है धन।
निज ज्ञान-ज्योति से पूरित कर दो जीवन ॥ ४० ॥

टि०—अग्नि का प्राकट्य यज्ञ-भवन में हो, इस कंडिका में यह प्रार्थना की गई है। संसार में जितने रूप हैं, वे सब अग्नि के वस्त्र हैं। तात्पर्य यह कि अग्नि सर्वव्यापक है। विभा अर्थात् प्रकाश ही उसका वसु अर्थात् धन है। इसीलिए वह विभावसु कहा गया है। अग्नि अपने ज्ञान रूपी धन प्रत्येक जन के जीवन को संपन्न बनावे, यह प्रार्थना यहाँ की गई है। ४०

उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः ॥४१॥

स्वध्वर अग्ने	हिंसारहित कर्म करनेवाले हे अग्निदेव !	च	और
उत्तिष्ठ	उठो।	सुशुक्वनिः	श्रेष्ठ किरणों के फैलानेवाले
देव्या धिया	दिव्यगुणों और दिव्य स्वभाव-वाली बुद्धि से	बृहता	बड़े
		भासा	तेज से
		दृशे	सबको देखने के लिए
		सुशस्तिभिः	प्रशंसित गुणों से
नः	हमारा	आ याहि	आओ ॥ ४१ ॥
उ आ अव	सब प्रकार से पालन करो		

हे अग्नि ! यज्ञ करते हो तुम हिंसावर्जित।
हे देव ! न तुम-सा स्वध्वर[2] कोई अन्य विदित ॥
तुम उठो और हम सबका पालन करो सतत।
निज दिव्य बुद्धि से हम सबको पालो अविरत ॥
हे शोभन यशमंडित[3] अग्ने ! आओ, आओ।
तुम बृहती[4] भासा[5] दर्शनीय[6] निज फैलाओ ॥
निज श्रेष्ठ तेज से करो प्रकाशित यज्ञ-भवन।
तेजोमंडित जीवन ही है सच्चा जीवन ॥ ४१ ॥

टि०—इस कंडिका में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वैदिक यज्ञ हिंसा-रहित होते हैं। हिंसा-रहित यज्ञों के प्रवर्तक होने के कारण अग्नि को स्वध्वर कहा गया है। मनुष्य को यह उपदेश दिया गया है कि वह निरंतर अग्नि की तरह

१ विभा अर्थात् प्रकाश ही जिसका धन है, वह अग्नि; २ हिंसारहित यज्ञ करनेवाला; ३ सुन्दर कीर्तिवाले; ४ महान; ५ प्रकाश; ६ देखने योग्य।

हे पृथिवि ! तुम्हारा हृदय ऊर्ध्वमुख[1] है स्थित।
है खनन-कर्म से वह अविरत क्षत[2]-पीड़ित[3] ॥
यह वायु मातरिश्वा वह क्षत भरता है
उसको सम करता, पीड़ा सब हरता है॥
संतप्त हृदय को व्यथा दूर करता यह।
है प्राणिमात्र के रोग-हरण करता वह॥
देवों की सञ्चित प्राणशक्ति ले संतत।
विचरण करता यह वायु धरा पर अविरत॥
कल्याण मातरिश्वन् ! हो सदा तुम्हारा।
धरती पर सदा बहाओ सुख की धारा॥ ३९॥

टि०—हे पृथ्वी ! लोग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए तुम्हें खोदते हैं, जिससे तुम्हारे शरीर पर घाव हो जाते है। मातरिश्वा सर्वत्र संचरण करता हुआ उन घावों को भर देता है। वायु में सब प्राणियों के रोग दूर करने की शक्ति है। हे वायुदेवता ! तुम सम्पूर्ण देवों की प्राणशक्ति के साथ संचार करते हो। तुम सबका कल्याण करते हो, पृथ्वी तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी हो। ३९

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमाऽसदत्स्वः।
वासो अग्ने विश्वरूपꣳ सं व्ययस्व विभावसो ॥४०॥

अग्ने	हे अग्नि !	विभावसो	विशेष कान्ति से युक्त हे अग्नि !
ज्योतिषा सह	तेज के साथ	विश्वरूपं वासः	विश्वरूप वस्त्र धारण करके
सुजातः	उत्तम प्रकार से उत्पन्न होकर	सं व्ययस्व	विश्वव्यापक बनो ॥ ४० ॥
वरूथं स्वः	अपने यज्ञस्थान को		
शर्म आसदत्	आराम से प्राप्त करो।		

हो तेजसहित उत्तम प्राकट्य[4] तुम्हारा।
इस यज्ञ-भवन में बहे श्रेष्ठ सुख-धारा॥
यह यज्ञस्थल हो तुमसे सम्यक् शोभित।
तुम विश्वरूप शुचि वस्त्र करो धारण नित॥
सर्वव्यापक बनकर तुम शोभा पाओ।
हे अग्नि ! विशेष छटा अपनी छिटकाओ॥

---

१ ऊपर की ओर; २ घाव; ३ संतप्त; ४ प्रकट होना, आविर्भाव।

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने
चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परि तमांᳬस्यक्तून्प्र
मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः ॥ ४३ ॥

अग्ने	हे अग्ने !	जातः	उत्पन्न
सः	वह तुम	गर्भः असि	गर्भ-रूप हो ।
चारुः (असि)	सुन्दर हो ।	तमांसि	(रात्रियों के) अन्धकार को
ओषधीषु	ओषधियों में		
विभृतः	उनको पुष्ट करने के लिए रहनेवाले,	परि अक्तून्	दूर करते हुए
		मातृभ्यः	माता के समान
चित्रः	विचित्र रंगों-वाले	अधि कनिक्रदत्	वनस्पतियों के पास से शब्द करते हुए
शिशुः	शिशु अतः प्रशंसनीय		
रोदस्योः	अन्तरिक्ष और पृथ्वी के मध्य में	प्रगाः	शीघ्रता से चलो ॥ ४३ ॥

हे अग्नि ! परम सुन्दर हो तुम ।
ओषधियों के पोषण के हित
उनमें निवास करते हो तुम ॥
नानावर्णा[1] ज्वालाओं से
लगते हो सदा विचित्र परम ।
द्यावापृथिवी के गर्भरूप
तुम शंसनीय[2] चिरकाल चरम ॥
यह नैश[3] तिमिर[4] दारण[5] करते
माता-से स्नेह-स्रवित[6] प्रतिक्षण ।
इन ओषधियों के परम निकट
आओ हम करते आवाहन ॥
शीघ्रता-सहित आओ आओ ।
हे अग्नि ! करो सार्थक जीवन ॥ ४३ ॥

---

१ अनेक रंगों-वाली; २ प्रशंसनीय; ३ रात का; ४ अँधेरा; ५ नष्ट; ६ स्नेह के कारण झरते हुए आंसुओं के रूप में अथवा पयोधरों से दूध की धारा के रूप में ।

गतिशील और उद्यमशील रहे। अपनी शुद्ध बुद्धि से सबकी रक्षा करता रहे, किसी को कष्ट न दें। मनुष्य को तेजस्वी बनकर जीना चाहिए तेजहीन जीवन निंद्य है। एक क्षण का तेजस्वी जीवन सैकड़ों वर्षों के दीन जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर है। ४१

ऊर्ध्व ऊ षु णं ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥ ४२॥

नः	(तुम) हमारी	**सविता**	सूर्यदेव हो,
ऊतये	रक्षा के लिए	**यत्**	अतः
सवितादेवः	सबके उत्पादक सूर्यदेव	**अञ्जिभिः**	सबको प्रकट करने वाली
न ऊर्ध्वः	हमारे ऊपर	**वाघद्भिः**	हवि को वहन करने वाली किरणों से युक्त (तुमसे)
ऊ षु तिष्ठ	विराजमान हो जाओ।	**विह्वयामहे**	हम प्रार्थना करते है॥ ४२॥
ऊर्ध्वः	(तुम) उच्च हो।		
वाजस्य	अन्न के देनेवाले		

तुम हो विराजते सविता-से सबके ऊपर।
रक्षा करते हम सबकी अग्निदेव! भास्वर॥
उच्चातिउच्च हो और अन्नदाता महान।
रक्षक बन सबके रहो निरंतर भासमान॥
जग होता सदा तुम्हारी किरणों से व्यंजित।
हवि वहन किया करती है ये ही किरणें नित॥
आह्वान तुम्हारा करते हैं हे अग्ने! हम।
संस्तवन[1] सदा अर्पित करते हैं तुमको हम॥ ४२॥

टि०—अग्नि से प्रार्थना की गई है कि तुम सबके उत्पादक सविता देवता की तरह सबके ऊपर विराजमान होकर सदा हमारी रक्षा करते रहो। अग्नि सबसे ऊँचा और सबसे बड़ा है सबका अन्नदाता है और सबका रक्षक है। अग्नि की किरणें जगत् के सब पदार्थों को प्रकाशित करती है। ये किरणें अर्थात् अग्नि की ज्वालायें ही हवि देवताओं तक पहुँचाती हैं। ऐसे अग्नि का हम आह्वान करें और उनसे प्रार्थना करें। स्पष्ट है कि यह अग्नि यज्ञ के उपयोग में आनेवाला मात्र भौतिक अग्नि नहीं है। वस्तुतः यह अग्नि परमात्मावाची है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह वेद की व्यवस्था है। ४२

---

१ प्रार्थना।

वह निरंतर सत्कर्म करे और उसका व्यवहार एवं आचरण सुन्दर हो। मनुष्य को इतना विकास करना चाहिए कि वह सबके पालन-पोषण में समर्थ हो। सर्वव्यापक अग्नि जो परमात्मा है, उसको हम अपने हृदय में आसन प्रदान करें। हमारी संतानें ईश्वरभक्त हों और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती हुई बल, विद्या और बुद्धि की वृद्धि करें। ४४

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्माऽन्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥४५॥

अङ्गिरः	हे अग्निरूप, अग्नि के प्रिय !
त्वं मानुषीभ्यः	तुम मानवों के लिए,
प्रजाभ्यः	प्रजाओं के लिए
शिवः	कल्याणकारी
भव	बनो।
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी के लिए
मा अभि शोचीः	संतापकारी मत बनो।
अन्तरिक्षम् मा	न अन्तरिक्ष को,
वनस्पतीन् मा	न वनस्पतियों को सन्तापकरी बनो ॥ ४५ ॥

हे अग्निरूप अंगिरा ! अग्नि के प्रिय हो तुम।
मानवी प्रजा के लिए सदा शिवकर[1] हो तुम ॥
द्यावापृथिवी को करो कभी मत संतापित।
तुम अंतरिक्ष को करो कभी मत शोकग्रसित ॥
यह जगत् वनस्पति का तुमसे हो शोकरहित।
व्यवहार करो सबके हित तुम मंगलमय नित ॥
प्राणों से भी प्रिय हो तुम हे मानव-संतति।
सबकी रक्षा के हेतु रहो तुम तत्पर[2] नित ॥ ४५ ॥

टि०—हे अग्नि ! तुम मानवी प्रजा के लिए कल्याणकारी बनो। तुम्हारे द्वारा द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष और वनस्पति-जगत् में से किसी को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए। तुम्हारा व्यवहार सबके लिए कल्याणकारी हो मानवसंतति तुमको भी प्रिय हो और उसमें भी सेवा और रक्षा की भावना उत्पन्न हो। इस प्रकार, हे अग्नि ! तुम मानवी प्रजा के उपकारक बनकर रहो। वह भी तुम्हारे साथ सदा सहयोग करे। ४५

---

१ कल्याण करनेवाले; २ तैयार।

टि०—अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है कि वह परम सुन्दर है। वही ओषधियों का पोषण करने के लिए उसमें निवास करता है। अनेक रंगों-वाली किरणों अथवा ज्वालाओं के कारण तुम बड़े रंग-बिरंगे दिखायी देते हो। तुम रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवी के गर्भ-रूप हो। तुम रात के अन्धकार को दूर करते हुए माता के समान वात्सल्य भाव से भरे हुए शब्दों का उच्चारण करते हुए वनस्पतियों के पास आओ। हम तुम्हारा आवाहन करते हैं। यहाँ शीघ्र आओ और हमारे जीवन को यज्ञमय बना दो। ४३

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

अर्वन्	हे गमनकुशल घोड़े!	पुरीषवाहनः	सबको ले चलनेवाले
स्थिरः	स्थिर होओ,	त्वं	तुम
वीड्वङ्गः	दृढ़ अंगों वाले	पृथुः अग्नेः	बड़े अग्नि के लिए
भव	होओ।	सुखदः भव	सुख देनेवाले
आशुः	वेगवान		होओ ॥ ४४ ॥
वाजी भव	बलवान् होओ।		

हे हे अर्वन्! विज्ञानयुक्त मेरी संतति।
हे गमनकुशल![1] स्थिर करो यहाँ तुम अपनी गति॥
बलवान बनो, दृढ़-अंग बनो।
तुम अश्व-सदृश अति चपल बनो॥
सुन्दर व्यवहारों में सुस्थित।
शुभ कर्म करो संपादन नित॥
तुम सबके बनो वहनकर्ता।
पालनकर्ता रक्षणकर्ता॥
विस्तीर्ण अग्नि के हेतु सतत।
तुम बनो सुखद आसन नव नित॥
कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन।
बल, विद्या, बुद्धि करो वर्धन[2] ॥ ४४ ॥

टि०—'अर्वन्' शब्द के कई अर्थ हैं। महर्षि दयानन्द इसका अर्थ विद्वत्तायुक्त पुत्र करते हैं। महीधर आदि ने इसका अर्थ गमनशील रासभ किया है। सातवलेकर जी ने इसका अर्थ गमनकुशल घोड़ा किया है। 'विज्ञानयुक्त संतति' का अर्थ प्रगतिशील ज्ञानवान संतान को अपने शरीर को बलवान बनाना चाहिए। शरीर का प्रत्येक अंग पुष्ट हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। संतति होने की सफलता इस बात में है कि

१ चलने में दक्ष;　२ बढाओ।

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः[1] ।
ओषधयः प्रति मोदध्वमग्निमेतꣳ
शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः[2] ।
व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा
निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि[3] ॥ ४७ ॥

ऋतम्	ऋजु,	अभि आयन्तम् अग्नि	आनेवाले अग्नि को
सत्यं	सत्य,	प्रति मोदध्वं	सम्मुख रखकर आनन्दित हो जाओ
ऋतम्	सीधे,	निषीदन्	(हे अग्नि !) तुम यहाँ रहकर
सत्यम्	अविनाशी	नः विश्वाः	हमारी सब
पुरीष्यम् अग्नि	शरीरस्थ अग्नि को	अनिराः	पीड़ाओं और
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह	अमीवाः	व्याधियों को
भरामः	हम परिपुष्ट करते हैं।	व्यस्यन्	नष्ट करो।
ओषधयः	सम्पूर्ण वनस्पतियो !	दुर्मतिं	दुर्बुद्धि को
एतं शिवं	इस कल्याणकारक	अप जहि	नष्ट कर दो ॥४७॥
अत्र	(और) इस स्थान में		
युष्माः	तुम्हारे		

है सरल, सत्य, सीधा, अविनाशी अग्नि ज्वलित ।
अंगिरा-सदृश परिपुष्ट करें हम इसको नित ॥
ऋतरूप[1] अग्नि है यह सर्वत्र विराजमान ।
अंगिरा-सदृश स्वागत कर दें हम हविर्दान ॥
हे ओषधियो ! है अग्नि तुम्हारे निकट प्रकट ।
यह मंगलकर है, व्यक्त करो आनंदोत्कट[2] ॥
ये अग्निदेव होंगे प्रदीप्त तुमको पाकर ।
पाकर हवि वे लेंगे सब रोग-व्याधियाँ हर ॥
इस यज्ञकुंड में रहो निरंतर तुम शोभित ।
हम सबकी रोग-व्याधियाँ हर लो पीड़ाकृत[3] ॥ ४७ ॥

---

१ संसार की धारक-शक्ति है; अंग्रेजी में इसे ही RIGHT कहा गया है; यह शब्द व्यापक प्रयोग के कारण अपना मूल अर्थ खो बैठा है; २ उत्कट आनन्द अर्थात् परम प्रसन्नता, ३ पीड़ा देनेवाली ।

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा ।
भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा ।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्[2] ।
अग्न आ याहि वीतये[3] ॥ ४६ ॥

वाजी	वेगवान अश्व
कनिक्रदत्	शब्द करता हुआ
प्रैतु	आगे बढ़े।
पत्वा	दौड़ता हुआ
रासभः	गर्दभ
नानदत्	शब्द करता हुआ आगे बढ़े।
पुरीष्यं अग्नि	शरीरस्थ अग्नि को
भरन्	परिपुष्ट करता हुआ,
आयुषः पुरः	पूर्ण आयु प्राप्त करने के पहले
मा पादि	(कोई) न मरे।
वृषा	अति बलवान
वृषणं अपां	सामर्थ्यशाली जलों के
गर्भं	गर्भ में,
समुद्रियं अग्नि	समुद्र में रहनेवाले अग्नि को
भरन्	धारण करके वह आगमन करे।
अग्ने	हे अग्नि !
वीतये आ याहि	हवि-भक्षण के लिए पधारो ॥ ४६ ॥

हेषारव करता अश्व बढ़े यह आगे।
रव करता रासभ चले दौड़ता आगे॥
देहस्थ अग्नि परिपुष्ट रहे यह संतत।
पूर्णायु प्राप्ति के पूर्व न हो कोई मृत॥
जल के अधिवासी अग्नि! पधारो आओ।
सागर में संस्थित वाड़वाग्नि! तुम आओ॥
विद्युत्-स्वरूप तुम हो मेघों में संस्थित।
आओ, करता हूँ तुमको हवि यह अर्पित॥
स्वीकार करो हवियाँ हे देव! हमारी।
बलवान! बलों से भर दो धरती सारी॥ ४६ ॥

टि०—विशेष यज्ञों में अश्व अग्नि वहन करता है और रासभ मिट्टी। यह संदर्भ भी इस कंडिका में है। यह प्रार्थना की गई है, शरीर में स्थित अग्नि सदा परिपुष्ट रहे जिससे किसी की अकाल मृत्यु न हो। अग्नि के तीन प्रमुख निवास-स्थान हैं—(१) जल; (२) सागर में वड़वाग्नि; (३) मेघों में बिजली। ऐसा यह अग्नि हमारे यज्ञ में पधारकर आहुतियाँ स्वीकार करे और पृथ्वी को ऊर्जा से भर दे। ४६

पृथुना	सब प्रकार से	सुशर्मणः	अच्छे सुख से युक्त
पाजसा	शक्तिमान	बृहतः	महान
शोशुचानः	हे अग्निदेव !	सुहवस्य	सुन्दर हवन-कार्य में बुलाने योग्य
द्विषः	शत्रुओं को,	अग्नेः	अग्नि को
रक्षसः	राक्षसों को,	प्रणीतौ	प्रसन्न करने के
अमीवाः	समस्त व्याधियों को	शर्मणि स्याम्	कार्य में नियुक्त होऊँ ।। ४९ ।।
वि बाधस्व	नष्ट कर दो।		
अहं	मैं		

हे अग्नि ! महत् बल से प्रदीप्त हे देव ! परम।
प्रज्वलित निरंतर रहो, करो कल्याण चरम ।।
बाहर-भीतर के शत्रु सकल तुम करो ध्वस्त।
राक्षसगण हों सब नष्ट, व्याधियाँ हों निरस्त ।।
मैं रहूँ सदा सानन्द यज्ञस्थल के समीप।
होते हों हवन महान जहाँ जो पुण्य-द्वीप ।।
जिन ग्रामों, नगरों में होते ये हवन-कर्म।
वे रोगमुक्त होते, बढ़ते नित शर्म-धर्म ।।
आवास मिले ऐसे ही ग्राम-नगर में नित।
जो यज्ञकर्म से बने हुए हैं रोग-रहित ।। ४९ ।।

टि०—अग्नि से प्रार्थना की गई है— वह सदा यज्ञकुंड में प्रदीप्त रहे। यज्ञकुंड में प्रदीप्त अग्नि सब रोगों को नष्ट करता है। शत्रु और राक्षस भी उसके द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। मेरी इच्छा है, मैं ऐसे ग्राम या नगर में रहूँ, जहाँ बड़े-बड़े हवन-कर्म सम्पन्न होते हैं। ये हवन-कर्म सब रोगों और व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। ४९

आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन।
म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ।। ५० ।।

आपः	हे जलो !	रणाय	विशाल बल के
मयोभुवः स्थ	तुम सुख के उत्पादक हो	चक्षसे	दर्शन के लिए हो,
ताः	तुम	हि ऊर्जे	बल से युक्त
नः	हमारे लिए	आदधातन	होने का अनुभव करो ।। ५० ।।
महे	बड़े		

टि०—यज्ञकुंड में यह ऋत-सत्य-रूप अविनाशी अग्नि प्रज्वलित है। हमारा कर्त्तव्य है, हम अंगिरा के समान इसे परिपुष्ट करते रहें। यह अग्नि ऋतस्वरूप है, यह सर्वत्र विद्यमान है। अंगिरा ने जिस प्रकार हवि देकर इसका स्वागत किया था, उसी प्रकार हम भी करें। पुनश्च, वनस्पतियों को संबोधित करते हुए बड़ी कवित्वपूर्ण शैली में यह कहा गया है कि देखो यह अग्नि तुम्हारे समीप आया है। तुम हवि-रूप में इसके प्रति अर्पित होकर संसार की सब पीड़ाकारक व्याधियाँ दूर कर दो। इस यज्ञस्थल में तुम सदा विराजमान रहो। हम तुमको उत्तम से उत्तम ओषधियों की आहुति अर्पित करेंगे। इस प्रकार तुम हमारे सब पीड़ाकारक रोग दूर कर दोगे। ४७

ओषधयः प्रति गृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमाऽसदत् ४८

ओषधयः	हे ओषधियो !	**गर्भः**	गर्भ
पुष्पवतीः	फूलोंवाली,	**ऋत्वियः**	ऋतुकाल के अनुसार
सुपिप्पलाः	फलवाली होकर		होता है,।
प्रति गृभ्णीत	इस अग्नि को	**अयं प्रत्नं**	यह अग्नि यहाँ
	स्वीकार करो,।	**सधस्थं**	पुरातन काल से
वः	तुम्हारा	**आसदत्**	रह रहा है ।।४८।।

हे ओषधियो! तुम पुष्पवती हो रम्य परम।
सुस्वादु फलों के भार झुकी हो तुम निरुपम ।।
स्वीकार करो यह अग्नि तुम्हारे निकट प्राप्त।
आहुति दो अपनी, होंगे जग के रोग शान्त ।।
प्राचीन काल से ग्राम-नगर में निरपवाद।
ये यज्ञकुंड हरते जन-जीवन का विषाद ।।
पा ऋतु-अनुकूल पक्व ओषधियों की हवि नित।
यह अग्नि बनाता आया सबको रोग-रहित ।। ४८ ।।

टि०—वनस्पति की शोभा फूलों और फलों से होती है। श्रेष्ठ वनस्पतियों की आहुति प्राप्त कर अग्नि संसार को रोगहीन बनाता है। प्राचीनकाल से ही ग्रामों और नगरों में यज्ञशालाएँ थीं, जिनमें ऋतु के अनुकूल परिपक्व ओषधियों की आहुति दी जाती थी। इस प्रकार अग्नि रोग-बीज नष्ट कर देता था। ४८

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ ।। ४९ ।।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः[1] ॥ ५२ ॥

आपः	हे जलो ! (हम)	**क्षयाय**	निवास करनेवालों को
वः	तुम्हारे	**जिन्वथ**	तुम तृप्त करते हो।
तस्मै	उस रस को	**च**	और
अरं	शीघ्र	**नः**	हमको
गमाम	प्राप्त हों।	**आ जनयथ**	उत्पन्न करते हो ॥ ५२ ॥
यस्य	जिस (रस) के द्वारा		

हे जलो ! मिले अविलंब तुम्हारा रस वह।
जिससे रखते हो तृप्त सभी को अहरह[1] ॥
जिसके निवास हित आविर्भूत हुए तुम।
उसको समग्रतः[2] परितः[3] प्राप्त करें हम ॥
आब्रह्मस्तम्ब[4] सृष्टि के तृप्तिप्रदाता।
हो विदित तुम्हीं हम सबके जीवनदाता ॥
तुमसे ही प्रजनन-कार्य[5] सिद्ध सब होते।
उत्तम लाभों के बीज सभी तुम बोते ॥ ५२ ॥

टि०—ऊपर की कंडिकाओं में जल के जिस रस की चर्चा हुई, वह शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने की आकांक्षा इस कंडिका में व्यक्त की गई है। यह जल सृष्टि का आधार है। ब्रह्मा से लेकर घास तक सब इससे तृप्त होते हैं। यही जल सबको प्रजा के उत्पादन की शक्ति प्रदान करता है। जल न हो तो प्रजनन का कार्य नहीं होगा। ५२

मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳ
सृजामि प्रजाभ्यः[1] ॥ ५३ ॥

मित्रः	मित्र देवता	**संसृज्य**	संयुक्त करता है।
पृथिवीं	पृथ्वी को	**सुजातं**	सुन्दर जन्मवाले,
च भूमिम्	और भूमि को	**जातवेदसं त्वा**	सबको जाननेवाले तुम अग्नि को
ज्योतिषा सह	अपने प्रकाश से		

---

१ प्रतिदिन; २ पूर्णरूप से; ३ सब ओर से; ४ ब्रह्मा से लगाकर घास तक; ५ उत्पादन-कार्य।

हे जलो! सकल सुख सदा तुम्हारे हैं अधीन।
तुम सुख के उत्पादक, बलवर्द्धक, सदा पीन[1] ॥
तुम हो विशाल बल से मंडित नित अप्रमेय[2]।
हम करें तुम्हारे बल का अनुभव चिर अजेय॥
उपयोग तुम्हारा करें सदा हम यथाकाल[3]।
हों रोगरहित बलवान शर्म-सर के मराल[4] ॥ ५० ॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि जल के सम्यक् प्रयोग और उपयोग से बल और बुद्धि की वृद्धि होती है, शरीर रोग-रहित होता है। जल सब सुखों का देनेवाला और बलवर्द्धक है। ५०

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ ५१ ॥

वः	(हे जलो!) तुम्हारा	भाजयत	आस्वाद लेनेवाले बना दो,
यः	जो	इव	जैसे
शिवतमः	परम कल्याणकारी	उशतीः	पुत्रवत्सला
रसः	रस	मातरः	माताएँ अपने पुत्र से प्रेम करती हैं ॥ ५१ ॥
इह	यहाँ है,		
नः	हमको		
तस्य	उसका		

हे जलो! तुम्हारा यहाँ प्राप्य जो शिवतम[5] रस।
कर सकें सदा हम आस्वादन उसका निरलस॥
जल का यह रस है सबका संतत हितकारी।
है इसका सदुपयोग सब रोग-व्याधिहारी॥
माताएँ पुत्रों के हित होतीं ज्यों सुखकर।
वैसे हो यह जल हो हम सबका मंगलकर ॥ ५१ ॥

टि०—जलों से यह प्रार्थना की गई है कि तुम्हारा जो परम कल्याणमय रस है, उसका हम आलस्यहीन होकर आस्वादन करने के योग्य बनें। जलों का यह रस अत्यन्त लाभदायक है, उसका योग्य रीति से सदुपयोग किया जाना चाहिए। माताएँ जिस प्रकार पुत्र का हित करती हैं, जल भी मानव मात्र के लिए वैसा ही हितकारी है। ५१

---

१ दृढ़, मजबूत; २ जिसकी नापजोख सम्भव नहीं; ३ ठीक समय पर; ४ आनन्दरूपी सरोवर के हंस; ५ सबसे अधिक कल्याणकारी।

टि०—रुद्र देवताओं ने सबसे पहले पृथ्वी का निर्माण किया, फिर उस पृथ्वी पर परम प्रकाशमान अग्नि को उत्पन्न किया। वह प्रकाश निरंतर विस्तीर्ण हो रहा है, देवताओं को भी मार्ग दिखाता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु उसी से देखी जाती है। ५४

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥५५॥

सिनीवाली	चन्द्र-कलायुक्त अमावस्या	हस्ताभ्यां	हाथों से
धीरैः वसुभिः	धैर्ययुक्त वसुओं और	मृद्वीं कृत्वा	मुलायम करके
रुद्रैः	रुद्रगणों द्वारा	तां	उसको
संसृष्टां मृदं	उत्पन्न हुई मिट्टी को	कर्मण्यां	कर्म के योग्य
		कृणोतु	करे ॥ ५५ ॥

चन्द्रकलायुत[1] अमाभिमानी[2] देवता।
वसुओं, रुद्रों द्वारा मृद्[3] यह निर्मिता॥
स्वीय[4] करों से तुम इसको कोमल करो।
फिर उससे बहुविध पदार्थ निर्मित करो॥
रुद्रों, वसुओं ने सिरजी जो मृत्तिका।
हुआ उसी में उन्मीलन[5] चिद्वृत्ति[6] का॥
रचो अमा चान्द्री[7]! अब विविध पदार्थ तुम।
चलता रहे सृष्टि का यह चित्प्रेरित क्रम[8] ॥ ५५ ॥

टि०—चन्द्रकलायुक्त अमावस्या के अभिमानी देवता को यह मंत्र समर्पित है। सामान्यतः अमावस्या में चन्द्रमा का नितान्त अभाव रहता है। किंतु यह अमा चन्द्रयुक्ता है। इसी चन्द्रयुक्ता अमा के लिए श्री अरविन्द ने लिखा है:— "यह भागवत सिसृक्षा है, जो सृष्टि के पूर्व के अंधकार में उदित होती है और जो वसुओं एवं रुद्रों के द्वारा निर्मित पंचतत्त्वात्मक मृत्तिका में चिति का उन्मीलन करती हुई अनेक रूपाकारों का सर्जन करती है।" ५५

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः[1] ॥५६॥

---

१ चन्द्रमा की कला से युक्त; २ अमावस्या के अधिष्ठाता देवता; ३ मिट्टी; ४ अपने; ५ जागति, खुलना; ६ चिद्वृत्ति के उन्मीलन का अर्थ है जड़ता मे चेतना का संचार; ७ चन्द्रमायुक्त अमावस्या; ८ चेतना का विकास-क्रम।

प्रजाभ्यः	प्रजाओं को	संसृजामि	मै भली भाँति उत्पन्न करता हूँ ॥५३॥
अयक्ष्माय	रोग-रहित करने के लिए		

आदित्य देव ये मित्र नाम से वंदित।
करते स्वज्योति से द्यावापृथिवी योजित॥
देते प्रकाश जगदीश मित्र के द्वारा।
तोड़ते गहनतम[1] अध तिमिर की कारा[2]॥
हम उसी भाँति धरती पर अग्नि जलाते।
सब प्रजाजनों को रोगविहीन बनाते॥ ५३॥

टि०—परमेश्वर आदित्य अथवा मित्र नामक देवता के माध्यम से सृष्टि को प्रकाश देते हैं। अपनी ज्योति से वे धरती और अंतरिक्ष को प्रकाशमान कर देते हैं। वे ही अंधकार के बंधन तोड़ देते हैं। उसी तरह मनुष्य इस धरती पर अग्नि जलाता है और यज्ञकर्म संपादित करता हुआ संसार को रोगव्याधिमुक्त कर देता है। ५३

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते॥ ५४॥

रुद्राः	रुद्रों ने	भानुः	प्रदीप्त ज्योति
पृथिवीं	पृथ्वी को	देवेषु	देवताओं के मध्य में
सं सृज्य	उत्पन्न करके	अजस्रः	निरंतर
बृहज्ज्योतिः	महान दीप्तिमान अग्नि को	इत्	भली प्रकार
समीधिरे	प्रदीप्त किया।	रोचते	प्रकाशित होती है॥ ५४॥
तेषां शुक्रः	उन रुद्रों की शुद्ध		

रुद्रों ने पहले किया धरा का उत्पादन[3]।
फिर बृहज्ज्योति अग्नि का किया प्रज्वालन॥
रुद्रों के द्वारा प्रकट प्रदीप्त ज्योति वह।
देवों में है प्रकाश फैलाती अहरह॥
है वही निरंतर धरती पर उद्भासित।
उससे ही होता निखिल विश्व यह दर्शित॥
है वह प्रकाश ही देवों का पथदर्शक।
विस्तीर्ण हो रहा है वह प्रतिक्षण सम्यक्[4]॥ ५४॥

१ अत्यन्त दुर्गम; २ जेलखाना; ३ रचना; ४ अच्छी तरह।

अदितिः	अदीन स्त्री	आ बिभर्तु	अच्छी तरह धारण करे,
शक्त्या	अपनी शक्ति,	यथा माता	जिस प्रकार माता
धिया	अपनी बुद्धि से	उपस्थे	गोद में
बाहुभ्यां	दोनों बाँहों से	पुत्रं	पुत्र को धारण करती है।
उखां	पाक-पात्र को	मखस्य	वह यज्ञ के
कृणोतु	धारण करे।	शिरः असि	उत्तमांग के समान है ॥ ५७ ॥
सा	वह		
गर्भे	अपने मध्य में		
अग्निं	अग्नि को		

बुद्धि से, शक्ति से, दोनों निज हाथों से,
ये अदिति उखा[1] को करें सुदृढ़ हो धारण।
फिर अन्न पकावें उसमें मंगलकारी,
जिसके द्वारा हो जग का सम्यक् पोषण॥
जैसे पालती गर्भ में शिशु को माता,
उस भाँति अग्नि को अदिति गर्भ में धारे।
चिति की यह अग्नि निरंतर ऊर्जित होकर,
सब देवसृष्टि का मंगल-योग सँवारे॥
जननियो! अदिति-सी देवप्रसू[2] बनो तुम,
तेजस्वी संतति अग्नि-सदृश उपजाओ।
बल, बुद्धि, पराक्रम उनका रहे विवर्धित,
तुम वीरप्रसू[3] बन जग में जय-यश पाओ॥ ५७ ॥

टि०—उखा अर्थात् पाकपात्र के विषय में पहले लिखा जा चुका है। अदिति इस पाकपात्र को दोनों हाथों से ग्रहण करे। फिर अपनी बुद्धि और शक्ति से उसमें ऐसे खाद्यों का उत्पादन करे जो संसार के लिए पोषक हो। जैसे माता अपने गर्भ में शिशु को पालती है, वैसे ही यह अदिति चिति की अग्नि को अपने गर्भ में पालती है, जिससे देवसृष्टि होती है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इस कण्डिका में यह अनुरोध किया गया है कि उत्तम जन अपनी पाणिगृहीता पत्नियों के द्वारा अग्नि के समान तेजस्वी सन्तान उत्पन्न करें। इससे इन माताओं को वीरप्रसू और देवप्रसू होने का यश प्राप्त करावें। अन्तिम भाग में गृहस्थ माताओं से अनुरोध किया गया है। ५७

---

१ भोजन पकाने का बर्तन; २ देवताओं जैसे पवित्र चरित्रवाले पुत्रों की माता; ३ वीरों की माता।

अदिते	हे दीनता-रहित देवमाता !	स्वौपशा	उत्तम सुन्दर अवयवों-वाली स्त्री
महि	हे महान शक्ति !	सिनीवाली	चन्द्रकलायुक्त अमावास्या
सा सुकपर्दा	वह उत्तम सुन्दर केश-वाली स्त्री,	तुभ्यं	तुम्हारे लिए
सुकुरीरा	उत्तम आभूषण धारण करनेवाली स्त्री,	हस्तयोः	अपने दोनों हाथों में
		उखां दधातु	पकाने का पात्र धारण करे ॥ ५६ ॥

अदिति ! दीनतारहित देवताओं की माता।
महीयान्[1] तुम शक्ति दिव्य जीवन-निर्माता ॥
ले हाथों में उखा[2] प्रीति से प्रेरित अंतर।
आई है यह यहाँ सिनीवाली[3] चान्द्री[4] वर ॥
मोहन इसका केश-संयमन[5] वेणी-बंधन[6]।
शिर पर इसके मुकुट स्वर्ण का अतिशय शोभन ॥
है इसका प्रत्यङ्ग परम अनवद्य[7] मनोहर।
लीला ललित विलास-बलित प्रसरित नीलाम्बर ॥
ग्रहण करो यह पाकपात्र इसके कर से तुम।
दिव्य सृष्टि का करो प्रवर्तित तव रचनाक्रम ॥
चान्द्री है यह अमा इसे प्रतिपदा बनाओ।
चिति के पाकपात्र से दिव्य सृष्टि उपजाओ ॥ ५६ ॥

टि०—पिछली कंडिका की टिप्पणी में सिनीवाली अर्थात् अमावस्या क्या है, यह बताया गया है। अमा सृष्टि के पूर्व का गहन अंधकार है, जब देवता भी नहीं जगे थे। इस अंधकार में चन्द्रमा की उपस्थिति चिति के जागरण का प्रतीक है। अदिति के स्वरूप का निरूपण पहले हो चुका है। अदिति सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करनेवाली सबसे महान शक्ति है। चिति के पाकपात्र से वह सृष्टि का निर्माण करती है। चिति का रूप परम रमणीय है। उसका सहयोग पाकर ही अनस्तित्व की अमावस्या में सृष्टि की प्रतिपदा का संचार होता है। ५६

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साऽग्निं बिभर्त्तु गर्भ आ।
मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

१ सबसे महान; २ भोजन पकाने का पात्र; ३ अमावस्या; ४ चन्द्रयुक्त, ५ बालो की सजावट; ६ चोटी गूँथना; ७ अनिंद्य।

छन्दसा	छन्द के प्रभाव से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा	तुम्हारा
कृण्वन्तु	निर्माण करें।
ध्रुवा असि	तुम दृढ हो,
द्यौः असि	तुम द्युलोक हो।
मयि	मुझ
यजमानस्य	यजमान के लिए
प्रजां रायः	सन्तान और धन,
पोषं	पुष्टि,
गौपत्यं	गायों का स्वामित्व,
सुवीर्यं	उत्तम पराक्रम
सजातान्	सहोदर भाई-बन्धुओं के सहित
आ धारय	अच्छी तरह मित्रता धारण कराओ।

वैश्वानराः	अग्निदेवता और
विश्वेदेवाः	सब देवता
अनुष्टुभेन छन्दसा	अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से
त्वा	तुम्हारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
कृण्वन्तु	निर्माण करें।
ध्रुवा असि	तुम दृढ़ हो,
दिशः असि	दिशा-स्वरूप हो।
मयि	मुझ
यजमानस्य	यजमान को
प्रजां रायः	सन्तान और धन,
पोषं	पुष्टि,
गौपत्यं	गायों का स्वामित्व,
सुवीर्यं	सुन्दर पराक्रम,
सजातान्	सहोदरगण के साथ
आ धारय	उचित सौहार्द धारण कराओ ॥ ५८ ॥

गायत्री छंद की शक्ति से तुमको।
अंगिरा ने किया सम्यक् दीपित जैसे ॥
हे उखे[1] ! उसी गायत्री की महिमा से।
वसुगण तुमको संदीप्त[2] करें फिर वैसे ॥
ध्रुव, पृथ्वीरूपा विस्तृत सुखदात्री तुम।
यजमान, पुष्टि, सुत, धन, गोधन पावें हम ॥
संवर्धित करती रहो पराक्रम-धारा।
सोदरों[3]-सहित पावें सौहार्द तुम्हारा ॥
त्रिष्टुप् छन्द की शक्ति से रुद्र देवगण।
अंगिरा की तरह तुमको करें विनिर्मित ॥
तुम अंतरिक्षरूपा हो दृढ़ अति निश्चल।
यजमान पुष्टि, सुत, धन, गोधन पावें नित ॥
हम यजमानों का विक्रम-शौर्य बढ़ाओ।
सोदरों-सहित हमको निज सुहृद बनाओ ॥

---

१ भोजन पकाने का पात्र, महत्तत्त्व; २ प्रज्वलित; ३ सगे भाइयों सहित।

वसंवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दंसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि पृथिव्यसि धारया मयिं प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वां कृण्वन्तु त्रैष्टुंभेन छन्दंसाऽङ्गिरस्वद्-ध्रुवाऽस्यन्तरिक्षमासि धारया मयिं प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानायादित्यास्त्वां कृण्वन्तु जागतेन छन्दं-साऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि द्यौरसि धारया मयिं प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाय विश्वें त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दंसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि दिशोऽसि धारया मयिं प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान्यजमानाय ॥ ५८ ॥

वसवः	(हे उखे !) वसुगण
गायत्रेण	गायत्री
छन्दसा	छन्द के प्रभाव से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा	तुमको
कृण्वन्तु	प्रदीप्त करें।
ध्रुवा	तुम दृढ़
असि	हो,
पृथिवी असि	पृथ्वी-रूप हो।
मयि	मुझ
यजमानस्य	यजमान के लिए
प्रजां रायः	सन्तान और धन,
पोषं	पुष्टि,
गोपत्यं	गायों का स्वामित्व,
सुवीर्यं	सुन्दर पराक्रम और
सजातान्	सहोदर भाई-बन्धुओं के सहित
आ धारय	अच्छी तरह हमको मित्रता धारण कराओ।
रुद्रा	(हे उखे !) रुद्रगण

त्रैष्टुभेन	त्रिष्टुप्
छन्दसा	छन्द के प्रभाव से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा	तुम्हारा
कृण्वन्तु	निर्माण करें।
ध्रुवा असि	तुम दृढ़ हो,
अन्तरिक्षम्	तुम अन्तरिक्ष-रूप
असि	हो।
मयि	मुझ
यजमानस्य	यजमान के लिए
प्रजां रायः	सन्तान और धन,
पोषं	पुष्टि,
गोपत्यं	गायों का स्वामित्व,
सुवीर्यं	सुन्दर पराक्रम,
सजातान्	सहोदर भाई-बन्धुओं के सहित
आ धारय	अच्छी तरह मित्रता धारण कराओ।
आदित्याः	बारह आदित्य
जागतेन	जगती

तुम अदिति देवता के प्रभाव से शोभन[१]।
मेखला[२] उखा की हो अनुपम ज्योतिर्घन[३]॥
ये अदिति देवमाता निज पुत्रों के हित।
हे उखे! तुम्हारा भाग करें स्वीकृत नित॥
अग्नि की स्थानभूता मृद्[४] यह मृदुतामय[५]।
विरचें उससे ही अदिति उखा यह चिन्मय॥
फिर करें उखा वह निज पुत्रों को अर्पित।
सृष्टि का विकासक्रम हो उससे साधित॥ ५९॥

टि०—अदिति भगवान की मूल प्रकृति का नाम है। वही महत्तत्त्व की उखा के द्वारा नाना रूपाकारों-वाली सृष्टि की रचना करती है। सृष्टि की व्यवस्था का कार्य देवताओं को सौंपा जाता है। उनके सहयोग से सृष्टि में चिति के विकास का क्रम चलता है। ५९

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु॥ ६०॥

वसवः	(हे उखे!) वसुगण
गायत्रेण छन्दसा	गायत्री छन्द से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा धूपयन्तु	तुम्हारा वर्णन करें।
रुद्राः	रुद्रगण
त्रैष्टुभेन	त्रिष्टुप्
छन्दसा	छन्द से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा	तुम्हारा
धूपयन्तु	वर्णन करें।
आदित्याः	आदित्यगण
जागतेन छन्दसा	जगती छन्द द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा धूपयन्तु	तुम्हारा वर्णन करें।
वैश्वानराः	सबके हितकारक
विश्वेदेवाः	विश्वेदेवा देवता
आनुष्टुभेन	अनुष्टुप्
छन्दसा	छन्द से
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा धूपयन्तु	तुम्हारा वर्णन करें।

१ सुन्दर; २ कांची या करधनी; ३ घनीभूत प्रकाशरूपा; ४ मिट्टी; ५ कोमल, जड़त्वहीन।

द्वादशादित्य जगती छन्द की शक्ति से,
अंगिरा की तरह रचना करें तुम्हारी।
तुम ध्रुव द्युलोकरूपा हो उखे! महत्तर,
धन, गोधन, संतति बढ़ती रहे हमारी॥
सौहार्द करो धारण हम यजमानों पर।
शौर्य से प्रपूरित हों सब नित्य सहोदर[1]॥
वैश्वानर विश्वेदेव देवता ये सब।
कर निखिल अनुष्टुभ्-छन्द शक्ति को संचित॥
अंगिरा[2]-सदृश फिर रचना करें तुम्हारी।
तुम ध्रुव हो, दिशास्वरूपा व्यापक हो नित॥
सौहार्द करो हम यजमानों पर धारण।
संतति, धन, गोधन, विक्रम का हो वर्धन॥
हम सहोदरों-सह कृपा तुम्हारी पावें।
यजमान सभी हम कीर्ति तुम्हारी गावें॥ ५८॥

टि०—उखा सृष्टि-रचना का पाकपात्र है। गायत्री, त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्द की शक्ति से वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, विश्वेदेवा आदि ने इसकी रचना की। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दसों दिशाओं की रचना उसी के द्वारा हुई। वह उखा यजमानों पर सदा दयालु रहे, यह प्रार्थना इस कण्डिका में की गई है। ५८

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु।
कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति॥ ५९॥

अदित्यै	अदिति देवता के प्रभाव से	सा अदितिः	वह देवमाता अदिति
		महीं मृन्मयीम्	बड़ी मिट्टी की,
रास्ना असि	(तुम) उखा की कांची हो।	अग्नये योनिं	अग्नि की स्थानभूत
		उखां कृत्वाय	उखा का निर्माण करे,
अदितिः	अदिति		
ते	तुम्हारे	श्रपयान् पुत्रेभ्यः	अपने पुत्रों को
बिलं गृभ्णातु	भाग को ग्रहण करे	प्रायच्छत् इति	प्रदान करे॥ ५९॥

१ सगे भाई; २ एक ऋषि का नाम; महर्षि दयानन्द के अनुसार प्राणवायु।

अवट	हे गर्त !
विश्वदेव्यावती	समस्त देवताओं की अधिष्ठात्री,
देवी	दिव्यगुणयुक्त
अदितिः	अदिति देवमाता
पृथिव्याः सधस्थे	पृथ्वी के ऊपरी भाग में
त्वा	तुमको तुम्हारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
खनतु	खनन करे।
उखे	हे उखा !
देवानां पत्नीः	देवताओं की स्त्रियाँ
विश्वदेव्यावती	सब देवताओं के सहित
देवीः पृथिव्या	दिव्य गुणवती पृथ्वी के
सधस्थे	ऊपर
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा दधतु	तुमको स्थापित करें
उखे	हे उखा!
विश्वदेव्यावतीः	सम्पूर्ण देवगणों से युक्त
धिषणाः देवीः	प्रशंसित बुद्धिवाली, दिव्यतायुक्त
पृथिव्याः सधस्थे	पृथ्वी के ऊपर
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा अभीन्धताम्	तुम्हें प्रदीप्त करे।
उखे	हे उखे !
विश्वदेव्यावतीः	सब देवों से युक्त
वरूत्रीः देवीः	अहोरात्र की देवी
पृथिव्याः सधस्थे	पृथ्वी के ऊपर
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा श्रपयन्तु	तुम्हें पकावें
ऊखे	हे ऊखे !
विश्वदेव्यावतीः	सारे देवों की
ग्नाः देवीः	अधिष्ठात्री देवी
पृथिव्याः सधस्थे	पृथ्वी के ऊपर
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा पचन्तु	तुम्हें पकावें।
उखे	हे उखा !
अछिन्नपत्राः	निरन्तर
जनयः देवीः	गमनशील देवियाँ
विश्वदेव्यावतीः	सब देवताओं के सहित
पृथिव्याः सधस्थे	पृथ्वी के ऊपर
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
त्वा पचन्तु	तुम्हारे लिए पाक करें ॥ ६१ ॥

हे अवट[1] गर्त !
अंगिरा ने किया तुम्हें खनन[2], जैसे इस धरती पर शोभन।
सब देवस्वरूपा अदिति खनें, प्रकटावें तुमको पृथिवी पर।
देवगण और उन देवों की, पत्नियाँ सकल आपस में मिल।
संस्थापित करें तुम्हें भास्वर, अंगिरा-सदृश इस धरती पर।
सब देवों की स्वामिनी अदिति, ऊखे ! जो परम प्रशसित-मति।
वे करें अंगिरा-सदृश तुम्हें, संदीप्त दिव्य इस धरती पर।

१ गड्ढा या कुआँ, २ खोदना।

इन्द्रः	इन्द्रदेव	धूपयन्तु	वर्णन करें।
त्वा धूपयन्तु	तुम्हारा गुणगान करे।	विष्णुः	विष्णु देव
वरुणः	वरुण देवता	त्वा धूपयतु	तुम्हारी प्रशंसा करें ॥ ६० ॥
त्वा	तुम्हारा		

अंगिरा-सदृश वसु गायत्री के द्वारा।
हे उखे! करें संतत गुणगान तुम्हारा॥
अंगिरा-सदृश त्रिष्टुप् छन्द से रुद्रगण।
हे उखे! तुम्हारे गावें अविरत गुणगण॥
अंगिरा-सदृश आदित्य देव ज्योतिर्मय।
यश-वर्णन जगती छन्द से करें चिन्मय॥
अंगिरा-सदृश अनुष्टुप् छन्द से नित नव।
हे उखे! करें विश्वेदेवा तव संस्तव[1]।
हे उखे! इन्द्र गुण सदा तुम्हारे गावें।
ये वरुण देवता भी यशगान सुनावें॥
सर्वव्यापक ये विष्णु पूर्ण परमेश्वर।
हे उखे! करें गुणगान तुम्हारा भास्वर[2] ॥ ६० ॥

टि०—उखा के स्वरूप का निर्देश पूर्ववर्ती मन्त्रों में किया जा चुका है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् छन्द के द्वारा सब देवता उसकी महिमा का विवेचन करें, यह निर्देश इस कण्डिका में किया गया है। ६०

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् खनत्ववट[1] दे॒वानां॑ त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे[2] धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद॒भीन्ध॑तामुखे[3] वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे[4] ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे[5] जन॑य॒स्त्वाच्छि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे[6] ॥ ६१ ॥

---

१ गुणगानयुक्त स्तुति,　　२ प्रकाशमान।

ये मित्रदेव हैं दीप्तिमान, मानव के धारक[1] हैं महान।
रक्षक इन-सा कोई न अन्य, श्रवणीय-कीर्ति ये हैं वरेण्य।
ये सत्य सनातन[2] द्युम्न-गहन[3], ये चिर पुराण, ये चिर नूतन।
ये हम सबके प्रति रहें सदय, बहुविध समृद्धि देवें अक्षय ।। ६२ ।।

टि०—इस कंडिका में मित्र देवता से विचित्र पदार्थों से समृद्ध ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। मित्र परमात्मा का भी नाम है। अतएव, यह मंत्र परमात्मावाची है। ६२

दे॒वस्त्वा॑ सवि॒तोद्व॑पतु सुपा॒णिः स्व॑ङ्गुरिः सु॑बा॒हुरु॒त शक्त्या॑ ।
अव्य॑थमाना पृ॒थि॒व्यामा॒शा दिश॒ आ पृ॑ण ॥ ६३ ॥

सुबाहुः	सुन्दर बाहुओं,	अव्यथमाना	(और तुम) व्यथाहीन होकर
सुपाणिः	सुन्दर हाथों,	पृथिव्यां	पृथ्वी में
स्वङ्गुरिः	अच्छी उंगलियों वाले	आशा दिशः	अपनी समस्त कामनाओं को
सविता देवः	सवितादेवता	आ पृणः	पूरित करो ।। ६३ ।।
शक्त्या उत	अपनी शक्ति (और बुद्धि) से		
त्वा उद्वपतु	तुमको प्रकाशित करें।		

सुन्दर बाँहों, अच्छे हाथों, उत्तम उंगली-वाले सविता।
विश्व के प्रसविता है वे ही, ये ही हैं तुम सबके अविता[4] ।।
निज महत् शक्ति से और बुद्धि से करें प्रकाशित तुम्हें सतत।
ये बाहु, पाणि, अँगुलियाँ रहें निर्दोष तुम्हारी मानव! नित ।।
अनुकूल रहें सविता सदैव, हो व्यथा न तुमको कभी प्राप्त।
हों सिद्ध कामनायें समस्त दिशि-विदिशि रहो तुम पूर्ण प्राप्त ।। ६३ ।।

टि०—सविता देवता की बाँहें, हाथ, उँगलियाँ परम सुंदर हैं। इन अंगों के निर्दोष रहने से ही मनुष्य कार्य-क्षम और कार्यदक्ष बनता है। मनुष्य के ये सब अंग निर्दोष हों, यह प्रार्थना यहाँ की गई है। वे सविता देवता ही सबको उत्पन्न करनेवाले और सबके रक्षक हैं। वे हमारी शक्ति बढ़ावें, हमारी बुद्धियों को प्रकाशित करें और हमें ऊँचा उठावें। उनकी कृपा से हम कभी किसी प्रकार की व्यथा का अनुभव न करें, और हमारा व्यक्तित्व और पौरुष दश दिशाओं को परिपूरित कर दें। ६३

१ धारण करनेवाले, २ जिसका आदि-अन्त नही, ३ घनीभूत तेज या कान्तिवाले; ४ रक्षक।

हे उखे ! देवगण से मंडित, देवी ये अहोरात्र[1] की नित।
अंगिरा-सदृश धरती पर नित, वे राँधन करें, तुम्हारे हित।
हे उखे ! तुम्हें परिपक्व करें, अंगिरा-सदृश इस पृथ्वी पर।
ग्राः देवी[2] देवस्वामिनी[3] ये, स्वर्ग का पुण्य पथ प्रकट करें।
ये गमनशील देवियाँ[4] सकल, नक्षत्रों की स्वामिनी अकल[5]।
अच्छिन्न-पत्र[6] ज्योतिर्मय चल, ऊखे ! सब देवों-सहित सबल।
अंगिरा-सदृश धरती पर नित, विरचें शुचि पाक तुम्हारे हित ॥ ६१ ॥

टि०—यह बड़े ही रहस्यमय मन्त्रों की कण्डिका है। इसमें सृष्टि के विकास-क्रम का निर्देश है, सबसे पहले अवट के प्रति सम्बोधन है, फिर उखा के प्रति। 'अवट' का अर्थ है 'गर्त' या 'कूप'। पहले यह 'अवट'-कूप अंगिरा ने खोदकर तैयार किया, फिर अदिति से अनुरोध किया गया है कि वे इसको खोदकर तैयार करें। अंगिरा अग्नि का भी नाम है। यह चिति की अग्नि है जो अचित् में प्रवेश कर गर्त या कूप का निर्माण करती है। वाणी, अहोरात्र, छन्द आदि के अभिमानी देवता सब इस चिति के उन्मीलन की प्रक्रिया के निमित्त हैं। महर्षि दयानन्द ने 'अवट' का अर्थ बुराई और निंद्य दोष से रहित बालक किया है। उनके अनुसार इस मंत्र का भावार्थ है— जैसे रसोइये बटलोई आदि पात्रों में अन्न का संस्कार करके उत्तम खाद्य पदार्थों को सिद्ध करते हैं, वैसे ही बाल्यावस्था से लगाकर विवाह से पहले तक लड़के-लड़कियों को उत्तम विद्या और शिक्षा से सम्पन्न किया जाना चाहिए। ६१

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि।
द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम् ॥ ६२ ॥

देवस्य	दीप्तिमान	चित्रश्रवस्तमं	विचित्र पदार्थों से समृद्ध
चर्षणीधृतः	मनुष्यों के पोषण करनेवाले	द्युम्नं	ऐश्वर्य को
मित्रस्य	मित्र देवता के	अव	हम प्राप्त हों ॥६२॥
सानसि	सदा से चले आये		

१ दिन-रात (दिन-रात की अधिष्ठात्री देवी); २ छन्द की अधिष्ठात्री देवी; ३ भाष्यकारों ने ओषधियों को भी देवपत्नियाँ कहा है; ४ नक्षत्रों की अभिमानिनी देवियाँ; ५ कलाहीन, अखण्ड, दिव्य; ६ जिनके पत्ते कभी गिरते नहीं; (आकाश की नक्षत्रमालिका-रूपी लता के पत्ते कभी नहीं गिरते)।

त्रैष्टुभेन छन्दसा	त्रिष्टुप् छंद के द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा आच्छृन्दन्तु	तुम्हारा सिंचन करें।
आदित्याः	आदित्यगण
जागतेन छन्दसा	जगती छंद के द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा आच्छृन्दन्तु	तुम्हारा सिंचन करें।
वैश्वानराः	विश्व के हितकारी
विश्वेदेवाः	सब देवता
आनुष्टुभेनच्छन्दसा	अनुष्टुप् छंद के द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
त्वा आच्छृन्दन्तु	तुम्हारा सिंचन करें ॥ ६५ ॥

गायत्री छन्द की शक्ति से वसुगण।
हे उखे! करें अंगिरा के सदृश सेचन[1] ॥
रुद्रगण सकल मिलकर त्रिष्टुप् के द्वारा।
अंगिरा-सदृश अभिसेचन[2] करें तुम्हारा ॥
आदित्य देव लें जगती का अवलम्बन।
हे उखे! अंगिरा-सदृश करें शुचि सेचन ॥
ये सर्वभूतहितरत विश्वेदेवा सब।
हे उखे! तुम्हारा करें सविधि सेचन अब ॥
वे करें अनुष्टुप् छन्द-शक्ति संयोजित[3]।
अंगिरा ने किया जैसे तुमको सिंचित ॥ ६५ ॥

टि०—इस मंत्र में उखा के अभिसेचन का संदर्भ है। अंगिरा ने गायत्री, जगती, त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छंद की शक्ति से उखा का अभिषेक किया था। वसु देवता, आदित्यगण, रुद्रगण, विश्वेदेवा उखा का अंगिरा की तरह सेचन करें। ६५

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

आकूति अग्नि	प्रेरक अग्नि को
प्रयुजं	इस यज्ञकर्म में
स्वाहा	आहुति अर्पित है।
मनः मेधां	मन और मेधा के
प्रयुजं अग्नि	प्रेरक अग्नि को
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।
चित्तं विज्ञातं	चित्त और ज्ञान के साधक विज्ञान के
प्रयुजं अग्नि	प्रेरक अग्नि को

१ सींचना; २ सम्यक् सींचने की क्रिया; ३ प्रयुक्त।

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां त उखां परि ददाम्यभित्या एषा मा भेदि² ॥६४॥

त्वं उत्थाय	(हे उखे !) तुम उठकर	एतां उखां	इस उखा का
बृहती भव	बड़ी होओ	अभित्यै	भेदन न हो,
उत ऊ ध्रुवा	और स्थिर होकर	ते परि ददामि	इसलिए तुम्हें इसे सौंपता हूँ।
उत्तिष्ठ	अपने कार्य में दृढ़ होओ।	एषा	यह
मित्र	हे मित्र देवता !	मा भेदि	विदीर्ण न हो ॥६४॥

हे उखे ! उठो, बृहती होने के लिए उठो।
चिन्मयी सृष्टि की रचना की कामना उठो ॥
ध्रुव लक्ष्य-सिद्धि के हेतु सुदृढ़ उत्थान करो।
लघु सीमाओं का अवट[1] त्याग व्युत्थान[2] करो ॥
हे मित्र ! प्राणियों के अनन्य तुम हितकारी।
यह उखा तुम्हें अर्पित सबकी पोषणकारी ॥
तुम इसकी रक्षा करो न हो खंडित-भंजित।
है इसीलिए यह उखा देव ! तुमको अर्पित ॥ ६४ ॥

टि०—इस कंडिका के दो भाग हैं। पहले भाग में उखा को संबोधन है, दूसरे में मित्र देवता। उखा सृष्टि की प्रसुप्त रचना-शक्ति किंवा विश्वंभरा-शक्ति का प्रतीक है। उसको जाग्रत् होकर महान से महान बनने के लिए इस मन्त्र में प्रेरणा दी गयी है। यह उखा महान से महान कार्य-संपादन करे, ऐसा श्रुति का आदेश है। उखा सर्वहितकारी मित्र देवता के हाथों में सुरक्षित रह सकती है। मित्र देवता ही इस शक्ति को खंडित होने से बचा सकते हैं। ६४

वसवस्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

वसवः	(हे उखे !) वसुगण	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा की तरह
गायत्रेण छन्दसा	गायत्री छन्द के द्वारा	त्वा आच्छृन्दन्तु	तुम्हारा सिंचन करें।
		रुद्राः	रुद्रगण

१ गड्ढा या कुआँ, २ महान क्रियाकलाप।

सबके नायक, सबके संचालक जगदीश्वर।
वे ज्ञान, पुष्टि, वर्चस्व, ऋद्धि के हैं निर्झर॥
मानवो विश्व के! करो ईश का सख्य वरण।
विज्ञान, ज्ञान, वर्चस्व, पुष्टि सब करो ग्रहण॥
ऐश्वर्य-सिद्धि हित करें सभी आयुध धारण।
सब त्याग-भाव से करें ईश का सख्य वरण॥ ६७॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर की मैत्री प्राप्त करने पर बल दिया गया है। यह बड़ी सरस और सहज साधना है। वैष्णव-साधना में जो पांच प्रकार की भक्ति बताई गई है, उनमें सख्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। ब्रज के गोपों की साधना सख्य-भाव की थी। वैष्णव आचार्यों का कहना है कि सख्य-भावना की साधना वेदसम्मत है। यह मंत्र उनके इस कथन का प्रमाण है। 'आयुध'-धारण शब्द भी विचारणीय है। मूल में 'इषु' शब्द आया है। बाण का सामान्य अर्थ टीकाकारों ने शस्त्र ही किया, जिसके धारण करने से तेज की वृद्धि होती है। पर वैष्णव जन भगवान के धनुष-बाण आदि के चिह्न अपनी भुजाओं पर धारण करते हैं। ६७

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु।
अग्निश्चेदं करिष्यथः॥ ६८॥

अम्ब	हे माता!	**सु वीरयस्व**	उत्तम वीर के कार्य करो।
मा सु भित्थाः	हमें विद्या से मत छुड़ा दो	**अग्निः च**	अग्नि और तुम
मा सु रिषः	दुःख न दो।	**इदं करिष्यथः**	आसमाप्ति यह कार्य करो॥ ६८॥
धृष्णु	दृढ़ता से		

हे अंब! हमें तुम विद्या से मत करो पृथक्।
दुखमुक्त बनें कर्तव्य-पंथ से रह अपृथक्॥
दृढ़ता से उत्तम वीरों के हम करें कर्म।
हे अंब! और हे अग्नि! कराओ प्राप्त शर्म[1]॥
आफलप्राप्ति कर्तव्य-कर्मरत रहें सदा।
हे अंब! हमारे हेतु रहो तुम सिद्धिप्रदा॥ ६८॥

टि०—उवट और महीधर के अनुसार इस मंत्र में उखा को संबोधित किया गया है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इस मंत्र में पुत्र माता से विद्या प्रदान करते रहने का अनुरोध करता है। महामनीषी सातवलेकरजी भी इसे माता के प्रति संबोधन मानते हैं। यह माता परमा मातृशक्ति है। अग्नि परमेश्वरवाची है और माता उनकी अंतरंग शक्ति है। उन्हीं से इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। ६८

---

१ कल्याण।

स्वाहा	यह आहुति अर्पित है।	**मनवे प्रजापतये**	मन्वन्तर-प्रवर्तक प्रजापति के लिए
वाचः विधृति	वाणी और विशेष धारणा के	**स्वाहा**	यह आहुति है।
प्रयुजं अग्नि	प्रेरक अग्नि को	**वैश्वानराय**	सबके हितकारी
स्वाहा	यह आहुति दी जाती है।	**अग्नये स्वाहा**	अग्नि के लिए यह आहुति अर्पित है ॥ ६६ ॥

आकूति अग्नि के हित अर्पित हवि, स्वाहा।
मन और बुद्धि के प्रेरक अग्नि निरंतर,
उनके हित अर्पित करते हवि हम, स्वाहा॥
विज्ञान ज्ञान के और चित्त के प्रेरक,
जो अग्निदेव उनको अर्पित हवि, स्वाहा॥
वाणी के और विशेष धारणा के प्रेरक जो,
उन अग्निदेव को अर्पित हवि यह, स्वाहा॥
मन्वन्तर के जो प्रेरक और प्रवर्तक,
उन देव प्रजापति को अर्पित हवि, स्वाहा॥
हैं जो वैश्वानर अग्नि विश्वहितकारी,
उनके हित अर्पित करते हवि हम, स्वाहा॥ ६६॥

टि०—अग्नि परमेश्वर का स्वरूप है, उनका वाचक है। उनको यज्ञ में आहुति देने से मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञान, विज्ञान, वाणी की शक्ति और धारणा का उत्तरोत्तर विकास होता है। मन्वन्तर के प्रजापति को भी यज्ञ में आहुति दी जानी चाहिए। अग्नि वैश्वानर है। सबका हितकारी है। इस प्रकार लोक और परलोक दोनों के सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। ६६

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।
विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑[1] ॥६७॥

विश्वः मर्तः	समस्त मनुष्य	**द्युम्नं वृणीत**	तेज प्राप्त करें।
नेतुः	सबके संचालक	**राये**	ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए
देवस्य सख्यं	परमात्मा के सख्य को	**विश्वः**	सब जन
वुरीत	स्वीकार करें,	**इषुध्यति**	शस्त्र धारण करें।
पुष्यसे	ज्ञान के पोषण के लिए	**स्वाहा**	उनके लिए यह आहुति अर्पित है॥ ६७॥

व्रश्चन्नः	वृक्ष की समिधायें जिसका अन्न हैं,	होता	देवताओं को बुलाने वाला,
सर्पिरासुतिः	जिसका प्रधान पेय घृत है,	वरेण्यः	श्रेष्ठ,
प्रत्नः	जो पुरातन है,	सहसः	बल से उत्पन्न होनेवाला (वह अग्नि)
		पुत्रः अद्भुतः	आश्चर्यरूप पुत्र है ॥ ७० ॥

जिन अग्निदेव का समिधाएँ भोजन प्रधान।
जो मुख्य रूप से करते हैं शुचि सर्पि[1]-पान॥
जो परम पुरातन[2] पुरुष-रूप में हैं प्रसिद्ध।
जो देवों के आवाहनकर्ता नित्य सिद्ध॥
बल के सुत[3], बल के मंथन से जो समुत्पन्न।
आश्चर्यरूप वे, हम उनके प्रति हैं प्रपन्न[4]॥ ७०॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की महिमा का गान किया गया है। अग्नि देव का प्रधान भोजन है, उनका मुख्य पेय घृत। वे परम पुरातन देवता हैं, वे ही देवों को बुलाकर लाते हैं। बलपूर्वक अरणियों का मंथन करने से उत्पन्न होते हैं। वे अद्भुत कर्म करनेवाले हैं। ऐसे अग्निदेव के प्रति हम प्रपन्न हैं। ७०

परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्या तर।
यत्राहमस्मि ताँ२ अव॥ ७१॥

परस्याः	(हे अग्नि!) शत्रु की सेना के साथ	अभि आ तर	रक्षा करो।
		यत्र	जहाँ (जिनमें)
		अहं अस्मि	मैं हूँ,
अधि संनतः	युद्ध में स्थित	तान् अव	उन सबकी रक्षा करो॥ ७१॥
अवरान्	समीपस्थों की		

हम युद्ध कर रहे हैं पर-सेना[5] के विरुद्ध।
हम सबकी रक्षा करो अये अग्ने समिद्ध[6]॥
इस युद्धभूमि में मैं जिस जनपद में संस्थित।
वह भी हे देव! सदैव रहे तुमसे रक्षित॥ ७१॥

---

१ पवित्र घृत; २ सबसे पुराने; ३ बल से अरणियों का मंथन करने से अग्नि उत्पन्न होता है, इसलिए उसे बल का पुत्र कहा गया है; ४ शरणागत; ५ शत्रुसेना; ६ प्रज्वलित।

दृᳪहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय
आसुरी माया स्वधया कृताऽसि ।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा
त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ ६९ ॥

देवि पृथिवि	हे देवी पृथ्वी !	**कृता असि**	बढ़ाती हो।
स्वस्तये	कल्याण के लिए	**इदं हव्यं**	यह हवि
दृंहस्व	उत्तम रीति से दृढ़ता से कार्य करो।	**देवेभ्यः**	देवताओं को
		जुष्टं अस्तु	प्रिय हो।
स्वधया	अपनी धारणा-शक्ति से	**त्वं अरिष्टा**	तुम नष्ट न होकर
		अस्मिन	इस
आसुरी माया	अपने प्राण की शक्ति	**यज्ञे उदिहि**	यज्ञ में उदय को प्राप्त होओ ॥ ६९ ॥

पृथ्वीदेवी ! कल्याण-प्राप्ति- रत रहो सतत ।
उत्तम विधि से दृढ़ता से करो प्रयत्न सतत ॥
जिस भाँति किया असुरों ने अपना बल वर्द्धित ।
धारणा-शक्ति से प्राणशक्ति हो बृंहित[1] नित ॥
यह हव्य तुम्हारी वृद्धि समृद्धि हेतु अर्पित ।
अविनष्ट रहो तुम, देवों को यह हवि अर्पित ॥
हे पृथिवि ! तुम्हारे हेतु अनुष्ठित यह क्रतुकृति ।
अभ्युदयमयी हो देवि ! तुम्हारी प्रति गति-सृति[2] ॥ ६९ ॥

टि०—इस मंत्र में पृथ्वी को संबोधित किया गया है। कथन की शैली लाक्षणिक है। पृथ्वी कल्याण-प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करे। इसका अर्थ है पृथ्वी पर रहनेवाले मनुष्य उत्तम प्रकार से मज़बूती से मानव-जाति के सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करें। असुरों ने जिस विज्ञान-साधना से अपनी शक्ति बढ़ाई है, उसी तरह मनुष्यों को भी अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। यज्ञों का अनुष्ठान इसीलिए किया जाता है कि देवता हवि पाकर प्रसन्न हों और धरती का अर्थात् मानव-मात्र का हित-साधन करें। ६९

द्वन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः ।
सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥ ७० ॥

---

१ सर्वद्धित, बढ़ी हुई, २ चाल लाट ।

हे अग्निदेव ! तुम हो यविष्ठ्य[1] बलवान विदित।
अनुरोध हमारा है विनम्र श्रवणीय[2], विहित[3] ॥
यदि कोई तुमको करे मात्र समिधा अर्पण।
घृत के समान प्रिय मानो उसको करुणाधन[4] ॥
जो करें भक्तियुत तुम्हें अकिंचन[5] हम अर्पित।
उसका तुम सेवन करो निरंतर प्रीतिसहित ॥ ७३ ॥

टि०—भक्तिभावना से भरा हुआ यह मंत्र प्रपत्ति की स्थिति का द्योतक है। गीता में कहा गया है —'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।' यदि कोई मुझे भक्ति के साथ एक पत्ती, एक फूल, एक फल अथवा मात्र जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ। इस भक्ति-भावना का मूल वेद में है। यदि अग्नि को कोई भक्तिपूर्वक एक समिधा ही अर्पित करता है, तो वे उसे घृत के समान प्रिय मानकर ग्रहण करते हैं। भगवान को भक्ति प्रिय है, यज्ञ में जुटाई जानेवाली सामग्री का संभार नहीं। ७३

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥

उपजिह्विका	दीमक	यविष्ठ्य	हे तरुण अग्नि !
यत् अत्ति	जो काष्ठ खाता है,	तत् ते	वह तुम्हारे लिए
वम्रः	वल्मीक नामक कीड़ा	घृतं अस्तु	घृत के समान प्रिय हो।
यत् अतिसर्पति	जिस काष्ठ को निगलता है,	तत् जुषस्व	उसका प्रीति से सेवन करो ॥ ७४ ॥

हे तरुण अग्नि ! तुम हो यविष्ठ्य बलवान प्रथित।
याचना नम्र हो करते हैं हम तुमसे नित ॥
दीमक का खाया काष्ठखंड अति जीर्ण-शीर्ण[6]।
वल्मीक[7] कीट ने खाकर जिसको किया दीर्ण[8] ॥
यदि कोई अर्पित करे तुम्हें समिधा-स्वरूप।
घृत-सा प्रिय हो वह तुमको शुचितामय अनूप ॥
यदि करें भक्तियुत तुम्हें अकिंचन हम अर्पित।
तो उसका सेवन करो देव ! तुम प्रीति-सहित ॥ ७४ ॥

१ बलवान; २ सुनने योग्य; ३ उचित; ४ करुणा रूपी धनवाले हे अग्नि ! ५ गरीब; ६ पुराना और गला हुआ; ७ लकड़ी काटनेवाला दीमक-जैसा कीट; ८ जर्जर।

टि०—राष्ट्र के शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करता हुआ सेनापति अग्नि, देवता से सहायता की याचना करता है। वह कहता है, हम शत्रुसेना के विरुद्ध धर्मयुद्ध कर रहे हैं। हमारी रक्षा करो, हमें विजयी बनाओ। शत्रुओं ने हमारे क्षेत्र पर आक्रमण किया है, उसकी रक्षा करो। महीधर ने 'यत्राहमस्मि' का अर्थ किया है 'यत्र जनपदे अहमस्मि'। ७१

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहा गहि।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	परमस्याः	अति
रोहिदश्वः	रोहित नाम का घोड़ा रखनेवाले	परावतः	दूर देश से
		इह आ गहि	यहाँ आओ।
पुरीष्यः	समृद्धिमान,	मृधः आ तर	संग्राम में शत्रु का विनाश करो ॥७२॥
पुरुप्रियः	बहुत लोकप्रिय		
त्वं	तुम		

अति दूर देश से यहाँ पधारो अग्निदेव ! ।
हो रोहिदश्व[1], अतिशय समृद्ध, जनप्रिय[2] सदैव ॥
संग्राम-भूमि कर पार शत्रुगण करो क्षार।
अति दूर देश से आओ कर रणभूमि पार ॥ ७२ ॥

टि०—अग्नि परमात्मावाची अभिधान है, यह कहा जा चुका है। इस मंत्र में अग्नि का आवाहन किया गया है। तुम्हारा अश्व रोहित् नाम से प्रसिद्ध है, उसका रंग लाल है। तुम अत्यधिक लोकप्रिय हो। संग्राम भूमि में शत्रुओं को जलाकर क्षार करते हुए उसको पार कर यहाँ पधारो। ७२

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥

यविष्ठ्य अग्ने	हे बलवान अग्नि !	सर्वं ते	सब तुम्हारे लिए
यत् कानि चित्	जो कोई भी	घृतं अस्तु	घृत (के समान प्रिय) हो,
दारूणि	समिधायें		
ते आदध्मसि	तुम्हें अर्पण करें,	तत् जुषस्व	उसको प्रीति से सेवन करो ॥७३॥
तत्	वह		

---

१ अग्नि जिनका रोहित् नाम का घोड़ा है। रोहित् का अर्थ लाल
२ बहुत अधिक लोकप्रिय।

टि०—इस मंत्र में अग्नि को 'भगव' कहकर संबोधित किया गया है। 'भगव' का अर्थ है महान ऐश्वर्ययुक्त भगवान। समाज और राष्ट्र में शान्ति-व्यवस्था तभी कायम रह सकती है, जब पापी, दस्यु, चोर और तस्कर सब नष्ट कर दिये जाएँ। इसमें अग्नि से यही प्रार्थना की गई है। ७८

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः[1] ॥ ७९ ॥

ये जनेषु	(हे अग्ने!) जो मनुष्यों में	कक्षेषु अघायवः	गहन स्थानों में मनुष्यों के प्राण-हरण करते हैं,
मलिम्लव	मलिन आचार वाले हैं	तान्	उन सबको (मैं)
स्तेनासः	और (जो) चोर हैं,	ते	तुम्हारी
वनेः तस्कराः	वनों में या जलों में डकैती करते हैं	जम्भयोः दधामि	दाढ़ों में डालता हूँ ॥ ७९ ॥
ये	जो		

हे अग्ने! हैं जो कदाचार[1]-रत दुर्जन।
उनका दाढ़ों से करो देव! तुम चर्वण[2] ॥
दुर्गम वन में विचरण करते जो तस्कर।
छिपकर मनुजों का देते हैं जो वध कर ॥
निक्षिप्त[3] तुम्हारे मुख में करता उनको।
भक्षण कर लो हे अग्ने! दुर्जनगण को ॥ ७९ ॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह दुष्टों, पापियों, डकैतों, तस्करों और हत्यारों को निर्ममतापूर्वक नष्ट करने का आदेश दिया गया है। ये सब आततायी की कोटि में आते हैं, जिनको देखते ही मार देने का आदेश शास्त्र देता है। ७९

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥८०॥

यः जनः	(हे अग्ने!) जो लोग	अरातीयात्	शत्रुता करें
		च	और
अस्मभ्यं	हमसे	यः नः द्वेषते	जो हमसे द्वेष करें,

१ दुराचार; २ चबाना; ३ मन्त्रशक्ति से अग्नि के मुख में डालना।

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र की भावविगलित भक्ति का उद्रेक इस मंत्र में भी सहज संवेद्य है। यदि भगवान को हम दीमकों या कीड़ों की खाई हुई लकड़ी के टुकड़े को ही भक्ति से समिधा के रूप में अर्पित करें, तो वे उसे अस्कन्न घृत के समान प्रिय मानकर स्वीकार करते हैं। ऐसा है उन प्रभु का करुणाविगलित अंतर। भगवान को केवल भक्ति का नाता प्रिय है। ७४

अह॑रहुरप्र॑यावं॒ भर॒न्तोऽश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते घा॒सम॑स्मै।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॒न्तोऽग्ने॒ मा ते॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ७५ ॥

अग्ने	हे अग्नि !
ते प्रतिवशा	तुम्हारे आश्रयवाले
अहरहः अप्रयावं	निरंतर अप्रमत्त के समान
अस्मै	इस यज्ञ के लिए
घासं भरन्तः	समिधारूप भक्ष्य प्रदान करते हैं,
तिष्ठते अश्वाय इव	जैसे अश्वशाला में स्थित अश्व को भक्ष्य प्रदान किया जाता है।
ते इषा	वे तुम्हारे अन्नैश्वर्य एवं
रायः	धन की समृद्धि के लिए
पोषेण सम्मदन्तः	पुष्टिजन्य हर्ष प्राप्त करते हुए
मा रिषाम	कभी पीड़ित न हों ॥ ७५ ॥

हे अग्नि ! तुम्हारे आश्रय में हम हैं अहरह।
हम अप्रमत्त[1] हो यज्ञकर्म करते हैं यह ॥
अर्पित करते हयशाला में ज्यों हय को तृण।
उस भाँति करें तुमको अर्पित समिधा प्रतिदिन ॥
ये समिधायें ही भक्ष्य तुम्हारा हैं उदार।
हवि अर्पित करते हैं तुमको हम बार-बार ॥
दु:ख से पीड़ा से मुक्त रहें हम करुणामय।
हम पुष्टि, तुष्टि, ऐश्वर्य प्राप्त कर रहें अभय ॥ ७५ ॥

टि०—इस मंत्र में प्रमाद छोड़कर यज्ञकर्म करने का आदेश दिया गया है। जैसे अश्वशाला में बंधे हुए घोड़े को घास खिलाकर परिपुष्ट रखा जाता है, वैसे ही प्रतिदिन यज्ञाग्नि में समिधाएँ और हवि अर्पित की जानी चाहिए। समिधाएँ ही अग्नि का भोजन हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा अग्नि की उपासना ऐश्वर्य, समृद्धि और पुष्टि-तुष्टि प्रदान करती है। ७५

१ प्रमादहीन।

टि०—इस मंत्र के आशय को स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानंद ने लिखा है, पुरोहित और यजमान दोनों मिलकर आत्मा और शरीर के बलवर्द्धन के लिए प्रयत्न करें। लोकहित-संपादन का यही राजमार्ग है। इसी से ब्रह्म-शक्ति और क्षात्रशक्ति की वृद्धि होगी। महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के सम्यक् सहयोग से ही लोक सुखी हो सकता है। "ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टि क्षात्रमप्रतिमं बलम्। यदा तौ चरतः सार्धं तदा लोको प्रसीदति"। ८१

उदे॑षां बा॒हू अ॑ति॒र॒मुद्व॒र्चो॒ अथो॒ बल॑म्।
क्षि॒णोमि॒ ब्रह्म॑णा॒ऽमित्रा॒नुन्न॑यामि॒ स्वाँ२ अ॒हम्॥ ८२॥

एषां बाहू	(हे अग्ने ! मैं) इन दुष्ट पुरुषों की बाँहों की	उद् (अतिरं)	अधिक श्रेष्ठ बनूं।
उत्	अपेक्षा	ब्रह्मणा	वेद-ज्ञान के बल से
अतिरं	अधिक पराक्रम करूँ	अमित्रान् क्षिणोमि	शत्रुओं को (मैं) नष्ट करता हूँ,
अथो वर्चः	और उनके तेज से	अहं स्वान्	मैं अपनें लोकों को
बलं	और बल से	उत् नयामि	ऊपर उठाता हूँ॥ ८२॥

दुष्टों में जो भी है बाहुबल-पराक्रम।
श्रेष्ठतर शक्ति से उसका करें अतिक्रम[1]॥
वर्चस्व शक्ति जो दुष्टजनों में संस्थित।
उससे श्रेष्ठतर करें हम विक्रम अर्जित[2]॥
ज्ञान की शक्ति से रिपु सब करें प्रमापित[3]।
हम अग्ने! धरती का उत्कर्ष करें नित॥ ८२॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि वे शत्रुओं का नाश करें। इस मंत्र का सब कुछ भिन्न है। इसमें अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि दुष्टजनों की शक्ति-पराक्रम से अधिक शक्ति हम अर्जित करें और उन्हें पराजित करें। ज्ञान की शक्ति से हम शत्रुओं को नष्ट करें और इस प्रकार सारी पृथ्वी के उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहें। ८२

---

१ आगे बढ़ जाना; २ कमाया हुआ; ३ मार देने की क्रिया।

यः निन्दात् च	जो हमारी निन्दा करें और	तं सर्वं	उन सबको
अस्मान् धिप्सात्	जो हमको भय दिखावें	भस्मसा कुरु	भस्मीभूत कर दो ॥ ८० ॥

शत्रुता अकारण करें अग्नि ! जो हमसे।
जो करें अकारण द्वेष सदा ही हमसे ॥
निन्दा करते हैं सदा अकारण जो जन।
जो करते हैं आतंक, त्रास, भय-सर्जन[1] ॥
अविलम्ब उन्हें हे अग्ने ! भस्म करो तुम।
दण्डपति[2] ! रहें तुमसे संरक्षित सब हम ॥ ८० ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि जो लोग हमसे अकारण शत्रुता रखते हैं, अकारण द्वेष करते हैं, जो अकारण हमारी निंदा करते हैं तथा जो हमें भयभीत और आतंकित करने का प्रयास करते हैं, उन्हें तुम जला डालो। तुम दण्ड देकर हमारे विरोधियों को नष्ट करो। ८०

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम्।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ ८१ ॥

यस्य	जिसका	संशितं	प्रशंसनीय
अहं	मैं	वीर्यं बलं	वीर्य और बल,
पुरोहितः अस्मि	पुरोहित हूँ (उसका)	संशितं	प्रशंसनीय (और)
मे	(और) मेरा	जिष्णु क्षत्रं	विजयशील क्षात्र-तेज प्रचंड हो ॥८१॥
संशितं ब्रह्म	प्रशंसा योग्य वेद का विज्ञान		

हे अग्नि ! पुरोहित हूँ मैं जिस याजक का।
हो प्रबल वेद-विज्ञान मया-सह उसका ॥
उसका प्रशस्त बल-वीर्य सदा हो वर्द्धित।
जयशील क्षात्रबल उसका रहे समेधित[3] ॥
ब्राह्मबल, क्षात्रबल रहें निरंतर ऊर्जित।
यजमान-पुरोहित पुष्टि-तुष्टि पावें नित ॥ ८१ ॥

१ भय उत्पन्न करना; २ दण्ड देना जिसके अधिकार में है; ३ बढ़ा हुआ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

दृ॒शा॒नो रु॒क्म उ॒र्व्या व्य॑द्यौद् दु॒र्मर्ष॒मायुः॑ श्रि॒ये रु॑चा॒नः ।
अ॒ग्निर॒मृतो॑ अभव॒द्वयो॑भि॒र्यदे॑नं॒ द्यौरज॑नयत्सु॒रेताः॑[1] ॥ १ ॥

दृशानः	दिखानेवाला	यद् (यत्)	चूँकि (वह अग्नि)
द्यौः अग्निः	प्रकाशस्वरूप अग्नि	सुरेताः	सुन्दर वीर्यवान,
उर्व्या	पृथ्वी में	अमृतः	अविनश्वर है,
व्यद्यौत्	सबको विविध प्रकार से प्रकाशित करता है ।	दुर्मर्षं	दुःख को दूर करने वाला है,
श्रिये रुचानः	वह सौभाग्य की रुचि उत्पन्न करनेवाला है ।	आयुः अजनयत्	वह आयु को प्रकट करता है (और)
रुक्मः अभवत्	स्वयं तप्त स्वर्ण जैसा तेजस्वी होता है ।	वयोभिः एनं	तप की अवस्थाओं के साथ विद्वान को (वह प्रसिद्ध करता है) ॥ १ ॥

द्वादश अध्याय

है सभी पदार्थों का संदर्शक[1] अग्नि विदित ।
यह तेजस्वी है धरती पर उद्भासित नित ॥
इसके प्रकाश से बहुविधि होते दृश्यमान ।
जितने पदार्थ हैं इस धरती पर विद्यमान ॥
ऐश्वर्य और शोभा की रुचि करता जाग्रत ।
स्वयमेव बना रहता है अविरत[2] तेजभरित[3] ॥
उत्तम बलपूरित अमृत आयु करता प्रदान ।
रिपु-बाधा-वर्जित दुःख-रहित सुखमय महान ॥
पा शक्ति इसी की विद्वज्जन होते प्रसिद्ध ।
हे मानव ! है यह अग्नि ईड्य[4] नित यशोवृद्ध[5] ॥ १ ॥

---

१ दिखानेवाला; २ निरंतर; ३ तेजस्वी; ४ स्तुति करने के योग्य; ५ बढ़े हुए यश वाला ।

अन्न॑पते॒ऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑: ।
प्र-प्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ ऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥ ८३ ॥

[अध्याय: ११, कण्डिका: ८३ मन्त्र-संख्या १२२]

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

अन्नपते	अन्न का पालन करनेवाले हे अग्नि !
नः	(तुम) हमें
अनमीवस्य	रोगरहित
शुष्मिणः अन्नस्य	बलकारी अन्न
देहि	प्रदान करो,
प्र दातारं	दानी को
प्र तारिष	सुरक्षित रखो।
नः	हमको
द्विपदे चतुष्पदे	हमारे मनुष्य-पुत्रादि और गो आदि पशुओं के लिए
ऊर्जं धेहि	बलकारी अन्न प्रदान करो ॥ ८३ ॥

अन्नपति अग्नि हे ! करो हमें तुम अन्नदान।
जो रोग-बीज-वर्जित[1] बलदायक हो महान ॥
जो दानी हैं उनकी तुम रक्षा करो सतत।
द्विपदों-चतुष्पदों[2] सबको अन्न मिले अविरत ॥
सब मनुज-गवादिक पशु पावें बलप्रद भोजन।
मत रहे बुभुक्षित अन्नहीन प्राणी या जन ॥ ८३ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से अन्न प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। अग्नि के द्वारा यज्ञ होते हैं, यज्ञ से बादल उत्पन्न होते हैं जो बरसकर अन्न उपजाते हैं। इस प्रकार अग्नि ही अन्न का निमित्त-कारण है। इसलिए अग्नि को अन्नपति कहना उचित है। वेद दान को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। अग्नि दानी की रक्षा करें, यह प्रार्थना की गई है। अग्नि इतना अन्न प्रदान करें कि कोई मनुष्य या पशु भूखा न रहे। ८३

॥ एकादश अध्याय समाप्त ॥

---

१ जिसमें रोग के कीटाणु न हों;　　२ चौपाये;　　३ भूखा।

टि०—यह बड़ा कवित्वपूर्ण मंत्र है। इसमें बतलाया गया है कि समान कान्ति और समान मन वाले रात और दिन माता-पिता की तरह सायंकाल और प्रातःकाल अग्निहोत्र द्वारा अग्नि-रूपी शिशु का पालन-पोषण करते हैं। इसी से शक्ति प्राप्त कर वह अग्नि तपे हुए सोने की तरह दीप्तिमान होकर द्युलोक और पृथ्वी के बीच विराजमान होता है। इस अग्नि को जो देवगण हवि-रूपी धन अर्पित करते हैं वे उसको प्राणों में धारण करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जैसे माता-पिता अपने पुत्र का संरक्षण करते हैं, उसी प्रकार दिन और रात अग्नि का पालन करते हैं। २

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः
प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॑ण्योऽनु॒
प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति[1] ॥ ३ ॥

वरेण्यः	श्रेष्ठ,	द्विपदे चतुष्पदे	द्विपद एवं चतुष्पाद प्राणियों के
कविः सविता	दूरदर्शी सूर्यदेवता	नाकं	हित के लिए (वह)
उषसः प्रयाणम्	उषःकाल के आगे बढ़ने पर	भद्रं वि अख्यत्	कल्याणकारक सुख को उत्पन्न करता है और
अनु वि राजति	अनुकूलता से प्रकाशित होता है;	प्रासावीत्	सबकी उन्नति करता है ॥ ३ ॥
विश्वा रूपाणि	सब रूपों को		
प्रति मुञ्चते	प्रकाशित करता है;		

उषःकाल है गगनाङ्गन[1] में हुए प्रकाशित।
विश्वप्रसविता सविता ये कवि त्रिकालज्ञ[2] नित ॥
हैं वरेण्य ये सब रूपों के परम प्रकाशक।
द्विपद, चतुष्पद सबके हितसाधक हैं सम्यक् ॥
प्राणिमात्र को करते ये दुःखशोक-विवर्जित।
सुखदाता उत्कर्ष सभी का करते साधित ॥ ३ ॥

टि०—यह उषःकाल में उदित हुए सूर्यदेव का उपस्थान मंत्र है। वे आकाश में प्रकाशित हैं। वे परम श्रेष्ठ और त्रिकालज्ञ कवि हैं। वे मनुष्य जैसे दो पैरों वाले प्राणियों और गो, अश्व आदि चार पैरों वाले प्राणियों के हितों के सम्यक् संरक्षक हैं। वे सबका कल्याण करते और सबकी उन्नति का विधान करते हैं। ३

१ आकाश का आंगन; २ भूत-वर्तमान और भविष्य के जाननेवाले।

टिप्पणी—इस अध्याय का यह प्रथम मंत्र भी परमेश्वरवाची अग्नि के महिमागान से आरंभ होता है। इन अग्निदेव के कारण ही संसार के सब पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। वह अपने उपासक को उत्तम बलवीर्यसंपन्न, अमरणशील, शत्रुबाधा-रहित, दुःखहीन, परम सुखमय आयु प्रदान करता है। उसी से शक्ति प्राप्त कर विद्वज्जन प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। वह सबके लिए सदैव प्रशंसा करने योग्य है। मनुष्य को अग्नि से अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर अपने जीवन को यशस्वी बनाना चाहिए। १

नक्तोषासा समनसा विरूपे
धापयेते शिशुमेकꣳ समीची।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति
देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाः ॥ २ ॥

समनसा	समान मन वाले,	द्यावाक्षामा अन्तः	द्युलोक और पृथ्वी के भीतर
विरूपे	एक-दूसरे के विरुद्ध रूप या कान्ति वाले,	रुक्मः वि भाति	प्रकाशमान होकर वह शोभा पाता है।
समीची	परस्पर मिलनेवाले,	अग्निं	अग्नि को
नक्तोषासा	रात और दिन (अग्नि को)	द्रविणोदाः	हविष्य रूपी धन देनेवाले
एकं शिशुं	एक शिशु जैसे	देवाः धारयन्	देवगण धारण करते हैं ॥ २ ॥
धापयेते	अग्निहोत्र से तृप्त करते हैं।		

जिनकी कान्ति विरुद्ध किन्तु जिनके समान मन।
अहोरात्र[1] शिशु-सदृश अग्नि का करते पालन ॥
सायं-प्रातः अग्निहोत्र का पिला ज्वलित पय।
जनक और जननी से संतत वत्सलतामय[2] ॥
द्यावा-पृथिवी मध्य स्वर्ण-सा उद्भासित नित।
रहता है वह अग्नि इसी से सदा विराजित ॥
हवि-रूपी धन करते सदा देवगण[3] अर्पण।
प्राणों में वे अग्निदेव को करते धारण ॥ २ ॥

---

१ दिन और रात; २ वात्सल्य-भाव से भरे हुए; ३ देवता, तैत्तिरीय श्रुति में देव का अर्थ 'प्राण' भी कहा गया है।

टि०—इस मंत्र में रूपक अलंकार की शैली में अग्नि को गरुड़ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अग्नि सुन्दर पंखों वाला गरुड़ है। कर्म, उपासना और ज्ञानरूप त्रिवृत स्तोम उसका शिर है, गायत्री-सूर्य-सोम उसके नेत्र हैं। बृहत् और रथंतर नाम के साम उसके दोनों पंख हैं, यज्ञ आत्मा है, सब अंग संगीतमय छंद हैं। यजुर्वेद के सब मंत्र परमात्मावाची अग्नि के नाम हैं, वामदेव्य साम उनकी प्रशस्त देह है, यज्ञायज्ञिय साम पूंछ है और धिष्णा में स्थित होतृ आदि खुर-नख हैं। यज्ञ अग्नि का आत्मा है। यह अग्नि आकाशचारी है। यह ससीम को असीम और सान्त को अनंत बनाता है। स्वर्ग के सब सुख इसी के अधीन हैं। ४

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आ रोह पृथिवीमनु वि क्रमस्व[1] विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आ रोहान्तरिक्षमनु वि क्रमस्व[2] विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आ रोह दिवमनु वि क्रमस्व[3] विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्द आ रोह दिशोऽनु वि क्रमस्व[4] ॥ ५ ॥

विष्णोः	(तुम) विष्णु के
सपत्नहा	शत्रुघाती
क्रमः असि	कार्यक्रम हो।
गायत्री छन्दः	गायत्री छन्द पर
आ रोह	आरोहण करो।
पृथिवीं	भूमि के प्रदेश में
अनु वि क्रमस्व	विशेष पराक्रम करो।
विष्णोः	(तुम) विष्णु के
अभिमातिहा	शत्रुनाशक
क्रमः असि	(कार्य-) क्रम हो;
त्रैष्टुभं छन्दः	त्रिष्टुभ् छन्द पर
आ रोह	आरोहण करो;
अन्तरिक्षम्	अन्तरिक्ष के क्षेत्र में
अनु वि क्रमस्व	विशेष पराक्रम करो;
विष्णोः	सर्वव्यापक विष्णु के
क्रमः	(तुम) पराक्रम हो।
अरातीयतः	शत्रुओं के
हन्ता असि	मारनेवाले हो;
जागतं छन्दः	जगती छन्द पर
आ रोह	आरोहण करो;
दिवं अनु वि मस्व	द्युलोक में विशेष
क्रमस्व	पराक्रम करो;
विष्णोः क्रमः	ईश्वर के पराक्रम से
शत्रूयतः	शत्रुता करनेवालों के
हन्ता असि	नाशक हो।
अनुष्टुभ छन्दः	अनुष्टुप् छन्द पर
आ रोह	आरोहण करो।
दिशः अनु वि	सब दिशाओं में
क्रमस्व	विशेष पराक्रम करो ॥५॥

हे विष्णु! अये सर्वव्यापी परमेश्वर!।
तुम शत्रु-हनन के हेतु बनो अग्रेसर[1] ॥

१ आगे चलनेवाले, नायक।

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोम आत्मा छन्दाᳬंस्यङ्गानि यजूᳬंषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

सुपर्णः	सुन्दर पंख वाले (हे अग्ने !) (तुम)
गरुत्मान् असि	गरुड़ हो।
त्रिवृत् ते शिरः	त्रिवृत् स्तोम तुम्हारा शिर है।
गायत्रं	गायत्री
ते चक्षुः	तुम्हारा नेत्र है,
बृहद्रथन्तरे पक्षौ	बृहत् और रथन्तर साम दोनों पंख है,
स्तोमः आत्मा	स्तोम आत्मा है।
छन्दांसि अङ्गानि	सब छन्द तुम्हारे अंग हैं।
यजूंषि नाम	यजु तुम्हारे नाम हैं।
वामदेव्यं साम	वामदेव्य नामक साम
ते तनूः	तुम्हारा शरीर है।
यज्ञायज्ञियं पुच्छं	यज्ञायज्ञिय नामक साम तुम्हारी पूंछ है।
धिष्ण्याः शफाः	धिष्ण्य (होतृ आदि) तुम्हारे खुर-नख हैं।
गरुत्मान्	(तुम) वेगवान
सुपर्णः असि	गरुड के समान हो
दिवं गच्छ	आकाश में गमन करो (और)
स्वः पत	स्वर्लोक को प्राप्त करो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! शोभन पंखों वाले गरुत्मान्[१]।
है नहीं सृष्टि में तुम-सा कोई वेगवान ॥
है विदित तुम्हारा शीर्षदेश[२] यह त्रिवृत् स्तोम।
गायत्री दोनों नेत्र उदित ज्यों सूर्य-सोम ॥
ये बृहत् रथंतर साम पक्षद्वय हैं स्फूर्जित[३]।
आत्मा है ऋतु, सब अंग छन्द से कल-कूजित[४] ॥
सब यजुर्वेद के मन्त्र तुम्हारे नाम, पुण्य।
यह वामदेव्य अभिधान[५] साम है देह धन्य ॥
है यज्ञायज्ञीय साम तुम्हारा पुच्छ प्रथित।
खुर-नख हैं होतृ आदि धिष्णास्थ विदित ॥
इस भाँति अग्नि ! प्रत्यक्ष गरुड़ तुम वेगवान।
तुम करो व्योम में गमन स्वर्गसुखप्रद महान ॥ ४ ॥

---

१ गरुड़; २ शिर; ३ सक्रियता से भरे चमकते-गरजते हुए; ४ सुन्दर संगीतमय; ५ नाम वाला।

अग्निः	अग्नि
द्यौः इव	आकाशस्थित मेघ की तरह
स्तनयन्	गर्जन करता हुआ,
क्षामा	पृथ्वी पर
रेरिहत्	शब्द करता है;
वीरुधः समञ्जन्	वृक्षों को व्याप्त करके
अक्रन्दत्	प्रदीप्त होता है;
हि सद्यः	निश्चय ही शीघ्र
जज्ञानः	प्रकट होकर,
इद्धः	प्रदीप्त होकर
ईं वि अख्यत्	सबको प्रकाशित करता है ।
रोदसी अन्तः	द्यावापृथ्वी के मध्य में (तू)
भानुना	किरणों से
आ भाति	प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

ये अग्नि मेघ से करते नभ में गर्जन ।
धरती पर उतर रहे हैं बनकर जीवन[1] ॥
ज्वालायें उनकी वीरुधचय में व्यापृत ।
फल-फूलों में परिणत होकर हैं दीपित ॥
किरणों से द्यावा-पृथ्वी-मध्य प्रकाशित ।
ये अग्नि सभी कुछ करते हैं उद्भासित ॥
होकर प्रदीप्त ये हैं प्रकाश फैलाते ।
हैं सभी दिशाओं में नित ज्योति जगाते ॥ ६ ॥

टि०—ये अग्नि आकाशस्थित मेघों की तरह गर्जन करते हुए जीवन बनकर धरती पर अवतरित होते हैं । अग्नि ही जीवन हैं, जीवन की ऊष्मा हैं । ये अग्नि ही वृक्षों, वनस्पतियों में व्याप्त है और फूल-फल बनकर प्रकट होते हैं । ये अग्नि अपनी किरणों से द्यावा-पृथिवी के मध्य प्रकाशित हो रहे हैं और संसार की सब वस्तुएँ उन्हीं से प्रकाशित हो रही हैं । ६

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ।
सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

अभ्यावर्तिन् अग्ने	सम्मुख प्रदीप्त होने वाले अग्निदेव !
आयुषा	आयु से,
वर्चसा	कान्ति से,
प्रजया	सन्तान द्वारा
सन्या	इष्टलाभ से,
मेधया	धारणावती बुद्धि से,
धनेन रय्या	धन और ऐश्वर्य से

१ यहाँ श्लेष है— 'जीवन' जीवित रहने की स्थिति के अतिरिक्त 'जल' के अर्थ का भी बोधक है ।

अरि-निर्मूलन का करो कार्य संपादित।
धरती पर अपना विक्रम करो प्रकाशित॥
गायत्र-छंद पर करो देव! आरोहण।
मानव-प्राणों का करो सतत संरक्षण॥
हे विष्णु! सर्वव्यापी के अरिनाशक-क्रम[1]।
तुम अन्तरिक्ष पर करो प्रतिष्ठित विक्रम॥
त्रिष्टुभ्-छंद की शक्ति पर कर आरोहण।
नित ज्ञान, कर्म, भक्ति का करो संवर्धन॥
सर्वव्यापक ईश्वर के कार्यक्रम तुम।
हे विष्णु! शत्रुनाशक तुम सदा अन्यतम॥
जगती-छंद की शक्ति पर कर आरोहण।
दिव पर तुम अपना करो प्रतिष्ठित शासन॥
हे विष्णु! विदित सर्वव्यापक परमेश्वर।
हो शत्रुनाश के हेतु निरंतर तत्पर॥
कर छंद, अनुष्टुप् के हय पर आरोहण[2]।
दिशि-विदिशि करो तुम प्रबल पराक्रम-वर्धन॥
लोकत्रय असुर-त्रास से मुक्त करो तुम।
सबके शरण्य हे विष्णु! प्रणम्य त्रिविक्रम॥ ५॥

टि०—प्रतापी असुरराज बलि पर वामन की विजय की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। उसी घटना के कारण विष्णु त्रिविक्रम नाम से प्रसिद्ध हुए। इस आख्यान का वैदिक रूप इस कंडिका में प्राप्त होता है। सर्वव्यापक परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि वे गायत्री छंद की शक्ति पर आरूढ़ होकर शत्रुओं का उन्मूलन करें और धरती पर अपना पराक्रम अंकित करे। गायत्री छंद वह है जिससे प्राणों का पालन या त्राण होता है। जगती का अर्थ है जगत् या पृथ्वी से संबंध रखनेवाला। पृथ्वी का लाक्षणिक अर्थ है मानव-जाति। मानव-जाति के हित और उन्नयन की प्रवृत्ति ही जगती छंद है। त्रिष्टुप् छंद ज्ञान, कर्म और उपासना का सुसमन्वित रूप है। अनुष्टुप् छंद उत्तम कीर्ति का दसों दिशाओं में विस्तार करता है। इन छन्दों की शक्ति का उपयोग कर विष्णु ने असुर राज्य का उन्मूलन कर स्वर्गलोक का निर्माण किया। मनुष्य को भी वैसा ही पराक्रम कर पृथ्वी पर स्वर्ग को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। विष्णु का पराक्रम मनुष्य का आदर्श और ध्येय होना चाहिए। ५

अक्रन्दद॒ग्नि स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा
रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॥ ६॥

---

१ शत्रु का नाश करनेवाला पराक्रम; २ चढ़ाई।

पोषक धन की तुम वृद्धि करो अग्ने ! अगणन[1] ।
फिर प्राप्त करें हम नष्ट हुआ सब अपना धन ॥
ऐश्वर्य हमारा करो पुनः हमको प्रदान ।
दो चिरजीवी ऐश्वर्य देव ! हमको महान ॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को परम अंग-सौष्ठव-मंडित कहा गया है। इस मंत्र में अग्नि के लिए 'अंगिरः' संबोधन का प्रयोग किया गया है। 'अंगिरः' का अर्थ अंगों का रसभूत तत्त्व है और अंगसौष्ठवयुक्त भी है। अग्नि से अनुरोध किया गया है कि तुम शत बार, सहस्र बार इस यज्ञस्थान में पधारो। शत और सहस्र असंख्यता के बोधक हैं—'असंख्यात-विषयः' हैं। अनुवाद में कोटि शब्द का प्रयोग किया गया है, यह भी असंख्यता का बोधक है। यह याचना भी की गई है कि हमारे धन की वृद्धि करो, और हमारे नष्ट धन को हमें प्राप्त कराओ। हमारा ऐश्वर्य फिर हमें प्राप्त हो। ८

पुनरूर्जा नि वर्त्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा ।
पुनर्नः पाह्यᳬंहसः ॥ ९ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	पुनः	फिर आओ।
ऊर्जा	शक्ति के साथ	पुनः अंहसः	फिर पाप से
पुनः निवर्तस्व	फिर आगमन करो।	नः पाहि	हमारी रक्षा
इषा आयुषा	अन्न तथा आयु के साथ		करो ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! शक्ति के साथ पुनः आगमन करो ।
आयु के अन्न के साथ पुनः आगमन करो ॥
दो शक्तिदान, दो आयुदान, दो अन्नदान ।
रक्षा पापों से करो हमारी हे महान ॥
दीर्घायु बनें हम अन्नों से भण्डार भरें ।
मानव-जीवन के लक्ष्य सभी हम सिद्ध करें ॥ ९ ॥

टि०—अग्निवाची परमेश्वर से इस मंत्र में बड़ी आर्जवपूर्ण प्रार्थना की गई है—आप हमें शक्ति, दीर्घायुष्य प्रदान करें एवं अन्न प्रदान करें; पापों से हमारी रक्षा करते रहें जिससे हम आपकी कृपा के अधिकारी बने रहें। ९

सह र॒य्या नि व॑र्तस्वाग्ने॒ पिन्व॑स्व॒ धार॑या ।
वि॒श्वप्स्न्या॑ वि॒श्वत॒स्परि॑ ॥ १० ॥

१ असंख्य ।

पोषेण	पुष्टि के द्वारा	अभि नि वर्तस्व	सम्मुख प्राप्त
मा	मेरे		हो ॥ ७ ॥

हे अभ्यावर्तिन्[1] अग्ने! तुम हो सम्मुखीन[1]।
शुभ गुण प्रदान करने में पटु हे कृपापीन[2] ॥
आयुष्य दीर्घ, वर्चस्व और सन्तति उत्तम।
दो, पूरे करो अभीष्ट हमारे देवोत्तम! ॥
धारणावती दो बुद्धि और वैभव अमेय[3]।
हों सहज सुलभ अग्ने! हमको सब प्रेय-श्रेय ॥ ७ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य के प्राप्तव्य इष्टों का निरूपण है। सम्मुख प्रदीप्त परमेश्वर अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे दीर्घायु, कान्ति, उत्तम संतान, धारणावती बुद्धि, अनंत ऐश्वर्य एवं सब प्रेय-श्रेय प्रदान करें। हमारी अभीष्ट-सिद्धि निरंतर होती रहे। ७

अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः
सहस्रं त उपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमा
कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ ८ ॥

अङ्गिरः अग्ने	अंगिराओं के समान देदीप्यमान अग्नि!	पोषेण	वृद्धि से
		नः	हमारे
ते आवृतः	तेरे-हमारे बीच आगमन-गमन	नष्टं	नष्ट धन को
		पुनः कृधि	फिर प्राप्त कराओ।
शतं सन्तु	सैकड़ों बार हो।	नः रयिं	हमारे ऐश्वर्य को
ते उपावृतः	तुम्हारा पुनरागमन	पुनः आ कृधि	फिर प्रदान करो ॥ ८ ॥
सहस्रं सन्तु	हजारों बार हो		
अधा पोषस्य	और पुष्टिकारक धन की		

अंगिरः[4] अग्नि हे! दीप्यमान अंगिरों-सदृश।
रहते हो परम अंगसौष्ठव - मण्डित दिन-निशि ॥
तुम यहाँ पधारो स्नेहपुरःसर[5] बार-बार।
दर्शन दे हमको करो उपकृत कोटि वार ॥

१ सामनेवाली अग्नि; २ परिपुष्ट कृपा करनेवाले अर्थात् अत्यंत कृपालु; ३ जिनकी नाप-जोख न हो सके; ४ अंग का रस, अंगसौष्ठवयुक्त, ५ स्नेह के साथ।

जनपदसमूह यह राष्ट्र न हो आचरण-भ्रष्ट।
नागरिकों का जीवन समग्र हो आर्यजुष्ट[1] ॥ ११ ॥

टि०—हे अग्नि ! तुम बड़ी कठोर तपश्चर्या के पश्चात् द्युलोक से लाये गये हो। तुम हमारे अंतर में ध्रुव होकर निवास करो। साथ ही साथ हमारे इस राष्ट्र में भी स्थिर होकर निवास करो। अन्न-धन, प्रेय-श्रेय सभी के स्रोत तुम हो, इसलिए सब प्रजाजन तुम्हारी कामना करते रहें। यह राष्ट्र जनपदों का समूह है, पापों से इसकी रक्षा करो। यहाँ के नागरिक आचरणभ्रष्ट न होने पावें। वे अपने जीवन में सदाचार का उच्चादर्श प्रस्तुत करें। ११

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मᳬं श्र॑थाय।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ १२ ॥

वरुण	हे वरुण !
उत्तमं पाशं	उत्तम पाश को
अस्मत्	हमसे
उत् श्रथाय	निकालकर दूर करो।
अधमं अव	नीचे के बन्धन को नीचे गिरा दो।
मध्यमं वि (अव)	मध्यम प्रदेश के अपने पाश को दूर करो।
अथ	अब
आदित्य	हे सूर्य !
अनागसः	निष्पाप होकर
तव व्रते	तुम्हारे कर्म में
वयं	हम
अदितये स्याम	अदीन, अखंड रहें ॥ १२ ॥

हे वरुण ! पाश यह उत्तमाङ्ग[2] का शिथिल करो।
मेरे बन्धन सब दूर करो हे देव ! हरो ॥
नीचे के बन्धन को भी शिथिलित कर हर लो।
मध्यस्थित अपना पाश शिथिल कर लो, हर लो ॥
आदित्य[3] ! करें हम पापहीन रह सकल कर्म।
स्वातंत्र्य-प्राप्ति-हित पालन करें अखण्ड धर्म ॥ १२ ॥

टि०—वरुण देवता का अस्त्र पाश है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीन पाश या ग्रंथियों को प्रकार-भेद से या प्रसंग-भेद से विष्णुग्रंथि, ब्रह्मग्रंथि या रुद्रग्रंथि भी कहा गया है। वरुण देवता से ये पाश या ग्रंथियाँ खोलने की प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। 'भिद्यते हृदयग्रंथिः'। ग्रंथियाँ खुल जाने पर संशयमुक्त होने की बात

---

१ आर्यजनोचित चरित्रवाला; २ शरीर का ऊपरी भाग; ३ यह वरुण का भी नाम है, सूर्य का प्रसिद्ध ही है। वरुण भी अदिति के पुत्र है।

अग्ने	हे अग्नि !	**धारया**	जलधार से
रय्या सह	धन के साथ	**विश्वतः**	जगत् के ऊपर
निवर्तस्व	लौटो।	**परि पिन्वस्व**	सिंचन करो ॥१०॥
विश्वप्स्न्या	सबकी उपयोगी		

बरसो धन धारासार पुनः आगमन करो।
धन बरसो अनवच्छिन्न[1] सकल भण्डार भरो॥
हे अग्नि ! वृष्टि बनकर तुम संसृति पर बरसो।
तृण, धान्य, लता, पादप को सरसाओ, सरसो॥
बरसो धनधारा सबके हित सबको हितकर।
हे देव ! पधारो पुनः रहो चिर मंगलकर॥ १०॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से धन की धारासार वृष्टि करते हुए पधारने-का अनुरोध किया गया है। वे धन की ऐसी अटूट वर्षा करें कि घर-भंडार भर जाएँ। अग्नि ही यज्ञ के हेतु है। यज्ञ से बादल बनते हैं और मेघ-जल से अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्नि ही वृष्टि के रूप में तृण, शस्य, लता, वृक्षादि सबको हरा-भरा बनाता है। इस वैदिक प्रार्थना की विशेषता यह है कि इसमें ऐसी धनधारा बरसाने का अनुरोध किया गया है जो सबके लिए हो, अर्थात् सबके लिए उपभोग्य और हितकारी हो। १०

आ त्वाऽहार्षमन्तरंभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविंचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥११॥

त्वा आहार्षम्	(हे अग्नि !) तुमको मैं लाया हूँ।	**सर्वाः विशः**	सम्पूर्ण प्रजायें
अविचाचलिः	अचल और	**त्वा वाञ्छन्तु**	तुम्हारी इच्छा करें।
ध्रुवः	स्थिर होकर (तुम)	**त्वत्**	तुमसे
अन्तरं तिष्ठ	हमारे अन्दर स्थिर रहो।	**राष्ट्रं**	यह राष्ट्र
		मा अधिभ्रशत्	भ्रष्ट न हो॥ ११॥

हे अग्ने ! तुमको हूँ द्युलोक[2] से मैं लाया।
अंतर में निश्चल वास करो ज्योतिर्काया[3]॥
अविचलनशील[4] हो करो राष्ट्र में वास मुदा।
कामना तुम्हारी करे प्रजा सम्पूर्ण सदा॥

---

१ जो छिन्न न हो, टूटे नहीं; २ स्वर्ग; ३ हे ज्योतिर्मय शरीरवाले; ४ स्थिर, ध्रुव।

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता
वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ १४ ॥

हंसः	सबका आत्मा,	वरसत्	उत्कृष्ट क्षेत्रों में विराजमान,
शुचिषत्	पवित्र स्थान में रहनेवाला,	ऋतसत्	यज्ञ में रहनेवाला,
अन्तरिक्षसत्	अन्तरिक्ष में रहने वाला,	व्योमसत्	आकाश में रहने वाला
वसुः	सबको वसानेवाला	अब्जा	जलों में और
वेदिसत्	वेदी में रहनेवाला,	गोजाः	भूमि में रहनेवाला,
होता	देवताओं को वुलानेवाला,	ऋतजाः	सत्य और ज्ञान से विशेष सामर्थ्यवान
दुरोणसत्	यज्ञगृह में स्थित,	अद्रिजाः	पाषाण में रहनेवाला,
अतिथिः	अतिथि के समान प्रिय,	ऋतं	(जो) सत्य और
नृषत्	मनुष्यों में प्राण-रूप से रहनेवाला	बृहत्	महान है (ऐसे अग्नि से हम प्रार्थना करते है) ॥ १४ ॥

आत्मा है सबका अग्नि शुचि-स्थलवासी ।
वह निखिल-वासप्रद[1] अंतरिक्ष-अधिवासी ॥
वह अग्निरूप में वेदी में रहता है ।
सब देवों का आह्वान वही करता है ॥
रहता सदैव वह यज्ञस्थल में संस्थित ।
है अतिथि-रूप में सबके द्वारा वंदित ॥
रहता है प्राणरूप में मानव में वह ।
उत्कृष्ट क्षेत्र मे शोभा पाता अहरह ॥
ऋतुवासी है वह ही आकाश-विलासी ।
उन अग्निदेव के स्तुतिरत हम विश्वासी ॥
जल में व्यापक हैं अग्नि भूमि में व्यापक ।
है सत्य-ज्ञान से निज सामर्थ्य-प्रकाशक ॥

---

१ सबको वसानेवाला ।

गीता में भी कही गई है। यही सच्चा अदिति-भाव है— अखंडता, अदीनता और स्वतंत्रता का भाव, जिसे परनिर्वृत्ति कहते हैं। १२

अग्ने॑ बृहन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान्
तम॑सो॒ ज्योति॒षाऽऽगा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ
जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः॑ ॥ १३ ॥

बृहन् अग्नि	महान अग्नि	ज्योतिषा	ज्योति के साथ
उषसां	उषःकाल के	आ अगात्	यहाँ आ गया है।
अग्रे	आगे	रुशता भानुना	किरणों से सुशोभित
ऊर्ध्वः अस्थात्	ऊंचा हुआ,	स्वङ्गः जातः	अपने अंग से उत्पन्न
तमसः	अंधकार से	विश्वा सद्मानि	सब लोकों को (वह)
निर्जगन्वान्	निकला हुआ,	आ अप्राः	पूर्ण करता है ॥१३॥

बृहत् प्रभामंडित महान यह अग्नि उषा के आगे।
उदित हुआ है, ऊर्ध्वस्थित[1] है, देख तिमिर-दल भागे॥

अंधकार को चीर ज्योति के साथ यहाँ है आया।
किरणों से शोभित, लोकों को तेजोभरित[2] बनाया॥
इसी सूर्य-सा न्याय-नीति का जो प्रकाश फैलाता।
प्रजाजनों के हित होता जो सुख-सौभाग्य-विधाता॥
जो मानव-मूल्यों की रक्षा में रहता तत्पर नित।
धर्मराज्य के संस्थापन के हित जो होता अर्पित॥
सत्य बोलनेवाला एवं सदा धर्म-पथचारी।
वही मनुज शासक के पद का होता है अधिकारी॥ १३ ॥

टि०—इस मंत्र में सूर्योदय का बड़ा प्रभावशाली वर्णन है। सूर्य को अग्नि कहा गया है। यह अंधकार को चीरकर परम प्रकाश से मंडित होकर उदित हुआ है। इसने सभी लोकों को अपने तेज और प्रताप से आपूरित कर दिया है। महर्षि दयानंद ने इसका अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। उनका कहना है, राजा या सर्वोच्च शासक इसी सूर्य की तरह अपने सत्य और न्याय से प्रकाशित होकर प्रजाजनों का कल्याण करे, उनके अज्ञान का अंधकार दूर करे। ऐसा ही व्यक्ति शासक होने की योग्यता रखता है। १३

---

१ ऊपर आकाश मे विराजमान; २ तेज से भरा हुआ।

बन सकता मानव वही राष्ट्र का शासक।
पालन कर सकता वही प्रजा का सम्यक्॥ १५ ॥

टि०—वैदिक रहस्य-दर्शन-संबंधी यह एक प्रतिनिधि मंत्र माना जा सकता है। इस मंत्र में 'मातुरस्या' शब्द विशेष अर्थगर्भित है। उव्वट, महीधर अपनी टीका मे इस 'माता' का अर्थ उखा करते है। महर्षि दयानंद इसे विदुषी माता मानते है, जिसकी गोद में विद्या और शिक्षा पाकर राष्ट्र के चारित्र्य एवं ज्ञानसंपन्न महान शासक का निर्माण होता है। वेदमूर्ति सातवलेकर इस विषय में कोई संकेत नहीं देते। 'उखा' के मंत्रों में यह महत्तत्त्व के प्रतीक के रूप में संकेतित प्रतीत होता है। अखंडता-अदीनता का मूर्तरूप अदिति सबकी माता है, वह मूल-प्रकृति है। महत्तत्त्व सृष्टि-रचना के तत्त्वों का समवाय है, जिससे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का प्रादुर्भाव होता है। यह तभी हो सकता है जब उसमें चित्-तत्त्व का, चिदग्नि का प्रवेश हो। यह चिदग्नि ही अपनी शुक्र-ज्योति अर्थात् निर्मल प्रकाश के द्वारा तत्त्वों के क्रमिक विकास का हेतु है। उसी चिदग्नि की महिमा का गान इस मंत्र में है। १५

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।
तस्यास्त्वꣳ हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

अग्ने	हे अग्नि!	त्वं	तुम
रुचा	अपनी दीप्ति से	हरसा	ज्योति से
उखायाः	इस उखा के	तपन्	तपते हुए
अन्तः	मध्य में	तस्याः	उखा का
स्वे सदने	अपने घर के अन्दर (प्रदीप्त रहो)।	शिवः भव	कल्याण करनेवाले बनो॥ १६ ॥
जातवेदः	हे सबको जाननेवाले अग्ने!		

उत्संग उखा का सदन तुम्हारा अपना।
तुम वहाँ विराजो ज्योतिर्व्यूह[1] ले अपना॥
हे जातवेद! सब जातमात्र[2] के ज्ञाता।
सर्वज्ञ! सदा सबके कल्याण-विधाता॥
तुम बनो उखा के हेतु शान्त मंगलकर।
चिति का उन्मीलन[3] करते रहो निरंतर॥
अग्नि-सा प्रतापी करे राष्ट्र का शासन।
रंजन[4] जन-जन का करे दुष्ट का ताड़न॥ १६ ॥

---

१ प्रकाशसमूह; २ जिनका जन्म हुआ है, ३ सृष्टि मे चित्-तत्त्व का विकास; ४ सुखी बनाने का प्रयत्न।

पाषाणों में भी प्रकट अग्नि की सत्ता।
ऋत-रूप अग्नि हैं उसकी अतुल महत्ता॥
ये अग्नि सदा ही व्यापक हैं बहिरंतर।
यज्ञों में होते दीपित-ज्वलित निरंतर॥ १४॥

टि०—उव्वट और महीधर के अनुसार यह राजसूय अग्नि के आवाहन और प्रतिष्ठा का मंत्र है। महर्षि दयानन्द के अनुसार यह राजा और ईश्वर के गुणों का निरूपक मंत्र है। वेदमूर्ति सातवलेकरजी इसे अग्निवाची परमेश्वर की महिमा का गान मानते है। उनके अनुसार ये अग्नि ही यज्ञों में प्रज्वलित किये जाते हैं। १४

सीद॒ त्वं मा॒तुर॒स्या उ॒पस्थे॒
विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
मैनां॒ तप॑सा माऽर्चिषा॒ऽभि शो॑चीर॒न्तर॑स्याᳬं
शु॒क्रज्यो॑तिर्वि भा॑हि॥ १५॥

अग्ने	हे अग्नि!
विश्वानि वयुनानि	सब कर्मों को
विद्वान्	जाननेवाले
त्वं	तुम
अस्याः मातुः	इस माता के
उपस्थे सीद	निकट स्थित हो।
एनां	इसको
तपसा	अपनी उष्णता से
मा अभिशोचीः	मत सन्तापित करो;
अर्चिषा मा	ज्वाला से मत जलाओ।
अस्यां अन्तः	इसके मध्य में
शुक्रज्योतिः	अपने निर्मल प्रकाश से
वि भाहि	विशेष प्रदीप्त हो जाओ॥ १५॥

हे अग्निदेव! तुम सब कर्मों के ज्ञाता।
बैठो समीप, यह उखा सृष्टि की माता॥
संतापित करो न इसको निज ऊष्मा[1] से।
मत करो दाध इसको ज्वालामाला से॥
उतसंग[2] बीच इसके हे देव! विराजो।
दीपित विशेष हो शुक्रज्योति[3] निज साजो॥
विदुषी माता से विद्या-शिक्षा पाकर।
बनता जिसका चारित्र्य अग्नि-सा भास्वर॥

१ गर्मी; २ गोद; ३ निर्मल प्रकाश।

जातवेदाः अग्निः	सबको जाननेवाला अग्नि	अजस्रं	नित्य निरन्तर
प्रथमं दिवः	पहले द्युलोक में	अप्सु	जल में,
परि जज्ञे	सूर्यरूप में प्रकट हुआ।	एनं	इस अग्नि को
द्वितीयं	दूसरे	स्वाधीः	सुन्दर बुद्धि वाला यजमान
अस्मद् परि	हमारे स्थानों में,	इन्धानः	प्रदीप्त करता हुआ
तृतीयं	तीसरे	जरते	(उसको) स्तुति करता है ॥ १८ ॥

अग्नि जातवेदा है सबका ज्ञाता विश्रुत।
दिव में पहले सूर्य-रूप में हुआ प्रकाशित॥
तदनंतर प्रकटा वह अपने इन लोकों में।
वह्निरूप में मंगलकर मानव-ओकों[1] में॥
हुआ तीसरी बार प्रकट वड़वानल बन वह।
जलनिधि में प्रज्वलित हो रहा है वह अहरह॥
सदा अनुग्रहबुद्धियुक्त[2] शुचिमन याजक जन।
कर प्रदीप्त इनको करते अर्चन आजीवन॥ १८॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के आविर्भाव का वर्णन है। सबसे पहले वह द्युलोक में सूर्यरूप में प्रकट हुआ, दूसरी बार धरती पर वह्निरूप में आया, तीसरी बार वड़वानल बनकर समुद्र में प्रज्वलित हुआ। अनुगृहीत बुद्धि वाले यजमान जीवन भर उसको यज्ञों में प्रदीप्त करते हैं और आजीवन उनकी आराधना करते रहते हैं। १८

विद्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॒
वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा ।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा
तमु॒त्सं यत॑ आज॒गन्थ॑ ॥ १९ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	पुरुत्रा	गार्हपत्य,
ते त्रेधा	तेरे तीन प्रकार के	विभृता	आहवनीय,
धाम	तेज को,	ते धाम	अन्वाहार्य, पचनआग्नीध्रीयादि तेरे धाम को
त्रयाणि	तीनों को		
आ विद्म	हम अच्छी तरह जानते है।	आ विद्म	हम जानते हैं।

१ मनुष्यों के घरों में; २ जिनकी बुद्धि में अग्नि के उपकारों की चेतना है।

टि०—यह मंत्र भी पूर्ववर्ती मंत्र की श्रेणी का है। 'उखा' का मध्य या अन्तराल अग्नि का अपना घर है। वहाँ अपनी ज्वालामाला के साथ अग्नि शोभा प्राप्त करे। अग्नि सर्वज्ञ है, सबका कल्याणकारी है। सृष्टि में चिति के उन्मीलन का वही निमित्त है। महर्षि दयानंद के अनुसार इस मंत्र का यह आशय है, अग्नि जैसे प्रतापी पुरुष को ही राष्ट्र का शासक होना चाहिए। उसके न्याय द्वारा प्रजाजन प्रसन्न रहें और दुष्ट प्रताड़ित और निरस्त हों। १६

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥१७॥

अग्ने	हे अग्नि !	सर्वाः दिशः	सम्पूर्ण दिशाओं को
त्वं	तुम	शिवाः कृत्वा	कल्याणकारी बनाकर
मह्यं	मेरे लिए	इह	यहाँ
शिवः भूत्वा	कल्याणकारी होकर	स्वं योनिं	अपने स्थान में
अथो	इसके अनन्तर	आसद	स्थिर होओ ॥१७॥
शिवः सीद	कल्याणकारी होकर बैठो।		

शिवरूप बनो हम सबके मंगलकारी।
हे अग्निदेव ! यह है प्रार्थना हमारी ॥
कल्याणमूर्ति हे ! सुख से यहाँ विराजो।
दिशि-विशि में जन-जन के हित मंगल साजो ॥
यह यज्ञवेदिका स्थान तुम्हारा पावन।
हे देव ! विराजो यहाँ सदा पाहुन बन ॥
न्यायासन पर शासक ध्रुव रहें प्रतिष्ठित।
अग्नि-से करें कल्याण प्रजा का वे नित ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि अग्निदेव यज्ञभूमि में पधारें। यज्ञवेदी पर अपना आसन ग्रहण करें। वे शिवरूप हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं। शासकों को न्यायासन पर बैठकर अग्निदेव की तरह निरंतर प्रजा का कल्याण करना चाहिए। जैसे यज्ञवेदिका अग्नि का स्थान है, वैसे ही न्यायासन राष्ट्राध्यक्ष का स्थान है। उसे अपने न्याय के आसन से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। १७

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥ १८ ॥

नृचक्षाः	तेजस्वी प्रजापति ने (तुम्हें)
अप्सु अन्तः	जलों के भीतर प्रदीप्त किया।
दिवः ऊधन्	द्युलोक में
तृतीये रजसि	तीसरे सुन्दर तेजोमण्डल में
तस्थिवांसं त्वा	सूर्य-रूप में रहने वाले तुम्हें प्रजापति ने प्रदीप्त किया।
महिषाः	महान इच्छा वालों ने
अपां उपस्थे	जलों में स्थित
अवर्धन्	तुमको बढ़ाया ॥२०॥

हे अग्नि! मानवों में विशिष्ट जो मननशील,
जानते तुम्हीं हो जलनिधि में वाड़व दीपित।
तेजस्वी परम प्रजापति ने संचरणशील[1],
आकाशी मेघों में तुमको विरचा विद्युत्॥
दिव का तीसरा भव्य तेजोमंडल सुनील,
रविरूप प्रजापति द्वारा उसमे तुम निर्मित।
इस भाँति महत् इच्छा-वाले जन महाप्राण,
संर्वाधित करते रहे तुम्हें जल में संस्थित॥ २०॥

टि०—मननशील मानवों ने अग्निवाची परमेश्वर का साक्षात्कार समुद्र में बड़वानल-रूप में किया। तेजस्वी प्रजापति ने आकाश के मेघों में अग्नि को बिजली के रूप में रचा। द्युलोक के तीसरे भव्य तेजोमंडल में प्रजापति के द्वारा उन्हीं अग्नि की रचना सूर्य-रूप में हुई। महान इच्छाशक्ति-वाले महाप्राण जन जल में संस्थित उस अग्नि का निरंतर संवर्धन करते रहते हैं। २०

अक्रन्दद॒ग्निः स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः
क्षामा॒ रेरि॑हद्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा
रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॑॥ २१॥

अग्निः	अग्नि
द्यौः इव	द्युलोक में
स्तनयन्	गर्जन करता हुआ
क्षामा रेरिहत्	धरती को प्रकाशित करता है।
वीरुधः	वृक्षों को
समञ्जन्	अंकुरित करता हुआ
अक्रन्दत्	सबको व्यापकर प्रदीप्त होता है।
हि	निश्चय ही

१ गतिमान।

यत् ते	जो तेरा	तं उत्सं	उस स्रोत को भी
परमं गुहा	परम गुह्य	आ विद्म	हम जानते हैं,
नाम	बुद्धि में नाम है	यतः आजगन्थ	जहाँ से हम प्रकट
आ विद्म	उसे भी हम जानते हैं।		हुए है ॥ १९ ॥

हे अग्नि! तुम्हारे धाम तीन हैं हमें ज्ञात।
जो सूर्य, वह्नि, वड़वानल-रूपों में विभात[1] ॥
हैं वह्नि, वायु, सूर्याख्य[2] तुम्हारे तीन धाम।
हैं ज्ञात हमें सम्यक् ये तीनों जन्म, नाम ॥
जानते तुम्हारे धारक तीनों धाम अन्य।
गार्हस्पत्य नित्य है आह्वनीय स्वरूप धन्य ॥
अन्वाहार्यवचन आग्नीध्रीय[3] तीसरा दिव्य रूप।
जानते बुद्धिगत गुह्य धाम भी हम अनूप ॥
जलरूप तुम्हारा उत्स[4] जानते हम महान।
विद्युत्-स्वरूप तुम प्रकट जहाँ से गर्जमान ॥ १९ ॥

टि०—इस मंत्र में ऋषि ने अग्नि को संबोधित करते हुए कहा है, हम तुम्हारे तीनों प्रकार के धाम, नाम, जन्मादि अच्छी तरह जानते हैं। पूर्ववर्ती मन्त्र में वे सूर्य, वह्नि और वड़वानल बताये गये हैं। वे वह्नि, वायु और सूर्य भी कहे गये हैं। गार्हपत्य, आह्वनीय और आग्नीध्र—ये तीन महिमामय रूप भी अग्नि के ही है। जलद में विद्युत्-रूप में गरजता हुआ अग्नि का ही परम गुह्य रूप प्रकट होता है। जल जड़ है, उसमें चित्तत्त्व विद्युत् की तरह आविर्भूत होता है। जड़ में चित् का सम्यक् ज्ञान ही गुह्य ज्ञान है। १९

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा
ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवासंमपामुपस्थे
महिषा अवर्धन् ॥ २० ॥

अग्ने	हे अग्नि!	समुद्रे	समुद्र में (वड़वानल के रूप में)
नृमणाः	मनुष्यों में मननशील ने	ईधे	तुमको प्रदीप्त किया

१ प्रकट; २ सूर्य नाम के; ३ पीछे से पूर्ववर्ती गार्हस्पत्य और आह्वनीय के क्रम में ग्रहणीय; ४ स्रोत।

श्री का दाता है, धन धारण करता है।
इच्छायें मन की सकल पूर्ण करता है॥
है वही सोम का रक्षक, वास-प्रदाता[1]।
मंथन-बल का सुत बनकर उद्भव पाता॥
बहुविध आपों में होता वही प्रकाशित।
आदित्य-रूप से होता है वह शोभित॥
यह उषःकाल के बाद उदित होता है।
वह अग्नि व्योम में शोभमान होता है॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में भी अग्निवाची परमेश्वर की महिमा का वर्णन है। वह ऐश्वर्य का दानी और धन का धारक बलपूर्वक अरणी-मंथन से उत्पन्न होता है, इसलिए बल का पुत्र है। उसके आगमन के पश्चात् वह सूर्य-रूप में उदित होकर आकाश में शोभा पाता है। २२

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ
रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना
यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

विश्वस्य केतुः	समस्त जगत् का ध्वजस्वरूप (अग्नि)	वीडुं चित्	अति दृढ़,
भुवनस्य	सब लोकों के	अद्रिं अभिनत्	मेघ को भी विदीर्ण करनेवाले
जायमानः	अन्दर प्रकट होकर	अग्नि	अग्नि की प्रीति के लिए
रोदसी	द्यावापृथ्वी को	पञ्चजनाः	पंच जन
आ अपृणात्	तेज से पूर्ण कर देता है।	आ अयजन्त	संयुक्त होकर यज्ञ करते हैं॥ २३॥
परायन्	सब ओर गमन करता हुए,		

यह अग्नि विश्व के केतु-सदृश है शोभित।
है प्राणिमात्र का आत्मा शाश्वत संवित्[2]॥
है भुवन-गर्भ में वायुरूप में प्रवहित।
है जातमात्र में प्राण-रूप वह संस्थित॥

---

१ सबको निवास देनेवाला;　　२ चित् की शक्ति का नाम है संवित्। यह प्रत्यक्ष ज्ञान और परा चेतना है।

सद्यः	शीघ्र	रोदसी अन्तः	द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में
जज्ञानः	प्रकट (और)		
इद्धः	प्रदीप्त होकर	भानुना भा भाति	अपनी किरणों के द्वारा प्रकाशित होता है ॥ २१ ॥
ईं वि अख्यत्	सबको प्रकाशित करता है।		

दिव में गर्जनशील अग्नि धरती कर रहा प्रकाशित।
वृक्षों को अंकुरित, व्याप्त हो सबको करता दीपित ॥
सद्यः प्रकट[1] अग्नि हो दीपित, सबको दीपित करता।
और रोदसी[2] को निज किरणों से प्रकाश से भरता ॥
सूर्य, वह्नि, विद्युत् ये तीनों रूप अग्नि के सुविदित।
इनसे ही होती ओषधियुत यह धरती है पोषित ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के सूर्य, वह्नि और विद्युत्—तीनों रूपों की महिमा का वर्णन है। दिव में प्रकाशित होना सूर्यरूप का सूचक है, गर्जनशीलता विद्युत्रूप का संकेतक है, वह्नि संसार में सबको प्रकाशित करता है। यह रोदसी को अपनी किरणों से भर देता है। पृथ्वी पर स्थित सब ओषधियाँ उसी के द्वारा पोषित होती हैं। २१

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां
मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि
भात्यग्रं उषसामिधानः ॥ २२ ॥

श्रीणां उदारः	ऐश्वर्यों को देनेवाला,	सहसः सूनुः	
रयीणां धरुणः	धनों को धारण करनेवाला,		
मनीषाणां प्रार्पणः	मन की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाला,	अप्सु राजा	
		उषसां अग्रे	
सोमगोपाः	सोम का रक्षक,	इधानः विभाति	
वसुः	सबको बसानेवाला,		

१ शीघ्र प्रा[illegible] [illegible] द्यौ और आकाश का मध्य भाग।

अमृत-रूप यह धूम उपद्रव-रहित फेंकता रहता ऊपर।
जग-धारक यह शुक्र कान्ति[1] से व्याप्त इसी की दिव-बहिरंतर॥
ग्रह, नक्षत्र और तारों में विमल तेज इसी का व्यापृत[2]।
धूम इसी का मेघरूप धर धरती को करता परिप्लावित[3]॥
अग्नि-रूप धर विचर रहे हैं त्रिभुवन बीच स्वयं जगदीश्वर।
यज्ञों में इनकी उपासना सकल सिद्धिदायक मंगलकर॥ २४॥

टि०—इस मंत्र में भी अग्निरूप में व्यापृत परमेश्वर की महिमा का गान किया गया है। अग्नि कान्तिमान है, पावनकर्ता होने के कारण ही उसका एक नाम पावक है— 'पावकः पावयिता'। यह मनुष्यों के बीच इसलिए स्थापित किया गया है कि लोग इसकी उपासना करें और इसके गुण ग्रहण करें। इसका एक प्रमुख गुण है दुष्टों के प्रति अरति या विरक्ति। इसका धूम मेघ बनकर वर्षा करता है। आकाश के ग्रह, नक्षत्र, तारागणों में इसी का प्रकाश व्याप्त है। इसकी उपासना सब सिद्धियाँ प्रदान करती है। २४

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥ २५॥

दृशानः	दिखाई पड़नेवाला	अमृतः	नाशरहित,
द्यौः अग्निः	स्वयंप्रकाश रूप अग्नि	दुर्मर्ष अभवत्	शत्रुजन्य दुःख का निवारण करनेवाला होता है।
उर्व्या व्यद्यौत्	भूमि के साथ सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।	यद्	चूंकि
श्रिये रुचानः	सौभाग्य के लिए रुचि वाला (वह)	आयुः	(वह) आयु को
		वयोभिः अजनयत्	शक्तियों के साथ प्रकट करता है,
रुक्मः	सुशोभित सुवर्ण-कान्तियुक्त	एनं	उसका तुम सेवन करो॥ २५॥
सुरेताः	उत्तम वीर्ययुक्त,		

है अग-जग को यह अग्नि दिखानेवाला।
चिन्मयी[4] स्वयंभू[5] इसकी ज्वालामाला॥
रुचिकारक शोभा का यह परम प्रकाशक।
दुख-रहित अमृत जीवन-विधि का प्रतिपादक॥

१ निर्मल तेज; २ व्यापाररत, क्रियाशील; ३ जल से पूर्ण; ४ जड़ता-रहित, निश्चेतनयुक्त; ५ स्वयंप्रकाशित।

रोदसी उसी के महत्तेज से पूरित।
सब ओर गमन करता है सदा अबाधित॥
करता विदीर्ण वह दृढ़ मेघों की कारा।
है स्तननयुक्त[1] वह चलती विद्युत्-धारा॥
अग्नि की प्रीति कर सके विश्व यह अर्जित।
मिल सकल पंचजन[2] करते हैं क्रतु योजित॥ २३॥

टि०—इस मंत्र में भी अग्नि की महिमा की बड़ी भावपूर्ण अभिव्यक्ति है। यह अग्नि विश्व का केतु है अर्थात् विश्व में जितने प्राणियों ने जन्म लिया है, उन सबकी आत्मा है। तीनों लोकों मे वह वायु-रूप में संचरणशील है, वह प्राणिमात्र का प्राण है, धरती और आकाश के मध्य को उसने सूर्यरूप में अपने तेज से भर दिया है। मेघों का बंधन तोड़कर वही बिजली बनकर प्रकट होता है। विश्व का कल्याण हो, अग्नि प्रसन्न हो, इसलिए पंचजन यज्ञों का आयोजन करते हैं। २३

उशिक्पांवको अंरतिः सुमेधा
मर्तेष्वग्निरमृतो नि धांयि।
इयंर्त्ति धूममंरुषं भरिंभ्रदुच्छुक्रेणं
शोचिषा द्यामिनंक्षन्॥ २४॥

उशिक्	कान्तिमान,	अरुषं धूमं	उपद्रव-रहित धूम को (वह)
पावकः	पवित्र करनेवाला अग्नि	उदियर्ति	ऊपर फेकता है।
अरतिः	दुष्टों पर प्रीति न करनेवाला,	भरिभ्रत्	जगत् को धारण करता हुआ (वह)
सुमेधाः	उत्तम बुद्धिसंपन्न	शुक्रेण शोचिषा	निर्मल कान्ति से
अमृतः अग्निः	अविनाशी अग्नि	द्यां इनक्षन्	द्युलोक को व्याप्त करता है॥ २४॥
मर्त्येषु निधायि	मनुष्यों मे स्थापित किया जाता है।		

कान्तिमान पावनकर्ता दुष्टों पर प्रीति न करनेवाला।
मर्त्यों में[3] है सुस्थापित यह अग्नि श्रेष्ठतम मेधा-वाला॥

---

१ गर्जन के साथ; २ इसके कई प्रकार के अर्थ किये गये हैं। कुछ चारो वर्णों और अन्त्यजों को मिलाकर पंचजन अर्थ करते है। चार ऋत्विज और यजमान मिलकर पांच होते है। पंचजन का सीधा अर्थ पंच लोग, अर्थात् समाज के प्रमुख जन हैं; ३ मनुष्यों में।

प्रदान करे जो सनातन है और जहाँ देवताओं के भोग करने योग्य सब सुख सहज सुलभ है। यह भगवद्धाम ही मनुष्य का परम प्राप्तव्य है। २६

आ तं भ॑ज सौश्रव॒सेष्व॑ग्न उ॒क्थ
उ॑क्थ॒ आ भ॑ज श॒स्यमा॑ने।
प्रि॒यः सूर्ये॑ प्रि॒यो अ॒ग्ना भ॑वा॒त्युज्जा॒तेन॑
भि॒नद॒दुज्जनि॑त्वैः॥ २७॥

अग्ने	हे अग्नि!	प्रियः	प्रिय
तं	उस	भवति	वह होता है।
सौश्रवेषु	यजमान को	जातेन	(तुम) उत्पन्न हुए
आ भज	यज्ञकर्म में रखो;	उद्भिनदत्	पुत्र से वृद्धि को प्राप्त होओ;
उक्थे उक्थे	प्रत्येक प्रशंसा योग्य	जनित्वैः	होनेवाले पौत्रादि से
शस्यमाने	यज्ञादि कार्य पर	उत	वृद्धि को प्राप्त होओ॥ २७॥
आ भज	स्थान दो।		
सूर्ये प्रियः	सूर्य के प्रिय		
अग्ना	अग्नि का भी		

यजमान रहे यह यज्ञकर्म में लीन नित्य।
हे अग्नि! करे शोभन[1] यशदायक पुण्य कृत्य॥
दो शुचि कर्मों के अनुष्ठान की इसको मति।
हो अविच्छिन्न[2] इसकी क्रतुमय[3] कर्मों में रति॥
जो हों प्रशस्य यज्ञादि कर्म के शुभ अवसर।
कृतकृत्य करो अग्ने! उसको सम्मानित कर॥
यजमान करे यह सदा सूर्य की कृपा प्राप्त।
यजमान अग्नि का रहे अनुग्रहपात्र आप्त[4]॥
यजमान! तुम्हें धर्मार्थकाम हों सिद्ध सकल।
पुत्रों के द्वारा करो प्राप्त नित-नव मंगल॥
पौत्रों के द्वारा वृद्धि तुम्हारी हो अविरत।
यजमान! अग्नि के रहो कृपाभाजन तुम नित॥ २७॥

टि०—इस मंत्र को दो भागों में समझा जाना चाहिए। पहले भाग में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है—वे अपने इस यजमान को यज्ञकर्म में प्रवृत्त रखें। यज्ञादि समारोहों में इसको सम्मान मिलता रहे। इसको सूर्य की कृपा प्राप्त हो, इसको हे

१ सुन्दर, २ निरन्तर; ३ यज्ञभावना-वाले; ४ प्रामाणिक।

यह रुक्मरूप[1] है श्री-सौभाग्य-प्रदाता।
मानव ! तुम इसके बनो उपासक-ज्ञाता ॥
यह नाश-रहित है अरि-पीड़ा का नाशक।
शक्तियों-सहित निज है त्रिभुवन का शासक ॥
मंगलस्वरूप है आविर्भूत हुआ यह।
मानव ! उपास्य यह सेव्य तुम्हारा अहरह ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के गुणों का वर्णन करते हुए मनुष्य को उसकी सेवा और उपासना करने का उपदेश दिया गया है। यह मनुष्य की आयु की वृद्धि करता है, उसे अमृतत्त्व प्रदान करता है। २५

यस्ते॑ अ॒द्य कृ॒णव॑द्भद्रशोचेऽपू॒पं दे॑व घृ॒तव॑न्तमग्ने ।
प्र तं न॑य प्रत॒रं वस्यो॒ अच्छा॒भि सु॒म्नं दे॒वभ॑क्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

भद्रशोचे	कल्याणकारी, प्रकाशयुक्त,	कृणवत्	प्रदान करता है,
देव	दिव्यगुणयुक्त	तं प्रतरं	उस यजमान को
अग्ने	हे अग्नि !	वस्यः प्र नय	अतिश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कराओ।
अद्यः	आज	यविष्ठ	हे युवा देव !
यः	जो	देवभक्तं	देवताओं के योग्य
ते	तुमको	सुम्नं अभि	स्थान की ओर
घृतवन्तं अपूपं	घृतयुक्त पुरोडाश	प्र नय	ले जाओ ॥ २६ ॥

हे भद्रज्योति[2] ! हे दिव्य-गुणगणान्वित[3] अग्ने !।
हे यविष्ठ ! सेवार्ह सदा ! हे युवतम अग्ने ! ॥
आज्यसिक्त[4] यजमान-समर्पित पुरोडाश यह।
स्वीकारो यह भाग तुम्हारा है हे हुतवह ! ॥
इस याजक को प्राप्त कराओ धाम श्रेष्ठतम।
दो उसको सुख सकल सुरों के योग्य अनुत्तम ॥
प्राप्त करे वह लोक अशोक महामहिमामय।
वास करे वह वहाँ शाश्वतीः[5] समाः[6] विगत-भय ॥ २६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निवाची परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि घृत से सिक्त पुरोडाश अर्पित करनेवाले यजमान पर अनुग्रह करें। उस यजमान को वह लोक

---

१ रुचि, स्वर्ण; २ कल्याणकारी प्रकाश वाले; ३ दिव्य गुणों के समूह से युक्त; ४ घृत से सीचा हुआ; ५ नित्य; ६ वर्ष।

रहकर अग्निदेव का यजन करते हैं, और मृत्यु के समय सूर्यमंडल को भेदकर परमपद प्राप्त करते हैं। २८

अस्ताव्यग्निर्नराᳬ सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

नरां	मनुष्यों के द्वारा	अद्वेषे	द्वेषरहित
सुशेवः	उत्तम सेवा के योग्य	द्यावापृथिवी	भूमि और पृथ्वी के अधिष्ठाता देवता को
वैश्वानरः	सब मनुष्यों का (और)	हुवेम	हम बुलाते हैं।
सोमगोपाः अग्निः	सोम का रक्षक अग्नि	देवाः	हे देवताओ!
ऋषिभिः	ऋषियों के द्वारा	अस्मे	हमको
अस्तावि	स्तुति-समन्वित हुआ है।	सुवीरं	वीर पुत्र (और)
		रयिं	धन
		धत्त	प्रदान करो ॥ २९ ॥

है अग्नि सोमगोपा[1] ऋषियों से संस्तुत।
है सेव्य मानवों का उनसे हो नित नुत[2] ॥
करता हित-साधन सबका नित्य निरंतर।
धरती का दिव का स्वामी वह बहिरंतर ॥
करते सभक्ति आवाहन उसका मानव।
दिव-पृथ्वी से मिल रहें प्रेम से मानव! ॥
मानवगण द्वेषहीन हों सदा परस्पर।
पावें सुवीर संतति धन-धान्य प्रचुरतर[3] ॥ २९ ॥

टि०—ये अग्निदेव सोम के रक्षक हैं। ऋषियों ने निरंतर इनकी स्तुतियां की हैं। ये मनुष्यों के द्वारा सेव्य हैं, उनके द्वारा नित्य इनकी स्तुति की जानी चाहिए। जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वी परस्पर द्वेषरहित होकर मिलकर रहते हैं, वैसे ही मनुष्यों को भी परस्पर द्वेषहीन होकर परस्पर आनन्द और प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। ये अग्निदेव सोम के रक्षक है। इनकी कृपा से उत्तम वीर पुत्र और ऐश्वर्य प्राप्त होता है। २९

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आऽस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

१ सोम के रक्षक; २ पूजित, समादृत; ३ बहुत अधिक।

अग्नि ! तुम्हारी कृपा सदा प्राप्त रहे। दूसरे अंश में यजमान को संबोधित कर यह आशीर्वाद दिया गया है कि तुम्हारे धर्म, अर्थ, काम आदि सब पुरुषार्थ सफल हों और तुम पुत्र-पौत्रों द्वारा निरंतर उन्नति करो। २७

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून्
विश्वा वसु दधिरे वार्याणि।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं
गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ २८ ॥

अग्ने	हे अग्नि !
यजमानाः	अनेक यजमान
त्वां अनु	तुम्हारी सेवा में तत्पर हैं।
द्यून वार्य्याणि	प्रतिदिन स्वीकार करने के योग्य (वे)
विश्वा	सब प्रकार के
वसु दधिरे	धनैश्वर्य को धारण करते है।
त्वया सह	तुम्हारे साथ
द्रविणं इच्छमानाः	धन की इच्छा करते हुए
उशिजः	बुद्धिमान जन
गोमन्तं व्रजं	गायों के रहने के स्थान को
वि वव्रुः	स्वीकार या प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

अग्ने ! हैं बहु यजमान सतत सेवारत।
अर्पित करते हवियाँ तुमको श्रद्धानत ॥
पाते रहते वे कृपा-प्रसाद तुम्हारा।
दिन-दिन बरसाते उनपर तुम वसुधारा[1] ॥
गो, भू, हिरण्य[2] वरणीय[3] सम्पदा सारी।
धारण करते नित, है यह दया तुम्हारी ॥
यजमान तुम्हारी सेवा में जो रहते।
ऐश्वर्य यज्ञफल-रूप प्राप्त वे करते ॥
मेधावी जन गोष्ठों[4] को वास बनाते।
वे रवि-मंडल को भेद परम पद पाते ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निवाची परमात्मा की बड़ी भावभीनी स्तुति की गई है। अग्नि को जो अनेक यजमान हवियाँ अर्पित कर यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए सेवारत रहते है, उन्हें सदा गो, भू, हिरण्यादि रूप अनंत ऐश्वर्य प्राप्त होता रहता है। उन्हें यज्ञ-फलरूप प्रभूत संपदा मिलती है। वे बुद्धिमान लोग गोशालाओं में गायों के निकट

१ धन की अविच्छिन्न धारा; २ सोना; ३ श्रेष्ठ; ४ गोशालाओं।

टि०—इस मंत्र में अग्निवाची परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि सब देवगण श्रद्धापूर्वक तुम्हे अपनी श्रद्धापूर्ण बुद्धि से ऊपर उठावें। तुम शोभन मुख-वाले और उत्तम भाव-वाले हो। हम सबका कल्याण करते रहो। इस मंत्र में अग्नि को प्राणरूप कहा गया है। ३१

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंꣳसीस्तन्वा प्रजाः॥ ३२॥

अग्ने	हे अग्नि!	बृहद्भिः भानुभिः	बड़ी किरणों मे
शिवेभिः	कल्याणकारी	भासन्	प्रकाशमान
अर्चिभिः इत्	ज्वालाओं के साथ ही	तन्वा प्रजा	हमारे प्रजा पुत्रादि को
ज्योतिष्मान्	ज्योतियुक्त होकर	मा हिंसीः	पीड़ा न दो॥३२॥
त्वं प्र याहि	तुम आगमन करो।		

कल्याणमयी अपनी ज्वालाओं को लेकर।
आगमन करो अग्ने! स्वागत-हित हम तत्पर॥
निज बृहत्[1] किरणमालाओं से होकर मंडित।
तुम करते रहो प्रकाशित यह धरती-नभ नित॥
हम प्रजा तुम्हारी और हमारी सब संतति।
पीड़ा-वर्जित नित रहे, समर्पित है नत[2] नुति[3]॥ ३२॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि का बड़ा भावपूर्ण स्तवन किया गया है। उनसे यह प्रार्थना की गई है कि वे अपनी वृहत् किरणों से परम प्रकाशमान होकर पधारें। उनकी किरणें कल्याणकारिणी है। वे हम प्रजाजनों को तथा हमारी संतति को कभी पीड़ा न दें। हम प्रणत होकर तुम्हारा स्तवन करते हैं। ३२

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः
क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा
रोदसी भानुना भात्यन्तः॥ ३३॥

---

१ प्रौढ़, विशाल; २ प्रणत होकर; ३ स्तुति।

समिधा	समिधा द्वारा	बोधयत	प्रज्वलित करो।
अग्नि दुवस्यत	अग्नि की परिचर्या करो।	अस्मिन्	इस प्रज्वलित अग्नि में
घृतैः	घृत के द्वारा	हव्या आ जुहोतन	हव्य-पदार्थों का हवन करो ॥ ३० ॥
अतिथि	अतिथिरूप अग्नि को		

हे ऋत्विक् जनो! हे यज्ञनिष्ठ यजमानो!।
समिधा द्वारा हैं अग्नि सेव्य, यह जानो॥
हैं अतिथि-रूप में अग्नि यहाँ ये आये।
उद्‌बुद्ध करो हवि दे घृत की मन-भाये॥
प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ कर अर्पित।
जग के मंगल हित तृप्त करो इनको नित॥ ३०॥

टि०—इस मंत्र में ऋत्विक् जनों और यजमानों से यह कहा गया है कि वे यज्ञस्थल में अतिथि-रूप में पधारे हुए अग्नि भगवान को घृत की आहुतियाँ देकर प्रज्वलित करें। पुनश्च, उत्तम हवनीय पदार्थों की आहुति देकर उनको तृप्त करें। इससे लोककल्याण होगा। ३०

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वा अग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥३१॥

सः सुप्रतीकः	(हे अग्नि!) वह सुन्दर भावयुक्त और	अग्ने	हे अग्नि!
विभावसुः	तेजस्वी धनयुक्त	त्वा	तुमको
त्वं नः	तुम हमारे लिए	विश्वेदेवाः	सब देवता
शिवः भव	कल्याणकारी होओ ॥ ३१ ॥	चित्तिभिः	श्रद्धापूर्वक
		उदु भरन्तु	बढ़ावें।

हे अग्नि! तुम्हें सब देव बढ़ावें श्रद्धा-सह।
हे प्राणरूप! उद्‌भरण[1] करें वे नित चिति-सह[2]॥
शोभन मुख-वाले उत्तम भावयुक्त संतत।
हे अग्नि! रहो हम सबके हित कल्याण-निरत॥
हे विभावसो! ऐश्वर्यपूर्ण हो यह जीवन।
कल्याण-मेघ बनकर जग पर बरसो प्रतिक्षण॥ ३१॥

---

१ ऊपर उठाना; २ अग्नि के चिन्मय स्वरूप को बुद्धि से जानना।

दैव्यः अतिथिः	वह दिव्य अतिथि (अग्नि)	शिवः दीदाय	कल्याणकारी होकर प्रकाशित होवे ॥ ३४ ॥
नः	हमारे लिए		

आह्वान अग्नि यजमानों का सुनता है।
रवि-सा प्रदीप्त अति भासमान[1] होता है॥
युद्धों में सेना के आगे हो प्रस्थित[2]।
करता रहता है ध्वंस राक्षसों का नित॥
यह अग्नि विदित है दैवी अतिथि हमारा।
हो दीप्तिमान बरसावें मंगल-धारा॥ ३४॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि अग्नि यजमान के आह्वान को सुनता है। यही सूर्य के समान प्रकाशित होता है। यही सेनाओं के आगे चलता हुआ राक्षसों का विनाश करता है। यह अग्नि मनुष्यों का दिव्य अतिथि है। यह हम मानवों के लिए कल्याणकारी हो। ३४

आपो॑ दे॒वीः प्रति॑ गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत्स्यो॒ने
कृ॑णुध्वꣳ सु॒रभा उ॑ लो॒के।
तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑
पु॒त्रं बि॑भृता॒प्स्वे॒न॑त्॥ ३५॥

देवी आपः	हे दिव्य जलो!	तस्मै नमन्तां	पतियों के समीप झुकती हैं, वैसे तुम भी अग्नि का प्रति नमन करो।
भस्म	भस्म को		
प्रति गृभ्णीत	ग्रहण करो।		
स्योने	सुखकारक		
सुरभौ	सुगन्धयुक्त	एनत्	इस भस्म को (वैसे ही)
लोके उ	स्थान में ही		
एतत् कृणुध्वं	इसको रखो।	अप्सु	जलों में
सुपत्नीः जनयः	सुशील पत्नियाँ जैसे	बिभृत	धारण करो
		माता इव पुत्रं	जैसे माता पुत्र को धारण करती है॥ ३५॥

१ प्रकाशमान; २ रवाना होना।

अग्निः द्यौः इव	अग्नि द्युलोक के समान	हि सद्यः	निश्चय ही शीघ्र
स्तनयन्	गर्जन करता हुआ	जज्ञानः	प्रकट होते हुए
क्षामा रेरिहत्	पृथ्वी को प्रकाशित करता है।	इद्धः	उद्दीप्त होकर (वह)
वीरुधः	वृक्षों की	ईं वि अख्यत्	सबको प्रकाशित करता है।
समञ्जन्	रक्षा करता हुआ	रोदसी अन्तः	द्यावा-पृथ्वी के मध्य में
अक्रन्दत्	ज्वालाओं को (वह) प्रकाशित करता है।	भानुना आ भाति	किरणों से प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

गर्जित द्युलोक-सा अग्नि धरा को करता है वह उद्भासित।
वृक्षों को कर अंकुरित अर्चियों[1] से अग-जग करती दीपित ॥
होकर प्रदीप्त अति त्वरायुक्त[2] करता है विश्वप्रकाशमान।
द्यावा-पृथिवी के मध्य स्वीय किरणों से होता भासमान ॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के सर्वव्यापक ईश्वर-स्वरूप का संकेत है। आकाशीय मेघों में वह विद्युत्-रूप में गर्जन करता है। सारा विश्व उसी के द्वारा प्रकाशित होता है। उसी की शक्ति से वृक्ष अंकुर पाते हैं। शीघ्रता से आकाश में सूर्य के रूप में प्रज्वलित होकर वही संसार को प्रकाश देता है और पृथ्वी तथा आकाश के बीच स्थित रहता है। ३३

प्र-प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि
यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय
दैव्यो अतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

भरतस्य	यजमान के द्वारा आहुतियों से जिसका भरण होता है।	बृहद्भाः	बहुत दीप्तिमान होकर (वह)
अयं अग्निः	(ऐसा) यह अग्नि	प्र रोचते	प्रकाशित होता है।
प्र शृण्वे	आवाहन सुनता है।	यः	जो
		पृतनासु	संग्रामों में
		पूरुं	राक्षसों के सम्मुख
सूर्यः न	सूर्य के समान	अभि तस्थौ	खड़ा होता है,

१ ज्वालाओं; २ शीघ्रता के साथ।

दयानंद ने इस मंत्र की व्याख्या में लिखा है, हे विद्वान जीव ! तू गर्भ में स्थित होकर फिर जन्म-मरण के चक्र को स्वीकार करता है, ऐसा जान । ३६

गर्भो॑ अ॒स्योष॑धीनां॒ गर्भो॒ वन॒स्पती॑नाम् ।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्या॑ग्ने॒ गर्भो॑ अ॒पाम॑सि ॥ ३७ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	विश्वस्य	सब
ओषधीनां	तुम ओषधियों के	भूतस्य गर्भः	प्राणियों के गर्भ हो;
गर्भः असि	गर्भ हो;	अपां गर्भः असि	जलों के गर्भ हो ॥ ३७ ॥
वनस्पतीनां गर्भः	वनस्पतियों के गर्भ हो;		

सब ओषधियों के गर्भ[1] तुम्हीं हो अग्ने ! ।
हो सकल भेषजों के उत्पादक अग्ने ! ॥
हो गर्भ वनस्पतियों के तुम हे अग्ने ! ।
तरु-लता अरणि बन प्रकट तुम्हीं हो अग्ने ! ॥
हो प्राणिमात्र के उत्पादक तुम अग्ने ।
जठराग्नि-रूप उनमें हो संस्थित अग्ने ॥
इस जल-समष्टि[2] में हो तुम व्याप्त निरंतर ।
वाडव[3] विद्युत् बन होते प्रकट निरंतर ॥ ३७ ॥

टि०—निरुक्त में यास्क ने कहा है, 'तिस्र एव देवता भवन्ति अग्निर्भूस्थानः' पूर्ववर्ती मंत्रों में भी अग्नि की सर्वव्यापकता का वर्णन है । वही ओषधियों और प्राणिमात्र को जन्म देता है । जल में भी वह व्याप्त है । जल में वड़वानल और आकाश में बिजली के रूप में उसकी झलक मिलती है । ३७

प्र॒सद्य॒ भस्म॑ना॒ योनि॑म॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने ।
स॒ꣳसृज्य॑ मा॒तृभि॒ष्ट्वं ज्योति॑ष्मा॒न् पुन॒रा ऽस॑दः ॥३८॥

अग्ने	हे अग्नि !	मातृभिः संसृज्य	मातारूप जलों से युक्त होकर
त्वं भस्मना	तुम भस्म द्वारा		
योनिं पृथिवीं	पृथ्वी-स्थान को	ज्योतिष्मान्	तेजस्वी होते हुए
च अपः	और जलों को	पुनः आसदः	फिर यज्ञ में आते हो ॥ ३८ ॥
प्रसद्य	प्राप्त होकर,		

१ उत्पादक हेतु; २ सम्पूर्ण जलसमूह; ३ समुद्र में रहनेवाला अग्नि ।

हे जल की देवियो ! भस्म तुम ग्रहण करो यह।
स्थापित इसको करो देखकर स्थान सुखावह[1] ॥
पुष्प-धूप की गंध जहाँ हो प्रसरित[2] शोभन।
वहीं करो इस पूत भस्म का तुम सुस्थापन ॥
ज्यों सुशील पत्नियाँ विनत होतीं पति के प्रति।
अग्नि-रूप यह भस्म समर्पित करो इसे नति[3] ॥
स्नेहपुरःसर[4] करो भस्म अंतर में धारण।
मातायें जिस भाँति सुतों का करतीं पोषण ॥ ३५ ॥

टि०—इस मंत्र का प्रयोग यज्ञावशिष्ट भस्म किंवा उखा के भस्म का जल में विसर्जन करते हुए किया जाता है। उस समय जल को संबोधित करते हुए कहा जाता है कि हे जलो ! तुम इस पवित्र भस्म को शोभन, पुष्पधूपादि से सुरभित स्थान में रखो, यह भस्म अग्नि का ही रूप है। उसको वैसे ही स्वीकार करो, जैसे सुशीला पत्नियाँ पति को स्वीकार करती हैं। इस भस्म को अपने अंतर में वैसे ही धारण करो, जैसे मातायें पुत्र को धारण कर लेती है। ३५

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः[1] ॥ ३६ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	अनु रुध्यसे	प्राप्त होते हो।
अप्सु	जल में	गर्भे सन्	अरणी के गर्भ में होते हुए
तव सधिः	तुम्हारा स्थान है।	पुनः जायसे	फिर प्रकट होते हो ॥ ३६ ॥
सः ओषधीः	वह तुम ओषधियों को		

सर्वगत[5] अग्नि ! है जल में स्थान तुम्हारा।
तुम हो सब ओषधियों की जीवन-धारा ॥
तुम बीज-रूप में होकर बहुविध व्यापृत[6]।
हो सकल वनस्पति-जग में नित-नव वर्धित ॥
अरणी[7] बनकर हो जन्म ग्रहण करते फिर।
हो जन्म-मरण के क्रम के संदर्शक[8] चिर ॥ ३६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की सर्वव्यापकता बताई गई है। यह अग्नि जल में है। यही बीज बनकर विविध वनस्पतियों के रूप में परिणत होता है। वही अरणियों के रूप में प्रकट होकर जीव के जन्म-मरण के क्रम का निदर्शक बनता है। महर्षि

१ सुखदायक; २ फैली हुई; ३ प्रणति; ४ स्नेह या प्रेम के साथ; ५ सबमे व्याप्त; ६ बहुत प्रकार से क्रियाशील, ७ यज्ञ में प्रयोग में आनेवाली लकड़ियाँ; ८ प्रदर्शित करनेवाले।

अग्ने	हे अग्नि !	पुनः अंहसः	फिर पाप से
ऊर्जा	अपने बल के साथ	नः पाहि	हमारी रक्षा करो ॥ ४० ॥
पुनः निवर्तस्व	फिर आगमन करो,		
इषा आयुषा पुनः	अन्न और दीर्घायु के साथ फिर आओ।		

हे अग्नि ! निखिल[1] ऊर्जा[2] ले यहाँ पधारो।
भण्डार अन्न के भरते हुए पधारो॥
धन और धान्य से पूरित रहें सदा हम।
पापों से रक्षित रहें सदा तुमसे हम ॥ ४० ॥

टि०—अग्नि से प्रार्थना की गई है, वे अपने संपूर्ण बल और शक्ति के साथ यज्ञस्थल में पधारें। खाद्यान्नों की प्रभूत राशि से अग्निदेव हमारे भंडार भर दें। वे पापों से हमारी रक्षा करें। ४०

सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४१ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	धारया	जलधारा से
रय्या सह	ऐश्वर्य के साथ	विश्वतः	समस्त जगत् के ऊपर
नि वर्तस्व	लौटो और		
विश्वप्स्न्या	समस्त संसार के लिए उपयोगी	परि पिन्वस्व	सिंचन करो ॥४१॥

आओ, आओ, हे अग्नि ! लौटकर आओ।
ऐश्वर्य अखिल लेकर अपना फिर आओ॥
तुम सृजन करो जग-हितकर जलधारायें।
कर सिक्त धरा को करो वे उर्वरा[3] बनायें॥
मैत्री-बन्धन में बंधें सभी विद्वज्जन।
हो ज्ञान-साधनामय उन सबका जीवन ॥ ४१ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से अनुरोध किया गया है कि वे अपने संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ फिर आवें। यह बताया जा चुका है कि यज्ञानुष्ठान अग्निदेव के द्वारा ही संपन्न होते हैं। यज्ञ से पर्जन्य अर्थात् बादलों का उद्भव होता है, जो अन्नोत्पादन के हेतु हैं। इसीलिए अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे जल की उपयोगी धारायें बरसाकर

---

१ संपूर्ण; २ शक्ति; ३ उपजाऊ।

यज्ञ के अन्त में भस्म-रूप धारण कर।
अग्ने! संस्थित होते हो जल पर भू, पर॥
हो एकभूत[1] माता-स्वरूप जलचय[2] से।
फिर तेजस्वी बन यज्ञभूमि में विलसे[3]॥
ऐसा ही है जग के जीवों का जीवन।
मरणोपरान्त हैं जाते भस्म सभी बन॥
फिर मातृ-उदर में भ्रूण[4]-रूप पलते।
यों जन्म-मरण के चक्र निरंतर चलते॥ ३८॥

टि०—यज्ञान्त में भस्म का जल में और पृथ्वी पर विसर्जन कर दिया जाता है। वही अग्नि फिर यज्ञभूमि में तेजस्वी बनकर शोभा पाता है। महर्षि दयानंद के अनुसार जीव का शरीर मरणोपरान्त भस्म बन जाता है। फिर वही जाकर माता के गर्भ में नया जन्म पाता है। इसी प्रकार यह जीवन-मरण का चक्र चलता रहता है। ३८

पुन॑रा॒सद्य॒ सद॑नम॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने ।
शेषे॑ मा॒तुर्यथो॒पस्थे॒ऽन्तर॑स्याᳬं शि॒वत॑मः ॥ ३९ ॥

अग्ने	हे अग्नि!	पुनः	फिर (वैसे ही)
शिवतमः	अति कल्याणरूप तुम	अस्यां अन्तः	इसके मध्य में
अपः च पृथिवीं	जल और पृथ्वी के	शेषे	शयन करते हो,
सदनं	स्थान को	यथा मातुः उपस्थे	जैसे पुत्र माता की गोद में शयन करता है॥ ३९॥
आसद्य	प्राप्त होकर		

कल्याणरूप जल और भूमि को पाकर।
करते हो इनके मध्य शयन तुम सुखकर॥
उत्सङ्ग प्राप्त कर माता का शिशु जैसे।
सोता है सुख से, सोते हो तुम वैसे॥
फिर ज्योतिर्मय प्रज्वलित रूप धारण कर।
क्रतुकर्म[5] सफल करते हो अग्नि! निरंतर॥ ३९॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्रों की तरह अग्नि के आविर्भाव-तिरोभाव का वर्णन है। यह अग्नि भस्म बनता है, फिर यज्ञ में नया जीवन पाता है। ३९

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षाऽऽयु॑षा ।
पुन॑र्नः पा॒ह्यᳬंह॑सः ॥ ४० ॥

---

१ एकरूप होकर; २ जलसमूह; ३ शोभित हुए; ४ माता के उदर में पलनेवाले जीव का शरीर; ५ यज्ञक्रिया।

स बो॑धि सू॒रिर्म॒घवा॒ वसु॑पते॒ वसु॑दावन् ।
यु॒यो॒ध्य॒स्मद् द्वेषा॑ᳬसि॒ विश्व॑कर्मणे॒ स्वाहा॑ ॥ ४३ ॥

वसुपते	हे धनपति !	अस्मत् द्वेषांसि	हमारे शत्रुओं को
वसुदावन्	(हे) धनदाता अग्नि !	युयोधि	दूर करो।
सः	वह तुम	विश्वकर्मणे	सब कार्यों को उत्तम रीति से करनेवाले
सूरिः मघवा	विद्वान् और ऐश्वर्यवान	स्वाहा	तुम्हारे लिए यह हवि अर्पित है ॥ ४३ ॥
बोधि	जानकर		

वसुपते[1] ! सतत धन के दाता हे अग्ने ! ।
ऐश्वर्यवान विद्वान् परम हे अग्ने ! ॥
मेरे वचनों का अभिप्राय तुम जानो।
मेरे अन्तर का भक्तिभाव पहचानो ॥
तुम नष्ट करो विद्वेषी शत्रु हमारे।
हों पराभूत पददलित युद्ध में सारे ॥
उत्तम विधि से हो कर्म सभी करते तुम।
हे विश्वकर्मणे[2] ! हवि अर्पित करते हम ॥
दौर्भाग्य, दुरित सब दूर करो हे मघवन्[3] ! ।
स्वीकार करो यह हवि मेरी ज्योतिर्घन ॥ ४३ ॥

टि०—इन दो मंत्रों में ऋषि ने अपने अंतर की प्रार्थना की व्याकुलता व्यक्त की है। इस मंत्र का उव्वट और महीधर से कुछ भिन्न अर्थ सातवलेकरजी ने किया है। सातवलेकरजी के अनुसार दूसरे मंत्र का अर्थ है, 'हमारे शत्रुओं के साथ हमारा युद्ध हो और हमसे पराभूत होकर वे भाग जायें या विनष्ट हों। महीधर के अनुसार 'द्वेषांसि' का अर्थ है दुर्भाग्यसमूह। ४३

पुन॑स्त्वाऽऽदि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः
समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः ।
घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं॑ वर्धयस्व स॒त्याः
स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑[1] ॥ ४४ ॥

---

१ हे धन के स्वामी या पालनकर्ता; २ समस्त कार्यों को उत्तम रीति से करने-वाले; ३ 'मघ' का अर्थ है धन, इसलिए 'मघवन्' या 'मघवान्' का अर्थ हुआ धनदान। मघवन् इन्द्र को भी कहा जाता है।

पृथ्वी को सिक्त करें। महर्षि दयानंद के अनुसार इस मंत्र में यह बताया गया है कि विद्वानों को कैसे बरतना चाहिए। ४१

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ
मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति
वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने[1] ॥ ४२ ॥

स्वधावः	हे धनवान !	त्वः पीयति	कोई तुम्हारी निंदा करता है; तो
यविष्ठ	हे तरुण		
अग्ने	अग्नि !	त्वः अनु गृणाति	कोई तुम्हारी स्तुति करता है।
मे अस्य	मेरे इन		
महिष्ठस्य	बड़े महत्तम	वन्दारु	वन्दना के योग्य
प्रभृतस्य वचसः	वचनादि के	ते तन्वं	तुम्हारे शरीर को
बोध	अभिप्राय को जानो।	वन्दे	मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४२ ॥

हे अन्नवान ! धनवान ! तरुणतम अग्ने !।
मेरे वचनों पर मनन करो हे अग्ने ! ॥
निन्दा करता है कोई देव ! तुम्हारी।
स्तुति करता है कोई अन्य तुम्हारी ॥
पर मैं हूँ वन्दनशील[1] वृत्ति-वाला जन।
करता रहता हूँ प्रणति निरंतर अर्पण ॥
अर्चियों से ज्वलित शोभन देह तुम्हारा।
हे अग्नि ! सदा ही है आराध्य हमारा ॥ ४२ ॥

टि०—बड़ा ही भक्तिपूर्ण मंत्र है यह। ऐसे ही मंत्रों में वेदों में भक्ति के स्वरूप के निर्धारण का आधार प्राप्त होता है। ध्यान देने की बात यह है कि अग्नि की इस वैदिक उपासना से ही पंचाग्नि-विद्या, उपकोसल-विद्या आदि का प्रवर्तन हुआ। इस मंत्र में और पूर्ववर्ती अनेक मंत्रों में अग्नि को अन्नवान् कहा गया है। उपकोसल-विद्या के अन्तर्गत अग्नि के अपने चार शरीर बताये हैं— पृथ्वी, अग्नि, अन्न और सूर्य। इसीलिए अग्नि को अन्नवान् कहा गया है। ४२

---

१ वन्दना करने की वृत्ति-वाला।

यमः	यम ने	अपेत वीत	अधर्म से दूर रहो;
अवसानं	पृथ्वीलोक को	अत्र वि सर्पत	यहाँ विशेषता से
अदात्	यजमान को दिया है;		प्रगति करो ॥ ४५ ॥
अतः	इसलिए यहाँ (तुम)		

इस धरती पर प्राचीन-नये जो हों रक्षक।
वे करें लोक-अनुकूल तुम्हारे सम्यक् ॥
है सबका प्रथित नियामक यम जगदीश्वर।
उसने पृथ्वी याजक[1] को दी अर्पित कर ॥
इसलिए मानवो! तुम अधर्म-पथ त्यागो।
सविशेष[2] प्रगति-पथ पर नित नव अनुरागो ॥ ४५ ॥

टि०—मूल मंत्र में 'पितर्' शब्द का प्रयोग है, सातवलेकरजी ने उसका अर्थ रक्षक किया है। इस प्रकार उनका अर्थ सब भाष्यकारों के अर्थ से भिन्न हो गया है। मनुष्यों को संबोधित कर कहा गया है कि पुराने और नये जितने शासक हैं, उनका कर्तव्य है लोक-व्यवस्था को प्रजा के अनुकूल बनाना। इस लोक के नियामक यम नाम से प्रसिद्ध स्वयं जगदीश्वर हैं। उन्होंने इस धरती को कर्मक्षेत्र बनाकर यजमान को धर्मसम्मत यज्ञमय जीवन बिताने के लिए अर्पित कर दिया है। इसका अर्थ है, यह धरती यजमान-भोग्या है। जो यज्ञकर्म करता है, अपने जीवन को यज्ञमय बना देता है, अपना जीवन लोकहित में अर्पित कर देता है, यह धरती युग-युग तक उसकी कीर्तिकथा का स्मरण करती है। ऐसे ही लोग विशेष प्रगति करते हैं। विशेष प्रगति के अनेक अर्थ हैं। विशेष अर्थ यह है कि ऐसे व्यक्ति की उन्नति से लोक का हित होता है। मनुष्य का धर्म है, वह ऐसी लोकहितकारी प्रगति का अनुरागी बने। ४५

संज्ञानमसि कामधरणं मयि
ते कामधरणं भूयात् ।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चित स्थ
परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

संज्ञानं असि	(हे अग्नि!) तुम उत्तम ज्ञान देनेवाले हो।	मयि	वह मेरी
ते कामधरणं	तुम्हारी अपनी जो कामना है,	कामधरणं भूयात्	अपनी कामना हो।
		अग्नेः भस्म असि	तुम अग्नि का भस्म हो
		अग्नेः पुरीषम्	तुम अग्नि का रूप हो

१ यजमानः २ विशेषतायुक्त।

वसुनीथ	ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले अग्नि !	यज्ञैः	यज्ञानुष्ठान द्वारा
आदित्याः	आदित्यगण,	पुनः	फिर
रुद्राः	रुद्रगण,	त्वं	तुम
वसवः	वसुगण	घृतेन	घृत से
त्वा	तुमको	तन्वं वर्धयस्व	अपने शरीर को बढ़ाओ ।
पुनः समिन्धतां	फिर प्रदीप्त करें ।	यजमानस्य कामाः	यजमान के मनोरथ
ब्रह्माणः	ऋत्विजों और यजमानों के	सत्याः सन्तु	सफल हों ॥ ४४ ॥

वसुनीथ[1] अग्नि ! ऐश्वर्यप्रदाता हो स्थिर ।
आदित्य, रुद्र, वसु तुम्हें प्रदीप्त करें फिर ॥
ऋत्विक्-यजमान करें फिर यज्ञ अनुष्ठित ।
द्विज श्रद्धा से फिर तुमको करें प्रज्वलित ॥
घृत से हे अग्ने ! अपनी देह बढ़ाओ ।
हवियाँ पाकर तुम वृद्धि निरन्तर पाओ ॥
वृद्धि से तुम्हारी होगा नित नव मंगल ।
यजमान करेंगे प्राप्त सकल जीवन-फल ॥ ४४ ॥

टि०—अग्नि की उपासना से मनुष्यों के संकल्प किस प्रकार सिद्ध होते है, यह इस मंत्र में बताया गया है । यज्ञ के अनुष्ठान से यजमान के सब मनोरथ सफल होते है । ४४

अपे॑त॒ वी॑त॒ वि च॑ सर्पता॒तो
ये॑ऽत्र॒ स्थ पु॑रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः ।
अदा॑द्य॒मो॑ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्या अक्र॑न्नि॒मं
पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै[1] ॥ ४५ ॥

ये	जो	नूतनाः	नये
अत्र	यहाँ	पितरः स्थ	पितरगण हैं,
पृथिव्याः	भूमि के ऊपर	ते अस्मै	वे इसके लिए
पुराणाः	पुराने	इमं लोकं	इस लोक को
च ये	और जो	अक्रन्	अनुकूल करें।

१ धन को प्राप्त करानेवाले, धन के निमित्त जिसकी स्तुति की जाती है ।

कामनावान इन्द्र ने किये जिसमें अभिषव[1]।
जो अयुतायुत[2] के हेतु अन्नधारक नित नव ॥
हैं सोम परम आह्लादप्रदायक तृप्तिप्रद।
जो धारण करता उदर बीच निज ज्योतिर्ह्रद[3] ॥
है अग्नि यही वह जातवेद सबका ज्ञाता।
हवियों का भक्षण कर जो सदा मोद पाता ॥
हवियाँ पा यजमानों से हो तुम ईड्यमान[4]।
हे जातवेद ! हे अग्नि ! सोमपायी महान ॥ ४७ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की महिमा का वर्णन है। अग्नि वह है जिसमें इन्द्र ने सैकड़ों बार सोमरस निचोड़कर यज्ञ किये हैं। यह अग्नि का धारक अर्थात् उत्पादक है, जिससे असंख्यक प्राणियों का पोषण होता है। तृप्ति और आनन्द प्रदान करनेवाले सोम को यह अग्नि अपने परम प्रकाशमान उदर में धारण करता है। यजमान लोग हवियाँ अर्पित कर इसे प्रसन्न करते हैं और इसकी स्तुति करते हैं। ४७

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः[1] ॥ ४८ ॥

आयजत्र अग्ने	हे यज्ञ के योग्य अग्नि !
ते	तुम्हारी
यत्	जो
दिवि	द्युलोक में
वर्चः	ज्योति है,
यत् पृथिव्याम्	जो पृथ्वी में,
ओषधिषु अप्सु	ओषधियों में और जलों में तुम्हारा तेज है,
येन	जिसके द्वारा
उरु अन्तरिक्षं	विशाल अन्तरिक्ष
आततन्थ	व्याप्त है,
सः त्वेषः	वह सब ओर
अर्णवः	गमनशील
नृचक्षाः	मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा
भानुः	तुम्हारा तेज है ॥ ४८ ॥

हे आयजत्र[5] अग्ने ! जय हे यज्ञार्ह[6] देव !।
है वर्च तुम्हारा ही दिव में व्यापृत[7] सदैव ॥

१ सोमरस निचोड़ना; २ लाखों; ३ प्रकाश के सरोवर जैसा; ४ स्तुति का विषय किया जा रहा; स्तूयमान; ५ मन्त्र में यह शब्द आया है, इसका अर्थ है यज्ञ के योग्य; ६ यज्ञ के योग्य; ७ क्रियाशील।

चित्तः स्थ	तुम लोग चित्त के	श्रयध्वम्	इकट्ठा करनेवाले
परिचितः	व्यवहार में कुशल हो।		बनो ॥ ४६ ॥
ऊर्ध्वचितः	सब पदार्थों को		

हे परमदेव! संज्ञान[1] अग्नि! हो ज्ञानप्रदाता तुम उत्तम।
अभिलाषा सदा तुम्हारी ही अपनी अभिलाषा मानें हम॥
भस्म भी तुम्हारा हे अग्ने! है रूप तुम्हारा ही चिन्मय।
यह भस्म तुम्हारा पूरक है, यह वीर्य तुम्हारा तेजोमय॥
मानवो! बनो व्यवहारकुशल संग्रहशीला हो वृत्ति[2] सदा।
अग्नि के तेज से ज्वलित रहो, तुम पूर्णकाम बन रहो सदा॥ ४६॥

टि०—इस कण्डिका में दो मंत्र हैं। प्रपत्ति की भावना से प्रथम मंत्र ओतप्रोत है। प्रथम मंत्र में अग्नि को 'संज्ञान' अर्थात् उत्तम ज्ञानदाता कहा गया है। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रपत्ति आवश्यक है। गीता में भी अर्जुन प्रपन्न हुए हैं— 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' यह प्रपत्ति ही भक्ति का मूल है। तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा हो। दूसरे मंत्र में भस्म के लिए कहा गया है, वह अग्नि का पूरक है, उसका चिन्मयस्वरूप उसका तेजोमय रेतस् है। अंत में मानवों को संबोधितकर कहा गया है, वे तेजस्वी और पूर्णकाम बनें। महर्षि दयानन्द के अनुसार, यह गुरु के प्रति विद्याकामी शिष्य का निवेदन है। ४६

अयंꣳ सो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः
सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ
ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥ ४७॥

सः अयं	यह वही	सोमं	सोम को (उसने)
अग्निः	अग्नि है,	जठरं धत्ते	उदर में धारण
यस्मिन्	जिसमें		किया है।
वावशानः	इच्छा करनेवाले	जातवेदः	हे सबको जानने-
इन्द्रः	इन्द्र ने		वाले अग्नि!
सुतं	अभिषव किये है।	ससवान् सन्	(तुम्हारे द्वारा)
सहस्रियं वाजं	सहस्रों के योग्य अश्व		हवियों के भक्षण
	के समान		करने पर
अत्यं न सप्ति	हमारे हर्षकारक	स्तूयसे	तुम्हारी स्तुति की
	और प्राप्तिदाता		जाती है॥ ४७॥

१ ज्ञानप्रदाता; २ उत्तमोत्तम का संग्रह करने का स्वभाव।

उन सबके हो तुम मध्यदेश में विद्यमान।
सर्वत्र सदा ही सुर-नर-मुनि से स्तूयमान ॥ ४९ ॥

टि०—अग्नि की महिमा का यह बड़ा रहस्यमय आख्यान है। अग्नि स्वर्ग के जल को प्राप्त करता है। प्राण-रूप और बुद्धि के प्रेरक देवताओं के प्रति गमन करता है। सूर्यमंडल के परे और नीचे जो जल है, उसके मध्य में अग्निदेव विद्यमान हैं। ४९

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ५० ॥

पुरीष्यासः	प्रजाओं के	यज्ञं	इस यज्ञ का
प्रावणेभिः	पालन में तत्पर,	अनमीवाः	रोगरहित
सजोषसः	समान मनों वाले,	महीः	बहुत
अद्रुहः	कभी द्रोह न करनेवाले	इषः जुषन्तां	अन्न का सेवन करें ॥ ५० ॥
अग्नयः	अग्नि		

अग्नि वे प्रजाओं के पालन में हों तत्पर।
वे हों समान मनयुक्त सदा शिवमय[1] शुचितर[2]।
हो द्रोह न उनमें रहें सदा क्रतुकर्म निरत।
है रोग-रहित बहु अन्न अग्नियों को अर्पित ॥
वे इसका सेवन करें और हों आप्तकाम।
सब प्रजाजनों को यज्ञ बनावे पूर्णकाम[3] ॥ ५० ॥

टि०—आहवनीय, गार्हपत्य आदि सब अग्नियाँ समान मनयुक्त होकर प्रजाओं के पालन में तत्पर रहें। प्रजाजन अर्थात् मानव भी समान मनवाले हों। उनमें परस्पर द्वेष-द्रोह न हो। वे शुद्ध रोग-रहित खाद्य-पदार्थों का सेवन करें। ५०

इडामग्ने पुरुदंससं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

---

१ कल्याणमय संकल्पों से पूरित; २ पवित्र; ३ जिसके सब मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं।

है तेज वही धरती पर ओषधियों में स्थित।
वह तेज तुम्हारा विद्यमान जल में भी नित ।।
विद्युत् बनकर जो अन्तरिक्ष में व्याप्त सतत।
सब ओर गमन करता रहता जो अप्रतिहत[1] ।।
मनुजों के सब कर्मों का जो द्रष्टा[2] अविकल।
है तेज तुम्हारा नित्य ज्वलित वह अग्नि अकल[3] ।। ४८ ।।

टि०—हे यजनीय अग्नि ! द्युलोक में तुम्हारा ही तेज क्रियाशील है, वही धरती पर ओषधियों और जल में भी स्थित है। बिजली बनकर वह अंतरिक्ष को प्रकाशित करता है, उसकी गति सब ओर है, अबाधित है। वह मनुष्यों के सब शुभाशुभ कर्मों का साक्षी है। ४८

अग्ने॑ दि॒वो अर्ण॒मच्छा॑ जिगा॒स्यच्छा॑
दे॒वाँ२ ऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये।
या रोच॒ने प॒रस्ता॑त् सूर्य॑स्य॒
याश्चा॒वस्ता॑दु॒पति॒ष्ठ॑न्त॒ आपः॑[1] ।। ४९ ।।

अग्ने	हे अग्नि (तुम)	आ रोचते	दीप्तिरूप से वर्तमान
दिवः अर्णम्	द्युलोक के जल को	सूर्यस्य परस्तात्	सूर्य के परे
अच्छ जिगासि	अच्छी तरह प्राप्त करते हो।	याः आपः	जो जल हैं,
ये	जो	च अवस्तात्	और पीछे जो जल हैं,
धिष्ण्याः ऊचिषे	बुद्धि के प्रेरक हैं,	याः उपतिष्ठन्तु	और नीचे जो जल है (उन सबमें तुम हो) ।। ४९ ।।
देवान् अच्छ	उन प्राण-रूप देवताओं के समक्ष तुम गमन करते हो।		

दिव के जल को तुम प्राप्त सदा करते सम्यक्।
जो प्राणरूप हैं और सदा धी[4] के प्रेरक ।।
उन देवों के प्रति अग्नि ! गमन करते हो तुम।
वन्दना तुम्हारी भक्ति-सहित करते है हम ।।
है दीप्त-रूप में वर्तमान जो रवि-मंडल।
उसके ऊपर हैं उसके नीचे हैं जो जल ।।

१ बिना रोकटोक के; २ साक्षी; ३ अखण्ड; ४ बुद्धि।

यह ऋतु विशेष में सिद्ध अग्नि गार्हपत्य तुम्हारा जन्मस्थान।
हे अग्ने आहवनीय! करो निज दीपन-ऋतु का प्राप्त ज्ञान॥
तुम हो करके उत्पन्न सदा होते प्रदीप्त सायं-प्रातः।
तुम आरोहण फिर करो वहाँ धनवृद्धि करो सायं-प्रातः॥
प्रति गृहपति में दातृत्व भाव उत्पन्न सदा करते हो तुम।
गार्हस्थ्य-धर्म के पालन की शिक्षा तुमसे पाते हैं हम॥ ५२॥

टि०—इसमें आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के पारस्परिक संबंध का निर्देश है। गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि उत्पन्न होता है। गार्हपत्य अग्नि गृहस्थाश्रम का बोधक है और आहवनीय अग्नि हवन तथा दान का सूचक है। इन दो अग्नियों के परस्पर सम्बन्ध के वर्णन से गृहस्थ-धर्म का उपदेश दिया गया है। ५२

चिर्दसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद
परिचिर्दसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥५३॥

चित् असि	(हे इष्टके! तुम) ज्ञान-रूप हो।	परिचित् असि	सब प्रकार से परिचय कराने वाले हो।
तया देवतया	उस देवता द्वारा	तया देवतया	उस देवता के द्वारा
अङ्गिरस्वत्	प्राणों के समान	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ध्रुवासीद	दृढ़तापूर्वक स्थित होओ।	ध्रुवा सीद	स्थिर होकर यहाँ विराजो॥ ५३॥

तुम चिति हो, तुम हो ज्ञानरूप, तुम नित्यसिद्ध चिन्मय अनूप।
दृढ़ता से अग्निदेव द्वारा, तुम रहो यहाँ सम्यक् संस्थित।
अंगिरा नाम से विदित प्राण, रहते हैं जैसे दृढ़ सुस्थित।
तुम हो परिचय करानेवाली, उन अग्निदेव से हो परिचित।
उनके द्वारा अंगिरा-सदृश, तुम रहो यहाँ हो निश्चल नित॥ ५३॥

टि०—उव्वट और महीधर के अनुसार यह मंत्र इष्टका को संबोधित है। अंगिरा के विषय में पहले लिखा जा चुका है। अंगों का रस अर्थात् प्राण अंगिरा है। ५३

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥ ५४॥

अग्ने	हे अग्नि !
पुरुदं	बहुत कर्मों के साधक
सं इडां	स्तुति योग्य वाणी के साथ
शश्वत्तमं	अपनी
गोः सनिं	वाणी के ऋग्वेदादि विभाग
हवमानाय	हवन करनेवाले यजमान के लिए
साध	प्राप्त करो।
नः विजावा	हमें पुत्रवान
तनयः सूनुः	औरस पुत्र
स्यात्	हो।
अग्ने	हे अग्नि !
सा ते सुमतिः	वह तुम्हारी सुन्दर बुद्धि
अस्मे भूतु	हमारे अनुकूल हो ॥ ५१ ॥

यजमान सदा करता रहता यह धेनुदान[1]।
दधि, दुग्ध, घृतादिक का होता है महाप्राण[2] ॥
बहु कर्मों का साधक दो इसको अन्न सतत।
गो से प्राप्तव्य[3] वस्तुएँ दो हमको अविरत ॥
दो हमको औरस पुत्र बने जो प्रजावान।
अनुकूल तुम्हारी सुमति रहे अग्ने ! महान ॥ ५१ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हम यजमान निरंतर गव्य वस्तुओं— घी, दही, दूध आदि द्वारा निरंतर हवन करते रहते हैं, अतः में प्रजावान औरस पुत्र प्रदान करो। तुम्हारी सद्बुद्धि सदैव हमारे अनुकूल रहे। ५१

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५२॥

अग्ने	हे अग्नि !
ते अयं	तुम्हारा यह
ऋत्वियः योनिः	ऋतु-विशेष में सिद्ध किया गया उत्पत्ति-स्थान है।
यतः जातः	जिस स्थान से उत्पन्न होते
अरोचथाः	तुम प्रदीप्त होते हो,
तं जानन्	उसको जानकर
आ रोह	आरोहण करो।
अथ	इसके पश्चात्
नः रयिं	हमारे धन को
आ वर्धय	सब प्रकार से बढ़ाओ ॥ ५२ ॥

१. धेनु की ? गौ—दूध, दही आदि का दान;
२. महान् होते प्राण।

टि०—जलप्रवाह धरती पर द्युलोक से उतरते हैं। सोमरस निचोड़ने की क्रिया में तीनों सवनों में ये उपस्थित होकर उपयोग में आते हैं। ५५

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ५६ ॥

विश्वाः गिरः	सब वेदवाणियाँ	वाजानां पति	अन्नों के स्वामी,
समुद्र व्यचसं	समुद्र के समान विस्तीर्ण,	सत्पति	सद्धर्मपरायण जनों के पालक
रथीनां रथीतमं	रथियों में अन्यतम महारथी,	इन्द्रं अवीवृधन्	इन्द्र को संवर्द्धित करती हैं॥ ५६ ॥

ये ऋक्, यजु, साम, अथर्व आदि के स्तोम[1] सकल।
विश्व की गिरायें[2] इन्द्र-स्तुति करतीं प्रतिपल ॥
वे इन्द्रदेव हैं जलनिधि से विस्तीर्ण सतत।
सब रथियों में हैं महारथी जानता जग-विदित ॥
वे देवेश्वर ही हैं सब अन्नों के स्वामी।
पालित उनसे ही सब स्वधर्म के अनुगामी ॥ ५६ ॥

टि०—वेद की वाणियाँ ही नहीं, विश्व की सब वाणियाँ इन्द्र की ही स्तुति करती हैं। अनेक स्तवनों में यह कहा गया है, 'स्तोत्राणि सर्वा गिरो।' अर्थात् सब कर्म तुम्हारे आराधन हैं, सब वाणियाँ तुम्हारे स्तोत्र हैं। वे इन्द्र समुद्र की तरह अनंत विस्तीर्ण हैं। उनके जैसा वीर कोई नहीं। जो लोग स्वधर्म का दृढ़ता और निष्ठा से पालन करते हैं, उनके वे रक्षक हैं। ५६

समितꣳ सं कल्पेथाꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

सम्प्रियौ	समान प्रीतिवाले	इषं ऊर्जं	अन्न और घृत को
रोचिष्णू	कान्तिमान,	अभि संवसानौ	स्वीकार करके
सुमनस्य मानौ	परस्पर सम्मिलित चित्तवाले हे देवताओ !	समितं	एकमन होकर,
		सं कल्पेथां	एक संकल्प कर यज्ञ का संपादन करो ॥ ५७ ॥

१ स्तुतियाँ; २ वाणियाँ।

त्वं	(हे मानव !) तुम	इन्द्राग्नी	इन्द्र अग्नि और
लोकं पृण	लोक को पूर्ण करो;	बृहस्पतिः	बृहस्पति ने
छिद्रं पृण	छिद्र को पूर्ण करो	अस्मिन् योनौ	इस स्थान पर
अथो	और	त्वा आसीषदन्	तुमको स्थापित किया है ॥ ५४ ॥
ध्रुवा सीद	स्थिर होकर बैठो।		

हे मानव ! इस धरती को पूर्ण बनाओ।
कुछ रहे यहां न अपूर्ण, पूर्णता लाओ ॥
भर दो जीवन के छिद्र, अभाव मिटाओ।
कर्तव्य-चेतना प्रति उर बीच जगाओ ॥
दृढ़ होकर संस्थित रहो सदा धरती पर।
ये अग्नि, बृहस्पति, इन्द्र दे रहे यह वर ॥ ५४ ॥

टि०—मनुष्य को संबोधित कर कहा गया है, वह अपना जीवन पूर्ण बनायें। इस लोक के सब छिद्र, सब न्यूनतायें मिटाकर उसे कर्तव्य-मार्ग पर चलते हुए पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे। बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि ने मनुष्य को इस धरती पर स्थापित किया है। उसे स्वर्ग को इस धरती पर उतारना चाहिए। ५४

ता अस्य सूददोहसः सोमंꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

दिवः	द्युलोक-सम्बन्धी	त्रिषु आ रोचने	तीन सवनों के मध्य के
पृश्नयः	अनेक प्रकार के अन्न देनेवाले,	अस्य	इस
सूददोहसः	बल को बढ़ानेवाले	विशः सोमं	यज्ञ सम्बन्धी सोम को
ताः	वे प्रसिद्ध (जल प्रवाह)		
देवानां जन्मन्	देवताओं के उदय के समय	आ श्रीणन्ति	योग्य रीति से पूर्ण करते हैं ॥ ५५ ॥

ये जलप्रवाह हैं प्रथित विपुल बलवर्द्धक।
ये दिवगत[1] बहुविध अन्नों के संपादक ॥
ये यज्ञपरक सोम के सर्वविध हैं पूरक।
तीनों सवनों[2] के बीच अवस्थित हविभुक् ॥ ५५ ॥

१ द्युलोक-संबंधी; २ प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन यज्ञकर्म।

टि०—गार्हपत्य और आहवनीय दोनों अग्नियों को याज्ञिक सम्बोधन कर कहता है, हम तुम दोनों का एकीकरण करते हैं। तुम्हीं यज्ञकर्मों के साधक हो। हम यजमानों को अन्न-धन प्रदान करो। हम इस प्रकार सदा प्रसन्न रहें। ५८

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२ असि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहाऽसदः ॥५९॥

अग्ने	हे अग्नि !	शिवः कृत्वा	कल्याणकारी करते हुए
त्वं पुरीष्य	तुम हितकारक,	इह	यहाँ
रयिमान्	धनवान,	स्वं योनि	अपने स्थान पर
पुष्टिमान्	पुष्टियुक्त	आसदः	स्थिर रहो ॥ ५९ ॥
असि	हो।		
सर्वा दिशः	सब दिशाओं को		

हितकारक हो धनवान पुष्टिकारक तुम।
हे अग्नि ! तुम्हारी कृपा चाहते हैं हम॥
सब करो दिशायें हम सबके हित शिवमय[1]।
हो स्थान तुम्हारा अच्युत[2] अडिग प्रभामय[3] ॥ ५९ ॥

टि०—अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि हमारे लिए सब दिशाओं को कल्याणकारिणी और शान्तिवर्धक बना दो; तुम्हारा प्रकाशमय तेज हमारे भक्तिपूर्ण हृदयों में अचल हो। ५९

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं
जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः[1] ॥ ६० ॥

जातवेदसौ	दोनों सर्वज्ञ अग्नियो !	अरेपसौ	प्रमादादि दोष-शून्य
नः समनसौ	हमारे कार्य की सिद्धि के लिए (तुम)	भवतं	हो जाओ;
सचेतसौ	एकाग्र चित्तवाले	यज्ञं	यज्ञ को
		मा हिंसिष्टं	नष्ट मत करो।
		यज्ञपतिं	यजमान का नाश न करो

१ कल्याण से पूर्ण; २ स्थिर; ३ प्रकाशपूर्ण।

हे देवगणो! हे सतत परस्पर प्रीतिमान[1]।
शोभन मनवालो और सम्मिलित चित्तवान[2]॥
कान्तिमत् सुरो[3]! ये अन्न और घृत हैं अर्पित।
इनकी शुचितम हवियाँ तुम करो सदा स्वीकृत॥
तुम बनो एकमन करो यज्ञ सब निष्पादित।
मानव मिलकर क्रतुकर्म करें ऐसे ही नित॥ ५७॥

टि०—इस मंत्र में देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे परस्पर प्रीतिमान होकर एकमन से हमारी अन्न और घृत की आहुतियाँ स्वीकार करें और हमारे यज्ञों को निष्पन्न करें। हम मानव भी इन्हीं देवताओं की तरह एकमन और एकप्राण होकर यज्ञकर्म करते रहें और सब धर्मकार्य मिलकर करें। ५७

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि॥ ५८॥

वां	तुम दोनों के	उ पुरीष्य अग्ने	हे यज्ञकार्य के साधक अग्नि!
मनांसि	मनों को	त्वं नः	तुम हमारे
समाकरम्	सब प्रकार से मैं मिलाता हूँ।	अधिपा भव	अधिपति हो।
व्रत सं	व्रतों और कर्मों में	इषं ऊर्जं	अन्न और घृत
चित्तानि सं	तुमको एक करता हूँ।	यजमानाय	यजमान को
		धेहि	प्रदान करो॥ ५८॥

हे उभय अग्नियो!
मैं तुम दोनों के मन का करता समीकरण[4]।
व्रत और कर्म दोनों का करता संयोजन[5]॥
हे यज्ञकर्म के साधक उभय अग्नियो! तुम।
तुम अधिपति हो, नित सेवा में रहते रत हम॥
हम यजमानों को करो अन्न-धन तुम प्रदान।
तुम दोनों को कर एक रहें हम मोदमान[6]॥ ५८॥

---

१ प्रेम करनेवाले; २ एकचित्त, एकमत होकर; ३ हे कान्तिमान देवताओ; ४ समान बनाना; मिलाना; ६ प्रसन्न।

वैसे ही जैसे गर्भ बीच निज माता।
धारण करती निज शिशु को बन सुखदाता॥
ऋतुएं सब और देवगण हुए एकमत।
कहते हैं, किया उखा ने कर्म यह महत्॥
उनसे कहती है उखा सृष्टि-निर्माता।
तुम बनो प्रजापति मेरे मुक्ति-प्रदाता॥ ६१॥

टि०—उव्वट और महीधर के अनुसार यह उखा को छीके से मुक्त करने का मन्त्र है। सातवलेकरजी ने उस सन्दर्भ से इसे मुक्त कर अर्थ किया है। महर्षि दयानन्द का भाष्य इस मन्त्र को उस सन्दर्भ से सर्वथा मुक्त कर देता है। उखा का अर्थ पूर्ववर्ती सन्दर्भों में स्पष्ट किया जा चुका है। महर्षि दयानन्द उसका अर्थ जानने योग्य करते हैं। मन्त्र में कहा गया है, यह उखा सब भूतों के हितकारी अग्नि को उसी प्रकार अपने भीतर धारण करती है जैसे माता अपने गर्भ मे शिशु को। सब देवता और ऋतुएँ एक-मन होकर उखा से कहते हैं, तुमने महान कार्य किया है। उखा ने भी उनसे कहा, सबके निर्माता प्रजापति उसे बन्धनमुक्त करें। ६१

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ
स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो
देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥ ६२॥

निर्ऋते	हे दुष्टों का दमन करनेवाली शक्ति !	इत्याम	इच्छा का
		अन्विहि	अनुकरण करो;
असुन्वन्तं	सोमयज्ञ न करनेवाले (और)	अस्मद् अन्यम्	हमसे अन्य (व्यक्ति) की
अयजमानं	दान-धर्म न करने वाले पुरुष का दमन करने की	इच्छ	इच्छा करो।
		ते	तुम्हारी
		सा इत्या	वही इच्छा है,
इच्छ	इच्छा करो।	देवि	हे देवी !
स्तेनस्य	चोर की (और)	तुभ्यं	तुम्हें
तस्करस्य	तस्कर की	नमः अस्तु	नमस्कार हो ॥६२॥

निर्ऋते ! तुम हो खल-निग्रहकारी[1] शक्ति महत्।
है नमन तुम्हें खलदंडकारिणी शक्ति बृहत्॥

१ दुर्जनों को दण्ड देनेवाली।

अद्य नः	आज हम लोगों के लिए	**शिवौ भवतम्**	कल्याणकारी हो जाओ ॥ ६० ॥

हे उभय अग्नियो[1] ! यज्ञ विनष्ट न हो यह।
कल्याण करो देवो ! हम सबका अहरह ॥
एकाग्रचित्त-मन हो प्रमाद सब त्यागो।
हों कार्यसिद्ध सब, हम पर तुम अनुरागो[2] ॥
कल्याण-स्वरूप आज अपना प्रकटाओ।
हम यजमानों का जीवन पूर्ण बनाओ ॥ ६० ॥

टि०—इस मन्त्र में यजमान लोग आहवनीय और गार्हपत्य नाम के दोनों अग्नियों से यज्ञ की सुरक्षा और कार्यसिद्धि आदि के लिए प्रार्थना करते हैं। ६०

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ
स्वे योनावभारुखा ।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः
प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

इव	जिस प्रकार	**विश्वैः देवैः**	सब देवताओं और
माता पुत्रं	माता पुत्र को	**ऋतुभिः संविदानः**	ऋतुओं के द्वारा एकता को प्राप्त,
स्वे योनौ	अपने गर्भ में	**विश्वकर्मा**	सृष्टि के निर्माता
अभाः	धारण करती है,	**प्रजापतिः**	प्रजापति
पृथिवि उखा	पृथ्वी पर आनेवाली उखा (उसी प्रकार)	**तां वि मुञ्चतु**	उसको पाश से विमुक्त करें ॥६१॥
पुरीष्यं अग्नि	सबके हितकारी अग्नि को अपने भीतर धारण करती है।		

है उखा धरित्री[3] पर अवतरित[4] हुई यह।
मंगल-साधन करती जग-जन का अहरह ॥
जो अग्नि सदा सब भूतों[5] का हितकारी।
उसको धारण करती है यह शुभकारी ॥

१ आहवनीय और गार्हपत्य; २ प्रसन्न हो; ३ धरती; ४ उतरी; ५ प्राणियों।

टि०—निर्ऋति खलों का निग्रह करनेवाली शक्ति है। जो अयजमान हैं अर्थात् जो यज्ञ नहीं करते हैं, जो चोर और डकैत हैं, उनको यह शक्ति दण्ड देती है। ६३

यस्यांस्ते घोर आसञ्जुहोम्येषां
बन्धानामवसर्जनाय।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते
निर्ऋतिं त्वाऽहं परिवेद विश्वतः ॥ ६४ ॥

घोरे	हे घोर रूप वाली निर्ऋति देवी !	जनः यां त्वा	साधारण मनुष्य जिन तुमको
एषां	इन यजमानों के	भूमिः इति	भूमि (नाम से)
बन्धानां	बन्धनों के	प्रमदन्ते	कहते है,
अवसर्जनाय	नाश के लिए	अहं त्वा	मैं उन तुमको
यस्याः ते	तुम्हारे जिस	विश्वतः	सब प्रकार से
आसन् जुहोमि	मुख में मैं आहुति डालता हूँ,	निर्ऋति परिवेद	निर्ऋति देवी स्वरूप जानता हूँ ॥ ६४ ॥

हे घोरे[1] ! परम विषमशीले[2] ! निर्ऋते !।
तव मुख में अर्पित करता हूँ आहुति निर्ऋते ! ॥
इन यजमानों के बंधन नष्ट करो तुम सब।
जो उनके स्वर्ग-प्राप्ति के प्रतिबंधक हों अब ! ॥
अनभिज्ञ शास्त्र से जन कहते हैं भूमि तुम्हें।
अर्पित करते हैं स्तवन भूमि के रूप तुम्हें ॥
जानता किन्तु मैं तुम्हें सर्वतः[3] निर्ऋति-रूप।
ऋति प्राप्त करानेवाली हो जननी अनूप ॥ ६४ ॥

टि०—निर्ऋति देवी को आहुति अर्पित करते हुए इस मन्त्र का पाठ विहित है। निर्ऋति घोर-रूपा परम विषम-शीलवाली देवी हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे यजमानों की स्वर्ग-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं को नष्ट करें। जो साधारण जन है, शास्त्र का जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे निर्ऋति को भूमि मानते है। किन्तु ऋषि कहते हैं, मैं तुम्हारे स्वरूप को अच्छी तरह जानता हूँ। ६४

---

१ उग्र स्वभाववाली, २ असमान स्वभाववाली; ३ सब प्रकार से।

जो दान-धर्म से विमुख सदा रहते हैं जन।
जो सोमयाग का त्याग सदा करते हैं जन॥
उनकी इच्छा तुम करो दंड की दात्री हे।
तस्कर-चोरों की सदा शास्ति की दात्री[1] हे॥
ऐसों का दंडविधान[2] अभीष्ट सदा तुमको।
करते हैं बारंबार नमन हम सब तुमको॥ ६२॥

टि०—निर्ऋति दुष्टों का दमन करनेवाली महाशक्ति है। इस संसार में जन्म और मृत्यु का बन्धन बड़ा कठिन है। इसको लौह-बन्धन कहा गया है। 'अय' या 'अयस्क' लोहे को कहा गया है। लोह तमोगुण का प्रतीक है। यह तमोगुण हृदय की कठिन ग्रंथि है। निर्ऋति देवी से उसे खोलने की प्रार्थना की गई है। यजमान इन निर्ऋति देवी की कृपा से ही उत्तम स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। ६२

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं वि चृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥ ६३॥

निर्ऋते	हे निर्ऋते !	संविदाना	एकमत को प्राप्त होनेवाले
तिग्मतेजः	तुम्हारा बल तीक्ष्ण तेज से युक्त है,	एनं	इस यजमान को
ते नमः	तुम्हें नमस्कार है।	उत्तमे नाके	उत्तम स्वर्गलोक में
एतं अयस्मयं	इस लोहे से बने	अधि रोहय	आरोहण कराओ॥ ६३॥
बन्धं वि चृत	बन्धन को दूर करो।		
यमेन यम्या	अग्नि और पृथ्वी के साथ		

हे तिग्मतेज से युक्त निर्ऋति !
करता मैं तुमको नमस्कार, अर्पित है तुमको नमस्कार !।
तुम तोड़ो यह अयमय[3] बंधन, तोड़ो सब लौहपाश तत्क्षण।
भवपाश कठिन संसृति की कृति, यातना कठिन यह जीवन-मृति[4]।
यह ग्रंथि तमोगुण की दुष्कर[5], निर्ऋते ! इसको खोलो सत्वर[6]॥
यह अग्नि और धरती-संगत, यजमान तुम्हारे सम्मुख नत।
तुम प्राप्त कराओ इसे धाम, वह स्वर्गलोक उत्तम प्रकाम॥ ६३॥

---

१ दण्ड देनेवाली; २ सजा और दण्ड देने की व्यवस्था; ३ लोहे का बना हुआ; ४ जीवन और मृत्यु; ५ कठिन; ६ शीघ्र।

सत्यधर्मा	सत्य धर्मों का पालक अग्नि	देवः इव	देवता के समान
शचीभिः	अपने-अपने कर्मों से	पथिनां समरे	शत्रुओं के साथ युद्ध में (वह)
विश्वारूपा	अनेक रूपों को	इन्द्रः न	इन्द्र के समान
अभिचष्टे	प्रकाशित करता है।	तस्थौ	स्थित होता है ॥ ६६ ॥
सविता	सूर्य		

निज गृह में यह यजमानों का है स्थापक।
निज जन के हित यह विपुल धनों का प्रापक[1] ॥
यह अग्नि सदा है सत्यधर्म का पालक।
ऋत की समस्त गतिविधि का यह संचालक ॥
निज कर्मों से करता बहुरूप प्रकाशित।
सविता-सा रहता है सदैव उद्भासित ॥
इन्द्र-सा शत्रुओं से संग्रम-निरत[2] रह।
संस्थित होता है विजयी बनकर अहरह ॥
उन अग्निदेव को नमन सदा करते हम।
उन अग्निदेव का स्तवन सदा करते हम ॥ ६६ ॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि का स्तवन है। यह अग्नि अपने गृहहीन भक्तों को अपना निजी गृह प्रदान करनेवाला है, धन को प्राप्त कराता है। यह सत्यधर्म का रक्षक है। यह सूर्य की तरह प्रकाशमान रहता है, इन्द्र की तरह शत्रुओं को नष्ट करता है। ६६

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६७ ॥

धीराः कवयः	(जिस प्रकार) धीर जन और क्रान्तदर्शी मेधावी लोग	देवेषु	विद्वानों को
सीराः युगा	हलों को जुएँ में	पृथक्	अलग-अलग
युञ्जन्ति	जोतते हैं;	वि तन्वते	विस्तारयुक्त (विकसित) करते है (उसी प्रकार सब लोग करें) ॥ ६७ ॥
सुम्नया	सुख के साथ		

१ प्राप्त करनेवाला; २ युद्ध करने मे लगा हुआ।

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम् ।
तं ते॒ वि ष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः ।
नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑ ॥ ६५ ॥

निर्ऋतिः देवी	निर्ऋति देवी ने	प्रसूतः एतं	इस रक्षा करनेवाले अन्न को
ते ग्रीवासु	तुम्हारी ग्रीवा में	पितुं अद्धि	भक्षण करो।
यं अविचृत्यं	जो दृढ़	या इदं चकार	जिसके प्रसाद से यह यज्ञ सम्पन्न हुआ,
पाशं आबबन्ध	पाश को बाँधा था,	भूत्यैः नमः	उस ऐश्वर्य-रूप देवी को नमस्कार है ॥ ६५ ॥
तं ते	उसको तुम्हारी		
आयुषः मध्यात्	आयु के मध्य से		
न वि ष्यामि	मैं इसी समय दूर करता हूँ।		
अथ	इसके पश्चात्		

जिस रौक्मपाश[1] से तुम्हें निर्ऋति ने बाँधा।
था ग्रीवा-बंधन[2] सुदृढ़ गया जो साधा॥
आयु के मध्य से दूर किया वह बंधन।
हो पाशमुक्त रक्षान्न[3] करो यह भोजन॥
जिसके प्रसाद से बंधन-मुक्त हुए तुम।
ऐश्वर्यस्वरूपा श्री को नमन करो तुम ॥ ६५ ॥

टि०—यह मन्त्र यजमान को सम्बोधन के रूप में है। जिस सोने के बन्धन से वह ग्रीवा से बँधा हुआ था, उससे इस यज्ञ के द्वारा वह मुक्त हुआ। यह सोने का बन्धन रजोगुण का बन्धन है। तमोगुण का बन्धन पूर्ववर्ती एक मन्त्र में लोहे का बन्धन कहा गया था। आयु के मध्य-भाग का रजोगुण के बन्धन से मुक्त होना जीवन की महान आध्यात्मिक उपलब्धि है। जिस शक्ति के द्वारा यह सम्पन्न हुआ, परमात्मा की उस पराविद्यारूपा 'श्री' शक्ति को नमस्कार है। ६५

नि॒वेश॑नः स॒ङ्गम॑नो॒ वसू॑नां॒ विश्वा॑ रू॒पाऽभि च॑ष्टे॒ शची॑भिः ।
दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॒र्मेन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे प॑थी॒नाम् ॥ ६६ ॥

निवेशनः	स्वगृह में यजमान का सहायक,	वसूनां	धनो का
		संगमनः	प्रापक,

१ सोने का बन्धन; २ गरदन से बाँधना; ३ रक्षा करनेवाला अन्न।

ऊर्जस्वती	अन्नवान	पयसा	दूध, घी आदि से
पयसा	दूध, घी आदि से	अस्मान्	हमको
पिन्वमाना	दिशाओं को पूर्ण करती हुई	अभि आ ववृत्स्व	सब प्रकार अनुकूल हो जाओ ॥ ७० ॥

हे सीते ! हे हल की फाली, मधु-घृत से सिंचित तुम आली[1] ।
तुम हो मरुतों से स्वीकृत नित, सब देवों से हो अनुमोदित ।
तुम रहो सदा ही अन्नवती, यह धरती हो घृतदुग्धवती ।
अनुकूल रहो हम सब पर तुम, दूधों से रहें नहाये हम ।
परिवार-बेलि[2] में पूत फले[3], गोठों में गायें सदा पलें ।
हे सीते ! हे हल की फाली ! मधु-घृत से सिंचित तुम आली ॥ ७० ॥

टि०—एक ओर किसान हल से धरती पर जुताई आरम्भ कर रहा है, दूसरी ओर ऋषि के कण्ठ से यह मन्त्रगीत आविर्भूत हुआ है । सब देवों और मरुतों का अनुग्रह और अनुमोदन प्राप्त कर यह धरती जोतने का कार्य आरम्भ किया गया है । हे लांगल-रेखे ! तुम इस धरती को अन्नवती, पयोवती बनाओ । सब लोग दूधों नहायें, पूतों फलें । ७०

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवँ सोमपित्सरु ।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम् ७१

तत्	वह	पीवरीं	मोटी-ताजी
पवीरवत्	फाली से युक्त	गां	गाय
सुशेवं	सुखकारक	च	और
सोमपित्सरुः	सोम पैदा करने वाला	प्रस्तावत्	गमन में समर्थ
लाङ्गलं	हल	रथवाहनं	रथवाहक अश्व
प्रफर्व्यं	अति वेगवान	उद्वपति	प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥
अविं	भेड़,		

यह फालयुक्त[4] है सुखद सोमनिष्पादक हल ।
इससे ही मिलते हैं हमको अभिमत कृषिफल ॥

---

१ सखी; २ परिवार की लता; ३ पुत्रों से फलवती हों; ४ फाल लगा हुआ ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ ५७ ॥

टि०—इस मन्त्र में कृषिकर्म के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। वेद का आदेश है, विद्वान् और मेधावी लोग स्वयं हल जोतकर खेती का काम करें। [illegible] कृषिकर्म करना सीखें। [illegible] ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है, जैसे [illegible] परमेश्वर को [illegible] में प्राप्त होते हैं, वैसे ही कृषिकर्म द्वारा [illegible] प्राप्त होवें। लगता है, वेद का कृषिकर्म सम्बन्धी यह आदेश समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत था। [illegible] जैसे महात्मा [illegible] का हल चलाना, [illegible] प्रमाण है। ५७

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं
कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ५८ ॥

सीरा युनक्त	(कृषको !) हलों को जोतो,	च गिरा	और [illegible] के अनुसार ([illegible])
युगा वि तनुध्वम्	जुओं को अनेक प्रकार से फैलाओ,	श्रुष्टिः	[illegible]
योनौ कृते	अन्न के उत्पत्ति-स्थान खेत के तैयार होने पर	सभराः	[illegible]
		असत्	हों।
इह	इसमें	[illegible]	[illegible]
बीजं वपत	बीज बोओ	[illegible]	[illegible]

१ कृषिविज्ञान [illegible] बढ़ाना; [illegible] का समूह।

वि मुञ्चध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य ।
ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥

देवयानाः	देवताओं की प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवालो !	तमसः	अन्धकार और दुःख से
अघ्न्या	मारने के अयोग्य गायों को	पारं	हम पार
विमुच्यध्वं	बंधन से मुक्त करो।	अगन्म	हो जायें और
अस्य	इस	ज्योतिः	तेजस्विता को
		आपाम	प्राप्त करें ॥ ७३ ॥

देवों के अर्थ सदैव कार्यरत रहते तुम ।
हे देवयान[1]! देवों को तुष्ट कर सकें हम ॥
ये गो आदिक पशु करो मुक्त, ये हैं अवध्य ।
इनकी सुस्थिति ही जग-मंगल के हेतु साध्य ॥
तुम करो हमें अपनी महती करुणा प्रदान ।
यह दुखमय तम हम करें पार हे देवयान ॥
क्षुत्-तृषा[2], जन्म-मृति-मुक्त बने अपना जीवन ।
फिर करें प्राप्त हम तेजस्वी तमजिज्जीवन[3] ॥ ७३ ॥

टि०—देवताओं के अर्थ कार्य करनेवाले त्यागी मनस्वी पुरुषों को इस मन्त्र में सम्बोधित किया गया है । उनसे कहा गया है, गाय अवध्य है, वे उसे बन्धनमुक्त करें । संसार के कल्याण के लिए गो का अवध्य रहना सदैव साध्य है । संसार में भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी, जन्म-मृत्यु के द्वन्द्व का अन्धकार फैला है । इस अन्धकार को पार करना मनुष्य का कर्तव्य है । ७३

सजूरब्दो अयवोभिः[1] सजूरुषा अरुणीभिः[2] ।
सजोषसावश्विना दंसोभिः[3] सजूः सूर एतशेन[4]
सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा[5] ॥ ७४ ॥

शब्दः	संवत्सर	सजूः	प्रीतियुक्त है;
अयवोभिः	जलों के दाता अयव मास से	उषा	प्रातःकाल की देवी उषा

१ देवताओं के वाहन; २ भूख और प्यास, ३ अंधकार को जीतनेवाला जीवन ।

अति वेगवान[1] छागों, मेषों को देता यह।
है स्थूल पुष्ट अंगों की गो उपजाता वह॥
उससे ही मिलते हमको रथवाहक[2] घोड़े।
जो मरुतों के वाहन में जा सकते जोड़े॥
उत्तम कृषि का आधार यही बैलों का हल।
इसके द्वारा हैं प्रापनीय[3] अभिमत[4] सब फल॥ ७१॥

टि०—इस मन्त्र में भी हल की महत्ता का वर्णन है। उत्तम खेती से केवल अन्न ही प्राप्त नहीं होता, अपितु श्रेष्ठ बकरियाँ, भेड़ें, गायें और अत्यन्त वेगवान घोड़े भी प्राप्त किये जा सकते हैं। वह सोम को भी उत्पन्न करता है। ७१

कामँ कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः॥ ७२॥

कामदुघ	हे मनोरथ पूर्ण करनेवाली सीते!	पूष्णे	पूषा के लिए
मित्राय	मित्र के लिए,	प्रजाभ्यः	प्रजाओं के भोगार्थ
वरुणाय	वरुण के लिए,	च	और
इन्द्राय	इन्द्र के लिए,	ओषधीभ्यः	ओषधियों के लिए
अश्विभ्याम्	अश्विनीकुमारों के लिए,	कामं	इच्छित
		धुक्ष्व	भोग का सम्पादन करो॥ ७२॥

हे कामदुधे[5]! हे अभिमत फलदायक सीते!।
तुम सब वांछित[6] भोगों की संपादक सीते!॥
ये मित्र वरुण, ये इन्द्र और अश्विनी उभय।
ये पूषादिक सुर ओषधियाँ सब ज्योतिर्मय॥
इन सबको करो अपेक्षित भोगों को प्रदान।
हे सीते! सबकी कामदुधा हो तुम महान॥ ७२॥

टि०—इस मन्त्र में भी सीता अर्थात् पृथ्वी पर हल से खींची गई जुताई की रेखा की वन्दना है। यह हल की रेखा समग्र कृषिकर्म का प्रतीक है। कृषि से उत्पन्न अन्न-फलादि से सब देवता परितुष्ट होते हैं। खेती की महिमा का गान-विधान करने वाला यह बड़ा मनोहारी मन्त्र है। ७२

---

१ शीघ्र चलनेवाले; २ रथ चलानेवाले; ३ प्राप्त होने योग्य; ४ इच्छित; ५ कामधेनु, सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली; ६ इष्ट, चाहे हुए।

शतं	सौ	अहं	मैं
च	और	नु	निश्चय ही
सप्त	सात	मन्ने	जानता हूँ ॥ ७५ ॥
धामानि	(व्रीहि, गोधूम आदि के) धामों को (स्थानों को)		

सृष्टि के आदि में ओषधियाँ सब हुईं प्रकट।
इनकी उत्पादक ऋतुएँ हैं यह शुभ्र[1] शरद्, ऋतुपति, प्रावृट्[2] ॥
जग की उत्पत्ति और पालन में है समर्थ जो धान्य-धन्य।
नीवार[3] व्रीहि[4] शत-सात नाम उनके हैं ज्ञात मुझे अनन्य ॥
पिंगलवर्णा[5] ये ओषधियाँ कर सकतीं जग का जनन-भरण[6]।
उनके सब धामों की मुझको अवगति है, ये हैं व्याधि-हरण ॥
सेवन करते जो नर इनका वे हो जाते हैं रोगहीन।
होते शतायु, बन योगयुक्त जीवन यापन[7] करते अदीन ॥ ७५ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि सृष्टि के आदि में बसन्त, वर्षा, शरद में अनेक प्राणदायक ओषधियों और धान्यों की उत्पत्ति हुई। ऋषि कहते हैं, उनके सौ और सात नाम—नीवार, व्रीहि, गोधूम आदि मैं जानता हूँ। कुछ भाष्यकारों ने नाम की जगह धाम अर्थ किया है। अर्थात् मैं उनके प्राप्त होने के स्थान जानता हूँ। ये ओषधियाँ संसार की उत्पत्ति और पालन करने में समर्थ हैं। इनको सेवन करनेवाले शतायु होते हैं और योगयुक्त अदीन जीवन बिताते हैं। ७५

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

अम्ब	हे माता के समान हितकारक ओषधियो !	वः रुहः	तुम्हारे अंकुर
		सहस्रं	हजारों है।
		शतक्रत्वः	सैकड़ों कार्यों की साधक ओषधियो !
वः	तुम्हारे		
आ	सब प्रकार के	यूयं	तुम सब
धामानि	धाम	मे	मेरे
शतं	सैकड़ों हैं	इमं	इस यजमान को
उत्	और	अगदं कृत	नीरोग करो ॥७६॥

१ निर्मल; २ वर्षाऋतु, ३ एक प्रकार का मोटा चावल, जो ऋषियों का प्रमुख खाद्य था; ४ जौ; ५ पीले वर्ण की; ६ पैदा करना और पालना; ७ बिताना।

अरुणीभिः	लाल रंग की गायों से	सजूः	प्रीतियुक्त है।
सजूः	प्रीतियुक्त है;	वैश्वानरः	सबका कल्याणकारी अग्नि
अश्विनौ	अश्विनीकुमार	इडया	हवि रूप अन्न और
दंसोभिः	चिकित्सा-कर्मों से	घृतेन	घृत से
सजोषसौ	प्रीतियुक्त हैं;	सजूः	प्रीतियुक्त है।
सूरः	सूर्य	स्वाहा	(इन सबको) हवि अर्पित है ॥ ७४ ॥
एतशेन	घोडो से		

यह जल का दाता संवत्सर है अयव मास[1] से प्रीतियुक्त।
यह अरुण वर्ण की उषा धेनुओं से सदैव परमानुरक्त[2] ॥
अश्विनीकुमार उभय रहते हैं भिषक्-कर्म[3] पर प्रीतिमान।
ये सूर्यदेव अपने अश्वों को देते संतत स्नेहदान ॥
वैश्वानर अग्निदेव रहते हव्यान्न आज्य से मोदमान।
इन सब देवों के हित अर्पित करते हम पावन हवि स्वाहा ॥
इन सब देवों के हित आयोजित है यह यज्ञकर्म स्वाहा ॥ ७४ ॥

टि०—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि किस देवता को क्या प्रिय है। संवत्सर को अर्द्धमास किंवा लव, निमेष, दिन, पक्ष आदि काल के अवयव प्रिय हैं। लाल रंगवाली उषा को गायें प्रिय हैं। अश्विनीकुमार को चिकित्सा-कर्म प्रिय है। सूर्य को अपने घोड़े प्रिय है। अग्नि को हवन करने योग्य पवित्र अन्न और घृत प्रिय है। इस यज्ञ में इन सभी देवों के लिए हवियाँ अर्पित हैं। ७४

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च[1] ॥ ७५ ॥

याः	जो	त्रियुगं	वसन्त, वर्षा और शरद में
पुरा	सृष्टि के आदि में		
पूर्वाः	पहले	जाताः	उत्पन्न हुई, उस
ओषधीः	ओषधियाँ	बभ्रूणां	जगत् की उत्पत्ति और पालन में समर्थ
देवेभ्यः	देवताओं के लिए		

१ इसका अर्थ उव्वट महीधर ने आधा मास किया है। महर्षि दयानंद के अनुसार इसका अर्थ लव, निमेष आदि कालखंड है; २ अत्यंत अनुराग रखनेवाला; ३ वैद्य का काम।

तुम विविध व्याधियाँ हरो अये वीरुध[1] वंदित।
बहुविध प्ररोहशाली तुम वीरुध अभिनंदित ॥ ७७ ॥

टि०—ओषधियाँ मानव-जीवन को नीरोग बनाने की क्षमता रखती हैं। इसलिए इस मंत्र में उनसे कृपा करने की प्रार्थना की गई है; ओषधियों के सौंदर्य का भी मनोहारी वर्णन है। वे सदैव पुष्पों से सुसज्जित रहती हैं, फल प्रदान करती हैं, इसलिए प्रसूवरी है। ओषधियों को घोड़ों की तरह वेग से प्रगति करनेवाली कहा गया है, क्योंकि वे तेजी से बढ़ती है। जैसे घोड़े संग्राम में विजय प्राप्त करते हैं, वैसे ही वे रोगों को जीतती हैं। वे वीरुध हैं, क्योंकि वे विविध रोगों का अवरोध करती हैं। वे अनेक प्रकार से प्ररोह करती हैं, इसलिए भी वे वीरुध हैं। ७७

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥

मातरः	हे जगत का निर्माण करनेवाली!
देवीः	दिव्यगुणों से युक्त
ओषधीः	ओषधियो!
वः	तुमसे
इति	इस प्रकार हम प्रार्थना करते हैं।
तत् उपब्रुवे	वह तुम्हें स्वीकार हो।

पुरुष	हे परमेश्वर!
तव	तुम्हारी कृपा से
अश्वं	घोड़े,
गां	गायें,
वासः	वस्त्र से मैं युक्त और
आत्मानं सनेयं	रोग-रहित शरीर-वाला मैं होऊँ ॥७८॥

निर्माण जगत् का करनेवाली ओषधियो! हे माताओ!।
हो दिव्य गुणों से मंडित नित तुम माताओ!॥
स्वीकार करो प्रार्थना हमारी तुम सदया[2]।
तुम रोगहारिणी रहो सदा हे निरामया[3]॥
हे परमेश्वर! गो, अश्व, वस्त्र दो तुम वांछित।
मैं व्याधिविर्वाजित[4] रहूँ सदा तन-मन से नित ॥ ७८ ॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों को जगत की निर्माण करनेवाली शक्ति कहा गया है। वे रोगहरण करने में समर्थ हैं। मंत्र के दूसरे भाग में भगवान से प्रार्थना की गई है, कि वे नीरोग शरीर और मन प्रदान करें। ७८

---

१ बहुत प्रकार से रोगों का अवरोध करनेवाला या बहुत प्रकार से प्ररोह करने-वाला; २ दया करके; ३ रोगहीन; ४ रोगमुक्त।

हे रोगहारिणी, पुष्टिकारिणी ओषधियो ! ।
शतविध[1] नित हितकर मातृरूपिणी ओषधियो ! ।।
हैं क्षेत्रभेद[2] से धाम तुम्हारे हुए बहुत ।
हैं जातिभेद[3] से नाम तुम्हारे बहुविध श्रुत ।।
रमणीय तुम्हारा यह शत-शत अंकुरप्ररोह[4] ।
शत-शत शुभ कर्मों का साधक यह महारोह[5] ।।
शत शुभकर्मा शत गुणधर्मा ओषधियो ! करके कृपादान ।
षट् ऊर्मि[6]-विवर्जित व्याधि-रहित, यजमान बने सब महाप्राण ।। ७६ ।।

टि०—इस मन्त्र में ओषधियों को सम्बोधित किया गया है । ये ओषधियाँ माता के समान हितकारिणी हैं, इसलिए उन्हें अंब कहा गया है । उनमें हजारों अंखुए निकलते हैं, यह बड़ा नयन-रमणीय दृश्य होता है । लगता है, इन अँखुओं के रूप में ओषधियों के सैकड़ों-हजारों शुभ कर्म स्वर्ग पर आरोहण कर रहे हैं—चढ़कर जा रहे है । ये ओषधियाँ यजमान की दैहिक, दैविक और भौतिक व्याधियाँ दूर करने में समर्थ हैं । ७६

ओषधीः प्रतिं मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ।। ७७ ।।

ओषधीः	हे ओषधियो !	वीरुधः	अनेक प्रकार की
पुष्पवतीः	(तुम) पुष्पों से	पारयिष्णवः	व्याधियों को दूर करनेवाली,
प्रसूवरीः	युक्त फल उत्पन्न करनेवाली,	प्रति मोदध्वं	मुझसे प्रसन्न होओ ।। ७७ ।।
अश्वा इव	घोड़ों के समान		
सजित्वरी	वेग से प्रगति करनेवाली,		

हे ओषधियो ! तुम रहो निरंतर मोदमान ।
व्याधियाँ हरो सब करो हमें निज कृपा-दान ।।
तुम पुष्पवती हो, शत-शत पुष्पों से शोभित ।
तुम प्रसूवरी[7] हो, फल प्रदान करती हो नित ।।
हो अश्वों-सी गतिमती[8] वेगवाली अविरत ।
रोगों से रण में पाती हो तुम जय संतत ।।

१ सैकड़ों प्रकार से; २ स्थान का अंतर; ३ अनेक जातियों के भेद; ४ अंकुर निकलना; ५ महान आरोह, अंकुरों के ऊपर उठने का भव्य दृश्य; ६ भूख, प्यास आदि छः ऊर्मियाँ; ७ फल देनेवाली; ८ प्रगति करनेवाली ।

इव	जैसे	सः	(वहाँ) वह वैद्य (रूपी राजा)
राजानः	राजा	रक्षोहा	रोगरूपी राक्षसों (शत्रुओं) का नाशक होता है।
समितौ	युद्ध में शत्रु को जीतने के लिए जाते है, उसी प्रकार	अमीवचातनः	ओषधि देकर रोग का नाश करनेवाला
ओषधिः	हे ओषधियो !	विप्रः	विद्वान ब्राह्मण
यत्र समग्मत	जहाँ तुम रोग को जीतने जाती हो,	भिषग् उच्यते	वैद्य कहा जाता है ॥ ८० ॥

जिस भाँति शत्रु पर विजय हेतु राजा करते रण को प्रयाण[1] ।
ओषधियो ! वैसे रोगों पर संगठित करो विजयाभियान[2] ॥
तुम जाओगी जब जहाँ वैद्य सब सदा तुम्हारे हैं अनुगत[3] ।
ये रोग सभी राक्षसस्वरूप, करते वे उनको भस्मीकृत[4] ॥
ओषधि-प्रयोग से रोगों को करते विनष्ट जो द्विज उत्तम ।
उनको ही सदा वैद्य कहकर अभिनंदित करते हैं सब हम ॥ ८० ॥

टि०—इस मंत्र में वैद्यों को आदेश दिया गया है कि वे ओषधियों के गुण-धर्म अच्छी तरह जानकर रोगों को नष्ट करने के लिए संगठित अभियान करें। कुशल वैद्य ही रोग-रूपी राक्षसों को नष्ट कर सकते है। जो समाज में इस प्रकार का रोगविनाशक अभियान करता है, वही सच्चा ब्राह्मण है, वही कुशल वैद्य है। ८०

अ॒श्वा॒व॒तीꣳ सो॑मा॒व॒तीमू॒र्जय॑न्ती॒मुदो॑जसम् ।
आऽवि॑त्सि॒ सर्वा॒ ओष॑धीर॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥८१॥

अस्मै	इसके	ऊर्जयन्तीं	बल और पराक्रम बढ़ानेवाली,
अरिष्टतातये	दुःखदायक रोगों से छुड़ाने के लिए	उदोजसं	ओज की वृद्धि करनेवाली
अश्वावती	घोड़ों के समान बल बढ़ानेवाली,	सर्वाः ओषधीः	सब ओषधियों को
सोमावतीं	सोमयाग के लिए लाभकारी,	आ अवित्सि	सब प्रकार से मैं जानता हूँ ॥ ८१ ॥

१ चढ़ाई; २ विजय प्राप्त करने के लिए हमला; ३ अनुगामी; ४ भस्म बना हुआ।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ७९ ॥

वः	(हे ओषधियो !) तुम्हारे लिए	वसतिः कृतः	निवास प्राप्त किया हैं ।
अश्वत्थे	पीपल काष्ठ-निर्मित उपभृत और स्रुचा (के साथ) पात्र में	किल	(हे हविर्भूत ओषधियो !) निश्चय ही (तुम)
निषदनं	स्थान है ।	गोभाजः	गायों की सेवा
वः	तुमने	इत् असथ	करनेवाली हो ।
पर्णे	पलाशपत्र से निर्मित जुहू में	यत्	इस कारण तुम
		पूरुषं सनवथ	यजमान को अन्नादि से युक्त करो ॥७९॥

ये उपभृत[1] और स्रुचा[2] हैं पिप्पल-काष्ठ-रचित ।
हे ओषधियो ! इन पात्रों में तुम हो संस्थित ॥
निर्मित पलाश[3]-पत्रों से जुहू[4], हविर्दात्री[5] ।
इसमें भी वास तुम्हारा है हे ऋतुधात्री[6] ॥
हे हविर्भूत[7] ओषधियो ! हो तुम हवि बन हुत[8] ।
तुम गो-सेवा के हेतु सदा रहती प्रस्तुत ॥
यजमान तुम्हारे संग्रह में रहते रत नित ।
उसको तुम करो विविध-विध अन्नों से पूरित ॥ ७९ ॥

टि०—यज्ञ के सारे उपादान ओषधियों से बनते हैं । स्रुचा और उपभृत पीपल की लकड़ी के बनते है । जूहू का निर्माण पलाश के पत्तों से होता है । हवन की सामग्री भी ओषधियों से प्राप्त होती है । जो यजमान यह सब यज्ञ-सामग्री सहेजता है, वह धन-धान्य से पूरित हो जाता है । ७९

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

---

१ यज्ञो में प्रयोग मे आनेवाला पात्र, जिसमें हवनीय सामग्री रखी जाती है; २ स्रुवा; ३ ढाक, ४ काठ की बनी गोल चमची; ५ आहुति देनेवाली; ६ यज्ञ का पालन करनेवाली; ७ हवि बनी हुई; ८ हवन की हुई ।

हे मानव ! तुम उपयोग करो इन ओषधियों का सदा योग्य ।
ये अमृतस्वरूपा प्रकट हुई हैं इस धरती पर देवभोग्य ॥
हे यज्ञपुरुष ! ये ओषधियाँ होतीं हविरूप तुम्हें अर्पित ।
तब इनका बल, इनकी ऊर्जा अविरत होती रहती वर्द्धित ॥ ८२ ॥

टि०—यह पुरुष के प्रति सम्बोधन है । इस देह के पुर में शयन करनेवाला देही अर्थात् आत्मा ही पुरुष है । श्रेष्ठ ओषधियों के सेवन से आत्मसाक्षात्कार तक हो सकता है, यह संकेत इस मंत्र में है । यह शास्त्रानुमोदित भी है । कुछ भाष्यकारों ने पुरुष का अर्थ यज्ञपुरुष किया है । यज्ञ में ओषधियों की आहुति देने से उनकी शक्ति बढ़ती है । गायें जैसे गोठों से निकलकर वनों में घूम-फिरकर पुष्ट हो अपने दूध से मानवमात्र का पोषण करती हैं, वैसे ही हैं ये ओषधियाँ । वे देवताओं का भोग्य अमृत ही है । ओषधियों के रूप में वह धरती पर प्रकट हुआ है । ८२

इष्कृतिर्नाम वो माताऽथो यूयꣳ स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ॥८३॥

निष्कृतिः	(हे ओषधियो !) 'निष्कृति'	स्थ	हो ।
नाम	नाम की भूमि	सीरा पतत्रिणीः	अन्नवत् क्षुधा को दूर करनेवाली
वः	तुम्हारी	स्थन	हो ।
माता	माता है	यत्	इस कारण से (तुम)
अथो	और	आमयति	मनुष्यों के रोगों को
यूयं	तुम लोग	निष्कृथ	निकाल बाहर करती हो ॥ ८३ ॥
निष्कृतीः	व्याधि दूर करने-वाली		

ओषधियो ! 'निष्कृति[1]' विदित तुम्हारी है माता ।
तुम सकल व्याधियों-रोगों से निष्कृति-दाता ॥
अन्न के सदृश सब क्षुधा-क्लेश[2] हरती हो तुम ।
जग के हित रहो निरंतर प्रसरणशीला तुम ॥
मानव की रोगविनाशक निष्कृतिरूपा तुम ।
नैरुज्य[3] रोगराहित्य[4] सदा ही भोगें हम ॥ ८३ ॥

टि०—इस मंत्र में 'निष्कृति' को ओषधियों की माता कहा गया है । 'निष्करोति व्याधिं नाशयतीति निष्कृतिः' । व्याधियों का जो निष्क्रमण या निष्कासन कर देती है,

१ मुक्त करनेवाली, २ भूख का कष्ट; ३ नीरोगता; ४ रोगों से मुक्त होने की स्थिति ।

दुखदायक सब रोगों से मानव रहें मुक्त।
मैं इसीलिए हूँ ओषधियों के ज्ञानयुक्त॥
ये ओषधियाँ हैं, अश्वों-सी अति बलवर्द्धक।
ये ओषधियाँ हैं सोमयाग[1] की संवर्द्धक[2]॥
बल और पराक्रम, ओज-तेज की वृद्धिकरी।
ये सबके हित हैं विदित अशेष[3] अरिष्ट[4]-हरी॥
इन ओषधियों का मुझको सम्यक् पूर्ण ज्ञान।
ये ही मानव को कर सकती नैरुज्य[5]-दान॥ ८१॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों की महिमा का वर्णन है। ऋषि का कथन है, मैं इन ओषधियों के, वनस्पतियों के गुण जानता हूँ। इनके सेवन से मनुष्य सब रोगों से मुक्त हो सकते है। ८१

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनंꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥ ८२॥

पूरुष	हे पुरुष!	उद् ईरते	प्रकट होती है,
तव आत्मानं	तुम्हारे आत्मा को	इव	जैसे
धनं	धन्यता (को प्राप्त कर)	गावः गोष्ठात्	गायें गोष्ठ से निकलती हैं (वैसे ही ओषधियाँ प्राप्त होती हैं)॥ ८२॥
सनिष्यन्तीनां	देने की इच्छा करनेवाली		
ओषधीनां शुष्माः	ओषधियों की शक्ति		

धन्यता[6] तुम्हें देने को ही ये ओषधियाँ हैं हुई प्रकट।
हे पुरुष! प्रकाशित करती हैं गुण निकट तुम्हारे सब उत्कट[7]॥
जैसे सेवित, पालित गायें निज पय से करतीं जग-पोषण[8]।
गोष्ठों[9] से निकल अरण्यों[10] में करती हैं जग-जन-हित विचरण॥
वैसे ही वन-वन में होती ओषधियाँ हैं ये उद्भासित[11]।
हे देही! तेरे आत्मा को, तन को करती बलवत्तर[12] नित॥

---

१ सोम नामक यज्ञ; २ बढ़ानेवाला; ३ संपूर्ण; ४ अमंगल; ५ नीरोगता; ६ कृतकृत्यता; ७ श्रेष्ठ, उत्तम; ८ संसार के लोगों का पोषण; ९ गायों के रहने के स्थान; १० वन; ११ प्रकाशित, उत्पन्न; १२ अधिक बलवान।

यत्	जब
अहं	मैं
इमाः	इन
ओषधीः	ओषधियों को
वाजयन्	बलशाली
हस्ते	हाथ में बनाकर
आदधे	धारण करता हूँ,
यक्ष्मस्य आत्मा	यक्ष्मा रोग का आत्मा
पुरा नश्यति	पहले ही नष्ट हो जाता है,
यथा जीवगृभः	जैसे वध के लिए ले जाया हुआ प्राणी ॥ ८५ ॥

जब इन ओषधियों को पूजित[1]-ऊर्जित[2] कर।
संस्थापित करता हूँ मैं अपने कर पर॥
यक्ष्मा[3] जैसी व्याधियाँ नष्ट होतीं तब।
भक्षण करने के पूर्व दलित[4] होतीं सब॥
वैसे ही जैसे मानव-वध के हित हृत[5]।
मरने के पहले ही हो जाता है मृत॥ ८५॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों की चिकित्सकीय विशेषताओं को जाननेवाला ऋषि कहता है कि कुछ ऐसी ओषधियाँ हैं जिनको संस्कारित और शक्तिमान बनाकर मैं रोगी के हाथ पर रख देता हूँ, तो भक्षण करने के पूर्व ही उसकी यक्ष्मा जैसी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। जैसे वधस्थान को ले जाया जानेवाला मनुष्य मारे जाने के पहले ही मर चुका होता है, वैसे ही सब रोग, ऐसी ओषधियों के हाथ पर रखते ही, खाने के पहले नष्ट हो जाते हैं। ८५

यस्यौ॑षधीः प्र॒सर्प॒थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः।
तत॒ो यक्ष्म॒ं वि बा॑धध्व उ॒ग्रो म॑ध्यम॒शीरि॑व ॥ ८६ ॥

ओषधीः	हे ओषधियो !
यस्य	(तुम) जिसके
अङ्गं अङ्गं	अंग-अंग में;
परुः परुः	पोर-पोर में,
प्रसर्पथ	अच्छी तरह फैल जाती हो,
ततः	उससे (तुम)
मध्यमशीः	शत्रु के मर्मस्थल को भेदनेवाले
उग्रः इव	प्रचण्ड वीर की तरह
यक्ष्मं	यक्ष्मा रोगादि को
वि बाधध्वे	विनष्ट कर देती हो ॥ ८६ ॥

---

१ संस्कारित; २ शक्तिमान बनाकर; ३ टी० बी०; ४ नष्ट; ५ ले जाया जाता हुआ।

वह निष्कृति है। व्याधियों-रोगों को दूर करने की क्रिया ही ओषधियों की माता है। संभव है, वैदिक काल में ऐसा कोई प्रदेश हो जहाँ ये रोगहारिणी ओषधियाँ सहज ही मिलती हों, उसे भी निष्कृति कहा जाता हो। ओषधियों को 'पतत्रिणी' अर्थात् प्रसरणशीला भी कहा गया है। ८३

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः[1] ॥८४॥

स्तेनः इव	चोर जैसे	ओषधीः	ओषधियाँ उसी प्रकार आक्रमण करती हैं
व्रजं	गायो के बाड़े पर		
अति अक्रमुः	आक्रमण करता है,		
परिष्ठाः	सर्वत्र व्यापनशील	यत् किं च	और जो कुछ
विश्वाः	सब रोगों पर	तन्वः रपः	शरीर में रोग होता है (उसको वे दूर करती हैं) ॥ ८४ ॥

गोठों[1] पर जैसे चोर आक्रमण करते।
निशि के तम में[2] गायों को अपहृत करते॥
वैसे ही ओषधियाँ सब व्यापनशीला।
भक्षण करने पर बनती हैं गतिशीला[3]॥
तन में व्यापृत[4] हो जाती हैं ये तत्क्षण।
कर देती हैं सब रोगों का उन्मूलन॥
पापों के फल ये सकल नष्ट करती हैं।
व्याधियाँ विविध तन को मन की रहती हैं॥ ८४॥

टि०—जिस प्रकार अज्ञात रूप में चोर रात के अँधेरे में गोशालाओं से गायों को चुराते है, उसी तरह से ये ओषधियाँ चुपके से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं और सब रोग नष्ट कर देती है। रोग पापों के फल हैं, ओषधियाँ उन्हें दूर करती हैं। ८४

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥ ८५॥

---

१ गायों के रहने के स्थान; २ रात के अँधेरे में; ३ काम करने लगती हैं; ४ व्याप्त (एवं क्रियाशील)।

सर्वाङ्ग-वेदना को लेकर।
तू भाग, छोड़ यह तन सुन्दर ॥ ८७ ॥

टि०—यह राजयक्ष्मा रोग के निवारण का मंत्र है। राजयक्ष्मा भयावह रोग है। उसकी मंत्रचिकित्सा का यह प्रयोग है। इस मंत्र की शक्ति से मनुष्य के सुन्दर शरीर को छोड़कर भाग जाने का आदेश दिया जा रहा है। ऋषि का विश्वास है, इस मंत्र की शक्ति से रोग नीलकंठ पक्षी की तरह'की-की'करता भाग जायेगा। ८७

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

वः	(हे ओषधियो!) तुममें	उप अवत	समीप आवे।
अन्या अन्याम्	एक ओषधि दूसरी की	ताः सर्वाः	वे सब
अवतु	रक्षा करे।	संविदानाः	परस्पर सहयोग करती हुई
अन्या अन्यस्याः	रक्षा की गई एक ओषधि दूसरी की (रक्षा करने को)	मे	मेरे
		इदं वचः	इस वचन की
		प्र आ अवत	रक्षा करें ॥ ८८ ॥

हे ओषधियो! तुम करो दूसरी ओषधियों की रक्षा।
रक्षित हों इस भांति करे वे अन्यों की भी रक्षा ॥
इस प्रकार मिलकर ओषधियाँ बनें निखिल रुजहारी[1]।
करती रहें प्रभाव-वृद्धि नित हों जगमंगलकारी ॥
करें सदा सहयोग परस्पर ये अमोघ[2] फल-वाली।
मेरा वचन सत्य हो विनसे रोग-तमिस्रा[3] काली ॥ ८८ ॥

टि०—ओषधियों को परस्पर मिलाकर अनेक रोगों को दूर किया जा सकता है, यह संकेत इस मंत्र में है। जिन ओषधियों के मिलाने से अनेकानेक गुण, धर्म और प्रभाव उत्पन्न होते हैं, उनका ज्ञान वैद्यों को होना चाहिए। इसी उपाय से रोगों की काली रात हटाई जा सकती है। ८८

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥८९॥

---

१ रोग दूर करनेवाली; २ अव्यर्थ; ३ रोग की रात।

ओषधियो! तुम रोगी के जर्जर[1] तन में।
व्यापृत होती प्रतिअंग पर्व[2] में क्षण में॥
तुम शिरा-शिरा[3] में फैल प्रभाव दिखाती।
सब रोगों को उन्मूलित त्वरित[4] बनाती॥
जैसे शर-सायक-पाणि[5] शूर क्षत्रियगण।
करते हैं राष्ट्र-शत्रुओं का उन्मूलन॥
जैसे त्रिशूल ले रुद्रदेव प्रलयंकर।
बनते युगान्त[6] में निखिल सृष्टि के क्षयकर॥
ओषधियाँ वैसे ही रोगों के गिरि पर।
टूटती विश्वमंगल हित कुलिश[7] रूपधर॥ ८६॥

टि०—ओषधियों के रोगी की देह पर होनेवाले प्रभाव का वर्णन इस मंत्र में किया गया है। ओषधियाँ क्षण भर में रोगी के प्रत्येक अंग में, प्रत्येक पोर में, प्रत्येक शिरा में अपना काम करना आरंभ कर देती है और रोग नष्ट कर देती है। महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है, जैसे धनुर्बाणधारी क्षत्रिय अपने शस्त्रों से शत्रु को नष्ट करते हैं, जैसे त्रिशूलपाणि रुद्र युगान्त में सृष्टि का संहार करते हैं, वैसे ही ओषधियाँ रोगों का संहार करती हैं। ८६

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया॥ ८७॥

यक्ष्म	हे (यक्ष्म) रोग!	निहाकया	(अपने को) समूल विनष्ट करने की प्रक्रिया के
वातस्य ध्राज्या	वायु की गति के	साकं	साथ
साकं	साथ	नश्य	नष्ट हो जा॥ ८७॥

हे यक्ष्मरोग! हो जा विनष्ट, हो जा विनष्ट।
चाष[8] के सदृश की-की करता तू हो विनष्ट॥
तू भाग प्रभंजन की गति से।
तू भाग चिकित्सित[9] हो विधि से॥
कफ-वात-पित्त के दोष-सहित।
तू भाग, देह कर रोग-रहित॥

१ क्षीण; २ पोर; ३ नस, ४ तुरन्त; ५ धनुष-बाणधारी; ६ प्रलय; ७ वज्र; ८ नीलकण्ठ पक्षी; ९ दवा होने पर।

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि ओषधियाँ मनुष्य को सब रोगों से बचाती हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारे सब प्रकार के क्लेश दूर करें। ९०

अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ९१ ॥

दिवः	द्युलोक से	अश्नवामहै	हमें खाया है,
परि अवपतन्तीः	भूमि पर आती हुई	सः पुरुषः	वह पुरुष
ओषधयः	ओषधियाँ	न रिष्यति	नष्ट नहीं होता है ॥ ९१ ॥
अवदन्	कहती हैं (कि)		
यं जीवं	जिस प्राणधारी जीव ने		

जो उतर रही हैं दिव[1] से इस धरती पर।
वे ओषधियाँ दे रहीं मनुज को यह वर[2] ॥
प्राणी विधि से यदि करे हमारा भक्षण।
होगा इस जग में उसका कभी न विनशन[3] ॥ ९१ ॥

टि०—इस मंत्र में तीन निर्देश हैं। ओषधियाँ द्युलोक से पृथ्वी पर आती हैं। वे यह घोषणा करती हुई आती हैं कि जो हमको खायेगा, उसका रोग कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे। ९१

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳ हृदे ॥ ९२ ॥

याः ओषधीः	जितनी ओषधियाँ हैं,	उत्तमा असि	सर्वोत्तम हो;
सोमराज्ञीः	सोमवल्ली उनमें रानी के समान है।	कामाय	यथेष्ट सुख प्राप्त कराने में (और)
शतविचक्षणाः	सैकड़ों रोगों को जो दूर करने में पटु है,	हृदेशं अरं	हृदय को सुख देने मे पर्याप्त सहायक हो ॥ ९२ ॥
तासां	उनमें (हे सोमवाली)		
त्वं	तुम		

१ द्युलोक, स्वर्ग; २ वरदान; ३ विनाश।

याः	जो (ओषधियाँ)	**ताः**	वे (सब ओषधियाँ)
फलिनीः	फलवाली हैं,	**बृहस्पति**	ज्ञानी वैद्य की
याः अफलाः	जो फलहीन हैं,	**प्रसूताः**	प्रेरणा से
याः अपुष्पाः	जिनमें फूल नहीं है	**नः**	हमको
च याः पुष्पिणीः	और जो फूल-वाली हैं,	**अंहसा**	रोग से, पाप से
		मुञ्चन्तु	छुडावें ॥ ८९ ॥

जो ओषधियाँ फलवती और अफला हैं।
जो पुष्पहीन हैं और पुष्प-शबला[1] हैं॥
वे देव बृहस्पति द्वारा होकर प्रेरित।
सर्वदा करें हम सबको रोग-विवर्जित[2] ॥ ८९ ॥

टि०—वे सब ओषधियाँ परममंगलकारिणी बृहस्पति के द्वारा प्रेरित होकर हमें रोगहीन बनायें। बृहस्पति का अर्थ ज्ञानी वैद्य भी किया गया है। ८९

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

शपथ्यात्	(ओषधियाँ) कुपथ्य या निंदायोग्य कुकर्म से	**पड्वीशात्**	मर्यादा नष्ट करने के पाप से
अथो	और	**उत सर्वस्मात्**	तथा सब प्रकार से
वरुण्यात्	जलरोग से	**देव किल्बिषात्**	ईश्वर के प्रति किये गये पाप से
अथ	और	**मा मुञ्चन्तु**	मुझे छुडावें ॥ ९० ॥
यमस्य	यम-नियम को		

ये ओषधियाँ सब रक्षा करें हमारी।
ये हों कुपथ्य-संभूत[3] वेदनाहारी॥
ये सब कुकर्मकृत[4] मेरे क्लेश निवारें।
यम-नियम-भंग-गत दोष अशेष निवारें॥
देवों के प्रति अपराध हुए जो हमसे।
वे मुक्त करें तज्जन्य[5] पाप के तम से॥ ९० ॥

---

१ फूलो से भरी हुई; २ रोगहीन; ३ कुपथ्य से उत्पन्न; ४ कुकर्म से उत्पन्न; ५ उससे उत्पन्न।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥

याः उप	जो (ओषधियाँ) निकट है	वीरुधः	नाना प्रकार से उगनेवाली (वे)
च	और	सर्वाः संगत्य	सब (ओषधियाँ) मिलकर
याः दूरं परावत	जो दूर तक फैली हुई है	अस्मै	इस रोगयुक्त पुरुष को
च इदं शृण्वन्ति	और जो हमारे ये वचन सुनती हैं,	वीर्यं संदत्त	संजीवन-शक्ति प्रदान करें ॥ ९४ ॥

ये ओषधियाँ हैं जो मेरे समीप प्रसरित[1] ।
सब ओषधियाँ हैं दूर-दूर तक जो विस्तृत ॥
जो ओषधियाँ कर रहीं श्रवण मेरी वाणी ।
नानाविध उगनेवाली हों मिल कल्याणी[2] ॥
इस रोग-शीर्ण जन का बल-वीर्य करें वर्धन ।
वे करें निरामय[3] ऊर्जामय[4] जग का जीवन ॥ ९४ ॥

टि०—इस मंत्र में निकट और दूर तक फैली और अनेक प्रकार उगी हुई ओषधियों का आह्वान किया गया है, उनकी शक्ति को जगाया गया है, जिससे वे सब मिलाकर रोगियों को नीरोग करें और सबकी बलवृद्धि करें । ९४

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥

यः खनिता	जो कोई तुमको खनन करता है,	अहं खनामि	मैं खोदता हूँ (उसकी भी हानि न हो)।
मा रिषत्	वह हानि को न प्राप्त हो।	अस्माकं द्विपात्	हमारे स्त्री-पुत्रादि द्विपाद जन
यस्मै वः	जिस रोगी की चिकित्सा के लिए तुमको	च चतुष्पाद	और चौपाये गोधनादि
		सर्वं अनातुरं अस्तु	सब रोग-रहित हों ॥ ९५ ॥

१ फैली हुई; २ मंगलकारिणी; ३ रोगहीन; ४ शक्तिपूर्ण ।

ओषधियों की साम्राज्ञी[1] सोमलता यह।
शत रोगहरण-पटु[2] ओषधि! यह है अहरह॥
उन सबमें हे ओषधि! तुम हो सर्वोत्तम।
तुमसे यथेष्ट[3] सुख प्राप्त सदा करते हम॥
करती हो शान्ति प्रदान हृदय को संतत।
तुम रहो सहायक देवि! हमारी अविरत॥ ९२॥

टि०—सब ओषधियों में सोम प्रमुख है। वह सबकी महारानी है। ये ओषधियाँ सैंकड़ों रोगों को कुशलता से दूर कर देती हैं। ये ओषधियाँ हमें यथेष्ट सुख प्रदान करें और हमारे हृदयों को शान्ति दें। ९२

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै संदत्त वीर्यम्॥ ९३॥

याः	जो
ओषधीः	ओषधियाँ
सोमराज्ञीः	सोमवल्ली के समान गुणवाली होती हैं,
पृथिवीं	पृथ्वी पर
अनु विष्ठिताः	नाना प्रकार से रहती हैं,
बृहस्पति प्रसूता	ज्ञानी के द्वारा दी हुई वे ओषधियाँ
अस्मै	इस पुरुष को
वीर्यं सन्दत्त	वीर्य अर्थात् संजीवन-शक्ति प्रदान करे॥ ९३॥

जो ओषधियाँ हैं सोमलता-सी गुणकारी सुखदायक।
जो रहती हैं इस पृथ्वी पर बनकर सौभाग्यविधायक[4]॥
दी गई बृहस्पति द्वारा वे ज्ञानीजन द्वारा आविष्कृत।
इस रोगी पर होकर प्रयुक्त वे करें वीर्य-बल संवर्द्धित॥
मेरे द्वारा होकर गृहीत[5] वे करें विपुल सामर्थ्य-दान।
बहुवीर्या[6] है ये ओषधियाँ हों सबकी बलवर्द्धक महान॥ ९३॥

टि०—ये सब ओषधियाँ सोमलता-सी गुणकारी और सुखकारी हैं। वे पृथ्वी पर मनुष्य का सौभाग्यवर्धन करने के लिए आई हैं। वे इस क्षीणवीर्य रोगी का बल बढ़ावें। वे मेरे द्वारा प्रयुक्त होकर मेरी भी सब प्रकार की सामर्थ्य बढ़ावें। ९३

---

१ महारानी; २ रोग का नाश करने में कुशल; ३ इच्छित; ४ सौभाग्य देनेवाली, ५ ग्रहण किये जाने पर; ६ अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न।

मूल, फूल, पत्ते आदि से रोगों का उपचार करते हैं, वे सब रोगों को नष्ट करते हैं। प्रतीत होता है, ओषधियों के पंचागों—छाल, जड़, फल, फूल, पत्तों-से चिकित्सा करने की पद्धति वैदिककाल में ही चल पड़ी थी। आयुर्वेद मे इसका बड़ा महत्त्व था। ९६

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥९७॥

बलासस्य	हे ओषधे! बल को नाश करनेवाले कफ रोग (और)	असि	हो
		अथो	और
		शतस्य	सैकड़ों
अर्शसः	बवासीर (जैसे)	यक्ष्माणां	रोगों और
उपचितां	दोषों के एकत्र हो जाने से उत्पन्न होनेवाले रोगों को (तुम)	पाकारोः	पकनेवाले फोड़ों को भी
		नाशनी	नाश करनेवाली
नाशयित्री	नाश करनेवाली	असि	हो ॥ ९७ ॥

बलनाशक बहु क्षय-व्याधि[1] हरण करतीं तुम।
कफजन्य विकारों का अपचय[2] करतीं तुम॥
व्याधियाँ विविध दोषों के उपचय[3]-वाली।
यक्ष्मार्श, गंडमाला-सी तन की व्याली॥
पकते उल्बण[4] व्रण[5] और पाक[6] दुखकारी।
हे ओषधियो! तुम हो अशेष-रुज-हारी[7]॥
सुप्रयोग सोमराजा ने किया तुम्हारा।
यक्ष्मा से मुक्त हुए वे उसके द्वारा॥ ९७॥

टि०—इस मंत्र मे ओषधियो की रोगनिवारक महिमा का वर्णन है। उनके कुशल प्रयोग से बल का क्षय करनेवाली सब व्याधियाँ, सब कफजन्य विकार और दोषों के संग्रह से उत्पन्न राजयक्ष्मा, बवासीर, गंडमाला जैसे सब रोग दूर हो जाते हैं। ये ओषधियाँ सब रोगों को दूर कर सकती हैं। पुराणों में सोम अर्थात् चन्द्रमा के यक्ष्मा रोग से पीड़ित होने का वर्णन मिलता है। इसका स्रोत वेद है, यह मंत्र इसक प्रमाण है। ९७

त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥९८॥

---

१ बल नाश करनेवाले रोग; २ नाश; ३ संग्रह; ४ अत्यन्त भयानक; ५ घाव; ६ फोड़े; ७ सब रोग दूर करनेवाली।

उपचार हेतु रोगों के करते रहते हैं जो मूल खनन[1]।
हे ओषधियो ! इसके कारण वे बनें न कभी दण्डभाजन[2] ॥
जिस रोगी के उपचार हेतु करता हूँ मैं तब मूल खनन।
उसको न हानि हो किसी भाँति, वह रहे सदैव कृपाभाजन[3] ॥
हों मेरे पुत्र, कलत्र[4], द्विपद[5], गो आदि चतुष्पद[6] रोगरहित।
हे ओषधियो ! तुम सब मिलकर कल्याण करो जग का नव-नित ॥ ९५ ॥

टि०—वेद का ऋषि जानता है, ओषधियों में जीवन है और चेतना है। वह ओषधियों को संबोधित करता हुआ कहता है, तुम्हें जड़ से खोदकर मैं तुम्हारा अपकार करता हूँ, तुम्हें कष्ट देता हूँ। यह मैं अपने लिए नहीं करता, दुःखी रोगियों के रोगनिवारण के लिए करता हूँ। यह अपराध क्षमा करो। ९५

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

ओषधयः	ओषधियाँ	कृणोति	मूल, पत्र, पुष्प, फलादि से चिकित्सा करता है,
राज्ञा सोमेन सह	राजा सोम से	तं पारयामसि	उसको हम रोग-रहित करती हैं ॥ ९६ ॥
समवदन्त	(मानो) यह कहती है कि		
राजन्	हे राजा सोम !		
ब्राह्मणः	विद्वान वैद्य		
यस्मै	जिस रोगी के लिए		

करती हैं संवाद सोमराजा से ये ओषधियाँ।
राजा सोम ! भरी हैं हममें रोगनिवारक[7] निधियाँ[8] ॥
हम सबके फल, फूल, मूल, पत्ते अशेष रुजहारी।
करते हैं उपचार-व्यवस्था[9] ब्राह्मण इनसे सारी ॥
उनके द्वारा हो उपचारित[10] कष्ट नष्ट हो जाते।
रोगीजन हो रोगमुक्त निज जीवन सुखी बनाते ॥ ९६ ॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियाँ अपने राजा सोम से कहती है, हमारे भीतर रोगनिवारण करने की अनंत शक्ति भरी है। जो ब्राह्मण या कुशल वैद्य हमारे फल,

---

१ खोदना, २ दण्ड पाने के योग्य; ३ कृपा के योग्य, ४ स्त्री; ५ दो पैरों वाले; ६ चौपाये; ७ रोग दूर करनेवाली; ८ गुण-सम्पत्ति; ९ चिकित्सा का प्रबन्ध; १० चिकित्सा किये जाने पर।

ओषधियो ! तुम सब हो संतत रुजहारी[1] ।
है विनय हमारी, बनो शत्रु-संहारी ॥
ये हैं युयुत्सु[2] जो सम्मुख शत्रु हमारे ।
जय पायें उन पर रहो कृपा उर धारे ॥
अघशंसी[3], दुर्जन हैं जो उनको मारो ।
तुम पापाचरण समस्त त्वरित[4] संहारो ॥ ९९ ॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों को शत्रुनाशक शक्ति का निर्देश है। युद्ध की इच्छावाले शत्रुओं को भी ओषधियाँ विनष्ट कर सकती हैं। वे अपने प्रभाव से पापियों और उनके पापाचार को नष्ट कर सकती हैं। ९९

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

ओषधे	हे ओषधि !	अथो त्वं	और तुम
ते खनिता	तुम्हें खोदनेवाला	दीर्घायुः भूत्वा	दीर्घायु होकर
दीर्घायुः	दीर्घायु हो	शतवल्शा	सौ वर्षों तक
च यस्मै	और जिस रोगी के लिए	विरोहतात्	प्ररोहण करती हुई (आरोग्य वितरित करो) ॥ १०० ॥
अहं	मैं		
त्वां खनामि	तुमको खोदता हूं (वह भी दीर्घायु हो)		

जो खनन[5] करे तुमको, दीर्घायु बने वह ।
जिस रोगी के हित खनूं, महायु[6] बने वह ॥
हे ओषधियो ! तुम भी दीर्घायु बनो सब ।
शत-शत वर्षों तक शत अंकुरशाली[7] भव[8] ! ॥ १०० ॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है कि संजीवनी ओषधियों का खनन या शोधन करनेवाला भी दीर्घायु होता है। जिस रोगी पर उनका प्रयोग किया जाता है, वह महान आयु प्राप्त करता है। ओषधियों के लिए यह कामना की गई है कि वे दीर्घायु, हों, अर्थात् अनन्त काल तक सुलभ रहें और सैकड़ों साल तक उनमें सैकड़ों अँखुए निकलते रहें। १००

---

१ रोग नष्ट करनेवाली; २ युद्ध करने की इच्छावाले; ३ पापी; ४ तुरन्त; ५ खोदना; ६ महान आयुवाला; ७ अंकुरोंवाली; ८ हो, बनो।

ओषधे	हे ओषधि !	त्वां	तुमको खोदा।
गन्धर्वाः	गंधर्वों ने	सोमः राजा	सोम राजा
त्वां अखनन्	तुमको खोदा,	विद्वान् त्वां	तुमको जानकर
इन्द्रः त्वां	इन्द्र ने तुमको खोदा,	यक्ष्मात् अमुच्यत	यक्ष्मा रोग से
बृहस्पतिः	बृहस्पति ने		मुक्त हुए ॥ ९८

अभिलषित कार्य को सिद्धि-हेतु ओषधियो ! ।
गंधर्वों ने था तुमको खोद निकाला ॥
की प्राप्त गानविद्या की सिद्धि महत्तम[1] ।
शत-शत विभूतियों की दाता हो अनुपम ॥
था किया इन्द्र ने विधि से खनन[2] तुम्हारा ।
बरसी उन पर अविरल वैभव की धारा ॥
देवगुरु बृहस्पति ने था खनन किया फिर ।
आया अनंत ऐश्वर्य ज्ञान का सुस्थिर ॥
फिर किया सोमराज ने खनकर सेवन ।
यक्ष्मा से मुक्त हुए पाया नव-जीवन ॥ ९८ ॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों के सेवन से प्राप्त होनेवाली कई सिद्धियों का उल्लेख है। गंधर्वों ने ओषधियों को खोजा, खोदकर निकाला, उनका सेवन किया। उनके कंठ में मधुरता आई, गानविद्या की सिद्धि उन्हें प्राप्त हुई। इन्द्र ने अनंत ऐश्वर्य प्राप्त किया, बृहस्पति को विद्या की सिद्धि मिली। सोम अर्थात् चंद्रमा ने इन ओषधियों का सेवन कर राजयक्ष्मा जैसे भयानक रोग से मुक्ति पाई। ९८

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे ॥ ९९ ॥

ओषधे	हे ओषधि !	पृतनायतः	संग्राम चाहनेवाले शत्रुओं को
सहमाना	तुम रोगों को दूर करनेवाली	सहस्व	जीतो;
असि	हो;	सर्वं पाप्मानं	सब पापाचरण को
मे	मेरे	सहस्व	दूर करो ॥ ९९ ॥
अरातीः सहस्व	शत्रुओं को दूर करो।		

---

१ सबसे बड़ी; २ खोदना।

च यः	और जो	कस्मै	उस प्रजापति
प्रथमः	सबसे प्रथम होकर	देवाय	देव के निमित्त
आपश्चन्द्राः	आह्लादक जल को	हविषा विधेम	हम हवि अर्पित करते हैं ॥ १०२ ॥
जजान	उत्पन्न करता है,		
मा मा हिंसीत	वह मेरी कभी हिंसा न करे, मुझे दुःख न दे।		

हे मानव ! जो है इस पृथ्वी का उत्पादक।
जो है द्युलोक तक व्याप्त सत्यधर्मा[1] सम्यक् ॥
जिसने पहले आह्लादक जल की को रचना।
आनन्दप्रदायक शशि है यह जिसकी सृजना[2] ॥
उस प्रजापाल परमेश्वर को कर हवि-प्रदान।
दुखमुक्त बनो, सुखयुक्त रहो मानव ! महान ॥ १०२ ॥

टि०—यह बड़ा ही भक्तिभावनापूर्ण मंत्र है। जिन प्रजापति परमेश्वर ने इस पृथ्वी की रचना की है, जो सत्य और धर्म को धारण करनेवाले जगदीश्वर द्युलोक तक व्याप्त है, जिनके द्वारा सबसे पहले आनंदप्रदायक जल और चन्द्रमा की रचना हुई है, उन परमेश्वर को हवि प्रदान करो। वे हमको दुःखों से बचावें और सुखी करें। १०२

अ॒भ्या व॑र्तस्व पृथिवि य॒ज्ञेन॒ पय॑सा स॒ह ।
व॒पां ते॑ अ॒ग्निरि॑षि॒तो अ॑रोहत् ॥ १०३ ॥

पृथिवि	हे भूमि !	ते वपां	तुम्हारे पृष्ठरूप प्रदेश पर
यज्ञेन पयसा	यज्ञ और दुग्धादि		
सह	के साथ	अरोहत्	आरोहण करे ॥ १०३ ॥
अभि आ वर्तस्व	सम्मुख आओ।		
इषितः अग्निः	प्रजापति के द्वारा प्रेरित अग्नि		

हे पृथिवि ! देवि ! सम्मुख आओ।
अभिमुखी[3] बनो, आओ, आओ ! ॥
यह अग्नि प्रजापति[4] से प्रेरित।
पृष्ठ पर तुम्हारी हो शोभित ॥

१ सत्य का धारक, सत्य और धर्म के पालक; २ सृष्टि; ३ सामने होना, अनुकूल होना; ४ परमेश्वर।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँर अभिदासति ॥१०१॥

ओषधे	हे ओषधि !
त्वं	तुम
उत्तमा असि	उत्कृष्ट हो।
वृक्षाः	वृक्ष-समूह
तव उपस्तयः	तुम्हारे समीप रहकर उपकार करते हैं।
यः अस्मान्	जो हमसे
अभिदासति	द्वेष करता है,
सः अस्माकं	वह हमारा
उपस्थितः अस्तु	अनुयायी होकर रहे ॥ १०१ ॥

हे ओषधि ! उत्तम हो, अतिशय उत्तम हो तुम।
निकटस्थ[1] वृक्षमाला से नित उपकृत हो तुम॥
ये शाल, तमाल, ताल, आदिक तरुवर उन्नत।
घेरकर तुम्हें रहते हैं संतत रक्षारत[2]॥
जो करें द्वेष हमसे हो हिंसा-हित तत्पर।
वह बने हमारा दास और अनुयायी[3] नर॥ १०१॥

टि०—इस मंत्र मे यह बताया गया है कि ओषधियों की रक्षा के लिए उनके आसपास शाल, तमाल, ताल जैसे बड़े-बड़े पेड़ लगे है। ये अनेक प्रकार से ओषधियों की रक्षा करते है, बाड़ की तरह उनको घेरकर उपद्रवों से बचाना उनका कार्य है। हे ओषधियो ! तुम भी उसी तरह हमारे समीप रहकर हमारी रक्षा करो। जो मनुष्य हमसे द्वेष करे या हमारी हिंसा करना चाहता हो, वह हमारा दास बनकर, हमारा सेवक और अनुयायी बनकर रहे। १०१

मा मां हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥ १०२॥

यः	जो
पृथिव्याः	पृथ्वी का
जनिता	उत्पन्न करनेवाला है,
यः सत्यधर्मा	जो सत्यस्वरूप
दिवं व्यानट्	द्युलोक में परिव्याप्त है

१ समीप की; २ रक्षा में लगे; ३ पीछे चलनेवाला।

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य
योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु
जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

ऋतस्य योनिं	सत्य की उत्पत्ति के हेतु	**तनूषु गोषु आ**	मेरी संतति के शरीरों में, मेरे गो आदि में रहे।
इषं ऊर्जं	अन्न और घृत को,		
महिषस्य धारां	महान अग्नि की आहुति-धारा को	**अनिरां**	अन्नरहित स्थिति का,
		अमीवां	रोगों से उत्पन्न
इतः	इस प्रदेश में	**सेदिं**	विपत्ति का
अहं आदम्	मैं ग्रहण करता हूँ।	**जहामि**	मैं त्याग करता हूँ ॥ १०५ ॥
मा आ विशतु	वह मेरे पास आवे।		

ऋत और सत्य का जन्मस्थल यह अग्नि महत् ।
यह अन्न और घृत-आहुतियों से है पोषित ॥
इन आहुतियों का फल पावें हम सब मानव ! ।
यह मिले हमें बनकर नव-नव जीवन-वैभव ॥
मेरी संतति में हो इसकी मंगल-परिणति[1] ।
मेरी गायों, पशुओं में हो इसकी शुभ सृति[2] ! ॥
हम मानव पावें अग्निदेव का वर-प्रसाद ।
अन्न की कमी से हो न कभी हमको विषाद ॥
हम रोगजन्य सब स्थितियों से रहें मुक्त ।
घातक विपत्तियों से यह जीवन हो न युक्त ॥ १०५ ॥

टि०—यह मन्त्र बड़े गम्भीर अर्थों का द्योतक है। पूर्वार्ध में अग्नि की महिमा का वर्णन है। उत्तरार्ध में बताया गया है कि अग्नि के यज्ञात्मक समाराधन से मनुष्य को अन्न का अभाव नहीं होता, रोग नहीं होते, उसपर घातक विपत्तियाँ नहीं आतीं। उसकी सन्तान और पशुधन की वृद्धि होती है। १०५

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ १०६ ॥

---

१ कल्याणमयी कृतकार्यता या सार्थकता; २ कल्याणमयी क्रिया।

उत्तम हवियों से हो दीपित।
यज्ञों से हो मंगलमय नित॥
इन यज्ञों की फलदाता तुम।
दुग्धादि भोग सब पावें हम॥ १०३॥

टि०—इस मंत्र में पृथ्वी के प्रति संबोधन है। कहा गया है, तुम सदा हमारे अनुकूल रहो। प्रजापति द्वारा भेजी गई यह अग्नि तुम्हारी पीठ पर स्थापित की जा रही है। यह उत्तम हवियों से प्रदीप्त होगी, तुम्हारा सम्पूर्ण क्षेत्र यज्ञमय हो जायेगा। इन यज्ञों का फल हम मानवों को प्रदान करो, हमें दुग्ध आदि भोग प्राप्त होते रहें। १०३

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञियम्।
तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि॑॥ १०४॥

अग्ने	हे अग्नि!	च	और
ते यत्	तुम्हारा जो अंग	यत् यज्ञियं	जो यज्ञ योग्य है,
शुक्रं	शुक्ल वर्णवाला एवं दीप्तिमान है,	तत् देवेभ्यः	उसे देवताओं के लिए (हम)
यत् चन्द्रं	जो चन्द्रमा की तरह आह्लादक है,	भरामसि	समर्पित करते है॥ १०४॥
यत् पूतं	जो पवित्र है		

हे अग्नि! तुम्हारा अंग शुक्ल[1] जो दीप्तिमान।
जो अंग चन्द्रमा-सा है आह्लादक महान॥
जो अंग तुम्हारा है हे अग्ने! अति पवित्र।
जो अंग सदा यज्ञार्ह[2] और शोभन विचित्र॥
वे अंग सभी हैं श्लाघ्य[3] दिव्य गुणगण-मंडित।
उनको देवों के हित हम करते अर्पित करते नित॥ १०४॥

टि०—इस मंत्र को अग्निगायत्री कहा गया है। अग्नि के कुछ अंग शुक्ल वर्ण का प्रकाश विकीर्ण करते हैं, कुछ चन्द्रमा जैसे आह्लादक है। कुछ अग्नि अत्यंत पवित्र और हवि-अर्पण के योग्य है। अग्नि के ये सभी अंग और रूप प्रशंसनीय है। ऐसे अग्नि को हम देवों को अर्पित करते हैं। अग्नि के इन विविध रूपों के अनुशीलन से अग्नि-विद्या की प्राप्ति हो सकती है। सूर्य, विद्युत् आदि के रहस्यों का ज्ञान हो सकता है। १०४

---

१ सफेद; २ यज्ञ के योग्य; ३ प्रशंसनीय।

अग्ने ! पावकवार्चा[1] हो तुम, पावनकर्ता ऊर्जा हो तुम।
हीनता-रहित[2] हो शक्ति परम, निर्मलतामय हो ज्योति चरम।
अपनी किरणों से उच्चस्थित, विचरणरत जग-रक्षक हो नित।
वार्द्धक्य-प्राप्त[3] पितरों[4] को सुत, रक्षा करते रह सेवारत।
अग्ने ! तुमसे द्यावा-पृथिवी[5], पितरों-से ही सेवित संतत ॥ १०७ ॥

टि०—अग्नि को सम्बोधित यह मन्त्र बताता है कि अग्नि की शक्ति पवित्र करने वाली है। वह पूर्ण है, उसमें कभी कमी नहीं होती। वह परम निर्मल है। वह अपनी दीप्ति से ऊँचा स्थान प्राप्त करता है और सारे संसार की रक्षा करता है। जैसे पुत्र अपने बूढ़े माता-पिता की रक्षा करते हैं, वैसे ही यह अग्नि द्यावा-पृथ्वी की रक्षा करता है। १०७

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥१०८॥

ऊर्जो	हे अन्नों का	चित्रोतयः	बहुत प्रकार के रक्षा-साधनों से सुरक्षित
नपात्	विनाश न करनेवाले	वामजाताः	श्रेष्ठ कुलोत्पन्न यजमानों ने
जातवेदः	प्रज्ञासम्पन्न अग्नि !	त्वे इषः	अपनी अन्न-रूप आहुतियाँ (तुम्हें)
धीतिभिः	यज्ञों में सबका	सन्दधुः	अर्पित कीं ॥ १०८ ॥
हितः	हित करते हुए (तुम)		
सुशस्तिभिः	सुन्दर स्तुतियों से		
मन्दस्व	प्रसन्न होओ।		
भूरिवर्पसः	अनेक प्रशंसनीय रूपों वाले		

हे मरणधर्म से रहित अग्नि ! आओ, अनन्त वैभव लाओ।
हम मानव करें प्रदीप्त तुम्हें, बहुविध धन देव ! निकट लाओ ॥
हे अग्नि ! यज्ञवेदिका बीच, करते प्रदीप्त जब तुमको हम।
तुम दर्शनीय बन जाते अति, कृतकृत्य हुआ करते हैं हम ॥
संकल्पित[6] यज्ञों को अपने, सब पूर्ण किया करते हैं हम ॥ १०८ ॥

टि०—बड़े भक्तिभाव से अग्नि की वन्दना की गई है। यज्ञवेदी में प्रदीप्त होकर अग्निदेव दर्शनीय बन जाते हैं, प्रभूत धन देते हैं। संकल्प किये हुए सब कार्य उनके द्वारा पूर्ण होते हैं। १०८

१ पवित्र करनेवाली शक्ति से युक्त; २ पूर्ण; ३ वृद्ध; ४ माता और पिता; ५ पृथ्वी और द्युलोक; ६ संकल्प किये गये।

विभावसो	हे कान्तिरूप धनवाले !
बृहद्भानो	महान दीप्तिमान
कवे अग्ने	क्रान्तदर्शी अग्निदेव !
तव श्रवः	तुम्हारे शब्द,
महि वयः	बड़ी धूमराशि
अर्चयः भ्राजन्ते	और अर्चियाँ प्रकाशित होती हैं।
दाशुषे शवसा	हविर्दाता यजमान के लिए बलसहित
उक्थ्यं वाजं	यज्ञ के योग्य अन्न को (तुम)
दधासि	देते हो ॥ १०६ ॥

हे कान्तिरूप धनवान ! महत्तम दीप्तिमान ।
हे अग्ने ! हे कवि ! प्रथित कान्तदर्शी महान ॥
ये शब्द[1] तुम्हारे, धूम[2] बृहत् अर्चियाँ ज्वलित ।
तेजस्वी यौवन-ज्वालामाला[3] में प्रकटित ॥
हवि के दाता यजमान को करो बलपूरित ।
यज्ञार्ह अन्न तुम देते रहो उसे नव-नित ॥ १०६ ॥

टि०—मन्त्र के पूर्वार्ध में अग्नि के उदात्त स्वरूप का वर्णन है। ये अग्नि कान्ति-रूप धन से धनी हैं, ये सर्वाधिक प्रकाशमान है, ये कवि है, इन्हें अतीन्द्रिय जगत् का ज्ञान है, ये त्रिकालज्ञ हैं। उनके शब्द, उनका धूम, उनकी किरणें, ज्वालाओं की अभिव्यक्ति, उनका यौवन आदि सब दिव्य है। वे यजमान को यज्ञ के योग्य अन्न देते रहें। १०६

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ १०७॥

पावकवर्चाः	(हे अग्ने !) पवित्रता कारक दीप्तिवाले,
शुक्रवर्चाः	निर्मल कान्तिमान्,
अनूनवर्चाः	कभी कम न होने वाली दीप्तिवाले
भानुना उदयर्षि	अपने तेज से तुम उच्चावस्था प्राप्त करते हो।
विचरन् उपावसि	सब ओर विचरते हुए विश्व की रक्षा करते हो,
पुत्रः मातरा	जैसे पुत्र माता की रक्षा करता है।
उभे रोदसी	पृथ्वी और द्युलोक का (तुम)
पृणक्षि	पालन करते हो ॥ १०७ ॥

१ द्युलोक में किये गये महान कर्म; २ आहुतियों से उत्पन्न धूम जो मेघ बनकर अन्न उत्पादन करता है; ३ शक्तिमान ज्वालाएँ।

हे श्रेष्ठ चित्तवाले अग्ने ! ऋतुकर्म-सृजनकर्ता[1] अग्ने ! ।
यजमान यज्ञ-थलवासी को देते अनंत धन तुम अग्ने ! ॥
देते उत्तम धन तुम अग्ने ! देते अक्षय वैभव अग्ने ! ।
देते हो शाश्वत धन अग्ने ! ऐश्वर्य, अन्न देते अग्ने ! ॥
तुम सब कुछ देते हो अग्ने ! हो सकल कामदायक अग्ने ! ॥ ११० ॥

टि०—अग्नि के विषय में कहा गया है कि वह प्रचेतस् अर्थात् परमोत्कृष्ट चेतना-सम्पन्न है। यज्ञों की रचना वही करते है। जो यजमान यज्ञस्थल में निवास करते हुए उनकी आराधना करते हैं, उनको वे अनन्त ऐश्वर्य और अन्न प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, वे शाश्वत सनातन आत्मज्ञान रूपी धन भी देते हैं। ११०

ऋ॒तावा॑नं महि॒षं वि॒श्वद॑र्शतम॒ग्निꣳ सु॒म्नाय॑ दधिरे पु॒रो जना॑: ।
श्रुत्क॑र्णꣳ स॒प्रथ॑स्तमं त्वा गि॒रा दैव्यं॒ मानु॑षा यु॒गा ॥१११॥

ऋतावानं	सत्यरूप,	सुम्नाय	यज्ञ के निमित्त
महिषं	महान,	पुरः	सबसे प्रथम
विश्वदर्शनं	संसार के लिए दर्शनीय,	जनाः दधिरे	लोगों ने स्थापित किया (और)
श्रुत्कर्ण सप्रथस्तमं	कानों से प्रार्थना सुनकर उसे पूर्ण करनेवाले,	मानुषा युगा	मनुष्यों के युग्मों ने
दैव्यं	देवों के हितकारी	गिरा	वेदवाणी द्वारा तुम्हारी स्तुति की ॥ १११ ॥
त्वा अग्नि	तुम अग्नि को		

ऋतवान[2] परम हे सत्यवन्त ! हे अग्निदेव ! तुम हो महान्त ।
इस जग में सबके दर्शनीय यज्ञ में प्रथम आवाहनीय[3] ।
प्रार्थना हमारी सुनकर नित, करते हो सिद्धि सदा वितरित ।
हे कीर्तिमान ! यज्ञहित प्रथम, जनगण द्वारा सुस्थापित तुम ।
सब देवों के हितकर अनन्य, मनुजों से वंदित सदा धन्य ।
हो भक्तिमंत नर-नारी सब, ऋक्-यजु से स्तव रचते नव-नव ॥ १११ ॥

टि०—इस मन्त्र में विशेष रूप से अग्नि के गुणों का वर्णन कर यह कहा गया है कि वे प्रार्थना सुनकर उनको सफल करते हैं। नर-नारी सब वेदमन्त्रों द्वारा उनका स्तवन करते रहते हैं। १११

---

१ यज्ञकर्म के रचनेवाले; २ सत्य से युक्त; ३ बुलाये जाने के अधिकारी।

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ अमर्त्य ।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ वि रा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

अमर्त्य अग्ने	हे मरण-धर्मरहित अग्नि !	**दर्शतस्य**	उस दर्शनीय
जन्तुभिः	मनुष्यों के द्वारा	**वपुषः**	शरीर से
इरज्यन्	प्रदीप्त होते हुए तुम	**वि राजसि**	विशेष शोभित होते हो (तथा)
रायः	अनेक प्रकार के धनों को	**सानसिं**	संकल्पित
अस्मे प्रथयस्व	हमारे निकट लाओ ।	**क्रतुं**	यज्ञ को
सः	वह तुम	**पृणक्षि**	पूर्ण करते हो ॥ १०९ ॥

हे अग्ने ! प्रज्ञावान[1] परम, अन्नों का नाश न तुम करते ।
सब क्रतुकर्मों को सफल बना, सब भूतों का हित हो करते ॥
मगलमय अपनी स्तुतियों से होओ प्रसन्न हे देवदेव ! ।
उत्तम कुल के यजमान सविधि, होमते अन्न बहुविध सदैव ॥
हैं उनके रक्षा-साधन शत, हविरूप अन्न करते अर्पित ।
ऐसे हम सब यजमानों का तुम सफल बनाओ जीवन नित ॥ १०९ ॥

टि०—अग्निदेव परम प्रज्ञावान है । वे अन्न का नाश नहीं होने देते । सब यज्ञों को पूर्ण करते हैं । इस प्रकार प्राणियों का हित करते है । हे देव ! अपनी स्तुति से प्रसन्न हो जाओ । यजमान तुमको अनेक प्रकार का अन्न हविरूप में अर्पित करते हैं । तुम उन पर प्रसन्न हो जाओ । १०९

इ॒ष्क॒र्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः ।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥११०॥

अध्वरस्य	यज्ञ के	**महःराधसः राति**	श्रेष्ठ बड़े धनदान
इष्कर्तारं	रचनेवाले,	**सुभगां मही इषं**	सौभाग्य से परिपूर्ण प्रभूत अन्न तथा
प्रचेतसं	हे श्रेष्ठ चित्तवाले अग्ने !	**सानसि**	सनातन अक्षय
क्षयन्तं वामस्य	यज्ञस्थान में निवास करनेवाले यजमान को	**रयिं दधासि**	सम्पत्ति को देते हो ॥ ११० ॥

१ प्रकृष्ट बुद्धिबल-वाले ।

तुम पीने योग्य अनेक रसों के बन पानक[1]।
हे सोम! रहो हम सबके हेतु पापनाशक॥
बहुविध बलवर्द्धक अन्नों से तुम रहो युक्त।
वृद्धि हो तुम्हारी सदा रहो क्षय-व्याधि-मुक्त॥
अमृतत्व और चिरस्थायी वैभव से मंडित।
दिव में उत्तम अन्नों से शोभित विलसो[2] नित॥
हे सोम! शान्तिकामी मानव! हो प्राप्त पयादिक इष्ट तुम्हें।
नित सहस्रार में उदित सोम का अमृत-स्राव हो प्राप्त तुम्हें॥ ११३॥

टि०—सोम यज्ञ-कर्म का प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादान है। प्रार्थना की गई है, वह अनेक पेय रसों का प्रपानक बनकर पापनाश करता रहे। अनेक प्रकार के बलवर्धक अन्नों से युक्त वृद्धि करे। स्वयं अमृतत्व प्राप्त करे और सेवन करनेवाले को अमृतत्व प्राप्त कराये। उत्तम आहुतियाँ प्राप्त कर वह द्युलोक में अनेक प्रकार के अन्नों को धारण करते हुए चन्द्रमा के रूप में शोभा प्राप्त करे। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है, मनुष्य को शरीर और आत्मा के बल को नित्य बढ़ाते रहना चाहिए, तभी योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर में मोक्ष के हेतु सिद्धि प्राप्त होती है। सन्तों और योगियों ने सहस्रार में विराजमान सोम की महिमा का गान किया है। इससे अमृत बरसता रहता है। उस अमृत का पान योगी ही कर पाते हैं। ११३

आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः।
भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥११४॥

मदिन्तम सोम	हे अतिशय आनन्द देनेवाले सोम!	विश्वेभिः अंशुभिः	समस्त किरणों से
		आ प्यायस्व	वृद्धि को प्राप्त करो।
सप्रथस्तमः	अत्यधिक विस्तीर्ण कीर्ति से और गुणों से युक्त (तुम)	नः वृधे	हमारी वृद्धि के लिए
		सखा	हमारे मित्र
		आ भव	होओ॥ ११४॥

हे सोम! चरम आनन्द-दान करनेवाले।
हे सोम! मदिन्तम[3]! तृप्ति परम देनेवाले॥
अतिशय विस्तृत यश से गुणगण से तुम मंडित।
तुम कीर्तिमान हो परम वृद्धि पाओ नव नित॥
विश्व की निखिल ज्योतिकिरणों से आप्यायित[4]।
तुम मित्र हमारे रहो, रहें हम संवर्द्धित॥

१ पेय वस्तु; २ शोभा प्राप्त करो; ३ परम आनन्द प्रदान करनेवाला; ४ वृद्धि को प्राप्त।

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥११२॥

सोम	हे सोम !	वाजस्य	यज्ञादि उत्तम कर्मों
विश्वतः	सब ओर से		के लिए उपयोगी
विष्ण्यं	व्यापक तेज		अन्न की भी
ते समेतु	तुमको प्राप्त हो;	सङ्गथे	प्राप्ति के लिए
आ प्यायस्व	अपने पराक्रम से	आ भव	हमारे समीप
	(उनकी) वृद्धि करो,		होओ ॥ ११२ ॥

दिशि-दिशि से व्यापक तेज करो हे सोम ! प्राप्त ।
तुम सब प्रकार से करो पराक्रम-वृद्धि आप्त[1] ॥
यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों के हित तुम रहो निकट ।
उपयुक्त अन्न की प्राप्ति कराओ, रहो निकट ॥ ११२ ॥

टि०—इस मन्त्र में सोम से प्रार्थना की गई है कि वह प्रत्येक दिशा से व्यापक तेज ग्रहण करें और पराक्रम बढ़ायें। यज्ञ जैसे श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन में सहायता देने के लिए सोम सदा निकट रहे और यज्ञरूप योगी अन्न प्रदान करता रहे। ११२

सं ते पयांꣳसि समु यन्तु वाजाः
सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि
श्रवांꣳस्युत्तमानि धिष्व ॥११३॥

सोम	हे सोम !	उ अमृताय	चिरस्थायित्व प्राप्त
पयांसि	पीनेवाले अनेक रस,		करने के लिए (तुम)
अभिमातिषाहः	अनेक पेय रस		समृद्धि को प्राप्त
ते संयन्तु	तुम्हारे साथ रहे।		करो।
वाजाः सम्	बलवर्धक अनेक	दिवि	द्युलोक में (तुम)
	अन्न प्राप्त करो।	उत्तमानि श्रवांसि	श्रेष्ठ अन्नों को
आप्यायमानः	वृद्धि और तृप्ति	धिष्व	धारण करो ॥११३॥
	को प्राप्त हुए		

१ प्रामाणिक।

अङ्गिरस्तम	हे अतितेजस्वी !	कामाय	अभिलाषा पूर्ण करने के लिए
अग्ने	हे अग्नि !	तुभ्यं	तुम्हारे लिए
पृथक्	अलग और अनेक प्रकार की	येमिरे	की जाती है ॥ ११६ ॥
विश्वाः ताः	वे सब		
सुक्षितयः	स्तुतियाँ		

हे अग्निदेव ! हो परम चरम तेजस्वी तुम ।
तुमसे ही पाते हैं कामना-सिद्धि सब हम ॥
विश्व में जहाँ जितने भी होते स्तव-विधान[1] ।
वे तुम्हें समर्पित अये कामदाता महान[2] ॥
निज इष्ट-सिद्धि के हेतु विश्व के जन नव नित ।
करते अनेक विधि से तुमको स्तुतियाँ अर्पित ॥ ११६ ॥

टि०—यह अत्यन्त भावपूर्ण मन्त्र है। परवर्ती अधिसंख्य स्तोत्र इसी व्यापक भक्ति-भावना से भावित हैं । विश्व की जितनी वाणियाँ हैं, सब तुम्हारे स्तोत्र ही हैं—'स्तोत्राणि सर्वा गिरो !' महामाहेश्वर अभिनवगुप्त पादाचार्य ने लिखा है—'तव च का किल न स्तुतिरम्बिके । सकल शब्द यया किल ते तनुः—अर्थात् हे जगदम्बे ! कौन-सा ऐसा शब्द है जो तुम्हारी स्तुति नहीं है' । ११६

अ॒ग्निः प्रि॒येषु॒ धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य ।
स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति ॥११७॥

[अध्यायः १२, कण्डिकाः ११७ मन्त्र-संख्या १२६]

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

भूतस्य	उत्पन्न और	सम्राट् अग्निः	सम्यक् शोभायमान सम्राट् अग्नि
भव्यस्य	उत्पन्न होनेवाले,	प्रियेषु धामसु	(अपने) प्रिय स्थानों में
कामः	यजमानों की कामना पूर्ण करने वाले	एकः वि राजति	अकेले विराजते हैं ॥ ११७ ॥

१ स्तुतियों के आयोजन; २ सबसे बड़े इच्छापूर्ति करनेवाले ।

रहता है जो भी सर्वभूतहित-निरत[1] नित्य।
पाता है जग में जीवन का वह परम सत्य॥ ११४॥

टि०—यह सोम परम आनन्दरूप है, परम तृप्ति देनेवाला है। वह बड़े विस्तृत यश और गुणगणों का अधिकारी है। उसकी निरंतर वृद्धि हो। विश्व में जितनी प्रकाश की किरणे है, उनके सूक्ष्मतम अंश उसमें है। यह सोमतत्त्व, यह आत्म-तत्त्व हमारा मिल रहे! इस सोम की तरह जो मनुष्य सदा परहित करने में लगा रहता है, वह अपने जीवन में परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। ११४

आ ते॑ वृत्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त्।
अग्ने॑ त्वाङ्का॑मया गि॒रा॑ ॥११५॥

अग्ने	हे अग्नि!	परमात् सधस्थात्	उत्कृष्ट स्थान से भी
ते वत्सः	तुम्हारा वत्स यह यजमान	चित्	मन को हटाकर
त्वां	तुमको	मनः आ यमत्	मन को एकाग्र करता है॥११५॥
कामया गिरा	स्तुति की कामना-वाली वाणी द्वारा		

हे अग्ने! यह यजमान तुम्हारा भक्तिप्रवण[2]।
है वत्स-सदृश तुमको प्रिय यह प्रतिदिन प्रतिक्षण॥
उत्कृष्ट स्वर्ग-आदिक से कर निज चित्त विमुख[3]।
निज वाणी से कर स्तवन तुम्हारा पाता सुख॥
एकाग्र तुम्हीं में करता रहता है निज मन।
निष्काम भाव से करता है यह आराधन॥ ११५॥

टि०—इस मन्त्र में ऐसे उपासक का आदर्श निरूपित हुआ है, जिसको स्वर्गादि भोगों की कामना नहीं है। जो सब ओर से अपने चित्त को हटाकर केवल अग्नि आदि रूपों में प्रत्यक्ष होनेवाले परमेश्वर में अपना ध्यान केन्द्रित करता है। ११५

तुभ्यं॑ ता अ॑ङ्गिरस्तम॒ विश्वाः॑ सुक्षि॒तयः॒ पृथ॑क्।
अग्ने॒ कामा॑य येमि॒रे ॥११६॥

---

१ सब प्राणियों की सेवा में लगा हुआ; २ भक्ति में अनुरक्त या प्रवृत्त, भक्ति की ओर झुकाव वाला; ३ हटाकर।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

मयि॑ गृह्णाम्यग्रे॑ अ॒ग्निꣳ रा॒यस्पोषा॑य सुप्र॒जा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ।

मामु॑ दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥ १ ॥

अग्रे	(मैं) सबसे पहले	अग्नि	अग्नि को
रायस्पोषाय	धन की वृद्धि के लिए,	मयि गृह्णामि	अपने घर में स्थापित करता हूँ।
सुप्रजास्त्वाय	उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए,	देवताः	देवगण
सुवीर्याय	उत्तम सामर्थ्य के लिए, (मैं)	मां उ	मेरी निश्चय ही
		सचन्ताम्	सहायता करें ॥ १ ॥

त्रयोदश अध्याय

मैं हूँ यजमान अग्नि का पहला धारक[1] ।
अपने घर में अग्नि का प्रथम संचारक ॥
चाहता अग्नि की कृपा, वृद्धि हो धन की ।
संतान प्राप्त हो उद्धारक[2] जीवन की ॥
उत्तम सामर्थ्ययुक्त मैं रहूँ निरामय ।
मैं रहूँ पराक्रमपूरित पाऊँ नित जय ॥
गृह में है अपने किया अग्नि का स्थापन ।
देवता करें साहाय्य प्रीतिपूरित मन ॥ १ ॥

टिप्पणी—यजमान अपने घरों की यज्ञवेदिका में अग्नि की स्थापना करते हैं। वे चाहते हैं, धन की वृद्धि हो, उत्तम सन्तान प्राप्त हो और उत्तम पराक्रम करने की क्षमता बढ़े। १

अ॒पां पृ॒ष्ठम॑सि॒ योनि॑र॒ग्नेः स॑मु॒द्रम॒भितः॒ पिन्व॑मानम् ।

वर्ध॑मानो म॒हाँ२ आ च॒ पुष्क॑रे

दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थस्व ॥ २ ॥

---

१ धारण करनेवाला; २ उद्धार करनेवाला, पुत्र पुत्नाम नरक से उद्धार करता है।

ये अग्निदेव ! निज प्रिय धामों में शोभमान ।
सर्वदा एकरस एक विराजे हैं समान ॥
इनका न सहायक अन्य सदा ही ये अद्वय[1] ।
सब भूत[2] भव्य[3] के हैं सम्राट् अनीह[4] अजय ॥
उत्पन्न और उत्पद्यमान[5] यजमान सकल ।
इनके प्रसाद से करते हैं कामना सफल ॥ ११७ ॥

टि०—ये अग्निदेव सदा एकरस, एकसमान हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है, 'जेहि सृष्टि उपाई, विविध बनाई, संग सहाय न दूजा ।'—उसका कोई सहायक नहीं, अकेले ही उसने सृष्टि बनाई। वही भाव इस मन्त्र में है। जो यजमान या भक्त पहले हुए है, अब है, आगे होंगे, उन सबकी कामनाओं की पूर्ति वही करते हे। ११७

॥ द्वादश अध्याय समाप्त ॥

१ जैसा दूसरा नही; २ अतीत; ३ भविष्य; ४ इच्छा-रहित; ५ उत्पन्न होनेवाले ।

वि आवः	इन लोकों को अपने प्रकाश से प्रकट करता हुआ	च अस्य विष्ठाः	और इस जगत का निवास-स्थान है।
सः वेनः	वह कान्तिमान सुप्रसिद्ध आदित्य। है	बुध्न्याः सतः	(वह) अन्तरिक्ष और दिशाओं में विद्यमान
उपमाः	(वह) समान रीति से रहनेवाला	च असतः	और अमूर्तिमान के
		योनिं विवः	उत्पत्ति-स्थान को प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

वह परमात्मा अंतर्यामी !
सृष्टि का आदि वह चरम परम, वह सबका उत्पादक निरुपम।
सबका ज्ञाता सबका धारक, विस्तारयुक्त वह विस्तारक।
आदित्य-रूप में सर्वप्रथम, प्राची में प्रकटा हर सब तम।
सबसे महान, लोचन-रोचन[1], प्रकटाता विविध लोक प्रतिक्षण।
सर्वत्र सदा ही वह समान, जग में व्यापक वह कान्तिमान।
इस अंतरिक्ष में दिशि-दिशि में, दिन में हो अथवा हो निशि में।
वह मूर्त[2]-अमूर्त[3] सभी का नित, करता जन्मस्थल उद्भासित[4]।
वह है घटघटव्यापी ईश्वर, अंतर्यामी वह परमेश्वर॥ ३ ॥

टि०—इस मन्त्र में भगवान के अन्तर्यामी और बहिर्यामी रूप का गुणगान है। वह सबके पहले आदित्य के रूप में प्रकट हुआ था। वह सबका प्रकाशक और सबका आवरणकर्ता भी है। परस्पर विरोधी अनेक गुण उनमें ही सुसंगत प्रतीत होने लगते हैं। वे परमेश्वर सबके उपास्य है। ३

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भः	ब्रह्माण्ड में रहा हुआ हिरण्य-गर्भ पुरुष,	एकः	सहायक की अपेक्षा से रहित एक ही प्रसिद्ध स्वामी (के रूप में)
भूतस्य पतिः	उत्पन्न हुए संसार का पालन करनेवाला,	जातः आसीत्	उत्पन्न हुआ था।
		अग्रे समवर्त्तत	सबकी उत्पत्ति के पहले भी वह विद्यमान था।

१ आंखों को अच्छा लगनेवाला; २ आकारवाले; ३ आकार-हीन; ४ प्रकाशित।

अपां पृष्ठं असि	(तुम) जल के ऊपर पृष्ठ हो।	पुष्करे आ	जल में सब प्रकार रहे हो,
अग्ने:	अग्नि का	दिव: मात्रया	द्युलोक के परिमाण
योनि: (असि)	उत्पत्ति-स्थान हो,	च	और
पिन्वमानं समुद्रं	बढ़नेवाले समुद्र को	वरिम्णा	दीर्घता को (तुम)
अभित:	सब ओर से	प्रथस्व	प्राप्त करो, ॥ २ ॥
वर्धमानो महान्	वृद्धि को प्राप्त (करके)		

तुम इस भव-जल पर कमल-पत्र-से हो शोभित।
हे विद्वज्जन! हो तुम्हीं अग्नि की योनि प्रथित॥
सब ओर गरजते बढ़ते अर्णव[1] बीच सतत।
योगस्थ बुद्धि से आत्मलीन हो तुम अविरत॥
दिव से प्रणमित[2]! वह सदा तुम्हारे सम्मुख नित।
दीर्घता करो तुम प्राप्त, गगन-से रहो वितत[3] ॥ २ ॥

टि०—यह मन्त्र विशिष्ट कोटि की आध्यात्मिक स्थिति को सूचित करनेवाला मन्त्र है। यह वही स्थिति है, जिसको गीता में ब्राह्मी स्थिति कहा गया है और जिसको प्राप्त कर विमोह नहीं होता। यह जनक जैसे जीवनमुक्तों की स्थिति का संकेतक मन्त्र है, जिनके विषय में गोस्वामी जी ने कहा है—'जे विरंचि निर्लेप उपाये, पद्मपत्र जिमि जग जल छाये।' मन्त्र कहता है, ऐसा व्यक्ति संसार-रूपी जल में कमल-पत्र की तरह अलिप्त होकर रहता है। वही आत्मतत्त्व रूपी अग्नि की योनि है अर्थात् उसका उत्पादक या प्रवर्तक हेतु है। इस भयावह सतत स्फीत भवसागर में वह योगस्थ होकर 'सुख-दुःखे समे कृत्वा' सहज समाधिस्थ रहता है। स्वर्ग भी ऐसे सन्त महापुरुष के समक्ष नत रहता है। २

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि
सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ ३ ॥

पुरस्तात्	पूर्व दिशा से	ब्रह्म	सबसे बड़ा,
प्रथमं	सबसे पहले	सीमत: सुरुच:	अपनी सीमा से सुन्दर रुचि-वाले
जज्ञानं	प्रकट होता हुआ,		

---

१ समुद्र; २ स्वर्ग द्वारा प्रणाम किये हुए; ३ विस्तीर्ण।

यह द्रप्स नाम का संजीवन-रस है अनूप।
सींचता धरित्री[1] को यह धर आदित्य-रूप॥
है दिव भी उससे ही होता रहता सिंचित।
भू-लोक उसी से सिक्त रहा करता है नित॥
संचरण कर रहा तीनों लोकों में समान।
होतागण सात उसे करते हैं हविर्दान॥
ये पंच प्राण, मन, आत्मा तत्त्व सात सुविदित।
जीवन-रस से उसके ही द्वारा हैं पूरित॥
ये चार दिशायें ऊपर की काष्ठायें[2] त्रय।
आदित्य-द्रप्स से हैं परिप्लावित वे चिन्मय॥ ५॥

टि०—'द्रप्स' शब्द का विवेचन पहले हो चुका है। यह जीवन का वह चिन्मय बाहर और भीतर सर्वत्र परिव्याप्त आनन्द-रस है जो आदित्य के रूप में धरती को, अन्तरिक्ष को और द्युलोक को सिंचित रखता है। यह समान भाव से सर्वत्र क्रियाशील है। उसको सात हवनकर्ता हवि प्रदान करते है। महर्षि दयानन्द के अनुसार ये सात होता, पाँच प्राण, मन और आत्मा है। महीधर के अनुसार ये सात होता पूर्वादि चार दिशाएँ और ऊपर की एक के ऊपर एक स्थित तीन दिशाएँ हैं। ये सब मिलकर सात होती है। यह 'द्रप्स' आदित्य का रूप धारण कर अपने चिन्मय प्रकाश से त्रैलोक्य को परिप्लावित कर रहा है। ५

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ ६॥

ये के च	जो कोई भी शत्रु	तेभ्यः सर्पेभ्यः	उन सर्प-स्वभाव वाले मनुष्यों को
पृथिवीं अनु	इस पृथ्वी पर विद्यमान हैं,	नमः अस्तु	नमस्कार है।
ये अन्तरिक्षे	जो अन्तरिक्ष में हैं,	तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः	उन कुटिल स्वभाव वाले शत्रुओं का नमन हो॥ ६॥
ये दिवि	जो द्युलोक में है,		

हैं सर्पशील[3] जो शत्रु विचरते धरती पर।
जो अंतरिक्ष में दिव रहते हैं गत्वर[4]॥
उन सर्प-स्वभाव शत्रुगण सबको नमस्कार।
दायें-बायें जो सर्प सभी को नमस्कार॥

---

१ पृथ्वी; २ दिशायें; ३ सर्प की तरह डसने की वृत्ति वाले; ४ गतिशील।

सः	वही	हविषा विधेम	हम हवि अर्पित
इमां	इस पृथ्वी		करते हैं (अर्थात्
उत् द्यां	और द्युलोक को		उसकी भक्तिपूर्वक
दाधार	धारण करता है।		उपासना करते
कस्मै देवाय	उस सुखस्वरूप		हैं) ॥ ४ ॥
	प्रजापति देव के लिए		

था प्रकट हिरण्यगर्भ[1] वह एक अकेला!।
सिरजा उसने यह जग-जीवन का मेला॥
सबसे पहले था वह जो सबका स्वामी।
यह सृष्टि सिसृक्षा[2] की उसकी अनुगामी॥
करता है वह दिव को पृथ्वी को धारण।
आनन्द-रूप वह देव प्रजापति प्रति क्षण॥
उस परमेश्वर की सेवा करें सदा हम।
हवियाँ हम अर्पित करें उन्हें परमोत्तम॥ ४॥

टि०—यह भक्ति-भावना से भरा हुआ मन्त्र है। परमेश्वर प्रजापति से पहले कुछ नहीं था। वह अकेला ही सृष्टि के पूर्व विद्यमान था। उसी ने सृष्टि की रचना की। उसकी सृष्टि-रचना की इच्छा ही इस चराचर जगत् के रूप में फलवती हुई। वही त्रैलोक्य का धारण करनेवाला है। वह आनन्दस्वरूप है। उसे हम हवियाँ अर्पित करें, उसकी उपासना करें। ४

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥ ५॥

यः	जो	समानं योनिं	अपने आश्रय-स्थान
पूर्वः	प्रथम सबका आदि		को
द्रप्सः	द्रप्स नामक तत्त्व	अनु सञ्चरन्तं	विचरण करते हुए
पृथिवीं	पृथ्वी को	द्रप्सं	सर्वत्र अभिव्याप्त
अनुचस्कन्द	सींचता है		आदित्य-रूप
च द्यां अनु	और द्युलोक को		परमानन्द तत्त्व को
	सींचता है	सप्त होत्रा	सात हवन करनेवाले
च इमं	और इस	अनु जुहोमि	होम करते हैं ॥५॥
योनिं अनु	भूलोक को सींचता है,		

१ हिरण्यपुरुष के रूप मे जो ब्रह्माण्ड के गर्भ में अवस्थित है; २ सृष्टि रचने की इच्छा।

कुकर्म करते है, अन्य ऐसे ही लोग विवरों में रहकर जनता को अनेक प्रकार का कष्ट देते हैं। उन सबका दमन करना मनुष्य का सामाजिक कर्तव्य है, उसका उत्तरदायित्व है। मूल मंत्र में नमस्कार शब्द का प्रयोग है। उव्वट और महीधर उसका अर्थ नमस्कार ही करते है, और इसे सर्प के प्रति नमस्कार का मंत्र मानते हैं। पर महर्षि दयानंद और सातवलेकरजी विपरीत लक्षणा से इसका अर्थ दमन करते हैं। महर्षि दयानंद के अनुसार 'नम.' का अर्थ है 'वज्र चलाओ'। ७

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ८ ॥

ये वामी	जो वाममार्गी	येषां अप्सु	जिन्होंने जलों में
दिवः रोचने	द्युलोक के प्रकाश-युक्त स्थान में है	सदः कृतं	अपने घर बनाये है,
		तेभ्यः	उन सब
वा ये	अथवा जो	सर्पेभ्यः नमः	सर्पों को नमस्कार है॥ ८ ॥
सूर्यस्य रश्मिषु	सूर्य की किरणों में निवास करते है,		

दिव-से प्रकाशमय स्थानों में करते निवास।
छिपकर करते रहते हैं जनगण का विनाश॥
जो दिन में रवि-किरणों में करते हैं विचरण।
जो उरग[1] जलों में करते रहते हैं सर्पण[2]॥
इन सर्पों, सर्पस्वभाव खलों को नमस्कार।
है दमन और उन्मूलन इनका धर्म-सार॥ ८ ॥

टि०—मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि जो सर्प और सर्प के स्वभाववाले खल तथा पापी, दिन अथवा रात में, प्रकाश में अथवा अंधकार में, जल अथवा स्थल में रहकर समाज-विरोधी कार्य करते है, उनका उन्मूलन करें। यही धर्म का सार-तत्त्व है। ८

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं
याहि राजेवामवाँ२ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि
विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

---

१ सर्प; २ रेंगना, चलना।

जो आगे-पीछे रह करते रहते विनाश।
पर-पीड़न हो जिनका सुख, जिनका महोल्लास॥
उन सर्पशील रिपुओं को संतत नमस्कार।
जग उनसे पावे मुक्ति, इसलिए नमस्कार॥ ६॥

टि०—इस मंत्र में सर्पों को नमस्कार किया गया है। सर्प खलों के, अकारण शत्रुता करनेवालों के प्रतीक हैं। वेद की सर्प-वन्दना से ही संभवतः हमारे साहित्य में खलों की वंदना की परंपरा चली। गोस्वामीजी की खल-वंदना प्रसिद्ध है— 'बहुरि बंदि खलगन सतिभाये, जे बिनु काज दाहिनेहु बाँयें।' 'सर्प' शब्द 'सृ' धातु से बना है, संसार भी इसी धातु से निष्पन्न है। जो रेंगता है, सरकता रहता है, संसरण या गमन करता रहता है, वह सर्प है। इस प्रकार ये सब लोक, यह संसार भी सर्पणशील होने के कारण सर्प है। उन सबकी वन्दना इस मंत्र में है। ६

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१रनु।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ ७॥

याः	जो	ये वा अवटेषु	अथवा जो गढ़ों में रहनेवालों के समान
यातुधानानां	राक्षसों के	शेरते	निचली श्रेणियों में निवास करते हैं,
इषवः	बाण हैं	तेभ्यः सर्पेभ्यः	उन सब सर्पों को
ये वा	अथवा जो	नमः	नमस्कार है॥ ७॥
वनस्पतीन् अनु	वनस्पतियों के आश्रित सर्पों के समान रहते हैं,		

जो राक्षसादि के बाणरूप होते प्रयुक्त।
जो वृक्षों में सर्पो से रहते सदा गुप्त[1]॥
जो विवरों[2] में रह करते रहते हीन कर्म।
इन सर्पों, सर्प-स्वभाव जनों का दमन धर्म॥
जो खलगण दुर्गम स्थानों में करते निवास।
करते हैं जन-जीवन का उत्पीड़न विनाश॥
उन सर्पो को दंडित करना है परम धर्म।
है वज्र गिराना उनपर सबका पुण्यकर्म॥ ७॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है कि सर्प राक्षसादि के बाण-रूप में प्रयोग में आते हैं। परवर्ती रामायण आदि काव्यों में नागपाश अथवा सर्पबाण के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। बहुत से सर्प-स्वभाव के लोग जंगलों में छिपकर चोरी, डकैती, हत्या आदि

१ छिपकर सुरक्षित बने रहते हैं; २ गड्ढों वा गुफाओ।

अग्ने	हे अग्नि !	अनुस्स्पृश	दग्ध करो।
तव आशुया	तुम्हारी ज्वालाएँ	जुह्वा	हवन किये जाने पर
भ्रमासः	पवन से	असन्दितः	अखंडित होकर
पतन्ति	चलायमान होती हैं।	विष्वक्	सर्वत्र
धृषता	धर्षण करनेवाली	उल्काः	उल्काओं को
शोशुचानः	ज्वालाओ से प्रकाशवान तुम	वि सृज	राक्षसों का नाश करने के लिए छोड़ो ॥ १० ॥
तपूंषि पतङ्गान्	तपानेवाले राक्षसों को		

वातोद्धूता[1] ज्वालामाला है इतस्ततः[2] गतिमान तूर्ण[3]।
अग्ने ! इस धर्षक ज्वाला में राक्षस पतंग-से जलें घूर्ण[4] ॥
अर्चियाँ[5] तुम्हारी वेगवान गतिमान प्रज्वलित हैं अविरत।
अपनी इस तापक ज्वाला में राक्षस-दल दग्ध करो संतत ॥
हवि पाकर तुम होते अखण्ड ज्वालायें अपनी करो मुक्त।
राक्षस-विनाश के हेतु करो शक्तियाँ सकल अपनी सुयुक्त[6] ॥ १० ॥

टि०—राक्षसों का विनाश करने के लिए अग्नि का बड़ा उदात्त और ओजस्वी आवाहन इस मंत्र में किया गया है। वायु से चालित अग्नि की ज्वालाएँ चतुर्दिक् शीघ्रता से गतिमान हैं। राक्षस उनमे पतंगों की तरह घूम-घूम गिर-गिरकर दग्ध हों। १०

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा
पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने
मा किष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥११॥

अग्ने	हे अग्नि !	अदब्धः	अहिंसित तुम
नः दूरे	हमारे दूर देश में		सैनिकगण
यः अघशंसः	जो पापी शत्रु है,	प्रति	उनके प्रति
यः अन्ति	जो निकट है,	स्पशः वि सृज	उनका विनाश करने के लिए भेजो,
तूर्णितमः	बड़े वेगवान		

१ वायु के द्वारा चलायमान; २ इधर-उधर; ३ शीघ्र; ४ चक्कर खाकर; ५ ज्वालाएँ; ६ अच्छी तरह नियोजित।

अस्ता असि	(हे अग्नि !) तुम शत्रुओं को हटानेवाले हो,	प्रसितिं न	पक्षी पकड़ने के जाल के समान
इव आमवान् राजा	जिस प्रकार सहायता करने-वाले राजा	पाजः कृणुष्व	(तुम अपने) बल का विस्तार करो,
इभेन याहि	हाथी द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण करता है।	तृष्वीं प्रसितिं	वेगवान जाल द्वारा
पृथ्वीं	बड़े विशाल	अनु द्रूणानः	शत्रुओं को मारने वाले (और)
		तपिष्ठैः	तपानेवाले (साधनों से)
		रक्षसः विध्य	राक्षसों (दुष्टों) को ताड़न करो ॥ ९ ॥

हे अग्ने ! तुम हो विदित शत्रुहंता महान।
आक्रमण करो रिपु पर नृप-सदृश सहायवान[1] ॥
ले हस्ति-सैन्य परबल[2] को करो दमित विधमित[3]।
सेना का जाल विशाल चतुर्दिक् करो प्रसृत[4] ॥
फैलाओ शत्रु-विनाशक बल का बृहत् जाल।
तापकतम अस्त्रों से दनुजों के बनो काल ॥
आखेटक[5] धरती पर फैलाकर घोर प्रसिति[6]।
करते हैं जैसे पक्षिवृन्द की तूर्ण[7] विधृति[8] ॥
वैसे ही तुम भी अग्निदेव ! दुर्धर्ष परम।
अरिदल का सेनाओं से करो विनाश चरम[9] ॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में बड़ी कवित्वपूर्ण शैली में जाल के रूपक की व्यंजना है। जैसे अमात्य आदि से अनेक प्रकार की सहायता-साधनों से समृद्ध राजा हाथियों की सेना लेकर शत्रु को नष्ट करता है, उसी प्रकार से अग्नि ! तुम भी हमारे शत्रुओं का विनाश करो। जैसे शिकारी पृथ्वी पर जाल फैलाकर पक्षियों को पकड़ते हैं, वैसे ही तुम भी अपनी कूटनीतिक बुद्धि का जाल फैलाकर शत्रुओं को पकड़ो। सर्वाधिक तापदायक अस्त्रों-शस्त्रों से राक्षसों और अन्य शत्रुओं का संहार करो। ९

तव॑ भ्र॒मास॑ आशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑ स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः।
तपू॑ᳬंष्यग्ने जु॒ह्वा॑ पत॒ङ्गानसं॑न्दितो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः ॥१०॥

---

१ साधनसम्पन्न; २ शत्रु की सेना; ३ नष्ट, ४ प्रसरित, फैला हुआ; ५ शिकारी; ६ जाल; ७ शीघ्रतापूर्ण; ८ पकड़-धकड़; ९ आत्यंतिक।

हे अग्ने ! तुम जाग्रत होओ, निज ज्वाला का विस्तार करो।
हे तीक्ष्ण शस्त्रधारी ! अरियों को जला-जलाकर क्षार करो॥
हे दीप्तिमान ! जो शत्रु दान का करते हैं प्रतिषेध[1] यहाँ।
उनको नीचे निपतित[2], कर,कर दो भस्मशेष निःशेष[3] वहाँ॥
अतिशुष्क काष्ठ छूकर तुमको जैसे जल जाता है तत्क्षण।
तुम उसी भांति अरि को, अराति[4] को भस्म करो हे ज्योतिर्घन[5]॥ १२॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे अपनी ज्वालाओं का विस्तार कर समाज के शत्रुओं को भस्म कर डालें। समाज के प्रमुख शत्रु वे हैं जो दान नहीं देते। १२

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि॥१३॥

अग्ने	हे अग्नि !
ऊर्ध्वः भव	सबसे ऊँचे होकर रहो,
अस्मत् शत्रून्	हमारे शत्रुओं को
अधि प्रतिविध्य	ताड़न करो,
दैव्यानि	दिव्य कर्मों में
आविः कृणुष्व	प्रकट करो,
यातुजूनां	राक्षसों के
स्थिरा अव तनुहि	स्थिर शस्त्रों को शिथिल करो,
जामिम् अजामिम्	सम्बन्धित-असम्बन्धित
शत्रून् प्र मृणीहि	शत्रुओं का विनाश करो,
अग्नेः तेजसा	अग्नि के तेज के साथ
त्वा सादयामि	मैं तुमको स्थापित करता हूँ॥ १३॥

हे अग्नि ! विराजो सबसे ऊँचे होकर तुम।
हों ताडित[6] तुमसे सभी हमारे शत्रु अधम॥
तुम प्रकटाओ सब दिव्यकर्म इस धरती पर।
शस्त्रास्त्र राक्षसों के सब विफल करो सत्वर[7]॥
सम्बन्धित हों या असंबद्ध पुनरुक्त उक्त[8] हों जो अरिगण।
उन सबको मारो अग्नि-तेज से रहो ज्वलित मानव ! प्रतिक्षण॥ १३॥

१ निषेध; २ गिराकर; ३ समाप्त; ४ जो दानशील नहीं, ऐसे; ५ प्रकाशरूप अग्नि; ६ दण्डित; ७ शीघ्र, ८ जो शत्रु बार-बार कहे गये हैं या नही, कहे गये हैं।

अस्या: विश:	इस प्रजा के	मा आ वधर्षीत्	तुम्हें दुःख न दे ॥ ११ ॥
पायु: भव	संरक्षक बनो,		
ते कि: व्यथिरा	तुम्हारा कोई शत्रु		

जो दूर देश में पापी शत्रु हमारे।
जो विद्यमान हैं अतिशय निकट हमारे॥
प्रेषित सेनायें करो दमन हित उनके।
सेनापति हों समर्थ संरक्षक जिनके॥
हो वेगवान हे अग्नि! अदम्य[1] सदा तुम।
बन्दी कर लो सब शत्रु,अभय हों सब हम॥
तुम बनो प्रजा की रक्षा करनेवाले।
अब शत्रुजन्य दुःख कभी न हमको साले[2]॥
कोई न शत्रु दे सके कष्ट अब हमको।
अर्पित करते हैं नमन अग्नि! हम तुमको॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में राष्ट्र के शत्रुओं को विनष्ट करने की प्रार्थना अग्नि से की गई है। राष्ट्र के शत्रु अपने देश में तो होते ही आये हैं, विदेशों में उनका बाहुल्य रहता है, आज भी है। निर्देश है, उनके दमन और दलन के लिए अपराजेय, अदम्य, सैन्यशक्ति का संगठन किया जाए। ११

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व
न्यमित्राँ२ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिंं समिधान चक्रे
नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥१२॥

अग्ने	हे अग्नि!	न: य:	हमारा जो शत्रु
उत्तिष्ठ	जाग्रत होओ,	अराति चक्रे	दान का प्रतिषेध करता है,
प्रत्यातनुष्व	ज्वाला का विस्तार करो।	तं	उसको
तिग्महेते	हे तीक्ष्ण आयुध-वाले!	नीचा धक्षि	नीचेवाले स्थान में भस्म करो,
अमित्रान्	शत्रुओं को	शुष्कं अतसं न	जैसे (तुम) सूखे वृक्ष को भस्म करते हो॥ १२ ॥
न्योषतात्	भस्मीभूत करो।		
समिधान	हे दीप्तिमान!		

१ न दबनेवाले; २ सालना—दुःख देना।

रजसः नेता	अन्तरिक्ष के नेता	दिवि	द्युलोक में स्थित
भुवः	हो जाते हो,	स्वर्षा मूर्द्धानं	आदित्य को
यत्र	जहाँ	दधिषे	धारण करते हो ॥ १५ ॥
शिवाभिः	कल्याणकारी		
नियुद्भिः सचसे	वेगादि गुणों के सम्बन्ध को प्राप्त होते हो, (वहाँ)		

तुम हविधारक ज्वाला की जिह्वा प्रकटाते।
तब अग्नि! यज्ञ के नायक बन शोभा पाते॥
नभ तक उस ज्वालामाला का होता प्रसार।
तुम अन्तरिक्ष नायक से लगते महाकार[1]॥
मंगलमय गुण वेगादि किये शत-शत धारण।
दिव-संस्थित हो आदित्य-रूप तुम तिमिर-हरण॥

× × ×

राजाओं में हो प्रकट तुम्हारा शील-धर्म[2]।
शिक्षित होकर सब प्रजा करे नित पुण्य-कर्म॥ १५॥

टि०—मंत्र के पूर्वभाग में प्रज्वलित अग्नि की शोभा का वर्णन है। हवि प्राप्त कर अग्नि की ज्वालायें उनकी लपलपाती जिह्वाओं जैसी प्रतीत होती हैं। उस समय अग्नि यज्ञ और अंतरिक्ष दोनों के स्वामी जैसे लगने लगते हैं। जब वे वेग आदि कल्याणकारी गुणों को धारण करते हैं, तब वे दिव में प्रकाशित सूर्य जैसे लगते हैं। मंत्र के अनुवाद की अंतिम दो पंक्तियाँ महर्षि दयानंद के भाष्य के अनुसार हैं। १५

ध्रुवाऽसि धरुणाऽऽस्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना
पृथिवीं दृंह ॥१६॥

धरुणा	(हे अग्नि तुम) भूमिरूप से विश्व को धारण करनेवाली (तथा)	समुद्रः त्वा	समुद्र तुमको
विश्वकर्मणा	विश्वकर्मा द्वारा	मा उद्वधीत्	मत नष्ट करे,
आस्तृता	विस्तार किये हुए	सुपर्णः मा (उद्वधीत्)	सुपर्ण भी नष्ट न करे।
ध्रुवा असि	(एव) दृढ़ हो।	अव्यथमाना	स्वयं दुखी न होकर
		पृथिवीं दृंह	पृथ्वी को दृढ़ करो॥ १६॥

१ विशाल आकारवाला; २ सदाचार-रूपी धर्म।

टि०—इस मंत्र में अग्निरूप में प्रकट परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हम जीवन में सर्वोपरि रहें। प्रतिक्षण हम उनकी चरम परम महिमा की चेतना से भावित रहें। वे हमारे सब प्रकार के अधम शत्रुओं को नष्ट करें। अन्त में मनुष्य से कहा गया है, वह अग्नि के तेज से निरंतर युक्त रहे और अपने शत्रुओं का संहार करे। परमेश्वर की प्रेरणा से वह सदा श्रेष्ठ कर्म करे। १३

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति[1]।
इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि[2] ॥१४॥

अयं	यह	अपां	ज़लों को
अग्निः	अग्नि	रेतांसि	बलों से
दिवः	द्युलोक के	जिन्वति	जीतता है,
ककुत्	शिर-सा उत्तम है,	इन्द्रस्य ओजसा	इन्द्र के बल के साथ
पृथिव्याः	पृथ्वी का	त्वा सादयामि	मैं तुम्हें स्थापित
पतिः	पति		करता हूँ ॥ १४ ॥

दिव[1] के शिर-से उन्नत-अनंत[2] हैं अग्निदेव।
धरती के पालक जल-बल के पोषक सदैव॥
अग्नि के तेज इन्द्र की शक्ति से हो मंडित।
हे मानव! धरती पर तुम रहो प्रतिष्ठित नित॥ १४॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्य को संबोधित करते हुए कहा गया है, यह अग्नि द्युलोक के सर्वोच्च स्थान से भी अधिक उन्नत है। यही पृथ्वी का पालन करनेवाला है और जल की शक्तियों का पोषण करनेवाला है। हे मानव! तुम ऐसे अग्नि के तेज और इन्द्र की शक्ति से मंडित होकर धरती पर प्रतिष्ठा प्राप्त करो। अग्नि और इन्द्र के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर ही उनका तेज और शक्ति प्राप्त की जा सकती है। १४

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥१५॥

अग्ने	हे अग्नि!	जिह्वाम्	जीभ को (तुम)
हव्यवाहम्	हवि वहन करने वाली	चकृषे	प्रकट करते हो,
		यज्ञस्य च	यज्ञ के और

१ द्युलोक; २ इनकी ऊँचाई की सीमा नहीं।

किया है। काव्यानुवाद अंशतः उसी अर्थ-सरणि का अनुसरण करता है। कहा गया है हे विदुषी स्त्री! तुम पृथ्वीस्वरूपा हो। तुम पृथ्वी से उत्पन्न हो, भूमिजा हो। भगवती सीता भूमिजा थीं। पृथ्वी का नाम वसुमती अर्थात् धन और ऐश्वर्यवाली है। इसलिए तुम भी अपने में ज्ञान, गुण और शील की संपदा को निरंतर बढ़ाती रहो। १७

भूर॑सि भूमि॑रस्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री।
पृ॒थि॒वीं य॑च्छ पृ॒थि॒वीं दृ॑ꣳह पृ॒थि॒वीं मा हि॑ꣳसीः ॥१८॥

भूः	(तुम) सुखों को देनेवाली	धर्त्री असि	धारण करनेवाली हो।
भूमिः असि	भूमि हो।	पृथिवीं यच्छ	पृथ्वी को अपनी कृपा-दृष्टि का दान करो।
विश्वधाया	विश्व का पोषण करनेवाली		
अदितिःअसि	देवमाता हो।	पृथिवी दृंह	पृथ्वी को दृढ़ करो;
विश्वस्य भुवनस्य	सब भुवनों को।	पृथिवीं मा हिंसीः	पृथ्वी को पीड़ा मत दो॥ १८॥

हे भूमि की अभिमानिनी देवी सुखदात्री।
हो अदिति विश्वपोषिका तुम्हीं जग की धात्री॥
तुम निखिल भुवन के प्राणिमात्र की हो धारक।
तुम व्यष्टि[1] समष्टि[2] सभी की पोषक हो सम्यक्॥
इस धरती को तुम कृपादृष्टि निज करो दान।
दृढ़ करो इसे यह हो न दुखों से वेपमान[3]॥ १८॥

टि०—यह मंत्र पृथ्वी की अभिमानी देवी को संबोधित है। वह अखंडनीय है, सारे विश्व का पालन और पोषण करती है। संसार के सब प्राणी व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों में उसी के द्वारा पाले-पोसे जा रहे हैं। हे पृथ्वी की अधिदेवी! तुम इन पर अपनी कृपादृष्टि की वर्षा करो, जिससे ये कभी दुःखों से व्यथित और कम्पित न हों। १८

विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑
व्या॒नायो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य।
अ॒ग्निष्ट्वा॒ऽभि पा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒
शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥१९॥

१ एक व्यक्ति, २ सब व्यक्ति-समुदाय; ३ कम्पित।

तुम भूमिरूप से निखिल विश्व करती धारण।
विस्तीर्ण विश्वकर्मा द्वारा हो तुम दृढ़ तन॥
उद्वेलित[1] सागर करे न तुमको कभी नष्ट।
यह पवन सुपर्ण[2] कभी भी तुमको दे न कष्ट॥
हे मानव! तुम सब रहो निरंतर व्यथा-रहित।
अपनी धरती को रहो बनाते तुम दृढ़ नित॥ १६॥

टि०—यह धरती सबको धारण करती है। सबके रचयिता विश्वकर्मा परमात्मा ने इसे बहुत मजबूत बनाया है। सागर में उठनेवाले भयंकर ज्वार और तूफान इसे नष्ट न करें। भयानक आँधियों में इसकी सुरक्षा हो। हे मानवो! तुम सब लोगों को कोई कष्ट न हो। तुम सब मिलकर अपनी इस माता भूमि को दृढ़ बनाओ। १६

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि॥१७॥

प्रजापतिः	प्रजापति	प्रथस्व	विस्तार को प्राप्त होओ,
त्वा	तुम	पृथिवी असि	(भूमि से प्रकट होने से तुम) पृथ्वी-रूप हो॥ १७॥
व्यचस्वतीं	अवकाश-वाली को,		
प्रथस्वतीं	विस्तार-वाली को		
अपां पृष्ठे	जलों के ऊपर		
समुद्रस्य	समुद्र के		
एमन् सादयतु	स्थान में स्थापित करें।		

तुम हो अनंत अवकाशवती विस्तारवती।
जगदीश्वर द्वारा जल पर संस्थापित धरती॥
तुम हो समुद्र के तल पर नौका-सी संस्थित।
इस रत्नाकर[3] से हो सम्यक् आवेष्टित[4] नित॥
हे विदुषि[5]! करो सुसमृद्ध ज्ञान, गुण, शील सतत।
भूमिजे[6]! रहो वसुमती[7]-सदृश वसु[8]-वर्द्धन-रत॥ १७॥

टि०—उव्वट और महीधर ने इस मंत्र को एक विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के साथ जोड़ा है। वेदमूर्ति सातवलेकरजी ने इस मंत्र के रहस्य को अस्पष्ट ही रहने दिया है। महर्षि दयानंद ने इसे विदुषी स्त्री के प्रति संबोधित मानकर सुसंगत भाष्य

१ क्षुब्ध, ऊँची-ऊँची तरगों मे दोलायमान; २ सुन्दर शक्तिशाली पंखों वाला; ३ रत्नों का खजाना, समुद्र; ४ घिरी हुई; ५ विद्वान स्त्री; ६ पृथ्वी की पुत्री; ७ पृथ्वी जो सब धन और ऐश्वर्य धारण करती है; ८ ऐश्वर्य और धन की वृद्धि।

सहस्रेण च शतेन	हजारों और सैकड़ों ऐश्वर्यों से	**आ प्रतनु**	सब प्रकार से वृद्धि करो ॥ २० ॥
नः	हमारी		

तुम काण्ड[1]-काण्ड से करो प्ररोह[2] सदा दूर्वे।
तुम पर्व[3] पर्व से करो प्ररोह सदा दूर्वे॥
दिशि-दिशि से करती रहो प्ररोह सदा दूर्वे।
शत-अयुत[4] अंकुरों में विलसो नित नव दूर्वे॥
तुम-से ये पुत्र-पौत्र सब मेरे करें वृद्धि।
शत-अयुत भाँति से प्राप्त हमें हो धन-समृद्धि ॥ २० ॥

टि०—दूर्वा नम्रता और निरहंकारिता का प्रतीक है। वैदिक काल से धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में इसका महत्त्व रहा है, इस अमृतजन्मा दूर्वा को बड़े आदर से भगवान को अर्पित किया जाता है। दूर्वा अबाधित वृद्धि और अमृतत्व का भी उपलक्षण है। प्रार्थना की गई है कि दूर्वा की ही तरह हमारे पुत्र-पौत्र एवं धन-समृद्धि की वृद्धि हो। २०

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥२१॥

देवि	हे दीप्यमान !	**वयं ते**	हम सब तुम्हारे लिए
इष्टके	हे ईंट !	**हविषा विधेम**	हवि अर्पित करते हैं (हमारी सन्तति की वृद्धि होती रहे) ॥ २१ ॥
या	जो तुम		
शतेन प्रतनोषि	सैकड़ों प्रकार से विस्तार करती हो,		
सहस्रेण विरोहसि	हजारों प्रकार से अंकुरित होती हो,		

सौ सौ काण्डों में करती है विस्तार सतत।
इष्टका सहस्र अंकुरों में बढ़ती अविरत॥
हे देवि दीप्यमाने[5]! हे अग्निशिखे महान।
देते हैं हवि हम तुम्हें करो संतति प्रदान॥
हो इष्टकरी[6] इष्टके[7]! करो संतान-वृद्धि।
हो सदा तुम्हारे द्वारा संतति की समृद्धि॥

---

१ पौधे की एक गांठ से दूसरी गाँठ तक का भाग; २ अंकुरित होना; ३ पोर; ४ हजारों; ५ प्रकाशमान; ६ इष्टसिद्धि करनेवाले; ७ ईंट।

विश्वस्मै	सब
प्राणाय अपानाय	प्राण और अपान के लिए,
व्यानाय उदानाय	व्यान और उदान के लिए,
प्रतिष्ठायै	प्रतिष्ठा और दृढ़ता की प्राप्ति के लिए,
चरित्राय	सच्चरित्रता की वृद्धि के लिए,
अग्निः	अग्निदेव
मह्या	बड़ी
स्वस्त्या	कल्याणकारिणी
शन्तमेन	सुख-सामग्री द्वारा
छर्दिषा	तथा गृहादि द्वारा
त्वा अभि पातु	तुम्हारी रक्षा करे।
तया देवतया	उस परमेश्वर के द्वारा
ध्रुवा	दृढ़ की हुई
अङ्गिरस्वत् सीद	अंगिरा के समान दृढ़ होकर रहो ॥ १९ ॥

ये प्राण, अपान, उदान, व्यान, हों वायु प्रतिष्ठाप्रद महान।
चारित्र्य तुम्हारा हो रक्षित, नैतिकता से हो मंडित नित ॥
शिवमय हों अग्निदेव नित नव, सुखसाधन का हो सदा प्रभव[1]।
ये अग्निदेव चिर अविश्रान्त, रक्षित रखें गृह, ग्राम-प्रान्त ॥
हे देवि पृथिवि ! तुम ध्रुव हो नित, हो परमदेव[2] द्वारा विरचित।
स्थिर रहो अंगिरा[3]-सदृश नित्य, प्रभु का प्रसाद हो सिद्ध सत्य ॥ १९ ॥

टि०—इस मंत्र में पृथ्वी के लिए मंगलकामना की गई है। पृथ्वी के लिए मंगलकामना का अर्थ है, पृथ्वी पर रहनेवालों के लिए मंगलकामना। धरती के पुत्र मानव को सब प्रकार के प्राण, उदान आदि वायु प्रतिष्ठा प्रदान करें। उसका चरित्र नैतिकता से युक्त रहे। अग्निरूप में अपनी शक्ति का कुछ अंश प्रकट करनेवाले परमात्मा नित्य कल्याण करें और सुख के साधन जुटाते रहें। वे मानव के घर, गाँव आदि की रक्षा करते रहें। यह धरती जगदीश्वर ने स्वयं सिरजी है, यह ध्रुव है। भगवान का अनुग्रह पृथ्वी-वासियों के जीवन में सदैव चरितार्थ हो। वे अंगिरा के समान स्थायित्व प्राप्त करें। १९

काण्डा॑त्काण्डात्प्ररोह॑न्ती॒ परु॑षः-परुष॒स्परि॑।
ए॒वा नो॑ दूर्वे॒ प्र त॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च ॥२०॥

दूर्वे	हे दूब ! (तुम)
काण्डात् काण्डात्	प्रत्येक काण्ड से
परुषः परुषः	प्रत्येक पर्व या पोर से
परि प्र रोहन्ती	सब ओर से बढ़ जाती हो।
एव	ऐसे ही

१ उत्पत्ति और वृद्धि; २ परमेश्वर; ३ वे ऋषि जो अग्नि को धरती पर लाये।

ताभिः सर्वाभिः	उन सम्पूर्ण दीप्तियों से	नः रुचं	हमारे अन्दर तेजस्विता को
		धत्त	स्थापित करो ॥२३॥

हे इन्द्राग्नी ! हे बृहस्पते ! हे देवगणो ।
अविरत प्रकाश के वर्षक हो तुम ज्योतिघनो[1] ॥
जो तेज तुम्हारा सदा सूर्य में विद्यमान ।
जो दीप्ति तुम्हारी गायों में है वर्तमान ॥
जो तेज तुम्हारा अश्वों में है वेगरूप ।
वे सकल दीप्तियाँ न्यस्त[2] करो हममें अनूप ॥
अपना वर्चस्व समस्त करो हमको प्रदान ।
अपना सब तेज करो हममें स्थापित महान ॥ २३ ॥

टि०—इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और अन्य देवताओं से यह प्रार्थना की गई है कि उन सबका जो तेज सूर्य, गायों और घोड़ों में है, वह वे हमें प्रदान करें । २३

विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत् ।
प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद[3] ॥२४॥

विराट्	विशेष तेजस्वी विराट् ने	व्यानाय	व्यान की
ज्योतिः अधारयत्	ज्योति को धारण किया ।	ज्योतिष्मतीं	ज्योति से युक्त
स्वराट्	स्वयंप्रकाशमान द्युलोक ने	त्वा	तुमको
ज्योतिः अधारयत्	ज्योति को धारण किया ।	पृथिव्याः पृष्ठे	पृथ्वी की पीठ पर
प्रजापतिः	प्रजा के पालक प्रजापति	सादयतु	स्थापित करें ।
विश्वस्मै	सम्पूर्ण	विश्वं ज्योतिः	(अग्नि को) सम्पूर्ण ज्योति
प्राणाय अपानाय	प्राण, अपान	यच्छ	प्रदान करो ।
		अग्निः ते	अग्नि तुम्हारा
		अधिपतिः	अधिपति है ।
		तया देवतया	उस देवता के साथ
		ध्रुवा	दृढ़ होकर
		अङ्गिरस्वत् सीद	अंगिरा के समान तेजस्वी होओ ॥२४॥

१ प्रकाश के बादल; २ स्थापित ।

प्रति ऋतु की हो इष्टिका सदा ही मंगलमय।
सब काल रहें अनुकूल फलें फूलें गतभय ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र में इष्टकरी इष्टका से संतान की वृद्धि और समृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। महर्षि दयानंद ने इष्टका का अर्थ किया है, ईंट के समान दृढ़ अवयव वाली, शुभ गुणों से प्रकाशमान स्त्री। वस्तुतः इष्टका बड़ा गंभीर वैदिक प्रतीक है। यह सामान्य ईंट नहीं है। ऋतुओं को इष्टका या ईंट कहा गया है। जीवन की इमारत में ऋतुओं की ईंटों को सही ढंग से जमानेवाला सदा सुखी रहता है। २१

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥२२॥

अग्ने	हे अग्नि!
याः ते रुचः	जो तुम्हारी दीप्ति
सूर्ये रश्मिभिः	सूर्य-मंडल की किरणों द्वारा
दिवं आतन्वन्ति	द्युलोक को प्रकाशित करती है,
अद्य	आज (तुम)
ताभिः सर्वाभिः नः	उन सबके द्वारा
नः जनाय	हमारे पुत्र-पौत्रादि को
रुचे कृधि	तेजस्वी करो ॥२२॥

करती है दिव को दीप्ति तुम्हारी उद्भासित।
हे अग्नि! तुम्हारी किरणें तमहारिणी अमित ॥
उन सब किरणों की ज्योति-शक्ति संकलित[1] करो।
मेरी, मेरी संतति की नव नित वृद्धि करो ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निरूप में प्रकट परमात्मा की महिमा का गान किया गया है। उनसे प्रार्थना की गई है, अपनी समस्त शक्ति और दीप्ति से मेरी संतान की निरन्तर वृद्धि करती रहो। २२

या वो॑ देवाः॒ सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभिः॒ सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते ॥२३॥

इन्द्राग्नी	हे इन्द्र और अग्नि!
बृहस्पते	हे बृहस्पति!
देवाः	हे देवताओ!
वः याः	तुम्हारा जो
रुचः सूर्ये	तेज सूर्य में है,
याः रुचः गोषु	तुम्हारी जो दीप्तियाँ गायों में हैं,
अश्वेषु	जो घोड़ों में स्थित हैं,

1 एकत्रित।

द्यावा पृथिवी	यह द्युलोक और पृथ्वी (मेरी)
कल्पन्ताम्	सहायता करें।
आपः ओषधयः	जल और ओषधियाँ
कल्पन्ताम्	हमारी सहायता करें।
सव्रताः	समान व्रत में स्थित
पृथक् अग्नयः	अनेक अग्नियाँ
कल्पन्ताम्	सहायता करें।
इमे	ये
द्यावा पृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी के
अन्तरा	मध्य में
समनसः ये	एक मनवाली जो
अग्नयः	अग्नियाँ हैं,
वासन्तिकौ ऋतू	वसन्त ऋतु का
अभिकल्पमानाः	सम्पादन करते हुए
देवाः इन्द्रं इव	जैसे देवता इन्द्र का आश्रय कर लेते है,
अभिसंविशन्तु	इस कार्य का वे वैसे ही आश्रय करें।
तया देवतया	उस देवता के साथ
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ध्रुवे सीदतम्	स्थिर होकर शोभा पाओ ॥ २५ ॥

ये चैत्र और वैसाख मास ऋतु वासंती।
ऋतुरूप इष्टिकायें[१] द्वय नित नव विलसंती॥
यह अग्नि-काल[२] है ऋतु की ईंटों से निर्मित।
उसमें ये ईंटें हैं दृढ़ता से संश्लेषित॥
मैं हूं अग्नि का चयनकर्ता यजमान विदित।
द्यावापृथिवी उत्कर्ष करें मेरा साधित॥
जल-ओषधियाँ प्रति ऋतु में करें सहाय सतत।
अग्नियाँ सकल समानकर्मा[३] हों हित में रत॥
द्यावापृथिवी के अंतराल[४] में हैं संस्थित।
अग्नियाँ विविध जो हैं समान मन-वाली नित॥
वे मधु ऋतु के अनुकूल करें सब सिद्ध कर्म।
हम सब उनका आश्रय लेकर हों प्राप्त-शर्म[५]॥
जिस भाँति देवगण सदा इन्द्र के हैं आश्रित।
वैसे ही ये सब कर्म-धर्म हैं कालाश्रित॥
क्रियमाण सतत कालाग्नि-रूप में परमेश्वर।
अंगिरा-सदृश सहचरण[६] करो उनका सुखकर॥ २५॥

---

१ ईंटें; २ अग्नि परमेश्वर का स्वरूप है, काल भी परमेश्वर का रूप है; ३ समान व्रत और कर्मवाले; ४ मध्य; ५ सुख और कल्याण जिन्हें प्राप्त हैं; ६ साथ चलना या रहना, साहचर्य।

मानव ! विशिष्ट तेजोमंडित है यह विराट् ।
इसने ही की है धारण ज्योति परम स्वराट् ॥
ऊपर द्युलोक है संतत स्वयं-प्रकाशमान ।
धारण की है उसने ही ज्योति-प्रसृति[1] महान ॥
संपूर्ण प्रजा के पालक हैं जो परमेश्वर ।
वे प्राण, अपान, व्यान[2] से तुम्हें करे भास्वर ॥
वे धरा-पृष्ठ पर करें तुम्हारा स्थिर स्थापन ।
कर दो अर्पित उनको तुम उनका ज्योतिर्धन ॥
ये अग्निदेव हैं विदित तुम्हारे अधिप महत् ।
अंगिरा-सदृश तुम युक्त रहो उनसे संतत ॥ २४ ॥

टि०—इन मंत्रों मे मनुष्य से यह कहा गया है कि वह परमेश्वर के अनंत तेजोधारक एवं चतुर्दिक् फैले हुए विराट् विस्तार को देखें । ऊपर द्युलोक फैला हुआ है, जो स्वयं प्रकाशमान है । संपूर्ण प्रजा-उत्पादक और पालक परमेश्वर तुमको पंचप्राणों की समस्त शक्ति से पृथ्वी पर दृढ़ता और स्थिरता से स्थापित करे । ये अग्नि, जिन्होंने तुमको इस पृथ्वी पर स्थापित कर तुम्हें ज्ञान का प्रकाश और ऐश्वर्य दिया है, उन्हीं को यह सब प्रत्यर्पित कर दो । यही जीवन-धर्म है— 'त्वदीयं वस्तु गोविंद, तुभ्यमेव समर्पये' । २४

मधु॑श्च॒ माध॑वश्च॒ वास॑न्तिकावृ॒तू अ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒
कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ओष॑धयः॒
कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः ।
ये अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे ।
वास॑न्तिकावृ॒तू अ॑भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा
अ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् २५

मधुः च	चैत्र और	अग्नेः अन्तः	अग्नि के अन्दर (तुम)
माधवः च	वैशाख	श्लेषः असि	दृढ़ता से लगाई हुई हो ।
वासन्तिकौ	दोनों वसन्त ऋतु के महीने हैं ।	मम ज्यैष्ठ्याय	मुझ यजमान के उत्कर्ष-साधन के लिए
ऋतू	ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ !		

१ प्रकाश का विस्तार; २ पंच प्राणों में से ये तीन प्राण ।

उपादान है। काल से अधिक बड़ा शत्रु-नाश करनेवाला और कौन हो सकता है? गोस्वामी तुलसीदास ने काल को राम का धनुष कहा है— 'काल जासु कोदण्ड'। २६

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥

ऋतायते	यज्ञ की इच्छा करनेवाले यजमान के लिए	नः ओषधीः	हमारे लिए सब ओषधियाँ
वाता मधु	वायु मधुर हों,	माध्वीः सन्तु	मधुर रस से युक्त हों॥ २७॥
सिन्धवः मधु	स्यन्दमान लहरों वाली नदियाँ और समुद्र मधुर हों,		

यज्ञ के इच्छुक जो यजमान, यज्ञमय करते जीवन-प्राण।
वायु हो मधुमय उनको सदा, स्यंदिता[1] सरितायें मधुप्रदा।
सकल ओषधियाँ हों मधुमयी, हमारे हित मधुकृत[2] नित नयी॥ २७॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञ करने की इच्छा करनेवाले यजमान का जीवन सर्वतोभावेन आनंदपूर्ण हो, यह मंगल-कामना की गई है। यज्ञ करने की इच्छा का अर्थ है, जीवन को और प्राणों को यज्ञमय बना देना। सर्वोत्तम लोककल्याणकारी कर्म करते रहने से जीवन यज्ञमय हो जाता है। शिवसंकल्पों से प्राण यज्ञमय बन जाता है। अन्त में कहा गया है, ऐसे जो हम यजमान लोग हैं, उनका जीवन आनंदमय हो। २७

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥

नः	हमारे लिए	मधुमत्	मधु के समान सुखकारी हो,
पिता द्यौः	पिता के समान द्युलोक	नक्तं उत उषसः	रात्रि और प्रभात
मधु अस्ति	मधुर हो,	मधु	हमारे लिए मधुमय हों॥ २८॥
पार्थिवं रजः	धरती की धूलि		

पिता-सदृश मधुमय द्युलोक हो हम सबके हित।
माता-सी हो मधुमय धरती की यह रज[3] नित॥

---

१ बहती हुई; २ आनन्दप्रद; ३ धूल।

टि०—यह बड़े ही गंभीर अर्थों का द्योतन करनेवाला मंत्र है। चैत्र और वैशाख—ये दो वसंत ऋतु के महीने हैं। इनको ऋतुरूप ईंटें कहा गया है। काल की इमारत लव, निमेष, मास, ऋतु, वर्ष आदि की ईंटें जमाकर तैयार होती है। जो इन मास, ऋतु, वर्ष आदि की ईंटों को सावधानी से जमाता हुआ अपने जीवन की इमारत कुशलता से तैयार करता है, वह अंगिरा ऋषि की तरह परमसुख और परमसिद्धि प्राप्त करता है। सब जल और सब ओषधियाँ उसकी सहायता करती हैं। सब देवता उसके अनुकूल रहते हैं। २५

अषा॑ढाऽसि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑ती॒: सह॑स्व पृतनाय॒तः।
स॒हस्र॑वीर्याऽसि॒ सा मा॑ जिन्व ॥२६॥

सहमाना	(हे इष्टके!) स्वभाव से (तुम) शत्रुओं को पराजित करनेवाली,	पृतनायतः सहस्व	सेना लेकर संग्राम की इच्छा करनेवाले शत्रुओं को पराजित करो।
अषाढा असि	शत्रुओं से कभी भी पराजित न होने वाली हो,	सहस्रवीर्या असि	अनन्त बलवाली हो।
अरातीः सहस्व	शत्रुओं को पराजित करो।	सा	वह (प्रसिद्ध) तुम
		मा जिन्व	मुझपर प्रसन्न होओ॥ २६॥

अरि के हित हो स्वभाव से हो अभिभवशीला[1]।
इष्टके! शत्रु से हो नित अपराजयशीला॥
जो हैं अराति जिनमें न दान की वृत्ति लेश।
उन सभी शत्रुओं को कर दो तुम नामशेष॥
जो हैं युयुत्सु अरिगण सेना लेकर उद्यत।
उनको उन्मूलित करो, करो विदलित पद नत॥
तुम हो सहस्रवीर्या अनंत बलवीर्यवती।
इष्टके! रहो तुम हमपर संतत कृपावती॥ २६॥

टि०—पूर्ववर्ती इष्टकाविषयक मंत्रों में उसके स्वरूप का संकेत है। इष्टका काल का प्रतीक है, काल की अवयवस्वरूपा है। उससे यह प्रार्थना की गई है कि तुम शत्रुओं का विनाश करो, क्योंकि इष्टका या ईंट अनंत बल और वीर्यवाली है। शत्रु को पराजित करना और स्वयं अपराजित रहना, यह उसका स्वभाव है। शत्रु का अर्थ है समाज का शत्रु। इनमें सबसे प्रमुख अराति है जो दान नहीं करता अर्थात् जो लोकहित में अपने धन या शक्ति को अर्पित नहीं करता। इष्टका काल का अवयव है,

---

१ पराजित करनेवाली।

अपां	तुम जलो के
गर्भं सीद	गम्भीर स्थान में स्थिर हो।
त्वा	तुमको
सूर्यः	सूर्य
मा अभिताप्सीत्	संतप्त न करे।
वैश्वानरः	सब मनुष्यों के हितकारी
अग्निः मा	अग्नि तुमको संतप्त न करे।
अच्छिन्नपत्राः	अखंडित अंगों वाली
प्रजाः अनुवीक्षस्व	प्रजा का तुम निरंतर निरीक्षण करो।
दिव्या वृष्टिः	दिव्य वृष्टि
त्वा अनु सचताम्	तुम्हारी सहायता करे ॥ ३० ॥

तुम रहो जलों के गूढ़ प्रवेशों में संस्थित।
हे मानव! पाते जहाँ मेघ हैं जीवन नित॥
तुमको न दे सके ताप कभी आदित्य प्रखर।
संतप्त कर सके कभी न तुमको वैश्वानर[1]॥
अच्छिन्नपत्र[2] है जहाँ प्रजाजन का निवास।
सुन्दर पूर्णाङ्ग मुक्तजन करते जहाँ वास॥
तुम प्राप्त करो वह धाम चिरंतन अजर-अमर।
बरसते जहाँ हैं धर्ममेघ[3] मधु घिर-घिरकर॥ ३०॥

टि०—यह मंत्र बड़ी गंभीर अर्थदीप्ति से परिपूर्ण है। महीधर इसे मंडूक को संबोधित मानते हैं, वेदमूर्ति सातवलेकर इस विषय मे मौन हैं। महर्षि दयानद इसे मानव को संबोधित मानते हैं जो समीचीन प्रतीत होता है। यह मंत्र ऋषि के गम्भीर अंतर्दर्शन से साक्षात्कृत सत्त्व के रहस्य की अभिव्यंजना है। कहा है, मानव! तुम जलों के निगूढ़ प्रदेश में संस्थित रहो, जहाँ से मेघों को जीवन मिलता है। वह वर्णन समुद्र का सूचक है। समुद्र असीम और अनंत है। तात्पर्य यह कि मनुष्य को सीमा और सान्तता को छोड़कर असीम और अनंत स्थिति प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। कबीर ने इस प्राप्तव्य स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है— 'हद छाँड़ि बेहद गया किया सुन्नि असनान।' इस मंत्र में इसी हद को छोड़कर बेहद में जाकर शून्य में स्नान करने की स्थिति का वर्णन है। वहाँ दैहिक-दैविक और भौतिक सभी प्रकार के ताप-त्रास, दुःख सुख आदि द्वंद्वों का अभाव है। वहाँ धर्ममेघ धारासार मधुवर्षा करते हैं। वहाँ की प्रजायें अच्छिन्नपत्रा है। अच्छिन्नपत्रा का अर्थ है जिनके पत्ते टूटकर नहीं गिरते है। अर्थात् उस दिव्य धाम के अधिवासी विकार-रहित सत्त्वमय शरीरवाले भक्तजन हैं। मनुष्य को वह शाश्वत अजर, अमर दिव्य धाम प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है। इस संसार को सब संतों और भक्तों ने 'बिराना' अर्थात् पराया देश कहा है— 'रहना नहिं देस बिराना है।' इस मंत्र में भी ऋषि वही निर्देश देता है। सूरदास का एक बड़ा प्रसिद्ध पद इसी अर्थ का द्योतन करता है— 'चकई री चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।' ३०

---

१ अग्नि, २ जिनके पत्ते नही गिरते; ३ ऋत और सत्य से युक्त परमानन्द-स्वरूप मुक्ति और भक्ति के बादल।

रहें हमारे हेतु रात्रियाँ नित नव मधुमय।
हो प्रभात सब सदा निरंतर मधुमय अक्षय[1] ॥ २८ ॥

टि०—यह मंत्र पूर्ववर्ती मंत्र का पूरक है। यज्ञ की इच्छा करनेवाले यज्ञमय जीवन बनानेवाले को स्वर्ग के सब देवता पिता की तरह पालते और रक्षा करते हैं। धरती का प्रत्येक रजकण उसके लिए माता जैसा वात्सल्यपूर्ण हो जाता है। दिन और रात उसके लिए अक्षय मधुकोष बन जाते हैं। २८

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥

वनस्पतिः	वनस्पतियाँ	मधुमान् अस्तु	मधुर-रस देनेवाला हो,
नः मधुमान्	हमारे लिए मधुमती और सुखवर्धक हों,	नः गावः	हमारे लिए गायें
सूर्यः	आदित्यदेव	माध्वीः भवन्तु	मधुर-रस प्रदान करनेवाली हों ॥२९॥

ये सकल वनस्पतियाँ हमपर मधु बरसायें।
आदित्य निरंतर हमपर मधु-रस सरसायें ॥
गायें हम सबकी हों नित मधुमय पयदात्री[2]।
हों यज्ञक्रियाएँ सकल दिव्य मधु की धात्री[3] ॥
बन जाय हमारा जीवन यह शाश्वत वसंत।
जीवन की यह मधुमयता हो वर्द्धित अनंत[4] ॥ २९ ॥

टि०—यह मंत्र भी पूर्ववर्ती दो मंत्रों की परंपरा को आगे बढ़ाता है। इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हमारा परिवेश आनंदप्रदायक बने। महर्षि दयानंद ने इस मंत्र का सुंदर भावार्थ प्रस्तुत किया है। लिखा है—हे मनुष्यो! तुम लोग वसंत ऋतु को प्राप्त होकर जिस प्रकार के पदार्थों के होम से वनस्पतियाँ आदि कोमल गुणयुक्त हों, ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करो और इस प्रकार वसंत ऋतु के सुख को तुम सब लोग प्राप्त होओ। २९

अपां गर्भंन्त्सीद् मा त्वा
सूर्योऽभि ताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु
त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥३०॥

---

१ जिसका क्षय या नाश न हो; २ दूध देनेवाली; ३ अलौकिक आनन्द का पोषण करनेवाली; ४ बढ़े और अन्तहीन हो जाए।

महीं द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभिः ॥३२॥

मही पृथिवी	बड़ी विस्तार-वाली पृथ्वी	भरीमभिः	भरण-पोषणकारी पदार्थों से
च द्यौः	और द्युलोक	नः पिपृताम्	हमारा पालन करें ॥ ३२ ॥
नः इमं यज्ञं	हमारे इस यज्ञ को		
मिमिक्षताम्	पूर्ण करें,		

यह पृथिवी बहु विस्तारवती, विस्तृत दिव जहाँ बसे सुकृती[१] ।
सब करें हमारा यज्ञ पूर्ण, कर पोषक द्रव्यों से प्रपूर्ण[२] ॥
ये करें हमारा पालन नित, ऋतुकर्म करें सब संवर्द्धित ।
माता-से पिता-सदृश संतत, पृथिवी-दिव हों परिपालन-रत ॥ ३२ ॥

टि०—यह पृथ्वी माता है और द्युलोक पिता है । ये माता-पिता की तरह वात्सल्य-भावना से प्रेरित होकर हमारा पालन-पोषण करें । हमारे सब यज्ञकर्म पूरे करें, उनके संपादन में किसी प्रकार का अभाव न हो । वे पोषक पदार्थों से हमारा संवर्द्धन करें । ३२

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३३॥

विष्णोः कर्माणि	(हे मनुष्यो !) व्यापक ईश्वर के अनेक प्रकार के कर्मों को	व्रतानि पस्पशे	व्रतों का निर्माण किया (गया) है,
पश्यत	देखो ।	इन्द्रस्य	वह सर्वव्यापक परमात्मा इन्द्र (जीव) का
यतः	जिसके द्वारा	युज्यः सखा	योग्य मित्र है ॥३३॥

मानवो ! विष्णु के देखो अद्भुत महत्[३] कर्म ।
सर्वव्यापक परमात्मा के शर्मप्रद धर्म[४] ॥
है किया उन्होंने सभी व्रतों का शुचि-विधान ।
मानव-जीवन के किये प्रवर्तित श्रेष्ठ मान[५] ॥

१ पुण्यवान लोग; २ अच्छी तरह से पूर्ण, जिसमें कोई अभाव न हो; ३ महान्; ४ कल्याणकारी धर्माचरण; ५ मर्यादाएं ।

त्रीन्त्स॑मु॒द्रान्त्सम॑सृपत् स्व॒र्गान॒पां
पति॑र्वृष॒भ इष्ट॑कानाम् ।
पुरी॑षं॒ वसा॑नः सुकृ॒तस्य॑ लो॒के तत्र॑
गच्छ॒ यत्र॒ पूर्वे॒ परे॑ताः[1] **॥३१॥**

अपां पतिः	जलों के पति तुम	**तत्र गच्छ**	उस स्थान को (तुम) जाओ,
इष्टकानां वृषभः	सब अभीष्ट सुखों की वर्षा करनेवाले हो।	**यत्र**	जहाँ
त्रीन् स्वर्गान्	तीन स्वर्गों को (और)	**सुकृतस्य लोके**	पुण्यात्माओं के लोक में
समुद्रान् समसृपत्	समुद्र के स्थानों को भली भाँति तुमने प्राप्त किया है।	**पूर्वे परेताः**	पूर्ववर्ती परम पद को प्राप्त श्रेष्ठ पुरुष गये हैं ॥ ३१ ॥
पुरीषं वसानः	पशुओं के साथ रहते हुए		

हे मानव ! प्राप्त करो सुख-त्रय[1], सब तन, मन, वाणी के अक्षय ।
तू निखिल जलों का है स्वामी, अभिमत[2] सुख तेरे अनुगामी ।
ये तीनों स्वर्ग, समुद्र तीन, हैं सब सम्यक् तेरे अधीन ।
अपने गोधन को लेकर तुम, ध्रुव प्राप्त करो वह स्थान परम ।
जो पुण्यात्माओं से सेवित, जिनको है प्राप्त परम पद नित ।
सब पूर्वकाल के सुकृती जन, करते हैं जहाँ वास चिद्घन[3] ।
प्राप्तव्य वही तेरा मानव, हों शमित सभी इस भव के दव ॥ ३१ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र की अर्थच्छाया इस मंत्र में भी है। तू सब जलों का स्वामी है। सब प्रकार के तापों का शमन करनेवाला सच्चिदानंदस्वरूप परमानंद जल तुझे प्राप्त है। कबीर कहते हैं— 'काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।' तात्पर्य यह कि हे नलिनी ! तू भवद्वंद्वों के ताप से क्यों सूख रही है ? चारों ओर परमानंदरूप जल तेरे ही लिए तो भरा है। सब सुख तेरे अधीन हैं—ऊपर के तीन भुवन 'स्वर्ग' और नीचे के तीन लोक (सागर), सबका तू स्वामी है। तू उस लोक को प्राप्त करने का अधिकारी है, जहाँ पूर्वकाल के बड़े-बड़े पुण्यात्मा निवास करते हैं। पशुओं के साथ रहते हुए उस स्थान को गमन करने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि गो आदि की सेवा भी परम पद की प्राप्ति का एक साधन है। महर्षि दयानंद ने इसका अध्यात्मपरक अर्थ किया है। ३१

---

१ शरीर, मन और वाणी के सुख; २ अभीष्ट; ३ चिन्मय विग्रहवाले ।

अग्नि आदि सब तत्त्व प्रकट हुए हैं। यह अग्नि जातवेद है। जो उत्पन्न हुआ है, उन सबको यह जानता है। यह देवताओं तक हवियाँ पहुँचाता है। गायत्री, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुप् छंद से जो हवियाँ इसमें दी जायँ, वे सब देवताओं को अच्छी तरह से प्राप्त हों। ३४

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥३५॥

इषे	(हे उखे!) अन्न,	**सम्राट् असि**	तुम (भूमि की) सम्राट् हो,
राये	धन,	**स्वराट् असि**	स्वयं प्रकाशमान हो,
सहसे	वल,	**त्वा सारस्वतौ**	तुम्हारे सरस्वती सम्बन्धी (ज्ञान वाले)
द्युम्ने	यश,	**उत्सौ प्रावताम्**	मन और वाक् का रक्षण करें॥ ३५॥
ऊर्जे	पराक्रम अथवा दुग्ध-घृतादि से युक्त		
अपत्याय	पुत्र-पौत्र के लिए		
रमस्व	दीर्घकाल तक आनन्द से रहो।		

हे उखे! विराजो सदा यहाँ, तुम दीर्घकाल तक रमो यहाँ।
धन, अन्न, पराक्रम, यश अशेष, पय, दधि घृत आदिक रस विशेष।
तुम दीर्घकाल तक करो दान, तुम यहाँ विराजो महीयान[1]।
सम्राट् भूमि की तुम्हीं प्रथित, तुम स्वयं प्रकाशमान हो नित।
सब शास्त्रों का जो परिज्ञान, वह प्रकट तुम्हीं से ज्योतिमान।
तुम वेद-ज्ञान से संरक्षित, तुमसे है वेद-त्रयी[2] रक्षित॥ ३५॥

टि०—उखा का स्वरूप पूर्ववर्ती मंत्रों की अनेक टिप्पणियों में स्पष्ट किया जा चुका है। उसी की महिमा का वर्णन इस मंत्र में है। वह अदिति किंवा महत्तत्त्वरूपा है। ३५

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः।
अरं वहन्ति मन्यवे ॥३६॥

देव अग्ने	हे देदीप्यमान अग्नि!	**ये ते**	जो तुम्हारे
		साधवः अश्वासः	चतुर घोड़े हैं,

---

१ सबसे महान; २ ऋक्, यजुर्, साम।

वे ही हैं सुविदित मित्र इन्द्र के योग्य परम।
है वही जीव के सखा और साहाय्य चरम ॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्र में सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु की महिमा का वर्णन है। उनके द्वारा जीवन के सब व्रतों, आदर्शों और अर्हताओं की स्थापना की गई है। वे इन्द्र के सखा है और जीवो के उद्धारक है। ३३

ध्रुवाऽसि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो
योनिभ्यो अधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च
देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

धरुणा	(हे उखे !) जगत् को धारण करनेवाली	सः प्रजानन्	वह अग्नि अपने अधिकार को जानता हुआ
ध्रुवा असि	तुम स्थिर हो।		
जातवेदाः प्रथमं	ससार के सब पदार्थों को जाननेवाला अग्नि पहले	गायत्र्या च	गायत्री और
		त्रिष्टुभा	त्रिष्टुभ्
		अनुष्टुभा	तथा अनुष्टुप् छंद के द्वारा
इतः अधि जज्ञे	यहाँ अधिकता से प्रकट हुआ।	देवेभ्यः	देवताओं के लिए
एभ्यः योनिभ्यः	इन उत्पत्ति-स्थानों से	हव्यं वहतु	हव्य पहुँचावे ॥३४॥

हे उखे ! जगत को धारण करती हो ध्रुव तुम।
है जातवेद भी प्रकट तुम्हीं से हुआ प्रथम ॥
तुम प्रकट जहाँ से अग्नि वहीं से हुआ प्रकट।
यह जातवेद ही है सबका ज्ञाता उत्कट[1] ॥
यह प्रथित अग्नि अधिकारों का सम्यक् ज्ञाता।
है यही हव्य शुचि सब देवों को पहुँचाता ॥
गायत्री, त्रिष्टुभ् और अनुष्टुप् छन्द नीत[2]।
हवियाँ यह प्राप्त करावे देवों को पुनीत ॥ ३४ ॥

टि०—यह मंत्र उखा को संबोधित है, उखा महत्तत्त्व किंवा अदिति-तत्त्व का प्रतीक है। ऐसी उखा और अग्नि के प्रभाव-स्थान एक ही हैं। महत्तत्त्व से ही

---

१ उत्तम: २ ले जाया गया।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना
अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि
हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः ॥३८॥

सरितः न	नदियों के समान
अन्तः हृदा	अन्दर हृदय और
मनसा पूयमानाः	मन से पवित्र की हुई
धेनाः	वाणियाँ
सम्यक् स्रवन्ति	भली भाँति प्रवाहित होती हैं।
हिरण्ययः वेतसः	सुवर्ण के समान प्रदीप्त और रमणीय दण्ड के समान ज्ञान की वेगवती धाराओं को
अग्नेः मध्ये	अग्नि के मध्य में
घृतस्य धाराः	घृत की धाराओं के समान
अभि चाकशीमि	मैं देखता हूँ ॥ ३८ ॥

वाणियाँ पुण्यकृत[1] अंतर से, उर के मन के हैं प्रवहमान[2]।
विद्वानों के मुख से निर्गत[3], होतीं सरिताओं के समान ॥
आत्मा है सबके भीतर यह, सोने-सा अति देदीप्यमान।
शोभा पाता है ऊर्ध्वोच्छ्रित[4], रमणीय दण्ड मानो महान् ॥
इससे उत्थित हो धारायें, ये प्रज्ञा की ज्ञान की महत्।
हूँ देख रहा ज्यों अग्नि बीच, गिरती अखण्ड धारा हो घृत ॥
उर से मन से हो पूत सदा, निःसृत[5] वाणी ही है प्रयोज्य[6]।
परिशुद्ध नहीं है जो सम्यक्, वह वाक् न है व्यवहार-योग्य ॥ ३८ ॥

टि०—यह बड़े ही महिमामय मंत्रों में से है। इसमें परिशुद्ध वाणी के आविर्भाव का स्वरूप निरूपित हुआ है। जो वास्तविक विद्वान हैं, उनके पवित्र हृदय और मन के अत्यंत गंभीर अंतर से उठकर वे उनके मुख से सरिताओं की तरह प्रकाशित होती हैं। ये वाणियाँ उन विद्वज्जनों की सुवर्ण की तरह देदीप्यमान और ध्वजदंड की तरह ऊपर उठते हुए आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। देखनेवाले को इन वाणियों का प्रकटन अग्नि-कुंड में गिरती हुई अखंड घृत की धारा जैसा प्रतीत होता है। वेदवाणियों की अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया श्रीमद्भागवत में इस प्रकार वर्णित है— "शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिय-मनोमयम्। अनंतपारं गंभीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्।" वेद शब्दब्रह्म है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है। प्राण, मन और इन्द्रियादि चरम शुद्धावस्था

१ पवित्र बनायी गयी; २ बहती हुई; ३ निकली; ४ ऊपर की ओर उठा हुआ या ऊँचा; ५ निकली हुई; ६ प्रयोग करने योग्य।

अरं	(वे तुमको) शीघ्र	हि आ युक्ष्व	उनको निश्चय ही
मन्यवे वहन्ति	यज्ञ के लिए ले जाते हैं।		रथ में जोड़ो ॥३६॥

हे अग्नि ! परम देदीप्यमान, जिन अश्वों से वाहित[1] सुजान[2] ।
जाते हो यज्ञों में द्रुत गति, रथ में अब करो उन्हें योजित[3] ।
वे करें शत्रु को पद-मर्दित, हो मन्यु[4] तुम्हारा संवर्द्धित ॥ ३६ ॥

टि०—यह सरलार्थक मंत्र है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि जिन चतुर घोड़ों के द्वारा वाहित होकर वे यज्ञों में आते हैं, उन्हीं घोड़ों को रथ में जोतें, जिससे उनके क्रोध से शत्रु नष्ट हों। ३६

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ अश्वाँ२ अग्ने रथीरिव ।
नि होता पूर्व्यः सदः ॥३७॥

अग्ने	हे अग्नि !	आयुक्ष्व	रथ में जोड़ दो।
देवहूतमान्	देवों को बुलानेवाले	पूर्व्यः होता	सबसे पहले बुलाने वाले तुम (आज इस यज्ञ कर्म में)
अश्वान् हि	घोड़ों को निश्चय ही		
रथी इव	रथी के समान शीघ्र	नि षदः (नि सदः)	इसी आसन पर बैठो ॥ ३७ ॥

रथ के स्वामी की तरह अश्व, ये अपने निज रथ में जोतो ।
अग्ने ! देवों के आराधक[5], अश्वों को द्रुत रथ में जोतो ॥
होता[6] हो परम पुरातन तुम, इस यज्ञकार्य में तुम आओ ।
है अग्रस्थान तुम्हारा यह, तुम बैठ यहाँ शोभा पाओ ॥ ३७ ॥

टि०—हे अग्नि ! जैसे रथ का स्वामी अपने घोड़ों को रथ में जोतता है, वैसे ही तुम भी अपने घोड़ों को अपने रथ में जोतकर इस यज्ञस्थल में पधारो। तुम सबसे पुरातन होता हो, तुम्हारा स्थान पहला है, आज यहाँ अपना स्थान ग्रहण करो। ३७

---

१ खींचे जाते हुए; २ चतुर; ३ रथ में जोड़ो; ४ उचित क्रोध; ५ आवाहन करनेवाले; ६ हवन करनेवाला।

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान् ।
सहस्रदा असि सहस्राय त्वा ॥४०॥

ज्योतिषा	(हे तेजस्विन् !) कान्ति से (तुम)	रुक्म	'रुक्म' अर्थात् सुवर्ण के समान देदीप्यमान हो ।
ज्योतिष्मान्	कान्तिमान होने से		
अग्निः	'अग्नि' हो ।	सहस्रदाः असि	(तुम) सहस्रो ऐश्वर्यो के दाता हो ।
वर्चसा	तेज से		
वर्चस्वान्	तेजस्वी होने के कारण (तुम)	त्वा सहस्राय	तुम्हारी उपासना सहस्रों अभीष्टो की सिद्धि के लिए (मैं) करता हूँ ॥ ४० ॥

हे परमात्मन् ! हो परम ज्योति से उद्भासित ।
अग्नि के रूप में सदा इसी से वंदित नित ॥
हो परम तेज से तेजोमंडित जगदीश्वर ! ।
शत-रुक्मभार[1] से रहते हो अविरत भास्वर ! ॥
अयुतायुत[2] ऐश्वर्यों के अमित प्रदाता तुम ।
अर्चना तुम्हारी अयुत अभीष्टप्रदा निरुपम[3] ॥ ४० ॥

टि०—इस मंत्र में परमात्मा का स्तवन किया गया है, परमेश्वर अनंत ज्योति से प्रकाशमान हैं । इसीलिए अग्नि के रूप में उनकी वंदना की जाती है । वे हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं, क्योंकि सैकडों स्वर्णभारों की कान्ति उनमें है । वे लाखों प्रकार के ऐश्वर्य दे सकते हैं । उनकी उपासना अनुपम है । वे लाखों अभीष्टों को सिद्ध कर सकते हैं । ४०

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि
सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परि वृङ्ग्धि हरसा माऽभि मंस्थाः
शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥४१॥

---

१ सोने का ढेर; २ लाखों; ३ अद्वितीय, अनुपम ।

में उसका आविर्भाव होता है। यह वेदवाणी प्राणियों के शुद्ध अंतःकरण में अनाहत नाद के रूप में प्रकट होती है जैसे कमल-नाल में पतला-सा सूत होता है। "मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना। भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥" (११:२१:३७ —भागवत)। ३८

ऋचे त्वा॑ रुचे त्वा॑ भासे त्वा॒ ज्योति॑षे त्वा॑।
अभू॑दि॒दं विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ वाजि॑नम॒ग्नेर्वै॑श्वान॒रस्य॑ च ॥३९॥

त्वा ऋचे	तुमको यथार्थ ज्ञान के लिए,	इदं	तुम्हारा यह श्रोत्र या कान
त्वा रुचे	तुमको कान्ति के लिए,	विश्वस्य भुवनस्य	सम्पूर्ण प्राणि-समूह
त्वा भासे	तुमको विज्ञान-प्राप्ति के लिए,	च वैश्वानरस्य	और सबके हितकारी
त्वा ज्योतिषे	तुमको तेज प्राप्त करने के लिए (मैं प्राप्त करता हूँ)	अग्नेः	अग्नि के
		वाजिनं अभूत्	वचनों को जानने-वाला हुआ है ॥ ३९ ॥

हे महाज्ञानसम्पन्न विदित आचार्य परम।
पाने को ज्ञान यथार्थ विनत हैं सम्मुख हम॥
विद्या से ऊर्जित[1] कान्ति[2] देव! हो हमें प्राप्त।
तुम दो हमको अपना अर्जित विज्ञान आप्त॥
मैं तेज-प्राप्ति के हेतु वरण करता तुमको।
विज्ञान अग्नि का कथित[3] प्राप्त हो सब हमको॥
विज्ञान अग्नि का है जीवों का हितकारी।
वह सकल भुवन के हेतु सतत मंगलकारी॥ ३९॥

टि०—यह मंत्र उस परमज्ञानी आचार्य के प्रति संबोधित है, जिसने तपस्या द्वारा विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान को अर्जित किया है। ऐसे आचार्य का अंतेवासी बनकर ही पदार्थ-विद्या और अध्यात्म-विद्या का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य श्रीसंपन्न और तेजस्वी हो जाता है। अग्नि का विज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है, विद्युत् आदि का ज्ञान प्राप्त करना। ३९

---

१ शक्तिशाली; २ श्री; ३ कहा हुआ।

अग्ने	हे अग्नि !
वातस्य जूतिं	वायु के समान वेगवान,
वरुणस्य नाभिं	वरुण देवता की नाभि-स्वरूप
सरिरस्य मध्ये	जल के मध्य में
जज्ञानम्	उत्पन्न,
नदीनां शिशुं	नदियों के बालक,
हरिं	हरित वर्णवाले,
परमे व्योमन्	महाकाश में रहने वाले,
अद्रिबुध्नं अश्वं	पदाघात से (खुरों के आघात से) पाषाणों चूर्ण करनेवाले अश्व को अर्थात् अग्नि को
मा हिंसीः	मत विनष्ट करो ॥ ४२ ॥

हे अग्नि ! वायु-सा है यह अतिशय वेगवान ।
यह वरुणदेव की नाभि-सदृश हैं शोभमान ॥
है सलिल-मध्य से अश्व हुआ यह समुद्भूत[1] ।
यह हरित वर्णवाला है नदियों का सपूत ॥
खुर की चोटों से अद्रि चूर्ण करता है यह ।
यह परमव्योम[2] में विचरण करता है अहरह[3] ॥
यह अश्व जलद[4] है सूक्ष्मरूप में विद्यमान ।
विद्युत्-स्वरूप यह अश्व घनों से जायमान[5] ॥
क्षत-रहित[6] रहे यह अग्नि अश्वरूपी संतत ।
मंगल-वर्षा इस मेघ-अश्व से हो अविरत ॥ ४२ ॥

टि०—यह कूटशैली का मंत्र है । वैदिक कूट-मंत्रों की परंपरा आगे कूटपदों और उलटबासियों के रूप में चली । इस मंत्र में ऐसे घोड़े का वर्णन है, जिसका वेग वायु के समान है, जो जल से उत्पन्न हुआ है और वरुण देवता की नाभि-रूप है । यह नदियों का बालक है, हरे रंग का है, अपने खुरों से पर्वतों को चूर्ण कर देता है । वेदमूर्ति सातवलेकरजी के अनुसार यह अग्नि रूपी अश्व है और महर्षि दयानंद इसे सूक्ष्ममेघ मानते है । परमेश्वर से इसकी रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है । ४२

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥४३॥

---

१ पैदा; २ महाकाश; ३ प्रतिदिन; ४ बादल, ५ पैदा; ६ कष्ट-रहित, आघात-रहित ।

गर्भ	देवों का उत्पत्ति-स्थान एवं पशुओं के भरण-पोषण करनेवाले
सहस्रस्य प्रतिमां	हजारों की मूर्ति-स्वरूप एवं
विश्वरूपं आदित्यं	विश्व के प्रकाशक आदित्य अथवा अग्नि को
पयसा समङ्ग्धि	दूध से सिञ्चित करो।
हरसा परि वृङ्‌धि	प्रज्वलित तेज से रोगों को सब ओर से नष्ट करो।
चीयमानः	वृद्धि को प्राप्त होकर
शतायुषं कृणुहि	यज्ञकर्ता को शतायु करो।
अभिमंस्था मा	अभिमान मत करो ॥ ४१ ॥

ये अग्नि देवगण के उत्पत्ति-स्थल हैं।
पशुओं के पोषण-भरण-करण[1] प्रतिपल हैं॥
करते सहस्रधा यही मूर्तियाँ धारण।
ये विश्वप्रकाशक निखिल ज्योति के कारण॥
प्रज्वलित तेज से करते रोग-हरण सब।
है इन-सा हुआ न कोई और न है अब॥
अभिमान छोड़ पय-हवि से सींचो इनको।
पाओगे शत-सांवत्सर वय के धन[2] को॥
ये बुद्धि-दान करते शतायु देते हैं।
यजमानों को नित वृद्धि-सिद्धि देते हैं॥ ४१ ॥

टि०—अग्नि की महिमा का वर्णन है। दूध की आहुति देने से अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। यज्ञ में इनके प्रज्वलित तेज से सब रोग नष्ट हो जाते हैं। ये यजमान को बुद्धि प्रदान करते हैं। इनकी कृपा से यजमान शतायु बनता है। मनुष्य इनकी उपासना से सौ वर्ष की आयु रूपी संपत्ति प्राप्त करता है। ४१

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं
जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा
हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥४२॥

---

१ पालन-पोषण करने के साधन; २ सौ वर्ष की आयु की सम्पत्ति।

अग्ने	हे अग्नि !	रजसः जज्ञानां	स्थान से जायमान
परमे व्योमन्	परम व्योम में उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाली,	महीं	बड़ी (और)
त्वष्टुः वरूत्रीं	अनेक रूपों का निर्माण करनेवाली,	साहस्रीं	सैकड़ों का उपकार करनेवाली,
वरुणस्य नाभिं	वरुण की नाभि की तरह रक्षणीय,	अवि	रक्षण करनेवाले
परस्मात्	परम उच्च	असुरस्य	प्राणियों की
		मायां	प्रज्ञाशक्ति को
		मा हिंसीः	मत नष्ट करो ॥ ४४ ॥

हे अग्ने ! हो परमव्योम के अधिवासी तुम।
बहुरूपों की रचनाशीला[1] हो उत्तम ! ॥
नाभि[2]-सी वरुण की रक्षणीय हो तुम नित।
परमोच्च स्थान से जायमान[3] हो सुविदित ॥
तुम हो महान परहित में निरत निरंतर।
उपकार-वृत्ति कृति-कीर्ति[4] तुम्हारी भास्वर ॥
प्रज्ञा[5] जो प्राणिमात्र का करती रक्षण।
वह नष्ट न हो तुम करो सतत संरक्षण ॥ ४४ ॥

टि०—अग्नि का परम व्योम में निवास है, अनेकानेक रूपों की रचना करना तुम्हारा सहज स्वभाव है, तुम वरुण की नाभि हो। वरुण जलों के स्वामी हैं, अग्नि जल में, विद्युत् आदि रूपों में निवास करता है। वह रक्षणीय है। तुम महान हो, परोपकारशील हो। प्राणियों में जो उनका रक्षण करनेवाली प्रज्ञा है, उसकी तुम रक्षा करो। ४४

यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥४५॥

यः अग्निः	जो अग्नि	उत दिवः	जो द्युलोक में
अग्नेः शोकात्	अग्नि की ज्वालाओं से	पृथिव्याः परि	और पृथ्वी पर तेज रूप से दीखता है,
अध्यजायत	उत्पन्न हुआ,	विश्वकर्मा	विश्व की रचना करनेवाले ने

१ रचना करनेवाली हो; २ आंतर प्रदेश; ३ उत्पन्न; ४ कर्म और यश; ५ उत्तम बुद्धि।

अजस्रं	क्षय-रहित	सः	वह (अग्नि)
इन्दुं	ऐश्वर्य से युक्त,	पर्वभिः	पर्वों द्वारा
अरुषं	रोषशून्य,	ऋतुशः	ऋतु-क्रम से
पूर्वचित्ति	पूर्व महर्षियों से चयन के योग्य,	कल्पमानः	कर्मों का सम्पादन करता है।
नमोभिः भुरण्यं	अन्नों से सबके पोषणकर्ता	अदितिं विराजं	अखंड दुग्ध देनेवाली
		गां	शोभामयी गाय को
अग्निं ईडे	अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।	मा हिंसीः	मत मारो ॥ ४३ ॥

हे अग्नि! स्तवन करता हूँ सदा तुम्हारा।
क्षय-रहित तुम्हें उर में है मैंने धारा॥
ऐश्वर्यवान तुम परम क्रोधविरहित नित।
तुम हुए पुरातन[1] ऋषियों से चित[2] संचित॥
अंतर के परम रहस्य तुम्हीं हो भगवन्।
हे अन्न सभी का करते हो तुम पोषण!॥
ये पर्व अमावस्यादिक हैं जो भी आते।
ये ऋतु के क्रम जो भी उत्सव हैं लाते॥
तब यज्ञकर्म करवाते हो सम्पादन।
करवाते हो बहु भाँति पुण्य का अर्जन[3]॥
ये गायें अदिति अदीन अमृत पयदाता।
तुम रहो अरिष्ट-निवारक इनके त्राता॥ ४३ ॥

टि०—अग्निदेव का स्तवन करते हुए कहा गया है. मैंने आपके गुणगान को हृदय में धारण किया है, आप क्षयरहित हैं, क्रोध-रहित हैं, परम ऐश्वर्यवान हैं, प्राचीन ऋषियों ने आपको चुना और संचित किया है। परमात्मा के रूप में अग्नि का आंतर-साक्षात्कार करते हुए कहा गया है, आप निगूढ़ हृदय-गुफा में विद्यमान परम रहस्य है, दहर-विद्या आदि के द्वारा जिनका वर्णन किया जाता रहा है। अमावस्या आदि जो पर्व है, ऋतुओं के परिवर्तन के साथ जो उत्सव होते हैं, उस समय आप हमें यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं, अनंत पुण्य प्राप्त करनेवाले हैं। आप हमारी गायों को सुरक्षित रखें। ४३

वरू॒त्रीं त्वष्टु॒र्वरु॑णस्य॒ नाभि॒मविं॑ जज्ञा॒नाᳪं रज॑सः॒ पर॑स्मात्।
म॒हीᳪं सा॑ह॒स्रीमसु॑रस्य मा॒यामग्ने॒ मा हिᳪंसीः पर॒मे व्यो॑मन्॥४४॥

---

१ प्राचीन; २ चयन किये गये, ३ पुण्य की कमाई।

देवानां	(वह ईश्वर) देवताओं का	आप्रा	वही व्याप्त है।
चित्रं अनीकं	विचित्र बल	सूर्यः	सूर्य
मित्रस्य	मित्र का,	जगतः च तस्थुषः	जंगम और स्थावर है।
वरुणस्य	वरुण का	आत्मा उदगात्	आत्मा-स्वरूप यह सूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है ॥ ४६ ॥
अग्नेः चक्षुः	और अग्नि का चक्षु है।		
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी		
अन्तरिक्षं	तथा अन्तरिक्ष में		

जगदीश्वर ही हैं सब देवों का अद्भुत बल।
वे मित्र, वरुण के और अग्नि के नेत्र विमल॥
वह द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष में ओतप्रोत।
वह प्राण सभी के वही सभी के आदिस्रोत॥
चर और अचर सबका आत्मा जो ज्योतिमान।
यह सूर्यरूप में उदित हुआ वह महीयान[1] ॥ ४६ ॥

टि०—प्रातः-सन्ध्या में सूर्योपस्थान में इस मंत्र का प्रयोग होता है। परमात्मा के प्रत्यक्षरूप उदित होते हुए सूर्य की शोभा का वर्णन इस मंत्र में किया गया है। ये सूर्यदेव सृष्टि के अंतर्यामी हैं और वहिर्यामी भी। ये सब देवों की शक्ति और मित्र हैं, वरुण, अग्नि आदि देवों के नेत्र हैं। ४६

इमं मा हिंᳪसीर्द्विपादं पशुᳪ सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४७॥

अग्ने	हे अग्नि !	पशुं	पशु से
मेधाय चीयमानः	यज्ञ के लिए लाये गये	जुषस्व	प्रेम करो।
इमं द्विपादं पशुं	इस दोपाये पशु को	तेन चिन्वानः	उसके द्वारा अपनी शोभा-वृद्धि करते हुए
मा हिंसीः	मत मारो।		
मेधं मयुं	पवित्र अन्न उत्पन्न करनेवाले		

१ सबसे बड़ा।

येन	जिसके द्वारा	ते हेडः तं	अपने उस क्रोध को
प्रजाः जजान	प्रजा को उत्पन्न किया,	परि वृणक्तु	छोड़ दे (अपने को उससे मुक्त रखो ॥ ४५ ॥
अग्ने	(वही तुम) हे अग्नि !		

जो अग्नि अग्नि के शोक से हुआ समुत्पन्न।
द्यावापृथिवी पर शोकरूप जो समापन्न[1] ॥
जिसमें है प्रकट प्रजापति का संताप महत्।
द्यावापृथिवी के तापरूप जो व्यक्त बृहत् ॥
की स्वयं प्रजापति ने जिससे सब प्रजा-सृष्टि।
है तेजरूप से जिसे देखती विश्व-दृष्टि ॥
याजकगण उसके बनें न कभी कोपभाजन।
तुम विघ्नकरी ज्वाला से करो सदा रक्षण ॥
जो छोड़ धरा को ज्वालामुखी स्वरूप घोर।
जो गिरता है धरती पर बनकर पवि[2] कठोर ॥
अग्नियाँ सकल ये बाधाकर भयकर क्षयकर।
हे अग्नि प्रजापति ! मानव के ये दुख लो हर ॥ ४५ ॥

टि०—इस विचित्र मंत्र में उस विशिष्ट अग्नि का वर्णन है, जो अग्नि की ज्वाला से उत्पन्न है। यह अग्नि, द्युलोक और पृथ्वी के शोक से उत्पन्न हुआ है। इसमें पहला अग्नि स्वयं प्रजापति है। श्रुति का कथन है, 'यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत।' प्रजापति अग्नि से अग्नि के ध्वंसकारी रूप भी प्रकट हुए हैं। उन्हीं को प्रजापति अग्नि, दिव और पृथ्वी का शोक या संताप कहा गया है। वे धरती और आकाश में भयानक तेजरूप धारण कर प्रकट होते है, कभी वे ज्वालामुखी बनकर धरती से फूटते हैं और कभी वज्र बनकर गिरते हैं। प्रजापति अग्नि से प्रार्थना की गई है-तुम उनसे मनुष्यों की रक्षा करो। ४५

चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आऽप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥४६॥

---

१ प्राप्त; २ वज्र।

यं द्विष्मः	जो हमसे द्वेष करें,	शुक् ऋच्छतु	क्रोध प्राप्त
तं ते	उसको तुम्हारा		हो ॥ ४८ ॥

हेषारवमय[1] खुर-एक-युक्त पशु वेगवान।
हिंसा न करो इस हय[2] की हे अग्ने! महान॥
आरण्यक[3] पशुओं को भी करो न तुम पीड़ित।
उनके रक्षण से वृद्धि तुम्हारी होगी नित॥
वधयोग्य भयानक हिंसारत पशु ही केवल।
अथवा जिनके द्वारा क्षत[4] होता है कृषिफल[5] ॥ ४८ ॥

टि०—घोड़ा शब्द करता है। वह वेगवान है। एक खुरवाला है। हे अग्नि! इसकी हिंसा न करो। जो लोग यह समझते हैं, अश्वमेध यज्ञ का अर्थ घोड़े के अंगों को काटकर उनको होम करने का कर्मकांड है, उनकी आँखें इस मंत्र से खुल जानी चाहिए। यह अश्व के मेध या वध का स्पष्ट निषेध करता है। यह भी कहा गया है कि आरण्य पशुओं की रक्षा से मनुष्य का अभ्युदय होता है। वध केवल उन्हीं पशुओं का किया जा सकता है जो हिंसक हैं और जो कृषि को नष्ट करते हैं। ४८

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४९॥

अग्ने	हे अग्नि!	व्यच्यमानम्	अनेक प्रकार से व्यवहार को प्राप्त,
परमे व्योमन्	व्योम के परम उत्कृष्ट स्थान में स्थित,	जनाय	लोगों के लिए
इमं साहस्रं	इस सहस्र मूल्य के योग्य,	घृतं दुहानां	घृत और दूध देनेवाली,
शतधारं	शतसंख्यक क्षीर-धारा से युक्त,	अदितिं	अहिंसा योग्य गौ को
उत्सं	कूप-सदृश दूध को देनेवाली,	मा हिंसीः	मत पीड़ा देना।
सरिरस्य मध्ये	लोकों के मध्य में	आरण्यं गवयं	वन के गवय पशु
		ते अनु दिशामि	मैं तुम्हें देता हूँ।
		तन्वः तेन	अपनी ज्वालाओं की वृद्धि द्वारा

१ घोड़े के शब्द को हेषा कहते हैं; घोडा हेषारव करता है; २ घोड़ा; ३ जंगली; ४ हानिग्रस्त, ५ खेती की उपज।

तन्वः निषीद	अपने शरीर से हृष्ट-पुष्ट होकर रहो।	यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करने को विवश हैं,
ते शुक्	तुम्हारा क्रोध	तं	उसको
मयुं ऋच्छतु	हिंसक पशु को प्राप्त हो।	ते शुक्	तुम्हारा क्रोध
		ऋच्छतु	प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

ये द्विपद, चतुष्पद यज्ञहेतु जो नीयमान[1]।
अग्ने ! ये पशु हों तुमसे कभी न हन्यमान[2] ॥
तुम करो प्रेम शुचि अन्नोत्पादक पशुओं पर।
इनसे अपनी श्रीवृद्धि करो, हो हृष्टपुष्ट तन शोभाकर ॥
हिंसक कृषिनाशक पशुओं पर ही करो क्रोध।
द्वेषी[3] को दण्डविधान हेतु तुम करो शोध[4] ॥ ४७ ॥

टि०—इस मंत्र में वेदार्थ को विकृत कर जो अनेक प्रकार के नरमेध या पशुमेध यज्ञ प्रवर्तित हुए, उनका स्पष्ट निषेध है। अन्नोत्पादक पशु हमारे स्नेहभाजन हैं। उनके द्वारा उत्पन्न अन्न, दूध, दही आदि से शरीर शोभासंपन्न और हृष्ट-पुष्ट बनता है। हिंसा करनेवाले सिंह, व्याघ्र, वृक, कृषि को हानि पहुँचानेवाले पशु और आततायी कोटि के शत्रु ही हिंसा के योग्य माने गये हैं। ४७

इमं मा हिंꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४८॥

इमं कनिक्रदं	इस शब्द करनेवाले,	अनु दिशामि	उन्हें हानि पहुँचाने वालों को नष्ट करो।
वाजिनेषु वाजिनं	वेगवानों में वेगवान,	तेन तन्वः	उनसे अपनी
एकशफं पशुं	एक खुरवाले पशु को	चिन्वानः निषीद	ज्वालाओं की वृद्धि करते हुए स्थिर होकर रहो।
मा हिंसीः	मत पीड़ा पहुँचाओ।	ते शुक्	तुम्हारा क्रोध
ते	तुम्हारे हेतु	गौरं ऋच्छतु	गौर मृग को हानि पहुँचानेवाले को प्राप्त हो।
आरण्यं गौरं	वनों के जो गोरे (उज्ज्वल रंग के) मृग हैं,		

१ लाये गये; २ मारे गये; ३ द्वेष करनेवाले; ४ खोज करना, दण्ड देकर सीधा करना।

अग्ने	हे अग्नि !
परमे व्योमन्	परम व्योम में उत्कृष्ट स्थान में स्थित,
त्वष्टुः प्रजानां	प्रजापति की प्रजाओं में
प्रथमं जनित्रं	सबसे पहले उत्पन्न,
वरुणस्य नाभिं	वरुण की नाभि-सदृश प्रिय,
द्विपदां	दो पैरों वाले,
चतुष्पदां	चार पैरों वाले,
पशूनां त्वचं	पशुओं की त्वचा को ढकनेवाले,
इमं ऊर्णायुं	इन भेड़ जैसे पशु को
मा हिंसीः	मत मारो।
आरण्यं उष्ट्रं	वन के ऊँट को
ते अनु दिशामि	तुमको दिखाता हूँ।
तेन चिन्वानः	उससे समृद्ध होकर
तन्वः निषीद	शारीरिक सुख प्राप्त करो।
ते शुक्	तुम्हारा क्रोध
उष्ट्रं ऋच्छतु	उष्ट्र को प्राप्त हो।
यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं,
तं ते	उसको तुम्हारी
शुक् ऋच्छतु	ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५० ॥

है परमव्योम में अग्नि ! तुम्हारी संस्थिति[1] ।
सृष्टि में प्रजापति की हो तुम्हीं प्रथम कृति ॥
नाभि-सी वरुण की तुम हो सबके प्यारे ।
पशु द्विपद, चतुष्पद जायें न तुमसे मारे ॥
है भेड़ इन्हीं में पुष्कल[2] ऊन-प्रदाता ।
तन ढकने को जिनसे जग त्वक् यह पाता ॥
देखो उनको हैं उष्ट्र[3] भारवाही[4] वे ।
वे प्रथित यान हैं मानव के हित मरु[5] के ॥
उनको मत मारो, मारो हिंसक पशुगण को ।
हो क्रोध तुम्हारा प्राप्त सदा अरिगण को ॥
जो राष्ट्रद्वेषी, जो समाज के घर्षक ।
बरसाओ उन पर अपनी ज्वाला ध्वंसक ॥ ५० ॥

टि०—यह मंत्र भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध करता है। केवल उन्हीं पशुओं को मारना विहित है, जो मनुष्य और गोधन की हिंसा करते हैं। अग्नि का क्रोध वज्र की तरह उन पर टूटना चाहिए, जो समाज और राष्ट्र के शत्रु हैं। ५०

---

१ स्थान; २ बहुत अधिक; ३ ऊँट; ४ बोझ ढोनेवाले; ५ ऊँट मरुस्थल के जहाज हैं।

चिन्वानः निषीद	उसके पास बैठो।	यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करने को बाध्य हैं,
ते शुक्	तुम्हारी ज्वाला या क्रोध	तं ते	उसको तुम्हारा
गवयं ऋच्छतु	गवय को प्राप्त हो।	शुक् ऋच्छतु	क्रोध प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

अग्ने ! हैं उत्तम स्थानों में स्थित ये गायें।
ये अघ्न्या[1] तुमसे कभी नहीं पीड़ा पायें॥
ये साहस्राधिक[2] मूल्यवान, शतधार धीर करतीं प्रदान।
ये दुग्ध-कूप करती निर्मित, व्यवहार विविध इनके आश्रित।
हैं प्राणिमात्र की हितकर्त्री[3], घृत-पय से गृह-गृह की भर्त्री[4]।
उत्तम गोष्ठों में रहें सदा ही ये गायें।
हे अग्ने! ये अघ्न्या न कभी पीड़ा पायें॥
पीड़ा हो देती यदि तुमको, पशु गवयादिक प्रदत्त तुमको।
आरण्यक[5] पशु कृषिफल-नाशक, तुम उनके बन सकते त्रासक।
अपनी ज्वालायें कर प्रवृद्ध[6], कृषिनाशक पशुगण करो रुद्ध[7]।
ज्वालायें तव संतापकरी, हों उनके हेतु निरोधकरी[8]।
अग्ने ! जो हमसे द्वेष करें, शत्रुता करें।
ज्वालायें सदा तुम्हारी उनको दग्ध करें॥ ४९॥

टि०—यह बड़ा सरल सरस मंत्र है। अग्नि से कहा गया है, गायों को पीड़ा मत देना। वे शत-शत धाराओं में दूध देती हैं, दूध-घी से घर भर देती हैं। ये सदा रक्षणीय हैं। पीड़ा देना है, तो उन पशुओं को दो जो कृषि नष्ट करते हैं। ४९

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५०॥

---

१ अवध्य; २ हजारों से अधिक, ३ हित करनेवाली; ४ स्वामिनी या घर भरनेवाली; ५ जंगली; ६ बढ़ी हुई; ७ रोके हुए; ८ रोकनेवाली।

फिर उसी शक्ति से पाते हैं वे धाम महत्।
आरोहण करते ज्योतिर्मय सोपान सतत॥
मैं तुझे दिखाता हूँ आरण्यक[1] शरभ[2] घोर।
यह तेरा अहंभाव, तेरी पशुता अछोर॥
मानव! तू रह इस शरभ-घात से रक्षित नित।
यह शरभ अविद्या का न करे तुझको पीड़ित॥
ये राग द्वेष-संभूत हमारे शत्रु सबल।
प्रज्वलित ज्ञान-दव में हों अग्ने! भस्म सकल॥ ५१॥

टि०—यह बड़ा ही महिमामय मंत्र है। कहा गया है, यह जीव अजन्मा है। अग्नि के स्वरूप में अपनी अंशकलाओं को प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर की अपरिमेय शक्ति और तेज से शक्ति और ज्ञान प्राप्त करता है। वे परमेश्वर सनातन हैं, सबसे पहले से विद्यमान हैं, वे आत्मस्वरूप की अर्थात् अपने स्वरूप के साक्षात्कार की सिद्धि प्रदान करते हैं, तब वह जीव अनेक ज्योतिर्मय भूमिकाओं को पार करता हुआ भगवान का दिव्य धाम प्राप्त करता है। तब वे भगवान मनुष्य को उसके भीतर विद्यमान अहंभाव अथवा अविद्याजन्य अहंकार का शरभ दिखा देते हैं और निर्देश देते हैं कि तू इससे अपनी रक्षा कर। यह शरभ तेरे भीतर विद्यमान पशुता का स्तूप है। ये सब राग-द्वेषादि इसी अज्ञान रूपी शरभ के परिकर हैं। हे अग्ने! इनको अपने चिन्मय ज्ञान की ज्वाला में जलाकर भस्म कर दो। ५१

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥५२॥

यविष्ठ	हे तरुणतम अग्नि!	पाहि	तुम रक्षा करो
त्वं	तुम	उत	और
गिरः शृणुधी	हमारी स्तुतियों को सुनो।	आत्मना	उसकी
		तोकं	सन्तति की
दाशुषः नॄः	हविदाता यज्ञकर्ता मानव की	रक्ष	रक्षा करो॥ ५२॥

हे यविष्ठ[3]! हे अग्नि तरुणतम, श्रवण करो, कर रहे स्तवन[4] हम।
हविदाता याजक के जन हम, रक्षा करो हमारी प्रभु! तुम।
निज यजमानों की संतति[5] यह, रक्षणीय है तुमसे अहरह॥ ५२॥

---

१ जंगली; २ आठ पैरों वाला एक भयानक जंगली जीव जो सिंह को मार देता है; ३ सबसे जवान; ४ स्तुति; ५ संतान।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५१॥

अजः हि	अजन्मा जीव भी	रोहं आयन्	उत्तम पद प्राप्त करते हैं।
अग्नेः	अग्निरूप परमेश्वर के	ते आरण्यं	तुमको मैं जंगली
शोकात्	तेज से	शरभं	शरभ पशु को
अजनिष्ट	ज्ञानवान हो जाता है।	अनु दिशामि	दिखाता हूँ।
सः	वह	तेन	उनके समान
अग्रे	अपने से पूर्ववर्ती विद्यमान	चिन्वानः	अपने रक्षा-साधनों का संग्रह करते हुए
जनितारं	जगत् को जन्म देने-वाले परमेश्वर का	तन्वः निषीद	अपने शरीर की तुम स्थिर होकर रक्षा करो।
अपश्यत्	वह साक्षात्कार करता है।	ते शुक्	तुम्हारा क्रोध
तेन	उसी के द्वारा	शरभं	शरभ पशु को
देवाः	देवगण	ऋच्छतु	प्राप्त हो।
अग्रं देवतां	सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म परमेश्वर को	यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं,
आयन्	प्राप्त होते हैं।	तं	उसको
तेन मेध्यासः	उसी बल से विद्वज्जन	ते शुक् ऋच्छतु	तुम्हारा क्रोध प्राप्त हो ॥५१॥

इन अग्निरूप परमेश्वर के तेज से अमित।
यह जीव अजन्मा करता शक्ति-ज्ञान संचित ॥
तब जगदुत्पादक ईश सनातन विद्यमान।
करते उसको अपने स्वरूप की सिद्धि दान ॥
विद्वज्जन आत्मस्वरूप-ज्ञान से हों ऊर्जित।
पा लेते परमदेवता[1] का दर्शन सुखकृत[2] ॥

१ परमेश्वर; २ सरलता से या सुख से निर्मित।

सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां सदने	द्युलोक में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां सधस्थे	अन्तरिक्ष में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां योनौ	समुद्र में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां पुरीषे	बालू में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां पाथसि	अन्नों में
सादयामि	स्थापित करता हूँ।
त्वा	तुमको (मैं)
गायत्रेण छन्दसा	गायत्री छन्द से
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
त्रैष्टुभेन छन्दसा	त्रिष्टुभ् छन्द के द्वारा
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
जागतेन छन्दसा	जगती छन्द से
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अनुष्टुभेन छन्दसा	अनुष्टुप् छन्द के द्वारा
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
पाङ्क्तेन छन्दसा	पंक्ति छन्द के द्वारा
सादयामि	स्थापित करता हूँ ॥ ५३ ॥

इष्टका अवस्था हो मानव! तुम सुविदित।
जल के स्थानों में करता तुम्हें प्रतिष्ठित।
गतिशील पवन में करता तुमको स्थापित।
ये प्राण तुम्हारे जिससे रहें सुरक्षित॥
आर्द्रतायुक्त[1] ओषधियाँ सकल जलोद्भव[2]।
उनमें तुमको करता हूँ स्थापित मानव!॥
यह 'अपां भस्म' के रूप अभ्र जो गर्जित।
मानव! करता मैं उसमें तुमको स्थापित॥
जल में जो विद्युत्-रूप ज्योति है निवसित[3]।
मैं उसमें तुमको करता हूँ संस्थापित॥
यह भूमि और अवकाशयुक्त जितने स्थल।
स्थापित सबमें करता तुमको प्रति पल॥
प्राण के स्थान में करता तुमको स्थापित।
गतिमय मन से करता हूँ तुमको योजित[4]॥

---

१ गीली,　२ जल से उत्पन्न;　३ निवास करती हुई;　४ संयुक्त।

टि०—यह सीधा प्रार्थनापरक मंत्र है। यज्ञवेदिका हवियाँ पाकर शक्ति और वर्चस्व से तरुण बने अग्नि से प्रार्थना से गई है कि यजमान के परिजनों और पुत्रों की वे रक्षा करें। ५२

अपां त्वेमन्त्सादयाम्य[१]पां त्वोद्मन्त्सादयाम्य[२]पां त्वा
भस्मन्त्सादयाम्य[३]पां त्वा ज्योतिषि सादयाम्य[४]पां त्वाऽयने साद-
याम्य[५]र्णवे त्वा सदने सादयामि[६] समुद्रे त्वा सदने सादयामि[७]
सरिरे त्वा सदने सादयाम्य[८]पां त्वा क्षये सादयाम्य[९]पां त्वा सधिषि
सादयाम्य[१०]पां त्वा सदने सादयाम्य[११]पां त्वा सधस्थे सादयाम्य[१२]पां
त्वा योनौ सादयाम्य[१३]पां त्वा पुरीषे सादयाम्य[१४]पां त्वा पाथसि
सादयामि[१५] गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि[१६] त्रैष्टुभेन त्वा
छन्दसा सादयामि[१७] जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्या[१८]नुष्टुभेन
त्वा छन्दसा सादयामि[१९] पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि[२०] ॥५३॥

त्वा	(हे अपस्या नामक इष्टके !) तुमको (मैं)
अपां एमन्	जलों के स्थान अर्थात् वायु में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां ओद्मन्	ओषधियों में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां भस्मन्	अभ्र में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां ज्योतिषि	विद्युज्ज्योति में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां अयने	भूमि में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अर्णवे सदने	प्राण के स्थान में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
समुद्रे सदने	मन के स्थान पर
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
सरिरे सदने	वाणी के स्थान में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां क्षये	चक्षु के निवास में
सादयामि	स्थापित करता हूँ;
त्वा	तुमको
अपां सधिषि	तुमको श्रोत्र में

अयं पुरो भुव॒स्तस्य॑ प्रा॒णो भौ॑वाय॒नो[2] व॑स॒न्तः प्रा॑णाय॒नो[3] गा॑य॒त्री वा॑स॒न्ती[4] गा॑य॒त्र्यै गा॑य॒त्रं[5] गा॑य॒त्रादु॑पा॒ꣳशु॒रु॑पा॒ꣳशो॑स्त्रि॒वृत्[6] त्रि॒वृतो॑ रथन्त॒रं[7] वसि॑ष्ठ ऋषिः[8] प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॑ प्रा॒णं गृ॑ह्णामि प्र॒जाभ्यः॑[10] ॥५४॥

अयं पुरः भुवः	यह अग्नि सबसे प्रथम होनेवाले सत्-रूप से विद्यमान था,
तस्य प्राणः	उसका ही यह सामर्थ्य प्राण है।
भौवायनः	उससे उत्पन्न होने के कारण इसका नाम "भौवायन" हुआ।
प्राणायनः वसन्तः	प्राण का पुत्र वसंत (ऋतु) है,
वासन्ती गायत्री	वसंत का धन गायत्री है,
गायत्र्यै गायत्रं	गायत्री से गायत्र साम उत्पन्न हुआ है।
गायत्रात् उपांशुः	गायत्र साम से उपांशु नामक प्राण उत्पन्न हुआ।
उपांशोः त्रिवृत्	उपांशु से त्रिवृत् नामक स्तोम उत्पन्न हुआ,
त्रिवृतः रथन्तरम्	त्रिवृत् स्तोम से रथन्तर नाम का साम उत्पन्न हुआ।
ऋषिः वसिष्ठः	उन सबसे बड़े ऋषि वसिष्ठ हुए,
प्रजापतिगृहीतया	(हे इष्टके !) प्रजापति के द्वारा ग्रहण की गई
त्वया	तुम्हारी सहायता से
प्रजाभ्यः	प्रजाओं के लिए
प्राणं गृह्णामि	नीरोग प्राण को (मैं) ग्रहण करता हूँ ॥५४॥

यह अग्नि हुआ उत्पन्न प्रथम, इसका स्वरूप है सत् उत्तम।
सामर्थ्य उसी का विदित प्राण, भौवायन[1] है इसलिए नाम।
है यह वसंत ऋतु प्राणायन, गायत्री है वसंत का धन।
उपजा उससे गायत्र साम, उससे उपांशु नाम का प्राण।
उपजा उपांशु से त्रिवृत् स्तोम, फिर बना रथन्तरपूर्ण व्योम।
उन सबके ऋषि वसिष्ठ वर्णित, मानव ! तुम स्वयं प्रजापतिकृत।
पाकर सहयोग तुम्हारा नित, कर प्रजाजनों का मन अधिकृत।
प्राणों को करके रोगहीन, करता मैं ग्रहण तुम्हें अदीन ॥ ५४ ॥

---

१ सत् रूप से अग्नि पहले से था, आगे उसकी शक्ति है। उस प्राण से उत्पन्न होनेवाला 'भौवायन' है।

वाणी का है जो स्थान महान् ज्योतिमत्[1]।
मैं युक्त तुम्हें उससे करता हूँ संतत ।।
चक्षु की ज्योति का हेतु प्रकाशक जो नित ।
उससे हे मानव ! करता तुमको योजित ।।
श्रोत्र के स्रोत से युक्त तुम्हें करता मैं ।
तुमको द्युलोक में भी स्थापित करता मैं ।।
करता हूँ अन्तरिक्ष में तुम्हें प्रतिष्ठित ।
तुमको समुद्र में करता हूँ मैं सुस्थित ।।
प्रति सैकत-कण[2] में करता तुम्हें अधिष्ठित ।
अन्नों में करता हूँ मैं तुमको स्थापित ।।
गायत्री की तप-सिद्धि तुम्हें है अर्पित ।
त्रिष्टुभ् की ऊर्जा से तुम संतत ऊर्जित ।।
जगती के बल में तुमको किया प्रतिष्ठित ।
हो छन्द अनुष्टुभ् से तुम सम्यक् योजित ।।
हो पंक्ति छन्द में तुम विधिवत् संस्थापित ।
शक्तियाँ भूतियाँ निखिल तुम्हें हैं अर्पित ।। ५३ ।।

टि०—यह यजुर्वेद का ऐसा रहस्यमय मंत्र है, जिसमें मनुष्य की अंतर्निहित शक्तियों का निर्देश किया गया है। आयाततः यह मंत्र 'अपास्य इष्टका' को संबोधित है। अपास्य इष्टका मानव का उपलक्षण या प्रतीक है। अतएव इस मंत्र में परमेश्वर की ओर से मानव से यह कहा जा रहा है कि तुमको देखने, सुनने, बोलने, चिन्तन करने और प्राण आदि की शक्तियाँ दी गयी है। तुमको पृथ्वी, समुद्र और अन्तरिक्ष का विस्तृत साम्राज्य प्रदान किया गया है। तुम इनके मध्य में अपना विस्तार करो, विकास करो। सब प्राणियों को और अपने आपको सुखी बनाओ। तुमको गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुभ्, जगती आदि की साधना द्वारा अनंत आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया गया है। हे मानव ! हीनता छोड़ो, अपने स्वरूप को पहचानो। जिन विभूतियों से तुम्हारे आंतर और बाह्य व्यक्तित्व का गठन हुआ है, उनको पहचानकर मानव को महान से महान बनना चाहिए। इस मंत्र के भावार्थ में महर्षि दयानंद ने लिखा है, विद्वानों को चाहिए कि सब मनुष्यों और सब स्त्रियों को वेद पढ़ायें और जगत् को वायु आदि पदार्थों की विद्या में निपुण करें। ५३

---

१ प्रकाशमान; २ बालू के कण।

पंचदश स्तोम से बृहत् साम. ऋषि भरद्वाज हैं पूर्णकाम।
ये द्रष्टा हैं ऋषि भरद्वाज, इष्टके! तुम्हारा यह समाज।
तुम हुए प्रजापति से स्वीकृत, पाई सहायता तुमसे नित।
मन करता ग्रहण तुम्हारा मैं, मानव! हूँ सदा तुम्हारा मैं ॥ ५५ ॥

टि०—इस मंत्र में संपूर्ण सृष्टि के उपादानों के विज्ञान का अनुशीलन करने का आदेश दिया गया है। मन और प्राण का नियमन करते हुए आन्तर् जीवन को शुद्ध बनाकर सृष्टि में व्याप्त छंद-गीत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ५५

अयं पश्चाद्विश्वव्यचा[1] स्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं[2] वर्षाश्चाक्षुष्यो[3] जगती वार्षी[4] जगत्या ऋक्समं[5] मृक्समाच्छुक्रः[6] शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं[8] जमदग्निर्ऋषिः[9] प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः[10] ॥५६॥

विश्वव्यचाः	विश्वव्यचा नामक
अयं	यह इष्टका
पश्चात्	पश्चिम दिशा में (स्थित) है।
चक्षुः	नेत्र
तस्य वैश्वव्यचसम्	उस विश्वव्यचा सूर्य की संतति है।
वर्षाः चाक्षुष्यः	वर्षाऋतु चक्षु से प्रकट है।
जगती वार्षी	जगती छन्द वर्षा ऋतु से प्रकट है।
जगत्यं ऋक्साम	जगती छन्द से ऋक्साम उत्पन्न है।
ऋक्सामात् शुक्रः	ऋक्साम से शुक्र प्रकट हुआ है।
शुक्रात् सप्तदशः	शुक्र से सप्तदश (प्रकार का) स्तोम प्रकट हुआ है।
सप्तदशात् वैरूपम्	सप्तदश (प्रकार के) स्तोम से वैरूप हुआ है।
जमदग्निः ऋषिः	जमदग्नि इसके ऋषि हैं।
प्रजापति-गृहीतया	प्रजापति द्वारा ग्रहण की हुई
त्वया	तुम्हारी सहायता से
प्रजाभ्यः	प्रजाओं के लिए
चक्षुः गृह्णामि	चक्षु (मैं) ग्रहण करता हूँ ॥ ५६ ॥

यह विश्वव्यचा[1] नाम से प्रथित, आदित्य इष्टका है सुविदित।
पश्चिम को करता सदा गमन, करता है सबका उद्भासन।

१ सब संसार को चारो ओर के प्रकाश से व्यापक होकर प्रकट करनेवाली।

टि०—सृष्टि-रचना की आभ्यंतर प्रक्रिया का सूचक यह बड़ा ही रहस्यमय मंत्र-समूह है। यह अग्नि सत् रूप से पहले से विद्यमान था, इसलिए इसका नाम 'भौवायन' हुआ। प्राण का पुत्र वसंत है। इसलिए गायत्री वसंत की प्राणरक्षिका है। गायत्री से गायत्र-साम उत्पन्न हुआ। ५४

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा[१] तस्य मनो वैश्वकर्मणं[२] ग्रीष्मो मानसस्[३] त्रिष्टुब्ग्रैष्मी[४] त्रिष्टुभः स्वारं[५] स्वारादन्तर्यामो[६]ऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाज ऋषिः[९] प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः[१०] ॥५५॥

विश्वकर्मा	विश्वकर्मा नामक	**अन्तर्यामात्**	अंतर्याम से
अयं	यह इष्टका	**पञ्चदशः**	पञ्चदश (प्रकार का) स्तोम प्रकट हुआ,
दक्षिणा	दक्षिण दिशा में वहन करती है।	**पञ्चदशात् बृहत्**	पञ्चदश (प्रकार के) स्तोम से बृहत्साम प्रकट हुआ।
मनः	मन	**भरद्वाजः ऋषिः**	भरद्वाज उसके द्रष्टा ऋषि हैं।
तस्य	उस	**प्रजापति गृहीतया**	(हे इष्टके! मैं) प्रजापति के द्वारा ग्रहण की हुई
वैश्वकर्मणं	विश्वकर्मा का अपत्य है।	**त्वया**	तुम्हारी सहायता से
ग्रीष्मः मानसः	ग्रीष्म ऋतु मन का अपत्य है।	**प्रजाभ्यः**	प्रजाओं का
त्रिष्टुप् ग्रैष्मी	त्रिष्टुप् छंद ग्रीष्म से प्रकट है।	**मनः गृह्णामि**	मैं मन ग्रहण करता हूँ॥ ५५॥
त्रिष्टुभः स्वारं	त्रिष्टुप् छन्द से स्वार नाम का साम प्रकट हुआ।		
स्वारात् अन्तर्यामः	स्वारसाम से अन्तर्याम ग्रह प्रकट हुआ।		

दक्षिणा विश्वकर्मा है यह, है वायु सभी का सर्जक यह।
मन इसका ही अपत्य[१] विश्रुत, मन की संतति है ग्रैष्मी ऋतु।
ग्रीष्म से प्रकट त्रिष्टुप् महान्, त्रिष्टुप् से उपजा स्वारसाम।
फिर उससे अंतर्याम प्रकट, पंचदश स्तोम उससे उत्कट।

---

१ संतान।

उत्तर दिशि में है स्वर्गलोक यह संस्थित।
है श्रोत्र प्रजापति के सुख का साधन नित॥
ऋतु शरद हुई है प्रकट श्रोत्र के द्वारा।
है वही शरद से छन्द अनुष्टुभ्-धारा॥
यह एड़साम है छंद अनुष्टुप्-विरचित।
है एड़साम से ही मंथीग्रह[1] सर्जित॥
मंथी से प्रकटे स्तोम एकविंशात्मक।
वैराज साम उत्पन्न उसी से सम्यक्॥
है विश्वामित्र उसी के द्रष्टा ऋषिवर।
विश्व में सभी के हैं जो मित्र महत्तर॥
मानव! है सृष्टि प्रजापति की यह निरुपम।
है मिला श्रोत्र का दान तुम्हें परमोत्तम॥
स्वीकार तुम्हारे हेतु किया मैंने यह।
हो हेतु तुम्हारे यह वरदान सुखावह॥ ५७॥

टि०—इस मन्त्र में प्रतीकों के द्वारा यह बताया गया है कि विराट् परमेश्वर ने जब श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण की तो सृष्टि में प्रजाजनों में सुनने की शक्ति प्रकट हुई। श्रोत्रेन्द्रिय का सुप्रयोग सदुपदेश सुनने में है। ५७

इयमुपरि मति[1]स्तस्यै वाङ्मात्या[2] हेमन्तो वाच्यः[3] पङ्क्तिर्हैमन्ती[4] पङ्क्त्यै निधनवन्[5]निधनवत आग्रयण[6] आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ[7] त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याᳪं शाक्वररैवते[8] विश्वकर्म ऋषिः[9] प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यो लोकं ता इन्द्रम्[10] ॥५८॥

[अध्यायः १३, कण्डिका: ५८ मन्त्र-संख्या १३२]

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

उपरि	सबके ऊपर विराजमान	इयं मतिः	यह मति है।
		तस्यै मत्या	उसी मति से

१ पदार्थों के मंथन और ग्रहण का साधन।

यह नेत्र उसी रवि का अपत्य, वर्षाऋतु चक्षुप्रभव[1] नित्य।
वर्षा से जगती छन्द प्रकट, फिर जगती से ऋक्-साम प्रकट।
ऋक्-सामजनित है शुक्रग्रह, शुक्र से सतदशस्तोम-प्रवह।
उससे प्रकटा वैरूप बृहत्, जमदग्नि उसी के द्रष्टा ऋषि।
इष्टके! प्रजापति से गृहीत, तुम सृष्टि-प्रक्रिया हेतु नीत[2]।
मानव! इसलिए तुम्हारे हित, स्वीकार चक्षु करता हूँ नित॥ ५६॥

टि०—इस मंत्र में अनेक रूपों के हेतु जगत् के विज्ञान को प्रतीकों के माध्यम से बतलाया गया है। इस मंत्र में प्रयुक्त चक्षु शब्द ज्ञान-नयन का प्रतीक है। इसी के द्वारा समस्त संसार में व्यापक 'विश्वव्यचा' नामक सूर्यतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ५६

इदमुत्तरात् स्वः स्तस्य श्रोत्रं सौवं शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविंशः एकविंशाद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

उत्तरात्	उत्तर दिशा में
इदं	यह
स्वः	स्वर्ग है।
श्रोत्रं	कान
तस्य सौवं	उसका सुख का साधन है।
शरत् श्रौत्री	शरदऋतु श्रोत्र से उत्पन्न हुआ है।
अनुष्टुप् शारदी	अनुष्टुप् शरदऋतु से प्रकट हुआ है।
अनुष्टुभः ऐडम्	अनुष्टुप् छन्द से एडसाम प्रकट हुआ,
ऐडात् मन्थी	एडसाम से मन्थी ग्रह प्रकट हुआ,
मन्थिनः एकविंशः	मन्थी ग्रह से एकविंश (प्रकार का) साम प्रकट हुआ।
एकविंशात्	एकविंश (प्रकार के) स्तोम से
वैराजम्	वैराज साम प्रकट हुआ।
विश्वामित्रः	विश्वामित्र उसके द्रष्टा
ऋषिः	ऋषि है।
प्रजापति-गृहीतया	प्रजापति के द्वारा ग्रहण किये गये
त्वया	तुम्हारी सहायता से
प्रजाभ्यः	प्रजाओं के लिए
श्रोत्रं गृह्णामि	श्रोत्र स्वीकार करता हूँ॥ ५७॥

१ नेत्र से उत्पन्न; २ लाई गई।

वाणी का है वरदान प्रदान किया यह।
मानवो! बनाओ पूर्ण जगत् को अहरह॥
आह्वान इन्द्र का करो सदा हे मानव!।
पूर्णता लोक को प्राप्त कराओ नित नव॥ ५८॥

टि०—इस मन्त्र में वाणी के उद्भव के तत्त्व का निरूपण किया गया है। सामवेद में वाणी का महत्त्व सर्वाधिक है। सब सत्कर्मों को करनेवाला विश्वकर्मा ऋषि वाणी के आदर्श प्रयोग का प्रेरक है। 'मति' और 'वाणी' के घनिष्ठ सम्बन्ध का इस मन्त्र में निर्देश है। इन मन्त्रों में ऋतुओं और छंदों के आन्तर सम्बन्ध का भी संकेत है। ५८

॥ त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥

वाक्	वाक् का उद्भव हुआ।
हेमन्तः वाच्या	हेमन्त ऋतु वाणी से प्रकट हुई।
पंक्तिः हैमन्ती	पंक्ति छन्द हेमन्त ऋतु से प्रकट हुआ है।
निधनवत् पंक्त्यै	निधनवत् साम पंक्ति छन्द से प्रकट हुआ है।
निधनवतः	निधनवत् साम से
आग्रयणः	आग्रयण ग्रह प्रकट हुआ है।
आग्रयणात्	आग्रयण ग्रह से
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	त्रिणव और त्रयस्त्रिंश नामक दो साम प्रकट हुए।
त्रिणवः	त्रिणव और
त्रयस्त्रिंशाभ्याम्	त्रयस्त्रिंश नामक स्तोमों से
शाक्वररैवते	शाक्वर और रैवत प्रकट हुए।
विश्वकर्मा ऋषिः	विश्वकर्मा इसके द्रष्टा ऋषि हैं।
प्रजापति-गृहीतया	(हे इष्टके !) प्रजापति के द्वारा ग्रहण की गई
त्वया	तुझ इष्टिका की सहायता से
प्रजाभ्यः	प्रजाओं के निमित्त (नीरोगता के लिए)
वाचं गृह्णामि	मै वाणी को ग्रहण करता हूं।
लोकम्	लोक को (पूर्ण करो)।
ताः इन्द्रम्	वे सब प्रजाजन इन्द्र का आवाहन करते हैं ॥ ५८ ॥

मानव ! सबके ऊपर संस्थित है मति यह।
उससे उत्पन्न हुई वाणी ज्योतिर्वह[1]।
वाणी से ऋतु हेमन्त हुई उद्भूता।
है पंक्ति छंद यह ऋतु हेमन्त-प्रसूता॥
है पंक्ति छंद से साम निधनवत् विरचित।
आग्रयण[2] निधनवत् साम से हुआ निःसृत॥
आग्रयणग्रह से स्तोम हुए दो स्फूर्जित।
जो त्रयस्त्रिंश औ, त्रिणव नाम से सुप्रथित॥
शाक्वर-रैवत दो पृष्ठ उन्हीं से निकले।
ऋषिराज विश्वकर्मा हैं द्रष्टा पहले॥
इष्टके ! प्रजापति ने तुमको अपनाया।
नीरोग प्रजा हो अपना ध्येय बनाया॥

---

१ प्रकाश को वहन करनेवाली; २ एक साम का नाम।

उच्चता आदि उत्तम गुणों को धारण करती है। देवताओं के अध्वर्यु और चिकित्सक दोनों अश्विनीकुमार तुमको स्थिर करें अर्थात् अमरत्व प्रदान करें। वे तुम्हें पहले ब्रह्मचर्याश्रम और फिर गृहस्थाश्रम में अच्छी तरह प्रतिष्ठित करें। १

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि
सौभगायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ २ ॥

कुलायिनी	तुम्हारा अपना घर है।	रुद्राः वसवः	रुद्रगण और वसुगण
घृतवती	तुम्हारे घर में घी-दूध देनेवाली गायें हैं।	त्वा	तुम्हारी
पुरन्धिः	तुम पुर को धारण करनेवाली हो।	अभि गृणन्तु	स्तुति करें।
पृथिव्याः	पृथ्वी के	इमाः ब्रह्म	इन मंत्रों की तुम
स्योने	सुखदायक	सौभगाय	सौभाग्य-वृद्धि के लिए
सदने	स्थान में (तुम)	पीपिहि	रक्षा करो।
सीद	रहो।	अश्विनौ अध्वर्यू	दोनो अश्विनीकुमार अध्वर्यु के रूप में
		इह त्वा	यहाँ तुमको
		सादयताम्	स्थापित करें ।।२।।

तुम रहो सदा बन निज घर की अधिकारी।
घृतवती रहो पतिपुत्रवती हे नारी! ॥
पृथ्वी के जो सुखदायक स्थान श्रेष्ठतम।
हो उनमें ही आवास तुम्हारा उत्तम ॥
रुद्रगण और वसुगण से रहो प्रशंसित।
आशीष प्राप्त हो उनका तुमको नव नित ॥
इन श्रुति-मन्त्रों[१] का करो सदा संरक्षण।
होता इनसे नित तव सौभाग्य-विवर्धन[२] ॥
अश्विनीकुमार युगल अध्वर्यु[३] तुम्हारे।
सुस्थापित तुमको करें, हरें दुख सारे ॥

---

१ वेद के मन्त्र; २ अहिवात और ऐश्वर्य की वृद्धि; ३ ऐसे पुरोहित जो अहिंसा से सब यज्ञकर्म करते है।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवाऽसि ध्रुवं योनिमा सीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाऽश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥

ध्रुवक्षितिः	(तुम) स्थिर निवास वाली,	ध्रुवं	स्थिर
ध्रुवयोनिः	स्थिर कारण वाली,	साधुया	उत्तम
ध्रुवा असि	स्थिर स्वरूप वाली हो,	योनिं	स्थान को (तुम)
उख्यस्य	अग्नि के	आ सीद	प्राप्त करो।
प्रथमं केतुं	प्रथम पताका के रूप को	(देवानां)	देवताओं के
जुषाणा	धारण करती हुई	अध्वर्यू अश्विनौ	अध्वर्यु दोनों अश्विनीकुमार
ध्रुवा असि	दृढ़ हो।	इह	यहाँ
		त्वा सादयताम्	तुमको अच्छी प्रकार स्थिर करें ॥ १ ॥

चतुर्दश अध्याय

इष्टके! सदा सुस्थिर निवास वाली हो।
अविनश्वरजन्मा[1] ध्रुव स्वरूप वाली हो ॥
तुम प्रथम पताकारूप अग्नि की दृढ़तम।
चितिरूप आदि में सेवमान परमोत्तम ॥
अधिगत[2] नित तुमको रहे परम पद उच्छ्रित[3]।
अध्वर्यु[4] सुरों के अश्विनीदेवद्वय सुविदित ॥
वे युगल कुमार करें ध्रुव, ध्रुवतर, ध्रुवतम।
तुम हो समाज की केन्द्र पुण्यतम शुचितम ॥ १ ॥

टिप्पणी—यह मंत्र इष्टका को संबोधित है। पहले के कुछ मंत्रों में इष्टका या ईंट का ऋतु या मानव के प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है। यहाँ इस प्रतीक का प्रयोग नारी या मानवी के लिए हुआ है। वैदिक वाङ्मय में नारी को जो असाधारण गौरव मिलता रहा है, यह उसका प्रमाण है। नारी का आविर्भाव परमेश्वर अग्नि के आदि चिन्मय स्पंदन से उसकी पताका के रूप में हुआ है। वह अग्नि की तेजस्विता, पवित्रता,

---

१ जिसके जन्म का हेतु अविनश्वर है; २ अधिकार में, ३ ऊँचा; ४ ऋत्विक् या पुरोहित।

हे विदुषि! रहो गृहधर्म में सतत संस्थित।
वैसे राजा सैनिकगण सेवक-सेवित॥
जैसे राजा रमणीय सकल सुख पाते।
देवों को है अभिमत[1] हवि प्राप्त कराते॥
वैसा ही हो चितिमय गार्हस्थ्य तुम्हारा।
सौभाग्य और सुखमय हो जीवन सारा॥
ज्यों पिता पुत्र के पालन में रहता रत।
वैसे ही पालन करो आश्रितों का नित॥
श्रुतिविहित[2] सदा गार्हस्थ्य-धर्म यह चिन्मय[3]।
सब श्रेय-प्रेय[4] हैं सुलभ इसी से अक्षय॥
अश्विनीकुमार बनें अध्वर्यु तुम्हारे।
ऋतुकर्मों में व्रत रहो अहिंसक धारे॥ ३॥

टि०—इस मंत्र में गार्हस्थ्य-धर्म को चिन्मय धर्म कहा गया है। नारी इस गार्हस्थ्य के केन्द्र में है। गृहस्थ-धर्म का पालन करनेवाली नारी को विदुषी होना चाहिए। राजा जैसे अपने सैनिकों और भृत्यों पर शासन करता है, वैसे ही विदुषी नारी अपने परिवार पर अनुशासन करती है। पिता जैसे पुत्रों को पालता है, वैसे ही नारी अपने परिवार को पालती है। गार्हस्थ्य को चिन्मय धर्म कहकर नारी के गौरव को प्रमुखता प्रदान की गई है। वर्णाश्रम-धर्म रूपी कल्पवृक्ष का मूल नारी के सतीत्व को ही कहा गया है— 'सतीत्व मूलं तत्।' ३

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां
त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे
द्रविणा ऽऽयजस्वाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ ४॥

पृथिव्याः पुरीषं	(तुम) पृथ्वी की रक्षा करनेवाली (और)	तां त्वा	उस तुम्हारी
अप्सो नाम असि	जल से निर्मित हो (तथा अप्सस् नाम वाली हो)।	विश्वेदेवाः	सब देवता
		अभि गृणन्तु	सब ओर से स्तुति करें।
		स्तोमपृष्ठा	स्तुतियों को जानने की इच्छा वाली (और)

१ इच्छित; २ वेद द्वारा स्वीकृत; ३ दिव्य; ४ निःश्रेयस् और अभ्युदय।

निर्विघ्न करावें यज्ञकार्य संपादित ।
तुम रहो सतत अक्षय सौभाग्य-विमंडित ॥ २ ॥

टि०—यह मंत्र नारी के प्रति संबोधन के रूप में है । नारी का अपना घर होना चाहिए, जिसमें वह सुख से रह सके । इसके अतिरिक्त उसे घृतवती होना चाहिए । घृतवती वही हो सकती है, जिसके घर में दूध देनेवाली गायें हों और इतना घी का संग्रह हो कि परिवार वालों और अतिथियों को वह जी भरकर खिलाया जा सके । नारी पतिवती और पुत्रवती रहे, यह उसके जीवन की सार्थकता है । देवगण सदैव उसके गार्हस्थ्य-धर्म के परिपालन से प्रसन्न हों । नारी को विदुषी भी होना चाहिए, जिससे वह वेदमंत्रों का अर्थ ग्रहण कर सके और अपने परिवार के कल्याण के लिए उनका सम्यक् विनियोग कर सके । गृहस्वामिनी होने के नाते नारी का यह धर्म है कि वह अश्विनीकुमारों जैसे आयुर्वेद के ज्ञाता और यज्ञकर्मों के प्रयोक्ता को अपना पुरोहित बनावे । २

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानांꣳ सुम्ने बृहते रणाय ।
पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा सं
विशस्वाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

स्वैः	अपने	सूनवे पिता इव	जैसे पिता पुत्र के लिए सुख देते हुए रहता है,
दक्षैः देवानां	कुशल बलों और दिव्य शक्तिवालों के साथ	सुशेवा	वैसे ही तुम सुखकारिणी
बृहते	बड़े	स्वावेशा	सुख (कारी) प्रवेशवाले
रणाय सुम्ने	रमणीय सुखों के लिए (जैसे)	तन्वा	शरीर के साथ
दक्षपिता	चतुर सैनिकों का पालन करनेवाला होकर (राजा वृद्धि प्राप्त करता है),	सं विशस्व	यहाँ निवास करो।
		अध्वर्यू	अध्वर्यु (वे होते हैं जो अहिंसा-विधि से यज्ञ-कार्य का संपादन करते हैं)
इह एधि	वैसे तुम भी इस चिति के स्थान में वृद्धि प्राप्त करती रहो,	अश्विनौ	दोनो अश्विनीकुमार
		इह त्वा	इस स्थान में तुमको
सुम्ने आ सीद	सुख में स्थिर होकर विराजमान हो जाओ।	सादयताम्	स्थापित करें ॥ ३ ॥

अपां द्रप्सः	(तुम) जलों का रसरूप	अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु अश्विनी-कुमार
ऊर्मिः असि	तरंग-रूप हो।	त्वा	तुमको
विश्वकर्मा ते ऋषिः	विश्वकर्मा तुम्हारा द्रष्टा ऋषि है।	इह सादयताम्	इस स्थान में स्थापित करें॥ ५॥

हे अन्तरिक्ष को धारण करनेवाली।
पूर्वादि दिशाओं को स्थिर रखनेवाली॥
आधार-इष्टका निखिल भुवन-भवनों की।
स्वामिनी सभी के प्राणों की जीवन की॥
तुमको स्थापित करता मैं धरती पर।
ऋत की प्रतिकृति[1] रच नारीरूप मनोहर॥
द्रप्स[2] के जलों की तुम रससत्ता चिन्मय।
आनन्द-तरंगों[3] में तुम नव-नव गतिमय॥
ऋषि स्वयं विश्वकर्मा हैं देवि! तुम्हारे।
अध्वर्यु अश्विनीद्वय हैं वरद तुम्हारे॥
वे वहन करें नित योगक्षेम तुम्हारा।
हो प्रवहमान गार्हस्थ्य-धर्म की धारा॥ ५॥

टि०—इस मंत्र में यह कहा गया है कि ऋत ही विश्व-समष्टि की आधार इष्टिका है। स्वयं विश्वकर्मा परमेश्वर ने नारी को धरती पर ऋत की प्रतिकृति के रूप में स्थापित किया है। यह नारी धरती पर गृहस्थ-धर्म में दीक्षित होकर जीवन-मूल्यों का प्रकाश फैलाती है। वही जीवन को रसमय और आनंदमय बनाती है। स्वयं विश्वकर्मा उसके द्रष्टा है और अश्विनीकुमार उसे स्वस्थ और सुखी बनाते हैं। ५

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि
कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः
कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे।
ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा
अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६॥

---

१ प्रतिमूर्ति; २ जीवन का आंतर चिन्मय रसतत्त्व; ३ अनेक प्रकार के आनन्दमय क्रिया-कलाप करनेवाली और जीवन को आनन्दमय बनानेवाली।

घृतवती	घृत से युक्त (तुम)	**अध्वर्यू अश्विना**	अध्वर्यु दोनों अश्विनी कुमार
इह सीद	इस स्थान में रहो।		
प्रजावत् द्रविणा	पुत्र-पौत्रादि रूप धन	**इह**	यहाँ
अस्मे आ यजस्व	हमारे लिए सब ओर से प्रदान करो।	**त्वा सादयताम्**	तुमको स्थापित करें ॥ ४ ॥

जल से निर्मित पृथ्वी की हो रक्षिका प्रथित।
सब ओर करें सब देव तुम्हारी स्तुतियाँ नित॥
स्तोमों[1] के ज्ञान की सतत इच्छावाली।
घृत-पयपूरित घर की हो तुम रहनेवाली॥
गार्हस्थ्य-भवन की दृढ़ आधार-इष्टिका[2] तुम।
तुमसे युग-युग तक संतति वर्द्धित पावें हम॥
निर्बाध कर सकें पुत्र-पौत्र का संवर्धन।
उसके हित संतत सुलभ बनाओ हमको धन॥
अश्विनीकुमार पुरोहित बन हों हितकर नित।
हे विदुषि[3]! रहो गार्हस्थ्य-धर्म में तुम संस्थित॥ ४॥

टि०—विदुषी स्त्री गृहस्थाश्रम के भवन की नींव का पत्थर है। इसलिए वह इष्टिका कही गई है। जो स्त्री गृहस्थाश्रम की विद्या में विदुषी और क्रियाकुशल हो, उसके द्वारा सब प्राणियों का पालन-पोषण करनेवाला गृहस्थाश्रम सफल हो सकता है। जिन घरों में ऐसी स्त्री रहती है, वे दूध, दही, घी से परिपूर्ण रहते हैं और उनकी संतान-परंपरा अबाध रूप से युगों तक चलती है। ४

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य
धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्।
ऊर्मिर्द्रप्सो अपामसि विश्वकर्मा त
ऋषिरश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षस्य धर्त्री	(हे इष्टके!) अन्तरिक्ष लोक को धारण करनेवाली,	**भुवनानां**	सब प्राणियों की
		अधिपत्नीं	स्वामिनी
		त्वा	तुमको
दिशां विष्टम्भनीं	दिशाओं को स्थिर करनेवाली और	**अदित्याः पृष्ठे**	पृथ्वी के ऊपर (मैं)
		सादयामि	स्थापित करता हूँ।

---

१ स्तुतियुक्त वेदमन्त्र; २ ईंट; ३ विद्या से युक्त स्त्री, पंडिता।

टि०—पूर्ववर्ती कुछ मंत्रों में वसंत ऋतु के संदर्भ हैं। इस मंत्र में ग्रीष्मऋतु का तात्त्विक स्वरूप बताया गया है और मनुष्य से कहा गया है कि वह प्रकृति मे व्याप्त, देह में स्थित मानस-अग्नि का ज्ञान प्राप्त करें और उसका प्रवर्तन कर लोक को सुखी बनावें। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य स्थैर्य प्राप्त करना है। अग्नि का और ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त कर स्थैर्य प्राप्त करने की योग-साधना की जा सकती है। इस मंत्र में अग्नि, जल और ओषधियों की सहायता से जीवन को श्रेष्ठता और स्थायित्व प्रदान करने के लिए विशेष बल दिया गया है। मंत्र के प्रथम भाग में ऋतुओं को संबोधित कर कहा गया है, वे मनुष्य का कल्याण करें, उसको श्रेष्ठ बनावें। ६

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[1] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[2] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[3] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[4] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[5] ॥ ७ ॥

ऋतुभिः सजूः	ऋतुओं के सहित,
विधाभिः सजूः	प्रीतिमान जलों के साथ,
वयोनाधैः सजूः	बाल्यादि अवस्था प्राप्त करनेवाले प्राणों के संग,
देवैः (सजूः)	इन्द्रादि देवों के सहित
त्वा	तुमको (मैं)
वैश्वानराय ...गे	सबके हितकारी अग्नि देवता की तृप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।
अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु दोनों अश्विनीकुमार
त्वा	तुमको
इह सादयताम्	यहाँ स्थापित करें।
ऋतुभिः सजूः	(हे इष्टके!) सब ऋतुओं के साथ प्रीतियुक्त,
विधाभिः सजूः	जलों के साथ प्रीतियुक्त,
वसुभिः सजूः	वसुओं के साथ प्रीतियुक्त (और)
वयोनाधैः	प्राणों के साथ प्रीतियुक्त,

१ प्रा०
आनन्दमय क्रिया·

शुक्रः च शुचिः च	ज्येष्ठ और आषाढ़
ग्रैष्मौ	ग्रीष्म ऋतु (के मास) हैं।
ऋतू	हे दोनों ऋतुओ (मासो)!
अग्नेः अन्तः	अग्नि के मध्य में
श्लेषः असि	दाहक शक्ति है,
मम ज्यैष्ठ्याय	मेरे उत्कर्ष के लिए
द्यावा-पृथिवी	द्युलोक और भूलोक
कल्पन्ताम्	सहायता करें।
अपः ओषधयः	जल और ओषधियाँ
कल्पन्ताम्	मेरी सहायता करें।
सव्रताः	समान कर्म-वाली
पृथक् अग्नयः	अनेक अग्नियाँ
कल्पेन्ताम्	मेरी श्रेष्ठता का संपादन करें।
इमे	ये
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वीलोक के
अन्तरा	मध्य में
समनसः	समान कर्म-वाली
ये अग्नयः	जो अग्नियाँ हैं,
ग्रैष्मौ ऋतू	वे ग्रीष्म ऋतु का
अभिकल्पमाना	निर्माण करती हुई
अभिसंविशन्तु	इस स्थान में स्थिर हों।
देवाः इन्द्रं इव	देवता जैसे इन्द्र को प्राप्त होते हैं,
तया देवतया	उसी प्रकार उस देवता के द्वारा स्थापित तुम
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ध्रुवे सीदतम्	दृढ़ होकर रहो।।६।।

ये शुक्र[1] और शुचि[2] ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास।
ग्रीष्मऋतु इन्हीं दोनों में करती है निवास।।
मासद्वय[3]-वाली ऋतु तुम ग्रीष्म प्रचंडकरा[4]।
है तुममें दाहक तेज अग्नि का विपुल भरा।।
मेरी सहायता हेतु करो प्रेरणा-दान।
द्यावापृथिवी अनुकूल रहें संतत समान।।
ये जल-ओषधियाँ रहें सतत साहाय्य-निरत।
सव्रता[5] अग्नियाँ रहें श्रैष्ठ्य[6]-संपादन-रत।।
द्यावापृथिवी के मध्य सदा जो विद्यमान।
सव्रता अग्नियाँ करें ग्रीष्मऋतु का विधान।।
वे रहें वहाँ स्थिर तुमको को दें दृढ़ता महान।
तुम बनो अंगिरा-से दृढ़ता के पूर्ण मान[7]।।
जिस भाँति देवगण करते हैं इन्द्र को प्राप्त।
मानव! उनसे तुम स्थैर्य करो उपलब्ध आप्त।। ६ ।।

---

१ ज्येष्ठ; २ आषाढ़; ३ ज्येष्ठ और आषाढ़-वाली ग्रीष्मऋतु; ` किरणोंवाली; ५ समान धर्मवाली; ६ श्रेष्ठता; ७ नाप।

इन्द्रादि देवगण से महान, तुम नित्य निरंतर प्रीतिमान।
सबके हितकारी वैश्वानर, ये अग्निदेवता हैं भास्वर।
इनको सुतृप्ति-संपादन हित, चुनता इष्टके! तुम्हें मैं नित।
अध्वर्यु कुमार अश्विनीद्वय, स्थापित करें तुम्हें चितिमय।
चिति की यह भूमि द्वितीय विदित, इसमें तुम रहो सतत संस्थित।
ऋतुओं से हो तुम प्रीतिमती, तुम सकल जलों से प्रीतिमती।
वसुओं से हो तुम प्रीतिमती, प्राणों से हो तुम प्रीतिमती।
देवों के प्रति नित भक्तियुक्त, तुमको करता स्वीकार सतत।
वैश्वानर अग्निदेव के हित, चिति की भू में दूसरा विदित।
अश्विनीकुमार करें स्थापित, भक्तों की रक्षा करते नित।
अध्वर्यु तुम्हारे वे महान, दें तुमको गौरव-ज्ञान-मान।
दक्षिण में ऋतुक्रम[1] सहित सकल, ले करके साथ सकल प्रिय जल।
प्रिय रुद्रगणों के साथ सतत, ग्यारह प्राणों से सेवित नित।
सब देवों की प्रीति के सहित, वैश्वानर अग्निदेव के हित।
स्वीकार तुम्हें करता हूँ मैं, पूजन सदैव करता हूँ मैं।
चिति की यह भूमि द्वितीय विदित, गार्हस्थ्य नाम से जो अभिहित[2]।
उसमें संस्थापित करें तुम्हें, ऋत्विक् अश्विनीकुमार प्रथित।
उत्तर दिशि में ऋतुओं को प्रिय, इष्टके! जलों की हो तुम प्रिय।
आदित्यगणों को हो तुम प्रिय, सब प्राणदेवताओं[3] को प्रिय।
वैश्वानर अग्निदेव के हित, मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ नित।
ऋत्विक् अश्विनीकुमार उभय, चिति-भूमि द्वितीया में गतभय।
दृढ़ता से करें तुम्हें स्थापित, गार्हस्थ्य-धर्म के पालन-हित।
ऋतुओं के क्रम से तुम सेवित, प्राणों की प्रियतर हो तुम नित।
सम्पूर्ण देवताओं की प्रिय, प्राण के देवगण की तुम प्रिय।
वैश्वानर अग्निदेव के हित, स्वीकार तुम्हें करता हूँ नित।
ऋत्विक् अश्विनीकुमार उभय, तुमको सुस्थापित करें अभय।
चिति-भूमि द्वितीया में जगभृत, गार्हस्थ्य-धर्म के पालन-हित॥ ७॥

टि०—पांच मंत्रों वाली इस कण्डिका में गृहस्थाश्रम को बड़े विराट् परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। यह संपूर्ण कण्डिका इष्टिका अर्थात् ईंट को संबोधित है। पहले की टिप्पणियों में यह बताया गया है कि इष्टिका एक प्रतीक है। जैसे कोई इमारत ईंटों से बनी है, वैसे ही इस विश्व-सृष्टि की विराट् रचना की आधार इष्टिकायें पुरुष

---

१ छः ऋतुओं का आवर्तन; २ कही जानेवाली; ३ प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा।

देवैः सजूः	देवताओं के साथ प्रीतियुक्त
त्वा	तुमको
वैश्वानराय	सबके हितकारी
अग्नये	अग्नि की तृप्ति के लिए मै ग्रहण करता हूँ।
अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु दोनों अश्विनीकुमार
त्वा	तुमको
इह सादयताम्	यहाँ स्थापित करें।
ऋतुभिः सजूः	ऋतुओं के साथ प्रीतियुक्त,
विधाभिः सजूः	प्रिय जलों के साथ,
रुद्रैः सजूः	प्रिय रुद्रगणों के साथ,
वयोनाधैः देवैः	प्रिय प्राणों के सहित देवताओं के
सजूः	सहित
त्वा	तुमको (मै)
वैश्वानराय	सबके हितकारी
अग्नये	अग्नि के लिए ग्रहण करता हूं।
अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु अश्विनी-कुमार
त्वा	तुमको
इह सादयताम्	यहाँ स्थापित करें।
ऋतुभिः सजूः	ऋतुओं के साथ प्रीतिमान,
विधाभिः सजूः	जलों से प्रिय
आदित्यैः सजूः	आदित्य देवता के साथ प्रीतियुक्त,
वयोनाधैः देवैः	प्राणों से संपूर्ण देवताओं के
सजूः	प्रिय
त्वा	तुमको (मैं)
वैश्वानराय	विश्व के हितकारी
अग्नये	अग्निदेव की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।
अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु अश्विनी-कुमार
त्वा	तुमको
इह सादयताम्	यहाँ स्थापित करें।
ऋतुभिः सजूः	ऋतुओं से सेवित,
विधाभिः सजूः	प्राणों से प्रिय,
विश्वैः	संपूर्ण,
देवैः सजूः	देवताओं से प्रिय
वयोनाधैः देवैः	प्राण देवताओं के
सजूः	साथ
त्वा	तुमको
वैश्वानराय	सबके हितकारी
अग्नये	अग्नि के लिए (मैं) ग्रहण करता हूँ।
अध्वर्यू अश्विना	अध्वर्यु दोनों अश्विनीकुमार
त्वा	तुमको
इह सादयताम्	इस दूसरी चिति में स्थापित करें ॥ ७॥

तुम हो ऋतुओं से प्रीतिमान, हो विविध जलों से प्रीतिमान।
वय की स्थितियाँ परिवर्तमान[1], बाल्यादिक से तुम प्रीतिमान।

---

१ बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि आयु की बदलती हुई अवस्थायें।

जलवृष्टि से करो धरती सिंचित परिप्लावित।
सब ओषधियाँ उससे परिपुष्ट रहें नव नित ॥
तुम करो द्विपद[1] मानव-शरीर की परिरक्षा।
सब चतुष्पदों[2] को दो प्रभु ! प्राणों की भिक्षा ॥
तुम दिव को करते रहो दयामय संप्रेरित।
हो यथाकाल यह सृष्टि वृष्टि से परिपूरित ॥ ८ ॥

टि०—इस मंत्र में यह निर्देश दिया गया है कि मनुष्य भगवान की कृपा प्राप्त करे और अपने प्राण, अपान, व्यान आदि वायुओं एवं नेत्र, कान आदि इन्द्रियों को स्वस्थ और शक्तिमान बनाये। वह भगवान से लोकमंगल के लिए प्रार्थना करे कि सब द्विपद और चतुष्पद प्राणी सुखी रहें। समय पर वृष्टि हो, जिससे अन्न और धन की निरंतर वृद्धि होती रहे। यज्ञकर्मों के अनुष्ठान से जन-जीवन सुखी हो। ८

मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः[1] क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो[2] विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो[3] विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो[4] बस्तो वयो विवलं छन्दो[5] वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः[6] पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो[7] व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः[8] सिंहो वयश्छदिश्छन्दः[9] पष्ठवाड्वयो बृहती छन्द[10] उक्षा वयः ककुप् छन्द[11] ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः[12] ॥ ९ ॥

प्रजापतिः	प्रजापति ने	वयः छन्दः	(अपनी) सामर्थ्य से धनसंचयिता वैश्य उत्पन्न किये।
छन्दः	स्वशक्ति से	परमेष्ठी	सबके स्वामी
वयः	क्षात्रबल की	विश्वकर्मा	विश्वकर्मा
मूर्धा	मुख्य स्थान पर स्थापना की।	वयः छन्दः	स्वशक्ति से संपन्न हुए।
क्षत्रं वयः	दुख से त्राण करने-वाली शक्ति (अर्थात्)	वस्तः	अजा को
मयन्दं छन्दः	क्षात्र-शक्ति सुखदाती हुई।	विवलं	विविध बल के हेतु
अधिपतिः	अधिक संरक्षण	छन्दः वयः	उत्पन्न किये छन्द से उत्पन्न किया है।
विष्टम्भः	करनेवाले प्रजापति ने		

१ दो पैरो वाले; २ चार पैरो वाले।

और स्त्री हैं। उनको परमात्मा ने गृहस्थाश्रम रूपी चिति की दूसरी भूमिका में स्थापित कर विश्व-मंगल का विधान किया है। समाज के योगक्षेम को वहन करनेवाला यह दूसरी चिति की भूमि गृहस्थाश्रम ही है। इस मंत्र का आशय यह है कि स्त्री और पुरुष चिति की प्रथमा भूमिका ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन कर विद्वान बनें, फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर शुभ गुणों को धारण कर यज्ञकर्मों का संपादन करते हुए अग्नि की तरह लोक-कल्याण में प्रवृत्त रहें। गृहस्थाश्रम भगवान् की लोकपालिनी वैष्णवी शक्ति का मांगलिक रूप है। उसके अधिदेवता अश्विनीकुमार हैं जो आरोग्य के देवता हैं, गृहस्थाश्रम के आरोग्य का अर्थ है समाज और विश्व की रोगहीनता। इन मंत्रों में गृहस्थाश्रम की महिमा का बड़ा उदात्त व्याख्यान है। ७

प्राणं मे पाह्य[१]—पानं मे पाहि[२] व्यानं मे पाहि[३]
चक्षुर्म उर्व्या वि भाहि[४] श्रोत्रं मे श्लोकय[५] ।
अपः पिन्वौ[६]—षधीर्जिन्व[७] द्विपादव[८]
चतुष्पात् पाहि[९] दिवो वृष्टिमेरय[१०] ॥ ८ ॥

मे	(तुम) मेरे
प्राणं पाहि	प्राणों की रक्षा करो,
मे अपानं पाहि	मेरे अपान की रक्षा करो,
मे व्यानं पाहि	मेरे व्यान वायु की रक्षा करो,
मे चक्षुः	मेरे नेत्रों को
उर्व्या विभाहि	विस्तीर्ण दृष्टि से युक्त करो,
मे श्रोत्रं श्लोकय	मेरे कानों को श्रवण-शक्ति में समर्थ करो।
अपः पिन्व	वृष्टि के जल से (तुम) सिंचित हो,
ओषधीः जिन्व	जिन्व-ओषधियों को (तुम) पुष्ट करो,
द्विपात् अव	दो पैरों वाले प्राणियों की रक्षा करो,
चतुष्पात् पाहि	चार पैरों वाले प्राणियों की रक्षा करो,
दिवः वृष्टि एरय	द्युलोक से वर्षा की प्रेरणा करो ॥ ८ ॥

रक्षा मेरे प्राण की करो परमेश्वर ! ।
रक्षा अपान की व्यान की करो जगदीश्वर ! ॥
मेरे नेत्रों को दो विस्तीर्ण[१]-दृष्टि हे प्रभु ! ।
परिपूर्ण श्रवण-शक्ति से कर्णद्वय कर दो विभु ॥

१ दूर तक पहुँचनेवाली ।

फिर दिया विशाल छंद द्वारा मेष को जन्म।
फिर तन्द्र छंद के द्वारा किया पुरुष-सर्जन ॥
फिर अनाधृष्ट से किया व्याघ्र का उत्पादन।
छवि छंद से हुई फिर सिंहों की समुत्पत्ति ॥
बृहती से रची भारवाही पशु की संसृति।
फिर ककुभ् छंद उक्षा जाति में हुआ परिणत ॥
बृहती छंद से हुए मल्लूक सकल निर्मित।
फिर हुई सतो बृहती से ऋषभ-योनि विरचित ॥
इस भांति सृष्टि का महाप्रवाह हुआ छंदित ॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में आनंदरूप ब्रह्म से सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार कवि की आनंदानुभूति अनेक रसमय छंदों में अभिव्यक्त होती है। उसी प्रकार आनंदस्वरूप ब्रह्म अपनी सिसृक्षा को अनेक प्रकार के छंदों में अभिव्यक्त करता है, ये आनंदस्वरूप ब्रह्म ही मानव, पशु आदि के विभिन्न सृष्टिरूपों में प्रकट होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी तत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है— 'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च।' अर्थात् सर्ग के आदि में परब्रह्म परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं नानारूप में उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊं। संकल्प करके यह जो देखने, सुनने और समझने में आता है, उस जड़-चेतनमय समस्त जगत् की रचना की। भगवान के आनंद का यह अव्याहत प्रवाह चौरासी लाख योनियों के छंदरूपों में प्रकट हुआ। उनमें से कुछ के नाम इस मंत्र में और अगले मंत्र में बताये गये हैं। ९

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो[1] धेनुर्वयो जगती छन्द[2]स्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो[3] दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः[4] पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्द[5]स्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्द[6]स्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दो[7] लोकं[8] तो इन्द्रम्[9] ॥ १० ॥

पंक्तिः छन्दः	पंक्ति छन्द के प्रभाव से	त्रिष्टुप् छन्दः	त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से
अनड्वान् वयः	प्रजापति ने बैल की रचना की।	त्र्यविः वयः	प्रजापति ने त्र्यवि जाति की सृष्टि की।
जगती छन्दः	जगती छन्द के प्रभाव से	विराट् छन्दः	विराट् छन्द के प्रभाव से
धेनुः वयः	प्रजापति ने गायों की रचना की।		

विशालं छन्दः	विशाल छन्द होकर	सिंहः वयः	सिंह को उत्पन्न किया।
वृष्णिः वयः	समर्थ मेष पशु को ग्रहण किया।	बृहती छन्दः	बृहती छन्द से
तन्द्रं छन्दः	पंक्ति छन्द के प्रभाव से	पष्ठवाट् वयः	बोझ ढोनेवाले पशु उत्पन्न किये।
पुरुषः वयः	(प्रजापति ने) पुरुष की रचना की।	ककुप् छन्दः	ककुप् छन्द से
अनाधृष्टं छन्दः	विराट् छन्द से	उक्षा वयः	उक्षा जाति उत्पन्न की।
व्याघ्रः वयः	(प्रजापति ने) व्याघ्र पशु को उत्पन्न किया।	सतो बृहती छन्दः	बृहती छन्द से भल्लूक और सतो बृहती छन्द के प्रभाव से
छदिः छन्दः	अतिजगती छन्द के आधार से	ऋषभः वयः	ऋषभ उत्पन्न किये ॥ ९ ॥

शत-शत छन्दों में हुई सिसृक्षा[1] प्रवहमान।
उच्छलित प्रजापति के उर में थे सृजन-गान[2] ॥
उनकी स्वशक्ति बन क्षात्रशक्ति दुःख-क्लेश-हरण।
क्षत-रक्षक[3] वही बन गई क्षत्रिय-वर्ण वरण[4] ॥
मूर्धा[5] पर उसको किया प्रतिष्ठित मुख्य मान।
सौंपा समाज की रक्षा का उसको विधान ॥
था वही प्रजापति द्वारा सृजित मयंद[6] छंद!।
रक्षा का कवच अमोघ[7] ओघ[8] सुख का अमंद[9] ! ॥
संरक्षक श्रेष्ठ प्रजापति ने ले वही शक्ति।
धन-संचयकारी वैश्यवर्ण सिरजा सयुक्ति ॥
फिर वयःछंद से हुए प्रजापति शक्तिमान।
सर्वदा प्रकाशित और सदा ही कान्तिमान ॥
व्याकुल द्वारा फिर हुए प्रजापति सृजन-निरत ॥
पशु-रूप धार कर छंद अनेक हुए निर्गत[10]।
उत्पन्न किये छंद से अजा को दिया जन्म ॥

---

१ सृष्टि रचने की इच्छा; २ रचना का संगीत; ३ आघातों से रक्षा करनेवाला; ४ श्रेष्ठ, मान्य; ५ शिर का ऊपरी भाग; ६ सुखदायक; ७ जो व्यर्थ न हो; ८ वहिया; ९ कभी क्षीण न होनेवाला; १० निकले।

इन्द्रा॑ग्नी अव्य॑थमाना॒मिष्ट॑कां दृꣳहतं यु॒वम् ।
पृ॒ष्ठेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं च॒ वि बा॑धसे ॥ ११ ॥

इन्द्राग्नी	हे इन्द्र और अग्नि देवताओ !	द्यावापृथिवी च	द्युलोक, पृथ्वी और
युवं	तुम दोनों	अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष का (एक-दूसरे से)
अव्यथमानां	कष्टरहित	वि बाधसे	विशेष सम्बन्ध स्थापित कर देने में समर्थ हो ॥ ११ ॥
इष्टकां	इष्टका को		
दृंहत	दृढ़ करो ।		
पृष्ठेन	अपने ऊपर के भाग से (तुम)		

हे इन्द्र-अग्नि ! मांगल्यविधायक[1] देव युगल ! ।
गार्हस्थ्य-धर्म को करो इष्टका सुदृढ़ सबल ॥
दंपति को दो तुम देव ! धर्म-धारणा अचल ।
द्यावा-पृथिवी से रहें स्नेह में बँधे अटल ॥
बल दो इनको ये करें धरा का वहन भार ।
सब जीवों का कल्याण करें ये बन उदार ॥
है अंतरिक्ष में जो प्राणी करते निवास ।
उनकी सेवा नित करें गृहीजन[2] सहोल्लास[3] ॥
दिव के अधिवासी ज्योतिर्मय देवगण महत् ।
हों तुष्ट-पुष्ट सब उनके, यज्ञों से संतत ॥
गार्हस्थ्य-धर्म में दीक्षित[4] जन सब पुण्यकृती ।
भू, नभ, दिव के मंगल के निश्चल बने व्रती ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में यह निर्देश किया गया है कि गृहस्थाश्रम सामाजिक जीवन की आधार-इष्टका है, नींव का पत्थर है । इन्द्र और अग्नि से प्रार्थना की गई है, वे पति-पत्नी को दृढ़ता से गार्हस्थ्य-धर्म के परिपालन के हेतु प्रेरणा और सामर्थ्य प्रदान करें । पति-पत्नी द्यावा-पृथिवी की तरह अविचल प्रेमपाश में आबद्ध रहें । वे तीनों लोकों के प्राणियों की सेवा निरंतर करें । बलिवैश्वदेव आदि यज्ञों के द्वारा वे छोटे-से-छोटे प्राणी और बड़े से बड़े देवता की तुष्टि-पुष्टि के लिए प्रयत्न करते रहें । वे तीनों लोकों को अपनी सहानुभूति और संवेदना के विस्तार में समेट लें । इन्द्र आत्मा हैं और अग्नि परमात्मा । दोनों के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन की दृढ़ आधार-भूमि का निर्माण किया जा सकता है । ११

---

१ कल्याण का विधान करनेवाले; २ गृहस्थ लोग; ३ प्रसन्नता से; ४ दीक्षा पाये हुए ।

दिव्यवाट् वयः	प्रजापति ने धान्य ढोनेवाली दिव्यवाट् जाति उत्पन्न की।
गायत्री छन्दः	गायत्री छन्द के प्रभाव से
पञ्चाविः वयः	प्रजापति ने पञ्चावि को उत्पन्न किया।
उष्णिक् छन्दः	उष्णिक् छन्द के प्रभाव से
त्रिवत्सः वयः	तीन वत्सरों वाले पशु को उत्पन्न किया।
अनुष्टुप् छन्दः	अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से
तुर्यवाट् वयः	तुर्यवाट् जाति की उत्पत्ति की।
लोकं	(तुम) लोक की रक्षा करो।
ताः इन्द्रं	वे सब इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥ १० ॥

तब देव प्रजापति ने सिरजा फिर पंक्ति छंद।
प्रकटी उससे वृषभों[1] की जाति श्रमी अमंद[2] ॥
जगती से फिर उपजायी धेनु[3] जाति विमला[4]।
मानो जग-मंगल-हित अवतरित हुई कमला[5] ॥
त्रिष्टुप् छंद से प्रजापति ने त्र्यवि जाति रची।
फिर दिव्यवाट्[6] विराट् छंद द्वारा विरची ॥
गायत्री छंद से गये पंचावि सकल सिरजे।
फिर उष्णिक् छंद से त्रिवत्स वयः उपजे ॥
फिर छंद अनुष्टुप् से उपजे सब तुर्यवाट्।
इस भाँति प्रजापति ने सिरजी संसृति विराट् ॥
सब वर्णों के मानव सब वर्गों के पशुगण।
करते रक्षा के हेतु इन्द्र का सदा स्तवन ॥ १० ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र में सृष्टि-रचना के जिस क्रम का वर्णन किया गया है, उसको इस मंत्र में पूर्ण किया गया है। बताया गया है, प्रजापति ने पंक्तिछंद द्वारा बैलों की रचना की। उन्होंने जगती छंद से गायों की जाति बनाई, मानो स्वयं लक्ष्मी धरती पर उतर आई। इसी क्रम में प्रजापति ने त्रिष्टुप् से त्र्यवि, विराट् से दिव्यवाट्, गायत्री से पंचावि, उष्णिक् से त्रिवत्स और अनुष्टुप् से तुर्यवाट् जाति की रचना की। ये सब इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करते रहते हैं। १०

---

१ बैल; २ बिना थके हुए श्रम करनेवाली; ३ गाय; ४ मलरहित पवित्र; ५ लक्ष्मी; ६ धान्य ढोनेवाले पशु।

संपूर्ण विश्व के प्राण, अपान, उदान, व्यान।
अनुशासित हों तुमसे सब प्राण सदा समान॥
आगमन-गमन के योग्य बनाओ अन्तरिक्ष।
दृढ़ करो उसे, हिंसित[1] न कभी हो व्योम-वृक्ष[2]॥
नित वायु तुम्हारे योगक्षेम का करें वहन।
शुभकारी उनका तेज विशेष करे रक्षण॥
तुम शास्त्रशुद्ध आचरणपरायण रहो सतत।
गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करो सदा दृढ़व्रत॥
उन देव प्रजापति से तुम रहो सदा उपकृत।
अंगिरा-सदृश ध्रुव धर्म करो निज पालन नित॥ १२॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों में इष्टका के प्रतीक द्वारा गृहस्थाश्रम की महिमा का वर्णन किया गया है। यह मंत्र भी उसी का पूरक है। गृहीजनों के द्वारा दसों दिशाओं में उनके धर्म-कर्म का विस्तार हो। इस क्रम में ऊर्ध्व दिशा में गृहस्थ-धर्म के मांगलिक विस्तार की कामना की गई है। कहा गया है, गार्हस्थ्य-धर्म की विश्वपालिनी कला का विस्तार अंतरिक्ष तक हो। वहाँ के सब प्राणी उसके द्वारा अनुशासित और रक्षित हों। वायु देवता अपनी विशेष शक्ति से गृहीजनों की रक्षा करें, क्योंकि वे प्राणिमात्र की सेवा करते हैं। गृहीजन सदैव भगवान के विग्रह का स्मरण करते रहें। वे निश्चल ज्ञान से युक्त हों। १२

राज्ञ्यसि प्राची दि—ग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि
प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दि—गधिपत्न्यासि बृहती
दिक् ॥ १३ ॥

राज्ञी	(तुम) तेजस्विनी	सम्राट्	भली भाँति विराजमान
प्राची दिक्	प्राची दिशा	प्रतीची	पश्चिम
असि	हो।	दिक् असि	दिशा हो।
विराट्	विशेष रूप से तेजस्विनी	स्वराट्	स्वयं विशेष तेजस्वी
दक्षिणा दिक्	दक्षिण दिशा	उदीची दिक्	उत्तर दिशा
असि	हो।	असि	हो।

१ पीड़ित; २ आकाश रूपी वृक्ष।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं
प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
वायुष्ट्वाऽभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन
तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

विश्वकर्मा	विश्वकर्मा प्रजापति	यच्छ	तुम सुयोग्य करो ।
त्वा	तुझ	अन्तरिक्षं दृंह	अन्तरिक्ष को दृढ़ करो ।
व्यचस्वतीं	विस्तृत	अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष में
प्रथस्वतीं	विस्तारशीला को	मा हिंसीः	मत पीड़ा करो ।
अन्तरिक्षस्य पृष्ठे	अन्तरिक्ष की पीठ पर	वायुः त्वा	वायु तुम्हारी
सादयतु	स्थापित करें ।	मह्या स्वस्त्या	बड़ी योगक्षेम से,
विश्वस्मै	संपूर्ण विश्व के	शन्तमेन	शुभकारी (और)
प्राणाय	प्राण के लिए,	छर्दिषा	विशेष तेज से
अपानाय	अपान के लिए,	अभि पातु	सब ओर से रक्षा करे ।
व्यानाय	व्यान के लिए,		
उदानाय	उदान के लिए,	तया	उस
प्रतिष्ठायै	इन सबकी प्रतिष्ठा के लिए	देवतया	देवता से अनुगृहीत होकर
चरित्राय	और गमनादि के लिए	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को	ध्रुवा सीद	निश्चल होकर बैठो ॥ १२ ॥

तुम व्यचस्वती[1] हो अभिव्यक्तियुक्ता शोभन ।
तुम प्रथस्वती[2] करती हो नित निज विस्तारण ॥
यह अंतरिक्ष का पृष्ठ ऊर्ध्वदिक्[3] जो प्रसरित ।
जो है अनंतता के सिंहासन-सा शोभित ॥
दृढ़ करें विश्वकर्मा तुमको उसपर स्थापित ।
तुम करो वहाँ के प्रजाजनों का नियमन[4] नित ॥

---

१ अभिव्यक्त करनेवाली; २ विस्तार करनेवाली; ३ ऊपर की दिशा;
४ संचालन ।

यच्छ	प्रदान करो।	तया देवतया	उस अधिष्ठाता के प्रभाव से (तुम)
वायुः	वायुदेव	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ते	तुम्हारा	ध्रुवा सीद	इस कार्य मे स्थिर हो ॥ १४ ॥
अधिपतिः	अधिपति है।		

इष्टके ! वायुरूपा तुम हो चिर ज्योतिर्मय।
नभ[1] अधिष्ठान है विश्वज्योतियों का चिन्मय॥
सबके उत्पादक, सबके स्रष्टा परमेश्वर।
तुमको संस्थापित करें देवि ! सबके ऊपर॥
तुम प्राण, अपान, व्यान के लाभ हेतु संतत।
अपना संपूर्ण प्रकाश प्रदान करो अविरत॥
हैं वायु तुम्हारे अधिष्ठातृ[2] देवता विदित।
उनको स्व-शक्ति से रहो अंगिरा-सी सुस्थित॥ १४॥

टि०—विश्व की रचना में इष्टका-रूप में वायु का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूल प्रकृति से महत्तत्व का आविर्भाव हुआ। महत्तत्त्व से पहले आकाश तत्त्व और तत्पश्चात् वायुतत्त्व का अविर्भाव हुआ। सब प्राण- वायुओं का रक्षक और नियामक वही है। १४

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि
कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः
कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे।
वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा
अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५॥

नभः च नभस्यः च	श्रावण और भाद्रपद	श्लेषः असि	दृढ़ता के निमित्त लगाये गये हो।
वार्षिकी ऋतू	वर्षाऋतु के मास हैं।	मम ज्यैष्ठ्याय	मेरे उत्कर्ष के लिए
अग्नेः अन्तः	(तुम) अग्नि के मध्य में	द्यावा पृथिवी कल्पेताम्	द्युलोक और पृथ्वी सहायता करें।

---

१ अन्तरिक्ष; २ मालिक।

अधिपत्नी	अधिक रक्षा करनेवाली	बृहती दिक् असि	ऊर्ध्व दिशा हो ॥ १३ ॥

इष्टके ! तुम्हीं हो तेजोमंडित पूर्व दिशा।
राज्ञी[1] तुम इसकी, शासित तुमसे पूर्व दिशा॥
तेजोमंडित विशेष हो तुम्हीं दिशा दक्षिण।
सम्यक् शोभित हो तुम्हीं प्रतीची[2] दिशि अमलिन॥
तुम हो स्वराट्[3] तेजस्वी दिशा उदीची[4] शुभ।
हो बृहती ऊर्ध्व दिशा तुम ग्रह-नक्षत्र-प्रभ[5]॥
सर्वाधिक रक्षण-शीला हो तुम हे उदार।
इस मध्य देश की रक्षा का लो देवि ! भार॥ १३॥

टि०—इस मन्त्र में इष्टका-रूप में परमेश्वर की परमा आद्या शक्ति महामाया सर्वदेवस्वरूपा विश्वपालिका भगवती की वंदना की गई है। कहा गया है, वे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और मध्य सभी दिशाओं में व्याप्त हैं। दुर्गा सप्तशती में उन्हीं के इस सर्वत्र व्याप्त रूप की वंदना की गई है— 'भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः।' इसी ग्रंथ के ग्यारहवें अध्याय में उन्हें सर्वदिशास्वरूपा कहा गया है— 'कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनि। विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तुते॥' काष्ठा का अर्थ है दिशाएँ। सप्तशती के इस मंत्र में यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या मिलती है। कला, काष्ठा (दिशाओं) के रूप में वे महामाया ही अवस्था-परिवर्तन की ओर ले जाती है, विश्व में सबके ऊपर विराजमान शक्ति वे ही हैं, नारायणी-रूप में वे ही सबकी रक्षा करती हैं। यह वेदमंत्र उन्हीं की वंदना करता है। १३

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ १४॥

विश्वकर्मा	विश्व का निर्माण-कर्ता,	विश्वस्मै	(यजमान के) संपूर्ण
ज्योतिष्मतीम्	ज्योतिर्मान	प्राणाय	प्राण के लिए,
त्वा	तुम्हें	अपानाय	अपान के लिए,
अन्तरिक्षस्य पृष्ठे	अन्तरिक्ष के ऊपर	व्यानाय	व्यान के (परिपोषण) के लिए
सादयतु	स्थापित करे।	विश्वं ज्योतिः	सम्पूर्ण ज्योति को

१ रानी, स्वामिनी; २ पश्चिम दिशा; ३ अपनी स्वयं स्वामिनी; ४ उत्तर दिशा; ५ ग्रह और नक्षत्रों से प्रकाशमान।

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि
कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु
तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥१६॥

इषः च	अश्विन और	इमे	इन
ऊर्जः च	कार्तिक	द्यावा पृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी के
शारदौ ऋतू	शरदऋतु के मास हैं।	अन्तरा	मध्य में
अग्नेः अन्तः	(इष्टके ! तुम) अग्नि के भीतर	समनसः	एक मन-वाली
		ये अग्नयः	जो अग्नियां हैं,
श्लेषः असि	दृढ़ता के लिए लगाई गई हो।	शारदौ ऋतू	वे शरदऋतु का
		अभि कल्पमाना	निर्माण करती हुई
मम ज्यैष्ठ्याय	मेरे उत्कर्ष के लिए	अभि सं विशन्तु	इस कार्य का आश्रय करें,
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी		
कल्पेताम्	सहायता करें।	इव देवा इन्द्रम्	जैसे देवता इन्द्र का आश्रय कर लेते हैं।
आपः	जल और		
ओषधयः	ओषधियां	तया देवतया	(हे इष्टके !) उस देवता द्वारा
कल्पन्ताम्	(मेरी) सहायता करें।	अङ्गिरस्वद्	अंगिरा के समान
सव्रताः	एक ही यज्ञ में	ध्रुवे सीदतम्	स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ १६ ॥
पृथङ् अग्नयः	अलग-अलग नामों की अग्नियां		
कल्पन्ताम्	उत्कर्ष प्राप्त करें।		

आश्विन-कार्तिक मास शरदऋतु हैं शोभाकर।
उभय तुम्हारे रूप इष्टकाओ ! हैं मनहर ॥
अग्निरूप में ईश व्याप्त हैं बाहर-भीतर।
तुम उसमें संश्लिष्ट[1] शरदृतुरूपा दृढ़तर ॥

---

१ संयोजित।

आप: ओषधय:	जल और ओषधियाँ	**वार्षिकौ ऋतू**	वर्षाऋतु का
कल्पन्ताम्	मेरी सहायता करें।	**अभि कल्पमाना:**	संपादन करते हुए
सव्रता:	एक यज्ञ में	**अभि संविशन्तु**	इस कार्य का आश्रय करें,
पृथक् अग्नय:	अलग-अलग नामों-वाली अग्नियाँ	**इव देवा इन्द्रम्**	जैसे देवता इन्द्र का आश्रय कर लेते हैं।
कल्पन्ताम्	उत्कर्ष को प्राप्त कर मेरी सहायता करें।	**तया देवतया**	उस प्रसिद्ध देवता द्वारा (हे इष्टके !)
इमे द्यावा पृथिवी	ये द्युलोक और पृथ्वी के	**अङ्गिरस्वत्**	अंगिरा के समान
अन्तरा	मध्य में वर्तमान	**ध्रुवे सीदतम्**	स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ १५ ॥
समनस:	एक मन-वाले		
ये अग्नय:	जो अग्नि हैं,		

वर्षाऋतु के हैं श्रावण-भाद्र मास उत्तम।
इष्टके ! तुम्हारे हैं स्वरूप दोनों दृढ़तम ॥
सर्वत्र अग्नि है जो बहिरन्तर दीप्तिमान।
उसके भीतर तुम दृढ़ता से संश्लेषमान[1] ॥
हम गृहीजनों के हेतु रहो कल्याण-निरत।
द्यावा-पृथिवी उत्कर्ष हमारा करें सतत ॥
जल-ओषधियाँ सब दें हमको साहाय्य[2] इष्ट।
सव्रता अग्नियाँ यज्ञों में दें फल अभीष्ट ॥
द्यावा-पृथिवी के मध्य विराजित अग्नि सकल।
जो हैं समान-मन वर्षा के संपादक-बल[3] ॥
गार्हस्थ्य-धर्म का आश्रय लें वे सब उदार।
पाले सुर जैसे इन्द्रदेव का सदाधार ॥
उन परमदेव के द्वारा हो गार्हस्थ्य सफल।
अंगिरा-सदृश नित रहें सभी हम वर्द्धित-बल ॥ १५ ॥

टि०—पहले यह बताया जा चुका है कि ईंट ऋतुओं का प्रतीक है। वर्षाऋतु के दो महीने गृहस्थों के अनुकूल रहें, यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। यह सम्पूर्ण सृष्टि अग्नि नाम से पुकारे जानेवाले परमेश्वर की अभिव्यक्ति है। इस सृष्टिरूपी यज्ञवेदिका में ऋतुएँ ईंटों की तरह जुड़ी हैं। गृहस्थाश्रम वर्षाऋतु की तरह सबका पालक है। गृहस्थजनों को वर्षाऋतु में ऐसे यज्ञकर्म करने चाहिए, जिससे सब सुखी हों और स्वयं भी सुखी जीवन बिता सकें। १५

---

१ जड़ी हुई; २ सहायता; ३ वर्षाऋतु के कार्य पूर्ण करनेवाली शक्ति।

पाहि	रक्षा करो।	ज्योतिः यच्छ	तेज प्रदान
मे	मुझको		करो॥ १७॥

रक्षा करो आयु की मेरी हे परमेश्वर[1]!।
रक्षा करो प्राण की मेरे हे जगदीश्वर!॥
रक्षा करो अपान वायु की, पाहि-पाहि प्रभु।
व्यान वायु की रक्षा करते रहो सदा विभु[1]॥
रक्षा नेत्रों की करो सदा तुम हे भगवन्!।
रक्षा श्रवणों की करो सदा तुम करुणाघन!॥
पा कृपा-प्रसाद तुम्हारा रहे प्रमोदित[2] मन।
आत्मा की रक्षा करो सच्चिदानन्द-सुघन[3]॥
प्रभु! मुझको अपना तेज प्रदान करो अक्षय।
क्षण-क्षण मेरा जीवन रहे निरामय[4] चिन्मय[5]॥ १७॥

टि०—इस मन्त्र में भक्ति-विह्वल हृदय से परमेश्वर से सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थायित्व प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। वे जगदीश्वर मानव के प्राण, अपान, व्यान आदि की रक्षा करें और उसे दीर्घायु प्रदान करें। भगवान को जानकर उनकी कृपा से मन आनंद से भर जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त होने से सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के ज्ञान का उदय होता है। जीवन भगवान के ओज-तेज से भर जाता है। १७

मा छन्दः[1] प्रमा छन्दः[2] प्रतिमा छन्दो[3] अस्रीवयश्छन्दः[4] पङ्क्तिश्छन्द[5] उष्णिक् छन्दो[6] बृहती छन्दो[7] ऽनुष्टुप् छन्दो[8] विराट् छन्दो[9] गायत्री छन्द[10]स्त्रिष्टुप् छन्दो[11] जगती छन्दः[12] ॥ १८॥

मा छन्दः	(मनन करके) इस मा छन्द का,	अनुष्टुप् छन्दः	अनुष्टुप् छन्द का,
प्रमा छन्दः	विशेष मनन करके प्रमा छन्द का,	विराट् छन्दः	विराट् छन्द का,
प्रतिमाः छन्दः	प्रतिमा छन्द का,	गायत्री छन्दः	गायत्री छन्द का,
अस्रीवयः छन्दः	अस्रीवय छन्द का,	त्रिष्टुप् छन्दः	त्रिष्टुप् छन्द का (और)
पंक्तिश् छन्दः	पंक्ति छन्द का,	जगती छन्दः	जगती छन्द का (मैं) प्रयोग करता हूँ॥ १८॥
उष्णिक् छन्दः	उष्णिक् छन्द का,		
बृहती छन्दः	बृहती छन्द का,		

१ सर्वशक्तिमान ईश्वर; २ प्रसन्न, ३ भगवान सत्-चित् और आनंद के घनीभूत सुंदर विग्रह है, ४ आधि-व्याधिहीन; ५ दिव्य चेतना से परिपूर्ण।

हम तुमसे याचना कर रहे हैं गृहस्थजन।
द्यावापृथिवी बनें श्रेष्ठता के ध्रुव साधन॥
जल ओषधिचय रहें हमारे सदा सहायक।
यज्ञों में अग्नियाँ पृथक् नामों की धारक॥
हम सबका उत्कर्ष-विधान करें वे नित नव।
अंतरिक्ष में व्यापृत[1] जो अग्नियाँ महाजव[2]।
हैं समान मन और सदा सव्रत ऊर्जित-रव[3]॥
वे ही करतीं सृष्टि शरदऋतु की सुषमामय[4]।
ले करके परमेश इन्द्र का आश्रय चिन्मय॥
उनके बल से रहो, अंगिरा-सी दृढ़तम तुम।
तुमसे ही हम रहें धर्म में अपने दृढ़ हम॥ १६॥

टि०—इस मन्त्र में शरदृतु में जीवन में दृढ़ता और धर्म में स्थिरता प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। जैसे ईंटें आग में परिपक्व होती हैं, उसी तरह शरदृतुरूपी इष्टका भी इस विश्वव्यापी अग्नि की ऊष्मा में पककर तैयार होती है। १६

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्य—पानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वा—त्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ॥ १७॥

मे आयुः पाहि	(हे परमेश्वर!) मेरी आयु की रक्षा करो।
मे	मेरे
प्राणं पाहि	प्राणों की रक्षा करो।
मे	मेरे
अपानं पाहि	अपान की रक्षा करो।
मे	मेरे
व्यानं पाहि	व्यान वायु की रक्षा करो।
मे चक्षुः पाहि	मेरे दोनों नेत्रों की रक्षा करो।
मे श्रोत्रं पाहि	मेरे दोनों कानों की रक्षा करो।
मे	मेरी
वाचं पिन्व	वाणी को प्रसन्न करो।
मे मनः जिन्व	मेरे मन को प्रसन्न करो।
मे आत्मानं	मेरी आत्मा की

१ क्रियाशील; २ महान वेग और शक्ति वाली; ३ शक्तिशाली ज्वाला वाली; ४ सुंदर।

पृथिवी है मेरा छंद, छंद है अंतरिक्ष।
दिवदेव[1] सकल हैं छंद, छंद सुर-रूप ऋक्ष[2]॥
वर्षास्वरूप ये देव मेघमय सकल छंद।
है अभिव्यक्त सर्वत्र वाक् देवता छंद॥
कृषि छंद बनाता है धरती शस्यश्यामल।
प्रकटा हिरण्य[3] देवता छंद उससे उत्फल[4]॥
गो, प्रजा अश्वमय छंद कर रहा सुस्थापित।
मेरे आनंदमहोदधि[5] की कृति-सृति ये चित॥ १९॥

टि०—वैदिक मंत्रों का दूसरा अभिधान छंद भी है। ये वैदिक मंत्र या छंद ऐसे पक्षी कहे गये हैं जो आकाश से सोम को पृथ्वी पर लाते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में यह संकेत मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में छन्दों को वाक् का पुत्र भी कहा गया है। वायु पुराण (६९:६५) में कश्यप की पुत्री सुपर्णा से छन्दों और पक्षियों की उत्पत्ति साथ-साथ बताई गई है। गायत्री को सर्वप्रमुख छन्द कहा गया है। गायत्री धरती पर सोम लाने के लिए उड़ी। उसके पूर्व जगती और त्रिष्टुभ् छन्द भी यह प्रयत्न कर चुके थे। जगती सोम लाने के लिए उड़ी, किन्तु वह केवल दीक्षा और पशु को ही ला सकी। त्रिष्टुभ् भी अपने १३ अक्षरों के साथ उड़ा, किन्तु वह भी केवल दक्षिणा एवं तप को ही ला सका। सोम को लाने में सफलता केवल 'अजस्र ज्योति' गायत्री को ही मिली। जो कुछ दिखायी पड़ रहा है, सब उस परमात्मा के अनन्त अक्षय आनन्द का सम्मूर्तन है। १९

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २०॥

अग्निः देवता	अग्नि देवता,
वातः देवता	वायु देवता,
सूर्यः देवता	सूर्य देवता,
चन्द्रमा देवता	चन्द्रमा देवता,
वसवो देवताः	वसु देवता,
रुद्राः देवताः	रुद्र देवता,
आदित्याः देवताः	आदित्य देवता
मरुतः देवताः	मरुत् देवता
विश्वेदेवाः देवताः	विश्वेदेव देवता,
बृहस्पतिः देवता	बृहस्पति देवता,
इन्द्रः देवता	इन्द्र देवता,
वरुणः देवता	(और) वरुण देवता (—ये सब शक्ति के स्वरूप हैं। इनको मैं स्थापित करता हूँ)॥ २०॥

१ द्युलोक के देवता; २ नक्षत्र; ३ स्वर्ण आदिक ऐश्वर्य; ४ उत्तम फलवाला; ५ आनन्द का महासमुद्र।

कितने छंदों में गाया मैंने सृजन-गीत।
यह सृष्टि उन्हीं छंदों की सृति-कृति है पुनीत॥
मा, प्रमा तथा प्रतिमा अस्रीवय, पंक्ति छंद[1]।
उष्णिक्, विराट्, गायत्री, बृहती, मधुस्यंद[2]॥
ये त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टप् आदि सकल।
हैं मेरे चिंतन और मनन के उत्तम फल॥
इन छंदों में गतिमान निरंतर निखिल लोक।
खोजा करता है उत्स[3] सदा इनका विशोक[4]॥ १८ ॥

टि०—यह स्वयं परमेश्वर की मंगलमय वाणी है। वे कहते हैं—अपने आंतर आनन्द की प्रेरणा से मैंने जो सृजन के गीत गाये, वे ही इस मन्त्र में उल्लिखित छंदों में फूटे। छंद उन परमेश्वर के आनन्द का उन्मुक्त एवं लयबद्ध प्रवाह है। सारा विश्व जीवन इन्हीं छन्दों में बँधा हुआ है। समस्त जड़-चेतन इन छन्दों के मूल उत्स को खोज रहे है। यह खोज निरंतर चल रही है। ये सूर्य, यह चन्द्रमा, ये ग्रह-नक्षत्र, यह सतत प्रवाहशीला गंगा, सब किसी न किसी छंद के प्रवाह में बहते हुए छंद के मूल स्रोत को खोज रहे हैं। १८

पृथिवी छन्दो॑ऽन्तरि॑क्षं छन्दो॒ द्यौश्छन्दः॒ समा॒श्छन्दो॒ नक्ष॑त्राणि॒ छन्दो॒ वाक् छन्दो॒ मन॒श्छन्दः॒ कृषिश्छन्दो॒ हिर॑ण्यं॒ छन्दो॒ गौश्छन्दो॒ऽजाश्छन्दो॒ऽश्वश्छन्दः॑ ॥ १९ ॥

पृथिवी छन्दः	पृथ्वी छन्द को,
अन्तरिक्षं छन्दः	अंतरिक्ष छन्द को,
द्यौः छन्दः	द्युलोक छन्द को,
समाः छन्दः	वर्षदेवता छन्द को,
नक्षत्राणि छन्दः	नक्षत्र देवता छन्द को,
वाक् छन्दः	वाक् देवता छन्द को,
मनः छन्दः	मन देवता छन्द को,
कृषिः छन्दः	कृषि देवता छन्द को,
हिरण्यं छन्दः	हिरण्य देवता छन्द को,
गौ छन्दः	गौ देवता छन्द को,
अजाः छन्दः	अजा देवता छन्द को (और)
अश्वः छन्दः	अश्व देवता छन्द को मनन करके मै स्थापित करता हूँ॥ १९॥

मेरी सृजनेच्छा का उल्लास रहा अमंद।
उपजाये मैंने करके मनन अनेक छंद॥

---

१ छादन करनेवाले अर्थात् चारों ओर से घेरकर रक्षा करनेवाले को 'छंद' कहते हैं; २ माधुर्य को उँडेलनेवाले; ३ स्रोत; ४ विषादहीन।

कृष्यै त्वा	खेती द्वारा अन्नोत्पादन के लिए मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ,	क्षेमाय त्वा	सुखवृद्धि के लिए तुम्हें स्वीकार करता हूँ ॥ २१ ॥

है व्याप्त निखिल ब्रह्माण्डों में जो पराशक्ति।
परमेश्वर की सच्चिदानंदमय अभिव्यक्ति॥
इष्टके! इष्टकारिणी[1] तुम्हीं हो वह अनन्य।
सम्पूर्ण सृष्टि की मूर्धा[2] पर संस्थिता धन्य॥
सब तेजों की स्वामिनी तेजधामा अनुपम।
हो ध्रुवा[3] और धारणकर्त्री तुम चरम परम॥
तुम धरती, अंतरिक्ष, दिव तीनों की धारक।
कालत्रय की अतिवर्ती[4] आयु-वृद्धिकारक॥
मैं आयुवृद्धि के हेतु कर रहा हूँ वंदन।
कृषि की समृद्धि के हेतु कर रहा अभिनंदन॥
मैं योगक्षेम की सिद्धि हेतु कर रहा नमन।
मैं ओज-तेज की प्राप्ति हेतु कर रहा वरण॥ २१॥

टि०—पूर्ववर्ती मन्त्र में जिन पारमेश्वरी सच्चिदानन्दमयी शक्ति की अभ्यर्थना की गई है, उन्हीं के प्रति इष्टकारिणी इष्टका के प्रतीक से यह मन्त्र भी निवेदित है। वे सृष्टि में सर्वोच्च स्थान पर विराजमान हैं, इसलिए उन्हें मन्त्र में 'मूर्धाराट्' कहा गया है। वे शीर्षस्थ तेजोमयी भी हैं। तुम तीनों लोकों को धारण करनेवाली हो। धारण करनेवाली धर्म की शक्ति तुम्हीं हो। आयु की वृद्धि करने की शक्ति भी तुम्हीं में है। हम आयु-वृद्धि के लिए, तेज की वृद्धि के लिए, कृषि की समृद्धि के लिए एवं योगक्षेम की सिद्धि के लिए तुम्हारा अभिनन्दन-वंदन करते हैं। २१

यन्त्री राड्[1] यन्त्र्यसि यमनी[2] ध्रुवाऽसि धरित्री[3]।
इषे त्वो[4]र्जे त्वा[5] रय्यै त्वा[6] पोषाय त्वा[7]
लोकं ता[8] इन्द्रम्[9] ॥ २२ ॥

यन्त्री राट्	(हे इष्टके! तुम) नियम से युक्त विराजमान हो,	यन्त्री यमनी असि	स्वयं भी नियम का पालन करने वाली और नियम का पालन कराने वाली हो।

१ सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली; २ शीर्षस्थान; ३ अचल; ४ परे।

ये अग्निदेव, ये वातदेव, ये सूर्यदेव।
ये चन्द्रदेव, वसुदेव आठ, सब मरुत्‌देव॥
प्राणों के अधिपति रुद्रदेवता एकादश।
देते प्रकाश आदित्यदेवता जो द्वादश॥
विश्वेदेवा देवता, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण।
हैं सब स्वरूप परमेश्वर की शक्ति के करुण॥
जो व्याप्त सकल ब्रह्मांडों में है बहिरंतर।
मेरे मानस में है वह पराशक्ति[१] भास्वर[२]॥
मैं मनन कर रहा हूँ उसपर संयुत-विवेक।
हूँ देख रहा संस्थापित सबमें वही एक॥ २०॥

टि०—वेद के रहस्य को उद्‌घाटित करनेवाला यह एक अत्यन्त अद्‌भुत मन्त्र है। यह उस वैदिक ऋषि की अमोघ वाणी है जो अनन्त ब्रह्मांडों में बाहर-भीतर व्याप्त परमेश्वर की शक्ति को प्रत्यक्ष देखता है। महर्षि अरविंद ने लिखा है, ऋषि सूक्त का रचयिता नहीं है, वह एक अनन्त सत्य और अपौरुषेय ज्ञान का द्रष्टा है। वेदों की भाषा श्रुति है। उसमें वे शब्द हैं जो सुदूर निस्सीम आकाश से कंपित होते हुए उस व्यक्ति के आंतरिक कर्ण तक पहुँचते हैं, जिसने पहले से अपनी आन्तरिक शक्तियों को उनके श्रवण के योग्य बना रखा है। २०

मूर्धाऽसि राड्१ ध्रुवाऽसि धरुणा२ धर्त्र्यसि धरणी३।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥ २१॥

मूर्धा राट् असि	(हे इष्टके ! तुम) सर्वोच्च शिरोभाग पर स्थित हो,
ध्रुवा	स्वयं स्थिर रहकर
धरुणा असि	दूसरों को धारण करनेवाली हो।
धर्त्री	प्रजाओं का धारण करनेवाली (तुम)
धरणी असि	पृथ्वी के समान हो।
आयुषे त्वा	आयु-जीवन-वृद्धि के लिए मै तुम्हें स्वीकार करता हूँ।
वर्चसे त्वा	तेज की वृद्धि के लिए मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ।

१ परमेश्वर की परमाशक्ति जो सबसे परे है और सब शक्तियों की शक्ति है;
२ प्रकाशमान।

इन्द्रवाची परमेश्वर की सेवा ही भक्ति है— हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते। यही इस मंत्र का निर्देश है। २२

आशुस्त्रिवृ[1]द्भान्तः पञ्चदशो[2] व्योमा सप्तदशो[3] धरुण एकविꣳशः प्रतूर्तिरष्टादशस्तपो नवदशो[6]ऽभीवर्त्तः सविꣳशो[7] वर्चो द्वाविꣳशः सम्भरणस्त्रयोविꣳशो[9] योनिश्चतुर्विꣳशो[10] गर्भाः पञ्चविꣳशः[11] ओजस्त्रिणवः[12] क्रतुरेकत्रिꣳशः[13] प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशो[14] ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो[15] नाकः षट्त्रिꣳशो[16] विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशो[17] धर्त्रं चतुष्टोमः ॥ २३ ॥

त्रिवृत् आशुः	(हे इष्टके ! मैं) यहाँ त्रिवृत् स्तोम की स्थापना करता हूँ।
पञ्चदशः भान्तः	पन्द्रह दिनों में वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होती रहने वाली चन्द्र-रूपा ज्योति की स्थापना मैं करता हूँ।
व्योमाः सप्तदशः (आशुः)	प्रजापति सप्तदश-स्तोम-रूप है, (सप्तदश व्योम के लिए तुमको मैं स्थापित करता हूँ)।
धरुणः एकविंशः	धारणकर्ता एकविंश स्तोम है,।
प्रतूर्तिः अष्टादशः	बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, एक संवत्सर मिलकर अठारह अवयवों-वाला प्रतूर्ति स्तोम है,।
तपः नवदशः (आशुः)	तपरूप नवदश तप देवता के लिए मैं इसकी स्थापना करता हूँ।
अभीवर्तः सविंशः (आशुः)	बारह महीने, सात ऋतुएँ, एक संवत्सर इस प्रकार समावृत्ति-रूप सविंश-स्तोम की स्थापना करता हूँ।
वर्चः द्वाविंशः	विशेष बल देनेवाला द्वाविंश स्तोम है;
संभरणः	सम्यक् पुष्टिकारक
त्रयोविंशः	त्रयोविंश स्तोम है;
योनिः चतुर्विंशः	प्रजा का उत्पादक चतुर्विंश स्तोम है;
गर्भाः पञ्चविंशः	सामगर्भ पंचविंश स्तोम है;
ओजः त्रिणवः	ओजस्वी त्रिणव स्तोम है;
क्रतुः एकत्रिंशः	यज्ञोपयोगी एकत्रिंश स्तोम है;

ध्रुवा धरित्री	(तुम ही) स्थिर भूमि जैसी	रय्यै त्वा	ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए तुमको स्वीकार करता हूँ,
असि	हो।	पोषाय त्वा	सबके पोषण के लिए तुमको स्वीकार करता हूँ।
इषे त्वा	(मैं) अन्न-प्राप्ति के निमित्त तुमको स्वीकार करता हूँ,	लोकं	(तुम) लोक की रक्षा करो।
ऊर्जे त्वा	शक्तिपूर्ण पुरुषार्थ के लिए तुमको स्वीकार करता हूँ,	ताः इन्द्रम्	वे सब जीव ऐश्वर्यवान इन्द्र को चाहते हैं ॥ २२ ॥

नियमोपेता[१] हो हे इष्टके! सदा तुम।
नियमनकर्त्री[२] भी हो सबकी सर्वोत्तम ॥
पृथिवी-सी ध्रुव हो, हो पृथिवीरूपा तुम।
हित अन्न-प्राप्ति के तुम्हें वरण करते हम ॥
ऊर्जित[३] विक्रम हित तुम्हें वरण करते हम।
ऐश्वर्य-प्राप्ति हित शरण वरण करते हम ॥
सबके पोषण हित तुम्हें ग्रहण करते हम।
सबके रक्षण हित आवाहन करते हम ॥
हे देवि! करो सब लोकों का संरक्षण।
स्वामित्व इन्द्रियों पर वर्धित हो क्षण-क्षण[४] ॥ २२ ॥

टि०—पूर्ववर्ती दो मंत्रों की तरह इस मंत्र में भी परमेश्वर की परा पारमेश्वरी शक्ति के प्रति सम्बोधन है। वह पराशक्ति ऋत-सत्यस्वरूपा है; सृष्टि के संचालक सब नियमों से स्वयं युक्त है और उन सब नियमों का पालन करानेवाली भी है। वह पृथिवी की तरह अचल-अटल है। पृथिवी प्रभूत धान्य और फलादि से संपन्न हो, इसलिए उस पारमेश्वरी शक्ति से प्रार्थना की गई है। उस पराशक्ति से पराक्रम, ऐश्वर्य, सब लोकों को पोषण और संरक्षण प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। अन्त में कहा गया है, वे पराम्बा सब लोकों की रक्षा करें और हमें इन्द्रियों पर नियंत्रण करने की शक्ति प्रदान करें। इन्द्रवाची परमेश्वर इन्द्रियों के स्वामी है, उनको चेतना प्रदान करते हैं। मंत्र में इन्द्रत्व प्राप्त करने की प्रार्थना का अर्थ है, इन्द्रियों को पराचेतना से जोड़ना, ईश्वर की ओर मोड़ना। इन्द्रियों को हृषीक कहते हैं, इसलिए इन्द्रियों के स्वामी को हृषीकेश कहते हैं। हृषीकों अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के स्वामी

१ नियमों से युक्त; २ सबका नियंत्रण करनेवाली; ३ शक्तियुक्त; ४ हमारा मन हमारे वश में रहे, इन्द्रियों पर प्रत्येक क्षण हमारा नियंत्रण रहे।

हैं सामगर्भ ये स्तोम पचीस सिद्धिघन।
मैं सामगर्भ देवों को करता अर्पण॥
ओजस्वी त्रिणवस्तोम ओज देवों हित।
इष्टके! तुम्हें मैं करता सदा समर्पित॥
इकतीस स्तोम ये यज्ञों के उपकारी।
ऋतुदेवों को अर्पित है यह निधि सारी॥
तैंतीस स्तोम ये हैं स्थिति के संरक्षक।
तैंतीस प्रतिष्ठा देवों के हैं स्थापक॥
इन चतुस्त्रिंश स्तोमों में सूर्य सदोदित।
चौंतीस बध्नविष्टप सुर इनसे वंदित॥
षट्त्रिंश स्तोम है यह शुचि स्वर्ग-प्रदायक।
षट्त्रिंश देवताओं के इष्टविधायक॥
हैं अड़तालिस सुस्तोम सोम-आवर्तक।
ये अड़तालीस सुरों को अर्पित सम्यक्॥
ये चार स्तोम हैं विदित सभी के धारक।
पंद्रह, सत्रह, इक्कीस, तीन हैं तारक॥
कर चार धत्रें देवों को इनको अर्पित।
इष्टके! तुम्हें मैं करता हूँ संस्थापित॥ २३॥

टि०—यह बड़ा जटिल मंत्र है। इष्टका को प्रतीक बनाकर जिन अनेकानेक देवताओं का पूजन किया गया है, उनके स्वरूप और उनके लिए निर्धारित स्तोमों का विवरण उनके फल का निर्देश करते हुए इस मंत्र में प्रस्तुत किया गया है। २३

अ॒ग्नेर्भा॒गो॑ऽसि दी॒क्षाया॒ आधि॑पत्यं॒ ब्रह्म॑ स्पृ॒तं त्रि॒वृत्स्तोम॑[1] इन्द्र॑स्य भा॒गो॑ऽसि॒ विष्णो॒राधि॑पत्यं क्ष॒त्रꣳ स्पृ॒तं प॑ञ्चद॒श स्तोमो॑[2] नृ॒चक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि धा॒तुराधि॑पत्यं ज॒नित्र॑ꣳ स्पृ॒तꣳ स॑प्तद॒श स्तोमो॑[3] मि॒त्रस्य॑ भा॒गो॑ऽसि॒ वरु॑ण॒स्याधि॑पत्यं दि॒वो वृ॒ष्टिर्वात॑ स्पृ॒त ए॑कवि॒ꣳश स्तोमः॑[4] ॥ २४ ॥

अग्नेः भागः	(इष्टके! तुम) अग्नि का भाग	आधिपत्यं	आधिपत्य है।
असि	हो।	त्रिवृत्स्तोमः	त्रिवृत् स्तोम द्वारा
दीक्षायाः	(तुमपर) दीक्षा का	ब्रह्म स्पृतम्	ब्राह्मण वर्ण मृत्यु से रक्षित हुआ।

प्रतिष्ठा	स्थिति का हेतु	धर्त्रम् चतुष्टोमः धारक होने से त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकादश इन चार स्तोमों का समूह रूप है। धर्त्र देवता का मनन करते इष्टका स्थापित की जाती है ॥ २३ ॥
त्रयस्त्रिंशः	त्रयस्त्रिंश स्तोम है;	
ब्रध्नस्य विष्टपं	सूर्य का निवास	
चतुस्त्रिंशः	चतुस्त्रिंश स्तोम है;	
नाकः षट्त्रिंशः	स्वर्ग का देनेवाला षट्त्रिंश स्तोम है;	
विवर्तः	साम के आवर्तनों से युक्त	
अष्टचत्वारिंशः	अड़तालीस स्तोम हैं,।	

यह वायु शीघ्रगति लोकत्रय संचारी।
सब भूतों में है वह तद्रूपविहारी॥
इष्टकारूप में कर उसका संस्थापन।
इस त्रिवृत् स्तोम से करता उसका वंदन॥
करता हूँ चन्द्र-ज्योति में उसका स्थापन।
जिसका होता प्रतिपक्ष ह्रास-संवर्धन॥
ये सत्रह स्तोमस्वरूप प्रजापति सुविदित।
सत्रह व्योमों हित इनको करता स्थापित॥
यह एकविंश शुचि स्तोम सभी का धारक।
है एकविंश देवों का मंगलकारक॥
यह है अष्टादश स्तोम प्रतूर्ति-समर्पित।
यह है प्रतूर्ति[1], अष्टादश देवों के हित॥
तपरूप नवदश स्तोम यहाँ यह प्रस्तुत।
हैं ऊनविंश तपदेव इसी से संस्तुत॥
अभिवर्त सविंश स्तोम सादित यह अनुपम।
अभिवर्त सुरों की तुष्टि हेतु सर्वोत्तम॥
ये हैं द्वाविंश स्तोम वर्च के दाता।
द्वाविंश देवताओं के तुष्टि-प्रदाता॥
ये त्रयोविंश हैं स्तोम संभरण नामक।
संभरण सुरों के हेतु मोदकारक स्तक्॥
चौबीस स्तोम ये विश्रुत प्रजा-प्रसविता।
है प्रजाविवर्द्धक इनकी क्षमता-अमिता[2]॥

---

१ बारह महीने, पाँच ऋतु और एक संवत्सर-रूप अठारह अवयवों-वाला प्रतूर्ति स्तोम; २ असीम, जिसकी परिमिति नहीं।

सप्तदश स्तोम की शक्ति हुई तुमसे स्फूर्जित।
हैं वैश्य उसी से सदा मृत्यु-मुख से रक्षित॥
सप्तदश स्तोम का करके गहन मनन-चिंतन।
इष्टके! तुम्हारा करता हूँ मैं संस्थापन॥
तुम भाग मित्र की और प्राण की हो सुविदित।
इष्टके! वरुण का आधिपत्य है तुमपर नित॥
तुमसे ही प्रकटा स्तोम एकविंशीय महत्।
दिवजनित[1] वात-वर्षा जिससे हैं मरण-रहित॥
कर स्तोम एकविंशीय का गहनतम चिंतन।
इष्टके! तुम्हारा करता हूँ मैं संस्थापन॥ २४॥

टि०—इष्टका के प्रतीकात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है। इस मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के संदर्भ में इष्टका के स्वरूप का निर्देश किया गया है। इन्हीं तीन वर्णों के सन्दर्भ में क्रमशः त्रिवृत्, पंचदश और सप्तदश स्तोम का सम्बन्ध बतलाया गया है। एकविंश स्तोम से वर्षा और पवन सुरक्षित रहते हैं। संभवतः यह शूद्रवर्ण का निर्देशक है। २४

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंꣳश स्तोम[1] आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविंꣳश स्तोमो[2] ऽदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजं स्पृतं त्रिणव स्तोमो[3] देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳ समीचीर्दिशं स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः[4] ॥ २५॥

वसूनां	(तुम) वसुओं का
भागः असि	भाग हो।
रुद्राणां	रुद्रों का
आधिपत्यम्	(तुमपर) आधिपत्य है।
चतुर्विंश स्तोमः	चतुर्विंश स्तोम के द्वारा (तुमने)
चतुष्पाद्	चौपायों की
स्पृतम्	रक्षा की है।
आदित्यानां	(हे इष्टके! तुम) आदित्यों का
भागः असि	भाग हो।
मरुतां	(तुमपर) मरुद्-गणों का
आधिपत्यं	आधिपत्य है।
पञ्चविंश स्तोमः	पञ्चविंश स्तोम के द्वारा

१ द्युलोक से उत्पन्न।

इन्द्रस्य	(तुम) इन्द्र का
भागः असि	भाग हो।
विष्णोः आधिपत्यं	विष्णु का तुमपर आधिपत्य है।
पञ्चदश स्तोमः	पंचदश स्तोम से
क्षत्रम् स्पृतम्	क्षत्रिय वर्ण ने मृत्यु से त्राण प्राप्त किया।
नृचक्षसां	(हे इष्टके! तुम) मनुष्यों का शुभाशुभ जाननेवाले
भागः	देवताओं का भाग
असि	हो।
धातुः	(तुम्हारे ऊपर) विधाता का
आधिपत्यं	आधिपत्य है।
सप्तदशः स्तोमः	सप्तदश स्तोम के द्वारा
जनित्रं स्पृतम्	वैश्य वर्ण को मृत्यु से बचाया।
मित्रस्य	(हे इष्टके! तुम) मित्र का
भागः असि	भाग हो।
वरुणस्य	(तुम्हारे ऊपर) वरुण का
आधिपत्यं	आधिपत्य है।
एकविंश स्तोमः	एकविंश स्तोम के द्वारा
दिवः	द्युलोक सम्बन्धी
वृष्टिः वातः	वर्षा और वायु
स्पृतः	मृत्यु के मुख से रक्षित हैं ॥ २४ ॥

इष्टके ! अग्नि का हो तुम सुविदित भाग नित्य।
दीक्षा का भी तुमपर है सम्यक् आधिपत्य ॥
तुमसे ही उपजा त्रिवृत् स्तोम यह मंगलमय।
मृत्यु से इसी से ब्राह्मणवर्ण हुआ निर्भय ॥
मैं त्रिवृत् स्तोम का करके गहन मनन-चिंतन।
इष्टके ! तुम्हारा करता हूँ मैं संरक्षण ॥
इष्टके ! इन्द्र का हो तुम सुविदित भाग नित्य।
है विष्णुदेव का तुमपर सम्यक् आधिपत्य ॥
पंचदश स्तोम से क्षत्रियवर्ण हुआ रक्षित।
है उसी शक्ति से सतत मृत्यु से भीति-रहित ॥
पंचदशस्तोम के अधिपदेव का कर चिंतन।
करता हूँ मैं इष्टके तुम्हारा संस्थापन ॥
इष्टके ! तुम्हीं हो नृचक्षसों[1] का भाग विहित।
धाता का तुमपर है सम्यक् अधिकार विदित ॥

---

१ मनुष्यों के शुभाशुभ को जाननेवाले ।

यवा॑नां भा॒गो॑ऽस्ययवानामाधि॑पत्यं प्र॒जा स्पृ॒ताश्च॑तुश्चत्वारि॒ꣳश स्तोम॑[1] ऋभू॒णां भा॒गो॑ऽसि॒ विश्वे॑षां दे॒वाना॑माधि॑पत्यं भू॒तꣳ स्पृ॒तं त्र॑यस्त्रि॒ꣳश स्तोमः॑[2] ॥ २६ ॥

यवानाम्	(हे इष्टके ! तुम) शुक्लपक्षीय तिथि का
भागः असि	भाग हो।
अयवानां	(तुमपर) कृष्ण-पक्षीय तिथि का
आधिपत्यं	आधिपत्य है।
चत्वारिंशः स्तोमः	चत्वारिंश स्तोम के द्वारा
प्रजाः स्पृताः	तुमने प्रजाओं की मृत्यु से रक्षा की है।
ऋभूणां	(तुम) ऋभु देवताओं का
भागः असि	भाग हो।
विश्वेषां देवानाम्	संपूर्ण देवताओं का
आधिपत्यं	(तुमपर) आधिपत्य है।
त्रयस्त्रिंश स्तोमः	त्रयस्त्रिंश स्तोम के द्वारा
भूतम् स्पृतम्	तुमने प्राणिमात्र की, मृत्यु के मुख से, रक्षा की है ॥ २६ ॥

शुक्लपक्ष की तिथि की हो तुम भाग विदित।
स्वामित्व कृष्णपक्षी तिथि का है तुमपर नित ॥
यह चत्वारिंश स्तोम प्रजा का भीतिहरण।
इसके द्वारा रहता है उनसे दूर मरण ॥
कर चत्वारिंश-स्तोम देवता का चिंतन।
इष्टके ! तुम्हारा यहाँ कर रहा मैं सावन ॥
तुम हो ऋतुओं का भाग इष्टके ! सदा विहित।
है आधिपत्य सब देवों का तुमपर सुविदित ॥
है त्रयस्त्रिंश यह स्तोम प्राणियों का रक्षक।
यह प्राणिमात्र की मृत्यु-भीति का है भक्षक[1] ॥
कर त्रयस्त्रिंश स्तोम के देवता का चिंतन।
इष्टके ! तुम्हारा यहाँ कर रहा मैं सादन ॥ २६ ॥

टि०—इन दो मंत्रों में पहले शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की तिथियों का इष्टका के प्रतीक-रूप में निर्वाचन किया गया है। इससे संबद्ध चत्वारिंश स्तोम का ज्ञान प्रजाजनों के मृत्यु-भय का निवारण करता है। दूसरे मंत्र में ऋभु देवताओं का निर्देश है। यह ज्ञान प्राणिमात्र की मृत्यु-भीति का हरण कर लेता है। यह इष्टका-विज्ञान वेदों का परम गुह्य तत्त्व है। २६

१ मृत्यु के भय का भक्षण करनेवाला।

गर्भाः स्पृतम्	गर्भों की रक्षा की है।	देवस्य	देवता के
अदित्यै	(हे इष्टके ! तुम) अदिति का	भागः असि	भाग हो।
भागः असि	भाग हो।	बृहस्पतेः	बृहस्पति देव का
पूष्णः	पूषा का	आधिपत्यं	(तुमपर) अधिकार है।
आधिपत्यं	(तुमपर) अधिकार है।	चतुष्टोम स्तोमः	चतुष्टोम स्तोम के द्वारा
त्रिणवस्तोमः	(तुमने) त्रिणव स्तोम के द्वारा	समीचीः दिशः	समस्त मनुष्यों के जानें की दिशा मृत्यु से
ओजः स्पृतम्	प्रजाओं के ओज की रक्षा की है।	स्पृताः	तुमने रक्षा की है॥ २५॥
सवितुः	(तुम) सविता		

तुम हो वसुओं का भाग रुद्र का आधिपत्य है तुमपर।
यह चतुर्विश है स्तोम चतुष्पावों का मरण-भीतिहर॥
कर चतुर्विश स्तोम-मनन कर रहा तुम्हारा संस्थापन॥
इष्टके! भाग हो आदित्यों का मरुत् तुम्हारे अधिपति।
स्तोम पचीस सकल गर्भों को करते मृत्यु-विवर्जित॥
पंचविंश स्तोम पर गहन मनन कर करता हूं संस्थापन॥
भाग अदिति का हो तुम पूषादेव तुम्हारे स्वामी।
त्रिणव-स्तोम से प्रजाजनों के हो तुम रक्षण-कामी॥
त्रिणव-स्तोम देव का करके ध्यान कर रहा हूँ मैं सादन[1]॥
सबके प्रेरक सविता का हो भाग इष्टके! तुम नित।
तुमपर है अधिकार बृहस्पति का यह सुविदित॥
चतुष्टोम स्तोम से मनुज उनकी सब गंतव्य दिशाएं।
मृत्यु-भीति से मुक्त हुईं सब सुखमय दिवा-निशाएं॥
उन चतुष्टोम-देव का ध्यान कर करता हूं मैं सादन ॥ २५॥

टि०—इस मंत्र-समूह में इष्टका-रूप में विराट विश्व के विभिन्न अवयवों, उनके स्तोमों और उनके अधिपति देवताओं का निर्देश किया गया है। २५

---

१ जमाना या स्थापना करना।

जैसे दृढ़ता हित होता है काष्ठ भवन में संयोजित।
उसी भाँति ऋतुचक्र अग्नि के भीतर है यह संश्लेषित[1] ॥
करता हूँ मैं यजमान यहाँ यह अग्नि-चयन।
द्यावापृथिवी उपकार करें नित संपादन ॥
आपः ओषधियाँ करें निरंतर मेरा हित।
सव्रता पृथक् अग्नियाँ करें हित मेरा नित ॥
द्यावापृथिवी के मध्य सदा हैं विद्यमान।
अग्नियाँ विविध जिनके व्रत जिनके मन समान ॥
वे करें सभी हेमन्तपरक कार्यों का सम्यक् संपादन।
इस यज्ञकार्य की सिद्धि हेतु हम पावें उनका अवलंबन ॥
जिस भाँति इन्द्र की परिचर्या में रत रहकर सब देव सतत।
करके सहायता उनकी आश्रय पाते हैं उनका संतत ॥
अग्नियाँ करें ये उसी भाँति सब कार्य हमारे संपादित।
इष्टके ! इन्द्र के द्वारा तुम दृढ़ रहो अंगिरा-सी संस्थित ॥ २७ ॥

टि०—वेद में, विशेषतः ऋग्वेद और यजुर्वेद में, अग्नि की सम्मिलित स्तुतियाँ मिलती हैं। द्यावा और पृथ्वी के मध्य में स्थित अनेक अग्नियों की स्थिति इस मंत्र में बतलाई गई हैं। भागवतकार ने यज्ञाग्नियों की संख्या उनचास बताई हैं। हेमंत ऋतु रूपी ईंट इन्हीं भुवनव्यापी अग्नियों में पककर निकलती है। २७

एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्[1]
तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्[2]
पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत्[3]
सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीत्[4] ॥ २८ ॥

एकया स्तुवत	(देवों ने) एक वाणी से स्तुति की,	अधिपतिः	सबका स्वामी
प्रजा अधि इयन्त	(तब परमेश्वर ने) प्रजाओं को उत्पन्न किया।	आसीत्	था।
प्रजापतिः	(उस समय) परमेश्वर ही	तिसृभिः	(उसने) प्राण, अपान और व्यान इन तीन शक्तियों से
		ब्रह्म असृज्यत	ब्रह्माण्ड को बनाया।

१ जुड़ा हुआ।

सह॑श्च सह॒स्य॑श्च॒ हैम॑न्तिकावृ॒तू अ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒
कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒
ओष॑धय॒: कल्प॑न्ताम॒ग्नय॒: पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः ।
ये अ॒ग्नय॒: सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे ।
हैम॑न्तिकावृ॒तू अ॑भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा
अ॑भि॒सं॑विंशन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ।२७।

सहः च	मार्गशीर्ष और
सहस्यः च	पौष
हेमन्तिकौ	हेमन्त ऋतु के अंग है ।
ऋतू	हे ऋतु !
अग्नेः अन्तः	अग्नि के अंतर में
श्लेषः असि	दृढ़ता के लिए तुम लगाये गये हो ।
मम ज्यैष्ठ्याय	मुझ यजमान के उत्कर्ष के लिए
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी
कल्पन्ताम्	अपने अधिकार का संपादन करे ।
आपः ओषधयः	जल और ओषधियां
कल्पन्ताम्	हमारा कल्याण करें ।
सव्रताः	समान व्रत में दीक्षित
पृथङ् अग्नयः	अनेक नामों-वाली अग्नियाँ
कल्पन्ताम्	हमारी उत्कृष्ट सहायता करें ।
इमे	इन
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी के
अन्तरा	मध्य में
समनसः	एक मन-वाली
ये अग्नयः	जो अग्नियाँ हैं,
हेमन्तिकौ ऋतू	वे हेमन्त-सबंधी ऋतु को
अभिकल्पमानाः	संपादित करते हुए
अभि सं विशन्तु	इस कार्य का आश्रय करें,
इव	जैसे
देवाः इन्द्रम्	देवगण इन्द्र का आश्रय ग्रहण करते हैं ।
तया देवतया	उस देवता के द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान,
ध्रुवे सीदतम्	(हे इष्टके !) स्थिर होकर विराजमान होओ ।। २७ ।।

अगहन-पूस मास दोनों ही हैं अवयव[1] हेमन्त के ।
हे ऋतु ! दृढ़ता से संस्थित हो तुम अंतर में अग्नि के ।।

१ अंग ।

इन सबका धाता धारणकर्ता परमेश्वर।
सबके पहले था विद्यमान वह अजर-अमर ॥ २८ ॥

टि०—इस मन्त्र में सृष्टि-रचना के पूर्व की स्थिति का संकेत है। महर्षि अरविंद ने अपने सावित्री महाकाव्य में सृष्टि के पूर्व की स्थिति का चित्रण किया है। देवताओं ने निद्रा त्यागकर परमेश्वर की स्तुति की। परमेश्वर ने उनकी स्तुति सुनकर प्रजाओं की सृष्टि की। इस प्रकार जो सृष्टि का क्रम चला, उसका वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। २८

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासी[1]देकादश
भिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसँ[2]स्त्रयोदशभिरस्तुवत
मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत्[3] पञ्चदशभिरस्तुवत
क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्[4] सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः
पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत्[5] ॥ २९ ॥

पितरः असृज्यन्त (हे मनुष्यो! जिस परमात्मा ने) रक्षक पितरों को उत्पन्न किया,
अदितिः अधिपत्नी (और जिससे) अखण्डित शक्ति अदिति रक्षक माता
आसीत् हुई,
नवभिः अस्तुवत (उस परमात्मा के गुणों की विद्वानो ने) नव प्राणों से स्तुति की।
ऋतवः असृज्यन्त जिनसे उस परमात्मा ने ऋतुओं की सर्जना की (और)
आर्तवा ऋतुओं के गुण
अधिपतयः अपने-अपने विषय के अधिकारी (जिससे)
आसन् होते हैं,
एकादशभिः उसकी दश प्राणों और ग्यारहवें आत्मा से
अस्तुवत स्तुति की।
मासाः असृज्यन्त जिसने मासों की रचना की है,
त्रयोदशभिः उसकी दश प्राणो, ग्यारहवीं आत्मा और दो प्रतिष्ठाओं के साथ
अस्तुवत स्तुति की गई।
पञ्चदशभिः जिसने पन्द्रह तिथियों के सहित
संवत्सरः संवत्सर रचा और
अधिपतिः जो सबका अधिकारी
आसीत् था,
इन्द्रः अधिपतिः जिसने इन्द्र को अधिपति

अस्तुवत	(इन तीनों के द्वारा परमेश्वर की) स्तुति की गई।
अधिपतिः	(वह) हिरण्यगर्भ ब्रह्माण्ड का स्वामी,
ब्रह्मणस्पतिः	वेदवाणी का पति
आसीत्	था।
पञ्चभिः अस्तुवत	पाँच प्राणों से परमेश्वर की स्तुति करते हुए
भूतानि असृज्यन्त	(परमेश्वर ने) पंचभूतों की रचना की।
भूतानां पतिः	(उन) पाँचों भूतों का स्वामी परमात्मा
अधिपतिः	सबका स्वामी
आसीत्	था।
सप्तभिः	दो कान, दो नासारंध्र, दो नेत्र एव एक जिह्वा इन सातों के द्वारा
अस्तुवत	(विद्वानों ने) स्तुति की।
सप्त ऋषयः	(उनसे) सात ऋषि या प्राण
असृज्यन्त	बने।
धाता	विश्वस्रष्टा परमात्मा
अधिपतिः	सबका स्वामी
आसीत्	(वर्तमान)था ॥२८॥

सब देवों ने हो एकप्राणा, हो एकस्वर।
परमेश्वर का संस्तवन[1] किया विगलित[2] अंतर ॥
जगदीश्वर ने तब किया प्रजाओं का सर्जन।
उनके अधिपति भी वही प्रजापति थे चिद्घन[3] ॥
फिर प्राण, अपान, व्यान की ले शक्तियाँ सकल।
विरची उन प्रभु ने ब्रह्मांडों की तति[4] अविकल[5] ॥
इन तीन शक्तियों से ही होते संस्तुत प्रभु।
थे वेदगिरा के प्रेरक-सर्जक वे ही विभु ॥
फिर किया पंचप्राणों[6] ने प्रभु का स्तवन-गान।
था प्रकट पंचभूतों का नव रचना-विधान ॥
उन पाँचों भूतों के थे परमेश्वर अधिपति।
फिर सातों ने की उनकी नत होकर शुचि स्तुति ॥
श्रोत्रद्वय नासारंध्रद्वय ये चक्षुद्वय।
रसना से मिलकर हुए सात सब संस्तवमय ॥
उनके ही द्वारा रचे गये सप्तर्षि[7] सकल।
ये सप्तप्राण[8] भी हैं उनके सर्जन के फल ॥

---

१ सम्यक् स्तुति; २ भाव से द्रवीभूत, ३ चिन्मय; ४ श्रेणी; ५ संपूर्ण; ६ प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान; ७ सात ऋषि; ८ नाग, कूर्म, कृकल, धनंजय, इच्छा और प्रयत्न।

को उत्पन्न किया है। अदिति श्रेष्ठतम माता के समान सदा मनुष्यों का पालन-पोषण और रक्षण करती है। यह सब उन परमेश्वर की अहैतुकी कृपा है। मैं सबकी रक्षा करने में समर्थ हूँ, भगवान की यह द्रवणशील वृत्ति ही उनकी कृपा कही गई है। उन परमेश्वर ने मनुष्य के कल्याण के लिए सृष्टि का ऋतु, मास, तिथि, संवत्सर आदि के रूप में जो सुव्यवस्थित अच्युत विधान किया है, उसके लिए हमें उनकी दश प्राणों और ग्यारहवें आत्मा को मिलाकर स्तुति करनी चाहिए। इतना ही नहीं, दश प्राणों, एक जीवात्मा और दो प्रतिष्ठाओं इन तेरह को मिलाकर स्तुति करनी चाहिए। मनुष्य को इतने से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए, दश पैरों की अँगुलियों, दो जंघाओं, दो जानुओं और नाभि के ऊपर के तीन अवयवों, दो बाँहों और शिर इन सत्रह को मिलाकर भगवान को प्रणति और स्तुति समर्पित करनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है, आगे चलकर भक्ति के उन्मेष और उत्कर्ष के साथ शरीर के अंगों से भूमि का स्पर्श करते हुए दंडवत् प्रणाम करने की जो प्रथा चली, उसके उत्स वेदों के ऐसे ही मन्त्र हैं। २९

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ता-मेकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाऽधिपतिरासीत् पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविंशत्याऽस्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन्।३०।

नवदशभिः	दश हाथों की उँगलियों और नौ प्राणों को मिलाकर उन उन्नीस से विद्वानों ने)	एकविंशत्या	हाथ की दश और पाँव की दश उँगलियों तथा एक आत्मा को मिलाकर उन इक्कीस से विद्वानों ने)
अस्तुवत	स्तुति की	अस्तुवतः	स्तुति की
शूद्रार्यौ	(उन अंगों के समान ही) शूद्र आर्यों की	एकशफाः पशवः	(उसके अनुकूल) एक खुरवाले पशुओं की
असृज्येताम्	रचना हुई।	असृज्यन्त	रचना हुई।
अहोरात्रे	उनके दिन और रात	अधिपतिः वरुणः	वरुण उनका स्वामी
अधिपत्नी	स्वामिनी	आसीत्	हुआ।
आस्ताम्	हुई।		

आसीत्	बनाया है,	बृहस्पतिः	जिसने बड़े-बड़े पदार्थों के रक्षक वैश्य को
क्षत्रम् असृज्यत	जिसने क्षत्रियकुल को रचा है,	अधिपतिः आसीत्	अधिकारी बनाया है (और)
सप्तदशभिः	उसकी दश पाँवों की उँगलियों, दो जानुओं, दो जंघाओं दो हाथों और एक नाभि-इन सत्रहों से	ग्राम्याः पशवः	ग्राम के गो आदि पशु
		असृजन्त	रचे हैं,
स्तुवतः	स्तुति करो।	अस्तुवत	उसकी स्तुति की ॥ २९ ॥

प्रभु ने रक्षा के हेतु तुम्हारे रचे पितर।
हैं मातृरूपिणी अदिति सतत रक्षण-तत्पर[1] ॥
नव प्राणों से परमेश्वर का गुणगान करो।
उनकी महिमा से पुलकित अपना हृदय भरो ॥
हैं सृष्टि वसंतादिक ऋतुएँ ये जिन प्रभु की।
ऋतुपालक देव सकल हैं रचना उन विभु की ॥
दश प्राण और आत्मा ये सब मिलकर ग्यारह।
विगलित उर करें ईश का स्तव वे सब अहरह ॥
विरचे जिसने सब मास और तिथियाँ पंद्रह।
सबका अधिकारी किया नियत संवत्सर यह ॥
उस परमेश्वर की करो त्रयोदश से स्तुति नित।
दश प्राणों, जीव, प्रतिष्ठाद्वय को कर अर्पित ॥
क्षतरक्षक उसने किया क्षत्रियों का सर्जन।
स्वामित्व इन्द्र का किया क्षत्रियों का अर्पण ॥
पादांगुलि, जानुद्वय, जंघाद्वय, अवयव त्रय[2]।
इन सत्रह को कर युक्त करो प्रभु स्तवन अभय ॥
हैं परमेश्वर ने रचे ग्राम्य पशु ये गोगण।
उनकी रक्षा के हित वैश्यों का किया सृजन ॥
है दिया बृहस्पति को वैश्यों का आधिपत्य।
मानवो ! करो उन परमेश्वर का स्तवन नित्य ॥ २९ ॥

टि०—यह वेदमन्त्र मनुष्यों को भगवान के उपकारों का स्मरण करते रहने का आदेश देता है। मनुष्यों से कहा गया है कि परमेश्वर ने उनकी रक्षा के लिए पितरों

---

१ रक्षा में लगी हुई; २ नाभि के ऊपर के तीन अंग— दोनों बाँहें और शिर।

इन एकविंश से करते हैं प्रभु-संस्तवन।
विद्वज्जन करते गुण-वर्णन अनुकरण॥
रचे ईश ने एकशफा पशुगण सकल।
अधिपति उनके वरुण अपांपति महाबल॥
मिलकर फिर तेईस हुए प्रभु-स्तवन-रत।
कर-पद की अँगुलियाँ चरणयुग जीव युत॥
अद्भुत रचना देख ईश की सुधीजन।
स्तुतिरत हो गये आर्द्र-मन पुलक-तन॥
त्रयोविंश इन अंगों की ले शक्ति[1] सब।
परमेश्वर ने रचे क्षुद्र पशुवृंद अब॥
पूषा को उनका स्वामित्व प्रदान कर।
रची अन्नदात्री धरती धात्री प्रवर॥
पंचविंश हैं घटक देह के जो प्रथित।
विद्वानों ने की उनसे विधि-स्तुति विनत॥
उनके द्वारा रचे गये पशु वन्य सब।
स्वामी उनके गये बनाये वायु तब॥
सप्तविंश अवयव विरचे विश्वेश के।
उनसे हैं निर्मित शरीर अशेष के॥
सृजन-कुशलता देख मुग्ध हो सुधीजन।
गा गुणगण करते हैं ईश्वर का स्तवन॥
द्यावा-पृथ्वी दोनों में रम रहे प्रभु।
धारण करते सब देवों को वही विभु॥
वसुगण आठ, रुद्र ग्यारह, आदित्यगण।
धार्यमाण परमेश्वर से हैं प्रति-क्षण॥
द्यावा-पृथिवी के वे ही स्वामी सबल।
योग-क्षेम के वही वहनकर्ता अकल॥ ३०॥

टि०—इन वैदिक मन्त्रों में सृष्टि-रचना की प्रक्रिया का वर्णन किया जा रहा है। वेद में सृष्टि-प्रक्रिया का जो वर्णन किया गया है, उसका उपबृंहण पुराणो में मिलता है। इन वैदिक मन्त्रों में ध्यान देने की बात यह है कि विभिन्न श्रेणियों के जीवों की रचना के पूर्व देह के घटक जीवात्मा के साथ मिलकर परमेश्वर की स्तुति करते हैं। स्पष्ट है, वैदिक विज्ञान में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का आधार चेतन जीवात्मा है, जड़ अमीबा जैसा कोई पदार्थ नहीं। विकसित चेतना मानव-जीवन से आरंभ होती है। इन मंत्रों से यह भी स्पष्ट है कि सृष्टि-रचना के पीछे एक दैवी योजना कार्य

१ दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की अँगुलियाँ, दो पैर और जीवात्मा।

त्रयोविंशत्या	हाथ की दश अँगुलियाँ, पैर की दश अँगुलियाँ, दो पैर और तेरहवें आत्मा को मिलाकर
अस्तुवत	(विद्वानों ने) स्तुति की।
क्षुद्राः पशवः	छोटे पशुओं की
असृज्यन्त	रचना हुई,
पूषा अधिपतिः	पूषा उनके स्वामी
आसीत्	बनाये गये।
पञ्चविंशत्या	हाथों-पाँवों की दश-दश उँगलियाँ, दो बाहु, दो पैर और पचीसवाँ आत्मा मिलाकर सबसे (विद्वानों ने) उनकी
अस्तुवत	स्तुति की
आरण्याः पशवः	जंगली जानवर
असृज्यन्त	बनाये गये।
वायुः अधिपतिः	वायु उनका अधिपति
आसीत्	हुआ।
सप्तविंशत्या	हाथों-पैरों की बीस उँगलियाँ, षट्प्राण तथा आत्मा को मिलाकर सबसे (उनकी विद्वानों ने)
अस्तुवत	स्तुति की।
द्यावापृथिवी	(इनके द्वारा ही) द्युलोक और पृथ्वी
व्यैताम्	तीनों व्याप्त होते हैं,
वसवः	(और उनमें ही) आठ वसु,
रुद्राः	ग्यारह रुद्र,
आदित्याः	बारह आदित्य
अनु वि आयन्	उत्तमता से उत्पन्न हुए।
त एव	वे ही
अधिपतयः आसन्	आकाश और पृथ्वी के स्वामी हुए ॥३०॥

कर की दस अँगुलियाँ प्राण नव देहगत।
हैं ऊनविंश शक्तियाँ सतत रक्षा-निरत॥
विद्वद्गण इनके वर्णन के व्याज से।
परमेश्वर की स्तुति करते विस्तार से॥
बाह्य और आंतर अवयव[1] उन्नीस हैं।
शूद्र आर्य विरचित इनके अनुरूप हैं॥
श्रम करने के हेतु रचे दिन-यामिनी।
हैं नियुक्त ये श्रमिक वर्ग की स्वामिनी॥
आत्मा, हाथ-पैर की दस-दस अँगुलियाँ।
इनसे ही चलती शरीर की सब क्रिया॥

१ हाथों की दस अँगुलियाँ और नव प्राण।

त्रयः त्रिंशता	हाथ-पैरों की दश-दश अँगुलियाँ, दश प्राण, दो चरण और तैंतीसवें जीवात्मा	प्रजापतिः	जन्मदाता परमेश्वर
		अधिपतिः	रक्षक स्वामी
		आसीत्	हुए।
अस्तुवत	से उनकी स्तुति की।	लोकं	(तुम) लोक की रक्षा करो,
भूतानि अशाम्यन्	उनसे ही सब जीवगण शान्ति	ताः	वे सब जीव ऐश्वर्यवान इन्द्र
परमेष्ठी	प्राप्त करते हैं। (उन सबका)		को चाहते है॥ ३१॥

मानवो ! देह में कर-पद की अँगुलियाँ सकल।
मिल नव प्राणों से सक्रिय ऊर्नविंश प्रतिपल॥
इन घटकों[1] के द्वारा ही होता विश्व-सृजन।
इनके द्वारा करते विद्वज्जन ईश-स्तवन॥
इन घटकों से ही हुआ वनस्पति-जग विरचित।
ये सोम देवता उनके अधिपति हुए नियत॥
कर-पद की दश-दश अँगुलियाँ दश प्राण-सहित।
मिल जीवात्मा से बने तत्त्व इकतीस प्रथित॥
सब शरीर हैं इन एकत्रिंश से ही निर्मित।
जन ईश्वर के इस कौशल के गुण गाते नित॥
फिर किया प्रजा का इन्हीं शक्तियों से सर्जन।
यव[2] और अयव[3] को इनका अधिपति किया वरण॥
यव नर है, नारी अयव, उभय हैं पूर्वपक्ष प्रतिपक्ष विदित।
इनके ही द्वारा करते हैं जगदीश प्रजा का वर्धन नित॥
अँगुलियाँ बीस, दश इंद्रियाँ, पदद्वय जीव सकृत।
इन त्रयस्त्रिंश से ही सब देह हुई विरचित॥
विद्वज्जन इनके द्वारा प्रभु के गुण गाते।
सब प्राणी इनके द्वारा सौख्य-शान्ति पाते॥
परमेष्ठी[4] सबके पिता प्रजापति परमेश्वर।
है निखिल चराचर के वे अद्वय[5] सर्वेश्वर॥ ३१॥

---

१ इकाइयों; २ पुरुष, पूर्व पक्ष; ३ नारी, प्रतिपक्ष; ४ ब्रह्मा, शिव, विष्णु और अग्नि के लिए इस विशेषण का प्रयोग होता है। अर्थ है—जो सबसे बड़ा है, सर्वोच्च स्थितिवाला है; ५ जैसा कोई दूसरा नही।

कर रही है। इन मन्त्रों में जीवों पर भगवान के द्वारा देवताओं का स्वामित्व स्थापित करने की बात कही गई है। उदाहरणस्वरूप इस मन्त्र में यह बताया गया है कि एक खुर के पशुओं का स्वामी भगवान ने वरुण को बनाया। पूषा को छोटे पशुओं का स्वामी बनाया। वैदिक विज्ञान के व्याख्याता आचार्यो ने बतलाया है कि देवतागण उन बद्ध जीवो में है, जिन्होंने भगवान की सेवा की विशुद्ध चेतना विकसित कर ली है, किन्तु साथ ही साथ वे अपरा शक्ति पर आधिपत्य स्थापित करने की कामना पोषित करते है। ऐसी मिश्रित चेतनावाले देवगण सृष्टि के व्यवहारों के निर्यत्नक पद पर प्रतिष्ठित कर दिये गये है। इन देवताओं को बद्ध जीवों के नेतृत्व का भार सौंपा गया है। सृष्टि-रचना की प्रत्येक प्रक्रिया के पूर्व भगवान की स्तुति की जाती है, यह इस मन्त्र में बताया गया है। इस मन्त्र में उन्नीस, इक्कीस, तेईस शक्तियों आदि की चर्चा है और उनके नामों का निर्देश भी किया गया है। ३०

नवविंꣳशत्याऽस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासी[1]—
देकत्रिꣳशताऽस्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आस[2]—
स्त्रयस्त्रिꣳशताऽस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासी[3]—
ल्लोकं[4] ता इन्द्रम्[5] ॥ ३१ ॥

[अध्यायः १४, कण्डिकाः ३१ मन्त्र-संख्या १६५]

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

नवविंशत्या	हाथों-पैरों की दश-दश उंगलियां और नौ प्राणो से
अस्तुवत	(विद्वानों ने) स्तुति की।
वनस्पतयः	उन अंग-रूप शक्तियों से ही वनस्पतियों की
असृज्यन्त	रचना हुई।
सोमः अधिपति	सोम उनका अधिपति
आसीत्	हुआ।
एकत्रिंशता	हाथ-पैरों की बीस उँगलियाँ, दश प्राण और एक आत्मा को मिलाकर इकतीस से (उसकी)
अस्तुवत	(विद्वानों ने) स्तुति की।
प्रजाः असृज्यन्त	इनसे ही समस्त प्रजा रची गई।
यवाः च	पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष अथवा
अयवाः च	स्त्रियाँ और पुरुष ही
अधिपतयः	उनके अधिपति
आसन्	हुए।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अग्ने जातान् प्र णुदा नः सपत्नान्
प्रत्यजातान् नुद जातवेदः ।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडँस्तव
स्याम शर्मँ स्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ १ ॥

जातवेदः अग्ने	सब पदार्थों को जाननेवाले हे अग्नि !	नः अहेडं	हमारा अपमान न करके
		सुमना	प्रसन्न मन से
नः जातान्	हमारे उत्पन्न हुए	नः अधि ब्रूहि	हमको वरदान प्रदान करो ।
सपत्नान्	शत्रुओं को		
आ प्र णुद	पूर्णरूपेण विनष्ट करो ।	तव त्रिवरूथे	तुम्हारे त्रिताप के
		उद्भौ	निवारण करनेवाले
अजातान्	अनुत्पन्न शत्रुओं को	शर्मन् स्याम	उत्तम सुखों के
प्रति नुद	प्रतिबन्धित करो ।		उत्पादक स्थान में (हम) रहें ॥ १ ॥

पञ्चदश अध्याय

अग्ने ! तुम सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता ।
तापत्रयहारी शर्म[1]-वर्म[2] के तुम दाता ॥
उत्पन्न शत्रु जो मेरे उनका करो नाश ।
जो अनुत्पन्न हैं उनका बाधित हो विकास ॥
मत करो अनादर कभी हमारा परमेश्वर ।
होकर प्रसन्न दो हमें सभी अभिवांछित[3] वर ॥
आध्यात्मिक, दैवी, भौतिक सुख हों सभी प्राप्त ।
त्रयतापमुक्त हों सुलभ हमें सब सौख्य आप्त ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस मन्त्र में परमेश्वर के तेजोमय रूप अग्नि से यह प्रार्थना की गई है—हमें दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त कर शास्त्रविहित शान्ति और शर्म प्रदान करो । हमारे बाहरी और भीतरी काम, क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करो । नये शत्रु उत्पन्न न होने पावें । हमारी कभी उपेक्षा न करो, सब इच्छायें पूर्ण करो । १

---

१ सुख; २ रक्षा; ३ अभीष्ट ।

टि०—चौदहवें अध्याय के उत्तरार्ध के अधिकांश मन्त्रों में सृष्टि-रचना की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस प्रक्रिया में वेद जिस बात को पुनःपुनः बल देकर कहते हैं, वह है जीवात्मा के सहयोग से सृष्टि का होना। इसका तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि कोई अंध आकस्मिक घटना नहीं है। इस सृष्टि की रचना परमेश्वर की चिन्मयी आनंद-चेतना का स्फुरण है। यह जगत् परिहार का विषय नहीं है, अपितु आनंद का विषय है। मन्त्र में बताया गया है, सुधी जन भगवान के रचना-कौशल का अनुभव कर उनकी स्तुति करते है। यह अनुभव उन्हीं ऋषियों को होता है, जिनमें वास्तविक अकृत्रिम अहं-विमर्श का उदय होता है जिसके द्वारा जगत् परमेश्वर की सर्वव्यापी आनंदमयी चेतना की अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगता है। उस समय समस्त जगत् भगवान की पराशक्ति की क्रीड़ा प्रतीत होने लगता है। एक महान वैष्णव वैदिक आचार्य का कथन है—वेद की इस सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन का उद्देश्य है, सुषुप्त-बद्ध जीवों को आध्यात्मिक चेतना के वास्तविक जीवन के प्रति जागरूक कर देना, जिससे वे परमात्मा की विभूतियों के परमानन्द-रस में भाग ले सकें। ३१

॥ चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥

षोडषी स्तोमः	सोलह कलाओं से युक्त स्तोम	तां त्वां	उन तुम्हारी
ओजः द्रविणम्	पराक्रम-रूप धन देता है।	अभि गृणन्तु	स्तुति करते हैं।
चतुश्चत्वारिंशः	चौवालीस	स्तोमपृष्ठाः	(हे इष्टके ! तुम) समस्त बलों और वीर्यवान पुरुषों का आश्रय होकर
वर्चः स्तोमः	बलों से युक्त स्तोम भी	घृतवती	तेज को धारण करती हुई
द्रविणम्	तेजरूपी धन प्रदान करता है।	इह सीद	इस भूतल पर स्थिर हो (और)
अप्सः नाम अग्नेः	(हे इष्टके ! तुम) जल में उत्पन्न होनेवाले अग्नि के	अस्मे	हमें
पुरीषं असि	बल को बढ़ाने-वाली हो।	प्रजावत्	सन्तान से युक्त
विश्वे देवाः	सब देवता	द्रविणं	प्रभूत ऐश्वर्य
		आ यजस्व	प्रदान करो ॥ ३ ॥

षोडशी स्तोम[1] यह सोलह कलायुक्त नित।
पौरुष-रूपी धन देता होकर संसेवित ॥
यह स्तोम चार-चालीस[2] बलों से मंडित।
है तेज और बल करता दान अपरिमित ॥
हे जगदंबा ! माँ सार्वभौम[3] कल्याणी।
इष्टका-रूप में संस्थित हे वरदानी ! ॥
अग्नि को अग्रणी की हो बलवर्द्धक तुम।
रक्षक हो, तुमसे ही रक्षा पाते हम ! ॥
सब देव तुम्हारा करते स्तवन निरंतर।
सब वीर्यवान, बलवान तुम्हीं पर निर्भर ॥
जल से उत्पन्न अग्नि-बल तुम्हीं सदोदित।
देवता करें उस बल की अर्चा नव नित ॥
अपरिमित तेज को करके अपने धारण।
धरती पर विलसो, तुम ध्रुव बन हे चिद्घन ॥
ये स्तोम हमारे बनें तुम्हारा आसन।
दो हमको इच्छित प्रजा और बहुविध धन ॥ ३ ॥

टि०—अनेक मंत्रों के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इष्टका के प्रतीक का अनेक संदर्भों में प्रयोग हुआ है। इस मंत्र में उसका अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग

१ स्तुति या सूक्त; २ चौवालीस; ३ सारी धरती।

सहसा जातान् प्र णुदा नः सपत्नान्
प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो
वयᳬं स्याम प्र णुदा नः सपत्नान् ॥ २ ॥

जातवेदः	हे सबको जाननेवाले अग्नि !	सुमनस्यमानः	उत्तम मनवाले होकर
सहसा जातान्	उत्पन्न होकर बलवान बने हुए	नः	हमें
नः सपत्नान्	हमारे शत्रुओं को	अधि ब्रूहि	उपदेश करो ।
आ प्र णुद	सब ओर से नष्ट कर दो ।	वयं आ स्याम	हम बलवान बनकर रहें ।
अजातान्	अनुत्पन्न शत्रुओं को	नः सपत्नान्	हमारे शत्रुओं का
प्रति नुदस्व	विनष्ट कर दो ।	प्र णुद	नाश करो ॥ २ ॥

हे जातवेद ! तुम जातमात्र[1] के हो ज्ञाता ।
बलवान शत्रुओं से तुम बनो त्राणदाता[2] ॥
उत्पन्न सबल मेरे रिपुओं का करो नाश ।
भावी अरियों का भी अग्ने ! तुम करो नाश ॥
शोभन मन[3] होकर करो हमारा पथ-दर्शन ।
कल्याण-कलित उपदेश करो शुचि हो जीवन ॥
हम करें निरंतर नित नव बल का संपादन ।
सब शत्रु नष्ट कर योगक्षेम का करो वहन ॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हमारे उत्पन्न और अनुत्पन्न सब शत्रु नष्ट हों । अग्नि का नाम जातवेदा है, क्योंकि वे सब उत्पन्न पदार्थों के सम्यक् ज्ञाता है । अग्नि परमात्मा की एक परम विभूति है, उनका स्वरूप हैं । उनसे अनुरोध किया गया है कि वे प्रसन्न मन से उत्तम उपदेश करें, जिससे जीवन पवित्र बने और बाह्य एवं आभ्यंतर शक्ति की वृद्धि हो । २

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं
चतुश्चत्वारिᳬंश स्तोमो वर्चो द्रविणाम् ।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

१ सब उत्पन्न पदार्थ; २ रक्षक, प्राण; ३ सुंदर प्रसन्न मन ।

पदपंक्तिः छन्दः	पदपंक्ति आनन्द प्रदान करनेवाला छन्द है।
विष्टारपंक्तिः	विष्टारपंक्ति
छन्दः	छन्द आनन्द देता है।
क्षुरो भ्रजः छन्दः	क्षुरोभ्रज छन्द आनन्द देता है ॥४॥

आनन्दरूप हैं छन्द सकल, आनन्द-स्रोत हैं छन्द अकल[1]।
गतिरूप हैं सकल छन्द विदित, आनन्द-उत्स[2] है गति ही नित।
श्रेष्ठता-रूप हैं छन्द प्रथित, आनन्द श्रेष्ठता है ऊर्जित।
भूमा[3] में हैं परिव्याप्त छन्द, यह भूमा ही है परानन्द।
आनन्दरूप हैं आच्छादन, हैं छन्दरूप ये धरा-गगन।
मन छन्दरूप आनन्दधाम, है मनन-शक्ति रसमय प्रकाम।
है व्यचः छन्द यह व्याप्तिरूप, व्याप्ति ही परमसुख का स्वरूप।
उल्लसित तरंगों में अविरत, आनन्द-छन्दमय सिन्धु सतत।
है यह समुद्र सीमा-विहीन, शत छन्दों में आनन्दलीन।
गतिमय यह जल है छन्दरूप, आनन्द अमल इसका स्वरूप।
धारण करतीं यश जो उज्ज्वल, आनन्द-छन्दमय ककुभ[4] सकल।
आनन्दप्रदायक त्रिककुप् यह, है छन्दरूप प्रवहित अहरह।
आनन्द-स्यन्द[5] यह काव्य-छन्द, परनिर्वृतिमय[6] है यह अमन्द।
है परानन्द अंकुप नित नव, रस का उच्छलित महा अर्णव।
यह अक्षर पंक्ति छन्द शोभन, आनन्दित करता है प्रतिमन।
यह पंक्ति छन्द आनन्द गहन, बरसा करता बन अमृत-घन।
विष्टार पंक्ति यह छन्द मधुर, रससिक्त बनाता है प्रति उर।
यह छन्द क्षुरोभ्रज मधुवर्षण, आदित्यरूप है तमधर्षण[7]।
एवः वरिवः शंभू परिभू, अच्छत्, मन, व्यचः सिन्धु रस-भू।
ये सरिर, समुद्र, ककुप्, त्रिककुप्, है काव्य कलामय यह अंकुप।
अक्षरपंक्तिक विष्टार पंक्ति, क्षुरोभ्रजछंद सह पदपंक्तिक।
ये अष्टादश गतियाँ मधुमय, रसस्रोत छन्दमय हैं अक्षय।
मानवो ! करो पुरुषार्थ प्रबल, आनन्द-छन्दमय विश्व सकल।
ढालो इसमें अपना जीवन, अमृतोपम हो प्रतिपल, प्रतिक्षण।
यह सृष्टि छन्द की अभिव्यक्ति, भूमा की इसमें निहित शक्ति ॥ ४ ॥

टि०—इस कंडिका के मन्त्रों में छंद की महिमा का प्रकाशन किया गया है। निर्देश यह है कि परमानन्द अथवा दिव्यानन्द की कलात्मक अभिव्यक्ति का नाम छंद है।

१ अखण्ड, २ स्रोत; ३ नि.सीम व्याप्ति; ४ दिशाएँ; ५ आनन्द को प्रवाहित करनेवाला, ६ दिव्य परमानन्दपूर्ण; ७ अन्धकार को नष्ट करनेवाला।

हुआ है। दुर्गा सप्तशती में 'नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' कहकर जिन सार्वभौमिक माँ को संबोधित किया गया है, केन उपनिषद में इन्हीं का 'उमा' के अभिधान से वर्णन है। जब बड़े-बड़े देवता एक तिनका तक नहीं हिला पाते, तब ये ही उनको भगवान के स्वरूप का कुछ ज्ञान प्रदान करती हैं। 'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमानामुमां हैमवती··· ।' 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता', और 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता' कहकर उन्हीं का निर्वचन किया जाता है। वे इष्टकारिणी हैं, सर्वाभीष्टप्रदायिनी है, इसलिए उनके लिए इष्टका अभिधान सर्वथा उपयुक्त है। ऋग्वेद के रात्रिसूक्त और देवीसूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्यथर्वशीर्ष' में इन्हीं जगदम्बा महामाया की विभूतियों का वर्णन है। ३

एवश्छन्दो[१] वरिवश्छन्दः[२] शम्भूश्छन्दः[३] परिभूश्छन्द[४]
आच्छच्छन्दो[५] मनश्छन्दो[६] व्यचश्छन्दः[७] सिन्धुश्छन्दः[८]
समुद्रश्छन्दः[९] सरिरं छन्दः[१०] ककुप्छन्द[११]स्त्रिककुप्छन्दः[१२]
काव्यं छन्दो[१३] अङ्कुपं छन्दो[१४] ऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः[१५]
पदपङ्क्तिश्छन्दो[१६] विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः[१७] क्षुरो भ्रजश्छन्दः[१८] ॥ ४ ॥

एवः छन्दः	गति में आनन्द है।
वरिवः छन्दः	श्रेष्ठता में आनन्द है।
शम्भू छन्दः	(दूसरों को) सुख देने में आनन्द है।
परिभूः छन्दः	संकीर्णता छोड़कर व्यापक होने में आनन्द है।
आच्छत् छन्दः	आच्छादन करने में आनन्द है।
मनः छन्दः	मन की मनन-शक्ति में आनन्द है।
व्यचः छन्दः	व्याप्त करने की शक्ति में आनन्द है
सिन्धु छन्दः	सिंधु की तरह असीम होने में आनन्द है।
समुद्रः छन्दः	समुद्र की तरह मर्यादा में रहने में आनन्द है।
सरिरं छन्दः	जल की तरह गतिमान होने में आनन्द है।
ककुप् छन्दः	ककुप् होने में आनन्द है।
त्रिककुप् छन्दः	त्रिककुप् आनन्द देनेवाला छन्द है।
काव्यं छन्दः	काव्य आनन्द देनेवाला है।
अंकुपं छन्दः	अंकुप छन्द आनन्द देता है।
अक्षरपंक्तिः छन्दः	अक्षरपंक्ति छन्द आनन्द देता है।

निकायः छन्दः अत्यन्त शब्दकारक वायु का मनन करके मै तुम्हारा सादन करता हूँ।

विवधः छन्दः जहाँ भूत-प्रेत रूप से पाप भोगे जाते हैं, उस अन्तरिक्ष का मै मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

गिरः छन्दः भक्षण योग्य अन्न का मनन करके मैं तुम्हारा सादन करता हूँ।

भ्रजः छन्दः प्रकाशमान अग्नि का मनन करके मैं तुम्हारा सादन करता हूँ।

संस्तुप् छन्दः वैखरी वाणी का मै मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

अनुष्टुप् छन्दः मध्यमा वाणी का मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

एवः छन्दः पृथ्वीलोक का में मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

वरिवः छन्दः प्रभामण्डल का मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

वयः छन्दः बाल्यादि वय का मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

वयस्कृत् छन्दः बाल्यादिकारक जाठराग्नि का मनन करके मैं तुम्हारा सादन करता हूँ।

विष्पर्द्धाः छन्दः विविध ऐश्वर्य की प्राप्ति-वाले स्वर्ग के स्पर्द्धामूलक अहं-तत्त्व का मनन करते हुए मैं तुम्हारा सादन करता हूँ।

विशालं छन्दः जहाँ मनुष्य अनेक प्रकार से शोभित होते हैं, उस भूतल का मनन करते हुए मै तुम्हारा सादन करता हूँ।

छदिः छन्दः सूर्य की किरणों से छादित अन्तरिक्ष की माया का मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

दूरोहणं छन्दः कठिनता से प्राप्त ज्ञानरूप सूर्य का मै मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

तन्द्रं छन्दः अज्ञान का मनन करके मैं तुम्हारा सादन करता हूँ।

अङ्काङ्कं छन्दः आस्तिकता के निदर्शक जल का मनन करके मै तुम्हारा सादन करता हूँ ॥ ५ ॥

सृष्टि के प्रत्येक व्यापार में यह आनन्द की कलात्मक अभिव्यक्ति प्रतिक्षण संपन्न होती रहती है। इसको पहचानकर मानव अल्प की सीमा से मुक्त होकर भूमा का आनन्द प्राप्त कर लेता है। श्रुति का वचन है, 'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्।' छंद का अर्थ आच्छादन भी है। वस्त्र के बिना अनेक आभूषणों से आभूषित शरीर शोभा नहीं पाता, उसी तरह छंद के बिना काव्य की शोभा नहीं। यह सृष्टि भगवान का चिरंतन, अमर काव्य है— 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' इस सृष्टि में आनन्द का जो स्पंदन व्याप्त है, वह छंद है। कवि उसी को अपने काव्य में ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। छंद काव्य का संगीत-तत्त्व है, उसमें जो अन्य गुण है वे भी इस मन्त्र में बताये गये है, जैसे गति, श्रेष्ठता, सुख प्रदान करने की क्षमता, व्याप्ति, आच्छादन, सीमाहीनता, अक्षरों का सुन्दर विन्यास, पद-योजना का लालित्य आदि। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है— 'जो मनुष्य धर्मयुक्त कर्म में पुरुषार्थ करने से सबके प्रिय होना अच्छा समझते है वे सब सृष्टि के पदार्थों से सुख लेने में समर्थ होते है।' ४

आच्छच्छन्दः[१] प्रच्छच्छन्दः[२] संयच्छन्दो[३] वियच्छन्दो[४] बृहच्छन्दो[५] रथन्तरञ्छन्दो[६] निकायश्छन्दो[७] विवधश्छन्दो[८] गिरश्छन्दो[९] भ्रजश्छन्दः[१०] सँस्तुप्छन्दो[११]ऽनुष्टुप्छन्द[१२] एवश्छन्दो[१३] वरिवश्छन्दो[१४] वयश्छन्दो[१५] वयस्कृच्छन्दो[१६] विष्पर्धाश्छन्दो[१७] विशालं छन्द[१८]—श्छदिश्छन्दो[१९] दूरोहणं छन्द[२०]—स्तन्द्रं छन्दो[२१] अङ्काङ्कं छन्दः[२२] ॥५॥

आच्छत् छन्दः	(हे इष्टके!) शरीर के आच्छादक अन्न का मनन करके मै तुम्हारा सादन करता हूं।
प्रच्छत् छन्दः	शरीर-प्रच्छादक जल का मनन करके मै तुमको स्थापित करता हूं।
संयत् छन्दः	व्यापार की निवर्तक रात्रि का मनन करके मै तुम्हारा सादन करता हूं।
वियत् छन्दः	विशेष व्यापार-प्रवर्तक दिन का मनन करते हुए मै तुमको स्थापित करता हूँ।
बृहत् छन्दः	विस्तीर्ण द्युलोक का मनन करके मै तुमको स्थापित करता हूँ।
रथन्तरं छन्दः	जहाँ पृथ्वी पर रथ से गमन करते हैं, उस भूलोक का मै मनन करके तुम्हारा सादन करता हूँ।

टि०—छंद आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम है। परमात्मा ने सृष्टि में जितने रूपों की सृष्टि की है, वे सब उनकी सर्जनेच्छा में निहित आनन्द की अभिव्यक्ति है। काव्य के छंद परमात्मा के इन्हीं सृष्टि-छंदों की अनुकृति या प्रतिकृति है। वस्तुतः छंद चेतना का अप्रतिहत प्रवाह है, जो जड़-चेतन सबको आच्छादित किये हुए है और सबमें अंतर्व्याप्त है। छन्द चेतना का घनीभूत आनंद है, वह जड़ता के भाव से मुक्ति की स्थिति है। यह स्थिति तब आती है, जब सर्वत्र व्याप्त 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' परब्रह्म परमात्मा के आनंदस्वरूप की प्रत्यक्षानुभूति होती है। इस साक्षात्कार के पश्चात् वह प्रकृति के बंधन से छुटकारा पा लेता है। यही सच्चा स्वातन्त्र्य है, पारतंत्र्य से मुक्ति का यही स्वरूप है। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है, "मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता को स्वीकार करें।" इस मन्त्र में दो बार भक्षणार्ह और भ्राजमान अन्न की बात आई है। इनसे गिरः और भ्रजः छंद का आविर्भाव हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस अन्न को मनुष्य आत्मसात् करता है, वह मनुष्य की कोशिकाओं में भगवान की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वदयाभाव को उत्प्रेरित करे। ५

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मँ जिन्वा-
न्वित्या दिवा दिवँ जिन्व सन्धिनाऽन्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व
प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिँ जिन्व
प्रवयाऽह्नाऽहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीँ जिन्वोशिजा वसुभ्यो
वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

रश्मिना	(तुम) किरण या तेज के द्वारा
सत्याय	सत्य के लिए
सत्यं	सत्य को
जिन्व	संतुष्ट करो।
प्रेतिना	उत्तम ज्ञानपूर्वक
धर्मणा	धर्म के द्वारा
धर्मं जिन्व	धर्म का पालन करो।
अन्वित्या	प्रगति करते हुए
दिवा दिवं	तेजस्वितापूर्ण द्युलोक को
जिन्व	संतुष्ट करो।
सन्धिना	संधि के द्वारा,
अन्तरिक्षेण	अन्तरिक्ष के द्वारा
अन्तरिक्षं जिन्व	अंतरिक्ष को जानो।
प्रतिधिना	अन्न के द्वारा
पृथिव्या	पृथ्वी के हित के लिए
पृथिवीं	पृथ्वी से
जिन्व	प्रीति करो।
विष्टम्भेन वृष्ट्या	स्तम्भन करनेवाली वृष्टि के द्वारा
वृष्टिं जिन्व	वर्षा को जानो।
प्रवया अह्ना	अन्न के लिए
अहः	दिन को

आनन्दप्रदायक विविध छन्द, ये हैं नित नव आनन्द-स्यंद[1]।
तन का आच्छादन अन्न विदित, आच्छत् है उसका छन्द प्रथित।
प्रच्छादक तन का जल है नित, प्रच्छत् है उसका छन्द अमृत।
जो सब व्यापारों का विराम, चिर श्रान्तिहारिणी[2] जो प्रकाम।
संयत करती जो सकल द्वन्द्व, संयत है उस रात्रि का छन्द।
व्यवहार-प्रवर्तक जो अशेष, उद्भासित करता निखिल देश।
उस दिन में जो आनंद अमित, प्रकटित करता यह छंद वियत्।
बरसाता जो नित नवानंद, है उस द्युलोक का बृहत् छन्द।
रथ से जिस पर करते विचरण, उस भू का छन्द रथंतर धन।
रवकारक विपुल वायु की सृति, यह छन्द निकाय उसी की कृति।
भोगते जहाँ जन पाप मन्द, उस अंतरिक्ष का विविध छन्द।
हैं भक्षणार्ह[3] जो अन्न धन्य, है गिरः छन्द वह ही अनन्य।
है अन्न सतत जो भ्राजमान, भ्रजछन्द उसी का दिव्य दान।
वैखरी गिरा का ही प्रकाश, यह संस्तुप-छन्द-जनित विलास।
मध्यमा गिरा का रस-वर्षण, यह छन्द अनुष्टुप् मंद्रित[4] घन।
पृथ्वी की गति-सृति से ऊर्जित, यह एक छन्द है रसमय नित।
जो निखिल प्रभामंडल अनूप, यह वरिव छन्द उसका स्वरूप।
जठराग्नि वयस्कृत छन्द प्रकट, वैश्वानर-रूप ज्वलित उत्कट।
जो विपुल विविध ऐश्वर्यपूर्ण, है स्पर्द्धा से जो अहं-घूर्ण[5]।
जो स्वर्ग उसी का महानन्द, प्रकटा विष्पर्धा-रूप छन्द।
शोभा धारण करते मानव, जिस भूतल पर बहुविध नित नव।
उस धरती-सा ही अति विशाल, है छन्द विशाल परम रसाल।
रवि-किरणों से रहता छादित, जो अन्तरिक्ष शत-ज्योति-भरित।
छवि छन्द उसी का है विलास, नंदित जिससे सब दिशाकाश।
जो हैं अति दुर्गम दुराराध्य, निष्काम कर्म ही सतत साध्य।
उस ज्ञान-सूर्य का ही प्रकाश, इस छन्द दुरोहण का विलास।
अज्ञानजन्य संकोच-हरण, यह तंद्र छन्द निःसीम-करण।
आस्तिक ही का है संवेदन, अंकांक छन्द रसमय प्रतिक्षण।
सब रूपों से है प्रकट छन्द, सर्वत्र व्याप्त है सकल छन्द।
इष्टके ! परम आनन्द-धाम, इन रूपों में तुमको प्रणाम।
तुम पारतंत्र्य से करो मुक्त, हम रहें सदा स्वातंत्र्य-युक्त ॥ ५ ॥

---

१ आनन्द को प्रवाहित करनेवाला, २ थकावट दूर करनेवाली; ३ खाने के योग्य; ४ गरजता हुआ; ५ घूमता हुआ।

अनुकूल रात्रि से करो रात्रि का प्राप्त ज्ञान।
वसुगण करते अपने स्वरूप का ज्ञान-दान ।।
सबके कल्याण हेतु वसुओं को करो तृप्त।
उनका प्रसाद तुम शिरसा[1] करो सदा स्वीकृत ।।
ज्ञान से करो आदित्यों को परितृप्त सतत।
आदित्य-ज्ञान से ही आदित्य साध्य संतत ।।
मानव! पदार्थ-विद्याएँ सब हैं ज्ञेय[2] ध्येय[3]।
उनके द्वारा उपलब्ध करो सब प्रेय-श्रेय ।। ६ ।।

टि०—यह मन्त्र मनुष्य को अपने जीवन को सार्थक और श्रेष्ठ बनाने के विषय में कई महत्त्वपूर्ण निर्देश देता है। पहला आदेश है, सत्य से प्रेम करो और तेजस्विता के साथ सत्य का संरक्षण करो। दूसरा आदेश है, धर्म से प्रेम करो और ज्ञानपूर्वक धर्म का पालन करो। इन दो महत्त्वपूर्ण आदेशों के अतिरिक्त यह कहा गया है कि अंतरिक्ष की गवेषणा कर उसकी अंतर्निहित शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करो। पृथ्वी का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करो। वृष्टि, दिन, रात, सूर्य आदि का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करो। अन्तरिक्ष, भूमि, अन्न, वृष्टि, दिन, रात, सूर्य आदि की परीक्षा स्वयं करो और पदार्थ-विज्ञान के विविध क्षेत्रों मे प्रगति करो। इस मंत्र का यह भी निर्देश है कि अपनी धरती पर तुम्हारा अविचल प्रेम हो। इस प्रकार के मंत्रों से स्पष्ट है, वैदिक राष्ट्रवाद सत्य और धर्म पर आधारित है। ६

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ।। ७ ।।

तन्तुना	(तुम) शरीर के संवर्धक	एडेन	ओषधियों के बनाने के लिए
रायस्पोषेण	अन्न के सम्यक् आयोजन से	ओषधीभिः	ओषधियों के द्वारा
रायस्पोषं जिन्व	धन का पोषण करो।	ओषधीः जिन्व	औषधि प्राप्त करो।
सं सर्पेण	सुयोग्य संबंध से	उत्तमेन तनूभिः	उत्तम अन्न के प्रभाव से
श्रुताय	वेद की रक्षा के लिए	तनूः जिन्व	उत्तम शरीर का निर्माण करो।
श्रुतं जिन्व	वेद का ज्ञान प्राप्त करो।	वयोधसा	बल और आयुवर्धक अन्न के उपयोग के द्वारा,

१ शिर से; २ जानने योग्य; ३ ध्यान करने योग्य।

जिन्व	जानो।
अनुया रात्र्या	अनुकूल रात्रि के द्वारा
रात्रीं जिन्व	रात्रि को जानो।
उशिजा वसुभ्यः	सबके हित की इच्छा करनेवाले वसुओं की तुष्टि के लिए
वसून् जिन्व	वसुओं से प्रीति करो।
प्रकेतेन	ज्ञान के द्वारा
आदित्येभ्यः	आदित्यों के लिए
आदित्यान् जिन्व	आदित्यों को प्रसन्न करो ॥ ६ ॥

तेजस्वी बनकर करो सत्य का संरक्षण।
तुम करो सत्य से प्रेम सत्यमय हो जीवन ॥
सत्य की प्राप्ति ही हो जीवन का लक्ष्य परम।
परितृप्ति सत्य की हो जीवन का साध्य परम ॥
तुम ज्ञानयुक्त आचरण धर्म का करो नित्य।
हो प्रेम तुम्हारा सदा धर्म पर अचल सत्य ॥
धर्म से धर्म का पालन करो सदा मानव !।
धर्म की तृप्ति के हेतु करो प्रयत्न नित नव ॥
तेजस्वी बनकर करते रहो प्रगति अविरत।
दिव को परितुष्ट करो शुभ कर्मों से संतत ॥
उपयोग करो तुम सदा संधि[1] का सम्यक् बल।
है अंतरिक्ष का ज्ञान उसी से साध्य सकल ॥
तुम अंतरिक्ष का करो प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान।
जानो सब अंतरिक्ष की तुम स्थितियाँ महान ॥
अन्नोत्पादन पृथ्वी की स्थिति का मानदंड।
तुम प्रीति करो इस अपनी धरती पर अखंड ॥
उपजाओ विपुल अन्न धरती का यही प्रेम।
इसके द्वारा ही साधो उसका सदा क्षेम ॥
जो हेतु देह-धारण का है अन्न-रस विदित।
वर्षा की ऋतु से है जिसका संबंध विहित ॥
वर्षा के द्वारा तुम वर्षा ऋतु को जानो।
दिन के द्वारा दिन के प्रकाश को पहचानो ॥

१ संधिरूप प्रकाश, अंतरीय स्थान।

प्रतिपत् असि	(तुम) बुद्धि हो।	सम्पत् असि	(तुम) संपत्ति हो।
प्रतिपदे त्वा	बुद्धि के लिए मैं तुमको प्राप्त करता हूँ।	सम्पदे त्वा	संपत्ति के लिए मै तुम्हें प्राप्त करता हूँ।
अनुपत् असि	(तुम) अन्न के स्वरूप हो।	तेजः असि	(तुम) तेज हो।
अनुपदे त्वा	अन्न के लिए तुमको मैं स्वीकार करता हूँ।	तेजसे त्वा	तेज के लिए तुमको मैं स्वीकार करता हूँ॥ ८॥

प्रतिपत् हो वृद्धिरूपिणी तुम हे देवि! धन्य।
करता हूँ तुमको प्राप्त वृद्धि के हित अनन्य॥
बुद्धि की सिद्धि से ही बनता मानव महान।
नर के विकास का बुद्धि एक है योग्य मान॥
तुम अन्नरूप, कर रहा तुम्हारा देवि! वरण।
धनरूपा तुम, धन के हित करता तुम्हें ग्रहण॥
तुम हो शरीर में तेजरूप वर्चस्व-धाम।
तेज की प्राप्ति के हेतु तुम्हें करता प्रणाम॥ ८॥

टि०—दुर्गा सप्तशती में 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' अथवा 'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता' कहकर स्तोत्र का जैसा उत्कृष्ट विधान किया गया है, उसी का मूल सूत्ररूप इस मन्त्र में मिलता है। मन्त्र में यह निर्देश दिया गया है कि बुद्धि, तेज, अन्न, धन आदि भगवान की आद्या पराशक्ति जगदम्बा के प्रसाद हैं। इसी रूप में उनका ग्रहण किया जाना चाहिए। ८

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व॥ ९॥

त्रिवृत् असि	(तुम) तीन सवनों में संपन्न होनेवाले यज्ञ हो।	त्रिवृते त्वा	उस यज्ञ के लिए मैं तुमको स्वीकार करता हूँ।

अधीतेन	अध्ययन द्वारा	तेजः जिन्व	तेज प्राप्त
अधीतं जिन्व	ज्ञान प्राप्त करो।		करो ॥ ७ ॥
अभिजिता तेजसा	विजयी तेज से		

पोषक अन्नों से करो देह का तुम पोषण।
धन के पोषण से करो प्राप्त तुम पोषण धन॥
धन प्राप्त करो, धन का उपयोग करो उत्तम।
धन से ही होता तन का पोषण सर्वोत्तम॥
उत्तम गुरुओं से प्राप्त करो तुम वेद-ज्ञान।
उसकी रक्षा के हेतु करो उत्तम विधान॥
हो वेद-ज्ञान पर सदा तुम्हारी प्रीति अटल।
सर्वोच्च ज्ञान का शिखर यही है अमल धवल[1]॥
ओषधियाँ खोजो दिव्यौषधियाँ करो प्राप्त।
निर्माण करो उनका जग-मंगल हेतु आप्त[2]॥
साधना करो देह की शक्तियाँ हों जाग्रत।
हों स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर से स्वस्थ सतत॥
स्वास्थ्य के लिए बलवर्द्धक अन्न करो सेवन।
स्वाध्याय करो, ज्ञान का करो निज संवर्धन॥
तेज की वृद्धि के हेतु करो साधना सतत।
जीवन में जय के हेतु रहो मानव! उद्यत[3]॥ ७॥

टि०—इस मंत्र में मुख्य रूप से कल्याणकारी उपदेश दिये गये हैं। पोषक अन्न का सेवन कर अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते रहो—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह वेद के ही आदेश के आधार पर कहा गया है। धन का संग्रह करो और उसका उपयोग अपने और समाज की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए करो। श्रेष्ठ गुरुओं से वैदिक ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान का सर्वोच्च शिखर वही है। ओषधियों का अनुसंधान करो और उनसे प्राणरक्षक ओषधियों का निर्माण करो। अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में जो अनन्त शक्तियां भरी पड़ी है, उनको जाग्रत करो। स्वाध्याय द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाओ। अपने तेज की वृद्धि करो और जीवन में निरंतर जय प्राप्त करो। ७

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वा ऽनुपदस्यनुपदे त्वा
सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

---

१ निर्मल और श्वेत; २ प्रामाणिक (यह ओषधियों का विशेषण है); ३ तैयार।

चारित्र्य तुम्हारा हो दैवी संपत्ति[1] युक्त।
शुचि शील[2] प्रवर्त्तन हेतु तुम्हें करता स्वीकृत॥
जग-जीवन के कल्मष-दुख-दैन्य करो विदलित।
आक्रमण करो वाह्यान्तर अरि हों उन्मूलित॥
आक्रामक हो, हो शत्रुंजय तुम महाप्राण।
सम्यक् जय की विधि में दीक्षित हो तुम महान॥
उन्नति के पथ पर वढ़ते ही जाओ प्रतिक्षण।
स्वीकार किया तुमको मैंने ऋत-सत्य-प्रवण[3]॥
उत्क्रान्ति[4] तुम्हारा धर्म करो नित ऊर्ध्व-गमन।
है इसी हेतु यह दिया तुम्हें मैंने जीवन॥ ९ ॥

टि०—वेद शब्दब्रह्म है। यह भगवान की वह वाणी है जो नितान्त शुद्ध अंतःकरणों में प्रकाशित होती है। इस मन्त्र में यह आदेश दिया गया है कि मनुष्य को अपने जीवन को यज्ञमय बनाना चाहिए। जैसे यज्ञ में तीन सवन होते हैं, वैसे ही जीवन-यज्ञ के भी तीन सवन होते हैं, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। इन तीनों की सम्यक् साधना द्वारा निस्त्रैगुण्य होने का लक्ष्य सिद्ध किया जाना चाहिए। गीता में भगवान ने कहा है 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' तम, रज, सत् तीनों के ऊपर उठो, ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करो। श्रेष्ठ कर्म संपादन करते रहना ही सबसे वड़ा यज्ञ है। श्रेष्ठ कर्म करने के लिए उत्तम चरित्र के निर्माण के लिए, उत्तम चरित्र के आदर्श के प्रवर्तन के लिए ही मनुष्य को यह शरीर भगवान ने दिया है। 'यहि तन कर फल विषय न भाई।' यह शरीर लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिए दिया गया है। इसका उपयोग वाहरी और भीतरी सव शत्रुओं को नष्ट करने के लिए किया जाना चाहिए। इस जीवन को ऋत और सत्यमय वनाया जाना चाहिए। इसमें उत्क्रान्ति अर्थात् ऊर्ध्वगमन को मनुष्य का सवसे वड़ा धर्म वताया गया है। ९

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरꣳ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

---

१ अभय, सत्त्वसंशुद्धि, सरलता, निरहंकारता, त्याग, क्षमा, दया, परोपकार-वृत्ति आदि; २ पवित्र चरित्र; ३ ऋत और सत्य को अन्तःकरण से स्वीकार करने की प्रवृत्तिवाला; ४ ऊँचे से ऊँचे उठने या जाने का संकल्प या वृत्ति।

प्रवृत् असि	(तुम) सबको कार्य में प्रवृत्त करनेवाले हो।
प्रवृते त्वा	कार्य में प्रवृत्त करने के लिए तुमको मै स्वीकार हूँ। करता हूँ।
विवृत् असि	(तुम) प्रत्येक कार्य मे विशेष रीति से सम्बन्धित हो।
विवृते त्वा	विवृत्ति के लिए (मैं) तुम्हें ग्रहण करता हूँ।
सवृत् असि	(तुम) उत्तम चरित्र वाले हो।
सवृते त्वा	उत्तम चरित्र के लिए मै तुम्हें ग्रहण करता हूँ।
आक्रमः असि	(तुम) आक्रमक हो।
आक्रमाय त्वा	आक्रमणकर्ता तुमको मै स्वीकार करता हूँ
संक्रमः असि	(तुम) सम्यक् चढ़ाई करनेवाले हो।
संक्रमाय त्वा	सम्यक् आक्रान्ता तुमको मै स्वीकार करता हूँ।
उत्क्रमः असि	(तुम) उत्तम रीति से उन्नति करनेवाले हो।
उत्क्रमाय त्वा	उन्नति करनेवाले तुमको मैं स्वीकार करता हूँ।
उत्क्रान्तिः असि	(तुम) उत्क्रान्ति करनेवाले हो।
उत्क्रान्त्यै त्वा	उत्क्रान्ति करनेवाले तुमको मैं स्वीकार करता हूँ।
अधिपतिना ऊर्जा	अधिपति के तेज से
ऊर्जं	तेज को
जिन्व	प्रेरित करो ॥ ९ ॥

हो तुम्हीं तीन सवनों के यज्ञ अये मानव!।
त्रैगुण्य-विवर्जन[1] हित साधना करो नित नव ॥
ये ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थाश्रम त्रय।
हैं त्रिगुण-विजय के यज्ञरूप साधन अक्षय ॥
इनके माध्यम से ही होती संन्यास-सिद्धि।
स्थिर निस्त्रैगुण्य स्थिति की मिलती है समृद्धि ॥
सत्कर्म यज्ञ के अनुष्ठान तुम करो सतत।
सत्कर्मों में प्रवृत्त हो जग-जीवन अविरत ॥
कुशलता कर्म की करो निरंतर संपादन।
है इसीलिए यह मैंने तुम्हें दिया जीवन ॥

---

१ सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की परवशता से मुक्त होना।

की पत्नी या गृहस्वामिनी को सम्बोधित किया गया है। उससे कहा गया है, तू प्राची दिशा के समान है। पूर्व दिशा इसीलिए उत्तम कही गई है कि वहाँ सूर्योदय होता है। अग्नि और वायु सबका सूर्य के साथ सम्बन्ध है। जो पुरुष सूर्य, वायु और अग्नि के विज्ञान को जानते है, वे संसार में स्वयं सुखी होते है और प्राणियों को भी सुखी कर सकते है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवान राम की माता कौसल्या की प्राची दिशा के रूप में वंदना की है। १०

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳫं श्रयतु प्र उगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

विराट्	(तुम) विशेष विराजमान
दक्षिणा	दक्षिण
दिक् असि	दिशा हो।
रुद्राः देवाः	रुद्र देवगण
ते अधिपतयः	तुम्हारे पालक हैं।
इन्द्रः	इन्द्रदेव (तुम्हारी)
हेतीनां प्रतिधर्ता	व्याधियों के निवारक है।
पञ्चदशः स्तोमः	पञ्चदश स्तोम
त्वा	तुमको
पृथिव्यां श्रयतु	भूमि में स्थापित करें।
प्र उगं उक्थं	प्रउग नामक उक्थ
अव्यथायै	तुमको दृढ़ता के लिए
स्तभ्नातु	अधिक सुदृढ़ बनावे।
बृहत्साम	बृहत्साम
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष में
प्रतिष्ठित्यै	तुम्हारी प्रतिष्ठा का कारण हो।
प्रथमजाः	प्रथमोत्पन्न
ऋषयः	ऋषिगण
देवेषु दिवः	द्युलोक में देवों में,
मात्रया वरिम्णा	श्रेष्ठ देवांशों में
त्वा प्रथन्तु	तुमको स्थापित करें।
विधर्ता च	इष्टका निष्पादन करनेवाला
अयं अधिपति च	यह पालक देवता भी
त्वा	तुमको विस्तारित करे।
ते सर्वे	वे सब
संविदानाः	एकत्र होकर
नाकस्य पृष्ठे	सुखस्वरूप
स्वर्गे लोके	स्वर्गलोक में
यजमानं च	यजमान को अवश्य ही
सादयन्तु	पहुँचावें॥ ११ ॥

प्राची दिक्	(तुम) पूर्व दिशा
राज्ञी असि	राज्ञी जैसी हो ।
वसवः देवाः	आठ वसु देवता
ते अधिपतयः	तुम्हारे अधिपति हैं ।
अग्निः	अग्निदेव
हेतीनां प्रतिधर्ता	सम्पूर्ण कष्टों के निवारक हैं ।
त्रिवृत् स्तोमः त्वा	त्रिवृत् स्तोम तुमको
पृथिव्यां श्रयतु	पृथ्वी में स्थापन करें ।
आज्यं उक्थं	घृत और स्तोत्र
अव्यथायै स्तभ्नातु	तेरी दृढ़ता को और पुष्ट करें ।
रथन्तरं साम	रथंतर साम
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष लोक में
प्रतिष्ठित्यै	प्रतिष्ठा के लिए तुमको दृढ़ करें ।
प्रथमजाः	प्रथम उत्पन्न
ऋषयः	ऋषिगण
देवेषु दिवः	द्युलोक में श्रेष्ठ देवों में
मात्रया वरिम्णा	श्रेष्ठ देवांशों में
त्वा प्रथन्तु	तुम्हें सुस्थिर करें
विधर्ता च	और विशेष रीति से
अयं अधिपतिः	यह धारण करनेवाला अधिपति भी
च त्वा	भी तुमको विस्तारित करे ।
ते सर्वे	वे सब वसु आदि देवता
संविदानाः	मिलकर
नाकस्य पृष्ठे	सुख-स्वरूप
स्वर्गे लोके	स्वर्गलोक में
यजमानं	यजमान को
च सादयन्तु	अवश्य ही स्थापित करें ॥ १० ॥

हे देवि ! पूर्व की राज्ञी हो तुम भ्राजमान[1] ।
वसु आठ तुम्हारे पालनकर्ता हैं महान ॥
हैं अग्नि तुम्हारे कष्ट-हरण हित उद्यत नित ।
यह त्रिवृत् स्तोम धरती पर करे तुम्हें सुस्थित ॥
घृत और उक्थ[2] नित करें तुम्हारी दृढ़ संस्थिति ।
हो अंतरिक्ष में सामरथंतर से वृढ़ धृति ॥
सृष्टि के आदि में समुत्पन्न ऋषिगण समस्त ।
दिव में, देवों में स्थान प्रदान करें प्रशस्त[3] ॥
देवता वाक् के करें तुम्हें नित विस्तारित ।
मन के अधिपति दें इष्ट-सिद्धि तुमको वांछित ॥
है जहाँ न कोई दैहिक, दैविक, भौतिक दुख ।
यजमान को करें दान देव वह स्वर्गिक सुख ॥ १० ॥

टि०—उव्वट और महीधर के अनुसार इस मंत्र में प्राची दिशा रूपी इष्टका को संबोधित किया गया है । महर्षि दयानंद के अनुसार इस मन्त्र में यजमान

---

१ प्रकाशमान; २ स्तोत्र; ३ प्रशंसनीय ।

हेतीनां	दुःखों का
प्रतिधर्ता	निवर्तक है।
सप्तदशः स्तोमः	सप्तदश स्तोम
त्वा	तुमको
पृथिव्यां श्रयतु	भूमि पर स्थापित करें।
मरुत्वतीयं उक्थं	मरुत्वतीय स्तोत्र
त्वा	तुमको
अव्यथायै	दृढ़ता के निमित्त
स्तभ्नातु	स्थिर करें।
वैरूपं साम	वैरूप साम
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष में तुमको
प्रतिष्ठित्यै	प्रतिष्ठा के निमित्त दृढ़ करें।
प्रथमजाः	प्रथम उत्पन्न
ऋषयः	ऋषिगण
देवेषु दिवः	द्युलोक में देवगण
मात्रया वरिम्णा	श्रेष्ठ देवांशों में
त्वा प्रथन्तु	तुम्हें स्थापित करें।
विधर्ता च	इष्ट का निष्पादन करनेवाला और
अयं अधिपतिः च	यह प्रधान भूत देवता भी
त्वा	तुमको विस्तारित करें।
ते सर्वे	वे सब
संविदानाः	मिलकर
नाकस्य पृष्ठे	सुख-स्वरूप ऊपर
स्वर्गे लोके	स्वर्गलोक में
यजमानं च	यजमान को अवश्य
सादयन्तु	प्राप्त करें॥ १२॥

सम्राट्-सदृश[1] तुम दीप्तिधारिणी हो विशेष।
पश्चिमा दिशा हो भ्राजमान छविमय अशेष॥
आदित्य देवगण सदा तुम्हारे हैं पालक।
हैं वरुण देवता सदा तुम्हारे दुखहारक॥
सप्तदश स्तोम धरती पर तुम्हें करें सुस्थित।
ये उक्थ मरुत्वत[2] तुम्हें करें दृढ़तापूरित॥
वैरूप साम से अंतरिक्ष में हो स्थापित।
ऋषि प्रथमजात द्वारा दिव में हो तुम वंदित॥
देवांश करें ऋषि प्रथमजात दिव में स्थापित।
सब करें प्रधान भूत सुर तुमको विस्तारित॥
वसु आदि देवगण मिल शुभ मति कर निष्पादन।
यजमान का करें स्वर्गलोक में सुख-सादन॥ १२॥

टि०—जैसा पहले मन्त्र की टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है, इस मन्त्र में पश्चिम दिशा की वंदना की गई है। 'कलाकाष्ठादि रूपेण परिणामप्रदायिनि' कहकर उन नारायणी पराशक्ति की वंदना की गई है। वे ही पश्चिमा दिशा हैं। इष्टका उनके

१ विशेष दीप्तिमान, सम्यक् प्रकाशित किसी राजराजेश्वर के समान;
२ मरुत्वान् संबंधी, वायु देवता से संबंधित।

इष्टके, तुम्हीं दक्षिणा दिशा हो भ्राजमान।
स्वयमेव रुद्र तुमको पालन करते महान॥
हैं व्याधिनिवारक सदा तुम्हारे इंद्र विदित।
पंचदश स्तोम धरती पर करें तुम्हें सुस्थित॥
यह प्रउग उक्थ नित करे तुम्हारी दृढ़ संस्थिति।
हो अंतरिक्ष में बृहत्साम द्वारा दृढ़ धृति।
सब प्रथमजात[1] ऋषि दें द्युलोक में तुम्हें स्थान।
सब देवगणों में मिले तुम्हें महनीय[2] मान॥
इष्टप्रद देव सब करें तुम्हें नित विस्तारित।
वसु आदि देव मिल करें नाक-पथ उद्भासित॥
है जहाँ न दैहिक, दैविक, भौतिक ताप लेश।
सब देव करावें प्राप्त तुम्हें वह अ-दुख देश॥ ११॥

टि०—इस मंत्र में पूर्ववर्ती मंत्र की तरह दक्षिण दिशा की इष्टका के रूप में वंदना की गई है। कला काष्ठा (दिशा) आदि के रूप में परमात्मा की ही चैतन्य ज्योति भ्राजमान है। उसी के लिए कहा गया है, 'लवस्त्रुटिः कला काष्ठा निमेषस्तत्परः क्षणः।' इष्टका उसी का प्रतीक या निदान है। उससे प्रार्थना की गई है कि वह 'अ-दुख' स्थिति प्राप्त करावे। मूल मन्त्र में 'नाक' शब्द आया है। 'नाक' शब्द 'न' और 'अक' मिलकर बना है। 'अक' का अर्थ है, 'दुःख'। जहाँ दुख नहीं है, वही है नाक अथवा स्वर्ग। ११

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु मरुत्वतीय-मुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥ १२॥

सम्राट्	(तुम) विशेष दीप्तिमान	आदित्यः देवाः	आदित्य देवगण
प्रतीची	पश्चिम	ते अधिपतयः	तुम्हारे पालक स्वामी हैं।
दिक् असि	दिशा हो।	वरुणः	वरुण

१ सबसे पहले उत्पन्न; २ सबसे महान।

उत्तर दिशि हो तुम स्वयंप्रकाशरूप[1] संस्थित।
हैं मरुत देवगण पालक सदा तुम्हारे नित॥
करते रहते हैं सोम निरंतर व्याधिहरण[2]।
एकविंश स्तोम ये करें धरा पर संस्थापन॥
निष्कैवल्य स्तोम दृढ़ करे तुम्हारी स्थिति नित।
वैराज साम से रहो गगन में दृढ़ सुस्थित॥
ऋषि प्रथमजात देवांश करें दिव को अर्पित।
गुण देह और आत्मा के सदा रहें वर्धित॥
हैं इष्ट सिद्धि के दाता जो देवगण सकल।
मन के अभिमानी दें वे तुमको वांछित फल॥
वसु आदि देवगण मिलकर होकर एकप्राण।
यजमान को करें शाश्वत स्वर्गिक सुख प्रदान॥ १३॥

टि०—इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती की तरह उत्तर दिशा की वंदना की गई है। वह परमेश्वर की आद्याशक्ति नारायणी की कला है। वे एकविंश स्तोम के द्वारा आहूत होने पर धरती पर अवतरित होती है और अपने साधक यजकर्ता को शाश्वत स्वर्गिक सुख प्रदान करती है। १३

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याᳬं श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताᳬं शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥ १४॥

अधिपत्नी	(तुम) अधिक पालन करनेवाली	बृहस्पतिः	बृहस्पतिदेव
बृहती	बड़ी ऊर्ध्व	हेतीनां प्रतिधर्ता	दुःखों का निवारक है।
दिक् असि	दिशा हो।	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	त्रिणवत्रयस्त्रिंश
विश्वेदेवाः	सब देवगण	स्तोमौ	नामक स्तोम
ते अधिपतयः	तुम्हारे पालक है।	त्वा	तुमको

१ अपने आप प्रकाशित; २ कष्ट दूर करना।

प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। दसों दिशाएं भुवन-निर्माण में प्रयुक्त ईश की इष्टकाएँ हैं। पश्चिम दिशा के रक्षक और पालक आदित्य और वरुण का निर्देश इस मंत्र में है। १२

स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा आधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्तैकविंशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यांश्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजंसाम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

स्वराट्	(तुम) स्वयं विराजमान होनेवाली
उदीची	उत्तर
दिक् असि	दिशा हो।
मरुतः देवाः	मरुत् देवगण
ते अधिपतयः	तुम्हारे पालक हैं।
सोमः	सोम
हेतीनां	व्याधियों का
प्रतिधर्ता	निवारक है।
एकविंशः स्तोमः	एकविंश स्तोम
त्वा	तुमको
पृथिव्यां श्रयतु	भूमि में स्थापित करें।
निष्केवल्यं उक्थं	निष्केवल नाम का उक्थ या शस्त्र
अव्यथायै	दृढ़ता के लिए
स्तभ्नातु	तुमको स्थापित करे।
वैराजं साम	वैराज नाम का साम
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष में तुमको
प्रतिष्ठित्यै:	प्रतिष्ठा के निमित्त दृढ़ करे।
प्रथमजाः	प्रथमोत्पन्न
ऋषयः	ऋषिगण
देवेषु दिवः	द्युलोक में देवों में,
मात्रया वरिम्णा	श्रेष्ठ-देवांशों में
त्वा प्रथन्तु	तुमको स्थापित करें।
विधर्ता च	इष्ट का निष्पादन करनेवाला और
अयं अधिपतिः च	प्रधानभूत मनोभिमानी देवता भी
त्वा	तुमको विस्तारित करें।
ते सर्वे	वे सब वसु आदि देवता
संविदानाः	एकमति से
नाकस्य पृष्ठे	सुखस्वरूप
स्वर्गे लोके	स्वर्ग लोक में
यजमानं च	यजमान को अवश्य ही
सादयन्तु	प्राप्त करें॥ १३॥

यजमान तुम्हारे जो साधक आराधक।
सब देव उन्हें दें मिल स्वर्गिक सुख सम्यक्॥
तुम ऊर्ध्व दिशा हो आत्मज्योति-निष्पादक[1]।
सविता की तुम्हीं वरेण्य भर्ग-उत्पादक[2]॥ १४॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर की ऊर्ध्व दिशा का अभिनंदन किया गया है। सब देवता और विशेष रूप से बृहस्पति इसके प्रमुख संरक्षक हैं। यह पराशक्ति त्रिणव और तैंतीस स्तोमों द्वारा धरती पर उतारी जाती है। वैश्वदेव अग्नि और मरुत के हवयों से यह हृदयों में स्थान प्राप्त करती है और ध्यान का विषय बनती है। शाक्वर-रैवत साम द्वारा देवगण अन्तरिक्ष में इन्हीं की आराधना करते हैं। परम प्रकाश में नहाया हुआ उनका स्वरूप है। ये ही विश्वप्रसविता सविता के वरेण्य भर्ग का उत्पादन और वितरण करती हैं। १४

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य
रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ।
पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः
पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो
मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १५॥

अयं	यह	क्रतुस्थला	क्रतुस्थला
पुरः	पूर्व दिशा में स्थापित इष्टका-रूप अग्नि	अप्सरसौ	दो अप्सरायें हैं
हरिकेशः	कनकवर्ण की ज्वालाओं से युक्त	च दङ्क्ष्णवः	और काटने के स्वभाव वाले
सूर्यरश्मिः	सूर्य के सदृश किरणों वाला है।	पशवः हेतिः	व्याघ्रादि पशु आयुध हैं।
तस्य रथगृत्सः	उस अग्नि के रथ विद्या में कुशल	पौरुषेयः	परस्पर हनन-रूप
च रथौजाः च	और रथ-युद्ध में कुशल	वधः प्रहेतिः	वध प्रहेति है,
सेनानीग्रामण्यौ	सेनानायक और ग्रामनायक,	तेभ्यः	उस अग्नि के समस्त परिचायकों को
पुञ्जिकस्थला च	पुंजिकस्थला और	नमः अस्तु	नमस्कार हो।
		ते	वे सब
		नः मृडयन्तु	हमारे लिए सुख-कारक हों।

१ पूर्ण करनेवाली; २ श्रेष्ठ तेज को उत्पन्न करनेवाली।

पृथिव्यां श्रयताम्	भूमि पर स्थापित करें।
वैश्वदेवाग्नि	वैश्वदेव अग्नि
मारुते उक्थे	मारुत उक्थ
अव्यथायै	दृढ़ता के लिए
स्तभ्नीतां	तुमको स्थापित करें।
शाक्वररैवते	शाक्वर-रैवत
साम्नी	दोनों साम
अन्तरिक्षे	अन्तरिक्ष में
प्रतिष्ठित्यै	प्रतिष्ठा के निमित्त तुमको दृढ़ करें।
प्रथमजाः	प्रथम उत्पन्न
ऋषयः	ऋषिगण
देवेषु दिवः	द्युलोक में देवगणों में,
मात्रया वरिम्णा	श्रेष्ठ देवांशों में
त्वा प्रथन्तु	तुमको स्थापित करें।
विधर्ता च	इष्ट का निष्पादन करनेवाला और
अयं अधिपतिः च	यह प्रधानभूत देवता भी
त्वा	तुमको (विस्तारित करे)।
ते सर्वे	वे सब देवता
संविदानाः	एकमति होकर
नाकस्य पृष्ठे	दुःखरहित लोक के ऊपर
स्वर्गे लोके	स्वर्गलोक में
यजमानं च	यजमान को अवश्य
सादयन्तु	स्थापित करें ॥१४॥

तुम ऊर्ध्व दिशा हो अधिक पालनेवाली।
सब देव तुम्हारे पालक वैभवशाली॥
हैं दुःख-निवारण सदा बृहस्पति करते।
हित में प्रवृत्त वे सदा तुम्हारे रहते॥
ये त्रिणव और तैंतीस स्तोम पावनतम।
धरती पर तुमको करें प्रतिष्ठित दृढ़तम॥
ये वैश्वदेव अग्नि के उक्थ अघमर्षण[1]।
मारुत के उक्थ मनोरम जो मधुवर्षण[2]॥
वे करें देवि! तुमको उर-उर में स्थापित।
उतरो तुम उनकी ध्यान-भूमिका में नित॥
ये शाक्वर-रैवत साम तुम्हें हैं प्रियतर।
वे अंतरिक्ष में करें तुम्हें स्थित दृढ़तर॥
ये प्रथमजात ऋषिगण हैं प्राणरूप सब।
देवांश श्रेष्ठ दिव को अर्पित कर दें अब॥
ये मनोभिमानी सुरगण इष्टप्रदाता।
विस्तारित तुमको करें महाद्युति-स्नाता[3]॥

१ पाप नष्ट करनेवाले; २ मधु की वर्षा करनेवाले; ३ अनंत प्रकाश में नहायी हुई।

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य
रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि
प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं
द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

अयं	यह
दक्षिणा विश्वकर्मा	दक्षिण दिशा में स्थापित सब कर्मों का सम्पादन करनेवाला वायु है।
तस्य रथस्वनः	उसके रथ में स्थित होकर शब्द करनेवाला
च रथे चित्रः च	और रथ के ऊपर चित्र के समान स्थित होकर
सेनानी ग्रामण्यौ	उसके सेनानायक और ग्रामरक्षक ग्रीष्म के दो महीने हैं।
मेनका च सहजन्या अप्सरसौ	मेनका और सहजन्या नामक दो अप्सरायें हैं;
च यातुधाना हेतिः	और राक्षसगण शस्त्र हैं।
रक्षांसि प्रहेतिः	अतिक्रूर राक्षसगण तीक्ष्ण शस्त्र हैं।
तेभ्यः	उन सबको
नमः अस्तु	नमस्कार हो।
तेन मृडयन्तु	उनके द्वारा हमें सुख मिले।
ते नः अवन्तु	वे सब हमारी रक्षा करें।
ते	वे सब,
यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं,
च यः नः द्वेष्टि	और जो हमसे द्वेष करते हैं,
तं एषां	हम उनको इनकी
जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते हैं ॥ १६ ॥

यह है दक्षिणा दिशा जिसमें ये विश्वकर्मकर्ता ईश्वर।
है वायुरूप में शोभमान, सुन पड़ता रथ का रव घर्घर[1] ॥
यह रथ उनका आश्चर्यरूप ऋतु ग्रीष्म साथ में गर्जमान।
सेनापति और नगर-रक्षक हैं उभय मास उसके प्रधान ॥
मेनका और सहजन्या हैं दो साथ अप्सरायें उनके।
हैं माननीयता और सर्वजनसाधारणता गुण जिनके ॥

---

१ रथ के चलने का घोर शब्द।

ते	वे सब,
नः अवन्तु	हमारी रक्षा करें।
ते	वे सब
यं द्विष्मः च	जिनसे हम द्वेष, करते हैं और
यः नः	जो हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करता है,
तं	उसको
एषां	इनकी
जम्भे दध्मः	दाढ़ में डालते हैं ॥ १५ ॥

दृष्टका-रूप यह अग्नि पूर्व में है शोभित।
हैं कनकवर्ण के केशों-सी अर्चियाँ ज्वलित॥
रथ के चालन में दक्ष और रणयुद्ध-कुशल।
हैं ऋतु वसंत के मास उभय मधुमय प्रतिपल॥
वे सेनानायक और ग्रामनायक उनके।
चलते हैं आगे-पीछे परिचारक बन के॥
संकल्प और रूपादि ज्ञान का अधिष्ठान।
हैं दिशा और विदिशा-स्वरूप यह ऋतु महान॥
पुंजिकस्थला[1] हैं ऋतुस्थला[2] अप्सरा उभय।
परिचर्या करतीं सदा अग्नि की मंगलमय॥
दिक्-उपदिक् रूप इन्हीं का है आनंदधाम।
अग्नि के सभी इन परिचारकगण को प्रणाम॥
ये दंशनशील व्याघ्र आदिक पशु महाघोर।
ये ही हैं उनके वज्रायुध मारक अघोर॥
वध और हनन की वृत्ति परस्पर की ऊर्जित।
यह शस्त्रघात है अग्निदेव का अविफल चित्॥
ये करें हमारा सभी ओर से संरक्षण।
सुख स्वर्गिक हमें प्रदान करें प्रतिदिन प्रतिक्षण॥
जो हमसे करते द्वेष, द्वेष के जो भाजन।
पावक की दाढ़ें शीघ्र करें उनका निगरण[3] ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव का बड़ा प्रचंड प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। अग्नि की ज्वालाएँ ही उनके प्रज्वलित सोने के रंग के केश हैं। काटनेवाले व्याघ्रादिक पशु उनके वज्रायुध हैं, लोगों में एक-दूसरे को मारने और हत्या करने की वृत्ति है, वह उनका अमोघ शस्त्रघात है। वसंत ऋतु के दोनों मास उनके सेनानायक और ग्रामनायक है। पुंजिकस्थला और ऋतुस्थला अप्सराएँ उनकी परिचर्या करती हैं। ऐसे प्रतापी अग्निदेव से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। १५

---

१ सौभाग्य, सौन्दर्य और लावण्य का पुंजीभूत रूप; २ यज्ञ की संकल्परूपा; ३ निगलना।

ते नः	वे हमारी	यः नः द्वेष्टि	जो हमसे द्वेष करते हैं,
अवन्तु	रक्षा करें।	तं एषां	(हम) उनको इनकी
ते	वे सब,	जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते है ॥ १७ ॥
यं द्विष्मः	जिनसे हम द्वेष करते हैं,		
च	और		

पश्चिमा दिशा में शोभित हैं आदित्यदेव।
विश्व के प्रकाशक विश्वज्योति ये एकमेव[1] ॥
ये असम-रथी उनका रथ वर्षाऋतु शोभन।
सेनापति और ग्रामपति हैं दो मास स-घन[2] ॥
प्रम्लोचा और अनुम्लोचा अप्सरियाँ द्वय।
हैं साथ चल रही मोहित करती हुई हृदय ॥
प्रम्लोचन अनुलोचन करतीं ये किरण-कान्त।
ज्ञानोदय करतीं हर जीवन का सकल ध्वान्त[3] ॥
सब व्याघ्रादिक पशु हिंस्र[4] अस्त्र उनके मारक।
हैं काल-व्याल-से शस्त्रों के भी ये धारक ॥
उनके ये सब परिकर हमको दें सुख संतत।
वे रक्षा करें हमारी रहें अभयप्रद नित ॥
आदित्यदेव को करते हैं हम नमस्कार।
उनको प्रणाम मेरा परिकर-सह वार-बार ॥
जो द्वेष अकारण करके बने द्वेषभाजन।
उनका अपनी दाढ़ों में करें देव निगरण ॥ १७ ॥

टि०—इस मंत्र में पश्चिमा दिशा में आदित्य के रूप में विराजमान परमेश्वर के ज्योतिर्मय स्वरूप का अद्भुत दर्शन किया गया है। वे विश्व के प्रकाशक हैं, इसलिए मूलमंत्र में उन्हे 'विश्वव्यचा' कहा गया है। जो उदित होकर विश्व को प्रकाश से भर देता है, वह 'विश्वव्यचा' है। उनके जैसा रथ किसी वीर के पास नहीं, वे अप्रतिमट है। वर्षा के दोनों मास उनके सेनापति और ग्रामपति हैं। वर्षा सूर्य के कारण होती है, यह वैज्ञानिक सत्य वैदिक ऋषियों को हजारों वर्ष पूर्व सम्यक् ज्ञात था। आदित्य की किरणों को प्रम्लोचा और अनुम्लोचा अप्सरा कहा गया है। प्रम्लोचा विश्व में सर्वत्र व्याप्त परमात्मा की सच्चिदानन्द ज्योति का प्रकृष्ट दर्शन करवाती है और अनुम्लोचा वार-वार हृदय में उसका साक्षात्कार करने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार आदित्य की किरणों को अज्ञान का अंधकार दूर करनेवाली कहा गया है। पूर्ववर्ती मंत्र की तरह इस मंत्र में भी व्याघ्र और सर्प आदि के रूप में दंड देने के लिए व्याघ्र-सर्पादि अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख है। १७

---

१ एक ही; २ वादलोंवाले; ३ अंधकार; ४ हिंसक।

उन वायुरूप परमेश्वर के हैं यातुधान[1] सब अस्त्र विदित।
राक्षस-समष्टि क्रूरातिक्रूर है उनका मारक शस्त्र प्रथित।।
उन वायुरूप परमेश्वर के इन सब परिकरगण[2] को प्रणाम।
वे सुख दे, रक्षा करें सदा, वे हमें बनावें पूर्णकाम।।
जो द्वेष कर रहे हैं हमसे, जो अघी[3] सदैव द्वेष-भाजन।
हे देव! काल-दंष्ट्राओं में निज उनका करो त्वरित निगरण।। १६ ।।

टि०—यह बड़ा ही उदात्त, तेजस्वी और ओजपूर्ण मंत्र है। इसमें विश्व की रचना करनेवाले परमेश्वर के वायुरूप का बड़ा प्रभविष्णु वर्णन किया गया है। दक्षिणा दिशा-रूपी इष्टका के वे स्वामी हैं। वे जिस रथ पर बैठते हैं, उसमें बड़ा घोर घर्घर-रव होता है। ऋग्वेद में वायु को इन्द्र के साथ रथ में चढ़े हुए आकाश को स्पर्श करते हुए बताया गया है। उनके रथ को अनेक अश्व खींचते हैं। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि वह घनघोर रव करता हुआ और गरजता हुआ आता है। इसलिए ग्रीष्मऋतु के दोनों महीनों को उनका सेनानायक और ग्रामनायक कहना उचित ही है। ऋग्वेद मे वायु को दर्शनीय और सुन्दर भी कहा गया है। मेनका और सहजन्या दो अप्सराएँ उनके साथ हैं। मेनका उनकी माननीयता का प्रतीक है और सहजन्या साधारणता का। इस मंत्र का निर्देश यह है कि पापियों को दंड देने के लिए ही उन वायु-रूप परमेश्वर ने यातुधान और राक्षस-रूप अस्त्र-शस्त्र धारण कर रखे हैं। १६

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः[1] ॥ १७ ॥

अयं पश्चात्	यह पश्चिम दिशा में
विश्वव्यचाः	सब विश्व का प्रकाशक आदित्य है।
तस्य	उसके
रथप्रोतः	रथयुद्ध में कुशल
च असमरथः	और अनुपम रथी
सेनानी ग्रामण्यौ	सेनापति और ग्रामपालक वर्षा-ऋतु के दो मास हैं।
प्रम्लोचन्ती च	प्रम्लोचा और
अनुम्लोचन्ती	अनुम्लोचा दो
अप्सरसौ	अप्सरायें हैं;
च व्याघ्राः हेतिः	और व्याघ्र शस्त्र हैं।
सर्पाः प्रहेतिः	सर्पगण तीक्ष्ण शस्त्र हैं।
तेभ्यः	उन सबको
नमः अस्तु	नमस्कार हो।
ते नः	वे हमारे लिए
मृडयन्तु	सुख प्रदान करें।

१ राक्षसों की एक जाति-विशेष; २ पार्षदवर्ग; ३ पापी।

वे ताक्ष्र्य स्वयं हैं आयुध तम-अपसारक।
है अपर अरिष्टों के सैन्य के विदारक॥
विश्वाची और घृताची अप्सरियाँ द्वय।
हैं दिशा-उपदिशा रूप सदा मंगलमय॥
यह जलसमूह है अस्त्र यज्ञमय प्रभु का।
है प्रबल प्रभंजन[1] शस्त्र तीव्रतम विभु का॥
सुख दें वे हमको रक्षा करें हमारी।
उनको प्रणाम, हों नित नव मंगलकारी॥
जो करते हमसे द्वेष द्वेष-भाजन जन।
ये यज्ञदेव! उन सबका कर लो निगरण॥ १८॥

टि०—कई मंत्रों की टिप्पणियों में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि इष्टका अनेक संदर्भों में सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रियाओं का प्रतीक है। प्रसिद्ध वेदविद्याविद् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है, "सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विद्याओं के रूप में उपलब्ध होती है।" मेरा विचार है, वेद की अनेक विद्याओं में इष्टका की प्रतीक विद्या का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस मंत्र में इष्टका उत्तरा दिशा का प्रतीक है। इसी को धन के द्वारा संपन्न होनेवाली और धन प्रदान करनेवाली संपद्वसु यज्ञ कहा गया है। इसका संबंध शरद् ऋतु से है। उत्तर दिशा का ऋतु-परिवर्तन और शरदृतु के आगमन से संबंध स्पष्ट है। इस शरद्ऋतु के दो वाहक हैं— ताक्ष्र्य और अरिष्टनेमि। ताक्ष्र्य अपने तीक्ष्ण पंखों से अंतरिक्ष में संचरण करता है। वह सीमा और सान्तता का त्याग कर असीम और अनंत में संचरण करता है। आगे चलकर ताक्ष्र्य गरुड़ का नाम हो गया, जो सगुण और निर्गुण दोनों से परे परात्पर प्रभु का वाहन है। अरिष्टनेमि सब अरिष्टों का निवारक है। ऐसे ही परम चरम तत्त्व इस मंत्र में भरे हैं। १८

अयमुपर्य्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो
नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो
द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १९॥

अयं	यह	सेनाजित् च	सेनाजित् और
उपरि	ऊपर मध्य दिशा में	सुषेणः	सुषेण
अर्वाग्वसुः	पर्जन्य इष्टिका है।	सेनानी ग्रामण्यौ	सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु हैं।
तस्य	उसके		

१ तेज चलनेवाली हवा।

अयमुत्तरात्संयद्वसुस्तस्य ताक्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥

अयम्	यह
उत्तरात्	उत्तर दिशा में स्थापित इष्टका
संयद्वसुः	धन से प्राप्त होने वाला यज्ञ है।
तस्य	उसके
ताक्ष्यः च	ताक्ष्य अथवा गरुड़ और
अरिष्टनेमिः च	अरिष्टनेमि
सेनानी	सेनापति (और)
ग्रामण्यौ	ग्रामपालक (शरद-ऋतु) हैं।
च विश्वाची	और विश्वाची
च घृताची	(घृत खानेवाली) घृताची
अप्सरसौ	दो अप्सराएँ हैं;
च	और
आपः	जल
हेतिः	शस्त्र है।
वातः	वायु
प्रहेतिः	तीक्ष्ण शस्त्र है।
तेभ्यः	उनके को
नमः अस्तु	नमस्कार हो।
ते नः	वे हमको
मृडयन्तु	सुखी करें।
ते नः	वे हमारी
अवन्तु	रक्षा करें।
ते	वे,
यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते है
च यः नः	और जो हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करते है,
तं एषां	(हम) उनको इनकी
जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते है ॥ १८ ॥

इष्टका उत्तरा दिशा-रूप में स्थापित।
संयद्वसु यज्ञ यही है धनदाता नित॥
है वरद शरद! इसकी ऋतु सरसिज-शोभन[1]।
इसके मासद्वय लाते ज्योत्स्ना-प्लावन[2]॥
सेनानी और ग्रामपति द्वय इस ऋतु के।
हैं ताक्ष्य-अरिष्टनेमि वाहक इस ऋतु के॥
जो अंतरिक्ष में तीक्ष्ण पक्ष कर क्षेपण।
करते अनंत पर विजय-ध्वज का रोपण॥

१ कमलों के खिलने से शोभा पानेवाले; २ चांदनी की बढ़िया।

सेनापति और ग्रामपाल है। रूप और सौंदर्य से जग-जीवन को विमोहित करनेवाली अप्सराएँ इनके साथ हैं, जो अपने रूपातिशय से मन को वशीभूत करती हैं। वज्र और विद्युत् उनके शस्त्र हैं। वे अकारण द्वेषियों को काल के मुख में डाल देते हैं। १९

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपांरेतांसि जिन्वति ॥ २० ॥

अयम् अग्निः	यह अग्नि	पृथिव्याः पतिः	पृथ्वी का यह पालक
दिवः मूर्धा	द्युलोक का शिर है।	अपां रेतांसि	जलों के वलों को
ककुत्	वैल के कंधे-सा उन्नत है।	जिन्वति	पुष्ट करता है ॥२०॥

हे अग्निदेव दिव की मूर्धा से ज्योतिमान।
दिव-भुव के ज्योतिर्मानों में हैं ये प्रधान ॥
ज्वालामय ककुद वृष-स्कंधों[1] से हैं उन्नत।
पृथ्वी के पति हैं, पालक हैं हरिकेश[2] महत् ॥
ये प्राणों के, जल के बल का करते पोषण।
बलवान बनें इनके-से ही मानव प्रतिजन ॥ २० ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के स्वरूप का निरूपण है। अग्निदेव ही सूर्य के रूप में द्युलोक के शिरोभाग में शोभा पाते हैं। आकाश और पृथ्वी पर प्रकाशमान ज्योतिखण्ड हैं। उन सबमें ये प्रधान है। वृष के स्कंधों जैसे इनके प्रकाशमान ज्वालाओं और रश्मियों के कंधे हैं। ये सुनहले केशवाले अग्नि पृथ्वी का पालन करते हैं। ये जल और प्राण दोनों के बल को पुष्ट करते हैं। मनुष्य को इनके जैसा ही बलवान होना चाहिए। २०

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः।
मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

अयम् अग्निः	यह अग्नि	वाजस्य पतिः	अन्न का स्वामी
कविः	कान्तदर्शी,	मूर्धा	शिर के समान
सहस्रिणः	सहस्रों सुखों का स्वामी,	रयीणां पतिः	धनों का स्वामी है ॥ २१ ॥
शतिनः	सैकड़ों ऐश्वर्यो वाला,		

१ कंधा; २ सुकार्य से पीछे (सुनहले) केशोंवाले।

च उर्वशी	और उर्वशी
च पूर्वचित्तिः	तथा पूर्वचित्ति नामक
अप्सरसौ	दो अप्सराएँ है।
च	और
अवस्फूर्जन्	भय का हेतु वज्र
हेतिः	शस्त्र है।
विद्युत्	बिजली
प्रहेतिः	तीक्ष्ण शस्त्र है।
तेभ्यः	उन सबको
नमः अस्तु	नमस्कार हो।
ते नः	वे हमको
मृडयन्तु	सुखी करें।
ते नः	वे हमारी
अवन्तु	रक्षा करें।
ते यं	वे, जिनसे
द्विष्मः	(हम) द्वेष करते हैं
च यः नः	और जो हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करते हैं,
तं एषां	उनको इनको
जम्भे	दाढ़ों में
दध्मः	हम झोंकते है ॥१९॥

यह मध्य दिशा में विद्यमान जो ऊपर।
पर्जन्य[1] नाम की है इष्टिका मनोहर॥
हैं अर्वावसु इसके अधिदैवत वंदित।
दे वृष्टिदान वे अन्न विपुल देते नित॥
सेनापति ग्रामपाल इनके जयवर्द्धन[2]।
हेमन्त सुखद ऋतु के मासद्वय शोभन॥
इनकी सेनाएँ हैं सुंदर जयशाली।
शोभित है संग अप्सराएँ छविशाली॥
हैं पूर्वचित्ति उर्वशी उभय मनमोहन।
है रूप और सौंदर्य वशीकृत-जीवन[3]॥
भयकारक उनका अस्त्र वज्र है सुविदित।
विद्युत् है उनका शस्त्र तीक्ष्णतम शाणित[4]॥
इन सबको मेरा बारंबार नमन है।
सुख दें, रक्षा नित करें, सतत प्रणमन है॥
जो करते हमसे द्वेष द्वेष के भाजन।
हम करें देव-दाढ़ों में उनका क्षेपण[5]॥ १९॥

टि०—ऊपर मध्यवर्ती दिशा में अर्वावसु नाम के इष्टका के अधिपति देवता हैं। उनका नाम पर्जन्य है। पर्जन्य मेघ को भी कहते है। दूसरे के हित के लिए जो अपने को अर्पित करे, वह पर्जन्य है। हेमंत ऋतु के दो महीने इसकी सुन्दर सेना के जयिष्णु

१ मेघ जो दूसरे का हित करने के लिए उत्पन्न किया गया है; २ विजय की वृद्धि करनेवाले, ३ जीवन में वश में किया हुआ है; ४ सान पर चढा हुआ; ५ फेंकना, डालना।

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	यत्र	जहाँ
हव्यवाहम्	(जब तुम) हवि धारण करनेवाली	शिवाभिः	मंगल अश्वों के सहित
जिह्वां	जिह्वा-रूप ज्वाला को	नियुद्भिः सचसे	प्राप्त होते हो,(वहाँ)
चकृषे	प्रकट करते हो,	दिवि स्वर्षां	द्युलोक में स्वर्ग को देनेवाले
यज्ञस्य च	(तब) यज्ञ के और	मूर्द्धानं	आदित्य को
रजसः नेता	यज्ञजन्य ज्वालाओं के प्रवर्तक नेता	दधिषे	धारण करते हो ॥ २३ ॥
भुवः	होते हो ।		

हे अग्नि ! प्रकट करते हो जब हविवाहक जिह्वा की ज्वाला ।
यज्ञ की यज्ञ के फल की तुम धारण करते ज्वालामाला ॥
तब यज्ञ-प्रवर्तक नेता से होते हो तुम हे देव ! उदित ।
मंगल अश्वों[1] के साथ वहाँ अपने तुम होते हो शोभित ॥
जो हैं द्युलोक में विद्यमान आदित्य स्वर्ग-मुख-प्रद महान ।
तुम धारण करते हो उनको अपने में संतत महाप्राण ॥ २३ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की हविवाहक जिह्वा का उल्लेख है । इसी के द्वारा वे अपने यज्ञ-भाग का उपभोग करते है । मुण्डक उपनिषद् में उनकी सात चंचल जिह्वाएँ बताई गई है । उनके नाम हैं— काली कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी तथा धर्मरुचि । ऐसे अग्निदेव का इस मंत्र में बड़ा प्रभावी रूप प्रस्तुत किया गया है । ये अग्नि ही स्वर्ग का अनंत सुख प्रदान करनेवाले सूर्य को धारण करते हैं । इस मंत्र में अग्नि के मंगलप्रद अश्वों का भी उल्लेख है । अश्व शक्ति का प्रतीक है । अग्नि की शक्ति मंगलप्रदायिनी है । २३

अबोध्यग्निः समिधा जनानां
प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र
भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ २४ ॥

---

१ अग्नि की मंगलकारिणी शक्तियाँ ।

ये अग्नि क्रान्तदर्शी[1] शत-शत सुख के समूह के हैं स्वामी।
ऐश्वर्य अनंत प्रभूत अन्न-धन हैं सब इनके अनुगामी॥
मूर्धाधिष्ठित[2] ये त्रिभुवन में इनके समान कोई न और।
सबमें प्रधान धन हैं ये ही वांछित वंदित ये ठौर-ठौर॥
विद्या से और युक्ति से सेवित अन्न अशेष कामदाता[3]।
पुरुषार्थ करो अग्नि-सा मनुज, निज भाग्य के बनो निर्माता॥ २१॥

टि०—अग्नि क्रान्तदर्शी कवि है। जितने सुख हैं, उन सबके वे स्वामी हैं। अनंत ऐश्वर्य, अन्न, धन आदि पर उन्हीं का अधिकार है। वस्तुतः, अग्नि ही सब धनों में प्रधान धन है। मनुष्य का यह धर्म है कि वह अग्नि के समान तेजस्वी और पुरुषार्थी बनकर अपने योग्य निर्माण करे। २१

त्वाम॑ग्ने पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत।
मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑॥ २२॥

अग्ने	हे अग्नि!	मूर्ध्नः त्वां	शिर के तुल्य तुमको
विश्वस्य	संपूर्ण संसार के	अधि पुष्करात्	आकाश के बीच से
वाघतः	ऋत्विजों में श्रेष्ठ	निरमन्थत	मथकर प्रकाशित
अथर्वा	अथर्वा ऋषि ने		किया॥ २२॥

तुम उत्तमाङ्ग[4] से थे प्रशस्त[5], आकाश बीच व्यापृत[6] समस्त।
अग्ने! ऋत्विजगण में वरेण्य, ऋषिराज अथर्वा हुए धन्य॥
उस अंतरिक्ष का कर मंथन, प्रकटाया तुमको ज्योतिर्घन[7]।
निःशेष भाव से मथितवान, जग के हित प्रकटे तुम महान॥
प्राणों के द्वारा हो मंथित, उर-नभ में हो ज्यों ज्ञान उदित॥ २२॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के जन्म के विषय में निर्देश किया गया है। अथर्वा ऋषि ने अग्नि को अंतरिक्ष में अच्छी तरह मथकर उत्पन्न किया। इसीलिए अग्नि को 'दिवः शिशुः' कहा गया है। ऋग्वेद में भी कहा (६:१६:१३) गया है कि अथर्वा ऋषि ने अग्नि को मंथन के द्वारा उत्पन्न किया। जैसे शरीर में शिर होता है, वैसे ही ये अग्निदेव अंतरिक्ष में वर्तमान थे अथर्वा ऋषि ने मंथन-क्रिया द्वारा उत्पन्न किया। अग्नि को उत्पन्न करने की जिस क्रिया को अथर्वा ने अपनाया था, उसी प्रकार यज्ञों में आज भी अग्नि को उत्पन्न किया जाता है। अथर्वा का अर्थ प्राण भी है। यह प्राण हृदयाकाश को मथकर उसमें ज्ञानरूप अग्नि या सूर्य को प्रकट करता है। २२

---

१ त्रिकालदर्शी; २ शीर्ष पर स्थित; ३ सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाले; ४ शिर; ५ श्रेष्ठ; ६ क्रियमाण; ७ घनीभूत परम प्रकाशस्वरूप।

कवये	हम क्रान्तदर्शी,	नमसा	अन्न को
मेध्याय	यज्ञ के योग्य,	स्तोमं	स्तोम के
वृषभाय	बलिष्ठ,	अग्नौ	आहवनीय अग्नि में
वृष्णे	सेचन-समर्थ अग्नि के लिए	अश्रेत्	अर्पण करता है,
		इव दिवि	जैसे द्युलोक में
वन्दारु वचः	स्तवन की वाणी	रुक्मं	प्रकाशमान सूर्य को
अवोचाम्	बोलते हैं।	उरुव्यञ्चं	स्तुति अर्पित की जाती है ॥ २५ ॥
गविष्ठिरः	वाणी में स्थिर हुआ पुरुष		

अग्नि के रूप में प्रकट स्वयं है परमेश्वर।
करते उनकी वंदना सभी हम विगलित[1] उर ॥
हम मानव करते हैं उनको समिधा अर्पित।
ज्वालाओं में करते प्रसन्नता वे दर्शित ॥
महनीय[2] क्रान्तदर्शी कवि है वे करुणाघन।
बरसाते हैं पीयूष कृपा का वे प्रतिक्षण ॥
यज्ञ के योग्य हैं वही और बलवान परम।
स्तोमों[3] से नित नव वे हैं आहवनीय चरम ॥
अन्न की उन्हें हवि देते हम शुचि स्तोम सहित।
दिवि-रुक्म[4] सूर्य हित करते जैसे संध्या नित ॥ २५ ॥

टि०— इस परम कवित्वपूर्ण मंत्र मे अग्नि की बड़ी उदात्त वंदना की गई है। इसमें अग्नि के लिए क्रान्तदर्शी कवि, यज्ञयोग्य, बलवान, सेचन करने में समर्थ आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे करुणा के घन हैं, अपनी कृपा की वर्षा से जन-जीवन का सेचन करते हैं। जिस भाँति द्युलोक के स्वर्ण सूर्य के लिए संध्यावंदन किया जाता है, उसी भाँति अग्नि को स्तुतिपूर्वक अन्न की हवि प्रदान की जाती है। २५

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशे[1] ॥ २६ ॥

अयं अग्निः	यह अग्नि	अध्वरेषु ईड्यः	यज्ञादि में स्तुति को प्राप्त हुआ।
होता यविष्ठः	देवताओं का आवाहन करनेवाला, श्रेष्ठ यज्ञकर्ता,	इह	इस यज्ञ में

१ भक्ति-भावना से द्रवित; २ सबसे महान; ३ स्तुति; ४ द्युलोक के सुवर्ण।

जनानां	मनुष्यों द्वारा अर्पित	भानवः	दीप्तिमान किरणें
समिधा	समिधा से	नाकं	स्वर्ग को प्राप्त करने को
अग्निः	अग्नि	अच्छ प्रसिस्रते	अच्छी तरह ऊपर फैलती हुई उठती हैं,
अबोधि	प्रज्वलित होता है,	इव वयाः	जैसे बड़े पक्षी
इव	जैसे	यह्वा	उठते हुए
आयतीम्	आती हुई	प्रोज्जिहानाः	आकाश-मण्डल में पहुँचते हैं ॥ २४ ॥
धेनुं उषासं प्रति	गाय को देखकर बछड़ा प्रबुद्ध होता है।		

समिधा अर्पित करते सभक्ति हैं जब मानव।
होता समिद्ध तब अग्निदेव का पुलकित दव[1] ॥
जिस भाँति धेनु को देख वत्स होते प्रबुद्ध।
उस भाँति उषा को देख मनुज होते सुबुद्ध ॥
करते हैं अग्निरूप प्रभु को वे हवि अर्पण।
ज्वालाएँ किरणों-सी उठतीं ऊपर प्रतिक्षण ॥
वे प्राप्त करातीं स्वर्ग मनुज को अनायास।
जैसे खगवर[2] करते हैं अधिगत महाकाश ॥
ये अग्निरूप परमेश्वर परम भक्तवत्सल।
अज्ञान-तिमिर कर हरण दे रहे निर्वृति-फल[3] ॥ २४ ॥

टि०—भक्ति का केन्द्रीय तत्त्व इस मंत्र में निर्दिष्ट है। मानव द्वारा अर्पित समिधाओं से अग्नि प्रकाशित हो उठता है। ज्वालाओं की पुलकावली के मिस वे अपनी प्रसन्नता सूचित करते हैं। भक्ति-साहित्य में बार-बार यह उपमा प्रयुक्त होती है कि भगवान भक्त के लिए उस प्रकार दौड़ पड़ते हैं, जैसे ब्याई हुई गाय बछड़े को देखकर व्याकुल होकर उसे दूध पिलाने को दौड़ती है। इस मंत्र में क्रम कुछ उलटा है। बछड़ा जैसे गाय को देखकर प्रबुद्ध होता है, उसी प्रकार यज्ञनिष्ठ भक्त-हृदय मनुष्य उषा को आती हुई देखकर अग्निदेव को यज्ञसमिधाएँ अर्पित करने के लिए उत्कंठित हो उठता है। समिधाएँ पाकर जब यज्ञाग्नि प्रज्वलित होता है, तो उसकी ज्वालामयी किरणें ऊपर उठकर याजक को स्वर्ग-सुख अनायास प्राप्त करा देती है। जैसे बड़े-बड़े पक्षी आकाश तैर जाते हैं, वैसे ही अग्नि के रूप में समाराधित परमेश्वर याजक को अविद्या से मुक्त कर मोक्ष का आनंद उपलब्ध करवा देते हैं। २४

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत् ॥ २५ ॥

---

१ प्रसन्नतासूचक ज्वालासमूह; २ बड़े और श्रेष्ठ पक्षी; ३ मोक्ष का आनंद।

जनस्य गोपाः	मनुष्यों का रक्षक,	सुविताय भरतेभ्यः	याजक ऋषियों के द्वारा
जागृविः	जाग्रत,	अजनिष्ट	प्रकट किया गया है।
सुदक्ष	अत्यन्त दक्ष,	दिविस्पृशा	द्युलोक को स्पर्श करनेवाला (वह अग्नि)
घृतप्रतीकः	घृत को अपने पास रखनेवाला (घृत रूपी मुखवाला)	बृहता द्युमत्	बड़ी कान्तियों से
शुचिः अग्निः	पवित्र अग्नि	विभाति	विशेष प्रकाशमान होता है ॥ २७ ॥
नव्यसे	नवीन यज्ञकार्य के लिए		

यजमानों के रक्षक हैं ये ही अग्निदेव।
अत्यंत दक्ष है जाग्रत रहते हैं सदैव ॥
ये घृतप्रतीक हैं और परम शुचि हैं संतत।
घृत आहुतियों से संवर्द्धित होते अविरत ॥
इनको यज्ञों में याजक ऋषिगण प्रकटाते।
दिविचुंबी[1] ज्वालाओं से ये शोभा पाते ॥
इनकी कान्तियाँ विवर्द्धित होती हैं महान।
शत-शत सूर्यो-सा ज्ञान[2] यही करते प्रदान ॥ २७ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के कई अत्यन्त अर्थगर्भित विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे जाग्रत है अर्थात् कर्मों में सावधान है। दक्ष है अर्थात् अत्यंत कर्मकुशल है। वे घृत-प्रतीक है अर्थात घृतमुख है। सर्वदा शुचि हैं, क्योंकि अनेकानेक आहुतियों का भक्षण करते हुए भी कभी उच्छिष्ट-मुख नहीं होते। इस मंत्र में भरत शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके दो अर्थ किये गये है—एक ऋत्विक् और दूसरा सूर्य। दोनों अर्थच्छायाएँ अनुवाद मे है। २७

त्वाम॑ग्ने॒ अङ्गि॑रसो॒ गुहा॑
हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑-वने।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑
म॒हत्त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥ २८ ॥

अङ्गिरः अग्ने	हे अंगिरा के लिए प्रिय अग्नि !	अङ्गिरसः	अंगिरसों ने
		गुहा हितं	गुहा में छिपे हुए

१ द्युलोक को स्पर्श करनेवाली; २ अज्ञान के अंधकार को नष्ट करनेवाला ज्ञान।

प्रथमः	सबसे पहले (वह अग्नि)	भृगवः	भृगुओं ने
धातृभिः आधायि	ऋत्विजों के द्वारा स्थापित किया गया है,	विशे विशे	प्रत्येक प्रजा में
		चित्रं	आश्चर्यजनक एवं
		विभुं	व्यापक
		वनेषु	वनों में
यं	जिसको	विरुरुचुः	प्रदीप्त किया है ॥ २६ ॥
अप्नवानः	सन्तान वाले		

हैं अग्नि यही देवों को सदा बुलाते।
यज्ञों के कर्ता ये यजिष्ठ[1] कहलाते ॥
यागों में ऋत्विजगण से ये संस्तुत[2] नित।
इस महा यज्ञ में सम्यक् हुए प्रतिष्ठित ॥
आश्चर्य-रूप ये व्यापक है जन-जन में।
संतानवान भृगुओं[3] से दीपित वन में ॥
घट-घट-व्यापी इन परमेश्वर को जानो।
इन अग्निदेव को अंतर में पहचानो ॥ २६ ॥

टि०—इस मंत्र में सर्वव्यापी घट-घटवासी परमेश्वर के प्रत्यक्ष अग्निरूप का वंदन अभिनंदन किया गया है। इनके इस स्वरूप के ज्ञान को ही वेदों में अग्निविद्या कहा गया है। इनके आवाहन पर देवता यज्ञ में आते है, ये ही यज्ञों को पूर्ण कराते है। ऋत्विजगणों के द्वारा ये ही यज्ञो में स्थापित होकर संस्तुत होते है। संतानवान भृगुओं ने उसको वनों में (प्रजा जनों में) प्रदीप्त किया है। इनकी सर्वव्यापकता एक आश्चर्यमयी घटना है। २६

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः
सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि
भाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ २७ ॥

---

१ यज्ञकर्ता; २ स्तुति ग्रहण करनेवाले; ३ भृगु नाम के ऋषि की संतति या गोत्रजन। ये दैत्यों के गुरु और शुकाचार्य के पिता कहे गये है। भृगु का मूल अर्थ है पापों-तापों का भर्जन करनेवाला अर्थात् वह जो पापमुक्त है तथा परमेश्वर के भर्ग को धारण करने के कारण पूर्ण ज्ञानी है।

वलवान अग्नि ये जल के है जो पौत्र विदित।
वे स्तोम-सहित उनको हविरन्न[1] करें अर्पित ॥
धरती पर है ये अग्निदेव सबसे वरिष्ठ[2]।
उनके प्रसाद-संपादन हित हों सब यजिष्ठ[3] ॥ २९ ॥

टि०—यजमान लोग इस मंत्र में ऋत्विजों से यह अनुरोध कर रहे है कि वे मननशील मानवों को ऐसी शक्ति प्रदान करें कि वे समीचीन स्तोमो के साथ अग्निदेव को नवीन हविरूप अन्न अर्पित करते रहें। ये अग्निदेव बड़े वलवान हैं और जल के पौत्र हैं। जल से वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और वनस्पतियों से अग्नि की उत्पत्ति होती है। इसलिए वह उन्हें जल के पौत्र कहा गया है। धरती पर वे सबसे श्रेष्ठ और वरिष्ठ हैं। उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को यजनशील वनना चाहिए। २९

स꣡ꣳस꣡मिद्यु꣡वसे वृषन्न꣡ग्ने विश्वा꣡न्य꣡र्य आ।
इ꣡डस्प꣡दे स꣡मिध्यसे स꣡ नो꣡ वसू꣡न्या भ꣡र ॥ ३० ॥

वृषन् अग्ने	हे वलवान अग्नि!	**समिध्यसे**	अच्छी तरह प्रदीप्त होते हो।
अर्यः	सवके स्वामी (तुम)	**सः सहः**	वह प्रसिद्ध तुम वलवान
विश्वानि	सम्पूर्ण यज्ञ के फलों को	**इत् नः**	हमारे लिए
सं आ	सब ओर से	**वसूनि आ भर**	धन प्रदान करो ॥ ३० ॥
संयुवसे	प्राप्त कराते हो।		
इडस्पदे	पृथ्वी के स्थान उत्तर वेदी में		

वलवत्तम[4] अग्निदेव! तुम हो सवके स्वामी।
निःशेष यज्ञफल सदा तुम्हारे अनुगामी ॥
पा कृपा तुम्हारी पाते है यजमान उन्हें।
धरती पर उत्तर वेदी में कर दीप्त तुम्हें ॥
तुम हो प्रसिद्ध, तुम परमश्रेष्ठ हो देवदेव।
ऐश्वर्य और धन अमित[5] हमें दो तुम सदैव ॥ ३० ॥

टि०—हे अग्निदेव! तुम सवसे वलवान हो, सवके स्वामी हो। यज्ञों के फल यजमान को केवल तुम्हारी कृपा से मिलते है। यजमान तुम्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रदीप्त

---

१ हविरूप अन्न; २ सवसे वृद्ध; ३ यज्ञ करनेवाले; ४ सवसे वलवान; ५ अनंत।

वने वने	प्रत्येक वन में (वनस्पतियों में)	**मथ्यमानः**	अरणियों के मथे जाने पर
शिश्रियाणं	निवास करनेवाले	**जायसे**	उत्पन्न होते हो।
त्वां	तुमको	**त्वां**	(इसीलिए) तुमको
अन्वविन्दन्	प्राप्त किया।	**सहसः**	बल का
सः सहः	वह तुम बलवान,	**पुत्रं आहुः**	पुत्र कहा जाता
महत्वाम्	बड़े बल से युक्त		है ॥ २८ ॥

हे अग्नि ! अंगिरस के कुल में तुम समुद्भूत[1]।
हो सदा अंगिरा को प्रिय तुम हे द्यौःपूत[2] ! ॥
अतिशय निगूढ़ थे गुहादेश[3] में वर्तमान।
तुम निखिल वनस्पतियों में भी थे विद्यमान ॥
खोजा अंगिरसों ने तुमको पाया तप-फल।
तुम प्रकट हुए उनके अरणी-मंथन के बल ॥
बल से अरणी-मंथन से तुम हो जायमान[4]।
इसलिए पुत्र बल के कहलाते हो महान ॥ २८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के सर्वत्र भीतर और बाहर व्याप्त स्वरूप का निर्देश है। वे अंगिरस के कुल के ऋषियों ने उन्हे खोजा। उन्होंने बल से अरणी-मंथन कर उन्हें प्रदीप्त किया। अरणी का मंथन बल से किया जाता है इसी कारण वे बल के पुत्र कहलाते हैं। वे दिवः शिशु अर्थात् द्यौः-पूत भी कहे जाते हैं। २८

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ ।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २९ ॥

सखायः	हे मित्रो !	**अग्नये**	अग्नि के लिए
क्षितीनां वः	मननशील मनुष्य तुम्हारे	**सम्यञ्चं इषं**	नवीन हवि रूप अन्न
		च	और
ऊर्जः नप्त्रे	जल के पौत्र-रूप,	**स्तोमं सम्**	स्तोम को प्राप्त करे ॥ २९ ॥
सहस्वते	बलवान,		
वर्षिष्ठाय	विशालतम		

ऋत्विजगण[5] ! तुम हम यजमानों के सखा परम।
दो मननशील मानव को संप्रेरण[6] उत्तम ॥

---

१ उत्पन्न; २ द्युलोक के पुत्र, ३ सबका अंततम हृदय-देश; ४ उत्पन्न; ५ यज्ञ के पुरोहित के रूप में काम करनेवाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा; ६ सम्यक् प्रेरणा।

अरतिं	सदा उद्यमी,	अमृतं	मरण-रहित
स्वध्वरं	उत्तम यज्ञशील,	अग्निं	अग्नि को
विश्वस्य दूतं	सब देवताओं को यज्ञ में बुलाने-वाले दूत (-स्वरूप),	आ हुवे	मैं बुलाता हूँ ॥३२॥

यह अन्न हविर्लक्षण[1] है इसके द्वारा।
आवाहन करता हूँ हे अग्नि! तुम्हारा॥
जलपौत्र अग्नि तुम ज्ञानप्रदाता उत्तम।
उद्यमी सदा हो यजनशील तुम अनुपम॥
विश्व के सकल यजमानों के तुम दूत प्रेष्ठ[2]।
अमरणधर्मा हो चिर नवीन अमरत्व-प्रेष्ठ[3]॥
अमरत्वप्रदायक अग्निदेव का ज्ञान महत्।
मानवो! करो साधना, करो उसको अधिगत॥ ३२॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के अमरणधर्मा रूप पर बल दिया गया है। वे सबसे प्राचीन और वृद्ध होते हुए भी नित्य युवारूप में प्रकट होते हैं। अग्नि-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को अमरत्व-प्राप्ति की साधना करनी चाहिए। ३२

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्।
स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः॥३३॥

अमृतं	मरण-रहित,	विश्वभोजसा	यज्ञ का फल भोगने वाले दो अश्वों को
विश्वस्य दूतं	सबके दूत को		
अमृतं	(तथा) अविनाशी	योजते	रथ में जोतता है।
विश्वस्य दूतं	सबके प्रतिनिधि (-स्वरूप अग्नि को हम बुलाते हैं।)	स्वाहुतः सः	अच्छी तरह आह्वान किये जाने पर वह
		दुद्रवत्	दौड़कर आता है॥ ३३॥
सः	वह प्रसिद्ध		
अरुषा	क्रोधरहित,		

हैं मरण-रहित जो अग्नि विश्व के दूत प्रथित।
अविनाशी जन-जन के प्रतिनिधि है जो सुविदित॥
जो क्रोध-रहित है और सर्वभोक्ता[4] प्रसिद्ध।
हैं यज्ञभाग के भोक्ता जिनके अश्वसिद्ध॥

१ हवि देने योग्य लक्षणों वाला; २ प्यार करनेवाले; ३ अमरता को सबसे अधिक प्यार करनेवाले; ४ सब कुछ भोग करनेवाले।

करते हैं, उन्हें तुम अपना कृपा-प्रसाद प्रदान करो। हमको तुम निरंतर अपरिमेय धनैश्वर्य प्रदान करते रहो। ३०

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ ३१ ॥

चित्रश्रवस्तम	हे विचित्र कीर्ति वालों में श्रेष्ठ	त्वां	तुमको
पुरुप्रियः अग्ने	अत्यन्त प्रिय अग्नि !	हव्याय	हवि प्रदान करने के लिए,
विक्षु	प्रजाओं में	वोढवे	उसे देवताओं तक वहन करने के लिए
जन्तवः	सब प्राणी	हवन्ते	बुलाते हैं ॥ ३१ ॥
शोचिष्केशं	प्रदीप्त ज्वालाओं वाले		

नानाविध[1] धन के और कीर्ति के अधिष्ठान।
हो चरम परम तुम अग्नि ! तुम्हीं सबसे महान ॥
तुम प्रजाजनों को यजमानों को प्रिय अतिशय।
हवियों का धारासार[2] समर्पण तुमको प्रिय ॥
हविदान हेतु जन तुम्हें बुलाते हैं सदैव।
तुम पूर्णकाम करते निज जन को देवदेव ! ॥ ३१ ॥

टि०—इस मन्त्र में अग्नि को चित्रश्रवा कहा गया है। धन और कीर्ति को श्रव कहते हैं। अग्नि अतिशय धन और कीर्ति के स्वामी हैं। वे पुरुप्रिय कहे गये हैं। कारण, वे यजमानों को और प्रजाजनों को बहुत प्रिय हैं तथा धारावाहिक हवि-अर्पण भी उन्हें अत्यधिक प्रिय है। हविदान करने के लिए प्रजाजन उनका आवाहन करते हैं। वे महान कामदाता है। ३१

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिंꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ३२ ॥

वः	तुम्हारे	ऊर्जः नपातं	जल के पौत्र,
एनाः	इस	प्रियं	प्रिय,
नमसा	अन्न के द्वारा	चेतिष्ठं	अतिशय ज्ञान देनेवाला,

१ अनेक प्रकार के; २ अखंड।

ये अग्निदेव हैं सबके परमप्रकाशक।
ये दिव्य चरम धन हैं दारिद्र्य-विनाशक ॥ ३४ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि जिस यज्ञ के ऋत्विजगण श्रेष्ठ कर्मों द्वारा उसका संपादन करते हैं, उसमें सविधि आवाहन किये जाने पर अग्नि दौड़ते हुए जाते हैं। शर्त यह है कि उस यज्ञ में उपयोग में आनेवाला धन परिश्रम और ईमानदारी से उपार्जित किया हुआ हो। महीधर ने लिखा है—'''अग्निराहुता रथेऽश्वान्नियुज्य यज्ञे हविर्भोक्तुमागच्छति।' अग्नि ऐसे यज्ञों में आवाहन किये जाने पर अपने घोड़ों को रथ में जोतकर उसमें बैठकर जाते हैं। ३४

अग्ने॒ वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ ईशा॑नः सहसो यहो।
अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑ ॥ ३५ ॥

सहसः यहो	हे बल के पुत्र,	ईशानः	स्वामी (तुम)
जातवेदः अग्ने	सर्वज्ञान-सम्पन्न अग्निदेव !	अस्मे	हमारे लिए
गोमतः	धेनुयुक्त, गौ से उत्पन्न,	महि	बड़ा
वाजस्य	अन्न के, घी के	श्रवः	धन और यश
		धेहि	प्रदान करो ॥३५॥

हे अग्नि! पुत्र हो बल के सर्वविदित यह।
हो सर्वज्ञानसंपन्न जानते हम यह ॥
तुम धेनुजनित[1] घृत-अन्न आदि के स्वामी।
धन सकल तुम्हारा रहता है अनुगामी ॥
धन दान करो महनीय[2] देव! हमको तुम।
हे जातवेद! धन ज्ञानरूप पावें हम ॥ ३५ ॥

टि०—इस मंत्र मे यह बताया गया है कि गौ से उत्पन्न घृत का स्वामी अग्नि है। गौ के द्वारा ही सब कृषिफल प्राप्त होते हैं। अग्नि बल के पुत्र हैं, यह पूर्ववर्ती टिप्पणियों में स्पष्ट किया जा चुका है। अग्नि लौकिक और सारस्वत सभी प्रकार का धन प्रदान करते हैं। गोघृत ही श्रेष्ठ हवनीय पदार्थ हैं। ३५

स इ॑धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा।
रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

---

१ गाय से उत्पन्न; २ सबसे महान।

होकर सम्यक् आहूत[1] दौड़कर जो आते।
हम उन्हीं अग्नि को यज्ञभूमि में प्रकटाते॥
कारणस्वरूप हैं नित्य सदा वे देवदेव।
वे स्थूल सूक्ष्म सब रूपों में व्यापृत[2] सदैव॥ ३३॥

टि०—अग्नि परमेश्वर के ही एक व्यक्त रूप है। वे कारणरूप मे स्थूल और सूक्ष्म सभी रूपों में कार्यशील है। वे सारे विश्व में यजमानों के लिए दूत का कार्य करके उनके लिए देवताओं को बुलाकर लाते है। वे सर्वभोक्ता है। अमरता और अक्रोध—ये उनके प्रमुख गुण है। ये अग्नि परमेश्वर का स्वरूप होने के कारण कारणरूप से नित्य है। वे जन-जन का प्रतिनिधित्व करते है। सबके लिए सर्वत्र सुलभ देवता है। ३३

स द्रुद्रवत्स्वाहुतः स द्रुद्रवत्स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम् ॥३४॥

सुब्रह्मा	(जो) श्रेष्ठ ऋत्विजों से युक्त,	स्वाहुतः	उत्तम रीति से आहूत होकर
सुशमी यज्ञः	शुभ कर्म वाला यज्ञ है, उसमें	जनानां	जहाँ यजमानों का
सः	वह प्रसिद्ध अग्नि	देवं राधः	दिव्य धन है,
स्वाहुतः	अच्छी तरह बुलाये जाने पर	वसूनां	(वहाँ) वसु, रुद्र आदि देवों के यज्ञ में
द्रुद्रवत्	दौड़कर आता है।	द्रुद्रवत्	शीघ्रता से आता है॥ ३४॥
सः	वह		

यह यज्ञ श्रेष्ठ ऋत्विजगण से है शोभित॥
शोभन कर्मों द्वारा यह है संपादित।
सम्यक् होकर आहूत अग्नि हैं आते॥
सम्यक् होकर आहूत वहाँ है जाते॥
है जहाँ हविर्लक्षण धन शुचितम संचित।
रुद्रों, आदित्यादिक को जो अभिमत[3] नित॥
इन देवों के यज्ञों का पा आमंत्रण।
जाते हैं अग्नि त्वरित[4] दौड़ा निज स्यंदन॥

---

१ आमंत्रित अथवा आह्वान किये जाने पर; २ कार्यरत; ३ अभीष्ट, ४ शीघ्रता से।

हे दीप्यमान ! हे तिग्मजम्भ[1] अग्ने महान ! ॥
कुलिशोपम[2] दाढ़ें तीक्ष्ण तुम्हारी भासमान ।
हे देव ! तुम्हारा उग्र तेज है सर्वविदित ।
जिससे होता राक्षससमूह सब भस्मीकृत ॥
दिन और उषा-संबंधी हैं जो यातुधान[3] ।
उन सबको कर दो भस्मशेष अग्ने महान ॥
जिस भाँति अग्नि ये करते बहुविध तिमिर-दलन ।
उस भाँति करो मानवो ! सदा अन्याय-दमन ॥ ३७ ॥

टि०—इस मन्त्र मे अग्नि के पापरूप राक्षसों के विनाशक रौद्ररूप का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनकी दाढ़ें वज्र जैसी तीखी और भयावह हैं। उनके उक्त तेज से राक्षसों का समूह भस्म हो जाता है। उषा दिन आदि,प्रकाश के वितरक तत्वों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करनेवाली अंधकार की शक्तियों को ध्वस्त कर देते हैं। महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र के भावार्थ में लिखा है, जैसे अग्नि प्रभात, दिन आदि प्रकाश-स्रोतों का निमित्त है, वैसे ही शासकों या राजाओं को अन्याय की निवृत्ति का हेतु होना चाहिए। ३७

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ ३८ ॥

सुभग	हे सुन्दर ऐश्वर्य-वाले विद्वान पुरुष !	रातिः भद्रा	दान कल्याणकारी हो जाय
आहुतः	ऋत्विजों द्वारा प्रदीप्त	अध्वरः भद्रः	यज्ञ कल्याणकारी हो जाय
अग्निः	अग्नि	प्रशस्तयः उत	और स्तुतियाँ
न भद्रः	हमारे लिए कल्याणकारी हो ।	भद्राः	कल्याणकारी हो जायें ॥ ३८ ॥

हे सुभग ! अये षड्विध ऐश्वर्ययुक्त अग्ने ! ।
धन, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान, विराग-रूप अग्ने ! ॥
ऋत्विजगण से आहूत सविधि हे अग्निदेव ! ।
तुम रहो हमारे हेतु भद्रकृत[4] सर्वदेव[5] ॥
हो दान-कर्म सब सदा हमारे मंगलकर[6] ।
हों यज्ञकृत्य सब नित्य हमारे शुभ शिवकर ॥

---

१ पैनी दाढ़ोवाले; २ वज्र के समान; ३ राक्षस; ४ कल्याणकारी; ५ सदा ही; ६ कल्याणकारी ।

पुर्वणीक	हे बहुत सुख-वाले !	ईडेन्यः अग्निः	यज्ञों का प्रवर्तक अग्नि
सः इधानः	वह दीप्यमान,	अस्मभ्यं	हमारे लिए
वसुः	सबके निवास के हेतु,	रेवत्	धन से युक्त होकर
कविः	क्रान्तदर्शी,	दीदिहि	प्रकाशित हो जाए ॥ ३६ ॥
गिरा	वेदवाणी से स्तुति योग्य		

हो पुर्वणीक हे अग्नि ! सदा सुखधाम परम।
बहु सेनाओं के संचालक हो तुम उत्तम॥
हे दीप्यमान ! सबके निवास के हेतु देव !।
वेदों के द्वारा स्तूयमान[1] तुम हो सदैव॥
हो त्रिकालज्ञ कवि विदित क्रान्तदर्शी महान।
यज्ञों के पुण्यप्रवर्तक हो हे महाप्राण॥
जिस परम प्रशंसित धन के स्वामी तुम अनन्य।
हम सब में करो प्रकाशित वह ऐश्वर्य धन्य॥ ३६ ॥

टि०—इस मन्त्र मे अग्नि के लिए पुवणीक विशेषण का प्रयोग किया गया है। पुर्वणी के दो अर्थ हैं— (१) बहुत सुखवाला; (२) बहुत सेनाओंवाला। ये परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप अग्निदेव अनंत सुख देनेवाले है और बहुत धन देनेवाले भी हैं। ये हमारे लिए प्रशंसित धनयुक्त पदार्थों को प्रकाशित करें। भावार्थ यह है कि अग्नि के गुण, कर्म, स्वभाव के प्रकाश के तुल्य मनुष्यों को अपने ऐश्वर्य की उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिए। ३६

क्षपो राजन्नुत त्मनाऽग्ने वस्तोरुतोषसः।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥

राजन्	हे दीप्यमान !	क्षपः वस्तोः	निशाचरों को नष्ट करनेवाले हो जाओ।
तिग्मजम्भ	हे वज्र के समान देदीप्यमान तीक्ष्ण दाढ़-वाले !	उत उषसः	दिन के और उषःकाल-सम्बन्धी
अग्ने	हे अग्नि !	रक्षसः प्रति दह	राक्षसों को जला दो ॥ ३७ ॥
सः	वह तुम		
त्मना उत	अपने तीक्ष्ण-स्वभाव से ही		

१ प्रशंसित।

टि०—इस मंत्र में मन में अन्तर्निहित अनन्त शक्ति को जाग्रत करने का निर्देश है। मन की मंगलकारिणी शक्तियाँ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि आसुरी शक्तियों के द्वारा आवृत और कुंठित कर दी गई है। इनके साथ जो युद्ध चलता रहता है, वह भी देवासुर-संग्राम का एक रूप है। उसमे विजय प्राप्त करने के लिए निरंतर शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता रहना चाहिए। ३९

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहोऽव॑ स्थि॒रा त॑नु॒हि भूरि॒ शर्ध॑ताम्। व॒नेमा॑ ते अ॒भिष्टि॑भिः[१] ॥ ४० ॥

येन	(हे अग्नि !) जिस शक्ति से (तुम)	स्थिरा	स्थिर धनुषों को
समत्सु सासहः	युद्धों में शत्रुओं का नाश करते हो, (उससे)	अव तनुहि	ज्या-रहित करो।
भूरि शर्धतां	बहुत युद्ध करनेवाले	ते अभिष्टिभिः	तुम्हारे दिये हुए भोगों से
		आ वनेम	हम सुख प्राप्त करें ॥ ४० ॥

हे वंदनीय अग्ने ! वह शक्ति तुम्हारी।
जो रण में है रिपुदल की विदलनकारी॥
अपनी उस महाशक्ति से होकर प्रेरित।
ज्याहीन[१] करो अरियों के जड़ धनु[२] तुम नित॥
हम प्राप्त करें तुमसे वह शक्ति निरंतर।
रण में हम आवें जिससे सदा विजय वर॥
भोगों के साधन मिलें अभीष्ट सुखप्रद।
अग्ने ! हम सबके हेतु रहो मंगलप्रद॥ ४० ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि की विजयकारिणी शक्ति प्राप्त करने की कामना की गई है। यह ऐसी दुर्धर्ष शक्ति है जिसके सामने पराक्रमी शत्रुओं के धनुष जड़ीभूत हो जाते हैं। उनके धनुषों की प्रत्यंचाएँ उतर जाती हैं। ४०

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑। अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ४१ ॥

---

१ प्रत्यंचा-विहीन; २ वह धनुष जिसकी गति कुंठित हो गई है।

हम करें भक्ति-प्रेरित तुमको स्तुतियाँ अर्पित।
वे हों हम सबके हेतु निरंतर मंगलकृत ॥ ३८ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से जो प्रार्थना की गई है वह प्रपत्तिमूलक है। अग्नि को षड्विध ऐश्वर्य से युक्त कहा गया है। षड्विध ऐश्वर्य निम्नलिखित है— "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥" समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य जिसमें है, वही षड्गुणों से मंडित व्यक्तित्व भगवान का होता है। ऐसे भगवान की कृपा से ही दान, यज्ञ, स्तवन आदि कल्याणकारी होते है। ३८

भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
येना समत्सु सासहः ॥ ३९ ॥

येन	(हे अग्नि!) जिसके द्वारा	वृत्रतूर्ये	आवृत करने की क्षमता वाले शत्रु के साथ युद्ध में,
समत्सु	संग्राम में	भद्रं कृणुष्व	हमारा कल्याण करो।
सासहः मनः	बलवान मन के तुम शत्रुओं को पराजित करते हो, (उस मन को)	प्रशस्तयः उत भद्राः	तुम्हारी स्तुतियाँ कल्याणकारी हों ॥ ३९ ॥

जिस मन की दृढ़ संकल्प-शक्ति से भगवन!।
रण में करते हो अरि का निखिल प्रमापण[1] ॥
वह मन की शुचि संकल्प-शक्ति दो हमको।
हे अग्नि! प्रणति करते हैं अर्पित तुमको ॥
ये काम, क्रोध, मद, लोभ आदि भी अविरत।
करते सविचार-विवेक शक्तियां आवृत[2] ॥
चलता रहता है उनसे युद्ध निरंतर।
उसमें दो हमको देव! विजय मंगलकर ॥
हम करते हैं हे अग्ने! स्तवन तुम्हारा ॥
कल्याण रहो करते तुम सदा हमारा।
शुभ कर्म करे हम नित्य नवीन अनुष्ठित ॥
आसुरी शक्तियाँ हों सब दलित पराजित ॥ ३९ ॥

---
१ वध; २ ढका हुआ होना।

यः वसुः	जो धन और ऐश्वर्य है,
सः गृणे	वह यह अग्निवाची परमेश्वर ही स्तवनीय है।
यं	जिसके पास
धेनवः समायन्ति	गायें आती हैं,
रघुद्रुवः	शीघ्र चलनेवाले घोड़े
अर्वन्तः सं	जिसके पास आते हैं,
सुजातासः	उत्तम जन्म लेकर
सूरयः सं	संस्कारसंपन्न विद्वान जिसकी उपासना करते हैं,
स्तोतृभ्यः	ऐसे गुणों से युक्त (हे अग्नि !) स्तुति करनेवालों को
इषं आ भर	अन्न से भरापूरा कर दो ॥ ४२ ॥

ऐश्वर्य और धन है जो जग में विद्यमान।
वह अग्निदेव का ही स्वरूप है ज्योतिमान ॥
है इन्हीं अग्नि के प्रति धेनुएँ सदा धावित।
अति वेगवान अश्वों की भी गति ये ही नित ॥
अभिजात - मनुज[1] साधनावान सारस्वत जन[2]।
करते हैं सब इन अग्निदेव का आराधन ॥
हम करते हैं उन देवदेव का स्तवन सतत।
भरपूर अन्न-धन देते रहें हमें अविरत ॥ ४२ ॥

टि०—अग्नि ही परम ऐश्वर्य-रूप है। सब ऐश्वर्य उन्हीं के अधीन है। हम उनकी स्तुति करते है। वे हमे भरपूर अन्न-धन प्रदान करते रहें। ४२

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत
इषꣳ स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४३ ॥

सुश्चन्द्र	हे उत्तम कान्ति के साथ उदित चन्द्रमा के समान आह्लादकारक !
आसनि	(तुम अपने) मुख में
सर्पिषः	घृत पान करने के के लिए
उभे दर्वी	दोनों दर्वी-रूप हाथों का
श्रीणीषे	उपयोग करते हो;

१ अच्छे कुल में जन्म पानेवाले मनुष्य; २ विद्वान लोग।

यः वसुः	जो सबको निवास प्रदान कराता है,	वाजिनः	बलवान और
तं	उस	अर्वन्तः	वेगवान होकर
अग्नि मन्ये	अग्नि को मैं जानता हूँ।	तं	उस अग्नि को प्रज्वलित देखकर
धेनवः	गायें	अस्तं	घर को प्राप्त होते हैं।
यं अस्तं	जिसको प्रज्वलित जानकर	स्तोतृभ्यः	(हे अग्नि! इसी प्रकार) स्तवन करनेवालों को
यन्ति	घरों में आवागमन करती हैं,	इषं आ भर	अन्न भरपूर दो ॥ ४१ ॥
आशवः	आशुगामी घोड़े		
नित्यासः	नित्य ही		

तुम विश्ववास[1] करते सबको आवास-दान।
हे अग्निदेव! है हमें तुम्हारा दिव्य ज्ञान ॥
सन्ध्या आने पर होते हो जब दीप्यमान।
गायें निज निज गृह के प्रति होतीं धावमान ॥
अति वेगवान जो अश्व सतत बल से मंडित।
प्रज्वलित अग्नि को देख लौटते गृह को नित ॥
सबके विश्राम-वास-दाता हे देवदेव।
भरपूर अन्न से रहें सकल स्तोता[2] सदैव ॥ ४१ ॥

टि०—अग्नि विश्ववास है, सबको विश्राम और आवास प्रदान करते हैं। सायंकाल यज्ञाग्नि के प्रज्वलित होने पर दोहनकाल आया हुआ जानकर गाये घरों को लौटती है। शीघ्रगामी अश्व भी इसी समय अपने-अपने स्थानों को लौटते है। इसी समय प्रत्येक घर में अग्निदेव की स्तुतियाँ गूँजने लगती हैं। हे परमेश्वर! अपने स्तोताओं को अन्न-धन से भरपूर कर दो। ४१

सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳ सुजातासः सूरय
इषꣳ स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४२ ॥

---

१ सारे संसार को आवास प्रदान करनेवाले और सारे विश्व मे जिनका वास है, वे भगवान, २ स्तुति करनेवाला।

जो श्रेष्ठ अश्व होने है अतिशय वेगवान।
जिस भाँति अन्न से होते हैं वे ऋद्धिमान॥
मन में संपोषित यज्ञ कामनायें ज्यों नित।
शुभ संकल्पों से होतीं प्रतिक्षण संवर्द्धित॥
यह यज्ञ तुम्हारा उसी भाँति से अग्निदेव।
शुचि स्तोमों[1] से हम पूर्ण करेंगे अद्य एव[2]॥ ४४॥

टि०—जिस प्रकार वेगवान अश्व अन्न से पुष्ट होते हैं, जिस प्रकार अन्न से पोषित यज्ञ करने की कामना शुभ संकल्पों से कार्यरूप में परिणत होती है, उसी प्रकार हे अग्नि! आज तुम्हारा यह यज्ञ सामवेद की ऋचाओं से समृद्ध और परिपूर्ण हो। ४४

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥ ४५॥

अग्ने	हे अग्नि!	बृहतः	महान्,
अधा हि	और तुम निश्चय ही	ऋतस्य रथीः	सत्ययज्ञ रूपी रथ के स्वामी के समान
भद्रस्य दक्षस्य	कल्याणकारी, दक्षता से संपन्न,	बभूथ	नेता हो जाओ॥ ४५॥
साधोः	उत्तम कार्यसाधक,		

हे अग्नि! परम कल्याणरूप हो तुम निश्चय।
उत्साहयुक्त सब क्रतु कर्मों में हो अतिशय॥
शिवमय पुरुषार्थ[3] सकल करते हो सदा सिद्ध।
सब उत्तम कार्यों के साधक हो तुम प्रसिद्ध॥
गतिशील रहे यह ऋत[4] का यज्ञरूप रथ नित।
नायक बन इसको करो निरन्तर परिचालित॥ ४५॥

टि०—इस मंत्र मे अग्नि के परम कल्याणकारी स्वरूप पर बल दिया गया है। वे सब कर्मो को बड़ी कुशलता और पूर्णता के साथ संपादित करते हैं। वे सब कल्याणमय पुरुषार्थो को सिद्ध करते है। सब उत्तम कर्म उन्ही की कृपा से सफल होते है। सबसे बड़ी बात इस मन्त्र में यह कही गई है कि इस संसार मे निरंतर परमेश्वर का अमोघ कल्याणकारी फल प्रदान करनेवाला ऋत का यज्ञ चल रहा है। इस सृष्टि के सब गोचर-अगोचर उपादान उसमें योग दे रहे है। यह ऋत का यज्ञ एक रथ के समान है। अग्निदेव इसके रथी या नायक है। ऋत का यह यज्ञरूप रथ निरंतर अबाधित चलता रहे, इसी में सबका कल्याण है। ४५

---

१ साममन्त्र; २ आज ही; ३ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष;
४ परमेश्वर का मंगलाकाश।

त उ	और	स्तोतृभ्यः	स्तुति करनेवालों को
शवसः पते	हे बल के अधिपति !	इषं आ भर	अन्न से भरापूरा दो ॥ ४३ ॥
उक्थेषु	(तुम) स्तुति करके किये गये यज्ञों में		
नः पुपूर्याः	हमको धनों से परिपूर्ण करो ।		

हो चन्द्र-सदृश आह्लादप्रदायक धनदायक ।
बल के अधिपति हो अग्ने ! यज्ञों के नायक ॥
दोनों हाथों को अपने दर्व्याकार[1] बना ।
करते हो निज मुख से अविरत घृत-पान घना ॥
हम उक्थ[2]-सहित करते हैं यज्ञों का विधान ।
हे शवस्पते[3] ! उत्कर्षवान धन[4] करो दान ॥
करते रहते हैं स्तवन तुम्हारा हम सदैव ।
भर दो उत्तम अन्नों से हमको देवदेव ॥ ४३ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को चन्द्रमा के शोभन एवं आह्लादप्रदायक गुण का अधिष्ठान कहा गया है । 'चदि आह्लादे' यह प्रसिद्ध है । चन्द्रमा में आह्लादप्रदायक गुण है । हिरण्य अर्थात् सोने को भी चन्द्र कहते है । इस प्रकार अग्नि में आह्लाद और धन दोनों के देने की शक्ति है । दर्वी से अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है । दर्वी मानो अग्निदेव के हाथ है, जिनका उपयोग वे मुख द्वारा घृत पीने के लिए करते हैं । वे बलों के स्वामी हैं, वे स्तोता को धन से पूर्ण कर दें, यह प्रार्थना यहाँ की गई है । ४३

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् ।
ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ ४४ ॥

अश्वं न	जैसे घोड़े को अन्नादि से परिपुष्ट करते हैं,	अग्ने	(उसी प्रकार) हे अग्नि !
हृदिस्पृशं भद्रं न	जैसे चिरकाल से हृदय में पोषित यज्ञ के संकल्प को समृद्धि के साथ सम्पन्न करते हैं,	अद्य ते	आज उस
		तं क्रतुं	यज्ञ को
		ओहैः स्तोमैः	साम मंत्रों से
		आ ऋध्याम	सब प्रकार से हम परिपूर्ण करते हैं ॥ ४४ ॥

१ दर्वी के रूप में उपयोग में लाते हुए; २ स्तुति; ३ बल के साथी;
४ वह धन जो निरन्तर उत्कर्ष का साधन बने ।

आजुह्वानस्य	हवन किये हुए,	सहसः सूनुं	मंथनजन्य बल का पुत्र,
सर्पिषः	अंग में फैलनेवाले	जातवेदसं	सब प्रकार के ज्ञान से संपन्न,
घृतस्य	घृत के	जातवेदसं	संपूर्ण शास्त्रों के जाननेवाले
विभ्राष्टि	निरंतर	विप्रं इव	श्रेष्ठ ब्राह्मण के समान
अनुवष्टि	पान करने की इच्छा करता है,	मन्ये	मै मानता हूँ ॥ ४७ ॥
अग्नि	उस अग्नि को,		
होतारं	देवताओं को बुलानेवाला,		
दास्वन्तं	दानशील,		
वसुं	सबको निवास प्रदान करनेवाला,		

सब दिव्य गुणों से मंडित स्वध्वर[1] अग्निदेव।
ऊँची देवों तक जातीं ज्वालाएँ सदैव॥
हुत हो जो उनके अंगों में होता प्रसरित।
उस घृत को पीने की इच्छा करते हैं नित॥
देवों के आवाहनकर्ता जो चिर दानवान।
जो विश्ववास[2] है और पुत्रबल के महान्॥
जो पूर्ण ज्ञानसम्पन्न और शास्त्रज्ञ परम।
उन अग्निदेव को विप्र[3] मानते हम उत्तम॥ ४७॥

टि०—इस मंत्र मे अग्निदेव के स्वरूप का बड़ा उदात्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनमे सब दिव्य गुण है, सुन्दर यज्ञ करनेवाले और करानेवाले है। उनकी ऊँची ज्वालाएँ जो देवताओं तक जाती हैं, उनसे वे सदैव घृत पीने की इच्छा करते है। इन अग्निदेव मे ऐसे गुण हैं जिनके कारण वे आप्त ज्ञानी अथवा श्रेष्ठ विप्र के रूप मे मान्य है। इस प्रकार इस मंत्र मे ब्राह्मण के गुणों का भी निर्देश किया गया है। ब्राह्मण को पूर्ण ज्ञानसंपन्न और सब शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। ४७

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः[1]।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमᳪ रयिं दाः[2]।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः[3]॥ ४८॥

---

१ [सु+अध्वर] सुन्दर यज्ञ करने और करानेवाला; २ सबको आवास प्रदान करनेवाले; ३ आप्त ज्ञानी।

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः' ॥ ४६ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	नः	हमारे
नः एभिः	हमारे इन	अर्वाङ् भव	सामने प्रकाशित हो जाओ,
अर्कैः सुमनाः	प्रार्थना के मंत्रों से प्रसन्न-मन होकर	न स्वर्ण ज्योतिः	जैसे सूर्यदेव होते है ॥ ४६ ॥
विश्वेभिः अनीकैः	अपने संपूर्ण किरण-समूह के साथ		

हे अग्नि ! हमारे मन्त्रों से हो स्तूयमान ।
होकर प्रसन्न मन सम्मुख बनो प्रकाशमान ॥
किरणों से अपनी जग-मग कर दो उद्भासित ।
हम प्राणिमात्र में देखें ज्योति तुम्हारी चित् ॥
स्वर्ज्योति गगन मे होती जो रविरूप उदित ।
अग-जग उनकी किरणों से बनता प्रभाभरित[1] ॥
तुम उसी भाँति हम सबको करो प्रकाश-दान ।
मिट जाय अविद्या-तिमिर[2] ज्ञान का हो विहान[3] ॥ ४६ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि अग्नि वेदमंत्रों द्वारा स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होते है और स्तोता के सम्मुख अपने स्वरूप को प्रकाशित करते है । इसके परिणामस्वरूप अविद्या का अन्धकार दूर हो जाता है, ज्ञान का प्रभात उदित होता है । ज्ञान का यह प्रकाश ही सच्चे सुख और वास्तविक आनन्द की प्राप्ति का द्वार है । ४६

अग्निꣳ होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳ
सूनुꣳ सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः' ॥ ४७ ॥

देवः	दिव्यगुणसंपन्न	ऊर्ध्वया	ऊर्ध्व गति के साथ
यः स्वध्वरः	सुन्दर यज्ञ में (प्रज्वलित) जो अग्नि	देवाच्या कृपा	देवों के सत्कार हेतु समर्थ क्रिया से
		शोचिषा	दीप्तिमान

१ प्रकाश से भरा हुआ; २ अज्ञान का अन्धकार; ३ प्रभात ।

येन तपसा	जिस तप से	सत्रं	सत्यविज्ञान से युक्त होते हैं,
ऋषयः	ऋषिगण	यं मनवः	जिस (अग्नि को) मननशील मनुष्य
सत्रं	यज्ञ के समीप	तीर्णबर्हिषं	आकाश व्याप्त करनेवाला
आयन्	आते है,	आहुः	कहते हैं
यं अग्निं इन्धानाः	जिस अग्नि को प्रज्वलित करते हुए	तस्मिन् नाके	उस सुखमय लोक में
स्वः	सुख को	अग्निं निदधे	उस अग्नि को मैं स्थापित करता हूँ ॥ ४९ ॥
आ भरन्तः	अच्छी रीति से धारण करते हुए		

मन, इन्द्रिय का ऐकाग्र्यरूप कर तप-साधन।
जाते हैं यज्ञ-समीप भक्तिभावित ऋषिगण॥
उस तप-बल से वे कर अग्निदेव को प्रज्वालित।
आनंदित हो करते रहते सुख-भोग अमित॥
मैं उसी स्वर्ग के हेतु अग्नि करता स्थापित।
जन मननशील मानते उन्हें नभ-व्यापृत नित॥
सब यज्ञों के साधन-स्वरूप हैं अग्निदेव!।
संपादन सकल सुखों का करते वे सदैव॥ ४९॥

टि०—इस मन्त्र में यह बताया गया है कि ऋषिगण तपस्या के द्वारा यज्ञों में अग्नि प्रदीप्त करने के अधिकारी बनते हैं। ४९

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः
पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके
तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥ ५०॥

देवाः	हे दिव्यगुणयुक्त!	नाकं	परम सुखमय स्वर्ग लोक को
तृतीये	तीसरे	अभि गृभ्णानाः	प्राप्त करते हुए
दिवः	द्युलोक के	पत्नीभिः	(हम) धर्मपत्नियों से
पृष्ठे	ऊपर	पुत्रैः वा	पुत्रों से और
सुकृतस्य	शुभ कर्म से प्राप्त	भ्रातृभिः	भाइयों से
रोचने लोके	तेजस्वी लोक में		

अग्ने	हे अग्नि !
त्वं	तुम
नः	हमारे
अन्तमः	सबसे निकट रहनेवाले हो,
उत त्राता	और हमारे रक्षक हो,
शिवः वरूथ्यः	कल्याणकारी गृहों के लिए हितकारी हो
अग्निः	(तुम) अग्रणी,
वसुः	सबको वसानेवाले,
वसुश्रवाः	महान् कीर्ति से सम्पन्न हो।
अच्छ	हे निर्मल अग्नि !
नक्षि	(तुम) हमारे यज्ञस्थान में आओ।
द्युमत्तमं	(हमें) अतीव तेजस्वी
रयिं दाः	धन प्रदान करो।
शोचिष्ठ	हे अत्यन्त कान्तिमान !
दीदिवः तं	सबको प्रदीप्त करनेवाले
त्वा	तुमसे
सखिभ्यः	धन की
सुम्नाय	कल्याण की, सौमनस्य की
नूनं	निश्चय ही
ईमहे	हम याचना करते है ॥ ४८ ॥

तुम रहो निकटतम अग्निदेव, रक्षक सुखकारी हो सदैव।
हम सबके गृह, गृहजन के हित, हितकारी रहो देव ! तुम नित।
अग्रणी[1] सभी विश्ववास[2], हे वसुश्रवा[3] ! हे चिद्विलास[4]।
ऐश्वर्यजनित यश है प्रसरित, ये दिशाकाश सब हैं धवलित।
हे अग्ने ! हे निर्मल विग्रह, है यज्ञस्थली तुम्हारी यह।
आओ यज्ञस्थल में आओ, तेजोमय धन बहु दे जाओ।
शोचिष्ठ देव ! अति कीर्तिमान, धन सर्वप्रकाशक करो दान।
नत हैं हम सम्मुख याचमान[5], धन दो बहु हमको ज्योतिमान ॥ ४८ ॥

टि०—इस मन्त्र मे यह प्रार्थना की गई है कि अग्निदेव हमारे रक्षक और सुखदाता बनकर सदैव हमारे निकट से निकट रहें। वे हमारे घर के लिए हितकारी रहें। अग्निदेव षडैश्वर्य से पूर्ण है। सर्वत्र उनकी कीर्ति के प्रकाश से दिशा और आकाश धवल हो रहे हैं। वे हमको ऐसा धन प्रदान करें, जो सर्वप्रकाशक हो। ४८

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निꣳ स्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं नि दधे नाके अग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम् ॥ ४९ ॥

---

१ मुखिया; सबको आवास प्रदान करनेवाले; ३ जो अपने ऐश्वर्य के कारण प्रसिद्ध है; ४ जिनके कार्य-कलाप चिन्मय या दिव्य है; ५ याचना करनेवाले।

ये हैं अत्यन्त प्रकाशमान, मध्यमा वाक्[1] में विद्यमान।
जो युद्ध हेतु सेना लेकर, आये हैं दुष्ट शत्रु चढ़कर।
ये अग्नि उन्हें कर अधःपतित, पद-तल में करें दलित-पीड़ित ॥ ५१ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्निदेव की प्रशंसा में यह कहा गया है कि वे सत्पुरुषों के पालक हैं और मध्यमा वाणी के प्रेरयिता और प्रसविता हैं। वे सब विद्याओं को धारण करनेवाले हैं। वे ही मनुष्य को बाहरी और भीतरी सब शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करते हैं। ५१

अ॒यम॒ग्निर्वी॒रत॑मो वयो॒धाः स॑ह॒स्रियो॑ द्योतता॒मप्र॑युच्छन्।
वि॒भ्राज॑मानः सरि॒रस्य॒ मध्य॒ उप॒ प्र या॑हि दि॒व्यानि॒ धाम॑ ॥ ५२ ॥

अयं वीरतमः	यह अतिशय वीर	द्योतताम्	दीप्तिमान हो,
वयोधाः	हवि ग्रहण करनेवाला,	सरिरस्य मध्ये	इस लोक में
सहस्रियः अग्निः	सहस्रों काम करनेवाला अग्नि	विभ्राजमानः	विशेष प्रकाशमान होकर
अप्रयुच्छन्	कर्मों में प्रमाद न करता हुआ	दिव्यानि धामानि	दिव्य स्थानों को
		उप प्रयाहि	भली-भाँति प्राप्त करे ॥ ५२ ॥

विजयी वीरों में अग्रगण्य है अग्निदेव।
हवि-लक्षण[2] अन्न ग्रहण करते हैं ये सदैव॥
ये सहस्राई[3] हैं और अयुतकर्मा[4] प्रसिद्ध।
विगतप्रमाद[5] करते हैं सबके कार्य सिद्ध॥
ये दीप्तिमान हों, दीप्तिमान ये रहें सतत।
सविशेष लोक में भ्राजमान हों ये अविरत॥
ये प्राप्त रहें करते सम्यक् दिव्यतम स्थान।
सविशेष रहे सब लोकों में ये भ्राजमान ॥ ५२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के रूप में प्रकट होकर स्वयं परमेश्वर ने जिन आदर्शों और मर्यादाओं की स्थापना की है इनका संकेत है। वे सहस्रों कार्यों को संपन्न करने में दक्ष है। प्रमाद उन्हें छू नहीं गया है। वे निरन्तर सबका उपकार करते रहते है

---

१ वाणी के चार भेद है— परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी; इस मंत्र मे उन्हें मध्यमा वाक् मे स्थित कहा गया है; २ ऐसा अन्न जो हवि देने के योग्य हो, अर्थात् परम पवित्र हो; ३ हजारों कर्मों को संपादित करने की योग्यता वाले, ४ लाखों लोकोपकारी कार्य करनेवाले; ५ आलस्यहीन।

उत हिरण्यैः	तथा सुवर्णादि द्रव्यों से	अनु गच्छेम	यज्ञ द्वारा सेवा करते हैं ॥ ५० ॥
तं	उस अग्नि की		

उद्बुद्ध[1] तुम्हें करते हैं हम हे अग्निदेव !।
जागरित करो निज याजकजन को सर्वदेव[2] ॥
हैं दिव्य गुणावलि से मंडित जो विद्वज्जन।
यज्ञों में करते सदा तुम्हारा ही सेवन ॥
दिव के ऊपर रविमंडल का दुःखहीन स्थान।
हम प्राप्त करें वह निज शुभ कर्मों से महान ॥
हम पुत्र, कलत्र[3], बन्धु-बान्धव से युक्त सतत।
यज्ञों के द्वारा रहें निरन्तर सेवारत ॥
अर्पित हम करते तुम्हें हिरण्यरत्न अगणित।
हम रहें तुम्हारी कृपा दया के भाजन नित ॥ ५० ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि जो विद्वज्जन अग्नि को स्तुतियों से प्रबुद्ध करते हैं, उनकी चेतना को वे ईश्वर की भक्ति-भावना से परिपूर्ण रखते है। दिव्य गुणगण से मंडित मननशील मानव सदा उनकी सेवा करते है। वे अपने गुण-कर्मो से द्युलोक में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हैं, जो लोग अपने परिवार और परिकर के साथ उन परमेश्वर की सेवा करते हैं, वे निश्चय ही उनकी कृपा और दया के पात्र बनते है। ५०

आ वाचो मध्यमरुहद्भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः[1] ॥ ५१ ॥

अयं	यह	वाचः मध्यं	वाणी के मध्य में
भुरण्युः	जगत का कर्ता,	आ अरुहत्	चढ़ा, (वह अग्नि)
सत्पतिः	सज्जनों का पालक,	ये पृतन्यवः	जो सैन्य लेकर युद्ध की इच्छा करने वाले
चेकितानः	विद्वान,		
पृथिव्याः पृष्ठे	पृथिवी के ऊपर		
निहितः	स्थापित,	अधस्पदं	दुष्ट शत्रु है,
दविद्युतत्	अत्यंत प्रकाशमान	कृणुताम्	उन्हें नीचे स्थान पर गिरा दे ॥५१॥
अग्निः	(जो) अग्नि		

जग के कर्ता ये अग्निदेव, सत्पुरुषों के पालक सदैव।
विज्ञान-ज्ञान से है मंडित[4], पृथ्वी पर हैं ये सुस्थिर नित।

१ प्रदीप्त; २ सदा ही; ३ स्त्री; ४ शोभित।

है, उसका निरंतर विस्तार किया जाना चाहिए। यज्ञ करने से पितर प्रसन्न होते हैं। ५३

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि
त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्
विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	अयं च	और (तुम्हारे प्रसाद से) यह यजमान इष्टापूर्त का फल प्राप्त करे।
त्वं उद्बुध्यस्व	तुम जाग्रत होओ,		
प्रतिजागृहि	प्रतिदिन यज्ञकर्ता को जाग्रत करो।		
इष्टा-पूर्ते	'इष्ट' सुख देनेवाले उत्तम कर्म, दानादि और 'पूर्त' अर्थात् जीवन-व्यवस्था को पूर्ण बनानेवाले कर्म (जैसे बाग लगाना, कुआँ खुदवाना आदि)	विश्वेदेवाः	हे विश्वेदेवो !
		यजमानः च	और वह यजमान
		सधस्थे	अपने स्थान में
		अस्मिन्	इस सबसे
		उत्तरस्मिन्	उत्कृष्ट यज्ञस्थान में
		अधि सीदत	विराजमान हो ॥ ५४ ॥
संसृजेथाम्	कर्म करो।		

उद्बुद्ध[1] रहो, उद्बुद्ध रहो हे अग्निदेव ! ।
प्रतिबुद्ध करो तुम निज यजमानों को सदैव ॥
यजमान करें हम इष्टापूर्त कर्म-विधि नित ।
सुखकर सत्पथ पर हमको करो सदा प्रेरित ॥
यजमान को मिलें इष्टापूर्त कर्म के फल ।
नित देते रहो उन्हें अपने प्रसाद का बल ॥
हम इष्टापूर्त कर्म करके हों पापहीन ।
पावें वह परमोत्तम पद जो है च्युति-विहीन[2] ॥
हे विश्वेदेवा ! रहें सदा पूर्णकाम ।
तुम प्राप्त कराओ स्खलन-रहित शाश्वत स्वधाम ॥ ५४ ॥

---

१ जाग्रत और प्रज्वलित; २ पतनहीन ।

और चिन्मय प्रकाश से प्रकाशित रहते है। मनुष्यों को उनके आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। ५२

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने
पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानाऽन्वातांꣳसीत्
त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

संप्रच्यवध्वं	(तुम सब) सम्यक् प्राप्त करने के लिए	पुनः	फिर
उप सम्प्रयात	उस अग्नि के समीप जाओ।	पितरा	पितरों को
अग्ने	हे अग्नि!	युवाना	युवक
देवयानान्	(तुम भी) देवयान के	कृण्वानाः	करते हुए ऋषियों ने
पथः	मार्ग को	एतं तन्तुं	इस यज्ञतंतु को
कृणुध्वम्	प्रकाशित करो।	त्वयि	तुममें
		अतन्वातांसीत्	क्रमपूर्वक विस्तारित किया है ॥ ५३ ॥

आओ, आओ, तुम रहो अग्नि के निकट सतत।
इन अग्निदेव को प्राप्त करो तुम सब संतत ॥
यह देवयान का मार्ग प्रकाशित करो देव।
हे अग्नि! रहो करते प्रशस्त यह पथ सदैव ॥
यह देवयान का मार्ग धर्म का मार्ग विदित।
इस पथ पर सम्यक् चलें विश्व के मानव नित ॥
यह मार्ग यज्ञ का ऋषियों ने है किया प्रकट।
विस्तारित[1] इसको किया सविधि क्रम से उत्कट[2] ॥
पितरों को होता है इससे तारुण्य[3] प्राप्त।
यह यज्ञ त्याग, तप, संयम का है मार्ग आप्त ॥ ५३ ॥

टि०—इस मंत्र में मनुष्यों से यह कहा गया है कि वे मन, वाणी और कर्म से परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। कर्म, उपासना, योग द्वारा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। यही देवयान मार्ग है, यही उत्तम धर्ममार्ग है। ऋषियों ने लोक-कल्याण के लिए जिस यज्ञ-परंपरा का प्रवर्तन किया

---

१ प्रसारित; २ उत्तम; ३ जवानी।

अग्ने	हे अग्नि !	अरोचथाः	प्रदीप्त होते हो,
ते अयं	तुम्हारा यह	तं	उस गार्हपत्य को
ऋत्वियः योनिः	गार्हपत्याग्नि उत्पत्ति-स्थान है।	जानन्	जानकर
		आ रोह	आरोहण करो।
यतः जातः	जिस ऋतु से उत्पन्न हुए तुम	अथ	इसके उपरान्त
		नः रयिं	हमारे लिए धन की
		आ वर्धय	वृद्धि करो ॥ ५६ ॥

गार्हस्थ्य रहे मंगलमय सदा तुम्हारा।
गार्हपत्य अग्नि यह साक्षी सदा तुम्हारा॥
अनुकूल काल पाकर व्रतबद्ध[1] हुए तुम।
वर-वधू-रूप में प्रीति-सुबद्ध[2] हुए तुम॥
बन सद्गृहस्थ वह विद्या करो प्रकाशित।
रह ब्रह्मचर्यरत की जो तुमने अर्जित॥
इन अग्निदेव को निज पथ-दर्शक जानो।
ये धर्मरूप इनका स्वरूप पहचानो॥
उत्कर्ष प्राप्त नित करो धर्म के पथ पर।
धन का संवर्धन करते रहो निरंतर॥ ५६ ॥

टि०—महर्षि दयानंद का मत है, विवाह के अवसर पर पति-पत्नी के सामने जीवन का जो आदर्श रहना चाहिए, उसका निर्देश इस मंत्र में है। उन्होंने इस मंत्र के भावार्थ में लिखा है, गार्हस्थ्याश्रम में प्रवेश कर स्त्री-पुरुष कृतकृत्य होते है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर उन्होंने जो विद्या सीखी है, उसका सम्यक् उपयोग गृहस्थाश्रम में किया जाना चाहिए। धन की वृद्धि करने में दंपति को निरंतर सचेष्ट रहना चाहिए। साथ ही उसका व्यय सन्मार्ग मे किया जाना चाहिए। ५६

तप॑श्च तप॒स्य॑श्च शैशि॒रावृ॒तू अ॒ग्नेर॑न्तःश्लेषो॒ऽसि
कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒
ओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः।
ये अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे।
शैशि॒रावृ॒तू अ॑भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा
अ॑भि॒सं॑विश॒न्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद्ध्रु॒वे सी॑दतम्॥५७॥

---

१ व्रत मे बँधे हुए, २ प्रीति के बन्धन में अच्छी तरह बँधे हुए।

टि०—इस मंत्र मे अग्नि को निरंतर उद्बुद्ध रखने का आदेश दिया गया है। अग्नि के उद्बुद्ध रहने का अर्थ है प्रत्येक मानव के हृदय में भागवत-चेतना का प्रबुद्ध रहना। यह भी आदेश दिया गया है कि हम लोक-कल्याण की भावना से निरंतर सत्कर्म करते रहें। हमारा लक्ष्य हो परमेश्वर का अच्युत धाम प्राप्त करना, वस्तुतः वही जीव का स्वधाम है। ५४

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥ ५५॥

अग्ने	हे अग्नि !	तेन	उस सामर्थ्य से
येन	जिस सामर्थ्य से	नः	हमारे
सहस्रं	सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ को	इमं यज्ञं	इस यज्ञ को
वहसि	(तुम) चलाते हो,	देवेषु	देवताओं के प्रति
येन	जिस सामर्थ्य से	गन्तवे	ले जाने के लिए
सर्ववेदसं	सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को सम्पन्न करते हो,	स्वः नय	स्वर्ग में ले चलो॥ ५५॥

जिस महाशक्ति से करते रहते संपादित।
साहस्र-दक्षिणा यज्ञकर्म हे अग्ने! नित॥
विज्ञान-शक्ति से जिस पाते हो धर्म-सिद्धि[1]।
करते रहते हो वेद-विहित उपचार-वृद्धि॥
तुम उसी शक्ति से करो यज्ञ यह सफल सुफल।
स्वर्गार्ह[2] बने क्रतुकर्म, करें वितरित मंगल॥
हम सबका जीवन-यज्ञ बनाओ पूर्णकाम।
शुभ कर्मों से बन जाय स्वर्ग यह धराधाम॥ ५५॥

टि०—अग्नि के रूप में परमेश्वर स्वयं संसार में मनुष्य के सामने यज्ञमय जीवन बिताने का आदर्श प्रस्तुत करते रहते है। मनुष्य यदि उन आदर्शो का अनुसरण और अनुपालन करे, तो यह धरती स्वर्ग बन जाय। ५५

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ आ रो॒हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम्॥५६॥

---

१ श्रुतिसम्मत धर्ममार्ग;　२ स्वर्ग के योग्य।

हो प्राप्त हमें परमेश्वर का अपना आंतर सम्बन्ध-ज्ञान।
संप्राप्त शिशिर में करना है हमको सब तप-साधन महान॥
मानव ! सब मिल हो एकप्राण इस ऋतु का आश्रय करो ग्रहण।
अंगिरा-सदृश हो प्राप्त तुम्हें जीवन का सुस्थिर अवलम्बन॥ ५७॥

टि०—शिशिर ऋतु के दो महीने माघ और फाल्गुन का मूल नाम तप और तपस्य है। शिशिर ऋतु में माघ मास के शुक्लपक्ष की पंचमी से तपस्या और यज्ञादिक कर्मों का विशेष रूप से आरम्भ होता है। इस मंत्र में यह निर्देश किया गया है कि इस ऋतु के आने पर मनुष्य को अपने को ईश्वर के साथ जोड़ने का विशेष आयोजन करना चाहिए। शिशिर ऋतु में ईश्वर की दो प्रत्यक्ष विभूतियों— अग्नि और विद्युत् का कुशल उपयोग बड़ा हितकर हो सकता है। माघ और फाल्गुन में अग्नि विद्या और विद्युत् विद्या की विशेष साधना आरम्भ की जानी चाहिए। ऐसे अनेक मंत्र यह सूचित करते हैं कि ऋषियों को इन शक्तियों का ज्ञान था। इनके द्वारा वे मनुष्य को सर्वतोमुखी उन्नति करने की प्रेरणा देना चाहते थे। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि मनुष्य परमात्मा के साथ अपने आंतर संबंध को जानकर तदनुकूल आचरण करता हुआ अपना जीवन सार्थक करे। ५७

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ ५८॥

परमेष्ठी	(हे अग्नियो !) विश्वकर्मा	अपानाय	अपान के लिए,
त्वा ज्योतिष्मतीम्	तुम तेजस्विनी को	व्यानाय	व्यान के लिए, उत्कर्ष हेतु
दिवः	द्युलोक के	विश्वं ज्योतिः	सम्पूर्ण ज्योति
पृष्ठे	ऊपर	यच्छ	तुम प्रदान करो।
सादयतु	स्थापित करें।	तया देवतया	उस देवता के प्रभाव से,
सूर्यः	सूर्य	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ते अधिपतिः	तुम्हारा स्वामी है;	ध्रुवा सीद	अचल होकर स्थिर रहो॥ ५८॥
विश्वस्मै प्राणाय	सम्पूर्ण प्राण के लिए,		

हे विश्वज्योति ! तुमको द्युलोक के ऊपर,
है परमेश्वर ने किया स्वयं संस्थापित।
ये महासूर्य जो सबके परम प्रकाशक,
उनकी ही ऊर्जा और प्रभा हो तुम चित्॥

तप: च	माघ और
तपस्य:	फाल्गुन मास
शैशिरौ ऋतु	शिशिर ऋतु (के मास) हैं।
अग्ने: अन्त:	तुम प्रदीप्त अग्नि में स्थिर होकर,
श्लेष: असि	दृढ़ता के लिए हो।
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी
कल्पन्ताम्	आनन्ददायक हो।
आप: ओषधय:	जल और ओषधियाँ
कल्पन्ताम्	आनन्ददायक हों।
अग्नय:	अग्नि
मम	मेरे
ज्यैष्ठ्याय	उत्कर्ष के लिए,
सव्रता:	एक प्रकार के नियमों में वर्तमान
पृथक्	(होते हुए भी) अलग-अलग (रीति से)
कल्पन्ताम्	समर्थ होवें।
ये	जो
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी
अन्तरा	के मध्य में
समनस:	एक मन वाले
अग्नय:	अनेक अग्नि हैं, वे
इमे	इस
शैशिरौ ऋतू	शिशिर ऋतु के साधक मासों को
अभिकल्पमाना	समर्थ करते हुए
इव देवा:	जैसे देवगण
इन्द्रं	इन्द्र का
अभिसंविशन्तु	आश्रय करते हैं,
तया देवतया	वैसे उस प्रसिद्ध देवता द्वारा
अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
ध्रुवे सीदतम्	चिरस्थायित्व प्राप्त करे ॥ ५७ ॥

तप[1] और तपस्य[2] शिशिर ऋतु के है मास उभय।
ये माघ और फाल्गुन हैं शुचि तप के समुदय॥
हे ईश ! अग्नि के अन्तर में हो विद्यमान।
विद्युत् भी तुमसे ही होती है स्पंदमान[3]॥
इन दोनों से ही द्यावा-पृथ्वी हैं समर्थ।
जल-ओषधियाँ ऋतु शिशिर प्राप्त कर हों समर्थ॥
है विद्युत्-अग्नि तुम्हारे नियमों से चालित।
इनसे ही होती है ऋतु शिशिर सदा पालित॥
ये माघ और फाल्गुन को करते शक्तिमान।
ऋतु शिशिर इन्हीं दोनों से है अभिकल्पमान[4]॥
विद्वज्जन इस ऋतु में तप से अग्नियाँ करे दोनों धारण।
हम प्राप्त करे उन ईश्वर को जो सकल कारणों के कारण॥

१ माघ, २ फाल्गुन; ३ स्फुरणशील; ४ समर्थ।

टि०—इस मंत्र में भगवान की पराशक्ति से संसार के जीवन में अवतरित होकर उसके सब अभाव दूर करने की प्रार्थना की गई है। संसार में अनेक अपूर्णताएं हैं, अनेक छिद्र हैं। दैहिक, दैविक आदि तापों से विश्व पीड़ित है। कुंठा,संत्रास, विषाद आदि ने मन के दर्पण को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। यह स्थिति तभी बदल सकती है, जब प्रभु की अनुग्रहरूपा पराशक्ति धरती पर अवतरित हो। इसी को श्री अरविंद धरती पर अतिमानव का अवतरण कहते है। ५९

ता अस्य सूददोहसः सोमंꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ६० ॥

दिवः	द्युलोक में	त्रिषु आरोचने	तीन सवनों के मध्य में
सूददोहसः	जलों से युक्त जो		
पृश्नयः	सूर्य की रश्मियाँ है,	अस्य विशः	इस प्रजा-रूपी यजमान के
ताः	वे		
देवानां जन्मन्	देवताओं के जन्म के समय से,	सोमं श्रीणन्ति	सोम को परिपक्व करती है ॥ ६० ॥

जो पुरुष प्रजा के पालन में हैं तत्पर।
उनके पथदर्शक रहें सदा परमेश्वर॥
विद्या-शिक्षा से करें प्रजा का पोषण।
शुचि संस्कारों से उनका करें प्रवर्द्धन[1]॥
हे कर्म-ज्ञान-आराधन के पथ भास्वर।
सब प्रजा-प्रजापति उनपर चलें निरन्तर॥
हों यथाकाल परिपक्व अन्न ओषधिचय।
जीवन के पोषण-स्रोत[2] रहें सब अक्षय॥ ६० ॥

टि०—इस मंत्र में प्रजाजनों और उनके शासकों के केन्द्रीय धर्म का निर्देश किया गया है। जिन व्यक्तियों पर प्रजा के पालन का उत्तरदायित्व है, उनको ईश्वरपरायण होना चाहिए। शासकों को श्रेष्ठ विद्वानो से प्रजा को शिक्षित और संस्कारित करवाना चाहिए। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि प्रजा कर्म, ज्ञान और उपासना के वैदिक मार्गों का अनुसरण करे। यदि शासक धर्म का पालन करेंगे, तभी वनस्पति आदि समय पर परिपक्व होंगे। उनको खाकर प्रजा सुखी होगी। ६०

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

१ उत्कृष्ट रीति से उन्नति; २ जीवन का पालन-पोषण करने का साधन।

अपना विमर्शमय वह प्रकाश[1] हे मातः !
अव्याहत[2] हमें प्रदान करो नव नव नित।
हों प्राण, अपान, व्यान उत्कर्षपरायण[3],
बुद्धियाँ करो सद्धर्म-मार्ग पर प्रेरित ।।
प्रत्यक्ष अनुग्रह हो तुम परमेश्वर का,
अंगिरा-सदृश दृढ़ रहो यज्ञ में संस्थित ।। ५८ ।।

टि०—इस मंत्र में परमात्मा की पराशक्ति का, जो विश्व की प्रकाशस्वरूपा है, आवाहन किया गया है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारे यज्ञों में अचल होकर अवस्थित रहा करें। वे सबके परम प्रकाशक सूर्यों के भी सूर्य श्री भगवान की परमा प्रभा हैं, परमा ऊर्जा है। उनका प्रकाश चिन्मय है। वे प्राण, अपान, व्यान आदि को उत्कर्ष प्रदान करती है। परमात्मा की परम शक्ति ही गायत्री, सावित्री, महामाया, दुर्गा, विष्णुप्रिया, लक्ष्मी आदि रूपों में उपासित है। ५८

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ।। ५९ ।।

त्वं	तुम	बृहस्पतिः	और बृहस्पति ने
लोकं पृण	लोक को पूर्ण करो,	अस्मिन् योनौ	इस उत्पत्ति-स्थान में
छिद्रं पृण	छिद्र को पूर्ण करो	त्वा अवसीषदन्	तुमको स्थापित किया है ।। ५९ ।।
अथो ध्रुवा सीद	और स्थिर होकर बैठो।		
इन्द्राग्नी	इन्द्र, अग्नि		

हे विश्वज्योति ! अम्बिके ! अनुग्रहरूपे !।
पूर्णतामयी सत्-चित्-आनन्दस्वरूपे ! ।।
हर लो अभाव तुम सब जग के जीवन के।
कुंठा-विषाद के छिद्र भरो सब मन के ।।
दृढ़ होकर सुस्थित रहो विश्व-मानस में।
प्लावित कर दो दिक्काल[4] परात्पर[5]-रस में ।।
इन्द्राग्नि, बृहस्पति आदि देवगण सारे।
कर तुम्हें प्रतिष्ठित हैं सब ऋणी तुम्हारे ।। ५९ ।।

---

१ वह प्रकाश जो चेतन है, दीपक, रत्न आदि के प्रकाश जैसा जड़ नहीं; २ बिना बाधा के; ३ उन्नतिशील; ४ दिशाएँ अर्थात् देश और काल, ५ परे से परे।

अध ते	और तब तुम्हारा	कृष्णं अस्ति स्म	कृष्ण वर्ण का होता
व्रजनं	गमन		जाता है ॥ ६२ ॥

अरणि-काष्ठ के मंथन से हो उठता है जब अग्नि प्रकाशित।
भक्ष्य[1] हेतु अति क्षुधित[2] अश्व-सा होता है तब वह शब्दायित[3] ॥
दीपित करता उसे वायु है, करता है अनुगमन निरन्तर।
कृष्णवर्ण की धूमराशि से छादित[4] होता अध्वर-अम्बर ॥
सम्यक् पालित-पोषित होकर रक्षक बनता सबल अश्वदल।
सेवित सुभृत्[5] प्रजावर्ग से होता है शासन का मंगल ॥ ६२ ॥

टि०—इस मंत्र में बड़ी सटीक उपमा द्वारा अग्नि के उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है। अग्नि बलपूर्वक अरणि-मथन से उत्पन्न होकर उसी प्रकार से शब्द करता है, जैसे भूखा घोड़ा घास के लिए हेषा करता है। अग्नि भी घोड़े की तरह समिधाओं का अपना भोजन माँगता है। वायु उसको प्रज्वलित करता है और उसका काले रंग का धुआँ आकाश और यज्ञभूमि को छा लेता है। स्वामी दयानंद ने कहा, जैसे अच्छी तरह खिलाने-पिलाने से घोड़ा पुष्ट होता है, वैसे ही न्याय से संतुष्ट प्रजा राज्य का मंगल करती है। ६२

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाᳩं समुद्रस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

अवतः	पालन करनेवाले	त्वा सादयामि	तुमको मैं स्थापित करता हूँ।
समुद्रस्य	समुद्र के समान गम्भीर,	त्वं	तुम
आयोः	आयु नाम के आदित्यदेवता के	द्यां आभासि	द्युलोक को प्रकाशित करते हो।
छायायां	आश्रय-रूप	पृथिवीं उरु	पृथ्वी और विस्तीर्ण
हृदये सदने	हृदयस्थान में,	अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को
रश्मीवतीं	बहुत किरणों से युक्त	आ (भासि)	सब ओर से प्रकाशित कर देते हो ॥ ६३ ॥
भास्वतीं	प्रकाशमान		

जब यज्ञस्थल में होते हो तुम उद्भासित।
सब ओर तुम्हारा है प्रकाश होता प्रसरित ॥

---

१ घास आदि खाने के पदार्थ; २ भूखा; ३ बोलता हुआ; ४ ढका; ५ अच्छी तरह पोषित।

विश्वाः गिरः	समस्त वेदवाणियाँ	वाजानां पति	अन्नों के स्वामी
समुद्रव्यचसं	समुद्र के समान व्यापक,	सत्पति	सज्जनों के पालक
रथीनां	रथियों के मध्य में,	इन्द्रं	इन्द्र को
रथीतमम्	सबसे महान महारथी,	अवीवृधन्	बढ़ाती है ॥ ६१ ॥

हे इन्द्र ! तुम्हारी स्तुति करतीं वाणियाँ सकल।
हैं वेद-गिराएँ अखिल तुम्हें अर्पित प्रतिपल ॥
तुम महासिंधु से व्यापक सीमाहीन सतत।
हो सब रथियों में महारथी तुम चिर विश्रुत ॥
तुम सब अन्नों के स्वामी हो हे देवदेव !।
निज धर्मपरायण की रक्षा करते सदैव ॥
ये वेदवाणियाँ सकल इन्द्र को हैं अर्पित।
हैं विश्व-वाणियाँ निखिल उन्हीं के प्रति प्रेरित ॥ ६१ ॥

टि०—वेद में इन्द्र एक प्रमुख देवता हैं, वस्तुतः इन्द्र शब्द परमेश्वरवाची हैं। समस्त वेद-वाणियाँ उनका स्तवन करती हैं। वे समुद्र के समान व्यापक, अनंत और निःसीम हैं। उनसे बड़ा वीर कोई नहीं। वे सब अन्नों के स्वामी हैं और धार्मिक जनों की रक्षा में सदा तत्पर रहते हैं। ६१

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा
महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध
स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

यदा महः	जिस समय बड़े	प्रोथत्	शब्द करता है, (उसी प्रकार, वह अग्नि शब्द करता है और)
संवरणात्	अरणिकाष्ठ से		
व्यस्थात्	अग्नि प्रज्ज्वलित होता है, (तब)		
न अश्वः	जिस प्रकार घोड़ा	आत् शोचिः	पुनः (तुम्हारे) प्रज्वलित होने पर,
अविष्यन्	भोजन की इच्छा करता हुआ,	वातः	वायु
यवसे	घास के लिए	अस्य अनुवाति	इसके पीछे गमन करता है

मह्या स्वस्त्या	महान योगक्षेम के लिए	तया देवतया	उस अपनी अधिष्ठात्री देवी से अनुकूल होकर
शन्तमेन छर्दिषा	अतिशय सुखकारी सम्पत्ति और सत्यासत्य के प्रकाश से	अङ्गिरस्वत्	अंगिरा के समान
		ध्रुवे सीदतम्	स्थिर होकर प्रतिष्ठित होओ ॥६४॥
अभि पातु	सब ओर से सबकी रक्षा करो ।		

है जो द्युलोक के ऊपर का सर्वोच्च स्थान।
परमेश्वर तुमको करें वहाँ दृढ़ स्थिति प्रदान ॥
सब भूतों के ये प्राण, अपान, उदान, व्यान।
उनको तुम सुस्थिर करो शील[1] हो वर्द्धमान ॥
गार्हस्थ्य-धर्म का करो निरन्तर संवर्धन।
चारित्र्य का करे सूर्य सर्वदा संरक्षण ॥
तुमसे द्युलोक यह हो न कभी पीड़ित-बाधित।
अंगिरा-सदृश तुम रहो धर्म में दृढ़ संस्थित ॥
अधिदैव तुम्हारे रहें सर्वदा सानुकूल।
हे देवि ! तुम्हारी संस्थिति हो मांगल्यमूल ॥ ६४ ॥

टि०—इस मंत्र मे उस परमा विश्वज्योति की महिमा का वर्णन है जो त्रैलोक्य के शीर्षस्थान पर प्रतिष्ठित है। सूर्य उसका पालक है। गार्हस्थ्याश्रम के शील और सदाचार के रूप में वही विश्वज्योति प्रकट होती है। गार्हस्थ्याश्रम के कर्तव्यों के सम्यक् परिपालन से द्युलोक के अधिवासी देवता और पितर संतुष्ट होते है। यदि उसमे कोई त्रुटि हुई तो उनको कष्ट होता है। गार्हस्थ्य-धर्म के सम्यक् परिपालन से लोक और समाज का मंगल होता है। वैदिक अवधारणा में गार्हस्थ्य धर्म के आचार-पक्ष की दीक्षा-भूमि है। वस्तुतः, वही धर्म की कसौटी है। ६४

स॒हस्र॑स्य प्र॒माऽसि॑[1] स॒हस्र॑स्य प्र॒ति॒माऽसि॑[2]
स॒हस्र॑स्यो॒न्माऽसि॑[3] सा॒ह॒स्रोऽसि॑ स॒हस्रा॑य त्वा॥६५।

[अध्याय १५, कण्डिकाः ६५, मन्त्र-संख्या १३६]

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

---

१ सदाचार।

दिव भी तुमसे हो उठता है जाज्वल्यमान।
धरती को भी करते हो तुम्हीं प्रकाशमान॥
यह अन्तरिक्ष विस्तीर्ण तुम्हीं से ज्योतिस्नात[1]।
उर में तुमको करता स्थापित हे किरणव्रात[2]॥
ये आयु नाम के हैं प्रसिद्ध आदित्य देव।
गम्भीर सिन्धु से हैं पालन करते सदैव॥
यह हृदय-देश मेरा उनका है आश्रय-स्थल।
करता हूँ स्थापित उन्हें वहाँ यह चिर-निर्मल॥ ६३॥

टि०—अग्नि अरणी-मंथन द्वारा प्रकट होते हैं। चारों ओर उनका प्रकाश फैल जाता है। ये अग्नि धरती और द्युलोक तीनों के प्रकाशक हैं। सब आदित्य उन्हीं के रूप हैं। हृदय आयु नाम के आदित्य का आश्रयस्थल है। वहाँ उनके प्रकाश का ध्यान करना चाहिए। वहाँ वे चंचलतायुक्त गंभीर स्थिति में विद्यमान हैं। निर्मल हृदय में उनका प्रकाश प्रकट होता है। ६३

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं
प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृꣳह दिवं मा हिꣳसीः।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय।
सूर्यस्त्वाऽभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया
देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ ६४॥

परमेष्ठी	विश्वकर्मा प्रजापति
त्वा	तुमको
व्यचस्वतीं	व्यापक,
प्रथस्वतीं	विस्तीर्ण
दिवः पृष्ठे	द्युलोक के ऊपर
सादयतु	स्थापित करे।
विश्वस्मै	(तुम) सम्पूर्ण
प्राणाय	प्राणियों के प्राण के लिए,
अपानाय	अपान के लिए,
व्यानाय	व्यान के लिए,
उदानाय	उदान के लिए,
प्रतिष्ठायै	प्रतिष्ठा के लिए,
चरित्राय	सदाचार के लिए सहायक हो।
सूर्यः	सूर्य देवता
त्वा अभिपातु	सब ओर से तुम्हारी रक्षा करें।
दिवं मा हिंसीः	द्युलोक को मत पीड़ा दो।

[1] प्रकाश मे नहाया हुआ; [2] किरणों का समूह।

अथ षोडशोऽध्यायः

नम॑स्ते रुद्र म॒न्यव॑ उ॒तो त॒ इष॑वे॒ नमः॑ ।

बा॒हुभ्या॑मु॒त ते॒ नमः॑[1] ॥ १ ॥

रुद्र	हे दुष्टों को रुलानेवाले रुद्र !	इषवे नमः	वाणों को मेरा नमस्कार है
ते	तुम्हारे	उत ते	और तुम्हारी
मन्यवे नमः	क्रोध को मेरा नमस्कार है।	बाहुभ्यां नमः	भुजाओं को मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥
उतो ते	और तुम्हारे		

षोडश अध्याय

दुष्टों को सदा रुलाते हो, हे रुद्रदेव ! ।
दुख-भोग कराते पापी जन को सर्वदेव[1] ॥
हे रुद्र ! तुम्हारे महामन्यु[2] को नमस्कार ।
हे रुद्र ! तुम्हारे तीक्ष्ण शरों को नमस्कार ॥
जो हरते हैं अघ और अनृत[3] का तम अपार ।
उन शस्त्रास्त्रों को रुद्र ! तुम्हारे नमस्कार ॥
जिनके बल से करते हो ऋत का संरक्षण ।
जिनसे करते हो सदा धर्म का संवर्धन ॥
हे रुद्र ! तुम्हारी उन बाँहों को नमस्कार ।
उन खल-विद्रावण बाहुद्वय को नमस्कार ॥
हे रुद्र ! तुम्हारे महामन्यु को नमस्कार ।
हे रुद्र ! तुम्हारे बाहुद्वय को नमस्कार ॥ १ ॥

टिप्पणी—सोलहवें अध्याय के इस मंत्र से रुद्रदेव के स्तवन का आरंभ होता है । उनका क्रोध महान है, प्रणम्य है । यदि वे क्रोध न करें, तो पापियों और आततायियों का वध कौन करे ? जिन बाँहों के बल से वे पापियों का दमन और सज्जनों का पालन करते हैं, रुद्रदेव की उन बाँहों की इस मंत्र में वंदना की गई है । यह परम सात्त्विक, लोकमंगलकारी क्रोध है । यह भगवान की अनन्त शक्ति का मांगलिक प्रकाश है । गोस्वामीजी ने राम के इसी क्रोध का दिव्य वर्णन किया है । १

---

१ सदा ही, २ महान क्रोध; ३ पाप और असत्य ।

सहस्रस्य प्रमा	(हे अग्नि !) तुम शक्तियों के मापक
असि	हो;
सहस्रस्य	सहस्रों ऐश्वर्यों की
प्रतिमा असि	प्रतिमा-रूप हो;
सहस्रस्य	हजारों से
उन्मा असि	उच्च स्थान पर रहनेवाले हो;
साहस्रः असि	हजारों के ऊपर अधिष्ठाता होने योग्य हो। (इस लिए)
सहस्राय त्वा	मैं सहस्र उच्च पदों के लिए तुमको (नियुक्त करता हूँ)॥ ६५॥

हे अग्नि! सहस्र शक्तियों के तुम हो मापक।
शत-शत ऐश्वर्यों के प्रतिमान तुम्हीं व्यापक॥
अयुतायुत[1] बलसमूह से हो तुम बलवत्तम[2]।
अयुतायुत से भी स्थान तुम्हारा उच्च परम॥
तुम शत-शत साहस्रों में हो पूजार्ह[3] सतत।
ऋत और सत्य के पालक संचालक दृढ़व्रत॥ ६५॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के स्तवन के व्याज से परमेश्वर की अनंत अपरिमेय शक्तियों का निर्देश किया गया है। भगवान के अनन्त ऐश्वर्य के वर्णन की यह परंपरा भक्तों और संतों के साहित्य में बड़े भावपूर्ण और उदात्त रूप में मिलती है। गीता में भी कहा गया है, यदि हजारों सूर्य एक साथ उदित हों, तो उनके तेज का कुछ आभास मिल सकता— "दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेत् युगपदुपस्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।" कबीर ने भी भगवान के दिव्य तेज के विषय में लिखा है— 'मानो ऊगी सूरजसेनि।' गोस्वामीजी ने भी लिखा है— 'रवि सत कोटि प्रकास।' ६५

॥ पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥

---

१ हजारों-हजार; २ सबसे बलवान; ३ पूजा के योग्य।

बिभर्षि	धारण करते हो,	जगत्	संसार (के पशुओं) को
तां	उस बाण को	मा	मत
शिवां	कल्याणकारी	हिंसीः	मारो ॥ ३ ॥
कुरु	करो (और)		
पुरुषं	मनुष्यों तथा		

हे गिरिशन्त[1]! विराजमान कैलास-शिखर पर।
वितरित करते हो भक्तों को सुख अविनश्वर॥
हे गिरित्र[2]! हो समासीन कैलास-अद्रि पर।
रक्षा करते सदा लोक की सब दुःख-भय हर॥
खल जन के विध्वंस हेतु करते जो धारण।
उस इषु[3] से प्रभु करो निखिल मंगल-विस्तारण॥
मनुज और गोगण न रुद्र! हों उससे पीड़ित।
रहो निरन्तर देवदेव! हम सबसे ईडित[4]॥ ३ ॥

टि०—भगवान रुद्र खलविद्रावण हैं। अधर्म मार्ग पर चलनेवालों का नाश करना उनका नित्य धर्म है। वे कैलास-शिखर पर विराजमान होकर भक्तों की रक्षा करते है और अविनश्वर सुख प्रदान करते हैं। सब लोक उनके द्वारा रक्षित हैं। उनके हाथ में जो बाण है वह शत्रुओं के लिए है। ऋषि प्रार्थना करते हैं, वह बाण कल्याणकारी और शान्ति का विस्तार करनेवाला बन जाए। उसके द्वारा मनुष्यों और गो आदि पशुओं को किसी प्रकार की पीड़ा न हो। हमको ऐसी बुद्धि प्रदान करो, जिससे हम निरंतर तुम्हारा गुणगान करते रहें। ३

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥ ४ ॥

गिरिश	हे पर्वत में रहनेवाले रुद्र!	यथा नः	जिससे हमारा
त्वा	तुमको	सर्वं इत्	समस्त यह
शिवेन	कल्याणकारी	जगत्	संसार
वचसा	वाणी से	अयक्ष्मं	रोग-रहित
अच्छा	भली प्रकार	सुमना	शुभ मन वाला
वदामसि	निवेदन करते हैं,	असत्	होवे ॥ ४ ॥

१ कैलास पर समासीन होकर सुख का विस्तार करनेवाले; २ कैलास पर विराजमान होकर प्राणियों की रक्षा करनेवाले; ३ बाण; ४ पूजित, संस्तुत।

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूरघो॒राऽपा॑पकाशिनी।
तया॑ नस्त॒न्वा॒ शन्त॑मया॒ गिरि॑शन्ता॒भि चा॑कशीहि ॥२॥

गिरिशन्त	पर्वत के किले में रहनेवाले	अघोरा	शान्त,
रुद्र	शत्रुओं को रुलाने वाले हे वीर !	अपापकाशिनी	पाप दूर करनेवाला
या	जो	तनूः	शरीर है,
ते	तुम्हारा	तया शन्तमया	उस सुखपूर्ण
शिवा	कल्याणकारी,	तन्वा	शरीर से
		नः	हमारा
		अभि चाकशीहि	अवलोकन करो ॥२॥

तुम दुर्ग-सदृश दुर्गम गिरि पर करते निवास।
कैलास शिखर हे रुद्र! तुम्हारा दिव्य वास॥
तुम प्रथित शत्रु-विद्रावण हो हे महावीर!।
अति शान्त, सौम्य मंगलमय है चिन्मय शरीर॥
कर रिपु विनष्ट करते हो शान्ति-विधान देव!।
अक्रूर[1] अघोर[2] अनघ[3] भक्तों के हित सदैव॥
निज कृपादृष्टि की वृष्टि करो हम पर अविरत।
चरणों में अर्पित करते हैं हम प्रणति सतत॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में रुद्रदेव के मंगलमय शिव-रूप का निर्देश है। वे शत्रु को नष्ट कर शान्ति की स्थापना करते हैं। वे पापियों को रुलाते हैं और सज्जनों के लिए सदा सौम्य, शान्त, अघोर और अक्रूर बने रहते हैं। उनका शरीर अन्य प्राणियों के शरीरों की तरह पंचभौतिक नहीं है। वे चिदानन्दविग्रह हैं। उनकी कृपादृष्टि की वृष्टि परम मंगलकारिणी है। २

यामिषुं॑ गिरिशन्त॒ हस्ते॑ बि॒भर्ष्यस्त॑वे।
शि॒वां गि॑रित्र॒ तां कु॑रु॒ मा हि॑ꣳसीः॒ पुरु॑षं॒ जग॑त् ॥ ३ ॥

गिरिशन्त	हे शान्तिदायक,	इषुं	बाण को
गिरित्र	रक्षा करनेवाले रुद्र !	अस्तवे	शत्रुओं का नाश करने के लिए
यां	(तुम) जिस	हस्ते	हाथ में

१ जिसमें क्रूरता नहीं, दयालु: २ जिनमें भयंकरता नहीं; ३ निष्पाप।

सर्पादि क्रूर पशु राक्षस-दल, हैं परित्यज्य सर्वथा सकल।
हैं वध्य आततायी[1] सदैव, इनका विनाश मिल करें देव!।
राक्षसी वृत्ति के जन समस्त, मन्यु के अनल में करो ध्वस्त।
दुर्जन के हित है क्षमा गरल, उनके प्रति दया सदा निष्फल ॥ ५ ॥

टि०—इस मन्त्र में रुद्रदेव की कल्याणी वाणी की वाङ्मयी अर्चना की गई है। यह कहा गया है कि भगवान रुद्र सबसे बड़े वैद्य हैं। उनका मृत्युंजय नाम तो प्रसिद्ध ही है। वे प्रमुख वक्ता हैं। श्रेष्ठ वक्ता वह है जो सत्य प्रिय और हितकर वाणी बोले। रुद्रदेव ऐसे ही वक्ता हैं। उनका यह परम मंगलमय किन्तु व्यावहारिक कथन है कि सर्पों और राक्षसों के-से स्वभाववाले जो मनुष्य है, उनसे सदा दूर रहना चाहिए। 'खल परिहरिअ स्वान की नाईं।' उनकी वाणी ध्यान से सुननी चाहिए और उसे कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। उनका कहना है, पापी और आततायी वध के योग्य हैं। सब देवस्वभाव के मनुष्यों को मिलकर उन्हें नष्ट कर देना चाहिए। उनको लोककल्याणकारी क्रोध की आग मे जला देना चाहिए। दुर्बल को क्षमा करना विष पीने के समान घातक है। उनके प्रति दया व्यर्थ है। ५

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनंᳬ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः
सहस्रशोऽवैषांᳬ हेडं ईमहे ॥ ६ ॥

यः असौ	जो यह	च ये	और जो
ताम्रः	उदय के समय ताम्र वर्ण,	सहस्रशः रुद्राः	हजारों रुद्र के गण और अनुचर
अरुणः	मध्य समय में अरुण वर्ण,	एनं अभितः	इसके चारों ओर
उत बभ्रुः	और अंत समय में भूरे रंग वाला होता है,	दिक्षु श्रिताः	दिशाओं में वर्तमान हैं,
सुमङ्गलः	वह अनेक मंगल करनेवाला है	एषां हेडः	इनका क्रोध
		अव ईमहे	हमसे दूर रहे ॥६॥

आदित्यरूप रुद्र का करे हम सब वंदन।
इन कल्मषघ्न[2] तमतोमहरण[3] को करें नमन ॥

१ जघन्य और अक्षम्य पाप करनेवाला, २ पाप नाशक; ३ अंधकार समूह को नष्ट करनेवाले।

अये गिरिश ! कैलास-अद्रि[1] पर समासीन विभु।
शिवमय वाणी से करते हैं याच्ञा[2] हम प्रभु ! ॥
निखिल जगत यह रोगहीन कर दो मृत्युंजय।
हर असाध्य व्याधियाँ करो सब जगत् विगत-भय ॥
शुभ संकल्पों से पूरित हो मानव का मन।
आधि-व्याधि-निर्मुक्त बना दो जग का जीवन ॥ ४ ॥

टि०—इस मन्त्र में भगवान रुद्र से कल्याणमयी वाणी से यह सामूहिक प्रार्थना की गई है कि आप मानव-जीवन को यक्ष्मा जैसे रोगों से मुक्त कर दें। शरीर को रोगहीन बनाने के लिए मन में शुभ संकल्पों और सद्विचारों का प्रवाह बहता रहना चाहिए। मानसिक रोग और शारीरिक रोगों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस मे बड़े विस्तार से मानस-रोगों का विवरण प्रस्तुत किया है— "सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा ॥ मोह सकल व्याधिन कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला ॥ काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥" इस प्रसंग में गोसाईं जी ने अनेक मानस-रोग गिनाये हैं। ये ही सब व्याधियों के मूल कारण है। इनके दूर करने के लिए मन में शुद्ध और कल्याणकारी विचारों का धारावाहिक संचार आवश्यक है। ४

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वांश्च
यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥ ५ ॥

अधिवक्ता	मुख्य वक्ता,	**अहीन्**	क्रूर सर्प और राक्षस जैसे दुष्टों को
प्रथमः	सर्वश्रेष्ठ,		
दैव्यः भिषक्	दिव्य वैद्य रुद्र		
अध्यवोचत्	हमें बता रहा है	**जम्भयन्**	नष्ट करके
च	कि	**सर्वाः अधराचीः**	सब नीच
सर्वान्	सब	**यातुधान्यः च**	और राक्षसी वृत्ति के लोगों को
		परा सुव	हमसे दूर करो ॥५॥

ये रुद्रदेव हैं भिषक्[3] परम, अधिवक्ता[4] हैं ये सर्वोत्तम।
इनकी वाणी है कल्याणी, सब सुनें ध्यान देकर प्राणी।

---

१ पर्वत; २ प्रार्थना; ३ वैद्य; ४ प्रमुख वक्ता।

ये नीलकंठ हैं अस्त समय में दृश्यमान।
लोहितवर्ण[1] सविशेष प्रभा से शोभमान॥
आदित्यरूप में स्वयं रुद्र ये गमनशील[2]।
अवसर्पण करते हैं लोहितमंडल सलील॥
है धेनुधूलि-वेला[3] गोपालकगण रुक-रुक।
हैं देख रहे इनकी शोभा होकर अपलक॥
ये उदकहारिणी[4] गोप-अंगनाएँ पुलकित।
दर्शन करती हैं इनका विपुल भक्ति-भावित॥
उनके दर्शन से मिलता है जन-जन को सुख।
हो उठता है उद्‌भासित गहन तिमिर का मुख॥ ७॥

टि०—पूर्ववर्ती मन्त्र की टिप्पणी में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रुद्र की आठ मूर्तियों मे एक आदित्य हैं। इस मन्त्र में इनके अस्ताचल की ओर गमनशील-रूप की अभ्यर्थना की गई है। अस्ताचल की ओर उतरते हुए उनकी शोभा बड़ी आकर्षक होती है। वेदोक्त संस्कारहीन गोप और गोपांगनाएँ भी उन्हें देखकर प्रसन्न होकर निहारते ही रह जाती हैं। आदित्यदेव बड़े करुण-हृदय हैं। वे अपने दर्शन करनेवाले पर प्रसन्न होकर उसे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। उनके दर्शन से सबको सुख मिलता है। गहन अन्धकार का मुख भी धुल जाता है, खिल-खिल उठता है। ७

नमो॑ऽस्तु नील॑ग्रीवाय सहस्राक्षाय॑ मी॒ढुषे॑।
अथो॒ ये अ॑स्य॒ सत्वा॑नो॒ऽहं तेभ्यो॑ऽकरं॒ नमः॑ ॥ ८॥

नीलग्रीवाय	नीलकंठ,	अथो	और
सहस्राक्षाय	सहस्रनेत्र,	ये अस्य सत्वानः	इसके जो सत्वांश हैं,
मीढुषे	सेवन में सुखदायक रुद्र को	तेभ्यः	उन को
नमः अस्तु	मेरा नमस्कार हो	अहं	मैं
		नमः अकरम्	नमस्कार करता हूँ॥ ८॥

जग-मंगल-हित विषपायी[5] नीलकंठ उदार।
उन रुद्रदेव के चरणों में शत नमस्कार॥
जो सहस्राक्ष[6] हैं और विश्वतश्चक्षु[7] प्रथित।
उन रुद्रदेव को नमस्कार अर्पित शत नित॥

---

१ लाल रंग वाली, २ गतिमान, ३ गोधूलि वेला, जब गायें घर लौटती हैं; ४ जल भरकर चलनेवाली; ५ विष पीनेवाले; ६ सूर्य; ७ विश्व की आँखें जिनकी आँखें हैं।

ये उदयकाल में धारण करते ताम्रवर्ण[1]।
हो जाते अस्त समय में हैं अरुणिम सुवर्ण ॥
होता है मध्यकाल में बभ्रुवर्ण[2] अनुपम।
शत-शत किरणों से शोभित मंगलधाम परम ॥
करते अनन्त शुभ कर्मों का वे विस्तारण।
करते असंख्य रुद्रगण चतुर्दिक् हैं विचरण ॥
हैं दिशा-दिशा में रुद्र असंख्यक विद्यमान।
हमको उनके क्रोध से करो रक्षा प्रदान ॥ ६ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि रुद्र के ही एक रूप सूर्य है। इन पाप और अन्धकार दूर करनेवाले रुद्र की हम वन्दना करें। शतपथ ब्राह्मण में रुद्र के आठ नामों का उल्लेख है। वे हैं— शर्व (जल), पशुपति (वनस्पति), उग्र (वायु), अशनि (विद्युत्), भव (पर्जन्य), महादेव (चन्द्रमा), ईशान (सूर्य) और आदित्य। इनका प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी रुद्र के आठ नामों में एक आदित्य है। इस मंत्र में आदित्य के उदय, मध्य और अस्त के समय के वर्ण का वर्णन है। उनके चारों ओर असंख्य रुद्रगण विचरण करते रहते है। इस मंत्र में 'रुद्राः' शब्द का प्रयोग हुआ है। ये 'रुद्राः' आधिपत्य में रहनेवाले उनके अनुचर हैं, जिनका कार्य मनुष्यों को कष्ट देना है। उनकी संख्या गणनाहीन है (असंख्याता सहस्रृष्टि)। वे भूमि, अंतरिक्ष, आकाश, समुद्र सब जगह व्याप्त है। कुछ वृक्षों पर रहते हैं, कुछ घास की भाँति भूरे (शष्पिंजर) है। स्तोता इस मन्त्र में उनसे अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। ६

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः॥७॥

यः असौ	जो यह	अदृश्रन्	देखते हैं,
नीलग्रीवः	अस्तसमय में नीलकंठ के समान	उदहार्यः	जल ले जानेवाली नारियाँ भी
उत विलोहितः	और विशेष रूप से रक्तवर्ण	अदृश्रन्	इसका दर्शन करती हैं।
अवसर्पति	आदित्य-रूप से निरंतर गमन करता है,	सः	वह, रुद्र भगवान
एनं	इसको	दृष्टः	दर्शन किये जाने पर
गोपाः	गौओं के पालक लोग	नः मृडयाति	हमें सुखी करता है ॥ ७ ॥

१ तांबे जैसा लाल रंग; २ भूरा रंग।

टि०—भगवान रुद्र षड्‌विध ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। मन्त्र में 'भगवः' संबोधन यह सूचित करता है कि वे समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान से पूरित है और इसी रूप में वे प्रशंसित हैं। दुष्टों का नाश करने के लिए उन्होंने अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा रखी। हाथों में अधर्म-निवारक बाण शोभा पा रहे हैं। हे देव! आपके प्रसाद से अब धर्म रक्षित है, विश्व में शान्ति है। इसलिए अपने बाण तूणीर में रख दीजिए, धनुष की प्रत्यंचा उतार दीजिए। अब सौम्य भाव से इस शान्ति की रक्षा कीजिए। शान्ति-भग होने पर धनुष चढ़ाइए। ६

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः[१] ॥ १० ॥

कपर्दिनः	जटाधारी वीर रुद्र का	याः इषवः	जो बाण हैं,
धनुः	धनुष	अनेशन्	वे न दिखाई पड़ें।
विज्यं	प्रत्यंचा-रहित हो	अस्य	इसके
उत	और	निषङ्गधिः	खड्ग रखने का कोश
बाणवान्	तरकस	आभुः	(शान्ति के समय) रिक्त रहे ॥ १० ॥
विशल्यः	बाणों से शून्य हो।		
अस्य	इस देवता के		

यह शान्तिकाल है रुद्र! प्रसाद तुम्हारा।
निःशस्त्र शान्तिमय हो जग-जीवन सारा॥
हे जटाजूटधर! हे अधर्म-संहारी।
डोरी अब धनु की उतरे देव! तुम्हारी॥
कर का शर भी निषंग में शोभा पावे।
करवाल काल-सी कोशबद्ध हो जावे॥
हो शान्ति विश्व में तुमसे सदा सुरक्षित।
शिवमय[१] हो रुद्र! तुम्हारी प्रति गति-सृति[२] नित॥ १०॥

टि०—वैदिक रुद्र केवल युद्ध के ही देवता नहीं हैं, वे शान्ति के भी देवता हैं। वे जटाजूटधारी कपर्दी, अधर्म का संहार कर स्थायी शान्ति की व्यवस्था करते हैं। उनकी कृपा से ही विश्व में शान्ति की स्थापना होती है। उनसे प्रार्थना की गई है, अब वे अपने धनुष की डोरी उतार दें, बाण तूणीर में रख दें और खड्‌ग भी कोशस्थ कर दें। अब वे सौम्यभाव से शान्ति की रक्षा करें। अधर्म की शक्तियों के सक्रिय होने पर ही अपना धनुष उठावें और तलवार निकालें। १०

---

१ कल्याणमय; २ चालढ़ाल या प्रत्येक क्रिया।

पर्जन्यरूप में करते हैं जो वृष्टिदान।
जग के सेचन[1] में हैं समर्थ जो महाप्राण॥
उन रुद्रदेव के चरणों में शत-शत प्रणाम।
वृष्टिवान[2]-किरणमाली के चरणों में प्रणाम॥ ८॥

टि०—इसमें रुद्र के करुणामय पर्जन्यरूप की वंदना की गई है। जो लोग यह समझते हैं कि वेद में रुद्र भयानक, उग्र और विनाशकारी देवता मात्र हैं, उन्हें ऐसे मंत्रों पर भी ध्यान देना चाहिए। पर्जन्य उन्हीं का एक रूप है। 'पर कारज देह को धारे फिरौं' —यही पर्जन्य अर्थात् मेघ का रूप है। यही रुद्र का वास्तविक रूप है। वे पापियों के लिए भयानक और उग्र है। लोकमंगल के लिए विष पीनेवाले देवता से अधिक करुणामयता किसमें हो सकती है? यह मन्त्र उनके नीलकंठ-रूप पर बल देता है। वे सबको देखते हैं। इस मंत्र में भगवान रुद्र के 'नीलग्रीव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे मिलती-जुलती कृष्णग्रीव, नीलशिखंडिन् और असितग्रीव उपाधियाँ भी प्रयोग में आई हैं। धूम को अग्नि का शिखंड मानकर नीलशिखंडिन् नाम चल पड़ा। शिखंड की नीलिमा से ग्रीवा की नीलिमा का बिंब जगा और कृष्णग्रीव, असितग्रीव आदि अभिधान प्रचलित हो गये। यही नीलकंठता उनके विषपान का पर्याय हुई। ८

प्रमु॑ञ्च॒ धन्व॑न॒स्त्वमु॒भयो॒रार्त्न्यो॒र्ज्याम्।
याश्च॑ ते॒ हस्त॒ इष॑वः॒ परा॒ ता भ॑गवो वप॥ ९॥

भगवः	हे ऐश्वर्यसंपन्न भगवान रुद्र!	त्वं प्रमुञ्च	तुम उतार लो
धन्वनः	धनुष की	च याः	और जो
उभयोः	दोनों	ते हस्ते	अपने हाथ में
आर्त्न्योः	कोटियों से	इषवः	बाण हैं,
ज्यां	प्रत्यंचा को	ताः परा वप	उनको दूर कर दो॥ ९॥

ऐश्वर्य समग्र धर्म यश श्रीमय ईडित[3]।
भगवान रुद्र! वैराग्य, ज्ञान से मंडित॥
हे आत्तसज्ज-धनु[4]! हे खलदल-विद्रावण।
है शान्तिपूर्ण निरुपद्रव अब जग-जीवन॥
अवततधन्वा[5] बन देव! विराम करो अब।
कर के शर तूण बीच विश्राम करें सब॥
विभु! शाश्वत शान्ति-विधान करो अग-जग में।
रक्षित हों तुमसे हम सब जीवन-मग में॥ ९॥

१ सीचना; २ वृष्टि करने की कामना वाले; ३ प्रशंसित; ४ धनुष चढ़ाये हुए; ५ प्रत्यंचा उतारे हुए धनुष वाले।

यः	जो	अस्मत्	हमसे
तव	तुम्हारा	आरे	दूर
इषुधिः	बाण है,	नि धेहि	स्थापित करो ॥१२॥
तं	उसको		

हे रुद्र ! तुम्हारे शर ये और शरासन[1] ।
सब सभी ओर से करें हमारा रक्षण ॥
शत्रु के आक्रमण से हों हम अभिरक्षित[2] ।
तूणीर तुम्हारा रक्षा-तत्पर हो नित ॥
शस्त्रास्त्र तुम्हारे हों स्थिर शान्ति-विधायक ।
प्रभु ! रहो सदा हम सबके सौख्यप्रदायक ॥ १२ ॥

टि०—इस मन्त्र में भी भगवान रुद्र की सशक्त सुरक्षा-नीति की अभ्यर्थना की गई है। इस मंत्र में यह निर्देश भी किया गया है कि राष्ट्र के शासकगण और प्रजाजन शस्त्रास्त्र का अभ्यास करते हुए, समयानुकूल उपयुक्त शास्त्रादि का निर्माण करते हुए राष्ट्र को शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रखें। स्थायी शान्ति की स्थापना का यही मार्ग है। भगवान रुद्र राष्ट्र का उत्तरदायित्व वहन करनेवालों के आदर्श होने चाहिए। भगवान रुद्र युद्ध और शान्ति दोनों के देवता हैं। १२

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

सहस्राक्ष	हे हजारों नेत्रों वाले !	शल्यानां	बाणों के
शतेषुधे	सहस्रों तरकस वाले (हे रुद्र) !	मुखाः	मुखों का अर्थात् फालों को
त्वं	तुम	निशीर्य	निकाल कर
धनुः	धनुष को	नः	हमारे लिए
अवतत्य	प्रत्यञ्चा-रहित करके	शिवः	कल्याणकारी
		सुमनाः भव	और शुभचित्त वाले बनो ॥ १३ ॥

हे सहस्राक्ष ! हे रुद्र कोटि-तूणीर-धरण[3] ।
कर चुके असंख्यक युद्धों में तुम विजय वरण ॥

---

१ धनुष; २ अच्छी तरह से रक्षित; ३ करोड़ों तरकस वाले।

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥ ११ ॥

मीढुष्टम	हे सुख का सिंचन करनेवाले रुद्र !	तया अयक्ष्मया	उस उपद्रव-रहित रोग-विनाशक शस्त्र से
ते	तुम्हारे हाथ में	त्वं	तुम
या हेतिः	जो हथियार है,	विश्वतः	सब ओर से
ते हस्ते	(जो)तुम्हारे हाथ में	अस्मान्	हमारी
धनुः बभूव	धनुष है,	परि भुज	रक्षा करो ॥ ११ ॥

हे रुद्र ! सदा सुख से सींचो यह धरती ।
है कृपा तुम्हारी सबकी पीड़ा हरती ॥
है शस्त्र तुम्हारे कर में जो यह शोभित ।
वह धनुष तुम्हारा पालनकर्ता है नित ॥
यक्ष्मादिक सब व्याधियाँ हरण करता वह ।
निरुपद्रव उससे हो जग-जीवन अहरह ॥
तुम उसी उपद्रवहरण धनुष से त्र्यम्बक[1] ।
रक्षा हम सबकी करो निरन्तर सम्यक् ॥ ११ ॥

टि०—इस मंत्र में भी भगवान रुद्र की शान्ति और सुरक्षा के देवता के रूप में वंदना की गई है। तुम्हारे हाथ मे जो यह उग्रदंड धनुष है, वह इस शान्तिकाल में संसार का पालन करनेवाला हो गया है। इस धरती को तुम सुख से सींच रहे हो, तुम्हारे इस धनुष में संसार को उपद्रवहीन बनाने की शक्ति है। यक्ष्मा जैसी सभी व्याधियाँ तुम्हारी कृपा से दूर हो जाती है। तुम निरंतर हमारी रक्षा करते रहो, शान्ति की रक्षा करते रहो। ११

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम् ॥ १२ ॥

ते धन्वनः	(हे रुद्र !) तुम्हारे धनुष और वाण आदि (जो)	विश्वतः	वे सब ओर से
		अस्मान्	हमारी
		परि वृणक्तु	रक्षा करे,
हेतिः	आयुध हैं,	अथो	और

---

१ तीन नेत्रो वाले शिव ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं
मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा
नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ १५ ॥

रुद्र	हे रुद्र !	उक्षितं	गर्भस्थ बालक को
नः	हमारे	मा	मत मारो ।
महान्तं	बडे गुरुजनों को	नः	हमारे
मा वधीः	मत मारो	पितरं मा	पिता को मत मारो
उत नः	और हमारे	उत नः	और हमारी
अर्भकं मा	बालकों को मत मारो ।	मातरं मा	माता को मत मारो ।
नः	हमारे	नः	हमारे
उक्षन्तं मा	तरुण पुरुषो को मत मारो	प्रियाः	प्यारे
		तन्वः	पुत्र-पौत्रादि को
उत नः	और हमारे	मा रीरिषः	मत मारो ॥ १५ ॥

गुरुजनों को न तुम रुद्र ! हमारे मारो ।
अर्भकगण[1] को भी देव ! न तुम संहारो ॥
सब तरुण हमारे तुमसे रहें सुरक्षित ।
गर्भस्थ[2] रहें सब अर्भक तुमसे रक्षित ॥
प्रभु ! पितृदेव की करो हमारे रक्षा ।
जननी के जीवन की दो हमको भिक्षा ॥
जो है प्रियजन परिजन पौरजन[3] हमारे ।
हे रुद्र ! तुम्हारा रोष न उनको मारे ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र मे स्तोता अपने पूरे परिवार और प्रिय जनों के लिए रुद्र से रक्षा की प्रार्थना कर रहा है । इस मंत्र में रुद्र का अर्थ रुद्र के गण हे, ऐसा प्रतीत होता है । कुछ विद्वानों का मत है, ये रुद्र के गण आजकल के लोकविश्वास के भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस आदि के समान सूक्ष्म शरीर वाले हानिकारक प्राणी थे । ऐसे ही रक्षापरक वैदिक मन्त्रो मे कवच, अर्गला, कीलक आदि स्तोत्रो की परंपरा चली । १५

---

१ बच्चे, २ गर्भ मे स्थित, ३ परिवार के लोग ।

अब रख दो अपने धनु की प्रत्यंचा उतार।
शर के, शल्यों के फलकों[1] को भी दो निकाल॥
अति शान्त परम शिवरूप करो विभु! तुम धारण।
शोभन मन होकर मंगल-मोद करो वितरण[2]॥ १३॥

टि०—यह मन्त्र यह निर्देश करता है कि वैदिक ऋषि को रुद्र के शिवरूप का प्रत्यक्ष हो चुका था। ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर सायण ने 'रुद्र' शब्द का अर्थ किया था, 'कष्ट का अपनोदन करनेवाला।' उनके अनुसार 'रुद्र' का अर्थ है 'कष्ट दूर करनेवाला'। महाभारत शान्तिपर्व में 'रु' का अर्थ कष्ट किया गया है और 'द्र' का अर्थ भगाना इस प्रकार जो कष्ट को भगाता है, वह 'रुद्र' है। इन व्युत्पत्तियों से उनके शिवरूप की व्यंजना होती है। जो विद्वान है, जो 'शिव' और 'रुद्र' की भिन्नता का प्रचार करते है, वे भ्रम में है। वेदों में शिव और रुद्र सदा एक है। १३

नम॑स्त॒ आयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑।
उ॒भाभ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्या॑ं तव॒ धन्व॑ने॑॥ १४॥

ते	(हे रुद्र!) तुम्हारे	बाहुभ्यां	बाहुओं को
अनातताय	धनुष पर न चढ़ाये,	उत तव	और तुम्हारे
आयुधाय	आयुध (बाण) को	धृष्णवे धन्वने	शत्रु को पराजित
नमः	नमस्कार है।		करने में समर्थ
ते	तुम्हारे		धनुष को
उभाभ्यां	दोनों	नमः	नमस्कार है॥१४॥

जो अब न तुम्हारे धनु प्रचंड पर आरोपित।
हे रुद्र! तुम्हारे उस शर को है नति[3] अर्पित॥
विश्राम कर रहे हैं अब जो अघभार-हरण।
उन शस्त्रों का हे रुद्र! तुम्हारे शत वंदन॥
हे रुद्र! तुम्हारे बाहु-युगल को नमस्कार।
शत्रुंजय परम समर्थ धनुष को नमस्कार॥ १४॥

टि०—जिस बाण से, जिस धनुष से, जिन शस्त्रास्त्रों से और जिन बाँहों के बल से भगवान रुद्र ने अधर्म को नष्ट कर धर्म की स्थापना की है, देशकाल को निरुपद्रव बनाया है, उन सब उपकरणों के प्रति इस मन्त्र में कृतज्ञता ज्ञापित की गई है। उनकी वंदना की गई है। यह उस शान्ति की वन्दना है, जिसकी स्थापना इन उपकरणों के द्वारा हुई है। १४

---

१ फल या तीरों और भालों की नोक;　२ बाँटना।　३ नमस्कार।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये[1] दिशां च पतये नमो[2] नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः[3] पशूनां पतये नमो[4] नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते[5] पथीनां पतये नमो[6] नमो हरिकेशायोपवीतिने[7] पुष्टानां पतये नमः[8] ॥ १७ ॥

हिरण्यबाहवे	भुजाओ में सोने के अलंकार धारण करनेवाले (तुम) को	त्विषीमते	कान्तिमान
नमः	नमस्कार है।	शष्पिञ्जराय	बालतृणवत् वर्ण वाले रुद्र को
दिशां पतये	दिशाओ के अधिपति	नमः	नमस्कार है।
सेनान्ये च	और सेनापति को	पथीनां पतये	मार्गो के पति रुद्र को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
हरिकेशेभ्यः	पर्ण-रूप हरे बालों वाले	उपवीतिने	उपवीत धारण करनेवाले
वृक्षेभ्यः	वृक्षो के रूप में दृश्यमान रुद्रदेव को	हरिकेशाय नमः	नीलवर्ण केश वाले रुद्र को नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	पुष्टानां पतये	पुष्ट मनुष्यों के स्वामी को
पशूनां पतये नमः	पशुओं के स्वामी और रक्षक को नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है॥१७॥

बाँहों में पहने हैं सोने के अलंकार।
उन रुद्र महासेनापति को शत नमस्कार॥
जो सकल दिशा-विदिशाओं के है अधिप विदित।
है प्रबल भुजाओं से जिनकी यह जग रक्षित॥
उन रुद्र महासेनापति को है नमस्कार।
हरिकेश[1] वनस्पतिरूप रुद्र को नमस्कार॥
पशुओं के पालक महारुद्र को नमस्कार।
है नवप्ररूढ़[2] शिशुतृण[3] से पीत-रक्त मनहर॥
है नमस्कार उन रुद्रदेव हित मंगलकर।
मार्गो के पति दीप्तिमत् रुद्र को नमस्कार॥

१ हरे पत्तो के बालो वाले; २ नये निकले हुए; ३ घास आदि के अंकुर।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः
सदमित् त्वा हवामहे[1] ॥ १६ ॥

रुद्र	हे रुद्र !	अश्वेषु मा	घोड़ों को चोट मत पहुँचाओ ।
नः तनये तोके	हमारे पुत्र-पौत्र को	नः	हमारे
मा रीरिषः	मत मारो ।	भामिनः वीरान्	क्रोधी वीरों का
नः	हमारी	मा वधीः	मत हनन करो ।
आयुषि मा	आयु मत क्षीण करो ।	हविष्मन्तः	हवि-युक्त होकर,
नः	हमारी	सदं इत्	निरन्तर
गोषु मा	गायों को मत नष्ट करो ।	त्वा हवामहे	हम तुम्हारा आह्वान करते है ॥ १६ ॥
नः	हमारे		

हैं पुत्र-पौत्र सब प्रिय जो रुद्र ! हमारे ।
उन पर रक्षा का वरद कर रहो धारे ॥
आयुष्य हमारा क्षीण न होने पावे ।
गायों पर भी आघात न होने पावे ॥
हों क्षत-हत[1] कभी न तुमसे अश्व हमारे ।
ये मन्युमान[2] सब वीर अवध्य तुम्हारे ॥
हम हविष्मान करते आह्वान तुम्हारा ।
बरसाओ हम पर रुद्र ! कृपामृत-धारा ॥
तुम हो शरण्य, हम हैं अनन्य शरणागत ।
रक्षा दिशि-दिशि से करो हमारी संतत ॥ १६ ॥

टि०—रुद्रदेव को परम शरण्य मानकर अनन्य शरणागति की भावना से इस मंत्र में रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है । १६

---

१ आहत और मृत; २ क्रोधी ।

भव के आयुध जग के रक्षक को नमस्कार।
जग के परमेश्वर रुद्रदेव को नमस्कार॥
पापी के हित उद्यत-आयुध[1] को नमस्कार।
क्षेत्रों के पालक रुद्रदेव को नमस्कार॥
सब क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञ रुद्र को नमस्कार।
अहनन[2] सारथी प्रधान रुद्र को नमस्कार॥
उन अहंतव्य[3] पालनकर्ता को नमस्कार।
वन-पालनकर्ता रुद्रदेव को नमस्कार॥ १८॥

टि०—इस मन्त्र में भी रुद्रदेव के अनेक रूपों की भक्तिपूर्ण वंदना की गई है। वे कपिल वर्ण के हैं। शत्रु-रूपी हरिणों के लिए सिंह के समान हैं। सब आधि-व्याधियाँ दूर करते है, अन्नो के पालक हैं, ससार के आयुध अर्थात् रक्षक हैं। पापी के वध के लिए उनके शस्त्र सदैव तैयार रहते है। वे सब खेतों के रक्षक हैं। क्षेत्र शरीर को भी कहते है, उसके रक्षक और साक्षी हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निरूपण भगवद्गीता में है। युद्ध मे सारथी को नही मारते हैं अर्थात् जो अवध्य है, उसका वध नहीं करते है। सब वनो के पालन करनेवाले भी वे ही है। १८

नमो रोहिताय स्थपतये[1] वृक्षाणां पतये नमो[2] भुवन्तये वारिवस्कृतायौ[3]षधीनां पतये नमो[4] नमो मन्त्रिणे वाणिजाय[5] कक्षाणां पतये नमो[6] नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते[7] पत्तीनां पतये नमः[8] ॥ १९ ॥

रोहिताय	लोहित वर्ण वाले	नमः	नमस्कार है।
स्थपतये नमः	गृहादि के निर्माता और पालक को नमस्कार है।	ओषधीनां	ओषधियों के
		पतये	स्वामी को
		नमः	नमस्कार है।
वृक्षाणां पतये	वृक्षों के स्वामी और रक्षक को	मंत्रिणे	मंत्रकुशल
		वाणिजाय	व्यापारकर्ता रुद्र को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
भुवन्तये	भूमंडल के	कक्षणां पतये	वन के गुल्म-वीरुधादि के पालक को
वारिवस्कृताय	विस्तार करनेवाले को	नमः	नमस्कार है।

---

१ शस्त्र उठाये हुए २ न मारनेवाले; ३ अवध्य।

उन उपवीती[1] हरिकेश रुद्र को नमस्कार।
पुष्टों के पति पुष्टि के अधिप को नमस्कार॥
गुणपूर्ण नरों के स्वामी को शत नमस्कार॥ १७॥

टि०—इस मन्त्र में रुद्रदेव के रूपों और गुणों का वर्णन करते हुए उनकी वंदना की गई है। वे बाँहों में स्वर्ण के आभूषण धारण करते हैं, महान सेनापति हैं, उनकी शक्तिशाली भुजाओं से यह संसार रक्षित है। उनको पुष्टों का पति कहा गया है। पुष्ट के कई अर्थ हैं। इसका अर्थ बलवान है और गुणवान भी। पुष्टि का अर्थ अनुग्रह भी है—'पोषणं तदनुग्रहः।' पुष्ट का अर्थ अनुग्रहवान भी है। १७

नमो॑ बभ्लुशाय॑ व्याधिने॑[1] ऽन्नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒[2] नमो॑ भवस्य॑ हे॒त्यै[3] जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒[4] नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यिने॒[5] क्षेत्रा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो॒[6] नमः॑ सू॒ताया॑हन्त्यै॒[7] वना॑नां॒ पत॑ये॒ नमः॑[8] ॥१८॥

बभ्लुशाय	कपिलवर्ण वाले और	नमः	नमस्कार है।
व्याधिने	शत्रुओं को व्याधि-रूप धरनेवाले रुद्र को	आततायिने	उद्यत आयुध वाले
		रुद्राय नमः	रुद्रदेव को नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	क्षेत्राणां पतये	खेतों के पालक को
अन्नानां	अन्नों के		
पतये	स्वामी को	नमः	नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	अहन्त्यै	हनन न करनेवाले
भवस्य हेत्यै	संसार के आयुध-रूप रक्षक को	सूताय नमः	सारथि-रूप रुद्र को नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	वनानां पतये	वनों के पालक रुद्र को
जगतां पतये	संसार के रक्षक को	नमः	नमस्कार है॥ १८॥

उन बभ्रु[2] वर्ण के रुद्रदेव को नमस्कार।
उन शत्रु-हरिण-हरि[3] रुद्रदेव को नमस्कार॥
सब आधि-व्याधिहर रुद्रदेव को नमस्कार।
अन्नों के पालक रुद्रदेव को नमस्कार॥

---

१ यज्ञोपवीत पहने हुए; २ कपिल, भूरा; ३ शत्रु रूपी मृगों के लिए हरि अर्थात् सिंह के समान।

कृत्स्नायतया	धनुष खींचकर
धावते	शत्रु पर दौड़नेवाले रुद्र को
नमः	नमस्कार है।
सत्वनां पतये	आस्तिकों के पालक को
नमः	नमस्कार है।
सहमानाय	शत्रु का पराभव करनेवाले,
निव्याधिने	वैरियों को अधिक मारनेवाले रुद्र को
नमः	नमस्कार है।
आव्याधिनीनां	सब प्रकार से प्रहार करनेवाले शूरवीरों के
पतये	रक्षक को
नमः	नमस्कार है।
निषङ्गिणे	उपद्रव करने पर
ककुभाय	उनका नाश करनें वाले को
नमः	नमस्कार है।
स्तेनानां	गुप्तचरों के
पतये	पालक को
नमः	नमस्कार है।
निचेरवे	सतत भ्रमण करनेवाले और
परिचराय	उपद्रव करनेवाले दुष्टों से रक्षण के हेतु घूमनेवाले रुद्र को
नमः	नमस्कार है।
अरण्यानां	जंगलों के
पतये	रक्षक को
नमः	नमस्कार है ॥२०॥

हम प्रजाजनों की सुन पुकार, कर में प्रचंड निज धनुष धार।
रक्षा-हित होते धावमान[1], उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
आस्तिकजन रक्षण को आतुर, सत्वों[2] के पति को नमस्कार।
रिपुओं को करते पराभूत[3], उनका विनाश करते अभूत[4]॥
शत्रुंजय शूरों के रक्षक, हर महारुद्र को नमस्कार।
रहते जो सदा उपद्रवरत, करते विध्वंसक कार्य सतत॥
जो उनका करते घात-घूर्ण[5] उन महारुद्र को नमस्कार॥
स्तेनों[6] के सदा नियंत्रक[7] वे, चोरों के हैं प्रतिबन्धक[8] वे।
तम की छलना से रक्षक वे, उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
पर-स्वत्व-वित्त-अपहारी[9] जन, करते समाज में हैं विचरण।
जो उनका करते हैं नियमन, उन रुद्रदेव को नमस्कार॥

---

१ दौड़ पड़नेवाले; २ जीवों; ३ पराजित; ४ अपूर्व अथवा निःशेष नाश जैसे वे कभी रहे ही न हो; ५ मारकर धूल चटाना; ६ गुप्तचरों; ७ शास्ता; ८ बाधक; ९ दूसरे के हक और धन का हरण करनेवाले।

आक्रन्दयते	शत्रुओं को रुलाने वाले	नमः	नमस्कार है।
उच्चैः घोषाय	उच्च घोष करने वाले रुद्र को	पत्तीनां पतये	पैदल सेना के स्वामी रुद्र को
		नमः	नमस्कार है ॥१९॥

हैं रोहितवर्ण[1] अनूप-रूप उन रुद्रदेव को नमस्कार।
जो स्थपतिरूप हैं विश्वकर्म उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
वृक्षों का पालन करते जो उन रुद्रदेव को नमस्कार।
भूमंडल के विस्तारक जो उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
ऐश्वर्य और धन के उत्पादक रुद्रदेव को नमस्कार।
ओषधियों के पालक संवर्धक महारुद्र को नमस्कार॥
वाणिज्यकुशल मंत्रपति[2] महत् उन रुद्रदेव को नमस्कार।
वन के सब गुल्म-लता-वीरुध[3] के पालक विभु को नमस्कार॥
रिपुओं के रोदन के कारण देवेश रुद्र को नमस्कार।
रण में करते जो सिंहनाद उन महारुद्र को नमस्कार॥
अधिपति पदाति[4]-सेना के जो उन रुद्रदेव को नमस्कार।
रथ-गज हयमय पृतनाओं[5] के सेनापति को शत नमस्कार॥ १९॥

टि०—रुद्र की उदात्त वन्दना इस कंडिका के मन्त्रों में की गई है। भगवान रुद्र का वर्ण लाल है। वे विश्वकर्मा अर्थात् विश्व के रचयिता है, गृहादि स्थानों के पालक है। ऐश्वर्य, धन, ओषधिसमूह, वनों के गुल्म, लता, वृक्षादि सब उनके अधीन हैं। उन्हीं की कृपा से राष्ट्र के वाणिज्य-व्यापारादि कुशलता से चल पाते है। वे मनन करने से त्राण देनेवाले मन्त्ररूप उपायों के संरक्षक और संप्रदाता है। युद्धों में उनका सिंहनाद पापियों के हृदय विदीर्ण कर देता है। रथ, अश्व, गज और पदाति सब प्रकार की सेना उनके अधीन रहती है। १९

नमः कृत्स्नायतया धावते[1] सत्वनां पतये नमो[2] नमः सहमानाय निव्याधिन[3] आव्याधिनीनां पतये नमो[4] नमो निषङ्गिणे ककुभाय[5] स्तेनानां पतये नमो[6] नमो निचेरवे परिचरायाँ रण्यानां पतये नमः[8] ॥ २० ॥

---

१ लाल; २ सिद्धिप्रदायक युक्तियों, रहस्यों और मंत्रों के स्वामी; ३ वृक्ष; ४ पैदल; ५ सेनाओं।

नमः	नमस्कार है।	पतये नमः	रक्षा करनेवाले को नमस्कार है ॥२१॥
विकृन्तानां	दूसरों का छेदन करनेवालों से		

वंचना प्रतारण[1] रत जो नित, वे जिनसे होते हैं लांछित[2]।
वे जिनसे होते प्रतिवंचित[3], उन रुद्रदेव को नमस्कार ॥
जो करते हैं परवित्तहरण, तम की छलना जिनका जीवन।
उनका जो करते सदा दमन, उन रुद्रदेव को नमस्कार ॥
हे खड्गधरण ! हे वाण-धरण !, तस्करजनकृत भयभीतिहरण !।
करते जो वज्रायुध धारण !, पापघ्न[4] रुद्र को नमस्कार ॥
निशि में असि ले करते विचरण, परकृंतक का करते कृंतन।
दस्युकृत पाप-संत्रास-हरण, उन महादेव को नमस्कार ॥ २१ ॥

टि०—भगवान रुद्र क्रियाशील देवता हैं। बड़े-बड़े धोखेबाज उनसे दंडित होते है। वंचक प्रतिवंचित होते हैं। रात के अन्धकार का आश्रय लेकर जो पर-धन का अपहरण करते हैं, उनका वे दमन करते हैं। वे तस्करों के भय को दूर करने के लिए खड्ग और बाण धारण करते हैं। पापियों को मारनेवाले उन रुद्रदेव को नमस्कार है, रात में वे तलवार लेकर घूमते हुए दूसरों की हत्या करनेवालों की खाल खींच लेते है। डाकुओं के भय और त्रास को दूर करनेवाले उन रुद्रदेव महादेव को नमस्कार है। २१

नम॑ उष्णी॒षिणे॑ गिरिच॒राय॑[1] कुलु॒ञ्चानां॒ पत॑ये॒ नमो॒[2] नम॑ इषु॒मद्भ्यो॑[3] धन्वा॒यिभ्य॑श्च वो॒ नमो॒[4] नम॑ आतन्वा॒नेभ्यः॑[5] प्रति॒दधा॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒[6] नम॑ आ॒यच्छद्भ्यो॑[7] ऽस्यद्भ्य॑श्च वो॒ नमः॑[8] ।२२।

उष्णीषिणे	पगड़ी धारण करने वाले (तथा)	पतये नमः	रक्षा करनेवाले रुद्रदेव को नमस्कार है।
गिरिचराय	पर्वत में विचरण करनेवाले रुद्र को	इषुमद्भ्यः च	वाण धारण करनेवाले और
नमः	नमस्कार है।	धन्वायिभ्यः	धनुष धारण करने वाले (हे रुद्र !)
कुलुञ्चानां	दूसरों के पदार्थ अपहरण करने वाले से	वः नमः	तुमको नमस्कार है।

१ धोखा; २ अपमानित; ३ धोखा देने के वदले धोखा खानेवाले; ४ पाप को नष्ट करनेवाले।

इस जग के प्रति ममता का धन, चोरते सदा जो ज्ञानी जन।
उन सबके परमेश्वर चिद्घन, उन रुद्रदेव को नमस्कार।
वे सकल वनों के है पालक, पर्जन्य वृष्टि के संचालक॥
आरण्यक तप-धन[1] के गोप्ता[2], उन रुद्रदेव को नमस्कार॥ २०॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों मे भगवान रुद्र के अनेक रूपों का संकेत है। सबसे पहले उनके प्रजारक्षक-रूप का वर्णन है। प्रजा की आर्त पुकार पर वे धनुष धारण कर दौड़ पड़ते हैं। वे सब प्राणियों के विशेषतः आस्तिक जनों के रक्षक हैं। समाजविरोधियों पर आघात करके उन्हे धूल चटा देते है। वे वनों के रक्षक हैं। उनका एक नाम पर्जन्य है, वृष्टि द्वारा वनों की वृद्धि करते हैं। उनका सबसे अद्भुत नाम 'स्तेनानां पति' इस मन्त्र में आया है, जिनका मोटा अर्थ चोरों के गिरोह का मालिक है। पाश्चात्यों की बुद्धि में यही अर्थ घुस सका। किन्तु लक्षणा से इसका अर्थ है चोरों के नियामक और शास्ता। वेदों में सर्वत्र प्रतीकों का प्रयोग है। यहाँ चोर का अर्थ बड़ा गुरु-गंभीर है। चोर उन ज्ञानी जनों को कहा गया है, जो सांसारिक जीवों के माया-रूपी धन को चुराते है। ऐसे ज्ञानी जनों के पति है परमेश्वर रुद्र। २०

नमो॒ वञ्च॑ते परि॒वञ्च॑ते[1] स्ताय॒ूनां पत॑ये॒ नमो॒[2] नमो॑ निष॒ङ्गिण॑ इषुधि॒मते[3] तस्क॑राणां॒ पत॑ये॒ नमो॒[4] नम॑: सृका॒यिभ्यो॒ जिघा॑ꣳसद्भ्यो[5] मुष्ण॒तां पत॑ये॒ नमो॒[6] नमो॑ऽसि॒मद्भ्यो॒ नक्त॒ञ्चर॑द्भ्यो[7] विकृ॒न्तानां॒ पत॑ये॒ नम॑:[8] ॥ २१ ॥

वञ्चते	ठगने और	**नमः**	नमस्कार है।
परिवञ्चते	लूटने का काम करनेवाले के साक्षी और निवारक	**सृकायिभ्यः**	शस्त्र धारण करके
		जिघांसद्भ्यः	हमला करनेवाले को (रुद्र) को
नमः	को नमस्कार है।	**नमः**	नमस्कार है।
स्तायूनां	गुप्तचरो के	**मुष्णतां**	चोरी करनेवालों के
पतये नमः	पालक को नमस्कार है।	**पतये**	पालक (नियंत्रक) को
		नमः	नमस्कार है।
निषङ्गिणे	खड्गधारी और	**असिमद्भ्यः**	तलवार आदि शस्त्र धारण करने वाले तथा
इषुधिमते नमः	बाणधारी को नमस्कार है।		
तस्कराणां पतये	चोरों का नियंत्रण करनेवाले को	**नक्तं चरद्भ्यः**	रात्रि के समय घूमनेवाले को

१ वनों में होनेवाले तप-रूपी धन; २ रक्षक।

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॑[1] विध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒[2] नमः॑ स्व॒पद्भ्यो॑[3] जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒[4] नमः॒ शया॑नेभ्य॒[5] आसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒[6] नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒[7] धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑[8] ॥ २३ ॥

विसृजद्भ्यः	शत्रु पर शस्त्र छोड़नेवाले को
नमः	नमस्कार है
च	और
विध्यद्भ्यः वः	लक्ष्यवेध करनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
स्वपद्भ्यः नमः	सोनेवाले को नमस्कार है
जागृद्भ्यः	और जागनेवाले
वः नमः	तुम्हें नमस्कार है।
शयानेभ्यः	सोए हुए को
नमः	नमस्कार है।
च आसीनेभ्यः	और बैठे हुए
वः नमः	तुमको नमस्कार है।
तिष्ठद्भ्यः नमः	ठहरे हुए को नमस्कार है।
च धावद्भ्यः	और दौड़ते हुए
वः नमः	तुमको नमस्कार है ।।२३।।

जो लोकशत्रुओं पर करते शर-निक्षेपण[1] ।
जो पापकृतों का करते सदा लक्ष्य-वेधन ॥
जो सोनेवालों में भी जाग्रत् रहते नित ।
जो जाग्रत् की प्रति गति-सृति के साक्षी अविरत ॥
जो समासीन है उनमें भी है वे व्यापृत ।
जो तिष्ठमान[2] हैं विद्यमान उनमें भी नित ॥
है धावमान की धावन-शक्ति[3] वही अविरत ।
घटघटव्यापक अन्तर्यामी उन रुद्रदेव को नमस्कार ॥

× × ×

जो शूर राष्ट्र के रुद्र-सदृश रहते हैं जीवन में जाग्रत् ।
उन धर्मव्रती सैनिकगण को हम सब सम्मान करें अर्पित ॥
उठते-बैठते शयन करते चलते-फिरते जो सैनिकगण ।
करते रहते हैं आक्रामक रिपुओं का दमन-शमन-विध्वंसन ॥
वे रुद्रगणों से मान्य सदा उनका हम करें समादर नित ।
रिपुओं पर होते धावमान वीराग्रगण्य जो महाप्राण ॥
जिनसे स्वदेश की सीमाएँ संरक्षित रहती हैं महान ।
उन अप्रतिभट सुभटों को हम अपना सम्मान करें अर्पित ॥ २३ ॥

१ चलाना या फेंकना; २ बैठे हुए; ३ दौड़ने की शक्ति ।

आतन्वानेभ्यः	धनुष पर दुष्टों के दमन के लिए प्रत्यंचा चढ़ानेवाले को	आयच्छद्भ्यः	धनुष को खींचनेवाले को
नमः	नमस्कार है	नमः	नमस्कार है
च प्रतिदधानेभ्यः	और धनुष पर बाण चढ़ानेवाले	च	और
वः नमः	तुमको नमस्कार है।	अस्यद्भ्यः	बाण के निक्षेप करनेवाले
		वः नमो नमः	तुम्हें नमस्कार है ॥२२॥

उष्णीष[1] जटाओं का करते हैं जो धारण।
कैलास महागिरि पर जो करते हैं विचरण॥
उन रुद्रदेव को नमस्कार! उन महादेव को नमस्कार॥
जो निज कुत्सित[2] स्वभाव से हो करके प्रेरित।
लुंचित[3] करते पर-धन, परकीय[4] वस्तुएँ नित॥
उन खलों-दुर्जनों का करते हैं जो पातन[5], उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
जो सदा धर्म की रक्षा-हित करते हैं दिव्यबाण धारण।
जो अघ, अधर्म के निग्रह हित करते हैं धनु लेकर प्रव्रजन[6]॥
दुष्टों में भय-संचार हेतु करते जो धनु पर ज्या-योजन[7]।
ज्या पर शर सज्जित करते जो उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
दुःशीलों के विधमन-हित जो करते कानों तक ज्या-कर्षण[8]।
जो अखिल अमंगल-अशुभ-क्षरण करते अमोघ शर-विक्षेपण[9]॥
जो जन-जन के जीवन-मन का करते हैं कल्मष-अपनोदन[10]।
सच्चिदानन्दविग्रह निधनंजय[11] रुद्रदेव को नमस्कार॥ २२॥

टि०—इस कंडिका के मन्त्रों में रुद्रदेव के धर्मरक्षक स्वरूप का बड़ा उदात्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। वे जटाओं का उष्णीष धारण कर कैलास महागिरि पर संचरण करते हैं। ऐसे कुत्सित स्वभाव वाले लोग जो पराये धन और परायी वस्तुओं के नोचने-खसोटने में संकोच नहीं करते, उन्हें वे नीचे गिरा देते है। वे पापियों का दमन करने के लिए धनुष और बाण धारण करते हैं। धर्म की रक्षा के लिए ही अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते है, अधर्म के नाश के लिए उस पर बाण चढाते हैं और अशिव, असत्य और अनृत को निःशेष रूप से निरस्त करने के लिए प्रत्यंचा पर जोड़कर बाण छोड़ते है। ऐसे सच्चिदानन्दविग्रह परम मंगलमूर्ति रुद्रदेव को नमस्कार! यह मन्त्र गोस्वामी जी के रुद्राष्टक का स्मरण दिलाता है— "करालं महाकालकालं कृपालं। गुणागारसंसारपारं नतोऽहं॥" २२

१ पगड़ी; २ घृणित; ३ ठगते; ४ दूसरों की; ५ गिराने का कारण होना या गिराना; ६ प्रकृष्ट रूप से भ्रमण ७ प्रत्यंचा चढ़ाना, ८ धनुष की डोरी खींचना; ९ बाण चलाना; १० परिशोधन और विनाश; ११ मृत्युंजय।

तादात्म्य सदा जिनका सबसे है सर्वकाल।
उन अंतर्यामी रुद्रदेव को नमस्कार।
सब सेनाओं में है जिनकी सत्ता समान॥
जो रिपुसंहारक सैन्यशक्ति में विद्यमान॥
उन सदा अभेदस्वरूप[1] रुद्र को नमस्कार॥ २४॥

टि०—ये सब मन्त्र सभा, सभाध्यक्ष, अश्व, अश्वाध्यक्ष, सेना और सैनिकों में रुद्र की सत्ता की व्यापकता और अवस्थिति का बोध कराते हैं। वस्तुतः ये सब मन्त्र ईश्वराद्वयवाद के प्रतिपादक हैं। इन मन्त्रों में इस महान दार्शनिक सिद्धान्त की मूल अवधारणा विद्यमान है। यह सारा विश्व रुद्ररूप या शिवरूप है। यह सब कुछ जो 'इदं' से अभिहित होता है, उन्हीं महेश्वर रुद्र का वैभव-विलास है। समस्त विश्व में रुद्र किंवा शिव की चेतना की अनुभूति कराना ही इन दिव्य मन्त्रों का लक्ष्य है, अहं और इदं तथा शिव और विश्व की अभेदता का बोध हो सके, यह इन मन्त्रों का उद्देश्य है। इन मन्त्रों से वैदिककालीन राष्ट्र की उत्तम सुरक्षा-व्यवस्था का भी प्रमाण मिलता है। इस प्रकार के मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र में अनेक प्रकार के सेना के संगठन थे, उनके प्रति समाज में बड़ा आदर था। २४

नमो गणेभ्यो[1] गणपतिभ्यश्च वो नमो[2] नमो व्रातेभ्यो[3] व्रातपतिभ्यश्च वो नमो[4] नमो गृत्सेभ्यो[5] गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो[6] नमो विरूपेभ्यो[7] विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः[8] ॥२५॥

गणेभ्यः नमः	सेना के समूह को नमस्कार है।
च गणपतिभ्यः	और गणों के अधिपति
वः नमः	तुम्हें नमस्कार है।
व्रातेभ्यः नमः	व्रातों के विशेष गण को नमस्कार है।
च व्रातपतिभ्यः	और व्रातों के पति
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
गृत्सेभ्यः नमः	बुद्धिमानों को नमस्कार है।
च गृत्सपतिभ्यः	और बुद्धिमानों के रक्षक
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
विरूपेभ्यः	विविध रूपों के धारण करनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
च विश्वरूपेभ्यः	और अनंत रूप धारण करनेवाले
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है॥२५॥

१ तादात्म्य रूप।

टि०—इस कंडिका के मन्त्रों में भगवान रुद्र के सर्वान्तर्यामी रूप का गंभीर निर्देश है। जीव की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का संकेत है, जिनके साक्षी भगवान् रुद्र है। इन चारों अवस्थाओं का स्वामित्व वे चार रूपों में करते हैं, जिनके नाम हैं विश्व, तैजस, प्राज्ञ और ब्रह्म। इस मन्त्र का यह संदेश भी है कि जीव में उठने-बैठने, चलने-फिरने, दौड़ने आदि की जो शक्ति है, वह भी उन्हीं परमेश्वर की है। इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द और वेदमूर्ति सातवलेकर जी ने जो राष्ट्रपरक अर्थ किया है, वह अनुवाद-परिशिष्ट में अन्तिम आठ पंक्तियों में समाविष्ट है। २३

नमः सभाभ्यः[1] सभापतिभ्यश्च वो नमो[2] नमोऽश्वेभ्यो[3]ऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो[4] नम आव्याधिनीभ्यो[5] विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो[6] नम उगणाभ्य[7]स्तृंहतीभ्यश्च वो नमः[8] ॥२४॥

सभाभ्यः नमः	सभा-रूप रुद्र को नमस्कार है।
सभापतिभ्यः च	और सभापतिरूप
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
अश्वेभ्यः	प्रत्येक अश्व के रूप में रुद्र को
नमः	नमस्कार है।
अश्वपतिभ्यः च	और अश्वों के अधिपति
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
आव्याधिनीभ्यः	सेना में स्थित को
नमः	नमस्कार है।
च	और
विविध्यन्तीभ्यः	विशेषकर शत्रु को वेधनेवाली सेना में स्थित
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
उगणाभ्यः	उत्कृष्ट भृत्यसमूह वाली सेना को
नमः	नमस्कार है।
च तृंहतीभ्यः	और दुर्गादि में स्थित सेना-रूप
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है॥ २४॥

हैं सभा और सभ्यों[1] में जो करते प्रसार।
अद्वय अनन्त उन रुद्रदेव को नमस्कार॥
जो व्यापृत[2] हैं शत सभाध्यक्ष के रूप धार।
उन विश्वरूप विभु रुद्रदेव को नमस्कार॥
प्रति अश्वरूप में रहते हैं जो धावमान।
अश्वों के अधिपति रूप निरंतर वर्तमान॥

---

१ सभा के सदस्यों; २ व्यापारशील।

सब रथी और अ-रथी वीरों को नमस्कार।
उनमें व्यापृत रुद्र की कला को नमस्कार॥
रथ के स्वामी सारथी उभय को नमस्कार।
उन दोनों को रुद्र के रूप में नमस्कार॥
सामग्री संग्रह करते हैं जो बहु प्रकार।
सेना के उन सब रुद्रगणों को नमस्कार॥
सब रुद्ररूप वर्षिष्ठ[1] भटों को नमस्कार।
जो हैं यविष्ठ[2], उन सब वीरों को नमस्कार॥
इन सब रूपों में रुद्रदेव को नमस्कार।
सबकी संरक्षक क्षात्रशक्ति को नमस्कार॥ २६॥

टि०—इस मन्त्र में सेना के अनेकानेक रूपों में क्षात्रशक्ति के रूप में प्रसारित रुद्र की अंशकला को बार-बार नमस्कार किया गया है। क्षात्रशक्ति रुद्र की शक्ति है। वही देश और समाज की संरक्षक है। २६

नम॒स्तक्ष॑भ्यो॑[1] रथका॒रेभ्य॑श्च॒ वो॒ नमो॒[2] नमः॒ कुला॒लेभ्यः॒[3] क॒र्मारे॑भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[4] नमो॑ निषा॒दे॑भ्यः॒[5] पु॒ञ्जिष्टे॑भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[6] नमः॑ श्व॒निभ्यो॑[7] मृ॒ग॒युभ्य॑श्च॒ वो॒ नमः॑[8] ॥ २७॥

तक्षभ्यः नमः	तक्षकार को नमस्कार है।
च रथकारेभ्यः	और रथ-निर्माण करनेवाले
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
कुलालेभ्यः	मिट्टी का पात्र बनानेवाले को
नमः	नमस्कार है।
च कर्मारेभ्यः	और लोहे के शस्त्र बनानेवाले कारीगर रूप
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
निषादेभ्यः नमः	गिरिचारी भीलादि को नमस्कार है।
च पुञ्जिष्ठेभ्यः	और जंगली जाति वाले
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
श्वनिभ्यः नमः	कुत्तों के पालक को नमस्कार है।
च मृगयुभ्यः	और मृगों की कामना वाले
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है॥२७॥

१ वृद्ध; २ नौजवान।

सब भूतगणों[1] में रुद्ररूप को नमस्कार।
उन गणाध्यक्ष को उन गणपति को नमस्कार॥
हैं विविध जातियों के जिन संघों का प्रसार।
उन सबमें व्यापृत रुद्रदेव को नमस्कार॥
सब धीमानों में रुद्रदेव को नमस्कार।
सुधियों के रक्षक रुद्रदेव को नमस्कार॥
जो विचर रहे हैं विविध रूप-आकार धार।
उन विश्वरूप बहुरूप रुद्र को नमस्कार॥ २५॥

टि०—पूर्ववर्ती मन्त्र की टिप्पणी में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन मन्त्रों में जगत् के सब व्यापारों, पदार्थों और सत्ताओं में भगवान रुद्र के तादात्म्य का साक्षात्कार इन मन्त्रों का विषय है। सर्वत्र उनकी विभूति के दर्शन का आनन्द इस मन्त्र में स्पंदमान है। पूर्ववर्ती मन्त्र की तरह यह मंत्र भी राष्ट्र की सुसंगठित सुरक्षा-व्यवस्था का प्रमाण है। २५

नम॒: सेना॑भ्य॒: सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒[2] नमो॑ र॒थिभ्यो॑[3] अ॒र॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒[4] नम॑: क्ष॒त्तृभ्य॑:[5] संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒[6] नमो॑ म॒हद्भ्यो॑[7] अर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नम॑:[8] ॥ २६ ॥

सेनाभ्य:	सेना के रूप में (स्थित)
नम:	रुद्र को नमस्कार है।
च सेनानिभ्य:	और सेनापति-रूप
व: नम:	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
रथिभ्य: नम:	रथ वाले वीरों को नमस्कार है।
च अरथेभ्य:	और रथहीन वीर
व: नम:	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
क्षत्तृभ्य: नम:	क्षात्रधर्म पालन करनेवाले वीर को नमस्कार है।
च संग्रहीतृभ्य:	और मिलकर रहने वाले अथवा सामान का संग्रह करनेवाले
व: नम:	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
महद्भ्य: नम:	महान् से महान् को नमस्कार है।
च अर्भकेभ्य:	और छोटी आयु वाले
व: नम:	तुम (रुद्र) को नमस्कार है ॥२६॥

इन रुद्ररूपिणी सेनाओं को नमस्कार।
रुद्रांशरूप सेनापतियों को नमस्कार॥

---

१ जीवों।

अघहरण[1] त्रिपथगाधरण[2] शर्व को नमस्कार।
पशु-पाश-विमोचक पशुपति को शत नमस्कार॥
विषपायी नीलकण्ठ को शत-शत नमस्कार।
जगमंगलकर शितिकण्ठ रुद्र को नमस्कार॥ २८॥

टि०—इस मन्त्र में पहले यह बताया गया है कि परमात्मा 'शुनी और श्वपाक' सबमें है। इस नाते से सभी प्रणम्य हैं। तत्पश्चात् उनको सारे संसार का उत्पादक कहकर प्रणाम किया गया है। पशुपति कहकर वंदना की गई है। अज्ञानग्रस्त जीव पशु हैं, वे सब माया के पाश में बँधे है। इस पाश को पशुपति ही खोलते हैं। २८

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च॥ २९॥

कपर्दिने नमः	जटाजूटधारी रुद्र को नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च व्युप्तकेशाय नमः	मुंडित केश वाले को नमस्कार है।	च शिपिविष्टाय	और सब प्राणियों में व्यापक विष्णु-रूप (रुद्र) को
च सहस्राक्षाय	और हजार आँखों वाले को	नमः	नमस्कार है।
च शतधन्वने नमः	और सैकड़ों धनुष्य धारण करने वाले को नमस्कार है।	च मीढुष्टमाय	और अत्यन्त तृप्तिकर्ता को
च गिरिशयाय	और पर्वतों में शयन करनेवाले को	नमः	नमस्कार है।
		च इषुमते नमः	और बाणधारी को नमस्कार है॥ २९॥

घन जटाजूटधर देव कपर्दी को प्रणाम।
मुण्डित शिर वाले व्युप्तकेश को है प्रणाम॥
उन सहस्राक्ष हर को शतधन्वा को प्रणाम।
अयुतायुत-नेत्रों[3] से चिर जाग्रत् को प्रणाम॥
शत धनुषों से पापों के धर्षक को प्रणाम।
कैलासविहारी गिरिवरधारी को प्रणाम॥

---

१ पाप दूर करनेवाले; २ गंगा को धारण करनेवाले; ३ हजारों-लाखों; संसार के सब प्राणियों के नेत्र उन्हीं के नेत्र हैं।

शिल्पी को रथ के निर्माता को नमस्कार।
है कुम्भकार को लौहकार को नमस्कार।
गिरिचर[1] निषाद को पुल्कसादि को नमस्कार॥
हों शुनीपाल[2] अथवा मृगहिंसक कुटिल व्याध।
तादात्म्य रुद्र का सबमें दर्शित है अबाध[3]॥
यह निखिल विश्व है उनकी लीला का प्रसार।
सब रूपों में उन रुद्रदेव को नमस्कार॥ २७॥

टि०—वैदिक ऋषि यह जानते है कि समाज के सब वर्गों, सब अंगों में रुद्र ही क्रियमाण है। ऋषि सबमें समान रूप से परमात्मा को विद्यमान देखता है। वह जानता है, समस्त सृष्टि उनकी लीला का प्रसार है। इसलिए वह शिल्पी, रथकार, निषाद, पुल्कस, कुत्ता पालनेवाले और शिकार करनेवाले व्याध में उन्हीं परमात्मा के दर्शन करता है और उनको नमस्कार करता है। वैदिक समाज में सबकी समानता स्वीकृत थी। सब पेशे वालों का समान महत्त्व था। २७

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो[2] नमो भवाय च[3] रुद्राय च[4] नमः शर्वाय च पशुपतये च[6] नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च॥ २८॥

श्वभ्यः नमः	कुत्तों को नमस्कार है।
च श्वपतिभ्यः	और कुत्तों के स्वामी
वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है।
च भवाय नमः	और संसार को उत्पन्न करनेवाले को नमस्कार है
च रुद्राय नमः	और दुःख दूर करने वाले रुद्रदेव को नमस्कार है।
च नीलग्रीवाय	और नीलग्रीव को
नमः	नमस्कार है।
च शितिकण्ठाय	और काले गले वाले को
नमः	नमस्कार है॥ २८॥

श्वानों को, श्वानों के पालक को नमस्कार।
रुद्र के रूप में इन सबको है नमस्कार॥
उत्पादक सब भूतों के भव को नमस्कार।
सब दुःखविनाशक रुद्रदेव को नमस्कार॥

१ पर्वतों पर निवास करनेवाले; २ कुत्ते पालनेवाला; ३ बिना बाधा के एक-जैसा।

अति - अल्प - देह　वामन　विग्रह　को　नमस्कार।
वामा-शक्तिमत्[1]　परम　ज्ञानी　को　नमस्कार ॥
प्रौढाङ्ग-यविष्ठ[2]　वृहत्　को शत-शत　नमस्कार।
वर्षिष्ठ　अन्यतम　वृद्ध　रुद्र　को　नमस्कार ॥
नित नव-नव　वर्धित-ज्ञान-विनय　को　नमस्कार।
सर्वाग्रगण्य[3]　को　आदिपुरुष　को　नमस्कार ॥
सर्वोत्तम　को　सर्वोत्कृष्ट　को　नमस्कार।
अग्रणी सदा　रणधीर　वीर　को　नमस्कार ॥ ३० ॥

टि०—इस आठ मंत्रों की कंडिका में भगवान की आठ प्रमुख विशेषताओं का निर्देश है। सबसे पहले उन्हें 'ह्रस्व' कहा गया है जो उनके निर्गुणत्व और निराकारत्व का बोधक है। फिर उन्हें वामन कहा गया है। यह विशेषण मोटे तौर से उनके मोटे डीलडौल का बोधक है जिसे वेदमंत्र के अर्थ की सीमा नहीं माना जा सकता। वामन का एक मुख्य अर्थ है, प्रशस्त विज्ञान के स्वामी। दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ है, वामेश्वरीशक्ति से युक्त। आचार्यप्रवर महापंडित शैवदर्शन के प्रकांड विद्वान ठाकुर जयदेव सिंह ने लिखा है, वाम शब्द 'वम्' धातु से संबद्ध है, जिसका अर्थ है वमन करना, बाहर फेंकना। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिए कहलाती है　कि वह विश्व को परम शिव से बाहर फेंकती है। 'वाम' शब्द का अर्थ विपरीत भी है। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिए भी कहलाती है　कि शिव में अभेद-पूर्णता की चेतना है, किन्तु संसार-दशा में उससे विपरीत भेद और अपूर्णता की चेतना है और प्रत्येक जीव','शरीर', 'प्राण' इत्यादि को'मैं'समझने लगता है। भगवान रुद्र को सबसे युवा और सबसे वृद्ध भी कहा गया है। शिवमहिम्न-स्तोत्र में इसी भाव को शिव को यविष्ठाय और वर्षिष्ठाय कहकर व्यक्त किया गया है। वृद्ध की भी बड़ी सुन्दर व्याख्या मिलती है—'वर्धन्ते विद्याविनयादिगुणैस्ते वृद्धाः।' भगवान रुद्र में ये सब गुण आदर्श-रूप में मिलते हैं। ३०

नम॑ आ॒शवे॑ चा॑जि॒राय॑ च॒ नमः॒ शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ ऊर्म्या॑य चा॑वस्व॒न्या॑य च॒ नमो॑ ना॒देया॑य च॒ द्वीप्या॑य च ॥ ३१ ॥

आशवे च नमः	शीघ्र गति वाले को नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च अजिराय	और अति गतिशील अश्वारोही (रुद्र) को	च शीघ्र्याय	और बड़े वेग वाले को
		च शीभ्याय	तथा प्रवहवान को

१ वामा शक्ति से युक्त,　२ पुष्ट युवा देह वाले;　३ सबके नायक।

शिपिविष्ट विष्णु को सर्वव्यापी को प्रणाम।
शौर्य की किरणचय-कान्त[1] कलेवर को प्रणाम॥
रविमंडल-संस्थित को यज्ञेश्वर को प्रणाम।
उन महामेघ-से अवढरदानी को प्रणाम॥
सुखवर्धक प्रजाजनों के जो उनको प्रणाम।
परिणाम-रहित चिर युवा विश्वगुरु को प्रणाम॥
इषुमान् पिनाकपाणि स्मरहर को प्रणाम।
शतरूप रुद्र को विश्वरूप शिव को प्रणाम॥ २९॥

टि०—इस मंत्र में भगवान रुद्र के अनेक रूपों और गुणों के सूचक नामों द्वारा उनकी वंदना की गई है। वे जटाजूटधारी होने के कारण कपर्दी है, मुंडित शिर होने के कारण व्युप्तकेश हैं। हजारों नेत्रों से संसार को देखते हुए उसके कष्ट का निवारण करते हैं। अपने सैकड़ों धनुषों से पापियों का विनाश करते रहते हैं। पर्वत पर शयन या निवास करने के कारण गिरिशय हैं। वे शिपिविष्ट है। 'शिपिविष्ट' के कई अर्थ हैं। एक अर्थ सर्वव्यापी विष्णु है। 'शिपि' का अर्थ प्राणी भी है, वे सब प्राणियों में अन्तर्यामीरूप में स्थित है, इसलिए भी शिपिविष्ट है। शिपि का अर्थ यज्ञ है, इसलिए शिपिविष्ट का अर्थ यज्ञेश्वर है। शिपि सूर्य को कहते हैं, इसलिए शिपिविष्ट का अर्थ रविमंडल में विराजमान है। शिपि का अर्थ किरण है, इसलिए शिपिविष्ट शब्द भगवान रुद्र का किरणकान्त-कलेवर होना सूचित करता है। इसी प्रकार 'मीढुष्टमा' शब्द का अर्थ मेघ और प्रजाजनों का सुखवर्धक दोनों है। इसका तीसरा अर्थ है 'अविकारी परिणामरहित चिरयुवा'। २९

नमो॑ ह्रस्वाय॑ च॒ वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒
नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च॒ स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च॒ प्र॒थमाय॑ च॒ ॥ ३० ॥

ह्रस्वाय च नमः	अल्प शरीर वाले को नमस्कार है।	**च वृद्धाय**	और अधिक वृद्ध को है।
च वामनाय	और संकुचित अवयव वाले को	**च सुवृधे नमः**	और बड़ी आयु वाले को नमस्कार
नमः	नमस्कार है।	**च अग्र्याय**	अधिकार में मुख्य अथवा प्रथम होकर लड़नेवाले
च बृहते	और प्रौढांग वाले को	**च प्रथमाय नमः**	और सर्वश्रेष्ठ को नमस्कार है॥ ३०॥
च वर्षीयसे	और वृद्ध को		
नमः	नमस्कार है।		

[1] किरणों के समूह से सुशोभित।

देह की वयःस्थितियाँ सब हैं जिनका विलास।
उन सबके देही[1] रुद्रदेव को नमस्कार॥
अत्यन्त प्रशंस्य[2] ज्येष्ठतम शिव को नमस्कार।
अत्यन्त युवा को चिर किशोर को नमस्कार॥
सृष्टि की आदि में हिरण्यांड बन थे ज्योतित।
कल्पान्त में वही थे कालाग्नि लोकक्षयकृत[3]॥
उन पूर्वज को उन अपरज को है नमस्कार।
उन अनाद्यन्त[4] को रुद्रदेव को नमस्कार॥
उन आदि-अन्त के मध्य व्यक्त को नमस्कार।
अविकासमान चिर स्पंदहीन को नमस्कार॥
सब जघनजात[5] स्वेदज जीवों को नमस्कार।
जो वृक्षमूल-सम्भूत[6] उन्हें भी नमस्कार॥ ३२॥

टि०—जब तक परमात्मा देही के रूप में देह में विद्यमान है, तब तक यह देह ज्येष्ठ, कनिष्ठ, युवा, किशोर आदि आयु की अवस्थाएँ प्राप्त करती है। इस परिणाम-शीलता के मूल में परमात्मा का चित्स्वरूप है। इसीलिए इन सब रूपों में परमात्मा को ही नमस्कार किया गया है। वे रुद्र अभिधान धारण करनेवाले परमात्मा सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ के रूप मे प्रकट हुए और सृष्टि के अंत में कालाग्नि बनकर विश्व के क्षय का निमित्त बने। वे आदि-अंतहीन हैं। आदि और अव्यक्त हैं, मध्य में ही व्यक्त होते हैं। उनके इस मध्यवर्ती व्यक्त स्वरूप को नमस्कार है। इस मध्यवर्ती व्यक्त स्वरूप को ही मंत्र में मध्यम या मध्य कहा गया है। शैव दर्शन में संवित् या चित् शक्ति को मध्य कहा गया है। उसी को इस मंत्र में नमस्कार किया गया है। इसमें अविकासमान को भी नमस्कार किया गया है। अविकासमान परमेश्वर का चिरस्थायी शाश्वत अविकारी चित् स्वरूप है, जो समस्त जागतिक व्यापारों का अधिष्ठान है। स्वेदज और वृक्षमूलजन्य जीवों को नमस्कार है। परमेश्वर की परम चरम व्याप्ति के प्रति नमन है। तभी गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है— "जड़ चेतन जगजीव जत सकल राममय जानि। वंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।" ३२

नमः॒ सोभ्या॑य च॒१ प्रतिस॒र्या॑य च॒२ नमो॒ याम्या॑य च॒३ क्षेम्या॑य च॒४ नमः॒ श्लोक्या॑य चौ॒—वसा॒न्या॑य च॒५ नमः॑ उर्व॒र्या॑य च॒६ खल्या॑य च॒॥ ३३॥

---

१ देह में निवास करनेवाला परमात्मा; २ प्रशंसा के योग्य; ३ लोक का नाश करनेवाला, ४ आदि-अन्तहीन; ५ गाय आदि पशुओं के जघन देश से पैदा हुए; ६ उत्पन्न।

नमः	नमस्कार है।	च नादेयाय	और नदी में होने वाले
च ऊर्म्याय	और जलतरंगों में	च द्वीप्याय	और द्वीप में होनेवाले को
च अवस्वन्याय	और स्थिर जलों में विद्यमान को	नमः	नमस्कार है ॥३१॥
नमः	नमस्कार है।		

अति तूर्णगमन अगजगव्यापी को नमस्कार।
संतत गतिमय को परम अजिर को नमस्कार॥
अति वेगवान, अति प्रवहमान को नमस्कार।
अति स्पंदमान, अति ऊर्मिमान[1] को नमस्कार॥
सरि में संस्थित को, द्वीपस्थित को नमस्कार।
उन नित्य निरंतर प्रगतिमान को नमस्कार॥
विज्ञान-ज्ञान के अभिवर्द्धक को नमस्कार।
नित नवल ऊर्ध्व गतिमान रुद्र को नमस्कार॥ ३१॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में भगवान रुद्र को शीघ्र गमन करनेवाला बताया गया है। उनका सर्वव्यापित्व इसका प्रमाण है। वे सतत गतिमान है, कभी विश्राम नहीं करते। उनके आदर्श का अनुसरण करते हुए आप्त जनों को सतत कर्मरत रहकर प्रगति करनी चाहिए और ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। ३१

नमो॑ ज्ये॒ष्ठाय॑ च कनि॒ष्ठाय॑ च॒ नमः॑ पूर्व॒जाय॑ चाऽपर॒जाय॑ च॒ नमो॑ मध्य॒माय॑ चाऽपग॒ल्भाय॑ च॒ नमो॑ जघ॒न्या॒य च॒ बुध्न्या॒य च ॥ ३२ ॥

ज्येष्ठाय च	और ज्येष्ठ को	च जघन्याय	और नीच कर्मकर्ता अथवा स्वेदज को
कनिष्ठाय च	तथा कनिष्ठ को	च बुध्न्याय नमः	और अंतरिक्ष में स्थित दाता मेघ को अथवा वनस्पति के मूल में होनेवाले को नमस्कार है ॥ ३२ ॥
नमः	नमस्कार है।		
च पूर्वजाय	और पूर्वज को		
च अपरजाय	और आधुनिक को		
नमः	नमस्कार है।		
च मध्यमाय	और मध्यम को		
च अपगल्भाय नमः	और अविकसित को नमस्कार है।		

१ लहरों की तरह चंचल और कम्पित।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

वन्याय च नमः	वन में बढ़नेवाले को नमस्कार है।	च आशुरथाय	और जल्दी चलने वाले रथों की सेना के नायक को
च कक्ष्याय	और वन की कक्षाओं में रहने वाले को	नमः	नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	च शूराय	और शूर के लिए
च श्रवाय	और कीर्तिमान को	च अवभेदिने	शत्रु के हृदय को वेधनेवाले शस्त्र-कुशल (रुद्र) को
च प्रतिश्रवाय	और अति विख्यात (रुद्र) को	नमः	नमस्कार है ॥३४॥
नमः	नमस्कार है।		
च आशुषेणाय	और शीघ्र चलने वाली सेना में रहने वाले को		

गिरिवनवासी सबको प्रणाम, वननिकट निवासी को प्रणाम।
सब वृक्षसमूहों को प्रणाम, जलराशि सकल को है प्रणाम।
जो हैं प्रसिद्ध उनको प्रणाम, जो अतिप्रसिद्ध उनको प्रणाम।
शब्दों-प्रतिशब्दों को प्रणाम सब रुद्रस्वरूपों को प्रणाम।
हर आशुषेण[1] को शत प्रणाम, उन आशुरथों[2] को शत प्रणाम।
शत्रुघ्न महाभट को प्रणाम, अरि-उर-वेधक नर को प्रणाम।
सब रुद्रस्वरूपों को प्रणाम, उनकी इस संसृति को प्रणाम ॥ ३४ ॥

टि०—यह मंत्र भी सृष्टि के बहुमुखी विस्तृत परमात्मा की चिति के प्रसार का दर्शन करवाता है। वनों में, वृक्षों मे, जलों में, प्रसिद्ध और अतिप्रसिद्ध जनों में, आशुगामिनी सेनाओं मे शत्रुंजय वीरों में उन्हीं की चिति-शक्ति क्रियाशील है। ३४

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥ ३५ ॥

---

१ जल्दी गमन करनेवाली सेना के नायक; २ शीघ्रगामी रथ-सेना के नायक।

सोभ्याय	और ऐश्वर्य-
च नमः	युक्तों में प्रसिद्ध(रुद्र) को नमस्कार है।
च प्रतिसर्याय	प्रतिसरण करनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
च याम्याय	और पापियों को दुःख देनेवाले को
च क्षेम्याय	और कुशल से रहनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
च श्लोक्याय	और मंत्रों की व्याख्या करनेवाले (रुद्र) को
च अवसान्याय	तथा वेदान्त में प्रसिद्ध (रुद्र) को
नमः	नमस्कार है।
च उर्वर्याय	और बड़े ऐश्वर्यों के स्वामी को
च खल्याय	और संचय करने में बुद्धिमान को
नमः	नमस्कार है ।।३३।।

चिर सोभ्यरूप[1] इस मनुज-लोक को नमस्कार।
प्रतिसरण[2] शत्रु का करते उनको नमस्कार ॥
अघरूप दुर्जनों के पीड़क को नमस्कार।
उन क्षेमपूर्ण जीवनदाता को नमस्कार ॥
वैदिक मन्त्रों के व्याख्याता को नमस्कार।
श्रुति-तत्त्वप्रदाता रुद्रदेव को नमस्कार ॥
वेदान्त-सिद्धि के रूप रुद्र को नमस्कार ॥
वेदान्त-साधनाकृत प्रसिद्धि को नमस्कार।
हैं सब विभूतिमत् सत्त्व रुद्र की अंशकला।
हम सबको अर्पित करें प्रणति अपनी विमला ॥
महदैश्वर्यो के स्वामी शिव को नमस्कार।
अन्नादिक के संग्रहकर्ता को नमस्कार ॥ ३३ ॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में यह बताया गया है कि संसार की प्रत्येक गति-सृति के प्रेरक और संचालक स्वयं परमात्मा है, अन्नादि पदार्थो के संग्रह से लेकर पापी शत्रुओं को पीड़ा देने एवं वैदिक ज्ञान प्रदान करने तक के सब कार्य उन्हीं के द्वारा संपन्न होते है। सर्वत्र उन्हीं की चिति का प्रसार है। जगत् के सब व्यापारों में परमात्मा के साथ अद्वयता, अभेद और तादात्म्य की अनुभूति कराता हुआ ऋषि उनको नमस्कार अर्पित करता है। ३३

---

१ गन्धर्वनगर अथवा मनुष्यलोक; २ पीछा।

धृष्णवे च	और शत्रु का घर्षण करनेवाले को	च तीक्ष्णेषवे	और तीक्ष्ण वाण वाले को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च प्रमृशाय	और उत्तम विचार-शील शास्त्रज्ञ को	च आयुधिने	और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च निषङ्गिणे नमः	और खड्गधारी को नमस्कार है।	च स्वायुधाय	और शोभन आयुध वाले को
च इषुधिमते	तूणीरधारी को	च सुधन्वने	और सुंदर धनुष वाले (रुद्र) को (नमस्कार है) ॥ ३६ ॥
नमः	नमस्कार है।		

रिपुओं के धर्षण[1] में समर्थ दुर्धर्ष रुद्र को नमस्कार।
शस्त्रज्ञ विवेकी परम रुद्र को रणकोविद[2] को नमस्कार ॥
असिधारी को, अक्षय तरकस वाले को शत-शत नमस्कार।
शर निशित वहन करनेवाले शस्त्रास्त्र-सज्ज को नमस्कार ॥
शस्त्रों से शोभित रुद्रदेव कोदंडपाणि को नमस्कार।
उत्तम शस्त्रास्त्र-धरण अजेय सब सेनाओं को नमस्कार ॥
उन सबके अगणित रूपों में नित रुद्रदेव को नमस्कार ॥ ३६ ॥

टि०—इस कंडिका के मन्त्रों में सेना के विविध रूपों, उपकरणों और शौर्यकर्मों में भगवान रुद्र के तादात्म्य की अनुभूति की गई हैं। ऐसे भगवान रुद्र प्रणम्य है और उनके धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करनेवाली सेनाएँ भी सदा अभिनंदनीय हैं। ३६

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

स्रुत्याय च	और क्षुद्र मार्ग में स्थित को	च काट्याय	और दुर्गम मार्ग में स्थित को
च पथ्याय	और राजमार्ग में स्थित को	च नीप्याय	और पर्वत के निम्न भाग में स्थित को
नमः	नमस्कार है।		

१ विदलन; २ युद्धविद्या के पण्डित।

च बिल्मिने	और शिरस्त्राण धारण करनेवाले को	नमः	नमस्कार है।
च कवचिने	और कवच धारण करनेवाले (रुद्र) को	च श्रुताय	और प्रसिद्ध (रुद्र) को
नमः	नमस्कार है।	च श्रुतसेनाय	और शौर्य में विख्यात सेना वाले (रुद्र) को
च वर्मिणे	वर्म धारण करने वाले (रुद्र) को	नमः	नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	च दुन्दुभ्याय	और रणवाद्य दुंदुभी वाले को
च वरूथिने	हाथी पर सवार होनेवाले को	च आहनन्याय	और वाद्य साधन वाले को
		नमः	नमस्कार है ॥ ३५ ॥

जो शिरस्त्राण[1] धारण करते उन रुद्रदेव को नमस्कार।
नित कवच-सुसज्जित रुद्रदेव को अप्रतिभट को नमस्कार ॥
जो जग के शर्मद[2] वर्मरूप[3] उन रुद्रदेव को नमस्कार।
गज के वरूथ[4] पर शोभित नित उन रुद्रदेव को नमस्कार ॥
विख्यात सर्वलोकों में जो उन रुद्रदेव को नमस्कार।
अतिशय प्रसिद्ध सेनाओं के पति रुद्रदेव को नमस्कार ॥
दुन्दुभि-स्वन[5] में जो गर्जित घन उन रुद्रदेव को नमस्कार।
रणवाद्यों के ताड़न-साधन[6] उन रुद्रदेव को नमस्कार ॥ ३५ ॥

टि०—ये मंत्र भी पूर्ववर्ती मंत्रों की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता का अवबोध कराते हैं। आरम्भ में भगवान के योद्धारूप का चित्र है, शिर पर शिरस्त्राण और शरीर पर कवच। राष्ट्र के सब सैनिक उनके पदों का अनुसरण करें, इसी में राष्ट्र का कल्याण है। भगवान रुद्र को वर्मी भी कहा है। वे संसार के लिए वर्म या कवच है। युद्ध के बाजों में वही वीरों को उद्बोधन देते है। ३५

नमो॑ धृ॒ष्णवे॑ च॒ प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चे — षुधि॒मते॑ च॒ नम॑स्ती॒क्ष्णेष॑वे चा — युधि॒ने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च॒ सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥

---

१ शिर की रक्षक लोहे आदि की टोपी, २ कल्याणकारी, ३ कवच-स्वरूप; ४ हौदा, ५ आवाज, ६ रणवाद्यों के बजाने के उपकरण और क्रिया।

नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च अग्रेवधाय	और सम्मुख स्थित शत्रु का वध करने वाले को	च हनीयसे	और शत्रु का अतिशय नाश करनेवाले को
च दूरेवधाय	और दूरस्थित का वध करनेवाले को	नमः	नमस्कार है।
नमः	नमस्कार है।	हरिकेशेभ्यः वृक्षेभ्यः नमः	हरित वर्ण के पत्तों वाले केश-धारी को नमस्कार है।
च हन्त्रे	और शत्रुहंता को	ताराय	तारनेवाले को
		नमः	नमस्कार है ॥४०॥

सुखमय श्रुतिवाणी के वक्ता को नमस्कार।
सब प्राणिजनों के संरक्षक को नमस्कार॥
अति उग्ररूपधर रुद्रदेव को नमस्कार।
रिपु-भयकर उनके भीमरूप को नमस्कार॥
सम्मुख-दूरस्थित रिपु-नाशक को नमस्कार।
रिपु के हन्ता को हनीयान[1] को नमस्कार॥
शत पत्ररूप हर हरित केश को नमस्कार।
जग के तारक को परमेश्वर को नमस्कार॥ ४०॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में सबसे पहले यह बतलाया गया है कि परमात्मा सुखदायक श्रुतिवाणी के वक्ता हैं। इसीलिए वेद को शब्दब्रह्म कहा गया है। वे ऐसे शब्द हैं जो सुन्दर आकाश से कंपित होते हुए ऋषि के कान तक पहुँचते है। परमात्मा ही सब प्राणियों के रक्षक है। वे हरिकेश अर्थात् हरित केशों वाले हैं। वृक्षों के हरे पत्ते ही उनके केश हैं। शत्रुओं को मारनेवाला उनसे बड़ा कोई नहीं। साधारण मारनेवाले लौकिक शत्रु को ही मारते हैं। परमात्मा काम, क्रोध आदि शत्रुओं को भी नष्ट कर देते है। वे संसार के तारक और उद्धारक हैं। ४०

नमः॑ शम्भ॒वाय॑ च॒ मयोभ॒वाय॑ च॒ नमः॑ शङ्क॒राय॑ च मयस्क॒राय॑ च॒ नमः॑ शि॒वाय॑ च॒ शि॒वत॑राय च ॥ ४१ ॥

शम्भवाय च	और आनंदमय रुद्रदेव को	च मयोभवाय	और सुखदाता को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।

[1] सबसे बड़े मारनेवाले।

नमः	नमस्कार है।	च नादेयाय	और नदी में जल-रूप में स्थित को
च कुल्याय	और नहर में स्थित को	च वैशन्ताय	और अल्प सरोवर के जल में स्थित को
च सरस्याय	और सरोवर में रहनेवाले को		
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है ॥३७॥

संकीर्ण क्षुद्र अंधी गलियों के अधिवासी को नमस्कार।
उन दीन जनों में महारुद्र की ज्वलित कला को नमस्कार॥
जो राजमार्ग पर, हर्म्यों[1] में रहते उनको भी नमस्कार।
विस्मृत है जिनको रुद्र स्वयं उन धनिकों को भी नमस्कार॥
दुर्गम क्षेत्रों के पथचारी के रुद्र-रूप को नमस्कार।
पर्वत के निम्न प्रदेशों के अधिवासी हर को नमस्कार॥
कुल्याओं[2] के शत रूपों में है रुद्रदेव को नमस्कार।
सब सरोवरों में प्रकट रुद्र की श्री-सुषमा को नमस्कार॥
नदियों के जल में प्रकट रुद्र की सत्ता को शत नमस्कार।
अति क्षुद्र जलाशय में, तडाग में उन्हीं रुद्र को नमस्कार॥ ३७॥

टि०—इस कंडिका के मंत्रों में वैदिक साम्य भावना का बड़ा जाग्रत-ज्वलित रूप प्रकट हुआ है। सबसे पहले ऋषि रुद्र के उस रूप को प्रणाम करता है जो तंग अँधेरी गलियों या झुग्गी झोपड़ियों मे रहता है। मंत्रों के अंतिम भाग में प्रकृति के नाना क्षेत्रों में प्रसारित रुद्र की सत्ता को नमस्कार किया गया है। ३७

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८॥

कूप्याय च	और कूप के समीप रहनेवाले को	च वीध्र्याय	और प्रकाश में रहनेवाले को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च अवट्याय	और गर्त में रहनेवाले को	च आतप्याय	और सूर्य के ताप में रहनेवाले को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।

१ राजमहल; २ नहरों आदि।

भवसिंधु पार देते उतार, प्रज्ञान-तरी के कर्णधार।
विश्वमय[1] और विश्व के पार, शिव परम तत्त्व को नमस्कार।
तीर्थस्वरूप को नमस्कार! तीर्थव्यापी को नमस्कार।
भवसिन्धु कूल को नमस्कार, भवसागर तट को नमस्कार।
कुश अंकुर तक में है प्रसार, शिव सर्वरूप को नमस्कार।
बुद्‌बुद् फेनादिक रूप धार, क्रीड़ारत शिव को नमस्कार ॥ ४२ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि इस संसार-सागर के उस पार और इस पार दोनों ओर शिव ही है। वे इसके पार उतारनेवाली दर्शन की नौका हैं। वे विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों है। वे दो तीर्थों में व्याप्त है, तीर्थस्वरूप हैं। इस भवसागर के वे ही किनारे है। वे छोटे से छोटे कुश, अंकुर, बुद्‌बुद्, फेन तक के रूप में क्रीड़ा कर रहे हैं। ४२

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥ ४३ ॥

सिकत्याय च	और रेत में विद्यमान को	च पुलस्तये	और पूर्ण जल में अथवा शरीर में अंतर्यामी रूप में विद्यमान को
च प्रवाह्याय	और जल-प्रवाह में स्थित (रुद्र) को		
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च किंशिलाय	और वृक्ष-कंकरादि में विद्यमान को,	च इरिण्याय	और तृण-रहित ऊसर भूमि में विराजमान को
च क्षयणाय	और स्थित जल में रहनेवाले को	च प्रपथ्याय	और बहुसेवित मार्गादि में विद्यमान को
नमः	नमस्कार है।		
च कपर्दिने	और कौड़ी आदि में विद्यमान को	नमः	नमस्कार है ॥४३॥

प्रति सैकत-कण में रुद्रदेव को नमस्कार।
जल के प्रवाह में रुद्रदेव को नमस्कार ॥
हिमभूत[2] शिला-कंकर में हर को नमस्कार।
स्थिर जलप्रदेश में रुद्रदेव को नमस्कार ॥

१ विश्व की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान;। २ बर्फ बने हुए।

च शङ्कराय	और कल्याणकारी को
च मयस्कराय	और सुखकर्ता को
नमः	नमस्कार है।
च शिवाय	और मंगल-स्वरूप को
च शिवतराय	स्वभक्तों को निष्पाप करने वाले(रुद्र)को
नमः	नमस्कार है ॥४१॥

सुखरूप शम्भु को नमस्कार, सुखदाता भव को नमस्कार।
कल्याणरूप को नमस्कार, शंकर को शत-शत नमस्कार।
लौकिक सुखदाता को प्रणाम, निर्वृति-सुखदाता[1] को प्रणाम।
मंगलस्वरूप शिव को प्रणाम, शिवतर को, शिवतम को प्रणाम।
निरतिशय शान्त आनन्दधाम, सर्वज्ञबीज[2] शिव को प्रणाम ॥ ४१ ॥

टि०—इस कण्डिका के मंत्र भगवान शंकर की आध्यात्मिक महिमा के प्रतिपादक है। वे सुखस्वरूप हैं और सुखप्रदाता हैं। 'शंभु' शब्द का अर्थ है सुख और आनन्द दोनों का देनेवाला। 'शं' लौकिक सुख और मोक्ष का आनंद—दोनों का वाचक है। 'शिवतर' का अर्थ है— निरतिशय कल्याणरूप, जिनसे अधिक कल्याणरूप और कोई नहीं। ४१

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय
च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय
च ॥ ४२ ॥

पार्याय च	और पारस्थित को
च अवार्याय	और इस पार में विद्यमान(रुद्र)को
नमः	नमस्कार है।
च प्रतरणाय	और तारनेवाले को
च उत्तरणाय	संसार से पार करनेवाले के(रुद्र)को
नमः	नमस्कार है।
च तीर्थ्याय	और तीर्थ में विद्यमान को
कूल्याय	और किनारे में प्रकट होनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
च शष्प्याय	और कुश-कासादि में विद्यमान को
च फेन्याय	और फेन में रहने वाले(रुद्र) को
नमः	नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जो भवसागर के परम पार, उन भव को शत-शत नमस्कार।
संसृति-सागर के तट अवार, उन हर को शत-शत नमस्कार।

---

१ मोक्ष का आनन्द प्रदान करनेवाला; २ सर्वज्ञता के कारण या अधिष्ठान।

गोचर-प्रदेश[1] में विद्यमान को नमस्कार।
गोष्ठों[2] में संस्थित पशुपति शिव को नमस्कार ॥
शय्या-शायी[3] रूपों में शिव को नमस्कार।
गृह-गृह में तिष्ठमान शंकर को नमस्कार ॥
हृद्‌देशस्थित ईश्वर को शत-शत नमस्कार ॥
भ्रम-आवर्तों[4] में वर्तमान को नमस्कार।
अति दुर्गारण्य-प्रदेश-वेष को नमस्कार ॥
गिरि-गह्वर-नद-ह्रद-रूप शर्व को नमस्कार ॥ ४४ ॥

टि०—परमात्मा के सर्वव्यापकत्व और सर्वान्तर्यामित्व की यह पुण्यमयी गीता विश्व-साहित्य का शृंगार है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्‌देशेऽर्जुन तिष्ठति' अर्थात् 'हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-प्रदेश में विद्यमान है। भगवान गीता की यही बात वेद में पहले ही कह चुके थे। ४४

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥ ४५ ॥

च शुष्क्याय	और सूखे काष्ठादि में स्थिति वाले को
च हरित्याय	और हरे पत्ते आदि में विद्यमान को
नमः	नमस्कार है।
च पांसव्याय	और धूल-धूसरित को
च रजस्याय	तथा पुष्पपराग में विराजमान को
नमः	नमस्कार है।
च लोप्याय	और अगम स्थान में स्थिति वाले को
च उलप्याय	और बल्वजादि तृण में विराजमान को
नमः	नमस्कार है।
च ऊर्व्याय	और उर्वर भूमि वा वड़वानल में विद्यमान को
च सूर्व्याय	महाप्रलय में विद्यमान अग्नि (स्वरूपवाले रुद्र) को
नमः	नमस्कार है ॥४५॥

अति शुष्क काष्ठ में रुद्रदेव को नमस्कार।
शत हरितवर्ण पर्णों में उनको नमस्कार ॥

---

१ गायों का चरागाह; २ गोशाला; ३ बिस्तर पर लेटे हुए; ४ भ्रम के आवर्त्त अर्थात् अविद्या के चक्करों मे।

चिर जटाजूटधर रुद्रदेव को नमस्कार।
शंख में, शुक्ति[2] में, कपर्दिका[3] में नमस्कार॥
सब के अन्तर्यामी पुलस्ति को नमस्कार।
सम्पूर्ण शुभ-अशुभ के साक्षी को नमस्कार॥
तृणरहित अनुर्वर[4] भूमि रुद्र को नमस्कार।
बहुसेवित उत्तम मार्गगम्य को नमस्कार॥ ४३॥

टि०—'''साक्षाद्वाप्य व्यवस्थितः' भगवान शिव का सर्वव्यापी रूप साक्षात् दृष्टिगोचर है। यह मंत्र इसका प्रमाण है। 'ततम्' और 'इदम्' के तादात्म्य का यह बड़ा रसमय प्रगीत है। वे शिव प्रत्येक बालू के कण में है, जल-प्रवाह के प्रत्येक बूंद में है। वर्फ में, कंकर मे, वहते अथवा बँधे जल में सर्वत्र वे ही है। इस मंत्र में आये 'कपर्दी' और 'पुलस्ति' शब्द विचारणीय हैं। कपर्दी शब्द का जटाजूटधारी अर्थ प्रसिद्ध है। पर यह शब्द कपर्द से बना है। कपर्द का अर्थ कौड़ी, सीपी, शंख आदि भी होता है। इस अर्थ में कपर्दी है कौड़ी, शंख, सीपी आदि धारण करनेवाला। 'पुलस्ति' शब्द की व्युत्पत्ति है— 'पुरस्तिष्ठतीति पुलस्तिः' अर्थात् जो आगे रहकर शुभ-अशुभ सबको देखता है। दूसरी व्युत्पत्ति है 'पुरोऽग्रे तिष्ठति पुलस्तिः' अथवा 'पुर्षु शरीरेषु अस्ति सत्ता यस्य।' शरीरो मे जिसकी सत्ता है, जो सर्वान्तर्यामी है, वह पुलस्ति है। वे अनुर्वरा भूमि में है और बहुजनसेवित उत्तम धर्ममार्गों में भी वर्तमान हैं और उनके द्वारा प्राप्य हैं। ४३

नमो व्रज्याय च[1] गोष्ठ्याय च[2] नमस्तल्प्याय च[3] गेह्याय च[4] नमो हृदय्याय च[5] निवेष्प्याय च[6] नमः काट्याय च[7] गह्वरेष्ठाय च ॥ ४४ ॥

व्रज्याय च	और गोचारण स्थान में विद्यमान को	च हृदय्याय	हृदय में जीवरूप से स्थित को
च गोष्ठ्याय	और गोशाला में विद्यमान को	च निवेष्प्याय	और हिमसमूह में विद्यमान को
नमः	नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है।
च तल्प्याय	और शय्या में विद्यमान को	च काट्याय	और कठिन मार्ग में स्थित को
च गेह्याय	और घर के निवासी	च गह्वरेष्ठाय	और गुहा या गंभीर जल में स्थित को
नमः	को नमस्कार है।	नमः	नमस्कार है ॥४४॥

२ सीपी, ३ कौड़ी; ४ ऊसर।

वः नमः	तुम (रुद्र) को नमस्कार है ।
विचिन्वत्केभ्यः	धर्मात्मा और पापी को पृथक् करनेवाले को
नमः	नमस्कार है ।
विक्षिणत्केभ्यः	विविध उपायों से शत्रुओं को नाश करनेवाले को
नमः	नमस्कार है ।
आनिर्हतेभ्यः	गुप्तरूप से शत्रु-देश में फैल जानेवाले (रुद्र)को
नमः	नमस्कार है ॥४६॥

पर्ण में विराजित रुद्ररूप को नमस्कार ।
भूमिगत शीर्णपर्णों में स्थित को नमस्कार ॥
नित नव नव उद्यमशील नरों में नमस्कार ।
बाह्यान्तर रिपुओं के नाशक हित नमस्कार ॥
सर्वदा अभक्तों के पीड़क को नमस्कार ।
पापी के अतिशय दुखदाता को नमस्कार ॥
बाणों के उत्पादक रुद्रों को नमस्कार ।
धनुषों के उत्पादक रुद्रों को नमस्कार ॥
इन देवप्रमुख मरुदग्नि सूर्य को नमस्कार ।
इन देवत्रय में रुद्रदेव को नमस्कार ॥
हे रुद्र ! वृष्टि के दाता तुमको नमस्कार ।
धर्मी पापी के रुद्र सदा हैं पृथक्कार[1] ॥
उनको उनके विवेक को शत-शत नमस्कार ।
कर वहु उपाय रिपु के हन्ता को नमस्कार ॥
रहकर अदृश्य रिपु-देश-व्याप्त को नमस्कार ।
बहुविध पापों के उन्मूलक को नमस्कार ॥
सर्ग[2] के आदि में प्रकट रुद्र को नमस्कार ॥ ४६ ॥

टि०—इस कण्डिका के मंत्रों में सृष्टि में प्रत्यक्ष परमेश्वर के रूप, गुण, कर्म, स्वभाव आदि का वर्णन करते हुए उनको नमस्कार किया गया है । यह भी बताया गया है कि मरुत्, अग्नि, सूर्य उन्हीं के अवतार या विभूति हैं । उनका विशेष गुण बाहरी-भीतरी शत्रुओं को नष्ट करना है । ४६

१ अलग करनेवाले; २ सृष्टि ।

प्रत्येक धूलि के कण में शिव को नमस्कार।
सुरभित पुष्पों की रेणु-रेणु में नमस्कार॥
अति गुह्य अगम देशों में स्थित को नमस्कार।
उलपा[1]-तृण-छादित-देश-वेष को नमस्कार॥
बड़वानलरूप विराजमान को नमस्कार।
प्रलयाग्निरूप प्रलयंकर हर को नमस्कार॥ ४५॥

टि०—महेश्वर रुद्र की सार्वभौम चेतना में उनकी सृष्टिकल्पना विविध रूपों में प्रतिबिंबित होती है। काष्ठ, पर्ण, धूलिकण, पुष्प और पुष्परेणु अगम प्रदेश आदि सब उनसे अभिन्न हैं, केवल भिन्न-से भासित होते हैं। ४५

नमः पर्णाय च[1] पर्णशदाय च[2] नम उद्गुरमाणाय चा[3]भिघ्नते च[4] नम आखिदते च[5] प्रखिदते च[6] नम इषुकृद्भ्यो[7] धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो[8] नमो वः किरिकेभ्यो देवानाᳪं हृदयेभ्यो[9] नमो विचिन्वत्केभ्यो[10] नमो विक्षिणत्केभ्यो[11] नम आनिर्हतेभ्यः[12] ॥ ४६ ॥

च पर्णाय नमः	और पर्ण में स्थित को नमस्कार है।
च पर्णशदाय नमः	और पर्ण में उत्पन्न कीटादि को नमस्कार है।
च उद्गुरमाणाय	और निरन्तर उद्यमी पैदा करने वाले को
च अभिघ्नते	और शत्रुओं के संहारक को
नमः	नमस्कार है।
च आखिदते	और अभक्तों को खेद उत्पन्न करने वाले को
च प्रखिदते	और विविध ताप उत्पन्न करनेवाले पापियों को दुख देनेवाले को
नमः	नमस्कार है।
इषुकृद्भ्यः	बाण के बनानेवाले को
च धनुष्कृद्भ्यः	और धनुप बनाने वाले
वः	तुम (रुद्र) को
नमः	नमस्कार है।
देवानां हृदयेभ्यः	देवताओं के हृदय-स्वरूप
किरिकेभ्यः	वृष्टि के द्वारा जगत को सृजन करनेवाले

१ एक विशेष प्रकार का तृण।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं
पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

यथा द्विपदे	जिस प्रकार दो पैरों वाले मनुष्यों	इमाः मतीः	इन अपनी बुद्धियों को
चतुष्पदे शं	और चौपाये पशुओं को सुख की प्राप्ति हो,	तवसे	महाबली,
अस्मिन् ग्रामे	(तथा) इस गाँव में	कपर्दिने	जटाधारी,
विश्वं पुष्टं	सब प्राणी पुष्ट हों	क्षयद्वीराय	शूरवीरों के निवास-भूत
अनातुरं असत्	और व्यथाहीन हों, उसी प्रकार	रुद्राय	रुद्र देवता को
		प्र भरामहे	हम अपनी सेवा अर्पित करते हैं ॥ ४८ ॥

हम अर्पित करते तुमको निज बुद्धियाँ सकल ।
हे वीरों के अधिवास ! रुद्र हे अतुलितबल ! ॥
यह गाँव हमारा इसके रहनेवाले जन ।
हों पुष्ट, उपद्रवरहित और मंगलभाजन[1] ॥
गाँव के निवासी सब मानव, गोगण, पशुधन ।
सब सुखी रहें, सबका प्रभु ! करो सदा रक्षण ॥ ४८ ॥

टि०—इस मंत्र में ग्रामजनों की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है । भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है, हम सब अपनी बुद्धि उनको अर्पित कर दें । भगवदर्पित बुद्धि सदा धर्ममार्ग पर चलायेगी । धर्म रक्षा का कवच है । जो अपने को भगवान को अर्पित कर देता है, उसका योगक्षेम वे स्वयं वहन करते हैं । ४८

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥४९॥

रुद्र	हे रुद्र !	भेषजी	व्याधि-निवृत्त करने वाली ओषधि-स्वरूप,
या ते शिवा	जो तुम्हारी शान्त,	रुतस्य शिवा	शरीर के रोगों का शमन करनेवाला
विश्वाहा शिवा	सबके लिए निरन्तर कल्याणकारी,		

१ कल्याण के पात्र ।

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित ।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा
रोङ्मो च नः किंचनाममत् ॥ ४७ ॥

द्रापे	हे शत्रुओं को दुर्दशा में पहुँचा देनेवाले !	मा भेः	भयभीत मत करो ।
अन्धसस्पते	हे अन्न के पालक !	मा रोक्	रोग से पीड़ित मत करो ।
दरिद्र	हे सहायशून्य (तथा) निष्परिग्रह !	च किञ्चन	और किसी प्रकार भी
नीललोहित	हे नीललोहित रुद्र !	मा आममत्	हमारी प्रजा और पशुओं को रोगग्रस्त मत करो ॥ ४७ ॥
नः आसां प्रजानां	हमारे इन प्रजा-पुत्रादि को		
एषां पशूनां	इन गो आदि पशुओं को		

अयथा-कर्मरता[1] पापकृत[2] अरि परम अधम ।
उनकी दुर्गति के हेतु सदा तुम देवदेव ! ॥
रक्षक सोम के अन्न के पालक देवदेव ! ।
अतिशय अपरिग्रहशील अकिंचन[3] तुम सदैव ॥
हे रुद्र नीललोहित ! दो हमको अभयदान ।
प्रभु ! करो हमारी संतति को रक्षा प्रदान ॥
सब पुत्र-पौत्र गोवंश रहे तुमसे निर्भय ।
हे मृत्युंजय ! हर लो सब रोगजनित भय-क्षय ॥
संतान हमारी, हम सब, यह गोधन समस्त ।
हो कृपा तुम्हारी, हों ये कभी न रोगग्रस्त ॥ ४७ ॥

टि०—निष्ठावान आस्तिक और भक्त केवल भगवान से ही याचना करता है, अन्य किसी से नहीं। कालिदास ने लिखा है – "याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।' श्रेष्ठ से माँगो, न मिले तो भी हानि नहीं। अधम से माँगने पर कुछ मिले भी, तो वह हेय है। इसलिए भक्त अपने परिवार, गोधन आदि की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है, भगवान से याचना करने से याचक कर्म-बंधन में नहीं बँधता, जैसे भुने हुए बीज से अंकुर नहीं निकलते। इस मंत्र में भगवान के लिए 'दरिद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है, परम निष्परिग्रही, परम अकिंचन अर्थात् जिसको अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। भगवान स्वयं दरिद्र है, परम अकिंचन है, इसलिए 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।' यह मंत्र भगवान को दरिद्र कहकर दरिद्रों की सेवा के लिए मनुष्यों को निर्देश करता है। ४७

---

१ अनुचित अवैध कर्म करनेवाले; २ पापी; ३ दीन ।

जिस दुर्मति से क्रोधित हो देते दण्ड-दान।
उसके वश में हों कभी न ये मन और प्राण॥
जो दानशील करते यज्ञों में धन अर्पित।
उनके हित रहे तुम्हारा धनु अवतत-ज्या[1] नित॥
यजमानों के हित करो सदा कल्याण-दान।
सब पुत्र-पौत्र भोगें हम सबके सुख महान॥ ५०॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि दुर्बुद्धि ही सब पापों का, कष्टों का कारण है। दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर मनुष्य दूसरे से द्रोह करता है, काम-क्रोधादि के वशीभूत होता है, तभी भगवान रुद्र उसे दंड देते हैं। परमेश्वर के दंड से बचने के लिए दुर्बुद्धि त्यागना आवश्यक है। ५०

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान
आ चर पिनाकं बिभ्रदा गहि॥ ५१॥

मीढुष्टम	हे अतिशय अभिलषित फल देनेवाले !	परमे वृक्षे	ऊंचे वृक्ष पर
		आयुधं निधाय	हथियारों को रखकर
शिवतम	हे अतिशय कल्याणकारी रुद्र !	कृत्तिं वसानः	चर्म को धारण करके
नः शिवः	हमारे लिए मंगलकारी	आचर	आगमन करो।
		पिनाकं बिभ्रत्	धनुष को धारण कर
सुमनाः भव	और सुन्दर मन वाले बनो।	आ गहि	आओ॥ ५१॥

हे रुद्र! सदा अतिशय अभीष्ट फलदाता।
हे हे शिवतम! अतिशय कल्याणप्रदाता॥
होकर प्रसन्न सुख-शान्ति प्रदान करो प्रभु!।
हम बाट तुम्हारी जोह रहे हैं हे विभु!॥
दूरस्थ उच्च तरु पर निज आयुध रखकर।
धारण कर तन पर कृत्ति[2] पधारो हे हर!॥
ज्याहीन और शरहीन धनुष कर धारण।
आओ, आओ, हे संकट-कोटि-निवारण॥ ५१॥

---

१ उतरी हुई डोरी वाला धनुप;　　२ खाल।

भेषजी तन्वा	शरीर के लिए भेषजस्वरूप (शक्ति) है,	जीवसे मृड	(हे सुख-स्वरूप शंकर !) जीवन को सुखी करो ॥ ४९ ॥
तया नः	उस अपनी शक्ति से हमारे		

हे रुद्र ! तुम्हारा परम शान्त शिवमय[1] विग्रह ।
करता है जग की व्याधि निवारण वह अहरह ॥
सब ओषधियाँ हैं रूप तुम्हारा ही सदैव ।
व्याधिहर शक्ति उनकी हो तुम हे देवदेव ! ॥
मृड[2] ! करो उसी से जीवन हम सबका सुखमय ।
हम आधि-व्याधि-निर्मुक्त रहें हे मृत्युंजय ! ॥ ४९ ॥

टि०—इस मंत्र में ओषधियों का महत्त्व बतलाया गया है। उत्तम ओषधी के सेवन से जीवन सुखी होता है, ओषधियों में जो व्याधिहारिणी शक्ति है, वह भगवान रुद्र की ही है। ४९

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒
परि॑ त्वे॒षस्य॑ दु॒र्म॒तिर॑घा॒योः ।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒
मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥ ५० ॥

रुद्रस्य हेतिः	रुद्र के आयुध	मीढ्वः	हे अभिलषित फल देनेवाले रुद्र !
नः परि वृणक्तु	हमारा परित्याग करें।	मघवद्भ्यः	धन से युक्त भक्त के लिए
त्वेषस्य अघायोः	पापियों की क्रोध-वृत्ति	स्थिरा अवतनुष्व	अपने दृढ़ धनुष की प्रत्यञ्चा उतार दो।
दुर्मतिः	और दुर्बुद्धि		
परि (वृणक्तु)	सब प्रकार से दूर रहे।	तोकाय मृड	हमारे बाल-बच्चों को सुखी करो ॥५०॥

हम पाप, द्रोह, दुर्बुद्धि से रहें रुद्र ! मुक्त ।
तुम करो न हम पर दण्ड हेतु आयुध प्रयुक्त ॥

---

१ कल्याणमय शरीर; २ सुखस्वरूप भगवान शंकर।

भगवः	हे ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान रुद्र !	ईशानः	हे जगत के स्वामी !
तव बाह्वोः	तुम्हारी बाँहों में	तासां मुखा	उन संहारकारी अस्त्रों के मुख
सहस्राणि	हज़ार-हज़ार	पराचीना कृधि	हमारी ओर से मोड़कर दूसरी ओर कर दो ॥ ५३ ॥
सहस्रशः	तरह-तरह के		
हेतयः	अस्त्र-शस्त्र हैं ।		

हे रुद्र ! परम ऐश्वर्ययुक्त हे भगवन् ! ।
है विग्रह परम विराट् तुम्हारा चिद्घन ॥
दुर्दर्श असंख्यक बाँहें देव ! तुम्हारी ।
धारे असंख्य आयुध हैं रविछविधारी[1] ॥
इन शस्त्रास्त्रों को हमसे करो पराङ्मुख ।
पापी खल ही देखें केवल उनका मुख ॥ ५३ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर के अनंत विग्रह का संकेत है। 'अनेक बाहूदर-वक्त्रनेत्र' —उनके असंख्य बाँहें हैं, अनेक उदर, असंख्यक नेत्र हैं। अपनी हज़ारों बाँहों मे हज़ारों शस्त्रास्त्र धारण कर रखे हैं। उनसे प्रार्थना की गई है, वे अपने शस्त्रास्त्रों का मुख हमारी ओर से फेरकर पापियों की ओर मोड़ दें। ५३

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।
तेषांᳫ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५४॥

ये असंख्याताः	जो असंख्य	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
सहस्राणि रुद्राः	तुम्हारे हजारों गण	सहस्रयोजने	हज़ारों योजनों तक
भूम्यां अधि	भूमि के ऊपर स्थित हैं,	अव तन्मसि	दूर कर दो ॥५४॥

हे रुद्र ! तुम्हारे गण अगणित धरती पर ।
विचरण करते रहते हैं विविध रूप धर ॥
उनके धनु हमसे दूर रहें शत योजन ।
उनसे न कष्ट पावें हम सब प्राणीगण ॥
दुःखदायक साधन दूर रहें हमसे नित ।
सुख-साधन होते रहें निरंतर संचित ॥
× × ×
शत-शत योजन विस्तीर्ण देश यह अपना ।
इसके परिपूर्ण ज्ञान की करो कल्पना ॥

---

१ सूर्य की शोभा वाले ।

टि०—इस मंत्र के आरंभ में भगवान रुद्र के विशेषण के रूप में 'मीढुष्टम' शब्द आया है, जिसका अर्थ है— अतिशय अभिलषित फलप्रदाता। महर्षि दयानंद ने इसका अर्थ किया है, अत्यन्त पराक्रमयुक्त। भगवान रुद्र से प्रार्थना की गई है कि शस्त्रास्त्र अलग रखकर धनुष की प्रत्यंचा-बाण उतारकर, शान्तरूप धारण कर, गजखाल धारण करके वे तपस्वी का वेष धारण कर आवें। ५१

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ॥५२॥

विकिरिद्र	अनेक उपद्रवों का नाश करनेवाले,	ते याः	तुम्हारे जो
विलोहित	हे शुद्धस्वरूप !	सहस्रं हेतयः	हजारों शस्त्र हैं,
भगवः	हे परम ऐश्वर्यवान रुद्र !	ताः अस्मत्	वे हमको छोड़कर
ते नमः अस्तु	तुम्हें नमस्कार हो।	अन्यं नि वपन्तु	अन्य उपद्रवियों पर पड़ें ॥ ५२ ॥

हे रुद्र ! विविध घातादि-उपद्रव-नाशक।
हे देव विलोहित[1] ! शुद्ध स्वरूप-प्रकाशक ॥
ऐश्वर्यस्वरूप रुद्र ! तुमको है नमस्कार।
भगवान रुद्र ! तुमको है शत-शत नमस्कार ॥
आयुध सहस्र धारण करते हो जो सदैव।
उनका प्रयोग तुम हम पर कभी न करो देव ! ॥
वे गिरें जहाँ हो घोर पाप अन्याय असत्।
तुमसे सब रक्षित रहें पुण्यकृत संशितव्रत ॥ ५२ ॥

टि०—इस मंत्र में भगवान रुद्र से विशेष रूप से यह प्रार्थना की गई है कि आप अपने शस्त्रों का लक्ष्य पापियों को बनावें। इस मंत्र में भगवान रुद्र को 'विकिरिद्र' कहा गया है। 'किरि' शब्द का अर्थ है— उपद्रव, अपघात आदि। जो इनको नष्ट करता है, वह विकिरिद्र है। ५२

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

---

१ जो शुद्ध और पापहीन है।

नीलग्रीवाः	नीली गर्दन वाले,	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
शितिकण्ठाः	शितिकण्ठ वाले	सहस्रयोजने	सहस्र योजन दूर
रुद्राः	जो रुद्रगण	अवतन्मसि	ज्या-रहित करके
दिवं उपश्रिताः	द्युलोक में आश्रय किये हुए हैं,		रखवा दो ॥ ५६ ॥

हैं देव! तुम्हारे नीलकण्ठ[1] गण अगणित।
हैं श्वेतकण्ठ[2] गण भी असंख्य व्यापृत नित॥
यह दिव अनन्त है उनके आश्रय का स्थल।
हैं युद्ध-कामनारत रहते जो प्रतिपल॥
उनकी हिंसक-वृत्तियाँ निवृत्त करो प्रभु!।
उनके धनु हमसे दूर रहें कोसों विभु!॥ ५६ ॥

टि०—इस मंत्र में भविष्य की बड़ी अद्भुत परिकल्पना है। कहा गया है, हे परमेश्वर! जो विध्वंसक शक्तियां अंतरिक्ष में अशान्ति उत्पन्न करना चाहती हैं, अंतरिक्ष-युद्ध आदि की योजना बनाने में लगी हैं, उनको विध्वंस के मार्ग से विरत करो। उन्हे शान्तिकामी बनाओ। उनके चढ़े हुए धनुष उतर जायें। ५६

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठाः॑ श॒र्वा अ॒धः क्ष॑माच॒राः।
तेषा॑ᳪ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥५७॥

नीलग्रीवाः	नीली गर्दन वाले	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
शितिकण्ठाः	और श्वेत कंठ वाले	सहस्रयोजने	हज़ारों योजन दूर
शर्वाः	शर्व नामक रुद्रगण	अवतन्मसि	ज्यारहित करके
अधः क्षमाचराः	जो नीचे पृथ्वी पर विचरण करते हैं,		रखो ॥ ५७ ॥

जो नीलग्रीव शितिकण्ठ रुद्रगण अगणित।
पृथ्वी के नीचे हैं विचरण करते नित॥
पाताल-भूमि में रह संहार-कर्मरत।
रचते रहते हैं युद्ध-योजना संतत॥
बदलो उनकी आंतर-वृत्तियाँ महेश्वर!।
वे बनें शान्तिकामी[3] मानवताव्रतधर[4]॥
वे अब अपने युद्धोद्यत धनुष उतारें।
तज ध्वंस-योजना सौख्य-शान्ति विस्तारें॥ ५७ ॥

---

१ नीले कण्ठ वाले; २ सफेद कण्ठ वाले; ३ शान्ति की इच्छा करनेवाले; ४ मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम और मैत्री का व्रत धारण करनेवाले।

जानो यह धरती, जीव मात्र को जानो।
इसकी प्राकृतिक सम्पदा को पहचानो॥
प्राणादिक वायु-समष्टि यहाँ की जानो।
अन्नादि-वृद्धि के ठान निरंतर ठानो॥
प्राकृतिक साधनों का लो लाभ निरंतर।
सब सुखी रहें, धरती हो नित नव उर्वर॥ ५४॥

टि०—इस मंत्र का ऊपरी अर्धांश अनुवाद महीधर और वेदमूर्ति सातवलेकर जी के अनुसार है और इसके नीचे के अर्धांश अनुवाद में स्वामी दयानंद द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट व्याख्या है। ५४

अस्मिन् महत्यर्णवे ऽन्तरिक्षे भवा अधि।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५५॥

अस्मिन् अन्तरिक्षे	इस अन्तरिक्ष में,	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
महति अर्णवे	महान समुद्र में	सहस्रयोजने	हज़ारों योजन दूर,
अधि भवा:	जो रुद्रगण अधिष्ठित हैं,	अ तन्मसि	डोरी उतारकर रखवा दो॥५५॥

गण रुद्र! तुम्हारे अन्तरिक्ष में हैं स्थित।
वे महासमुद्रों में विचरण करते नित॥
जल, थल, नभ में वे शान्ति-विधान[1] करें नित।
अवततधन्वा[2] हो शान्ति-सौख्य वितरें[3] नित॥
प्रति जन के मन में शान्ति-कामना जागे।
अयुतायुत[4] योजन धरा शान्ति-सुख माँगे॥ ५५॥

टि०—इस मंत्र में भगवान रुद्र से यह प्रार्थना की गई है कि संसार के सब मानव तुमसे शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त करें। युद्ध, हिंसा, शस्त्रास्त्रों के निर्माण की होड़ रुक जाय। अन्तरिक्ष युद्धों की घातक योजना बनानेवालों के मन की हिंसावृत्ति समाप्त हो जाय। चढ़े हुए धनुष उतर जायँ। ५५

नील॑ग्रीवाः शितिकण्ठा दिवꣳ रुद्रा उप॑श्रिताः।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५६॥

---

१ शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्न; २ उतरी हुई प्रत्यंचा वाले धनुष जो युद्धकर्म से निवृत्त है; ३ बांटें; ४ हज़ारों हज़ार या असंख्य।

हैं उनमें कितने जटाजूटधारी धनुधर।
हे ईश ! वृत्तियाँ रहे न उनकी हिंसा पर॥
उनके हिंसक आयुध हों हिंसावृत्तिमुक्त।
जग-जीवन के प्रति हों मंगल-कामनायुक्त॥ ५९॥

टि०—भगवान रुद्र सब प्राणियों के स्वामी है। इन प्राणियों में अनेक वृत्तियों वाले लोग हैं। मंत्र में प्रार्थना की गई है कि वे अपनी दुर्वृत्तियाँ छोड़कर शान्तिकामी बनें और लोकमगल के लिए अपना जीवन अर्पित करें। शिखाहीनता, शिर का मुंडित होना उच्छृंखल प्रवृत्ति वाले लोगों के लक्षण हैं। ५९

ये प॒थां प॑थि॒रक्ष॑य ऐलबृ॒दा आ॑यु॒र्युधः॑।
तेषा॑ᳪं सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि॥६०॥

ये पथां	जो (तुम्हारे अपने गण) लौकिक और वैदिक मार्गों के रक्षक हैं,	आयुर्युधः	जीवन पर्यन्त युद्ध करने में तत्पर हैं,
पथिरक्षयः	पथों के रक्षक हैं,	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
ऐलबृदः	अन्न से प्राणियों को पुष्ट करनेवाले है (तथा)	सहस्र योजने	हज़ार योजन दूर
		अ तन्मसि	प्रत्यंचा उतार कर ले जा कर रख दो।।६०॥

जो लौकिक वैदिक मार्गों के स्वामी हैं जन।
रक्षक हैं श्रुति के मार्गों के जो ज्ञानी जन॥
दे अन्न प्राणियों का करते हैं जो पोषण।
आजीवन धर्म हेतु करते रहते जो रण॥
उनके धनु, उनके साधन हों नित नव विस्तृत।
शत-शत योजन हो उनका कर्मक्षेत्र वर्द्धित॥
जिस भाँति वायु करता है जीवों का रक्षण।
शासक वैसे ही करें प्रजाओं का पालन॥ ६०॥

टि०—महर्षि दयानंद ने इस मंत्र के भावार्थ में लिखा है, जैसे पृथिवी और जीवनादि की रक्षा पवन करते है, वैसे ही शासनकार्य में नियुक्त राजपुरुष प्रजाजनों की यथावत् रक्षा करते रहें। शासन में नियुक्त राजपुरुष यदि ऐसा नहीं करते तो वे रुद्र के कोप के भाजन बनते हैं। जीवन भर धर्म के मार्ग की रक्षा के लिए संघर्ष करते रहना, इसी में मानव-जीवन की कृतकार्यता है। ६०

टि०—त्रिकालदर्शी ऋतंभरा प्रज्ञासंपन्न वैदिक ऋषि ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह समझ लिया था कि भविष्य में अंतरिक्ष और धरती के नीचे पाताल में विध्वंसक और युद्धकामी शक्तियाँ सक्रिय होकर मानव-जाति की सामूहिक हत्या में प्रवृत्त हो सकती हैं। उन्हीं के हृदय-परिवर्तन के लिए इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। ५७

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५८॥

ये शष्पिञ्जराः	जो हरित वर्ण वाले,	तेषां धन्वानि	उनके धनुष को
नीलग्रीवाः	नीली गर्दन वाले,	सहस्रयोजने	हज़ार योजन दूर
विलोहिताः	तेजोयुक्त शरीर वाले (तुम्हारे अपने गण)	अ तन्मसि	ज्या-रहित कर के रख दो ॥ ५८ ॥
वृक्षेषु	वृक्षों में स्थित हैं,		

जो नीलग्रीवा श्वेतकण्ठ तेजोमय।
रहते हैं वृक्ष-वनस्पति-जग में गतभय[1]॥
युद्धोद्यत वे गण अपने धनुष उतारें।
तज ध्वंस-योजना सदा शान्ति विस्तारें॥
सब अशिव अमंगल मिट जाएँ इस जग के।
हों शान्तिपूर्ण सब उद्यम जीवन-मग के॥ ५८॥

टि०—इस मंत्र में भी ध्वंसात्मक हिंसापरायण अशान्ति-कामी शक्तियों के हृदयपरिवर्तन के लिए प्रार्थना की गई है। ५८

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५९॥

ये भूतानां	जो रुद्र प्राणियों के	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
अधिपतयः	अधिपति है तथा	सहस्र योजने	हज़ार योजन दूर
विशिखासः	जो शिखाहीन हैं,	अव तन्मसि	ज्यारहित कर के रख दो ॥ ५९ ॥
कपर्दिनः	जो जटाजूटधारी हैं,		

हैं रुद्र सकल जिन भूतों के अधिपति सुविदित।
हैं शिखाहीन[2] कितने उनमें कितने मुंडित[3]॥

---

१ भयहीन; २ बिना चोटी के; ३ मुंड़े हुए शिर वाले।

करते उनका सदा रुद्र के गण ही निरसन[1]।
धनुष हाथ में लेकर करते जग में विचरण ॥
करते वे सब आधि-व्याधियों का उन्मूलन।
रोगमुक्त करते हैं वे जग शत-शत योजन ॥ ६२ ॥

टि०—दूषित अन्न खाते और दूषित जल या दूध पीने से जो रोग होते हैं, वे मृत्युंजय भगवान शंकर और उनके गणों की कृपा से दूर हो जाते हैं। ये धनुर्बाणपाणि रुद्रगण रोगों को हजारों योजन दूर खदेड़ देते हैं। ६२

य एतावन्तश्च भूयांꣳसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे।
तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६३॥

ये रुद्राः च	और जो रुद्रगण	वितस्थिरे	स्थित हैं,
एतावन्तः	इन दसों दिशाओं में	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
च भूयांसः	और इन कही हुई उनसे भी अधिक	सहस्र योजने	हज़ारों योजन दूर
दिशः	दिशाओं में	अवतन्मसि	ज्याहीन कर ले जाकर रखो॥ ६३ ॥

रुद्र ! तुम्हारे गण हैं जो दिशि-दिशि में संस्थित।
रहते हैं जो देशकाल में क्रियाशील नित ॥
उनका हम उपयोग करें निज कार्य-सिद्धि हित।
है उनकी क्षमता अनन्त योजन तक विस्तृत ॥
उनकी सब शक्तियाँ रहें शुभ में संयोजित।
रुद्र-शक्तियाँ हैं सदैव मानव-हित शुभकृत ॥ ६३ ॥

टि०—रुद्र के गण या शक्तियाँ देशकाल में सर्वत्र क्रियाशील हैं। उनका ज्ञान प्राप्त कर उनका सम्यक् उपयोग करना चाहिए। महाभारत में 'रुद्र' को संकट दूर करनेवाला कहा गया है। ये मंत्र उस अर्थ की पुष्टि करते हैं। ६३

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥

---

१ विनाश।

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६१॥

ये सृकाहस्ताः	जो रुद्रगण भाले हाथ में लेकर	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
निषङ्गिणः	खड्गों से युक्त होकर	सहस्र योजने	हज़ारों योजन
तीर्थानि प्रचरन्ति	तीर्थों में विचरण करते हैं,	अवतन्मसि	ज्याहीन करके दूर रख दो ॥ ६१ ॥

सृका[1] हस्त ले खड्ग विचरते तीर्थों में जो।
उनमें रक्षाकार्य सदा करते रहते जो॥
अये रुद्र! वे गण, वे सेवक सदा तुम्हारे।
तीर्थवासियों की रक्षा का व्रत हैं धारे॥
हो तीर्थों में सदा शास्त्रसेवन व्रतपालन।
करते हैं दायित्व-वहन यह सदा रुद्रगण॥
करते हैं रक्षा सहस्र योजन तक जन की।
वंदनीय कृति-कीर्ति सदा शिव के गणजन की॥ ६१ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि तीर्थों की रक्षा का भार भगवान रुद्र के गणों पर है। वे हाथ में भाला और तलवार लेकर तीर्थयात्रियों और वहाँ तपस्या आदि करनेवालों की रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। वे हज़ारों योजन तक भक्तों की रक्षा करते हैं। ६१

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६२॥

ये	जो रुद्रगण	पिबतः	पीनेवाले लोगों को रोगी करते हैं,
अन्नेषु	दूषित अन्नों में से उत्पन्न रोगों द्वारा	तेषां धन्वानि	उनके धनुषों को
जनान्	लोगों को	सहस्र योजने	हज़ारों योजन
विविध्यन्ति	प्रताड़ित करते हैं,	अ तन्मसि	ज्यारहित कर दूर रखो ॥ ६२ ॥
पात्रेषु	पात्रों में दूध आदि		

दूषित अन्नों से होतीं व्याधियाँ भयंकर।
दूषित पय[2] से होते हैं जो रोग प्राणहर॥

---

१ भाला जैसा अस्त्र; २ दूध और जल।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

रुद्रेभ्यः	उन रुद्रों को
नमः अस्तु	नमस्कार हो ।
ये अंतरिक्षे	जो अंतरिक्ष में हैं,
येषां इषवः वातः	पवन जिनके बाण है,
तेभ्यः	उन रुद्रों को
दश प्राचीः	दसो उँगलियाँ (दोनों हाथ) जोड़कर पूर्व में,
दश दक्षिणा	दोनों हाथ जोड़कर दक्षिण में,
दश प्रतीचीः	दोनों हाथ जोड़कर पश्चिम में,
दशोदीचीः	दोनों हाथ जोड़कर उत्तर में,
दश ऊर्ध्वा नमः	दोनों हाथ जोड़कर ऊर्ध्व दिशाओं में नमस्कार है ।
ते नः अवन्तु	वे हमारी रक्षा करें।
ते नः मृडयन्तु	वे हमें सुखी करें ।
ते	वे (रुद्र),
यं द्विषः	जिससे हम द्वेष करते हैं
च यः नः	और जो हमसे
द्वेष्टि	द्वेष करता है ।
तं एषां	उनको इन रुद्रों की
जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते हैं ॥ ६५ ॥

जो हैं पृथ्वी पर विद्यमान ।
उन सब रुद्रों को नमस्कार ॥
जो अन्तरिक्ष में विद्यमान ।
हैं भीषण जिनके पवन-बाण ॥
उन रुद्रों को है नमस्कार ।
करबद्ध उन्हें प्राची दिशि में है नमस्कार ॥
करबद्ध उन्हें दक्षिण दिशि में है नमस्कार ।
करबद्ध उन्हें पश्चिम दिशि में है नमस्कार ॥
करबद्ध उन्हें उत्तर दिशि में है नमस्कार ।
करबद्ध उन्हें है ऊर्ध्व दिशा में नमस्कार ॥
वे रक्षा करते रहें हमारी सर्वदैव ।
वे करते रहें प्रदान हमें सुख सर्वदैव ॥
हे रुद्र ! द्वेष करते हैं हमसे जो दुर्जन ।
पापीजन जो हम सबके सदा द्वेषभाजन ॥

ये दिवि	जो रुद्र द्युलोक में है,
येषां	जिन रुद्रों के
वर्ष इषवः	वृष्टि या वर्ष ही बाण हैं,
रुद्रेभ्यः	रुद्रों को
तेभ्यः	उन
नमः	नमस्कार है।
तेभ्यः दश प्राचीः	उनके लिए पूर्व में दश उँगलियाँ (दोनों हाथ) जोड़कर
दश दक्षिणा	दक्षिण में दोनों हाथ जोड़कर
दश प्रतीचीः	पश्चिम में दोनों हाथ जोड़कर,
दश उदीचीः	उत्तर में दोनों हाथ जोड़कर,
दशोर्ध्वा नमः	ऊर्ध्व दिशाओं में दोनों हाथ जोडकर
नमः	नमस्कार हो।
ते नः अवन्तु	वे हमारी रक्षा करें।
ते नः मृडयन्तु	वे हमको सुखी करें।
ते	वे (रुद्र),
यं द्विषः	जिनसे हम द्वेष करते हैं,
च यः नः द्वेष्टि	और जो हमसे द्वेष करता है,
तं एषां	उनको इन रुद्रों की
जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते हैं॥ ६४॥

जो हैं द्युलोक की मूर्धा पर शोभा पाते।
वृष्टि के बाण हैं जो धरती पर बरसाते॥
उन रुद्रों को है नमस्कार।
उनके हित शत-शत नमस्कार॥
करबद्ध उन्हें है प्राची दिशि में नमस्कार।
करबद्ध उन्हें दक्षिण दिशि में है नमस्कार॥
करबद्ध उन्हें पश्चिम दिशि में है नमस्कार।
कर जोड़ उन्हें उत्तर दिशि में है नमस्कार॥
वे रुद्र हमारी रक्षा करते रहें सदा।
वे रुद्र हमें दें सौख्य सदा, सौभाग्य सदा॥
जो करते हमसे द्वेष हमारे द्वेष-पात्र।
रुद्र के दाह में हों उनके सब क्षार गात्र[1]॥ ६४॥

टि०—इस मंत्र में एकादश रुद्रों की सभी दिशाओं में उपस्थिति का अवबोध करते हुए वंदना की गई है। जो द्वेष करनेवाले लोग हैं, वे रुद्र के क्रोध की ज्वाला मे भस्म हो जाते हैं। ६४

---

१ शरीर।

हैं बाण अन्न ही जिनके ॥
उन सब रुद्रों को नमस्कार ॥
करबद्ध उन्हें है प्राची दिशि में नमस्कार।
करबद्ध उन्हें है दक्षिण दिशि में नमस्कार॥
करबद्ध उन्हें है पश्चिम दिशि में नमस्कार।
दिशि ऊर्ध्व और उत्तर दिशि में है नमस्कार॥
वे रुद्र हमारी रक्षा करते रहें सदा।
वे रुद्रदेव सुख हमको देते रहें सदा॥
जो हमसे करते द्वेष उन्हें वे करें दग्ध।
जिनसे हम करते द्वेष उन्हें वे करें दग्ध॥ ६६॥

टि०—पूर्ववर्ती दो मंत्रों की तरह इस मंत्र में भी रुद्र भगवान को दशों दिशाओं में हाथ जोड़कर प्रार्थना की गई है। ६६

॥ षोड़श अध्याय समाप्त ॥

वे जलें तुम्हारे क्रोधानल में देवदेव।
जिससे पावें ये कष्ट विषम अति सर्वदेव[1] ॥ ६५ ॥

टि० इस मंत्र में भी पूर्ववर्ती मंत्र की तरह भगवान रुद्र को सभी दिशाओं से हाथों की दशों उँगलियां जोड़कर बार-बार नमस्कार किया गया है। ६५

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६६ ॥

[अध्याय १६, कण्डिका: ६६, मन्त्र-संख्या २८०]

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

रुद्रेभ्यः	उन रुद्रों को
नमः अस्तु	नमस्कार हो।
ये पृथिव्यां	जो पृथ्वी पर हैं,
एषां इषवः अन्नं	जिनके बाण अन्न हैं,
तेभ्यः दश प्राचीः	उनको पूर्व में दश उँगलियाँ (दोनों हाथ) जोड़कर,
दश दक्षिणा	दोनों हाथ जोडकर दक्षिण में,
दश प्रतीचीः	दोनों हाथ जोड़कर पश्चिम में,
दश उदीचीः	दोनों हाथ जोड़कर उत्तर में,
दश ऊर्ध्वा नमः	दोनों हाथ जोड़कर ऊर्ध्व दिशा में नमस्कार है।
ते नः अवन्तु	वे हमारी रक्षा करें।
ते नः मृडयन्तु	वे हमें सुखी करें।
ते	वे (रुद्र),
यम् द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं,
च यः नः द्वेष्टि	और जो हमसे द्वेष करता है,
तं एषां	उनको तुम्हारी इन
जम्भे दध्मः	दाढ़ों में डालते हैं ॥ ६६ ॥

जो हैं अपनी धरती पर संस्थित।
उन सब रुद्रों को नमस्कार।

---

१ सदा ही।

जो हमसे करते द्वेष, द्वेष के जो भाजन।
हे अग्नि ! तुम्हारा क्रोध करे उनका निगरण[1] ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस कंडिका के चार मंत्रों में पहला मरुतों को संबोधित है। ऋग्वेद में मरुतों का उल्लेख एक देवता के रूप में नहीं, देवों के समूह के रूप में किया गया है। इनके समूह को गण या शर्ध कहा गया है। इन सब मरुतों के कार्य और आकार एक है। कौशीतकी ब्राह्मण (१२-८) में कहा गया है, मरुत् ही जल हैं और जल ही अन्न है। अतः मरुत् को हवि प्रदान करके यजमान अन्न प्राप्त करता है। मरुत् ही श्वास-प्रश्वास के कारण हैं, पंच प्राण अथवा दश प्राण सब उनके अधीन है। इसलिए उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अन्न, ओषधि, वनस्पति आदि के रस-बल-ऊर्जा आदि को हमारे भीतर स्थायी रूप से स्थापित करें। कंडिका के शेष तीन मंत्रों में अग्नि से हवि ग्रहण करते रहने की प्रार्थना की गई है। अग्नि जितने क्षुधित हों, हवि अर्पित करनेको उतने ही साधन हमें मिलते रहें। जो हमसे द्वेष करनेवाले हैं अथवा जिनसे हम द्वेष करते हैं, वे सब अग्नि की ज्वालाओं को समर्पित हों। हे अग्नि ! तुम्हारा क्रोध उनको निगल जाय। १

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

अग्ने	हे अग्नि !
इमाः इष्टकाः	ये इष्टकाएँ
मे धेनवः सन्तु	मेरे लिए गायें हो।
एका च दश	एक और दश
च दश च शतं	और दस और सौ
च शतं च सहस्रं	और सौ और हजार होता है।
च सहस्रं च अयुतं	और हज़ार और दस हजार
च अयुतं च नियुतं	और दस हज़ार और लाख
च नियुतं च प्रयुतं	और लाख का दस गुना दस लाख होता है।
च अर्बुदं च न्यर्बुदं	और दस लाख का दस गुना करोड़, उसका दस गुना दस करोड़
च समुद्रः	और उसका दस गुना समुद्र अर्थात् अरब
च मध्यं	और उसका दस गुना दस अरब
च अन्तः	और उसका दस गुना खरब
च परार्द्धः	और उसका दस गुना दस खरब होता है।

[1] निगलना।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ओषधीभ्यो
वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पयः ।
तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणां अश्मँस्ते
क्षु२न्मयि त ऊर्ग्य३ द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥

मरुतः	हे मरुद्गण !	ऊर्जं	और वल को
संरराणाः	अन्न आदि को भरपूर देनेवाले (तुम)	नः धत्त	हमारे भीतर स्थापित करो।
अश्मन्	पाषाण में,	अश्मन्	हे सर्वभक्षक अग्ने !
पर्वते	पर्वत में	ते क्षुत्	तुमको क्षुधा प्राप्त हो,
शिश्रियाणां	रहनेवाले	ते ऊर्ग्य मयि	तुम्हारा सारभाग मुझमें रहे,
ऊर्जं	वल को (और)	ते शुक्	तुम्हारा शोक
अद्भ्यः	जलों से,	तं ऋच्छतु	उसको प्राप्त हो,
ओषधीभ्यः	ओषधियों से,	यं द्विष्मः	जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ १ ॥
वनस्पतिभ्यः	वनस्पतियों से		
अधि सम्भृतं	प्राप्त किये गये		
पयः	रस को तथा		
तां इषं	उस अन्न		

सप्तदश अध्याय

हे मरुत् ! अन्न आदिक के दाता तुम सुविदित।
उनके वल, रस, ऊर्जा हममें कर दो स्थापित ॥
पाषाणों में पर्वतों आदि में है जो वल।
जल, ओषधि और वनस्पति की रस-राशि सकल ॥
ऊर्जा इन सभी पदार्थों में जो है सुनिहित।
उन सबको स्थापित करो देव ! तुम हममें नित ॥
हे अग्नि ! सर्वभक्षक हो तुम सर्वदा प्रथित।
हवियाँ सव भक्षण करो हो रहीं जो अर्पित ॥
तुम क्षुधित रहो, हम करें तृप्ति का नित विधान।
तुम क्षुधित रहो, हम करे नित्य नव हवि-प्रदान ॥

ऋतावृधः	(तुम) सत्य की वृद्धि करनेवाली	विराजः नाम	विशेष तेजस्वी ऐश्वर्यों से युक्त,
ऋतवः स्थ	वसन्तादि ऋतु हो ।	कामदुघाः	कामनाओं को पूर्ण करनेवाली
ऋतावृधः	सत्य को बढ़ानेवाली	अक्षीयमाणाः स्थ	और क्षय-रहित हो ॥ ३ ॥
ऋतुष्ठाः	ऋतुओं में स्थित हो,		
घृतश्चुतः	घृत देनेवाली,		
मधुश्चुतः	मधु देनेवाली,		

इष्टके ! सत्यवर्धक वसन्तऋतु हो तुम।
यज्ञों का वर्धक ऋतुओं का क्रम हो तुम॥
ऋत-सत्य-प्रवर्धक ऋतुओं में हो संस्थित तुम।
ऋतुओं की प्रति गति-सृति में हो चिर व्यापृत तुम॥
घृतस्रावी हो नित नव ऊर्जा की दात्री।
मधुस्रावी हो मधुमय अमरत्व-प्रदात्री॥
अक्षीयमाण जो परम तत्त्व अविनश्वर।
वह व्यापृत है सबमें सर्वत्र निरंतर॥
ऋतुरूप इष्टकाओं में वही प्रकाशित।
सब कामप्रदात्री कामधेनुओं-सा नित॥ ३ ॥

टि०—ऋतुएँ अनंत विश्व-ब्रह्मांडों की रचना में प्रयुक्त की गई चिन्मयी इष्टकाएँ हैं। वसंतादि ऋतुओं का क्रम मनुष्यों को अपना जीवन चिन्मय, आनन्दमय, अमृतमय बनाने का आवाहन करता है। इस सतत परिवर्तनशील सृष्टि के परदे में अक्षीयमाण ऋत सत्यरूप शाश्वत सच्चिदानन्द-तत्त्व छिपा है। वह सैकड़ों कामधेनुओं के समान है। उसको प्राप्त करना चाहिए। ३

समुद्रस्य त्वाऽवक्रयाग्ने परि व्ययामसि।
पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव॥ ४॥

अग्ने	हे अग्नि !	अस्मभ्यं	हमारे लिए
समुद्रस्य	समुद्र के	पावकः	पवित्र करनेवाली
अवकया	शैवाल द्वारा	शिवः भव	तुम कल्याणकारी अग्नि होओ ॥ ४ ॥
त्वा	तुमको (मैं)		
परि व्ययामसि	सब ओर से वेष्टित करता हूँ।		

अग्ने	हे अग्नि !	अमुष्मिन् लोके	परलोक में
एताः इष्टकाः	ये इष्टकाएँ	मे	मेरे लिए
अमुत्र च	इस लोक में और	धेनवः सन्तु	कामधेऍ बनें ॥२॥

हे अग्नि ! इष्टकाएँ जिनसे त्रिभुवन निर्मित।
वे सब मेरे हित कामधेनुएँ बनें अमित ॥
एक ही दशगुणित होकर हो जाता है दश।
दश का दशगुण शत, शत का दशगुण बना सहस ॥
दशगुणित सहस है अयुत[1], वही दशगुणित नियुत[2]।
होता जब दशगुण नियुत, रचाना वही प्रयुत[3] ॥
दस गुना प्रयुत का हो करके बनता अर्बुद[4]।
अर्बुद का ही दस गुना बना करता न्यर्बुद[5] ॥
न्यर्बुद का ही दस गुना विदित है हुआ खर्व।
खर्व का दस गुना ही कहलाता है निखर्व ॥
दशगुन निखर्व का महापद्म है कहलाता।
है महापद्म दशगुणित शंकु संज्ञा पाता ॥
दशगुणित शंकु का है समुद्र, उसका दस गुना प्रसिद्ध मध्य।
दशगुणित मध्य है अन्त, अन्त होकर दशगुणित परार्द्ध सिद्ध ॥
भुवनों की रचना में होतीं जो नियत इष्टकाएँ योजित।
वे दैवी बल से होती हैं क्रमशः परार्द्ध तक संवर्धित ॥
हे अग्नि ! इष्टकाएँ ये सब हों कामधेनुएँ मेरे हित।
परलोक और इस लोक उभय में हों ये कामप्रपूरक नित ॥
तुमको अर्पित ये हवियाँ सब दशगुण क्रम से होतीं वर्धित।
जाकर परार्द्ध की सीमा तक जीवन करतीं आनन्द-भरित ॥ २ ॥

टि०—इस मंत्र में गणित की दशमलव प्रक्रिया, सम्यक् निरूपित है। दशमलव प्रणाली वैदिक ऋषियों की देन है। यह प्रणाली अब विश्वव्याप्त हो चुकी है। इस मंत्र में यह संकेत दिया गया है कि सत्कर्मों का अनुष्ठान दशगुणित क्रम से वृद्धि पाता है और लोक को आनंदित करता है। अग्नि में छोड़ी हुई आहुतियाँ जल, वायु और ओषधियों में मिलकर लोक का अनन्त कल्याण करती है। २

ऋतव॑ स्थ ऋतावृध॑ ऋतुष्ठा स्थ॑ ऋतावृध॑ः।
घृतश्चुतो॑ मधुश्चुतो॑ विराजो॑ नाम॑ कामदुघा अक्षी॑यमाणाः ॥ ३ ॥

---

१ दस हज़ार; २ लाख; ३ दस लाख; ४ करोड़; ५ दस करोड़।

थैला, दूसरा जीर्ण करनेवाला या गलानेवाला। दोनों अर्थों की सूक्ष्म छाया अनुवाद में है। ५

उप॒ ज्मन्नुप॑ वेत॒सेऽव॑ तर न॒दीष्वा।
अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि मण्डू॑कि॒ ताभि॒रा ग॑हि॒
सेमं नो॑ य॒ज्ञं पा॑व॒कव॑र्णꣳ शि॒वं कृ॑धि ॥ ६ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	मण्डूकि	हे मेंढकी ! (तुम)
ज्मन् उप अवतर	भूमि के ऊपर आओ,	ताभिः आ गहि	उन जलों के साथ
वेतसे उप	वेतस शाखा का		आगमन करो,
(अव तर)	आश्रय ग्रहण करो,	सा इमं	सो तुम इस
नदीषु आ	सब नदियो में भी	अस्माभिः	हमारे
(अव तर)	आश्रय ग्रहण करो,	यज्ञं	यज्ञ को
अपां	(क्योंकि तुम)	पावकवर्णं	पवित्र और
	जलो के	शिवं कृधि	मंगलकारी
पित्तं असि	तेजस्वरूप हो।		करो ॥ ६ ॥

हे अग्नि ! तेज हो तुम इस जग के जल के।
तोड़ो जड़ता के अन्ध बन्ध निस्तल[1] के ॥
आओ सब बन्ध तोड़ धरती पर आओ।
जड़ता पर चिति का प्लावन बनकर आओ ॥
है छोटी नदियों-सा जग-जन का जीवन।
तट तोड़ो उनके करो सतत विस्तारण ॥
वेतस[2] शाखा पर उनमें आश्रय लो तुम।
लघु को विराट् में परिवर्तित देखें हम ॥
मंडूकि[3] ! धरा पर सहित जलों के आओ।
तुम भाअस्वरूपा चितिरूपा हो आओ ॥
यह जीवन-यज्ञ हमारा हो अति पावन।
बरसो सरसी बनकर मंगल के चिद्घन[4] ॥ ६ ॥

टि०—जल जड़ का प्रतीक है—जड़ का अर्थ है असत्, अचित्, आनन्द का अभाव। इसमें परमात्मा की चित्शक्ति अंतर्निहित है। अग्नि के रूप में उसका आवाहन कर अनुरोध किया गया है कि वह धरती पर अवतरित हो। जड़ता के

१ गहराई; २ बेंत (यह पदार्थों के विस्तार का प्रतीक है), ३ हे मेंढकी; ४ चेतन बादल।

हे अग्नि ! असंख्यक लहरों से परिवेष्टित[1]।
गर्भ में महार्णव[2] के हो तुम संस्थित नित ॥
अवकाश अनन्त असीम चतुर्दिक् विस्तृत।
इसमें भी हो तुम देव ! विविध-विध व्यापृत ॥
तुम हो अनन्त, तुम अपरिसीम परमात्मन् !।
अति पावन, शिवमय कर दो जग का जीवन ॥ ४ ॥

टि०—मूल मंत्र में 'समुद्रस्य' और 'अवकया' बड़े अर्थगर्भित शब्द हैं। समुद्र का अर्थ सागर तो है ही, वह अनन्ततावाचक होने के कारण अनन्त आकाश के अर्थ में भी गृहीत हुआ है। 'अवकया' का अर्थ शैवाल अर्थात् सेवार है और अवकाश भी। परमात्मरूप अग्नि आकाश और महासमुद्र सबमें अवस्थित है। वह समुद्र में लहर-रूपी सेवार से घिरा है। वह हमको पवित्र करके हमारे लिए मंगलकारी हो। ४

हि॒मस्य॑ त्वा ज॒रायु॒णाऽग्ने॒ परि॑ व्ययामसि।
पा॒व॒को अ॒स्मभ्य॑ᳪ शि॒वो भ॑व ॥ ५ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	अस्मभ्यं	हमारे लिए
हिमस्य	हिम के	पावकः	पवित्र करनेवाली अग्नि
जरायुणा	जरायु द्वारा	शिवः भव	तुम कल्याणकारी बनो ॥ ५ ॥
त्वा	तुमको		
परि व्ययामसि	सब ओर से मैं संवेष्टित करता हूँ।		

हिम के जरायु[3] से अग-जग है यह वेष्टित[4]।
शैवल[5]-सा ऊपर सघन गगन है विस्तृत ॥
सबके भीतर हो तुम चितिरूप अवस्थित।
पावित्र्यविधायक[6] ! मंगलदायक हो नित ॥
हे अग्नि ! जीर्ण कर दो हिमजड़-आवेष्टन।
यह भंग करो तम-शैवलजनित[7] आवरण ॥ ५ ॥

टि०—यह बड़ा ही उदात्त और रहस्यमय मंत्र है। अग्नि परमात्मा का चिन्मय-रूप है। उसके चतुर्दिक् बर्फ जैसा संकुचित करनेवाला जड़ता का आवेष्टन है। उसके ऊपर जल को ढकनेवाले शैवाल या सेवार जैसा अज्ञान का दुर्भेद्य आवरण है। हे अग्निदेव ! हे परमात्मन् ! तुम इसे भग्न कर दो। तुम पवित्र करनेवाले, कल्याण करनेवाले हो। इस मन्त्र मे 'जरायु' शब्द के दो अर्थ हैं— एक खोल या

---

१ घिरा हुआ; २ महासमुद्र; ३ बर्फ की खोल अथवा बर्फ को गलाने वाला; ४ घिरा; ५ सेवार; ६ पवित्र करनेवाले; ७ अज्ञान रूपी सेवार।

पावक	हे शुद्ध करनेवाले !	मन्द्रया जिह्वया	हर्षित करनेवाली ज्वालाओं से
देव	दिव्यगुणसंपन्न	देवान् आ वक्षि	देवताओ को बुलाओ
अग्ने	हे अग्नि !	च यक्षि	और यज्ञ करो ॥८॥
रोचिषा	तेज से (और)		

हे देव ! दिव्य गुणगण से हो तुम मंडित।
हो परम चरम पावयिता[1] तुम अग्ने ! नित॥
फैले हे पावक ! तेज अनन्त तुम्हारा।
हर्षित ज्वालाओं का जव बढ़े तुम्हारा॥
उनसे सब देवों का आह्वान करो तुम।
उनसे सब यज्ञों को सम्पन्न करो तुम॥ ८ ॥

टि०—अग्निदेव परमात्मा के स्वरूप है, वे सब दिव्य गुणों के अधिष्ठान हैं और परम पवित्रताकारक हैं। उनसे अनुरोध किया गया है, वे सब देवताओं को बुलावें और यज्ञों को पूर्ण करते रहें। ८

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२ इहा वह।
उप यज्ञꣳ हविश्च नः॥ ९॥

पावक	हे पवित्र करनेवाले !	नः इह आ वह	हमारे इस यज्ञ में बुलाओ
दीदिवः	हे दीप्तिमान् !		
अग्ने	हे अग्नि !	च नः हविः	और हमारी हवि से
सः	वह तुम	यज्ञं उप (वह)	यज्ञ के निकट देवों को प्राप्त कराओ॥ ९॥
देवान्	देवताओं को		

हे अग्नि ! परम पावनकर्ता पावक हो तुम।
हे दीप्तिमान ! अयुतायुत[2] ज्योतिःस्रक्[3] हो तुम॥
इस यज्ञ में करो देवों का आवाहन तुम।
यज्ञ के निकट हे देव ! उन्हें ले आओ तुम॥
देखें वे हवियाँ जो उनके हित है संचित।
वे प्राप्त करे उन सबको हों नित तृप्त मुदित॥ ९ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे देवताओं को यज्ञ में बुलावें। उन्हें हवि के लिए की गई तैयारी दिखलावें जिससे वे तृप्त और प्रसन्न हो। ९

---

१ पवित्र करनेवाले; २ हज़ारों; ३ ज्वालाओं की मालावाला।

गहन अंतराल में अविद्या के बंधन जो है, उनको तोड़कर ही यह चित्शक्ति धरती पर आ सकती है। यह तभी संभव है, जब चिन्मय भावसत्ता में उद्वेलन हो। वह सक्रिय हो। मण्डूक या मण्डूकी भाव-समाधि की निश्चलता का प्रतीक है। चेतना का विस्तार हो और उसका उच्चतम भूमिका पर आरोहण हो, यही इस मंत्र में निर्दिष्ट है। नदियाँ जीवसत्ता का प्रतीक है और वेतस पदार्थों के विस्तार का। ६

अपामिदं न्ययनꣳ समुद्रस्य निवेशनम्।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको
अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ ७ ॥

इदं	यह अग्नि का स्थान	तपन्तु	तपायें।
अपां न्ययनम्	जलों का आश्रय	अस्मभ्यं	(तुम) हमारे लिए
समुद्रस्य	(और) समुद्र का	पावकः	पवित्रकारी
निवेशनम्	गृहरूप है।	शिवः भव	मंगलकारी
ते हेतयः	तुम्हारी ज्वालाएँ		होओ ॥ ७ ॥
अस्मत् अन्यान्	हमसे भिन्न लोगों को		

अग्नि ही अशेष जलों का है यह परम अयन[1]।
है वही सिंधु के गृह में करता सदा शयन ॥
यज्ञों के द्वारा प्राप्त उन्हीं से होता जल।
जल के अधीन हैं जीवन के सब मंगल-बल ॥
हे पावक! हमको करो सदा शुचिता प्रदान।
तुम करो हमारे हेतु सदा मंगल-विधान ॥
अपनी ज्वाला में पापी अरिगण करो दग्ध।
जो हैं अनात्मरत[2] जीवन जिनका स्वार्थ-शुद्ध[3] ॥ ७ ॥

टि०—अग्नि सब जलों को उत्पन्न करनेवाला है, उनका परम आश्रय है। अग्नि जल का जनक है। सब शक्तियाँ और कल्याण उनके आश्रित है। अतएव अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे सदैव मंगल प्रदान करें और शत्रुओं को पीड़ित करें। ७

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया।
आ देवान् वक्षि यक्षि च ॥ ८ ॥

---

१ घर; २ अज्ञान, अविद्या या जड़ता से युक्त; ३ स्वार्थमय।

नम॑स्ते हर॑से शो॒चिषे॑ नम॑स्ते अस्त्व॒र्चिषे॑ ।
अ॒न्याँस्ते॑ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑: पाव॒को
अ॒स्मभ्य॑ᳫं शि॒वो भ॑व ॥ ११ ॥

ते हरसे	(हे अग्नि !) तुम्हारी सब रसो का आकर्षण करने वाली	ते हेतयः	तुम्हारी ज्वालाएँ
		अस्मत् अन्यान्	हमसे भिन्न शत्रुओं को
		तपन्तु	तपावें ।
शोचिषे नमः	ज्वाला को नमस्कार है ।	अस्मभ्यं	(तुम) हमारे लिए
		पावकः	पवित्रताकारी
ते अर्चिषे	तुम्हारे तेज को	शिवः भव	कल्याणकारी होओ ॥ ११ ॥
नमः अस्तु	नमस्कार है ।		

जिसमें है सभी रसों का आकर्षण अपार।
हे अग्नि ! तुम्हारी उस ज्वाला को नमस्कार ॥
हे अग्नि ! तुम्हारे ज्वलित तेज को नमस्कार।
वह शत्रु हमारे सभी जलाकर करे क्षार ॥
पावित्र्यविधायक[1] पावक ! तुमको नमस्कार।
शिव बनो हमारे हेतु तुम्हें है नमस्कार ॥ ११ ॥

टि०—'भानु कृसानु सब, रस खाहीं', यह गोस्वामी जी की उक्ति है । इस मंत्र में भी यह कहा गया है कि अग्नि में सब रसों के लिए अनंत आकर्षण है । वे हमको पवित्र बनावें, हमारा कल्याण करें । ११

नृ॒षदे॒ वे॒—ड॑प्सु॒षदे॒ वेड्ब॒र्हि॒षदे॒ वेड्व॑न॒सदे॒ वेट्
स्व॒र्विदे॒ वेट् ॥ १२ ॥

नृषदे	(यह अग्नि) मनुष्यों में जठराग्नि-रूप से स्थित है ।	अप्सुषदे	जल के मध्य में यह वड़वाग्नि-रूप में निवास करता है ।
वेट्	इसे यज्ञाहुति के लिए बुलाया जाता है ।	वेट्	इसे आहुति के लिए पुकारकर बुलाया जाता है ।

१ पवित्र बनानेवाले ।

पा॒व॒कया॑ य॒श्चि॒तय॑न्त्या कृ॒पा
क्षाम॑न् रुरु॒च उ॒षसो॒ न भा॒नुना॑ ।
तूर्व॒न् न याम॒न्नेत॑शस्य॒ नू रण॒ आ
यो घृ॒णे न त॑तृषा॒णो अ॒जरः॑[1] ॥ १० ॥

यः	जो (अग्नि)	अजरः	बुढापा-रहित (अग्नि) है,
पावकया	पवित्र करनेवाली	एतशस्य	(वह) गमन-कुशल
चितयन्त्या	और चेतन बनाने वाली दीप्ति	यामन्	घोड़ों से कार्य करनेवाले,
कृपा	और शक्ति से	रणे तूर्वन्	युद्ध में शत्रु को मारनेवाले
क्षामन् रुरुचे	पृथ्वी पर शोभा पाता है,	न घृणे	जैसे प्रदीप्त अग्नि से
न उषसः	जैसे उषःकाल	नु आ	सब कुछ शीघ्र देदीप्यमान हो उठता है ॥ १० ॥
भानुना (रुरुचे)	अपनी किरणों से शोभा पाता है,		
यः ततृषाणः	जो पूर्णाहुति पाने की कामना करने वाला,		

धरती पर हैं ये अग्नि परम सामर्थ्यवान ।
करते हैं ये ही शुचिता का अतिशय विधान ॥
ज्यों उषःकाल होता रवि की छवि से शोभित ।
वैसे ही ये धरती की करते श्री वर्द्धित[1] ॥
ये अजर अग्नि यज्ञों में पूर्णाहुतिकामी[2] ।
देदीप्यमान निर्जर प्रकाश के हैं स्वामी ॥
ज्यों गमन-कुशल अश्व को वीर कर परिचालित ।
रिपु का धर्षण कर पाता रण में दीप्ति अमित ॥
वैसे ही अग्नि अविद्या को करके विदलित ।
बन ज्ञानसूर्य अन्तर में होते हैं शोभित ॥ १० ॥

टि० इस मंत्र में दो उपमाओं के द्वारा अग्निदेव की अज्ञान के अन्धकार को दूर करनेवाली श्री और शोभा का निर्देश किया गया है । १०

---

१ बढ़ी हुई शोभा वाला; २ यज्ञ में पूर्णाहुति पाने की कामना वाला ।

देवानां	देवताओं के मध्य में	भागं	यज्ञ के भाग को
यज्ञियाः	(जो) यज्ञ योग्य है,	उप आसते	स्वीकार करते
संवत्सरीणं	(वे) संवत्सर में होनेवाले		हैं ॥ १३ ॥

अहुताद[1] देवता प्राणरूप जो सुविदित।
मधु-घृत हवि आकर करे स्वयं वे स्वीकृत॥
इस यज्ञस्थल में वे करें कृपा पधारें।
मधु-घृत की हवि का भोग स्वयं स्वीकारें॥
यज्ञार्ह[2] देवगण में हों वे भी शोभित।
सांवत्सर ऋतुओं में आहुति पावें नित॥

× × ×

संन्यासी भी अहुताद देव ही हैं ये।
आभ्यंतर अग्नि सदा धारण करते वे॥
मधु-घृत अर्पित कर करें उन्हें हम सत्कृत।
वे हैं समाज के प्राण देवता वंदित॥ १३ ॥

टि०—देवता दो प्रकार के हैं। एक वे जो अग्नि में मंत्रों द्वारा विधिपूर्वक दी गई आहुति ग्रहण करते हैं। इन्द्र, मरुत्, वरुण आदि इस कोटि में आते हैं। दूसरे वे हैं जो स्वाहाकार के बिना अन्न भक्षण करते हैं। ये प्राणदेवता हैं। इनसे अनुरोध किया गया है कि वे यज्ञ में आकर स्वयमेव मधु-घृत की आहुति ग्रहण करें। संन्यासी को भी अहुताद देवता माना गया है। वे आभ्यंतर अग्नि वहन करते हैं। गृहस्थों का कर्तव्य है-वे उनका मधु-घृत आदि उत्तम भोज्य पदार्थों से सत्कार करें। श्रेष्ठ संन्यासीगण वेदज्ञान का प्रचार करते है। वे समाज के लिए प्रत्यक्ष देवता हैं। १३

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्
ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन
न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु ॥ १४ ॥

ये देवाः	जिस प्राणादि देवों ने	अस्य	इस
देवेषु	इन्द्रादि देवताओं में	ब्रह्मणः	आत्माग्नि के
देवत्वं अधि आयन्	देवत्व का अधिष्ठान किया है,	पुरः एतारः	आगे गमन करते हैं,
		येभ्यः ऋते	जिनके विना
ये	जो प्राण	किञ्चन धाम	कोई भी शरीर

१ बिना आहुति के रूप में अर्पित को खानेवाले; २ यज्ञ-योग्य।

बर्हिषदे	(यह अग्नि) यज्ञीय कुशादि में निवास करनेवाला है।	वेट्	(इसे) यज्ञाहुति के लिए बुलाया जाता है।
वेट्	यज्ञाहुति के लिए है।	स्वर्विदे	(यह अग्नि) स्वर्लोक में सूर्य के रूप में निवास करता है।
वनसदे	(यह अग्नि) वृक्षादि में दावाग्नि रूप में निवास करता है।	वेट्	(इसे) यज्ञाहुति के लिए बुलाया जाता है ॥ १२ ॥

ये अग्नि प्राणियों में जठराग्नि-रूप हैं स्थित।
ये प्राणरूप हैं, इनके हित आहुति अर्पित ॥
वे अग्नि महार्णव[1] में हैं वाड़व बन संस्थित।
उनकी प्रसन्नता के हित यह आहुति अर्पित ॥
जो वन के वृक्षों में दावानल-रूप निहित[2]।
उन अग्निदेव को प्रीति हेतु आहुति अर्पित ॥
जो स्वर्गलोक के हैं प्रधान आदित्य प्रथित।
उन अग्निदेव की प्रीति हेतु आहुति अर्पित ॥ १२ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि के विविध रूपों के प्रति भक्तिपूर्वक आहुति अर्पित करने का उपक्रम किया गया है। १२

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳪं
संवत्सरीणमुप भागमासते ।
अहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्त्स्वयं
पिबन्तु मधुनो घृतस्य[1] ॥ १३ ॥

ये देवा:	जो देवगण	अस्मिन् यज्ञे	वे हमारे इस यज्ञ में
अहुताद:	विना स्वाहाकार किये अन्न भक्षण करते हैं, वे प्राणरूप हैं।	मधुन: घृतस्य	मधु और घृत के
		हविष:	हविर्भाग को
		स्वयं पिबन्तु	स्वयं प्राप्त करें।
		यज्ञियानां	यजन करने योग्य

१ महासमुद्र; २ स्थापित।

अस्मत् अन्यान्	(हमसे भिन्न) हमारे अन्य शत्रुओं को	अस्मभ्यं	(और तुम) हमारे लिए
तपन्तु	पीड़ित करें।	पावकः	पवित्र करनेवाले एवं
		शिवः भव	कल्याणकारी होओ ॥ १५ ॥

प्राण, अपान, व्यान के दाता हो हे अग्नि ! महान।
बल के दाता, धन के दाता हो तुम महिमावान ॥
जीवन, बल, विज्ञान, ज्ञान, धन दो हमको हे देव !।
शस्त्र तुम्हारे शत्रुगणों को धर्षित करें सदैव ॥
हम लोगों की बाह्यान्तर[1] शुचिता का करो विधान।
नित नव-नव मंगल का हमको दो अभीष्ट वरदान ॥ १५ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि को प्राण, अपान, व्यान, बल और धन का दाता कहा गया है। प्राण जीवन है, अपान दुःख दूर करने का साधन है, व्यान का अर्थ है व्याप्त और विज्ञान प्रदान करनेवाला। इस मंत्र में अग्नि को पावक कहा गया, क्योंकि वे पावन करनेवाले हैं। १५

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्वं॒ न्य॒त्रिण॑म्।
अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम् ॥ १६ ॥

अग्निः	अग्नि	अग्निः नः	अग्नि हमको
तिग्मेन शोचिषा	तीक्ष्ण तेज द्वारा	रयिं वनते	ऐश्वर्य प्रदान करें ॥ १६ ॥
विश्वं अत्रिणं	सम्पूर्ण राक्षसों को		
नि यासत्	निःशेष रूप से नष्ट कर दें।		

ये अग्निदेव निज तिग्म[2] तेज से सहोत्साह।
विश्व के विघ्नकर राक्षसगण का करें दाह ॥
वे अग्निदेव ही दें हमको ऐश्वर्य अमित।
जो वर्द्धित होता रहे निरंतर नव हो नित ॥ १६ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि वे अधर्म की शक्तियों को नष्ट कर दें; धर्मपरायण जनों को नित्य नवीन ऐश्वर्य प्रदान करें। १६

---

१ बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की पवित्रता; २ तीक्ष्ण।

न पवते	चेष्टा नहीं कर सकता है,	न पृथिव्यां	न पृथ्वी में है,
ते न दिवः	वे प्राण न द्युलोक में है,	स्नुषु अधि (आयन्)	किन्तु) वे प्रत्येक इन्द्रिय में हैं ॥१४॥

जिन प्राणों ने है किया प्राप्त देवत्व-भाव।
आत्माग्नि का पुरःगमन[1] सदा जिनका स्वभाव॥
जिनके अभाव में होते हैं निश्चेष्ट देह।
जिनकी सत्ता के बिना सभी तन मात्र खेह[2]॥
दिव के अथवा धरती के वासी वे न प्राण।
वे हैं शरीर की प्रति इन्द्रिय में वर्तमान॥

× × ×

जानते ईश को यथारूप जो योगीजन।
होता दिक्कालातीत[3] सदा उनका जीवन॥
वे जीवन्मुक्त बलाहक-गति[4] करते विचरण।
रहते हैं पर-उपकार-निरत प्रतिपल प्रतिक्षण॥ १४॥

टि०—यह मंत्र दो अर्थों वाला है। पहला प्राणों की महत्ता बतलाता है। पूर्ववर्ती मंत्र में भी प्राणों को देवता कहा गया है। वे अहुताद देवता है। उन्होंने देवत्व प्राप्त कर लिया है। वे आत्मज्ञान के आगे-आगे चलते हैं। वे आकाश में या धरती पर नहीं रहते। वे प्रत्येक इन्द्रिय में निवास करते है। 'इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना, तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।' दूसरा अर्थ है, जो योगीजन परमात्मा को यथारूप जानते हैं, उनका जीवन त्रिकालाबाधित निरुपाधि परमसत्य परमेश्वर के साक्षात्कार के फलस्वरूप दिक्कालातीत हो जाता है। वे संसार में सर्वत्र परोपकार के लिए विचरण करते है। १४

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको
अस्मभ्यंꣳ शिवो भव॥ १५॥

प्राणदाः	(हे अग्ने! तुम) प्राण के देनेवाले,	वर्चोदाः	बल के दाता,
अपानदाः	अपान के देनेवाले,	वरिवोदाः	धन के दाता हो।
व्यानदाः	व्यान के देनेवाले,	ते हेतयः	तुम्हारे शस्त्रास्त्र

१ आगे चलना; २ मिट्टी; ३ देशकाल से परे; ४ मेघो की तरह गतिमान।

करते हुए कहा है, वे परमेश्वर सबके पिता हैं, पालक हैं। वे सर्वव्यापक हैं, स्वयं परम चरम सर्वज्ञ हैं, वे ही प्रलयकाल में सब कुछ आत्मलीन कर लेते हैं। देनेवाले और लेनेवाले सब कुछ वही है। मंत्र में उन्हें 'द्रविणं इच्छमानः प्रथमच्छत...' आदि कहा गया है। इसका एक अर्थ यह किया गया है कि उनकी सिसृक्षा या सृजनेच्छा जगद्रूप धन का निर्माण करती है। दूसरा अर्थ यह है कि वे यज्ञ का फल प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को धन देते हैं, जिसके द्वारा वे यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। १७

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमत्स्वित्कथाऽऽसीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि
द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ १८ ॥

कि स्वित्	(सृष्टि के पूर्व) क्या आश्चर्यरूप
अधिष्ठानं	आश्रय
आसीत्	था ?
आरम्भणं	सृष्टि-रचना का आरंभिक
कतमत् स्वित्	मूल द्रव्य क्या था ?
कथा आसीत्	किस दशा में था ?
यतः विश्वकर्मा	जिससे विश्वकर्ता ने
भूमिं जनयन्	भूमि को उत्पन्न किया,
महिना	महान सामर्थ्य से
विश्वचक्षाः	जगत को साक्षात् देखनेवाला (वह)
द्यां	द्युलोक को
वि और्णोत्	विशेष रूप से व्याप्त करता है ॥ १८ ॥

सृष्टि-रचना के प्रथम था कौन ? कौन था आधार, आश्रय कौन ? ।
कौन था वह मौल[1] द्रव्य महान, हुआ जिससे संसरण[2] गतिमान ? ।
किस तरह की थी दशा उसकी, सृष्टि है यह सर्जना जिसकी ।
किया जिसने भूमि का निर्माण, और दिव का तान दिया वितान[3] ।
उपादान निमित्त कारण एक, वही अद्वय तत्त्व बना अनेक ।
स्वयं से ही ऊर्णनाभ[4] समान, रचा उसने विश्व महिमावान ।
उसी में फिर किया स्वयं प्रवेश, व्याप्त उससे देश-काल अशेष ।
विश्वकर्मा शक्तिमान अनन्य, सर्वदा सर्वत्र है वह धन्य ।
वही थे, है वही केवल, रहेंगे भी वही केवल ।
विश्वसृज[5], विश्वात्मा वह विश्व[6] और अविश्व[7] है वह ।
अज, अनादि, अनन्त है वह, ज्ञेय है वह ध्येय अहरह ॥ १८ ॥

१ मौलिक, आरम्भिक; २ सृष्टि; ३ शामियाना; ४ मकड़ी; ५ विश्व की रचना करनेवाले; ६ विश्व के रूप में प्रकट; ७ विश्व से भिन्न ।

य इमा विश्वा भुवनानि
जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः
प्रथमच्छदवराँ२ आ विवेश॥ १७॥

यः नः	जो हमारा	सः आशिषा	वह अपने आशीर्वाद के बल से
पिता	पालक परमेश्वर	द्रविणं इच्छमानः	धन प्राप्त करने की कामना पूर्ण करता हुआ
इमाः	इन	प्रथमच्छत्	सबको अपने अधीन करके
विश्वा भुवनानि	सब लोकों का	अवरान् आ विवेश	सब भूतों में व्यापक होकर विद्यमान रहता है ॥ १७ ॥
जुह्वत	प्रलयकाल में संहार करके		
ऋषिः होता	स्वयं ज्ञानवान और देवताओं का आह्वान करनेवाला होकर		
नि असीदत्	विराजता है,		

हे मानव ! जानो, तुम परमेश्वर को जानो।
जानो सम्यक् उनके स्वरूप को पहचानो॥
वे ज्ञानरूप साक्षात्कृतधर्मा[1] हैं अनन्य।
दाता-आदाता[2] सकल पदार्थों के वरेण्य॥
हैं सब भुवनों में व्याप्त निरंतर सबमें स्थित।
सब लोकों के धारणकर्ता हैं वे सच्चित्[3]॥
वे ही हैं पिता हमारे अग-जग के रक्षक।
सब हैं उनके अधीन उनसे शासित सम्यक्॥
वे प्रलयकाल में करते सब जग आत्मलीन।
वे एकमेव वे अद्वितीय अच्युत अक्षीण[4]॥
उनकी सृजनेच्छा से होता है जगद्रूप धन का सर्जन।
मखफलरूप सिद्धि पाने को देते वे याजक को धन॥ १७॥

टि०—इस मंत्र में द्रष्टा ऋषि ने मानव-जाति को भगवान के स्वरूप को जानने और पहचानने का निर्देश दिया है। जो अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार करनेवाला और सर्वज्ञ होता है, उसी को ऋषि कहते है। ऋषि ने भगवान के स्वरूप का स्पष्टीकरण

१ सबको साक्षात् देख लेने की शक्ति से सम्पन्न; २ देनेवाले और लेनेवाले; ३ सत् और चित्; ४ क्षीण न होनेवाला।

वह निरालम्ब आलम्बन है वह सबका।
वह एकमेव[1] कोई न सहायक उसका ॥
वह ही उपास्य है सबका, सबका रक्षक।
सब प्रेय-श्रेय वह, ज्ञेय-ध्येय वह सम्यक् ॥ १९ ॥

टि०—परमेश्वर सर्वशक्तिमान है, वह सर्वत्र विराजता है। देखने-सुनने, खाने-पीने, चलने-फिरने आदि की सब शक्तियाँ उन्हीं की हैं। गीता में अर्जुन को भगवान् ने अपने जिस विराट्‌रूप या विश्वरूप का दर्शन करवाया था, उसका निर्देश इस मंत्र में है— "अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप !" १९

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥ २० ॥

किं स्विद्	कौन-सा आश्चर्यरूप,	मनीषिणः	हे विवेकी पुरुषो !
वनं	सबके भजन-सेवन करने योग्य मूल कारण है ?	मनसा	मन की सहायता से
		तत् पृच्छत	उस मूल कारण के संबंध में जिज्ञासा करो,
कः उ सः	और वह कौन-सा		
वृक्षः आस	वृक्ष है,	यत् भुवनानि	जो भुवनों को
यतः	जिसमें से	धारयन्	धारण करता हुआ
द्यावा पृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी को	अधि अतिष्ठत्	अध्यक्षरूप से शासन कर रहा है ॥२०॥
निः ततक्षुः	परमेश्वर ने निकाला और गढ़ा है ?		

कौन वह अटवी[2], बताओ कौन है अद्भुत विटप[3] यह ?।
छोल-गढ़कर रचा जिसको विश्वकर्मा ने जगत् यह ॥
कौन वह भजनीय कारण तत्त्व-मूल महान ?।
किया जिसने प्रकट यह जग ऊर्णनाभ समान ॥
मननशील मनीषियो ! हे योगियो मतिमान !।
करो जिज्ञासा, उसी का करो अनुसंधान[4] ॥

---

१ एक ही अकेला; २ वन; ३ वृक्ष; ४ खोज।

टि०—यह मंत्र परमेश्वर और विश्व के पारस्परिक सम्बन्ध का मूल-रूप में निरूपण करनेवाला महान मंत्र है। इसमें बताया गया है कि सृष्टि के पूर्व केवल भगवान ही थे। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इस सृष्टि के निमित्त और उपादान दोनों कारण स्वयं भगवान है। जिस तरह से मकड़ी अपने भीतर से जाला पैदा करती है और उसी में अपने को आच्छादित कर लेती है, वैसे ही परम शक्तिमान परमेश्वर ने अपने भीतर से ही सृष्टि उत्पन्न की और फिर वे उसी में प्रविष्ट हो गये। जहाँ सृष्टि है और जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ भी वे भगावान ही हैं। जो था, जो है और जो प्रलय के बाद बचा-रहेगा, वह सब भगवान ही हैं। उनके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है। यही ध्यान करने योग्य है, जानने के योग्य भी यही है। इस मंत्र में पहले प्रश्न है, फिर उसका उत्तर है। १८

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी
जनयन् देव एकः ॥ १९ ॥

विश्वतः चक्षुः	(वह) परमेश्वर सर्वत्र आँख वाला	द्यावा भूमी	द्युलोक और पृथ्वीलोक को
उत विश्वतः मुखः	सब ओर मुख वाला	जनयन्	प्रकट करता हुआ
विश्वतो बाहुः	सब ओर बाँहों वाला	पतत्रैः	प्रगतिशील परमाणुओं से
उत् विश्वतः पात्	और सब ओर चरणों वाला है।	सं धमति	संसार को सुव्यवस्थित करता है ॥ १९ ॥
बाहुभ्यां	वह बाँहों से		
एकः देवः	एक अद्वितीय देव		

सर्वत्र विराजे विश्वरूप परमेश्वर।
विश्वतश्चक्षु हैं कोटि-कोटि लोचनधर॥
सब ओर प्रकट उनके अयुतायुत आनन[1]।
गतिमान उन्हीं के चरण करोड़ों प्रतिक्षण॥
उनकी अनन्त बाँहों का अतुल पराक्रम।
प्रकटाता द्यावा-पृथिवी का रचना-क्रम॥
परमाणु प्रकृति के जो गतिशील निरंतर।
उत्थान-पतन सुघटन-विघटन में तत्पर॥
उनका नियमनकर्ता है वह परमेश्वर।
सबमें व्यापक वह अनाद्यन्त[2] अविनश्वर॥

१ हजारों मुख; २ जिनका आदि-अन्त नहीं।

विश्वकर्मन्! श्रेष्ठ कर्मों के विधायक ईश।
हविर्लक्षण[1] अन्नवान महान हे जगदीश! ॥
है तुम्हारे श्रेष्ठ, मध्यम, अधम त्रिविध स्थान।
नाम उन सबके सभी के मूल जन्मस्थान ॥
मित्रजीवों को प्रदर्शित सदा करते देव।
भर रहे हो उन सभी में एकरूप सदैव ॥
है शरीरो में हमारे प्राण-अनल समिद्ध[2]।
अन्न की हवि दे उसे तुम करो सदा समृद्ध ॥
विश्वरूपी महाक्रतु[3] के हो तुम्हीं यजमान।
दर्शनीय सतत तुम्हारा यज्ञकर्म महान ॥ २१ ॥

टि०—इस मंत्र मे भगवान को विश्वकर्मा और 'स्वधावः' कहा गया है। विश्वकर्मा का अर्थ है, विश्व का रचयिता और सब श्रेष्ठ कर्मो का करनेवाला है। संसार के उत्तम मध्यम, अधम आदि सभी प्रकार के स्थान उनसे परिपूर्ण है। वस्तुतः उन्होने विश्व की रचना कर एक अनवरत चलनेवाले महान यज्ञ का अनुष्ठान किया है। सब शरीरों में प्राण-रूपी अग्नि किंवा वैश्वानर प्रज्वलित है, उसमें वे ही निरन्तर अन्न की हवि देकर सब शरीरों का पोषण करते है। उनका यह निरंतर चलनेवाला महान यज्ञ दर्शनीय है और मानवमात्र के लिए अनुकरणीय है। २१

विश्व॑कर्मन् ह॒विषा॑ वावृधा॒नः
स्व॒यं य॑जस्व पृ॒थि॒वीमु॒त द्याम्।
मुह्य॑न्त्व॒न्ये अ॒भितः॑ स॒पत्ना॑
इ॒हास्माकं॑ म॒घवा॑ सू॒रिर॑स्तु ॥ २२ ॥

विश्वकर्मन्	हे विश्व के कर्ता परमात्मा!	स्वयं यजस्व	स्वयं यजन करो।
हविषा वावृधानः	मेरे द्वारा अर्पित हविरूप अन्न से वृद्धि को प्राप्त और प्रसन्न होते हुए	अभितः	सब ओर से
		अन्ये सपत्नाः	दूसरे शत्रु
		मुह्यन्तु	मोह को प्राप्त हों।
		इह	इस यज्ञ में
पृथिवीं उत द्याम्	पृथ्वी और द्युलोक के अपने आश्रित जीवों के लिए	मघवा	इन्द्र
		अस्माकं	हमारे लिए
		सूरिः अस्तु	उपदेशक विद्वान हो ॥ २२ ॥

१ आहुति देने योग्य; २ प्रज्वलित; ३ महान यज्ञ।

सकल भुवनों को वही करता सदा धारण।
प्रभु सभी का, कर रहा सब पर वही शासन॥
कौन है वह? कहाँ करता वास है वह?।
कर्म की सृति[1] कौन - सी रचता सदा वह?॥
करो उसका सतत अनुसंधान।
मननशील मनीषियो! हे योगियो मतिमान!॥ २०॥

टि०—यह मंत्र प्रश्नरूप में है। वह कौन-सा जंगल है? उसमें यह कौन-सा वृक्ष उगा है, जिसको काटकर, गढ़-छीलकर परमात्मा ने इस अनंत नामरूपात्मक जगत् की रचना की है? वह कौन-सा वृक्ष है, जिसके काष्ठ से ये पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोकादि रचे गये हैं? वह कारण तत्त्व कौन है, जिससे यह कार्यरूप भूतसंघों-सहित अनेकानेक भुवनों की रचना हुई है? मननशील मुनियों और योगियों को इस पर विचार करना चाहिए कि किसने अपने भीतर से ही मकड़ी के जाले की तरह इस विश्व की रचना की है। वह कौन है? कहाँ रहता है? उसके कर्मों का स्वरूप क्या है? उसके कर्मों की प्रेरणा का स्वरूप क्या है? इस मंत्र में वन और वृक्ष के रूपक का प्रयोग किया गया है। वन मूलभूत कारण का प्रतीक या उपलक्षण है और वृक्ष उसके कार्य का। २०

या ते धामा॑नि प॒रमा॒णि या॒ऽव॒मा
या म॑ध्य॒मा वि॑श्वकर्मन्नु॒तेमा।
शिक्षा॒ सखि॑भ्यो ह॒विषि॑ स्वधावः
स्व॒यं य॑जस्व त॒न्वं॑ वृधा॒नः॥ २१॥

विश्वकर्मन्	हे संसार के कर्ता!	सखिभ्यः शिक्षा	हम मित्ररूप आज्ञा-पालक जीवों को उन्हें तुम प्रदर्शित करो या उपदेश करो।
स्वधावः	हे बहुत धारणा-शक्ति से युक्त परमेश्वर!	तन्वं वृधानः	(तुम) हम जीवों के शरीर की वृद्धि करते हुए
या ते परमाणि	जो तुम्हारे उत्कृष्ट,	हविषि	योग्य अन्नादि से
अवमा मध्यमा	सूक्ष्म और बीच के	स्वयं यजस्व	स्वयं यजन करो॥ २१॥
उत इमा धामानि	और इन सबके आधारभूत नाम तथा जन्मस्थान हैं,		

1 कर्म की परंपरा या गति-विधि।

उस परमेश्वर का आवाहन करें आज हम विजय-प्राप्ति हित ।
उस देवासुर-महायुद्ध में बाहर-भीतर जो चलता नित ॥
धर्म-अधर्म, ऋत-अनृत का है छिड़ा हुआ यह जो दारुण रण ।
वे परमात्मा ही करते है इसमें धर्मव्रती का रक्षण ॥
प्रेमाह्वान हमारे करते रहते हैं प्रभु श्रवणसमुत्सुक ।
उनके प्रति हम रहें समर्पित, उनके प्रति हम रहें योगयुक्[1] ॥ २३ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, दैवी-आसुरी शक्तियों के निरंतर प्रवर्तमान युद्ध में परमेश्वर की शक्ति का आवाहन करके ही विजय प्राप्त की जा सकती है । इसलिए यह मंत्र बाहरी-भीतरी सब युद्धों में परमेश्वर की शक्ति का आवाहन करने का आदेश देता है । परमात्मा को मन की गति वाला अर्थात् 'मनोजव' कहा गया है । यह विशेषण आगे कर हनुमान जी का पर्याय जैसा बन गया है । सत्य और असत्य के, धर्म और अधर्म के चले युद्ध में परमात्मा सदैव धर्म और सत्य का पक्ष लेकर उसे विजयी बनाते हैं । वे हमारी प्रेमपूर्ण पुकार सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं । २३

विश्व॑कर्मन् ह॒विषा॒ वर्ध॑नेन त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मकृणोरव॒ध्यम् ।
तस्मै॒ विश॒ः सम॑नमन्त पू॒र्वीर॒यमु॒ग्रो वि॒ह॒व्यो॒ यथाऽस॑त् ॥ २४ ॥

विश्वकर्मन्	हे संपूर्ण कर्मों को करनेवाले परमेश्वर !	**तस्मै**	उस इन्द्र के सामने
वर्धनेन हविषा	बढ़ानेवाले हविदान द्वारा (तुमने)	**पूर्वीः विशः**	सब प्रजाएँ
इन्द्रं	इन्द्र को	**समनमन्त**	झुकती हैं ।
त्रातारं	जगत् का रक्षक,	**अयं**	यह इन्द्र
अवध्यं अकृणोः	(और)अवध्य बनाया है ।	**यथा उग्रः**	उग्र वीर जैसा
		विहव्यः	विशेष रूप से बुलाने योग्य
		असत्	हुआ है ॥ २४ ॥

सतत वृद्धिकारी[2] हवियाँ जो तुम्हें इन्द्र ने की हैं अर्पित ।
हे परमेश्वर ! हुए उन्हीं से वे अवध्य जग के त्राता नित ॥
तुमने गौरव दिया इन्द्र को, विश्व सकल उनके सम्मुख नत ।
उग्रवीर[3] आह्वान योग्य हैं वे ही सब कार्यो में संतत ॥ २४ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बताया गया है कि इन्द्र को जो प्रभुता प्राप्त है वह सब परमेश्वर का कृपा-प्रसाद है । वे शतक्रतु कहे गये है । इसका अर्थ यह है कि सैकड़ों

---

१ योगयुक्त होकर, तल्लीन होकर. २ बढ़ानेवाली; ३ महान उग्रकर्मा योद्धा ।

हविरूप अन्न यह ग्रहण करो हे भगवन् ! ।
हम पर प्रसन्न हो विश्वकर्म परमात्मन् ! ॥
अपने इस क्रतु में करता मैं हवि अर्पित ।
उससे प्रसन्न हो रहो निरंतर वर्धित ॥
तुम यजन करो स्वयमेव धरित्री के हित ।
धरती-द्युलोक पर आश्रित जितने प्राणी ॥
हो यज्ञक्रिया यह उनके हित कल्याणी ।
हों शत्रु हमारे मोहित और पलायित[1] ।
मघवा दें हमको आत्मज्ञान-दीक्षा नित ॥ २२ ॥

टि०—इस मंत्र में परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि आप हमारे यज्ञ में पधारें। हमारे द्वारा अर्पित हवियों से प्रसन्न होकर स्वयं यज्ञ करें। पृथ्वी और द्युलोक पर आश्रित सब प्राणियों का कल्याण हो। हमारे शत्रु मोह को प्राप्त होकर देश छोड़कर चले जाएँ और इन्द्र तथा उसी श्रेणी के बड़े-बड़े विद्वान हमें आत्मज्ञान की दीक्षा देने के लिए आते रहें। २२

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि
जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ २३ ॥

अद्य वाजे	आज युद्ध में,
वाचस्पतिं	वेदवाणी के रक्षक,
मनोजुवं	मन के समान वेगवान,
विश्वकर्माणं	सब कर्मों में विश्वस्रष्टा परमात्मा को
ऊतये हुवेम	अपनी रक्षा के लिए हम बुलाते हैं।
सः विश्वशम्भूः	वह विश्व का कल्याण करनेवाला और
साधुकर्मा	उत्तम कर्मों का कर्ता
नः विश्वानि	हमारे सब
हवनानि	आवाहनों को
अवसे जोषत्	रक्षा करने के लिए सप्रेम सुनता है ॥ २३ ॥

प्राणरूप जो इन्द्ररूप जो करता वेदगिरा[2] का पालन ।
मन की गति से धावमान[3] हो करता जो भक्तों का रक्षण ॥
परम साधुकर्मा करता रहता जग का कल्याण निरंतर ।
उद्भव, रक्षा और प्रलय के कार्य सकल हैं जिसके सुखकर ॥

---
१ भागे हुए, २ वेदवाणी; ३ दौड़ते हुए।

तत्पश्चात् चक्षु आदि इन्द्रियों के पालक परमेश्वर ने इस द्यावापृथिवी को दृढ़ता प्रदान करने के लिए जल की सृष्टि की। उन्होंने मेघों की रचना की, मेघों ने जल की वृष्टि के द्वारा धरती को सस्यसंपन्न और सुखी बनाया। २५

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया
धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा
सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥ २६ ॥

विश्वकर्मा	(हे मानवो! जो) परमेश्वर विश्व का रचयिता है,	आत् यत्र	और जिसमें
विमनाः	(जो) अनेक प्रकार के विशेष मननीय ज्ञान से युक्त,	सप्त ऋषीन्	पाँच इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन इन सात को प्राप्त होकर
विहायाः	विविध प्रकार के पदार्थों से व्याप्त,	इषा	इच्छा से (जीव)
धाता	सबका धारण-पोषण करनेवाला,	सं मदन्ति	अनेक प्रकार के आनंद को प्राप्त होते हैं
विधाता	सृष्टि का रचनेवाला,	उत् तेषां	और उन जीवों को
सं दृक्	सर्वद्रष्टा, (वह परमात्मा)	परमा इष्टानि	परमोत्तम अभीष्टों की जो प्राप्ति कराता है (उस परमात्मा की उपासना करो) ॥ २६ ॥
परः	सबसे उत्तम है,		
एकं आहुः	जिसको एक अद्वितीय कहते हैं		

मानवो! करो परमेश्वर का आराधन।
सर्वस्व करो उनको अपना तुम अर्पण॥
वे निखिल विश्व के कर्ता अंतर्यामी।
वे हैं विशिष्ट मन[1] और ज्ञान के स्वामी॥
चर-अचर सभी में व्यापक हैं वे ही विभु।
सबके धारण-पोषणकर्ता है वे प्रभु॥

१ जो सामान्य जड़ मन से सर्वथा भिन्न है। इसको हम अतिमानस या अधिमानस कह सकते हैं।

यज्ञों का अनुष्ठान कर उन्होंने भगवान को प्रेमपूर्वक जो हवियाँ अर्पित कीं, उनसे प्रसन्न होकर ही परमात्मा ने उन्हें अवध्य और विश्वपति बना दिया। २४

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो
घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्
द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २५ ॥

यदा	जिस समय	अप्रथेताम्	विस्तार हुआ।
इत् पूर्वे	पूर्व महर्षियों ने	चक्षुषः पिता	चक्षु आदि इन्द्रियों के पालक परमात्मा ने
अन्ता	द्यावापृथिवी के आन्तरिक देशों को	मनसा धीरः हि	मन की शक्ति से धैर्ययुक्त होकर
अददृहन्त	दृढ़ किया,	एने नम्नमाने	इन नममान द्यावा-पृथ्वी के भीतर
आत् इत्	उसके अनन्तर	घृतं अजनन्	जल को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥
द्यावापृथिवी	द्युलोक और पृथ्वी का		

जब हुआ पूर्व ऋषियों के तप-बल का प्रसार।
द्यावा-पृथिवी के मर्म हुए तब दृढ़ अपार॥
तदनंतर ही वे उभय लगे होने विस्तृत।
नेत्रादि इन्द्रियों के तब पिता[1] हुए व्यापृत[2]॥
कर लिया समाहित अपना मन संकल्पशील।
रोदसी-मध्य प्रकटाये नित नव घन सलील॥
परमेश्वर ने की वृष्टि, सृष्टि दृढ़ हुई सकल।
नममान धरा-दिव में प्रकटे जलस्रोत अकल[3] ॥ २५ ॥

टि०—इस मंत्र में पूर्ववर्ती ऋषियों का निर्देश किया गया है, जिन्होंने द्यावापृथिवी के अंतर्प्रदेशों को दृढ़ किया। ये ऋषि कौन थे? श्रीमद्भागवत में उल्लेख है, ब्रह्मा ने सबसे पहले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक चार ऋषि उत्पन्न किये। वे निवृत्तिपरायण थे, प्रजोत्पादन में उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। इसलिए उन्होंने दस और ऋषि उत्पन्न किये, जिनके नाम है मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद। इन ऋषियों ने ब्रह्मा जी के द्वारा संकल्पित सृष्टि-परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके द्वारा द्यावापृथिवी को दृढ़ता मिली, उनका विस्तार हुआ।

---

१ परमेश्वर; २ क्रियाशील; ३ दिव्य।

हैं पिता जनयिता[1] एक वही परमेश्वर।
सबके धारणकर्ता हैं वे विश्वंभर॥
सब धामों के भुवनों के हैं वे ज्ञाता।
सब जातमात्र[2] के भूतमात्र[3] के त्राता॥
वे एकमेव हैं अद्वितीय सर्वेश्वर।
बहु सुर-नामों में वाच्य वही देवेश्वर॥
सब देव उन्हीं की अंश-कला हैं वंदित।
सब नामों में हैं वही एक अभिनंदित॥
परिप्रश्न परस्पर करो उन्हें तुम जानो।
सब लोकों के वे ईड्य, उन्हें पहचानो॥ २७॥

टि०—परमेश्वर सबके पिता, सबके जन्मदाता और सर्वज्ञ हैं। सब देवताओं के रूप में और उनके नामों के द्वारा वही एक वाच्य है। उनके सम्बन्ध में लोग परस्पर संप्रश्न करें और उनको जानने का प्रयत्न करें। गीता में भी कहा गया है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' २७

त आऽयंजन्त द्रविंणꣳ समस्मा
ऋषंयः पूर्वें जरितारो न भूना।
असूर्तें सूर्तें रजंसि निषत्ते ये
भूतानिं समकृंण्वन्निमानिं॥ २८॥

ते पूर्वे ऋषयः	वे प्राचीन ऋषिगण	ये	जो
जरितारः न	स्तुति करनेवालों के समान	असूर्ते सूर्ते	अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष
अस्मै	इस ईश्वर को	निषत्ते रजसि	रजोगुण में रहकर
द्रविणं	बहुत ऐश्वर्य और धन	इमानि भूतानि	इन भूतों को
सं आयजन्त	सम्यक् समर्पित करते थे,	सं आ कृण्वन्	विशेष रूप से उत्पन्न करता है॥ २८॥

पूर्व के ऋषीश्वर स्तुतिकर्ताओं के समान।
ऋतु में करते ईश्वर को अर्पित धन महान॥

---

१ जन्म देनेवाले; २ जो भी पैदा हुए है; ३ सब प्राणी।

स्रष्टा हैं, सबके द्रष्टा वे परमोत्तम।
वे अद्वितीय हैं एक एकरस अनुपम॥
जिनको पाकर सप्तर्षि मोद हैं पाते।
अभिलषित प्राप्त कर तप निज सफल बनाते॥
इन्द्रियाँ पाँच, मन, बुद्धि सात ये संतत।
उनको पाकर होते हैं दिव्य भावगत॥
आनंद इष्ट करते वे प्राप्त निरंतर।
इन्द्रियातीत में रमते हैं जीवन-भर॥
वे परमेश्वर सब जीवों के सुखदाता।
आराध्य, उपास्य, शरण्य वही हैं त्राता॥ २६॥

टि०—इस मंत्र में मानवों को संबोधित कर परमेश्वर के सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वभर्तृत्व आदि गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। बल देकर कहा गया है, वे ही उपास्य और आराध्य है। 'भक्तानेव पश्यति तस्माद्भक्तिः कार्येति' —महीधर। वह भक्तों को ही देखता है, इसलिए उनकी भक्ति करनी चाहिए। इस मंत्र में सप्तर्षि शब्द का द्व्यर्थक प्रयोग है। वे सप्तर्षि अर्थात् सात प्रसिद्ध ऋषि भगवान को प्राप्त कर अभीष्ट आनन्द प्राप्त करते हैं। सप्तर्षि का अर्थ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि भी है। ये सातों भगवान की आराधना से चैतन्यस्वरूप प्राप्त करते हैं। भगवान भक्तों की चैतन्यात्मक इन्द्रियों में ही प्रतीयमान होते हैं— 'प्रतीयते भक्तानां चैतन्यात्मकेषु इन्द्रियेषु।' २६

यो नः॑ पि॒ता ज॑नि॒ता यो वि॑धा॒ता
धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यो दे॒वानां॑ नाम॒धा एक॑ ए॒व तꣳ
स॑म्प्र॒श्नं भुव॑ना यन्त्य॒न्या॥ २७॥

यः नः	जो हमारा	वेद	जानता है,
पिता जनिता	पालक और जन्म-दाता है,	यः एकः एव	जो एक ओंकार ही
यः विधाता	जो हमारा विशेष रीति से धारण करनेवाला है,	देवानां नामधाः	अनेक देवताओं के नाम धारण करना है,
विश्वा	जो संपूर्ण	अन्या भुवना	दूसरे भुवन
धामानि	स्थानों और	सं प्रश्नं तं यन्ति	उस प्रशंसनीय (परमात्मा को) प्राप्त होते हैं
भुवनानि	लोकों को		

उपास्य हैं। उनके ब्रह्मा, परमात्मा और भगवान तीन रूप हैं। इस मंत्र में भगवान के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे मिलता-जुलता वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् जल में डूबा हुआ था, 'उदाप्लुतं विश्वमिदं तदाऽसीत्।' जब ब्रह्मा उत्पन्न हुए, तो वे जान नहीं सके कि उनको उत्पन्न करनेवाला कौन है। जब उन्होंने दिव्य सौ वर्षों तक तपस्या की, तब उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने उस परमतत्त्व को देखा। (भागवत स्कंध ३, अध्याय ८, श्लोक सं० २२-२३ आदि)। भगवान जल में रहने के कारण ही 'नारायण' कहलाये। 'नार' का अर्थ है जल। जिसको जल के अयन में देखा गया, उसको 'नारायण' कहा गया। २९

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्
विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ३० ॥

तं	उस	अजस्य नाभौ	अजन्मा ईश्वर के
इत् प्रथमं	सबसे प्रथम		केन्द्रस्थान में
	विद्यमान (ईश्वर) ने	एकं अधि अर्पितम्	एक परम तत्त्व
आपः	जल के		सर्वोपरि विद्यमान है,
गर्भं दध्रे	गर्भ को धारण	यस्मिन्	जिसमें
	किया है,	विश्वानि	सब
यत्र विश्वेदेवाः	जहाँ दिव्य शक्तियाँ	भुवनानि	लोक
सं अगच्छन्त	मिलकर रही हैं।	तस्थुः	स्थिर हैं ॥ ३० ॥

आश्चर्यरूप वह परम तत्त्व वह अनाद्यन्त।
गर्भ में जलों के प्रकट हुआ था वह महान्त[1] ॥
उसके ही द्वारा हुआ सृष्टि का था उद्भव।
मिल देव-शक्तियों ने की वहीं प्रगति नित नव ॥
उस अज के नाभि-देश में रहता तत्त्व महत्।
यह नामरूपमय होता जिससे प्रकट जगत् ॥
वह परमतत्त्व ही है सर्वोपरि विद्यमान।
जो सब भुवनों को करता है आश्रय प्रदान ॥
ब्रह्मांडों का सब भूतों का उसमें निवास।
वह स्वप्रतिष्ठ[2] है परब्रह्म वह विश्ववास[3] ॥ ३० ॥

---

१ सबसे महान; २ अपने आप बिना किसी आश्रय के स्थित; ३ जिसमें विश्व रहता है।

फिर वे ले ज्ञाताज्ञात[1] रजोगुण का आश्रय।
करते भूतों की सृष्टि सदा जो मंगलमय॥ २८॥

टि०—पहले यह कहा गया है कि सृष्टि-रचना के लिए सबसे पहले ऋषियों का आविर्भाव हुआ। उन्होंने यज्ञ द्वारा भगवान को संतुष्ट किया। फिर रजोगुण में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्थित होकर उन्होने प्राणियों की सृष्टि की। २८

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कथंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥ २९॥

यत् अस्ति	जो है वह	कं गर्भं	किस गर्भ को
दिवः परः	द्युलोक से भी दूर है,	दध्रे	धारण किया ?
एना	इस	(किं) स्वित्	वह कैसा आश्चर्य-रूप था,
पृथिव्याः परः	पृथ्वी के परे है,		
देवेभिः	देवताओं और	यत्र	जहाँ (जिसका)
असुरैः परः	असुरों से भी दूर है।	पूर्वे देवाः	पूर्वकालीन देवगण
आपः	जलों ने	समपश्यन्त	सम्यक् दर्शन
प्रथमं	पहले		करते हैं॥ २९॥

हृत्कमल बीच संस्थित है जो परमात्म-तत्त्व।
वह है द्युलोक से दूर विलक्षण महासत्त्व[2]॥
वह पृथ्वी से भी दूर और दुर्ज्ञेय सदा।
देवों-असुरों से दूर परम अज्ञेय सदा॥
आपों ने किसको किया गर्भ में था धारण।
आश्चर्यरूप था कैसा वह अति गर्भ वरण?[3]॥
था आदि सुरों ने किया प्राप्त उनका दर्शन।
था ज्ञान-चक्षु से दिव्य किया उनका दर्शन॥
वे परब्रह्म, वे परमेश्वर, भगवान परम।
हैं ध्येय, ज्ञेय वे ही सबके आराध्य चरम॥ २९॥

टि०—इस मंत्र में बताया गया है जो परमेश्वर हिरण्यगर्भ-रूप में जलों में प्रकट हुए, उनका स्वरूप बड़ा आश्चर्यजनक है। वे अत्यंत सूक्ष्मरूप से हृत्पुंडरीक में विराजमान होते हुए भी पृथ्वी और द्युलोक के बहिर्मुखी जीवों के लिए अत्यन्त दुर्विज्ञेय हैं। उनको आदिकाल में उत्पन्न देवों ने दिव्य ज्ञानचक्षुओं से देखा था। वे ही सबके

१ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में;   २ महान सत्ता;   ३ श्रेष्ठ।

रम रहा है। जो अज्ञान के कुहरे में ढके हुए हैं, परमात्म-तत्त्व के विषय में अनभिज्ञ हैं, वे ही तत्त्वविद् होने का ढोंग रचकर जल्पना करते फिरते हैं। ऐसे पेट भरनेवाले, देह-प्राण के पोषण में लगे लोग ईश्वर को नहीं जान सकते। ३१

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा ॥ ३२ ॥

विश्वकर्मा देवः	सबसे पहले विश्वकर्ता परमेश्वर	तृतीयः	तीसरा
हि अजनिष्ट	निश्चय ही प्रकट हुआ था,	ओषधीनां	ओषधियों का
आत् इत्	तत्पश्चात्	जनिता च पिता	जन्म देनेवाला और रक्षक मेघ हुआ।
द्वितीयः	दूसरा	अपां गर्भं	वह जलों के गर्भ को
गन्धर्वः अभवत्	पृथ्वी आदि का धारक सूर्य प्रकट हुआ।	पुरुत्रा व्यदधात्	अनेक प्रकारों से अपने में धारण करता है ॥ ३२ ॥

विश्व के रचयिता परमात्मा थे प्रकट प्रथम।
शुभ-कर्मों के कर्ता, अनादि, अज, पुरुषोत्तम ॥
उनसे ही प्रकटे गो-वाणी-पृथ्वी-धारक।
ये सूर्य अनंतानंत ज्योति के विस्तारक ॥
फिर प्रकटे ओषधियों के उत्पादक पालक।
पर्जन्य[1]-रूप में निखिल अपांचय[2] के धारक ॥
पहले थे आविर्भूत विश्वकर्मा महान।
फिर प्रकट हुए आदित्य विश्व था ज्योतिमान ॥
तदनन्तर प्रकटे मेघ, वनस्पति-जग जाग्रत्।
फिर हुआ पदार्थों का सर्जन-क्रम उद्घाटित ॥ ३२ ॥

टि०—इस मंत्र में सृष्टि का क्रम बताया गया है। पहले विश्वकर्मा, फिर सूर्य, तदनन्तर मेघ। मेघों ने वर्षा कर वनस्पति-जगत् को पैदा किया। उसके पश्चात् अनेक पदार्थों की सृष्टि की रचना का क्रम चल पड़ा। उव्वट ने विश्वकर्मा का अर्थ चतुर्मुख ब्रह्मा किया है। महर्षि दयानन्द ने प्रथम उत्पन्न होनेवालों में विद्युत्, अग्नि और वायु को माना है। मंत्र में 'गंधर्व' शब्द आया है, जिसका अर्थ पृथ्वी, वाणी, गो आदि के धारक सूर्यदेव। ३२

---

१ मेघ; २ जलसमूह।

टि०—इस मंत्र में परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया का सूत्ररूप में निर्देश किया गया है। मनुस्मृति में भी इस सृष्टि-रचना की प्रक्रिया का ऐसा ही निर्देश है— "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवत् हैमं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥" ३०

न तं विंदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ३१ ॥

यः	(हे मनुष्यो !) जो	जल्प्या	केवल जल्पना करनेवाले,
इमा जजान	इन सब लोकों को पैदा करता है,	च असुतृपः	प्राणों का पोषण करनेवाले,
तं न विदाथ	उसको नहीं जानते हो।	उक्थशासः	उस तत्त्व के ज्ञान के नाम पर बकवास करनेवाले लोग
अन्यत्	वह और ही तत्त्व है,	चरन्ति	विचरण करते हैं (केवल बकवास करते हैं, उस तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करते) ॥ ३१ ॥
युष्माकं	जो तुम्हारे		
अन्तरं बभूव	अन्दर रहता है।		
नीहारेण	कुहरे से		
प्रावृताः	घिरे धुओं के समान,		

सर्जनहार अनन्त कोटि ब्रह्मांडों का जो ईश्वर।
उसको नहीं जानते हो तुम हे अज्ञानजड़ित नर ॥
वह है ऐसा तत्त्व भिन्न तुम सबसे और विलक्षण।
फिर भी वह रममाण तुम्हारे भीतर रहता प्रतिक्षण ॥
ढके अविद्या के कुहरे से अल्प-बुद्धि हैं जो जन।
उदरंभरि[1] हैं देह प्राण का पोषण जिनका जीवन ॥
तत्त्वज्ञानविषयक करते हैं वे जल्पना अनर्गल।
ईश-स्वरूप ज्ञान से वंचित, पर प्रगल्भ वे प्रतिपल ॥
ऐहिक[2] आमुष्मिक[3] भोगों में लीन सदा जो मानव।
उनके उर में कभी न होता तत्त्वज्ञान का उद्भव ॥ ३१ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है कि हे जीव ! जिसने इस संसार को और तुम्हारे जैसे सब जीवों को उत्पन्न किया है, उसको तुम नहीं जानते हो। वह तो तुम्हारे भीतर

---

१ पेट भरनेवाले; २ इहलौकिक; ३ पारलौकिक।

युधः नरः	हे युद्ध करनेवाले वीर पुरुषो !	इषुहस्तेन	हाथ में वाण धारण किये हुए
धृष्णुना	(तुम सव) धैर्य के साथ (भयरहित होकर)	जिष्णुना	जयशील
		दुश्च्यवनेन वृष्णा	अपराजित कामनाओं की वृष्टि करनेवाले
संक्रन्दनेन	शत्रु का वार-वार आह्वान करते हुए	इन्द्रेण	इन्द्र की शक्ति से
युत्कारेण	व्यूहरचना द्वारा, सेना के संयोजन-वियोजन के द्वारा	तत् जयत	उस शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करो।
		तत् सहध्वम्	उस सेना को वश में करके जीतो ॥ ३४।
अनिमिषेण	लक्ष्य पर वद्धदृष्टि होकर (निर्निमेष)		

हे युद्धशील वीरो महान, निज सफल करो विजयाभियान।
पर-सेना को कर पराभूत[1], यश प्राप्त करो जग में अभूत[2]।
इन्द्र की शक्ति है तुम्हें प्राप्त, उनका नेतृत्व अमोघ आप्त।
इषुहस्त[3] सहाय हेतु उद्यत, युद्धों में वे जयशील सतत।
वे सोम - पान - रत युद्धोद्धत, वाँहों से परदल-गंजनरत।
वे परम उग्रधन्वा[4] प्रसिद्ध, है उनका शौर्य सदा समिद्ध[5]।
हैं इन्द्र कामदाता अनन्त, उनके जय-यश का नहीं अन्त।
उनके वल से हो वलीयान[6], निज सफल करो विजयाभियान ॥ ३४

टि०—इसमें सैनिकों को निर्देश करते हुए कहा गया है कि उन्हें इन्द्र महान वीर नेत के रूप में प्राप्त हैं। उन्हें शत्रुओं पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करनी चाहिए। ३४

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
सꣳसृष्टजित्सोमपा वाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३५

सः वशी	वह शत्रुओं को वश में करनेवाला,	संस्रष्टा	सेना का उत्तम व्यवस्थापक है।
इषुहस्तैः	वाणधारी,	सः	वह
निषङ्गिभिः	खड्गधारी,		

१ पराजित; २ अपूर्व; ३ हाथ में वाण लिये हुए; ४ महान भयकारी धनुष ५ प्रज्वलित; ६ सवसे वली।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतᳬ
सेना अजयत् साकमिन्द्रः[1] ॥ ३३ ॥

आशुः	बड़े वेग से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला,	संक्रन्दनः	बार-बार शत्रुओं का आह्वान करने वाला,
शिशानः	अपने शस्त्रास्त्रों को सदा तीक्ष्ण करनेवाला,	अनिमिषः	पलक भी न हिलाने वाला ऐसा सावधान,
वृषभः न	वृषभ के समान	एकवीरः इन्द्रः	अद्वितीय वीर इन्द्र
भीमः	भयंकर,	शतं सेनाः साकं	सैकड़ों सेनाओं के साथ युद्ध में
घनाघनः	शत्रुओं का निरंतर हनन करनेवाला,	अजयत्	विजय प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥
चर्षणीनां क्षोभणः	शत्रु-सेना को त्रस्त करनेवाला,		

ये इन्द्रदेव हैं अप्रतिभट, करते धर्षित रिपु-कटक विकट।
रिपु पर करते आक्रमण प्रबल, आयुध निज रखते तीक्ष्ण सकल।
हैं मत्त वृषभ से अति भयकर, आहव[1] में अरि-हवि[2] हित तत्पर।
रिपु-दल करते संत्रस्त विकल, हन-हन कहते रहते प्रतिपल।
करते नित परबल-समाह्वान, जय हित करते सेना-विधान।
अनिमेष दक्ष विजयी वरेण्य, है इन्द्र-सदृश कोई न अन्य।
एकाकी शत-शत रिपु-जेता, ये इन्द्र हमारे हैं नेता ॥ ३३ ॥

टि०—इस मंत्र में देवेश्वर इन्द्र की महिमा का वर्णन किया गया है। वे अप्रतिभट हैं—उनकी समता का कोई वीर संसार में नहीं। वे अपने शस्त्रों को सदा शाणित रखते हैं, बड़े वेग से शत्रु पर आक्रमण करते हैं। उनको प्रमाद छू नहीं गया। वे निर्निमेष होकर लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। विजयशाली वीर के सब गुण उनमें हैं। युद्ध रूपी यज्ञ में वे शत्रु के शिरों की आहुति देते हैं। ३३

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा[1] ॥ ३४ ॥

---

१ संग्राम; २ शत्रु की आहुति।

अपबाधमानः	पीड़ा देते हुए,	प्रमृणः जयन्	हिंसाकारियों पर
सेनाः प्रभञ्जन्	उनकी सेनाओं के		जय प्राप्त करते हुए
	छिन्नभिन्न करते हुए,	अस्माकं रथानां	हमारी रथ-सेना के
युधा	युद्ध में	अविता एधि	रक्षक बनो ॥३६॥

हे बृहस्पते! तुम हो राक्षसहन्ता[1] प्रसिद्ध।
सब ओर तुम्हारे रथ की गति है सहज-सिद्ध॥
रिपुओं को पीड़ादायक है तुम-सा न अन्य।
हो करते अरिदल छिन्न-भिन्न तुम हे वरेण्य॥
ये हिंसारत जन युद्ध हेतु जो है उद्यत।
कर नष्ट उन्हें जय प्राप्त करो उन पर अविरत॥
तुम बनो हमारी रथ-सेनाओं के रक्षक।
हों गमनागमन-मार्ग तुमसे रक्षित सम्यक्॥ ३६॥

टि०—इस मंत्र में बृहस्पति देवता का स्तवन किया गया है। उनको राक्षसों का नाश करनेवाला कहा गया है। उनका रथ सभी दिशाओं में जाता है। वे शत्रुओं को पीड़ा देनेवाले हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि ये हिंसाप्रिय लोगों का विनाश करें और रथों की रक्षा करें। रथों की रक्षा सूचित है, हमारे गमनागमन और यातायात के मार्ग और साधन सुरक्षित रहें। बृहस्पति वाक् के अधिष्ठाता देवता हैं। ऋग्वेद में उनको ब्रह्मणस्पति कहा गया है। उनको कुछ विद्वानों ने सूक्तों की रचनाशक्ति का प्रतीक माना है। किन्तु ऐसे मंत्रों में बृहस्पति में अग्नि या इन्द्र-सम्बन्धी बहुत-सी विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं। अग्नि की तरह वे बल के पुत्र या 'सहसः पुत्र' भी कहे गये है। मैक्समूलर और विल्सन जैसे विद्वानों ने तो यह कल्पना भी की है कि वे अग्नि के ही एक रूप हैं। बृहस्पति के मंत्रों में अग्नि की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं, इसलिए इन विदेशी विद्वानों की यह धारणा हुई। बृहस्पति को अत्यन्त तेजस्वी, भास्वर, शुचिक्रंद, नीलपृष्ठ, शतपक्ष, मन्द्रजिह्व, तीक्ष्णशृंग, सप्तजिह्व आदि भी कहा गया है। ये अग्नि के भी विशेषण हैं। वे इन्द्र के सहायक और पुरोहित है। ऋग्वेद में उन्हें वृत्र और शंबर का वध करनेवाला भी कहा गया है। ३६

बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः
सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा
जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्॥ ३७॥

---

१ राक्षसों को मारनेवाले।

गणेन युधः	सैन्य-बल के साथ युद्ध करने वाला है।	सोमपाः	यज्ञों में सोमपान करनेवाला,
सः इन्द्रः	वह इन्द्र	बाहुशर्धी	बाहुबल से युक्त,
संसृष्टजित्	एकत्र हुए शत्रुओं को जीतनेवाला,	उग्रधन्वा	प्रचंड धनुष वाला,
		प्रतिहिताभिः अस्ता	बाणों से शत्रु को पराजित करनेवाला है ॥३५॥

इन्द्रियाँ सदा रहती हैं वश में जिनके।
सब शत्रु सदा रहते हैं वश में जिनके॥
इषुहस्त[1] सदा जो, करते जो असि-धारण।
सेना का करते व्यूहबद्ध संचालन॥
ले प्रबल सैन्य निज युद्ध हेतु जो जाते।
अपने युयुत्सु[2] अरियों पर हैं जय पाते॥
यज्ञों में पीकर सोम सदा वर्द्धित-बल।
भुजबल से करते हैं विदलित जो परबल॥
निज उग्र धनुष पर कर आशीविष[3] क्षेपण।
करते रहते अरियों का सदा प्रमापण॥
वे इन्द्रदेव नित रक्षा करें हमारी।
स्वीकार करें नति प्रष्टुति[4] सदा हमारी॥ ३५॥

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के अतुलित शौर्य का वर्णन करते हुए उनसे रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। इन्द्र के गुणों का वर्णन करने के व्याज से इस मंत्र में महान सेनापति के व्यावर्तक गुणधर्मों का भी निर्देश किया गया है। ३५

बृहस्पते परि दीया रथेन
रक्षोहाऽमित्राँ२ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा
जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥ ३६ ॥

बृहस्पते	हे बृहस्पति !	रथेन परि दीया	रथ से सब ओर गमन करनेवाले,
रक्षोहा	(तुम) राक्षसों को नष्ट करनेवाले हो।	अमित्रान्	शत्रुओं को

१ हाथ में बाण धारण करनेवाला; २ युद्ध करने की इच्छा वाले; ३ साँप; ४ स्तुति।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ
सखायो अनु सꣳ रभध्वम् ॥ ३८ ॥

सजाताः	हे समान जन्म वाले !	अज्म जयन्तं	संग्राम को जीतने वाले (और)
सखायः	हे मित्रो !	ओजसा	बल से शत्रु को
इमं गोत्रभिदं	इन पर्वतीय किलों को तोड़नेवाले वीर को,	प्रमृणन्तं	मारनेवाले
गोविदं	वेदवाणी के ज्ञाता को,	इन्द्रं अनु वीरयध्वं	इन्द्र को वीरकर्म करने को उत्साह युक्त कर दो।
वज्रबाहुं	हाथ में वज्र धारण करनेवाले को,	अनु सं रभध्वम्	(इस वीर को) आनन्दित करो ॥ ३८ ॥

हे हे समानजन्मा देवो ! हे मित्रगणो ! ।
देवोपम गुणगण से मण्डित मानवो ! सुनो ॥
इन्द्र के वीर कर्मों का तुम मिल गान करो ।
शत्रुघ्न[1] इन्द्र के अन्तर में उत्साह भरो ॥
उन महावीर को तुम आनन्दित करो सदा ।
उनकी स्तवन-गिरा है संतत विजयप्रदा ॥
इन्द्र हैं असुरगण के कुल के छेत्ता[2] प्रसिद्ध ।
वे सब पाषाणी दुर्गों के भेत्ता[3] समृद्ध ॥
हैं वेदगिरा के वे ज्ञाता गोप्ता महान ।
हैं वज्रसदृश उनके प्रचण्ड भुज शक्तिमान ॥
हाथ में वज्र धारण कर करते जब वे रण ।
हिंसाकर्मी सब असुर दलित होते क्षण-क्षण ॥
इन्द्र के वीर कर्मों का सब मिल गान करो ।
शत्रुघ्न इन्द्र के अन्तर में आनन्द भरो ॥ ३८ ॥

टि०—इस मंत्र में सब देवों और मानवों को मिलकर इन्द्र की स्तुति करने का आदेश दिया गया है, जिससे उनके बल की वृद्धि हो और वे हिंसकों, समाज के शत्रुओं और असुरों का विनाश कर सकें । ३८

---

१ शत्रुओं को मारनेवाले; २ छेदन करनेवाले; ३ भेदन करनेवाले ।

इन्द्र	हे इन्द्र !	अभिसत्वा	बलवान वीरों से घिरे ,
बलविज्ञाय:	(तुम) सेना-संचालन में चतुर,	सहोजा:	बलिष्ठ वीरों से युक्त,
स्थविर:	अनुभव-वृद्ध,	गोवित्	पृथ्वी पर विजय प्राप्त करनेवाले,
प्रवीर:	प्रकृष्ट वीरता से युक्त,	सहमान:	शत्रु को पराजित करनेवाले हो ।
सहस्वान्	अत्यंत सामर्थ्य-युक्त,	जैत्रं रथं आ तिष्ठ	अपने विजयी रथ पर बैठो ।। ३७ ।।
वाजी	बलशाली,		
उग्र:	प्रचण्ड वीर,		
अभिवीर:	शूरवीरो से घिरे,		

तुम सकल शुभगुणों से मंडित हो इन्द्रदेव ।
सेना के संचालन में पटु[1] हो तुम सदैव ।।
सबके अनुशासक, सर्वमान्य, अनुभव-समृद्ध[2] ।
तुम परम प्रकृष्ट वीर हो त्रिभुवन में प्रसिद्ध ।।
सामर्थ्यवान है हुआ न तुम-सा और अन्य ।
हो अन्नवान बलवान महा तुम हे वरेण्य ! ।।
युद्धों में होकर उग्र दलित करते रिपुदल ।
अति उत्तम शूरों से रहते परिवृत[3] प्रतिपल ।।
ओजस्वी बलवत्तर वीरों से तुम शोभित ।
पृथ्वी के जेता[4], हो सहृदय स्तुतिविद्[5] नित ।।
शत्रु पर विजय करते हो प्राप्त सदा ही तुम ।
विजयी निज रथ पर तुम शोभा पाओ उत्तम ।। ३७ ।।

टि०—इस मंत्र में इन्द्र के शुभ गुणों का वर्णन है । ऋग्वेद के बहुत से मन्त्रों में यह कहा गया है कि जब इन्द्र अपनी स्तुति सुनते हैं, तो उनके बल की वृद्धि होती है । उनको 'उक्थै: वावृधान:' अर्थात् उक्थ सुनकर वृद्धि करनेवाला कहा गया है । महाभारत के उद्योग पर्व में भी ऐसा प्रसंग आया है । 'विश्वरूप' और 'वृत्र' के वध से तेजहीन होकर इन्द्र कमल-तंतु में छिपकर बैठ गये, तब बृहस्पति ने उनकी प्रशंसा कर उन्हें पुरुषार्थ करने के लिए तैयार किया । फिर वे बढ़े और बलशाली बने— "एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः । स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः ।।" (महाभा० उ० प० १६-१८:१६) । ३७

---

१ कुशल; २ बड़े व्यापक अनुभव वाले; ३ घिरे; ४ विजय प्राप्त करनेवाले; ५ स्तोत्रों के मर्म को समझनेवाले ।

बृहस्पतिः इन्द्रः	बृहस्पति और इन्द्र	यज्ञः सोमः	यज्ञ, सोम और
आसां	इन शत्रु-सेनाओं का	दक्षिणा	दक्षिणा
अभि भञ्जतीनां	मर्दन करनेवाली,	पुरः एतु	आगे गमन करे।
जयन्तीनां	विजयनाद करने वाली	मरुतः	मरुद्गण
देवसेनानां नेता	देवसेनाओं के नायक है।	अग्रं यन्तु	आगे गमन करें॥ ४० ॥

कर रही असुर-दल-मर्दन सुरसेना प्रयाण।
है विजयशील यह सदा देवसेना महान॥
संचालक - पद पर इन्द्र-बृहस्पति शोभमान।
इस आक्रान्ता सेना के वे नायक प्रधान॥
आगे हैं उनके सोम, यज्ञ दक्षिणा सहित।
सबके आगे हैं सकल मरुद्गण अप्रतिबल[1]॥
उत्कंठित रिपुदल-अभिभंजन[2]-हित वे प्रतिपल।

× × ×

ऐसी सेनाओं से ही होते राष्ट्र सबल।
रहते हैं जहाँ समन्वित क्षात्र-ब्राह्म दो बल॥ ४० ॥

टि०—इस मंत्र में युद्ध में बृहस्पति और इन्द्र के जयिष्णु साहचर्य का वर्णन है। बृहस्पति ब्राह्मण की विवेक-शक्ति के प्रतीक हैं और इन्द्र क्षात्रबल के। दोनों के समन्वय से सेनाएँ शक्तिसंपन्न होती हैं। शूर और ज्ञानी के राष्ट्र में मिलकर रहने से राष्ट्र का कल्याण होता है। इस मंत्र में यह भी बताया गया है कि इन्द्र की सेना धर्मयुद्ध के लिए निकली है। उसके साथ सोम हैं जो शान्ति के प्रतीक हैं। यज्ञ धर्मक्रिया के प्रतीक हैं और दक्षिणा उदारता का। देवसेना धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अभियान कर रही है। ४०

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ
आदित्यानां मरुताᳬं शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो
देवानां जयतामुदस्थात्॥ ४१ ॥

---

१ जिनके समान बली कोई अन्य नहीं; २ विनाश।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदुयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकं
सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ३९ ॥

सहसा	(अपने) बल से	पृतनाषाड्	शत्रु की सेना को पराजित करनेवाला,
गोत्राणि	शत्रु के किलों को	अयुध्यः	अप्रतिभट
अभि गाहमानः	तोडनेवाला,	इन्द्रः	इन्द्र
अदयः वीरः	शत्रु पर दया न करनेवाला वह वीर,	युत्सु	युद्धों में हमारी सेना का संचालन करें,
शतमन्युः	सैकड़ों प्रकार से शत्रु पर क्रोध करनेवाला (वह वीर)	अस्माकं	हमारी
		सेनाः	सेनाओं की
दुश्च्यवनः	अपने स्थान से हटाया न जा सके।	प्र अवतु	रक्षा करे ॥ ३९ ॥

अपने बल से अरियों के दुर्गों के भंजक[1] ।
मेघों के दल के, असुरकुलों के जो गंजक[2] ॥
अरि-आततायियों के प्रति जो अतिशय निष्ठुर ।
अन्यायी के प्रति मन्यु-भरित अति जिनका उर ॥
जो महावीर हैं रण में सदा अडिग, अच्युत ।
शत्रु की सैन्य को करते जो विद्रावित[3] द्रुत ॥
जो है अयुध्य, जो अप्रतिभट जो बलीयान[4] ।
वे इन्द्रदेव हों हम सबके रक्षक महान ॥
वे करें हमारी सेनाओं का संरक्षण ।
वे करें हमारी सेनाओं का बल-वर्धन ॥ ३९ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र के समान यह मंत्र भी इन्द्र के बलवर्धन के लिए प्रयुक्त है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारी सेनाओं की रक्षा करें। ३९

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

---

१ किलों को तोडनेवाले; २ पराजित करनेवाले; ३ पलायित; ४ सबसे बलवान।

मघवन्	हे इन्द्र !
आयुधानि	(तुम अपने) शस्त्रास्त्रों को
उद्धर्षय	तीक्ष्णता के साथ तैयार करो।
मामकानां	हमारे पक्ष के वीरों के
सत्वनां	प्राणों को
मनांसि	मनों को
उत् (धर्षय)	उत्साहित रखो।
वाजिनाम्	घोड़ों को
वाजिनानि	शीघ्र गमन के लिए
उत् (धर्षय)	प्रोत्साहित करो।
वृत्रहन्	हे वृत्र को मारने वाले इन्द्र !
जयतां	हमारे जयशील
रथानां	रथों के
घोषाः उद्यन्तु	जयघोष ऊपर उठें ॥ ४२ ॥

अपने आयुध सब निशित[1] करो हे इन्द्रदेव ! ।
हर्षित स्वपक्ष के सब वीरों को करो देव ! ॥
उत्साहित उनको करो रहें वे युद्धोद्यत[2] ।
कर दो अश्वों का वेग प्रवर्द्धित अव्याहत[3] ॥
हो सदा हमारा अश्व सैन्य उत्कर्ष-भरित ।
जयशील रथों के घोष रहें नभ तक उत्थित[4] ॥
मघवन्[5] ! हम सबको रहे तुम्हारी कृपा प्राप्त ।
निज सेनाओं में रहे तुम्हारा शौर्य व्याप्त ॥ ४२ ॥

टि०—इस मंत्र के द्वारा राष्ट्राध्यक्ष को राष्ट्रीय सेनाओं को सभी दृष्टियों से सन्नद्ध रखने का निर्देश किया गया है। इन्द्र नाम से अभिहित परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि वे हमें ऐसी सद्‌बुद्धि दें कि हम अपने शस्त्रास्त्रों को सदैव तैयार रखें। हमारे सैनिक प्रसन्न रहें, हमारे वाहनों की गति निर्बाध हो, हमारा युद्धघोष निरन्तर आकाश को कंपित करता रहे। हे इन्द्र ! हमारे सब सैनिक तुम जैसे वीर बनें। ४२

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं
या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२
उ देवा अवता हवेषु ॥ ४३ ॥

---

१ तीक्ष्ण; २ युद्ध के लिए तैयार; ३ बाधाहीन; ४ उठे हुए; ५ इन्द्र ।

महामनसां	बड़े विचारशील,
भुवनच्यवानां	भुवन को कँपा देनेवाले,
जयतां	विजयशील,
देवानां	देवों के,
आदित्यानां	आदित्यों के,
मरुतां	मरुद्गणों के,
घृणः	अनेक योजनाओं की घोषणा करने वाले
इन्द्रस्य	इन्द्र के (और)
राज्ञः वरुणस्य	राजा वरुण के
उग्रम् शर्धः	उत्कृष्ट सैन्य-बल का
घोषः उदस्थात्	जयघोष हुआ ॥४१॥

बढ़ चली देवसेना करती रणघोष उग्र[1]।
यह सैन्य परम बलशील विजय के हेतु व्यग्र ॥
इस सेना में हैं महामनस्वी सुर वरेण्य।
कम्पित करते त्रिभुवन को निज बल से अनन्य ॥
चिर विजयशील आदित्य, मरुद्गण अप्रतिबल[2]।
उद्घोषक विविध योजनाओं के इन्द्र प्रबल ॥
हैं इस सेना में महावीर वरणीय वरुण।
इसके सब सैनिक ब्रह्मचर्य के व्रती तरुण ॥
यह अनय[3] अधर्म, अनृत[4] के विधमन-हित प्रस्थित।
यह धर्म-विजय के हेतु बढ़ रही अपराजित ॥ ४१ ॥

टि०—इस मंत्र में देवसेना के रणप्रयाण का वर्णन है। देवसेना के इस वर्णन में आदर्श सेना के स्वरूप और संगठन का निर्देश किया गया है। देवताओं की सेना उग्र रणघोष करती हुई बढ़ रही है। इसमें विजय प्राप्त करने का पूर्ण विश्वास और उत्कंठा है। इस सेना में बड़े विचारशील देवगण है, जिनके बल से तीनों लोक कंपित हो उठते हैं। इन्द्र युद्ध की सैकड़ों योजनाएँ बनाने में कुशल है। महर्षि दयानन्द के अनुसार आदित्य का अर्थ है ४८ वर्षों तक अखंड ब्रह्मचर्य पालन करनेवाला। ऐसे आदित्य-कल्प तरुणों से सेनाओं का निर्माण होना चाहिए। यह मंत्र वैदिक रण-प्रयाण-गीत है। अधर्म के विरुद्ध धर्म के अभियान का यह गीत है। ४१

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांᳫंसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां
जयतां यन्तु घोषाः[1] ॥ ४२ ॥

---

१ शत्रुओं के लिए असह्य; २ जिनके समान बल वाला कोई नहीं; ३ अन्याय; ४ झूठ।

हृत्सु	उनके हृदयों को	अन्धेन तमसा	गहरे अंधकार (विनाश और पीड़ा) में
निर्दह	जला डाल,		
अमित्राः	(जिससे) शत्रुगण	सचन्ताम्	डूब जायँ ॥ ४४ ॥

हे अप्वे[1] ! हे शत्रु की प्राणहारिणी कटक।
तुम रिपुदल को प्रपलायित[2] करती हो उत्कट ॥
अरियों के उर कर व्यामोहित[3], तन कर स्तंभित।
लिखती नव-नव जयलेख बढ़ो, आगे तुम नित ॥
जा सको दूर जितनी, उतनी बढ़ती जाओ।
आसिंधु[4] धरित्री पर निज जय-यश फैलाओ ॥
रिपु-हृदय करो निज शर-ज्वालाओं से प्रदग्ध।
हो जायँ शोक से पीड़ा से वे दग्ध-स्तब्ध ॥ ४४ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों में सेना की सज्जा, उनके नायक, उनके प्रमुख वीरों आदि का निर्देश होता आया है। यह मंत्र सेना को सम्बोधित है। सेना को 'अप्वा' कहा गया है। 'अप्वा' का अर्थ है, शत्रु की प्राणहारिणी और उनको पराजित कर भगा देनेवाली सेना। यह शत्रुओं को विमोहित करती, उनको जकड़ती अथवा बन्दी बनाती हुई आगे से आगे समुद्र तट तक बढ़ती चली जाए। शत्रुओं के हृदय संताप से जल उठें, वे शोक और पीड़ा से स्तब्ध-दग्ध हो जायें। ४४

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व माऽमीषां कं चनोच्छिषः॥४५॥

ब्रह्मसंशिते	ज्ञान से तीक्ष्ण किये हुए,	गच्छ	जाओ (टूट पड़ो)। (और इसमे)
शरव्ये	हे वाण रूपी अस्त्र !	प्र पद्यस्व	प्रवेश करो।
अवसृष्टा	(तुम हमसे) छोड़े हुए	अमीषां	इनमें से
		कञ्चन	किसी को भी
परा पत	एक साथ	मा उच्छिषः	मत जीवित रहने दो ॥ ४५ ॥
अमित्रान्	शत्रु-सेना पर		

---

१ शत्रुओं को दूर भगानेवाली सेना; २ अच्छी तरह भगाती हुई; ३ भ्रमित; ४ समुद्र के किनारे तक।

ध्वजेषु समृतेषु	हमारी ध्वजाओं के वायु में लहराने पर	अस्माकं वीराः	हमारे वीर सैनिक गण
अस्माकं इन्द्रः	हमारा (जो) शत्रु-जयी इन्द्र है वह (और)	उत्तरे भवन्तु	उत्तरोत्तर जयशील रहें,
याः	जो	देवाः हवेषु	देवतागण संग्रामों में
अस्माकं इषवः	हमारे बाण है,	अस्मान् उ अवत	हमारी रक्षा करें ।। ४३ ।।
ताः जयन्तु	वे सब जय को प्राप्त हो ।		

कर रहीं हमारी रथ-सेनाएँ रण-प्रयाण ।
स्यंदन-तति[1] पर शोभित ध्वज सब दोलायमान[2] ।।
शत्रुघ्न इन्द्र हैं प्रस्थित उनको मिले विजय ।
हम सबके बाण अमोघ[3] करें नित प्राप्त विजय ।।
हो वीर हमारे रण-प्रांगण में विजयोन्नत ।
सब देव करें संग्रामों में रक्षा अविरत ।। ४३ ।।

टि०—रथ सज गये है, उन पर ध्वजाएँ फहराने लगी हैं। धर्मद्वेषी, पापी, अन्यायी असुरों के संहार के लिए इन्द्र के नेतृत्व में सुरसेनाओं ने युद्ध के हेतु प्रस्थान किया है। ऋषि इस मंत्र के द्वारा उनकी विजय के लिए, उनके कल्याण के लिए प्रार्थना करता है। इस मंत्र के द्वारा राष्ट्र की सेनाओं को विजयाभियान के लिए चिरस्थायी प्रेरणा विद्यमान है। ४३

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा
सचन्ताम् ।। ४४ ।।

अप्वे	हे शत्रुओं को दूर भगा देनेवाली भयंकर सेना !	अङ्गानि गृहाण	उनके अंगों को जकड ले (और)
		परेहि	दूर चली जा
अमीषां	(तू) उन शत्रुओं के	अभि प्र इहि	(तथा) आगे बढ़ती हुई
चित्तं	चित्त को		
प्रतिलोभयन्ती	मोहित करती हुई	शोकैः	अपनी ज्वालाओं से

१ रथों की कतार; २ लहराते-फहराते हुए, ३ अव्यर्थ ।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति
न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी
अन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

मरुतः	हे मरुतो !	आ अभ्यैति	बढ़ती आ रही है,
या असौ	जो यह	तां अपव्रतेन	उसको अनियंत्रित
परेषां सेना	शत्रुओं की सेना	तमसा गूहत	धुएँ आदि से घेर दो,
ओजसा	अपने पराक्रम से हमसे	यथा अमी	जिससे ये (लोग)
स्पर्द्धमाना	स्पर्द्धा करती हुई	अन्यो अन्यं	एक-दूसरे को
नः	हमारी ओर	न जानन्	न जानें ॥ ४७ ॥

है बढ़ी आ रही स्पर्द्धमान[1] यह अरि-सेना।
मरुतो ! इसमें हैं तुमको भ्रम-भय भर देना ॥
है हमको लक्ष्य बनाकर अरिदल धावमान[2]।
घन तम में ढककर उसे करो तुम हतज्ञान ॥
हो भ्रान्त, सकें वे एक-दूसरे को न जान।
कर एक-दूसरे पर प्रहार हों विगत-प्राण ॥
हे मरुतकल्पवीरो[3] ! पुरुषार्थ करो तुम वह।
हो अल्पकाल में ही अशेष रिपुदलक्षय यह ॥ ४७ ॥

टि०—इस मंत्र में मरुतों को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि शत्रु की यह सेना हमारे पराक्रम से स्पर्द्धा करती हुई हमारी ओर बढ़ी चली आ रही है, उसको कृत्रिम घने अन्धकार से घेर दो। अन्धकार में घिरकर वे भ्रान्त हो जायेंगे। परस्पर एक-दूसरे की पहचान खोकर आपस में ही लड़कर नष्ट हो जायँगे। इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि वैदिककाल में ही कृत्रिम अन्धकार की रचना कर शत्रु को भ्रान्त करने के कौशल का युद्धों में प्रयोग किया जाता था। शत्रु अन्धकार में भ्रान्त होकर एक-दूसरे से लड़कर नष्ट हों, इसके प्रमाण वाल्मीकि-रामायण के युद्ध-वर्णनों में मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी भगवान राम के युद्ध-कौशल का वर्णन करते हुए लिखा है। उन्होंने अपने पराक्रम से खर-दूषण की सेना को इतना भ्रान्त कर दिया कि वे सब एक-दूसरे को राम समझकर परस्पर लड़कर मर गये। 'देखत परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो।' ४७

---

१ पराक्रम से होड़ करनेवाले; २ दौड़ते हुए: ३ मरुद्गणों के समान पराक्रमी सैनिको !।

हे ब्रह्मसंशिते[1] ! अये शरव्ये ! लक्ष्यव्रती[2] ।
ज्यामुक्त[3] तुम्हें करते हैं हम हे ज्योतिमती ! ॥
अवसृष्ट[4] गिरो तुम शत्रु-सैन्य पर एक साथ ।
गिरकर उन पर काटो सब उनके हाथ-माथ ॥
विध्वस्त करो रिपुओं को तन में कर प्रवेश ।
हों नष्ट सकल, उनमें न एक भी रहे शेष ॥ ४५ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्रों के क्रम को आगे बढ़ाता हुआ यह मंत्र शरव्य अर्थात् बाणों से भरे हुए आयुध के प्रति सम्बोधित है। यह शस्त्र 'ब्रह्मसंशित' अर्थात् मंत्र की शक्ति से अमोघ बनाया गया है। यह हेति या शक्ति प्रत्यंचा से छूटकर शत्रुओं पर एक साथ अनेक बाणों के रूप में गिरती है। उनके शरीरों को छेद डालती है और उन्हें एक-एक कर मार देती है। ४५

प्रेता जयंता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसंथ ॥ ४६ ॥

नरः	हे वीर पुरुषो !
प्रेत आ जयत	शत्रुदल पर शीघ्र आक्रमण करो और विजय प्राप्त करो।
इन्द्रः वः	इन्द्र तुमको
शर्म आ यच्छतु	आनंद प्रदान करे।
वः बाहवः	तुम्हारे भुजदंड
उग्राः सन्तु	प्रचंड हों,
यथा	जिससे
अनाधृष्याः असथ	तुम शत्रु से आक्रमण करने योग्य न रहो ॥ ४६ ॥

रिपु-सैन्य करो द्रुत समाक्रान्त[5], जय प्राप्त करो उस पर अक्लान्त[6] ।
शत्रुघ्न इन्द्र दें शर्म[7]-दान, हों बाहु तुम्हारे बलीयान ॥
शत्रु से रहो तुम अनाधृष्य[8], रण-यज्ञ में करो रिपु-हविष्य ।
वीरो ! रिपुदल का समाक्रान्त, जय प्राप्त कर उस पर अक्लान्त ॥ ४६ ॥

टि०—इस मंत्र में शूरवीरों को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित किया गया है। उनसे कहा गया है, वे स्वयं बढ़कर शत्रु पर आक्रमण करें। शत्रु के आक्रमण करने की प्रतीक्षा न करें। युद्ध-रूपी यज्ञशत्रुओं की आहुति दें। ४६

---

१ ज्ञान अथवा मंत्र से तीक्ष्ण बनाई गई; २ लक्ष्यभेद करने के निश्चय वाली; ३ प्रत्यंचा से छूटकर; (इसे) ४ छोड़ी जाकर; ५ पूर्णरूप से आक्रमण किये हुए; ६ बिना थकावट के; ७ सुख और कल्याण; ८ अजेय ।

ते मर्माणि	(मैं) तुम्हारे मर्मस्थानों को
वर्मणा छादयामि	कवच से आच्छादित करता हूँ।
राजा सोमः	राजा सोम
अमृतेन	अमृत से
त्वा अनुवस्ताम्	तुमको घेरकर रखें।
वरुणः	वरुण
ते	तुम्हारे
उरोः	कवच को
वरीयः	उत्तम
कृणोतु	करें।
देवाः	देवगण
जयन्तं	विजय प्राप्त करते हुए
त्वा अनु मदन्तु	तुमको उत्साहित करें ॥ ४९ ॥

करता हूँ मैं मर्म[1] तुम्हारे दिव्य अमोघ वर्म से छादित[2]।
राजा सोम अमृत से रखें तुमको आप्लावित परिपालित ॥
वरुण तुम्हारा करें कवच यह अति उत्तम चिर मृत्युनिवारक।
देव सकल हों विजयप्रदायक नित्य नवल आमोद-प्रसारक[3] ॥ ४९ ॥

टि०—'महाव्रते यागेऽध्वर्युः क्षत्रियाय सन्नाहं प्रयच्छति।' यह युद्ध के लिए जाते हुए क्षत्रिय वीर को कवच प्रदान करने का मंत्र है। यह कवच या वर्म वीर के मर्मस्थानों को सुरक्षित बनाता है। यह मरणनिवारक कवच है। राजा सोम से यह प्रार्थना की गई है कि धर्मयुद्ध के लिए उद्यत इस वीर को अमृत से आपूरित कर दें। वरुण कवच को श्रेष्ठ और अमोघ बनावें। सब देवता विजय प्रदान करें। कवचात्मक स्तोत्रों की परंपरा वेदों से ही चली है। श्रीमद्भागवत के नारायण-कवच, दुर्गासप्तशती का कवच आदि प्रसिद्ध हैं। ४९

उर्द्देनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सᳬं सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ ५० ॥

घृतेनाहुत अग्ने	घी की आहुतियों से आहूत हे अग्निदेव !
एनं	इस (यजनशील) जन को
उत्तरां नय	ऐश्वर्य की परमोच्च अवस्था तक ले जाओ,
उत	और
रायस्पोषेण	धन की
सं सृज	पुष्टि से संयुक्त करो
च प्रजया	और पुत्र-पौत्रादि संतान देकर
बहुं कृधि	विपुल परिवार वाला बनाओ ॥ ५० ॥

१ जीवस्थान; २ ढके हुए; ३ आनंद वर्द्धक।

**यत्र॒ बाणाः॑ स॒म्पत॑न्ति कुमा॒रा वि॑शि॒खा इ॑व ।
तन्न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒रदि॑ति॒: शर्म॑ यच्छतु
वि॒श्वाहा॒ शर्म॑ यच्छतु ॥ ४८ ॥**

यत्र	जहाँ	**बृहस्पतिः अदितिः**	बृहस्पति, अदिति
बाणाः सम्पतन्ति	बाण इधर-उधर गिरते है,	**इन्द्रः नः**	और इन्द्र हमको
इव विशिखाः	जैसे शिखाहीन	**शर्म यच्छतु**	कल्याण प्रदान करे
कुमाराः	बालक (इधर-उधर घूमते है),	**विश्वाहा**	(और) सबको
तत्	उस युद्ध में	**शर्म यच्छतु**	सुख दिया करें ॥ ४८ ॥

जिस रण में वीरों के बरसाये हुए बाण।
गिरते कुमार ज्यों शिखाहीन[1] हों क्रीड़माण[2] ॥
नित वहाँ बृहस्पति, इन्द्र अदिति कल्याण करें।
हम सबको वे सर्वदा विजय-सुख दान करें ॥ ४८ ॥

टि०—इस मंत्र में युद्धक्षेत्र में विजय, सुरक्षा और सुख प्रदान करने के लिए बृहस्पति, इन्द्र और अदिति से प्रार्थना की गई है। जिस युद्धक्षेत्र में वीरों के छोड़े हुए बाण इधर-उधर इस तरह गिरते हैं जैसे शिखा-रहित बालक चपलता से उधर-उधर विचरते हैं। उस युद्ध में बृहस्पति, इन्द्र और अदिति हमारा कल्याण करें। इन्द्र बल, शक्ति, ओज और वीरता के प्रतीक है। बृहस्पति वाक् और सूक्तादि के देवता है। देवमाता अदिति का वेदों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है; वे राजपुत्ना, सुपुत्ना, उग्रपुत्ना तथा शूरपुत्ना, आदि विशेषणों से अभिहित की गई है। वे देवमाता है। उनका मुख्य गुण दुःखों, पापों तथा त्रितापों से त्राण करना है। महर्षि अरविंद के अनुसार अदिति उस चेतना अव्यक्त सत्ता का प्रतीक हैं जो जगत् को असत् से सत् करती हैं। इन्हें ही तांत्रिक-साहित्य में आद्या या पराशक्ति कहा गया है। वैदिक ऋषियों ने परमात्मा की परम करुणामयी पुत्रवत्सला मातृरूपा सत्ता का भी अभिभावन किया था, उसी को उन्होंने अदिति कहा है। वे चिर कल्याणकारिणी है। ४८

**मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒ऽमृते॑ना॒नु॑वस्ताम् ।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वाऽनु॑ दे॒वा म॑दन्तु ॥ ४९ ॥**

---

१ बिना चोटी के; २ खेलते हुए।

यस्यं कुर्मो गृहे हुविस्तमंग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मैं देवा आधिं ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५२ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	च देवाः	और देवगण
यस्य गृहे	(हम) जिसके घर में	तस्मै अधिब्रुवन्	उसके लिए कहे कि 'यह बड़ा है,
हविः कुर्मः	हवन करते है,	अयं	यह
तं	उस (यजनशील) जन की	ब्रह्मणः पतिः	वेदों का रक्षक है,॥ ५२ ॥
त्वं वर्धय	तुम वृद्धि करो,		

अर्पित करते हम हवि तुमको घर में जिस यजमान के।
अग्ने ! उसका करो अभ्युदय[1] प्रिय जन अपना मान के ॥
उस अभ्युदयशील याजक का करें देवगण अभिनंदन।
यह महान है, करता रहता है वेदों का यह रक्षण ॥ ५२ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, जिन घरों में सामूहिक रूप से परस्पर मिलकर यज्ञकर्म किया जाता है, अग्नि को हवि अर्पित किया जाता है, उन पर भगवान प्रसन्न होते हैं। उनकी लोक में उन्नति होती है और उनको वेदमार्ग का अर्थात् सनातन मानव-धर्म के रक्षक होने का यश प्राप्त होता है। वेद में स्थान-स्थान पर यह ध्वनित है कि श्रेष्ठ कर्मों का संपादन यज्ञ है, जीवन ही शत सांवत्सरिक यज्ञ है। इसलिए बाह्य अग्नि में जो हवि दिया जाता है, वह पर्यावरण को शुद्ध बनाता है। साथ ही भूखे को पेट भरने के लिए अन्न देना भी जठराग्नि अथवा वैश्वानर नामक अग्नि को अर्पित हवि ही है। गीता में भगवान ने कहा है, वैश्वानर नाम का अग्नि में ही हूं। वेद कहते हैं, अकेला खानेवाला पाप खाता है। दीन-दुखियों, भूखों-नंगों, रोगियों-निराश्रितों की सेवा करना भी अग्नि में हवि अर्पित करना है। वेद का यही आदेश है। ५२

उर्दु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
स नों भव शिवस्त्वं सुप्रतींको विभावसुः ॥५३॥

अग्ने	हे अग्नि !	नः	हमारे लिए
त्वा विश्वेदेवाः	तुमको सब देवगण	सुप्रतीकः	सुन्दर दीप्तिरूप
चित्तिभिः	चेतन बुद्धियों द्वारा	विभावसुः	धन वाले
उत् उ भरन्तु	बढ़ावे।	शिवः भव	और कल्याणकारी
सः	वह सुविदित तुम		होओ ॥ ५३ ॥

---

१ लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति।

घृत-आहुतियों से हूयमान[1] हे अग्निदेव ! ।
यजमान करे यह प्राप्त श्रेष्ठ वैभव सदैव ।।
धन के पोषण से करो इसे तुम संयोजित ।
यह रहे निरंतर पुत्र-पौत्र से परिवारित[2] ।।
यजमान रहे यह सदा परम ऐश्वर्यवान ।
हों पुत्र-पौत्र से पूर्ण समृद्ध कुटुंबवान ।। ५० ।।

टि०—घृत की आहुति से अग्नि को प्रसन्न करनेवाले यजमान को श्रेष्ठ वैभव की प्राप्ति होती है। उसके पुत्र-पौत्रादि की वृद्धि होती रहती है। यह इस मंत्र का निर्देश है। ५०

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी ।
समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदा असत् ।। ५१ ।।

इन्द्र	हे इन्द्र !
इमं	इस (यजनशील) जन को
प्रतरां नय	उत्कृष्ट मार्ग से ले चलो, (जिससे यह)
सजातानां	स्वबांधवों को
वशी असत्	अनुकूल करने में समर्थ हो।
एनं वर्चसा सं सृज	इसको तेज से संयुक्त करो, (जिससे यह)
देवानां भागदा	देवों को (हवि आदि) भाग देनेवाला
असत्	हो ।। ५१ ।।

यजमान को करो इन्द्र ! श्रेष्ठ वैभव प्रदान ।
तुम करो उसे उत्कृष्ट मार्ग पर प्रगतिमान ।।
सब सजातीय[3] इसके अनुकूल रहें सदैव ।
दो उनको वश में रखने की सामर्थ्य देव ।।
तुम करो निरंतर इसका ओज-तेज वर्धित ।
यह करे सदा देवों को यज्ञभाग अर्पित ।। ५१ ।।

टि०—इस मंत्र में इन्द्र से यजमान पर कृपा करने की प्रार्थना की गई है। यजमान पर कृपा करने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि यजमान सन्मार्ग पर चले, उसका वैभव बढ़े, वह तेजस्वी बने और निरन्तर यज्ञों का आयोजन कर देवताओं को उनका भाग अर्पित करे। इस प्रकार इस मंत्र में मनुष्य के कर्तव्यों का निर्देश है। ५१

१ [illegible]-प्राप्त करते हुए; २ घिरा हुआ; ३ बंधु-बांधव ।

धन के पोषण से समृद्धि को प्राप्त करे यह यज्ञ हमारा।
यज्ञशील गार्हस्थ्य-कर्म से उन्नत बने समाज हमारा ॥ ५४ ॥

टि०—यज्ञशील धर्मनिष्ठ विद्वान गृहस्थों के द्वारा ही समाज का सम्यक् हित-साधन होता है। यज्ञशील गृहस्थ बुद्धिहीन और दुर्बुद्धि नहीं होते। सभी दिशाओं से सब देवता उनकी रक्षा करते हैं। उनका ऐश्वर्य बढ़ता रहता है। यज्ञादि शुभ कर्मों के लिए उनको धन का अभाव नहीं होता। ५४

समिद्धे अग्नावधि मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः ॥ ५५ ॥

देवाः	विद्वान लोग	अग्नौ	अग्नि के
यत्	जब	समिद्धे	प्रज्वलित होने पर
तप्तं घर्म	तपा हुआ सींचने योग्य घृत	अधि मामहानः	अत्यधिक पूजनीय,
परिगृह्य	लेकर	उक्थपत्रः	वेदवचनों द्वारा जानने योग्य
यज्ञं अयजन्त	यज्ञ में आहुति देते है, तब	ईड्यः गृभीतः	स्तुत्य यज्ञ सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥
ऊर्जा	घृत के द्वारा		

देवकल्प विद्वज्जन करते जब यज्ञों का सदनुष्ठान।
देते तप्त आज्य[1] की आहुति ज्वलित यज्ञ में वे सह मान ॥
तब होकर वह अग्नि प्रज्वलित उक्थों[2] से होकर ईड़ित[3]।
करता है उस यज्ञकर्म को परम सिद्धियों से मंडित ॥ ५५ ॥

टि०—इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि यज्ञकर्म की सिद्धि के लिए यज्ञकर्ताओं की पात्रता पहली शर्त है। यज्ञकर्ता देवताओं के जैसे शील और स्वभाव वाले होने चाहिए। दूसरी आवश्यकता होती है, आहुति-सामग्री की। तप्त शुद्ध गोघृत की आहुति पाकर अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। तीसरी आवश्यकता है, आहुतियाँ वेदमंत्रों के द्वारा दी जाएँ। ५५

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा
देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः ॥ ५६ ॥

---

१ घृत; २ वेदमंत्र; ३ प्रशंसित।

हे अग्नि ! करें निज धी[1] सब देव समाहित[2]।
चिन्मयी वृत्ति से करें तुम्हें संवर्द्धित ॥
हे चिरप्रसिद्ध ! तुम मंगल करो हमारा।
बरसाओ धारासार[3] महाधन-धारा ॥
तुम परम ज्ञान में हमको करो अवस्थित।
विद्या के वैभव से हों हम सब मंडित ॥ ५३ ॥

टि०—अग्नि-रूप मे व्यापक भगवान से यह प्रार्थना की गई है कि वे देवताओं और देवस्वभाव वाले लोगों की बुद्धियों को अन्तर में अपने प्रकाश का साक्षात्कार करने की प्रेरणा प्रदान करें। श्रेष्ठ धन निरन्तर प्रचुर मात्रा में मिले, परम ज्ञान में निष्ठा हो और विद्या की विभूतियाँ प्राप्त हों। ५३

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु
देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती
रायस्पोषे अधि यज्ञो अस्थात् ॥ ५४ ॥

(पञ्च) दैवीः	(इन्द्र, यम, वरुण, सोम, ब्रह्म) इन पाँच देवताओ से सम्बन्ध रखनेवाली,
(पञ्च) दैवीः दिशः	(पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, मध्य) ये पाँच दिव्य दिशाएँ
अमतिं दुर्मतिं	बुद्धि की मन्दता और दुष्ट बुद्धि को
अपबाधमानाः	नाश-करती हुई
रायस्पोषे	धन की पुष्टि में,
यज्ञपतिं	यज्ञ के पालक को
आभजन्तीः	प्राप्त करती हुई
यज्ञं अवन्तु	यज्ञ की रक्षा करे।
यज्ञः	(और) हमारा यज्ञ
रायस्पोषे	धन की पुष्टि में
अधि अस्थात्	अधिक ऐश्वर्य-सिद्धि प्राप्त करें ॥ ५४

इन्द्र, यम, वरुण, सोम और ब्रह्मा की हैं ये दिव्य दिशाएँ।
पूर्व, प्रतीची[4], उत्तर, दक्षिण, मध्य पाँच शुभ गुण सरसाएँ ॥
बुद्धिमांद्य-दुर्बुद्धि-निवारण यजमानों का करे निरंतर।
धन का पोषण करे नित्य नव रहें यज्ञ-रक्षा में तत्पर ॥

१ बुद्धि; २ एकाग्र, ३ अखंड बहनेवाली धारा के रूप मे; ४ पश्चिम।

यत्र	जहाँ (जिस में)	यजथ्यै एति	अग्नि में आहुति देने के लिए शुरू होता है,
वीतं	सर्वत्र व्याप्त होने योग्य	तुरीयः यज्ञः	वह सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा जाता है।
शमिता	शान्तिदायक पुरुष द्वारा	ततः	उस समय
शमितं	शान्ति-सुख-प्रदायक बनाया हुआ,	आशिषः वाकाः	यज्ञ में उच्चारित आशीर्वाद वाणी,
हविः	यज्ञीय हव्य-पदार्थ	नः जुषन्ताम्	हमें सुनाई देती है ॥ ५७ ॥

हैं शान्ति-उपासक करते जिसका अनुष्ठान।
सुख-शान्ति-प्रदायक होता है जिसका विधान॥
जिसमें होती है पावक में जब हवि अर्पित।
जिसमें सुन पड़ती शुभकृत[1] श्रुति की वाणी नित॥
जिसका संपादन करते शमदमनिष्ठ परम।
है वही तुरीय यज्ञ कहलाता सर्वोत्तम॥
इस श्रेष्ठ यज्ञ में होता पहले यजु का जप।
होता करते फिर ऋचा-पाठ का वाचिक तप॥
दक्षिण में करते हैं ब्रह्मा जप अप्रतिरथ।
अंत में हवन से होता प्रकट सिद्धि का पथ॥ ५७॥

टि०—इस मंत्र में तुरीय यज्ञ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ की महिमा का वर्णन है। सर्वश्रेष्ठ यज्ञ वह होता है, जिसका अनुष्ठान शान्ति-उपासक विद्वज्जन करते हैं और जो मंगलात्मक श्रुतिमन्त्रों के द्वारा हविदान से पूर्ण होता है। तुरीय का अर्थ चार भी है। इसलिए तुरीय यज्ञ का अर्थ है 'चार अंगों वाला यज्ञ'। यज्ञ के चार अंग हैं— (१) यजु का जप; (२) ऋचा का पाठ; (३) ब्रह्मा के द्वारा अप्रतिरथ जप और (४) हवन। ५७

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता
ज्योतिरुदयाँ२ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति
विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥ ५८॥

१ मंगलकारी।

देवा: देवेभ्य:	देवकल्प विद्वज्जन	दैव्याय धर्त्रे	दिव्य गुणो से सपन्न, जगत् के धारक,
अध्वर्यन्त: अस्थु:	हिंसारहित यज्ञादि श्रेष्ठकर्म करते रहते हैं।	जोष्ट्रे परिगृह्य	सबसे प्रेम करनेवाले परमेश्वर के स्तवन के लिए ही
देवश्री:	वे विद्वान दिव्यगुणयुक्त,	यज्ञं आयन्	यज्ञ में आते है ॥ ५६ ॥
श्रीमना:	लक्ष्मी से युक्त,		
शतपया:	सैंकड़ों शुभ वृत्तियों के धारक और सैंकड़ों दुधारू गायों के दुग्ध के भोक्ता (लोग)		

ज्ञानीजन करते संपादित जो यज्ञकर्म।
होते वे विद्वानों को हितकर सकल धर्म ॥
विद्वज्जन होते दिव्य गुणों से जो शोभित।
जिनके मन में करती निवास है श्री संतत ॥
जो सकल श्रेष्ठ गुण-गण से रहते है मंडित।
सैंकड़ों दुधारू गायों से रहते सेवित ॥
उनको ही होते प्राप्त यज्ञहित ज्ञानीजन।
है भूतदया[1] से भावित रहता जिनका मन ॥
जो तपःशक्ति से जग के धारण में समर्थ।
हैं जिनके स्तवन अमोघ सकल ईश के अर्थ ॥
ऐसे ज्ञानी ही करते यज्ञ-विधान सकल।
उनसे ही होते याजक जन के कार्य सफल ॥ ५६ ॥

टि०—जो मनुष्य विद्वान सदाचारी, श्रीमान, उदार और सैंकड़ों दुधारू गायों की सेवा करनेवाले होते हैं, वे जब यज्ञ करने की इच्छा करते है, तो उन्हें यज्ञ करवाने के लिए श्रेष्ठ ज्ञानी मिल जाते है। वे सबके प्रति प्रेम करनेवाले होते है और उनके द्वारा की गयी परमेश्वर की स्तुतियाँ अमोघ होती हैं। ५६

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता
यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

१ प्राणिमात्र के प्रति दया।

विमानः	जगत् की रचना करने में समर्थ	घृताचीः	जल को धारण करनेवाला।
एषः	यह सूर्य	सः	वह विख्यात सूर्य
दिवः मध्ये	द्युलोक के मध्य में	अभि चष्टे	सबको देखता है।
आस्ते	रहता है।	पूर्वं अपरं	यह लोक और परलोक
रोदसी अन्तरिक्षं	द्यावापृथ्वी और अन्तरिक्ष को(वह)	अन्तरा च केतुं	और मध्यलोक में स्थित लोगों के अभिप्राय को जानता है ॥ ५९ ॥
आ अपप्रिवान्	अपने तेज से पूर्ण कर रहा है।		
विश्वाचीः	विश्व को अपने में रखनेवाला,		

ये सूर्यदेव है जग की रचना में सक्षम।
पाते द्युलोक के मध्य सदा शोभा अनुपम॥
वे अंतरिक्ष-रोदसी तेज से कर पूरित।
रखते हैं सकल विश्व को अपने वश में नित॥
वे हैं जल के धारणकर्ता सबके द्रष्टा।
ये सूर्यदेव ही भूतग्राम[1] के हैं स्रष्टा॥
यह लोक, अपर जो लोक, मध्य के लोक निखिल।
सबके मन की गति के ज्ञाता रवि हैं ये किल[2]॥ ५९ ॥

टि०—पूर्ववर्ती मंत्र की तरह इस मंत्र में भी सूर्यदेव की महिमा का वर्णन है। वे सभी लोकों के अधिवासियों के मन की गति जानते हैं। वे सभी प्राणियों के स्रष्टा हैं, जल की सृष्टि और वृष्टि भी उन्हीं के द्वारा होती है। ५९

उक्षा संमुद्रो अंरुणः सुंपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
वि चंक्रमे रजंसस्पात्यन्तौ ॥ ६० ॥

---

१ प्राणिमात्र; २ निश्चय ही।

सूर्यरश्मिः	सूर्य की किरणों के समान,	**गोपाः**	धर्मरक्षक,
हरिकेशः	कनकवर्णी ज्वालाओं रूपी केशों वाला	**विद्वान् पूषा**	सुप्तवृत्तियों का ज्ञाता, पोषणकारी,
सविता ज्योतिः	सबका प्रसविता और प्रेरयिता ज्योतिरूप अग्नि	**तस्य प्रसवे**	उस उत्पन्न हुए जगत् में
पुरस्तात् उदयान्	उच्च स्थान में प्रकट होता है,(वही)	**विश्वा भुवनानि**	सब लोकों को
		सम्पश्यन्	देखता हुआ
		अजस्रं याति	निरन्तर गमन करता है ॥ ५८ ॥

आदित्यरूप में प्रकट अग्नि ये परमेश्वर।
हैं स्वर्णवर्ण के किरण-केश सम्मुख भास्वर ॥
सबके पालक, सबके पोषक ये ज्योति परम।
दारिद्र्यविनाशक हैं ये ही हरिकेश चरम ॥
ये पूर्ण धर्मरक्षक सबके साक्षी महान।
देखता विश्व चलता इनका सप्ताश्व यान ॥
ये स्वाधिकार-निर्वहण-दक्ष हैं महाभाग।
करते हैं अहोरात्र[1] का सर्जन सदा जाग ॥ ५८ ॥

टि०—इस मंत्र में परमेश्वर की, अग्नि के रूप में प्रकट भगवान सूर्य के रूप में वन्दना की गई है। उनके किरण-रूपी सुनहले केश सामने प्रकाशमान हैं। वे दरिद्रता के विनाशक हैं। वे सारे संसार को देखते हुए चलते है। वे धर्म के समग्ररूप के रक्षक हैं। अपने अधिकार का निर्वाह वे निरन्तर जाग्रत रहकर करते हैं। दिन-रात का विधान करना सूर्य भगवान का विशेष अधिकार है। उस उत्तरदायित्व का निर्वाह वे निरंतर जागरूक रहकर करते हैं। वे सबके पोषक और पालक हैं। यह मंत्र सूर्य और अग्नि दोनों का स्तवन एक साथ करता है। सूर्य को वेदों में द्युलोक का अग्नि कहा गया है। ५८

विमानं एष दिवो मध्यं आस्त
आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा
पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

---

१ दिन-रात।

समुद्रव्यचसं	समुद्र के समान व्यापक,	सत्पतिं इन्द्रं	सज्जनों के पालक इन्द्र को
रथीनां रथीतमं	सब रथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी,	विश्वाः गिरः	समस्त स्तुतिरूप वाणियां
वाजानां पतिं	अन्नों के स्वामी,	अवीवृधन्	बढ़ाती हैं ॥ ६१ ॥

ये महासिंधु-से है अति व्यापक इन्द्रदेव।
सब महारथीगण में ये सर्वोत्तम सदैव ॥
ये ही अन्नों के स्वामी ये सज्जन-पालक।
वाणियाँ विश्व की करतीं इनकी स्तुति सम्यक् ॥ ६१ ॥

टि०—सब इन्द्रियों में उनकी विशिष्ट चेतनाशक्ति का संचार करनेवाले उनके स्वामी परमेश्वर इन्द्र अथवा गोविंद सर्वव्यापक हैं। वे सब वीरों में अन्यतम हैं। वे सब अन्नों के स्वामी हैं और सज्जनो के रक्षक हैं। विश्व की सब वाणियाँ उन्हीं का स्तवन करती हैं। ६१

दे॒व॒हूर्य॒ज्ञ आ च॑ वक्षत्सु॒म्न॒हूर्य॒ज्ञ आ च॑ वक्षत् ।
यक्ष॑द॒ग्निर्दे॒वो दे॒वाँ२ आ च॑ वक्षत् ॥ ६२ ॥

देवहूः	देवों का आह्वान करनेवाला	आ वक्षत्	सब प्रकार से यज्ञकार्य का निर्वाह करे।
यज्ञः	यज्ञीय देवताओं के लिए	च देवः अग्निः	और देवता अग्नि
आ वक्षत्	हवि वहन करे	देवान्	देवताओं को
च यक्षत्	और उनका यजन करे।	आ वक्षत् च	बुलावे और सम्मानित करे ॥ ६२ ॥
सुम्नहूः यज्ञः	संपूर्ण सुखों का प्रदाता यज्ञ		

यह यज्ञ हमारा है देवों का आह्वाता[1]।
देवों तक हम सबकी हवियाँ यह वहन करे ॥
सब देवों का यह यजन करे संपूर्ण सुखों का बन दाता।
धन, पुत्र, कलत्र[2], पौत्र आदिक की यह नित नव-नव वृद्धि करे ॥

१ बुलानेवाले; २ स्त्री।

उक्षा	(वह आदित्य) वृष्टि द्वारा सिचन करनेवाला,
समुद्रः	जलयुक्त दिखाई पड़नेवाला,
अरुणः	उदयकाल की अरुणाई से युक्त,
अश्मा	आकाश मे व्यापक,
सुपर्णः	आकाश में गरुड़-सा उत्तम गमन करनेवाला,
दिवः मध्ये	द्युलोक में
निहितः	रहता है।
पृश्निः	अनेक रश्मियों से व्याप्त (और)
पूर्वस्य पितुः	पूर्व दिशा में स्थित
योनिं आविवेश	(वह सूर्य) द्युलोक में प्रवेश करता है।
वि चक्रमे	आकाश में घूमता है (और)
रजसः	लोकों की
अन्तौ पाति	सब ओर से रक्षा करता है ॥ ६० ॥

वृष्टि कर सृष्टि का करते सूर्यदेव सेचन[1]।
देते है उदयकाल में जलमय बन दर्शन ॥
ये उदयाचल पर अरुण वर्ण होते भास्वर।
रहते सुपर्ण[2]-से ये नित शोभामय गत्वर ॥
नभ में व्यापक सर्वत्र मध्य दिव में संस्थित।
शत रश्मि-व्यूह से मंडित प्राची में शोभित ॥
करते द्युलोक में कर प्रवेश नभ में विचरण।
करते वे ही सर्वतः[3] लोकचय का रक्षण ॥ ६० ॥

टि०—इस मंत्र में भी सूर्यदेव की महिमा का गान है। सूर्यदेव ही सागरादि से अपनी किरणों द्वारा जल का आकर्षण कर उन्हें मेघों के रूप में परिणत करने की प्रक्रिया संपादित करते है और सृष्टि को सींचते है। इस वैज्ञानिक प्रक्रिया की जानकारी वैदिक ऋषि को थी। वे जब प्रभातकाल में उदय होते हैं, तो सारा संसार कभी कुहरे, कभी ओस आदि से ढका दिखायी पड़ता है। उदय होते समय उनका अरुण वर्ण बड़ा मनोमोहक होता है। वे शोभन गमन वाले हैं, इसलिए सुपर्ण हैं। ये अनेक रश्मियों से शोभित होकर द्युलोक के मध्य में विराजते हैं। द्युलोक में प्रवेश कर वे चतुर्दिक् भुवनों को देखते हुए विचरण करते है और सब लोकों की रक्षा करते हैं। ६०

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

---

१ सीवना; २ सुन्दर गमन वाले, इसका अर्थ 'गरुड़' भी है; ३ सभी दिशाओं से।

च ब्रह्म	और ज्ञान को	मे	मेरे
अवीवृधन्	नित्य बढ़ावे	सपत्नान्	शत्रुओं को
अधा इन्द्राग्नी	और इन्द्र तथा अग्नि	व्यस्यताम्	विनष्ट करें ॥ ६४ ॥
विषूचीनान्	विरोध भाव रखनेवाले		

उत्कर्ष[1] हमारा सदा देवगण करें सिद्ध।
वे सदा हमारा ज्ञान रहें करते प्रवृद्ध[2]॥
अपकर्ष[3] हमारे शत्रुगणों का करे सतत।
इन्द्राग्नि करे उनको उपाय बहु कर क्षत[4]-हत ॥ ६४ ॥

टि०—इस मंत्र में कहा गया है, देवगण हमारी उन्नति के साधन जुटावें और हमारे ज्ञान की वृद्धि करें जिससे हम धर्ममार्ग पर निरन्तर चलते रहें। धर्ममार्ग पर चलनेवालों में शत्रुता करनेवालों का देवता अपकर्ष करते हैं। इन्द्र और अग्नि उनको अनेक प्रकार से नष्ट करते है। स्वामी दयानन्द ने इन्द्र और अग्नि का अर्थ बिजली और आग किया है। दुष्टों और अधर्मियों को हमारी सेनाएँ विद्युत् और आग बनकर नष्ट करें। ६४

क्रम॑ध्वम॒ग्निना॒ नाक॒मुख्य॑ꣳ हस्ते॑षु॒ बिभ्र॑तः।
दि॒वस्पृ॒ष्ठꣳ स्व॑र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभि॑राध्वम् ॥ ६५ ॥

अग्निना	तुम अग्नि के द्वारा	देवेभिः मिश्राः	देवताओं से मिलकर
नाकं	अत्यन्त सुख को प्राप्त होकर	दिवः	द्युलोक के
उख्यं	उखादि पात्रों में पकाये भोजन को	पृष्ठं	पृष्ठ पर आरोहण करते हुए
हस्तेषु बिभ्रतः	हाथों में धारण करते हुए	स्वः गत्वा	स्वयं जाकर सुख को प्राप्त करके
क्रमध्वम्	पुरुषार्थ करो।	आध्वम्	स्थित होओ ॥ ६५ ॥

अग्नि से परम सुख प्राप्त करो तुम वीरो !।
अग्नि-सा पराक्रम प्रबल करो तुम वीरो !॥

---

१ उन्नति; २ प्रकृष्टरूप से बढ़ा हुआ; ३ अवनति; ४ क्षतिग्रस्त और नष्ट।

यज्ञ के अधिप हैं अग्निदेव, वे करें सुरों का आवाहन।
सत्कार सभी का हो समुचित, यह यज्ञ सतत कल्याण करे॥ ६२॥

टि०—इसमें यज्ञ की महिमा का वर्णन है। यज्ञ विष्णु का स्वरूप माना जाता है। यह यज्ञ सब देवताओं तक आहुतियाँ पहुँचाकर उन्हें तृप्त करता है। देवताओं की प्रसन्नता से सब सुख प्राप्त होते हैं। धन, पुत्र, पौत्र आदि की वृद्धि होती है। निरंतर कल्याण होता रहता है। पर्यावरण की शुद्धि से सब लोग स्वस्थ रहते है। ६२

वाजस्य मा प्रसव उद्ग्राभेणोदग्रभीत्।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ अकः॥ ६३॥

इन्द्रः	ऐश्वर्यवान इन्द्र	उदग्रभीत्	उत्तम स्थिति में रखे
वाजस्य प्रसवः	अन्न का उत्पादक होकर	अधा निग्राभेण	और दंड देकर या पराजय से
उद्ग्राभेण	ऊपर ले जाने की (उन्नति करने की) शक्ति से	मे सपत्नान्	मेरे शत्रुओं को
मा	मुझको	अधरान् अकः	नीचे ले जाकर सुखहीन करे॥ ६३॥

हैं इन्द्र परम ऐश्वर्यवान, अन्नों के उत्पादक महान।
वे करें मुझे अभ्युदयवान, उच्चस्थिति मुझको करें दान॥
जो रखते सबसे शत्रु-भाव, अपनाव[1] नहीं, सबसे दुराव[2]।
वे अधम इन्द्र से हों दंडित, हों पतित अधोगति भोगें नित॥ ६३॥

टि०—परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि वे सज्जनों का अभ्युदय करे और समाज के शत्रुओं को दंडित करें। ६३

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम्॥ ६४॥

देवाः	देवगण	निग्राभं	और शत्रुओं को नीचे गिराने तथा दंडित करने की सामर्थ्य को
उद्ग्राभं	हमारे उत्कृष्ट होने की सामर्थ्य को		

१ आत्मीयता; २ छल।

ये द्विपद[1] चतुष्पद[2] अपने परिजन[3] गोधन।
ऊर्जा दो उनको करो सदा बलवर्द्धन ॥ ६६ ॥

टि०—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे पूर्व की ओर अर्थात् आगे बढ़ें। अग्नि के आगे बढ़कर अग्रणी होने का अर्थ है, अग्नि जैसे तेजस्वी सेनापति के नेतृत्व में हमारी सेनाएँ आगे बढ़ें। चारों दिशाओं में बढ़कर वे विजय प्राप्त करें। परमेश्वर की कृपा से हमारे कुटुम्बी जन और गोधन सुरक्षित रहें, बलवान् बनें। ६६

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ६७ ॥

अहं पृथिव्याः	मै पृथ्वी से	नाकस्य पृष्ठात्	दुःख-रहित देश से
उत् अन्तरिक्षं	ऊपर अन्तरिक्ष में	स्वः ज्योतिः	स्वर्गलोक के परम प्रकाशमान आदित्यमंडल को
आरुहम्	आरूढ हुआ हूँ।	अहं अगाम्	मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ ६७ ॥
अन्तरिक्षात्	अन्तरिक्ष से		
दिवं आ रुहम्	द्युलोक में आरूढ़ हुआ हूँ।		
दिवः	द्युलोक के		

अभिलषित योग की सिद्धि प्राप्त मुझको यह।
उत्क्रमण[4] कर रहा उच्च उच्चतर अहरह ॥
पृथ्वी से उठ मै अन्तरिक्ष तक आया।
उठ अन्तरिक्ष से दिव में आसन पाया ॥
है यह द्युलोक दुःखरहित देश चिर सुखमय।
इसके आगे हैं स्वर्गलोक ज्योतिर्मय ॥
आरोहण करके स्वर्गलोक से मधुलय।
मैं प्राप्त हुआ आदित्यलोक को अक्षय[5] ॥ ६७ ॥

टि०—इस मंत्र में योगाभ्यास द्वारा कुंडलिनी जागरण के बाद की, साक्षात्कार और सिद्धि की क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन है। कुंडलिनी जागरण के पश्चात् पृथ्वी तत्त्व अर्थात् मूलाधार चक्र से ऊपर उठती हुई जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों से ऊपर उठती हुई सहस्रार अर्थात् आकाशतत्त्व तक उत्क्रमण करती है। उसके आगे दुःखरहित स्वर्ग है, वहाँ से वह अक्षय, अव्यय आदित्यलोक अर्थात् परमपद को प्राप्त कराती है जिसको 'तद्धाम परमं मम' कहा गया है। यही आत्मा और परमात्मा के योग की स्थिति है। इसी को गीता में ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। ६७

---

१ दो पैरो वाले मानव-प्राणी, पुत्र-पौत्रादिक; २ चौपाए, गो आदिक पशु; ३ कुटुम्बीय, ४ ऊँचे उठना, ५ जिसका क्षय नही।

खाद्यान्न साथ में लेकर बढ़ते जाओ।
विदलित कर अरि को पौरुष निज दरसाओ॥
विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो तुमको।
दिव में भी उत्तम स्थान प्राप्त हो तुमको॥
आग्नेय आयुधों[1] से रिपु पर जय पाओ।
ऐश्वर्य अमित चिरकालिक सुख सरसाओ॥ ६५॥

टि०—उव्वट और महीधर के अनुसार यह मंत्र विशिष्ट यज्ञीय कर्मकाण्ड से जुड़ा हुआ है। सातवलेकर जी ने उस कर्मकाण्ड से इसको अयुक्त करते हुए अर्थ किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार इस मंत्र में राष्ट्र के वीरों को सम्बोधित किया गया है। वीर सैनिकों को अपना भोजन साथ लेकर शत्रुओं पर प्रचंड पराक्रम करना चाहिए। उनको विद्वानों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। यदि युद्ध में मृत्यु होती है, तो द्युलोक में श्रेष्ठ पद की प्राप्ति सुनिश्चित है। उच्चकोटि के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करते हुए यश और चिरकालिक सुख प्राप्त करने के लिए शत्रु पर विजय की प्राप्ति करनी चाहिए। ६५

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह।
विश्वा आशा दीद्यानो वि भाह्यूर्जं नो
धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६६॥

विद्वान् अग्ने	हे विद्वान अग्नि !	वि भाहि	प्रकाशित होओ (और)
प्राचीं प्रदिशं	(तुम) प्राची दिशा में	नः द्विपदे	हमारे द्विपद पुत्र-पौत्र-भृत्यादि में,
प्र इहि	गमन करो।	चतुष्पदे	गोधन, अश्वादि में
पुरो अग्निः	अग्रगामी होकर	ऊर्जं धेहि	बल की स्थापना करो॥ ६६॥
इह भव	यहाँ रहो।		
विश्वा. आशाः	सम्पूर्ण दिशाओं को		
दीद्यानः	प्रकाशित करते हुए		

अग्ने ! तुम बढ़कर पूर्व दिशा को जाओ।
तुम वहाँ अग्रणी बनकर शोभा पाओ॥
संपूर्ण दिशाओं को तुम करो प्रकाशित।
तुम यहाँ विराजो होकर स्वयं प्रदीपित॥

---

१ आग बरसानेवाले शस्त्रास्त्रों।

अग्ने	हे अग्नि !
देवयतां प्रथमः	(तुम) देवता बनने की इच्छा वालों में प्रथम हो।
देवानां उत	देवो और
मर्त्यानां चक्षुः	मनुष्यों के चक्षुरूप हो।
प्रेहि	(अतः) आगे गमन करो।
इयक्षमाणाः	और यज्ञ करने की इच्छा करने वाले,
भृगुभिः	पापों को जलानेवाले,
सजोषाः	श्रेष्ठ पुरुषों के समान प्रेम करनेवाले
यजमानाः	यज्ञशील जन
स्वस्ति	कल्याण और
स्वः	स्वर्गलोक को
यन्तु	प्राप्त होवें ॥ ६९ ॥

अग्निदेव ! तुम देवयतों[1] के हो अग्रणी महान।
जो देवत्व-प्राप्ति के इच्छुक उनमें तुम्हीं प्रधान ॥
देवों और मनुष्यों के हो नेत्ररूप तुम - देव।
हम सबके पथदर्शक बनकर आगे चलो सदैव ॥
यज्ञकर्म के हित रहते जो कृतसंकल्प सश्रद्ध।
पापों को भस्मीकृत करने के हित नित सन्नद्ध[2] ॥
श्रेष्ठ जनों-सी जिनके उर में सब पर प्रीति समान।
करते हैं वे प्राप्त स्वर्ग को स्वस्तिमान[3] यजमान ॥ ६९ ॥

टि०—इस मंत्र में पहले अग्नि को देवयताओं का अग्रणी कहा गया है। 'देवयता' के कई अर्थ किये गये है। एक अर्थ है देवत्व की कामना करनेवाला। अग्नि देवत्व-प्राप्ति की कामना करनेवालों का नेता या मार्गदर्शक है। दूसरा अर्थ है देवताओं की इच्छा करनेवाला। अग्नि ही मनुष्यों और देवताओं के नेत्र अर्थात् मार्ग दिखानेवाले हैं। जो लोग श्रद्धापूर्वक यज्ञकर्म करना चाहते हैं और इस प्रकार जो अपने पापों को जलाना चाहते हैं और जिनके हृदय में सब पर समान प्रेम है, वे याजक जन कल्याणमय स्वर्ग को प्राप्त होते है। ६९

नक्तोषासा समनसा विरूपे
धापयेते शिशुमेकꣳ समीची।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति
देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥ ७० ॥

---

१ देवता बनने की इच्छा वाले; २ तैयार; ३ कल्याणमय।

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्या॑ᳬं रो॑हन्ति॒ रोद॑सी ।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धार॒ᳬं सुवि॑द्वाᳬंसो वितेनि॒रे ॥ ६८ ॥

ये सुविद्वांसः	जो उत्तम विद्वान	न अपेक्षन्ते	ऐहिक भोगों की इच्छा नहीं करते है (और)
विश्वतोधारं यज्ञं	विश्व को धारण करनेवाले यज्ञ का		
वितेनिरे	विस्तार करते है,	रोदसी	द्यावापृथ्वी से
(ते) स्वः यन्तः	(वे) सुखमय स्वर्ग को जाते हुए	द्यां आ रोहन्ति	द्युलोक पर आरोहण करते है ॥ ६८ ॥

ज्ञान-कर्म का युगपत्[1] साधन करते जो विद्वान ।
और विश्वधारक[2] यज्ञों का करते सदनुष्ठान ॥
करते हैं समृद्ध यज्ञों का जो विस्तार प्रसार ।
खुलता उनके लिए सहज ही महत् स्वर्ग का द्वार ॥
लौकिक भोगों से रहते है वे निरपेक्ष नितान्त ।
ज्योतिपंथ पर चढ़ते हैं वे तजकर ऐहिक ध्वान्त[3] ॥
द्यावापृथ्वी से उठ होते वे दिव पर आरूढ़ ।
होती है प्रशस्य[4] वह उनकी योगिगम्य[5] गति गूढ़ ॥ ६८ ॥

टि०—इस मंत्र में यज्ञों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र में कहा गया है कि जो सुविद्वान विश्वधारक यज्ञों का अनुष्ठान करते है और यज्ञकर्म का प्रचार-प्रसार करते है, वे लौकिक भोगों की इच्छा नहीं करते; उनको स्वर्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। सुविद्वान उसको कहा गया है, जो अपने ज्ञान को कर्म के रूप में परिणत करता है। उसे लौकिक भोगो की इच्छा नहीं होती है। वह द्यावापृथिवी से उठकर स्वर्ग की पृष्ठ पर आरोहण करता है। ऐसे सुविद्वान की गति-मति योगियों जैसी गूढ़ होती है। ६८

अग्ने॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मो दे॑वय॒तां
चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम् ।
इय॑क्षमाणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषाः॒
स्व॒र्यन्तु॒ यज॑मानाः स्व॒स्ति ॥ ६९ ॥

---

१ एक साथ; २ जगत् को धारण करनेवाले; ३ अन्धकार; ४ प्रशंसा के योग्य; ५ योगियों के जानने योग्य ।

सहस्राक्ष	हे हज़ारों नेत्रों वाले !	रायः ईशिषे	संपत्तियों के अधिकारी हो,
शतमूर्धन्	सैकड़ो शिरों वाले !	तस्मै ते	इसलिए तुम्हारे लिए
अग्ने	हे अग्नि !	वाजाय	अन्नरूप हवि (हम)
ते शतं प्राणाः	तुम्हारे सैकडो प्राण है,	विधेम	प्रदान करते हैं।
सहस्रं व्यानाः	हज़ारों व्यान है,	स्वाहा	यह हवि अर्पित है। (वह सुगृहीत हो) ॥ ७१ ॥
त्वं साहस्रस्य	तुम हज़ारों		

हे सहस्राक्ष[1] ! हे शत-शत मूर्धा[2] अग्ने ! ।
शत प्राण, सहस्र व्यान हो, तुम हे अग्ने ! ॥
उष्णता तुम्हारी है जब तक जीवन में।
हैं प्राण, अपान, व्यान आदिक इस तन में ॥
तुम अयुतायुत[3] धन-वैभव के अधिकारी।
स्वीकार करो हवि यह अन्नमय हमारी ॥
तुम ग्रहण करो यह आहुति सम्यक् स्वाहा।
अन्नमय तुम्हें अर्पित यह आहुति स्वाहा ॥ ७१ ॥

टि०—अग्नि सहस्राक्ष हैं, शतमूर्धा हैं; प्राण, अपान, व्यान आदि के अनन्तानन्त स्रोत वे ही है। जब तक शरीर में अग्नि की ऊष्मा रहती है, तभी तक शरीर में पंचप्राण रहते हैं। उनको अन्न की आहुति स्वाहापूर्वक अर्पित की जाती है। ७१

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासाऽन्तरिक्षमा पृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान
तेजसा दिश उद्दृंह ॥ ७२ ॥

सुपर्णः	(हे अग्नि ! तुम) सुख से परिपूर्ण अथवा सुन्दर पंखों वाले	पृथिव्याः	पृथ्वी के
		पृष्ठे	ऊपर
		सीद	स्थित हो।
		भासा	अपनी कान्ति से
गरुत्मान् असि	महान गौरव से युक्त हो।	अन्तरिक्षं	अन्तरिक्ष को
		आ पृण	भर दो।

१ हज़ारों आंखों वाला; २ सैकड़ों शिरों वाले; ३ हज़ारों-हज़ार।

नक्तोषासा	रात्रि और दिन दोनों	द्यावा क्षामा	(वह अग्नि भी) आकाश और
विरूपे	एक-दूसरे के विपरीत,	अन्तः	पृथ्वी के मध्य में
समीची	परस्पर संगत होकर भी	रुक्मः वि भाति	स्वर्ण के समान प्रकाशमान होता है।
एकं शिशुं	एक बालक अग्नि को उत्पन्न करते हुए	द्रविणोदाः देवाः	धन देनेवाले देवगण
धापयेते	उसको प्रदीप्त करते है।	अग्निं धारयन्	अग्नि को धारण करते हैं ॥ ७० ॥

धात्री माता एकचित्त शिशु को पयपान करातीं।
रात्रि-उषा मिल दोनों जग को जीवन-सुधा पिलातीं ॥
रुक्म-ज्योति[1] यह अग्नि धरित्री-गगन बीच हो संस्थित।
करता है अपने प्रकाश से सब भुवनों को पोषित ॥
उसी भाँति मानवो ! निरंतर करो दिव्य गुण धारण।
पुत्र-सदृश सब भूतग्राम का करो प्रेम से पालन ॥
धन के दाता देव यज्ञ के हित देते धन उत्तम।
भूतदया ही रूप यज्ञ का शास्त्रसिद्ध परमोत्तम ॥ ७० ॥

टि०—यह बड़े विचित्र अर्थों वाला मन्त्र है, इसके अर्थ-प्रसार की अनेक दिशाएँ हैं। जिस प्रकार धाय और माता दोनों मिलकर समान प्रेम से शिशु को दूध पिलाती है, वैसे ही रात और उषा दोनों मिलकर संसार को आनन्द का अमृत पिलाती है। इस कालखंड का नाम अमृतवेला प्रसिद्ध है। पृथ्वी और अन्तरिक्ष में मध्यस्थित होकर द्युलोक के अग्नि सूर्यदेव अपने प्रकाश से संसार का पोषण करते है, उसी प्रकार मनुष्यों को दैवी गुणों को धारण कर भूतमात्र का प्रेम से पालन करना चाहिए। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करना, शक्ति-भर उनका पालन-पोषण करते रहना, यह यज्ञ का सर्वोत्तम रूप है। देवता यज्ञों के लिए मनुष्यों को धन प्रदान करते है। जो भूतदया का साधक है जिसके हृदय में प्राणिमात्र की सेवा करने का संकल्प है, उसको किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। ७०

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै
ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ ७१ ॥

---

१ सुनहले प्रकाश वाला। सूर्य को 'रुक्मज्योति' अग्नि कहा गया है।

है पूर्व दिशा में स्थान तुम्हारा उत्तम।
तुम वहाँ विराजो, हरो अविद्या का तम॥
याजक जन पर हो कृपा असीम तुम्हारी।
विश्वेदेवा हों उनको मंगलकारी॥
सब श्रेष्ठ कार्यरत रहें सत्य में सुस्थित।
मन-प्राणों से परमेश्वरमय हों वे नित॥ ७३॥

टि०—वेद में बार-बार स्पष्ट किया गया है, अग्नि परमेश्वर का वाचक है। अग्नि उनका एक सगुणरूप है। अग्नि का आदरपूर्वक आह्वान करते हुए कहा गया है, हमको अपना सुप्रतीक अर्थात् सुमुख दर्शनीय रूप दिखाओ। तुम पूर्व दिशा में उत्तम स्थान में सूर्यरूप में विराजो। अविद्या का अन्धकार दूर करो। यज्ञ करनेवालों पर तुम्हारी कृपा हो, विश्वेदेवा हमारा मंगल करें। हे परमेश्वर! हमारे मन और प्राण तुम्हारे स्वरूप में ढल जायँ। संसार के मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करें, उनका आचरण मन, वचन, कर्म से सत्यनिष्ठ हो। ७३

ताꣳ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाऽहं
वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाꣳ
सहस्रधारां पयसा महीं गाम्॥ ७४॥

वरेण्यस्य	सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य	अहं आ वृणे	मैं स्वीकार करता हूँ।
सवितुः	सविता देवता के	कण्वः	मेधावी जन ने
तां चित्रां	उस अद्भुत (और)	अस्य	इस सविता की,
विश्वजन्यां	सब जनों के हितकारी जगत् को उत्पन्न करने में समर्थ	यां प्रपीनां	जो अतिपुष्ट
सुमतिं	श्रेष्ठ बुद्धि को	सहस्रधारां	हजारों धाराओं को धारण करनेवाली है,
		पयसा	इस पय से युक्त
		महीं गाम्	महान गाय को
		अदुहत्	दुहा॥ ७४॥

कर रहा वरण मैं सुमति देव सविता की।
वरणीय बुद्धि है शोभन अति सविता की॥

ज्योतिषा	ज्योति से	तेजसा दिशः	तेज से दिशाओं को
दिवं उत्तभान	द्युलोक को प्रकाशित कर दो।	उद् दृंह	प्रकाशित कर दो ॥ ७२ ॥

तुम हो सुख से परिपूर्ण सदा ही अग्ने ! ।
अतिशय गौरव से युक्त सदा हो अग्ने ! ॥
पृथिवी के पृष्ठ-भाग पर तुम हो संस्थित ।
कर दो स्व-प्रभा से अन्तरिक्ष परिपूरित ॥
कर दो द्युलोक को परम ज्योति से प्लावित ।
हो उठें तेज से काष्ठाएँ[1] उद्भासित ॥
तुम इसी भाँति जग-जीवन करो उदंचित[2] ।
जन-जन के जीवन में उत्कर्ष भरो नित ॥ ७२ ॥

टि०—जिस प्रकार अग्निदेव सूर्य के रूप में द्युलोक को प्रकाश से भर देते है, अन्तरिक्ष को आलोकित करते है, दिशाओं को प्रकाश से परिपूर्ण कर देते हैं, उसी प्रकार वे संसार में प्रत्येक मनुष्य के जीवन का उत्कर्ष सिद्ध करें। ७२

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने
स्वं योनिमा सीद साधुया ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वे
देवा यजमानश्च सीदत ॥ ७३ ॥

अग्ने	हे अग्नि !	विश्वेदेवाः	हे विश्वेदेवो ! (तुम)
आजुह्वानः	तुम आवाहित (होकर)	च	और
सुप्रतीकः	उत्तम दर्शनीय होते हुए	यजमानः	यह यजमान
पुरस्तात्	पूर्व दिशा में	अस्मिन्	इस
स्वं साधुया योनिं	उत्तम स्थान में	उत्तरस्मिन्	उत्कृष्ट स्थान में
आ सीद	स्थित होओ।	सधस्थे	अग्नि के साथ
		अधि सीदत	विराजो॥ ७३ ॥

अग्ने ! आदर से समाह्वान[3] करते हम ।
शुभ्र रूप तुम्हारा दर्शनीय देखें हम ॥

---

१ दसों दिशाएँ; २ उदयशील, उन्नतिशील। ३ सम्यक् पुकार।

हे देव ! तुम्हें हवि अर्पित करते हैं हम।
है स्थान तुम्हारा जो समीप परमोत्तम।
विद्युत् स्वरूप में वहाँ प्रकट होते तुम।
हे देव ! वहाँ मन्त्रों से हवि देते हम।
तुम जहाँ-जहाँ भी प्रकट हुए हो भगवन् !।
यज्ञ के योग्य हैं स्थान सभी वे पावन।
दीपित कर सम्मुख हवि अर्पित करते हम ॥ ७५ ॥

टि०—अग्नि द्युलोक में सूर्यरूप में विराजते हैं, उसके निकटवर्ती अन्तरिक्ष में वे विद्युतरूप में शोभा पाते है। जहाँ-जहाँ अग्निदेव प्रकट होते हैं, वह स्थान यज्ञ के योग्य, पवित्र हो जाता है। याजकगण अग्नि को अपने सम्मुख प्रदीप्त कर हवि अर्पित करते है। ७५

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वाᳬं शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥ ७६ ॥

यविष्ठ	हे अतियुवा !	दीदिहि	प्रदीप्त होओ।
अग्ने	हे अग्नि !	त्वां	तुमको
अजस्रया सूर्म्या	क्षीण न होनेवाले, काष्ठ से निरन्तर	शश्वन्तं	हम सदा
प्रेद्धः	प्रदीप्त तुम	वाजाः उप यन्ति	हवि के योग्य अन्न प्रदान करते है ॥ ७६ ॥
नः पुरः	हमारे आगे		

युवतम[1] हे अग्ने ! रहो सामने दीपित।
अक्षीण[2] समित्काष्ठों से रहो ज्वलित नित ॥
हवि अन्नरूप हम करते सदा समर्पित।
दुख, दैन्य, अशौच अशेष करो भस्मीकृत ॥ ७६ ॥

टि०—अग्नि से अनुरोध किया गया है, जिन समिधा-योग्य काष्ठों से तुम्हें प्रदीप्त किया गया है, वे कभी क्षीण न हों। हम उन्हें पवित्र अन्न की आहुतियाँ देते रहें और वे हमारे दुख, दीनता और अपवित्रता को भस्म करते रहें। ७६

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रᳬं हृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा त ओहैः ॥ ७७ ॥

---

१ सबसे जवान; २ न बुझनेवाले।

बहुविध फलदान समर्थ बुद्धि अद्भुत वह।
सबकी हितकर जग की उत्पादक है वह॥
मेधावी जन के हित है कामदुहा-सी।
अयुतायुत[1] रूपों में चिर कृपाविलासी॥
अयुतायुत धाराएँ पथ की प्रकटा कर।
देती है कण्वों को यह सिद्धि निरंतर॥
सविता की कण्व-वृणीत[2] बुद्धि जो शोभन।
उस सिद्धिप्रदात्री को मैं करता धारण॥ ७४॥

टि०—इस मंत्र में सविता देवता की वरणीय बुद्धि का वरण करने का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसका आशय है, मेधावी जन परमेश्वर की बुद्धि के साथ अपनी बुद्धि को संयोजित कर अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। इस मंत्र में 'कण्व' शब्द का प्रयोग किया गया है। कण्व का अर्थ मेधावी जन है। उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ कण्व ऋषि किया है। ७४

विधेम॑ ते पर॒मे जन्म॑न्नग्ने वि॒धेम॒ स्तोमै॒रव॑रे स॒धस्थे॑।
यस्मा॒द्योने॑रु॒दारि॑था॒ यजे॒ तं प्र त्वे
ह॒वींषि॑ जुहुरे॒ समि॑द्धे॥ ७५॥

अग्ने	हे अग्नि!	यस्मात् योनि:	(तुम) जिस स्थान से भी
परमे जन्मन्	परम उत्कृष्ट जन्म वाले	उदारिथा	उत्पन्न हुए हो,
ते विधेम	तुमको हम हवि अर्पण करते हैं।	तं यजे	(मैं) उसको यज्ञ के योग्य मानता हूँ।
अवरे सधस्थे	उसके पास के स्थान में (हम)	समिद्धे त्वे	अच्छी तरह तुम्हारे प्रज्वलित होने पर
स्तोमै: विधेम	स्तोत्रपाठपूर्वक हवि अर्पित करते हैं।	हवींषि प्र जुहुरे	(मैं) तुममें हवियाँ अर्पित करता हूँ॥ ७५

हे अग्नि! परम उत्कृष्ट जन्म वाले तुम।
दिव में आदित्य-रूप में हो संस्थित तुम।

1 हज़ारों-लाखों; 2 कण्व के द्वारा स्वीकार की गई।

यथा इह	जिससे इस यज्ञ से
वीतिहोत्राः	आहुति देने की इच्छा वाले
ऋतावृधः	सत्य को बढ़ानेवाले
देवाः आगमन्	देवगण आगमन करें।
भूमनः	(जो) अत्यन्त महान
विश्वस्य पत्ये	विश्व का स्वामी है,
विश्वकर्मणे	समस्त विश्व का जो निर्माता है,
अदाभ्यं हविः	उसके लिए मधुरातिमधुर हवि
विश्वाहा जुहोमि	प्रतिदिन मैं अर्पित करता हूँ ॥ ७८ ॥

यज्ञस्थल में हैं अग्निदेव ये संस्थित।
घृत-हवि देता हूँ मनन-सहित इनको नित॥
वे हों प्रसन्न, उन देवों का हो आगम।
जो वीतिहोत्र[1], ऋत और सत्यवर्द्धन-क्षम॥
निःसीम विश्व के भूमा के जो अधिपति।
जो सबके स्रष्टा सुविदित परम प्रजापति॥
उनके निमित्त हवियाँ सुस्वादु मैं प्रतिदिन।
अर्पित करता रहता हूँ अग्ने! गिन-गिन[2] ॥ ७८ ॥

टि०—इस मंत्र में उन देवताओं को हवि अर्पित करने को कहा गया है, जो ऋत और सत्य के संवर्द्धक हैं। इससे अग्निदेव की प्रसन्नता प्राप्त होती है। सबसे अधिक तृप्ति अग्नि को तब होती है, जब सबके स्रष्टा, सबके स्वामी, सबके पालक श्री भगवान को, सुस्वादु हवियाँ प्रतिदिन अर्पित की जाती हैं। ७८

सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः
सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति
सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन स्वाहा ॥ ७९ ॥

अग्ने	हे अग्नि !
ते	तुम्हारी
सप्त समिधः	सात समिधाएँ है,
सप्त जिह्वाः	तुम्हारी ज्वालाओं की सात जिह्वाएँ हैं,

1 यज्ञ के प्रेमी; 2 असंख्यक जप और होम निषिद्ध हैं। इसलिए शास्त्र-निर्दिष्ट संख्या मे आहुति दी जानी चाहिए।

अग्ने	हे अग्नि !	अद्य	(वैसे) आज
न अश्वं	जिस प्रकार घोड़े को सुरक्षित रखा जाता है,	ते	तुम्हारे
		तं	उस
		क्रतुं	यज्ञ को
न हृदिस्पृशं	जैसे दीर्घकाल तक हृदय में पोषित	आहैः स्तोमैः	रक्षादि उपायों और स्तोत्रों से
भद्रं	कल्याणकारी संकल्प को पूर्ण किया जाता है,	आ ऋध्याम	अच्छी तरह (मैं) सुसमृद्ध बनाता हूँ ॥ ७७ ॥

जिस भाँति अश्व को रखते सदा सुरक्षित।
जिस भाँति भद्र[1] संकल्प हृदय में पोषित ॥
होता है पाकर समय कार्य में परिणत।
है उसी भाँति यह क्रतु भी हुआ अनुष्ठित ॥
हे अग्नि ! साम-स्तोमों से[2] हो संवर्द्धित।
है विविध उपायों से यह सम्यक् रक्षित ॥
करता रहता हूँ इसे समृद्ध निरंतर।
जग के हित हो यह नित नव-नव मंगलकर ॥ ७७ ॥

टि०—जिस भाँति घोड़े का सविधि यत्नपूर्वक पालन-पोषण किया जाता है, जिस प्रकार कल्याणकारी संकल्प को हृदय में पोषित कर यथासमय कार्यरूप में परिणत किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ की अनेक युक्तियों से रक्षा की जाती है और सामगान से उसमें अग्निदेव को तृप्त किया जाता है। यह यज्ञ पूर्ण होकर लोक के लिए मंगलकारी होता है। ७७

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा
देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋतावृधः।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि
विश्वकर्मणे विश्वाहाऽदाभ्यथं हविः[1] ॥ ७८ ॥

मनसा	मैं मन लगाकर, सोच-विचार कर	चित्तिं जुहोमि	यज्ञाग्नि को हवि देकर प्रसन्न करता हूँ।
घृतेन	घृत के द्वारा		

१ शुभ; २ सामवेद की ऋचाओं से।